स्वोपज्ञ 'परिमला' ख्यव्याख्योपेता

श्रीमन्महेश्वरानन्दप्रणीता

महार्थमञ्जरी

'भारती' - भाषाभाष्योपेता

श्यामाकान्त द्विवेदी 'आनन्द'

॥ श्रीः ॥

चौखम्बा सुरभारती ग्रन्थमाला

455

स्वोपज्ञ 'परिमला' ख्यव्याख्योपेता

श्रीमन्महेश्वरानन्दप्रणीता

महार्थमञ्जरी

'भारती' भाषाभाष्योपेता

डॉ० श्यामाकान्त द्विवेदी 'आनन्द'

एम०ए०, एम०एड्० व्याकरणाचार्य

पी-एच०डी० डी०लिट्

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

वाराणसी

प्रकाशक

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)

के. 37/117 गोपालमन्दिर लेन

पो. बा. नं. 1129, वाराणसी 221001

दूरभाष : 2335263

ई-मेल : csp_naveen@yahoo.co.in

प्रथम संस्करण 2008 ई.

मूल्य : 750.00

अन्य प्राप्तिस्थान

चौखम्बा पब्लिशिंग हाउस

4697/2, भू-तल (ग्राउण्ड फ्लोर)

गली नं. 21-ए, अंसारी रोड

दरियागंज, नई दिल्ली 110002

दूरभाष : 32996391

ई-मेल : chaukhamba_neeraj@yahoo.com

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान

38 यू. ए. बंगलो रोड, जवाहर नगर

पो. बा. नं. 2113

दिल्ली 110007

चौखम्बा विद्याभवन

चौक (बैंक ऑफ बड़ोदा भवन के पीछे)

पो. बा. नं. 1069

वाराणसी 221001

मुद्रक

ए. के. लिथोग्राफर

दिल्ली

दो शब्द

महार्थमञ्जरी स्वप्नोपदेष्टा सिद्धा योगिनी का प्रसाद है। यह जागृति की कृति नहीं है; प्रत्युत स्वप्नोपदिष्ट महाजागृति है।

चीन के सम्राट् मिंग (५८-७५ ई.) ने बुद्ध को स्वप्न में देखा। इस स्वप्न के परिणामस्वरूप उसने समस्त बौद्ध धर्म एवं बौद्ध-साहित्य की खोज कराकर उसका चीनी भाषा में अनुवाद करा डाला। ख़लीफा मामून (८११-६३० ई.) ने स्वप्न में अरस्तू को दर्शन की व्याख्या करते हुए देखा तो उसने दूसरे ही दिन बगदाद में अरस्तू का साहित्य मँगवाकर उसका अनुवाद करवा डाला। महादेवगिरि पर निवास करने वाले महामाहेश्वर शिवाराधनपर वसुगुप्ताचार्य को रहस्यसम्प्रदाय की रक्षा करने के उद्देश्य से परमशिव ने स्वप्न में प्रकट होकर कहा—'अत्र महीभृति महति शिलातले रहस्यम् अस्ति तत् अधिगम्य अनुग्रहयोग्येषु प्रकाशय'। इसे सुनकर जागे हुये प्रबुद्ध वसुगुप्ताचार्य ने उस शिला को खोजकर और उसी महती शिला को करस्पर्श-मात्र से उलट कर और स्वप्नादेश को प्रत्यक्ष देखकर शिवोपनिषद् रूप संग्रह 'शिवसूत्र' जाया। उन्होंने इन शिवसूत्रों को श्रीभट्टकल्लटप्रभृति शिष्यों को सरहस्य पढ़ाकर उसे 'स्पन्दकारिका' के रूप में संगृहीत किया।[1]

यह उपर्युक्त स्वप्नोपदिष्ट एवं शिवोपलाङ्कित शिवोपदेश ही शिवसूत्र है, जो कि त्रिकदर्शन का मूल स्तम्भ बना—

स्वेच्छया शिवसूत्राणि स्वप्ने माहेश्वरशिखामणेः।
उपदिश्य प्रभुः श्रीमानुमया सम्प्रयोजितः।
दयया स्वयमेवासीद्दैशिको यस्य शङ्करः।।
दैशिकं दैशिकानां तं वसुगुप्तं प्रभुं नुमः।
महामाहेश्वरश्रीमत्क्षेमराजमुखोद्गताम् ।।
अनुसृत्यैव सद्वृत्तिमञ्जसा क्रियते मया।
वार्तिकं शिवसूत्राणां वाक्यैरेव तदीरितैः।।[2]

इसी प्रकार का इतिहास महार्थमञ्जरी का भी है—

१. स्वप्नसमयोपलब्धा सा सुमुखी सिद्धयोगिनी देवी।
गाथाभिः सप्तत्या स्वापितभाषाभिरस्तु सम्प्रीता।।

२. इह महति रहस्योन्मीलने मङ्गलाय।
प्रभवति मम संविद्योगिनीनां प्रसादः।।[3]

---

१. आचार्य क्षेमराज : शिवसूत्रविमर्शिनी २. शिवसूत्रवार्तिक ३. महेश्वरानन्द

३. जब एक रात महेश्वरानन्द जाग्रत्-स्वप्न अवस्थाओं के मध्य की मिश्रित सन्ध्यावस्था में स्थित थे, तभी—

अत्रान्तरे स्त्रियं काञ्चित् कन्थाशूलकालिनीम्।
स ददर्श किलोल्लोकां सिन्दूरालंकृतालिकाम्।।
आलोक्य च स तां सिद्धां कुर्वन्नासन्नमासनम्।
उपहारदुदारश्रीः पूजोपकरणं क्रमात्।।
दक्षिणां च यथाशक्ति दातुं दूतीं समादिशत्।
स्पृशन्ती मस्तकं तस्य निश्शङ्कं सा तिरोदधे।।[१]

महेश्वरानन्द के पूर्ववर्ती गुरुओं को भी देवी ने ही इस महार्थात्मक, औत्तराम्नायात्मक शैवागम का उपदेश पूर्णता-प्राप्ति हेतु दिया था। वह देवी भगवान् शिव की इच्छाशक्ति थीं। स्वच्छन्दभैरवोपदिष्ट एवं उनकी इच्छाशक्ति द्वारा पुनः उपदिष्ट ज्ञान ही महेश्वरानन्द को सम्प्रदायक्रम से सिद्धा योगिनी द्वारा प्राप्त हुआ था। यह जागरावस्था एवं सुषुप्ति अवस्था के मध्य की अवस्था का स्वयम्भू ज्ञान है।

महार्थमञ्जरी त्रिकदर्शन का एक प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है। त्रिकाचार्यों ने अपनी कृतियों में इस ग्रंन्थ के अनेक वचनों को प्रमाण के रूप में उद्धृत किया है। यह सिद्धोपदेश सत्तर गाथाओं में निबद्ध है और यह मूलतः महाराष्ट्री एवं उससे मिलती-जुलती प्राकृत भाषा में लिखा गया है। ग्रन्थकार ने इसकी व्याख्या स्वयमेव की है और उस व्याख्या का नाम है—परिमल।

इसमें त्रिक दर्शन के सिद्धान्त एवं साधना—दोनों पक्षों पर प्रकाश डाला गया है और साधना की ग्रन्थियों का उन्मोचन करते हुये (ग्रन्थिभेद करते हुये) उसके गहनतम रहस्यों को अनावृत किया गया है। यह आणवोपायात्मक कम और शाक्तोपायात्मक तथा शाम्भवोपायात्मक अधिक है। यह दर्शन की दृष्टि से कौल दृष्टि, त्रिकदृष्टि एवं क्रमदृष्टि से प्रभावित है। ग्रन्थकार इसे अर्जुनोपदिष्ट महार्थज्ञान का द्वितीय संस्करण मानता है और इस प्रकार इसे कृष्णोक्त योगज्ञान एवं आत्मोपदेश का सारांश मानता है।

चौखम्बा सुरभारती के सञ्चालक एवं प्रकाशक माननीय श्री वल्लभदास एवं श्री नवनीतदास जी गुप्त के प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ कि उन्होंने काश्मीरीय त्रिक दर्शन, कौल दर्शन एवं क्रम-दर्शन के गंगा-यमुना-सरस्वती के पुण्य संगम-स्वरूप महार्थमञ्जरी ग्रन्थ को प्रकाशित करने के मेरे प्रस्ताव को स्वीकार करके इसे सर्वजनोपयोगी बनाने की लालसा से प्रकाशित करने का दायित्व-निर्वहन किया। मैं इसके लिए उनके प्रति पुनः आभार प्रकट करता हूँ।

दिनाङ्क : १२.०७.२००६ **श्यामाकान्त द्विवेदी 'आनन्द'**

---

१. श्रीत्रिपुरसुन्दरीमन्दिरस्तोत्र

प्रस्तावना

भारतीय दार्शनिकों ने गहन सन्धान एवं गम्भीर पर्यालोचना के बाद यह पूछा कि कस्मै देवाय हविषा विधेम? महार्थमञ्जरीकार ने कहा कि वह उपास्य देव तो केवल आत्मा है। विश्व के सारे दार्शनिकों की मूल जिज्ञासा यही रही है कि विश्व का मूल तत्त्व क्या है? सृष्टि का केन्द्र-बिन्दु क्या है? यही जिज्ञासा महार्थमञ्जरीकार की भी रही है। वे मानते हैं कि आत्मा ने ही लोक-सृजन की प्रथमांकाक्षा व्यक्त की और वही सृष्टि के आदि में थी। उपनिषत्कारों का कथन है कि विश्व के प्रारम्भ में तो केवल आत्मा ही थी—ॐ आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्। नान्यत्किञ्चनमिषत्। स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति। यही तथ्य महेश्वरानन्द भी मानते हैं।

अन्य दर्शनों में विश्व को अपने से पृथक्, आत्मा से पृथक् एवं ब्रह्म से पृथक् मानकर उसे 'हेय' घोषित किया गया था; किन्तु विश्व आत्मस्वरूप ही है— यथोर्णनाभिः सृजते गृह्यते च, यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति। यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि तथाक्षरात्सम्भवतीह विश्वम्। यही दृष्टि महेश्वरानन्द की भी है।

उपनिषत्कारों ने विद्या के दो रूप स्वीकार किये हैं—अपरा विद्या एवं परा विद्या। अपरा विद्या में ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, निरुक्त, छन्द एवं ज्योतिष हैं तथा परा विद्या में आत्मज्ञान स्थित है। महार्थमञ्जरी में इसी आत्मविद्या की विवेचना की गई है। उपनिषत्कार कहते हैं कि जिस प्रकार पक्षियों का समूह अपने घोंसलों में आवास ग्रहण करते हुये उनमें अवस्थित हैं, उसी प्रकार सब के सब आत्मा में अवस्थित एवं प्रतिष्ठित हैं—स यथा सोम्य वयांसि वासोवृक्षं सम्प्रतिष्ठन्ते एवं ह वै तत् सर्वं पर आत्मनि सम्प्रतिष्ठते।[1]

महार्थमञ्जरी में उस परमतत्त्व (आत्मा) की विवेचना की गई है, जिसे सुनने पर भी न तो सुना जा सकता है और जानने पर न तो जाना जा सकता है—

श्रवणयापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विदुः।

जिसे तर्कों से पाया नहीं जा सकता—नैषा तर्केण मतिरापनेया। जिसे प्रवचन, बुद्धि एवं उपदेश से ग्रहण नहीं किया जा सकता—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।

यह परतत्त्व (आत्मा) शरीररूप उस रथ का रथी है, जिसमें सारथी के रूप में बुद्धि, लगाम के रूप में मन तथा घोड़ों के रूप में इन्द्रियाँ स्थित हैं—

---

१. प्रश्नोपनिषद्

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मन: प्रग्रहमेव च।।
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयास्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिण:।।[१]

महार्थमञ्जरी का परम प्रतिपाद्य तत्त्व या विवेच्य विषय अमूल, अम्लान, औत्तर अद्वयतत्त्व है—

जयत्यमूलमम्लानमौत्तरं तत्त्वमद्वयम्।[२]

प्रश्न यह है कि यह कौन-सा तत्त्व है? यह स्पन्दशास्त्र में परिव्याप्त शिवभक्तिमय अमृतरूप मकरन्द से विलसित महान् पद्म है—

स्पन्दास्पन्दपरिस्पन्दमकरन्दमहोत्पलम्।[३]

औत्तरतत्त्व क्रमदर्शन है। शैवागम भगवान् पञ्चवक्त्र (शिव) के उत्तरमुख से नि:सृत हुआ है। क्रमदर्शन औत्तराम्नाय कहलाता है और औत्तराम्नाय दर्शन सच्चिदानन्द ब्रह्म परमशिव का प्रतिपादक है।

महेश्वरानन्द कहते हैं कि जिसके प्रभाव से द्वैताद्वैत विलक्षणात्मक अद्वय एवं अद्वय अनुत्तराम्नाय क्रमदर्शन के महासागर में मेरा पूर्ण मज्जन (अवगाहन) हुआ और जिसके प्रभाव से मुझे सौभाग्यरूप शाम्भवसुख की प्राप्ति हुई, उस स्वात्मचित्क्रमविमर्शात्मक गुरु के युग्मानन्दप्रकाश की मैं स्तुति करता हूँ—

यस्मादनुत्तरमहाह्रदमज्जनं मे सौभाग्यशाम्भवसुखानुभवश्च यस्मात्। आदि।

महार्थमञ्जरी और परिमल के प्रणेता कौन हैं? इस जिज्ञासा के शमनार्थ महेश्वरानन्द कहते हैं—गोरक्षो लोकधिया देशिकदृष्ट्या महेश्वरानन्द: उन्मीलयामि परिमलमन्तर्ग्राह्यं महार्थमञ्जर्याम्।

महेश्वरानन्द कौन थे?

महार्थमञ्जरीकार महेश्वरानन्द के विषय में यह भी ध्यातव्य बिन्दु है कि आखिर वे थे कौन? क्या महेश्वरानन्द नाथपन्थी सिद्ध गोरक्षनाथ (मत्स्येन्द्रनाथ के शिष्य) से अभिन्न हैं? महार्थमञ्जरीकार महेश्वरानन्द ने अपने को गोरक्षनाथ भी कहा है—गोरक्षोलोकधिया देशिकदृष्ट्या महेश्वरानन्द:। अत: शंका उत्पन्न होती है कि महेश्वरानन्द कहीं नाथपन्थी गोरक्षनाथ ही तो नहीं हैं। परिमल टीका महेश्वरानन्द की कृति है या कि नाथपन्थी गोरक्षनाथ की? दोनों ग्रन्थों के प्रणेता कौन हैं? कहीं ऐसा तो नहीं है कि महेश्वरानन्द ने अपना नाम गोरख भी रख लिया हो और नाथपन्थी गोरक्षनाथ उनसे भिन्न हों? इस दिशा में यथेष्ट मतभेद है।

---

१. कठोपनिषद् २. महार्थमञ्जरी ३. महार्थमञ्जरी-१

व्रजवल्लभ जी की दृष्टि—व्रजवल्लभ द्विवेदी जी का मत यह है कि महार्थमञ्जरीकार (जिनका एक नाम गोरक्षनाथ भी है) नाथपन्थ के नौ नाथों में परिगणित गोरक्षनाथ नहीं हैं—महार्थमञ्जरीकारो गोरक्षापरनामधेयो महेश्वरानन्द एष नवनाथेष्वन्यतमाद् गोरक्षनाथादभिन्न इति एष च मत्स्येन्द्रनाथस्य सकुलकुलशास्त्रावतारकस्य शिष्य इति विद्वद्गोष्ठीषु बहु-चर्चितो विषयो नास्मभ्यं रोचत इति।

द्विवेदी जी की दृष्टि में ये महेश्वरानन्द न तो नाथपन्थी गोरक्षनाथ हैं और न तो गोरक्षनाथ के गुरु मत्स्येन्द्रनाथ इनके गुरु ही हैं।

महेश्वरानन्द जी का आविर्भावकाल तो ऋजुविमर्शिनीकार शिवानन्द (१३वीं सदी) एवं योगिनीहृदयदीपिकाकार अमृतानन्द (१४वीं सदी) के मध्य का काल है। नाथपन्थी गोरक्षनाथ के गुरु मत्स्येन्द्रनाथ जी का आविर्भाव काल ईसा की नवीं सदी का काल है। अभिनवगुप्त के शिष्य आचार्य क्षेमराज का महेश्वरानन्द के परम गुरु शिवानन्द द्वारा ऋजुविमर्शिनी टीका में सादर उल्लेख किया गया है—श्रीक्षेमराजाचार्यकृते द्रष्टव्यः।

शिवानन्द ने क्षेमराज के स्पन्दनिर्णय एवं शिवसूत्रविमर्शिनी का एवं उनमें प्रस्तुत व्याख्याओं का भी ऋजुविमर्शिनी में अनुसरण किया है। अभिनवगुप्त ने तन्त्रालोक में मत्स्येन्द्रनाथ का 'मच्छन्दविभु' के नाम से उल्लेख भी किया है। मत्स्येन्द्रनाथ ९वीं-१०वीं सदी के हैं। भला इन स्थितियों में शिवानन्द के प्रशिष्य महेश्वरानन्द मत्स्येन्द्रनाथ के शिष्य कैसे हो सकते हैं? शिवानन्द ने तो क्षेमराज का नामोल्लेख किया है, जो कि अभिनवगुप्त के शिष्य हैं। मत्स्येन्द्रनाथ (क्षेमराज के गुरु) अभिनवगुप्त के भी पूर्ववर्ती हैं; अतः वे महेश्वरानन्द के गुरु कैसे हो सकते हैं?

महार्थमञ्जरी एवं परिमल में प्रतिपादित एवं व्यक्त विचारों से हठयोगी गोरक्षनाथ के विचारों का साम्य भी नहीं है; अतः नाथपन्थी गोरक्षनाथ को महेश्वरानन्द से अभिन्न स्वीकार नहीं किया जा सकता।

शिवानन्द (महेश्वरानन्द के परमगुरु) ने ऋजुविमर्शिनी टीका में सोमशम्भुप्रणीत ग्रन्थ 'कर्मकाण्डक्रमावली' के वचनों को उद्धृत किया है। इस पुस्तक को सोमशम्भु ने १०७३ ई. में प्रणीत किया था। शिवानन्द ने १३वीं सदी के जैनाचार्य नागभट्ट के 'त्रिपुरासारसमुच्चय' के वचनों को भी उद्धृत किया है; अतः प्रश्न उठता है कि महेश्वरा-नन्द अपने आविर्भावकाल से चार-पाँच शताब्दी पूर्ववर्ती मत्स्येन्द्रनाथ के शिष्य कैसे हो सकते हैं? यदि वे मत्स्येन्द्रनाथ के शिष्य नहीं हो सकते तो नव नाथों में परिगणित गोरक्षनाथ से अभिन्न कैसे हो सकते हैं? द्विवेदी जी का निष्कर्ष यही है कि—

१. महेश्वरानन्दो न कथमपि भवितुमर्हति नाथसम्प्रदायप्रवर्त्तको गोरक्षनाथः।
२. गोरक्षनाथोऽपि नैव भवति साक्षाच्छिष्यो मत्स्येन्द्रनाथस्य।

महन्त अवेद्यनाथ जी की दृष्टि—महन्त अवेद्यनाथ (गोरक्षपीठाधीश्वर, गोरखपुर)

की मान्यता है कि—

• महेश्वरानन्द गोरखनाथ जी का ही नाम है। गोरखनाथ जी को 'शिवगोरक्ष महेश्वरानन्द' कहने में आपत्ति नहीं है।

• महार्थमञ्जरी के रचयिता गोरखनाथ जी हैं। परिमल उनकी स्वोपज्ञ टीका भी है।

• समयक्रम में इस टीकामात्र के विवर्धन में यत्किञ्चित् संवर्धन करके कोई भी महेश्वरानन्द अपने-आपको गोरक्ष कह सकता है।

• 'नत्वा नित्यशुद्धौ गुरोश्चरणौ महाप्रकाशस्य' वाक्य में प्रयुक्त 'महाप्रकाश' मत्स्येन्द्रनाथ ही हैं।

• नाथपन्थी गोरक्षनाथ ने ही स्वप्न में प्रकट योगिनी की कृपा से सत्तर गाथाओं वाली महार्थमञ्जरी की रचना की है—

> स्वप्नसमयोपलब्धा सा सुमुखी सिद्धयोगिनी देवी।
> गाथाभिः सप्तत्या स्वापितभाषाभिरस्तु सम्प्रीता।। (परिमल)

वाक्यों द्वारा इन्हीं नाथपन्थी गोरक्षनाथ ने महार्थमञ्जरी के प्रणयन की बात अपनी परिमल टीका में स्वीकार की है।

• महार्थतत्त्व को काश्मीर के प्रत्यभिज्ञा दर्शन ने आवरित करके ३०० सालों—९वीं से ११वीं शताब्दी तक की अवधि में तन्त्रीकृत करने का प्रयास किया और अभिनवगुप्त की परम्परा के किसी महेश्वरानन्द ने गोरक्षनाथ से अपनी प्रख्याति स्थापित करके महार्थमञ्जरी का रचयिता होने का गौरव प्राप्त किया; पर यह नितान्त भ्रम का कारण बना; क्योंकि मूलतः महार्थमञ्जरी महायोगी शिवगोरक्ष द्वारा प्रणीत है। उनकी परिमल नामक स्वोपज्ञ टीका को भी काश्मीर के शैव दर्शन और तन्त्राचार के अनुरूप सम्बन्धित करने का प्रयास किया गया।

• दक्षिण भारत में केरल प्रदेश में भी दाक्षिणात्य परम्परा से महार्थमञ्जरी को युक्त करके गोरक्षनाथ जी के पिता और गुरु को 'माधव' और 'महाप्रकाश' के रूप में निरूपित किया गया।

• अभिनवगुप्त की परम्परा के महेश्वरानन्द १४वीं शती में विद्यमान थे। ऐसी स्थिति में यह निर्विवाद है कि वे महार्थमञ्जरी के प्रणेता नहीं हो सकते। तथाकथित गोरक्षनामधारी महेश्वरानन्द किसी भी स्थिति में इस महार्थ योगशास्त्र महार्थमञ्जरी के रचयिता नहीं सिद्ध हो सकते।

• ऐसी मान्यता है कि काश्मीर में नाथयोग की एक परम्परा चलती रही, जिसे किसी तथाकथित नाथयोगी 'अवतारकनाथ' ने प्रवर्त्तित किया था। इस नाथयोग में अभ्यास से परमेश्वरी परा शक्ति की बारह रूपों की उपासना की जाती है। इस उपासना को क्रमदर्शन कहा जाता है। इसे त्रिकयोग के शाक्तोपाय में स्थान दिया गया है। इसका सम्बन्ध कौलपरम्परा से है; महायोगी गोरक्षनाथ द्वारा प्रतिपादित नाथयोग से नहीं है।

महार्थमञ्जरी तो शुद्ध नाथयोग की प्रतिपादिका है।

• यह भी निर्विवाद है कि समय-समय पर इसे आगमोक्त तान्त्रिक भावनाओं से आच्छादित करने का प्रयत्न हुआ है।

• यह धारणा निश्चित करना कि महार्थमञ्जरी में नाथसम्प्रदाय के प्रवर्त्तक हठयोगी गोरखनाथ जी के सिद्धान्त का तथाकथित क्रमदर्शन से कोई साम्य नहीं है—महार्थमञ्जरी के नाथयोग स्वरूप को बिगाड़ना (विकृत करना) है।

• महेश्वरानन्द ने महार्थमञ्जरी की परिमल टीका में महार्थ औत्तराम्नाय, क्रमसरणिप्रभृति पदाभिधेय क्रमदर्शन की व्याख्या की है और उनकी दृष्टि में क्रमदर्शन त्रिकदर्शन का ही एक भेद है। इस क्रमदर्शन के प्रथम आचार्य शिवानन्द माने गये हैं। उन्हें अन्य नाथसिद्ध परम्परा के अन्तर्गत अवतारकनाथ कहा गया है। यह सम्भव है कि क्रमदर्शन के तत्त्व का परिमल में आगे चलकर संवर्धन, मिश्रण किया गया हो, जो भी हो। तथापि महार्थमञ्जरी नाम की मूल रचना तो हमारे गोरखनाथ जी की ही देन है।

• महेश्वरानन्द ने अपने-आपको लोकदृष्टि से गोरक्ष और देशिक-दृष्टि से (परिमल के मंगलाचरण में) गुरु को महाप्रकाश कहा है। टीका के समापन में अपने पिता का नाम माधव कहा है। माधव ही नाथस्वरूप प्रकाश हैं। महाप्रकाश मत्स्येन्द्रनाथ हैं।

• यह धारणा व्यक्त करने में सङ्कोच नहीं है कि ११वीं से १४वीं सदी की अवधि में महेश्वरानन्द ने जो गोरक्ष नाम से लोकप्रसिद्ध थे, इस टीका (परिमल) को संवर्द्धित करके उसे विशिष्टता प्रदान करने का अनुग्रह किया।

• यह नितान्त असंगत है कि महेश्वरानन्द हमारे नाथ सम्प्रदाय के महायोगी गोरक्षनाथ हैं।

महार्थमञ्जरी का इतिहास

एक बार सदाशिव आदि से सेव्यमान भगवान भैरव, जबकि वे निर्विकल्प निज पदरूप संविद् विश्रान्ति की अवस्था में अवस्थित थे तभी उनकी निजा शक्ति इच्छा शक्ति ने पूर्णता प्राप्त कराने वाले ज्ञान का उपदेश करने की प्रार्थना की। भगवान् भैरव ने उसके समाधानार्थ औत्तरतत्त्व का उपेदश दिया। देवी ने कालयोग से उस चिदद्वैत का उपदेश शिवानन्द को दिया। वह ज्ञान दिव्यौघ, सिद्धौघ एवं मानवौघक्रम से अग्रपद हुआ। चोल देश के महाप्रकाश नामक साधक को शिवानन्द ने अपने शिष्य के रूप में स्वीकार किया। उन्हीं महाप्रकाश नामक गुरु का गोरक्ष एवं महेश्वरानन्द नामद्वयधारी साधक शिष्य हुआ—

महाप्रकाशो नामासीद् देशिको दृक्क्रियोत्तरः।
तस्य शिष्योऽभवद्धीमान् गोरक्षो नाम वश्यभाक्।।
महेश्वरानन्द इति प्राप्तपूज्याह्वयो महान्।।

एक समय महेश्वरानन्द देवार्चन एवं नाम-जप करते हुए (रात्रि के समय) एक

यागमण्डप में बैठे थे। उन्होंने देवी की गन्ध, पुष्प एवं अक्षत आदि द्रव्यों से पूजा की। उसी समय जागृत एवं स्वप्नावस्था के मध्य की अवस्था में स्थित महेश्वरानन्द के समक्ष सिन्दूरालंकृत, कन्था-शूल-कपालधारिणी कोई सिद्धा योगिनी प्रकट हुई। उन्होंने उसे दक्षिणा दिया तो उसने कहा कि निःस्पृह को दान कैसा? उसने महेश्वरानन्द के मस्तक का स्पर्श किया और लुप्त हो गई। महेश्वरानन्द ने यह सारा वृत्तान्त अपने गुरु को बताया और उनकी आज्ञा पाकर महार्थमञ्जरी का प्रणयन किया।

महेश्वरानन्द की दृष्टि में महार्थमञ्जरी का स्वरूप

महेश्वरानन्द कहते हैं कि महार्थमञ्जरी आत्मस्वरूप से अभिन्न परमेश्वर के परामर्श के उपाय के प्रतिपादन हेतु सत्तर गाथाओं में प्रणीत एक महत् तन्त्र है—यदेतात्मस्वरूपाविभिन्नपरमेश्वरपरामर्शोपायप्रतिपादनप्रवृत्तमभ्युगमसिद्धान्तस्थित्या .... महार्थमञ्जर्याह्वयं महत् तन्त्रम्।[१]

भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को जो उपदेश कुरुक्षेत्र की रणभूमि में दिया था, उसी महार्थतत्त्व का महार्थमञ्जरी में भी प्रतिपादन किया गया है।[२] तात्पर्य यह कि यह क्रमदर्शन, त्रिकदर्शन एवं गीता का सार है।

महार्थमञ्जरीकार के जीवन का परम लक्ष्य

महार्थमञ्जरीकार ने महार्थतत्त्व (गीता का आत्मोपदेशात्मक सारभाग), क्रमदर्शन, कुलदर्शन एवं त्रिकदर्शन के सारतम भाग को प्रपञ्चित, प्रसृत, प्रचारित करते हुए औत्तराम्नायात्मक शिवाद्वैत को सर्वहृदयगम्य एवं सर्वोपास्य बनाने का लक्ष्य तो रक्खा ही; किन्तु साथ ही उन्होंने अपना व्यक्तिगत लक्ष्य, अपनी सर्वोच्च आकांक्षा एवं सर्वोच्च अभीष्ट को भी व्यक्त किया, जो कि निम्नांकित है—

> अधिवासयतु सदा मुखमन्यकथालेपलब्धदौर्गन्ध्यम्।
> कर्पूरशकल इव मे शिव शिव इति शीतलः शब्दः।।

अर्थात् सुगन्धित कर्पूरचूर्ण के सदृश शीतल 'शिव-शिव' शब्द अन्य प्रापञ्चिक चर्चाओं के लेप से दुर्गन्धित मेरे मुख को सुरभित करे।

महेश्वरानन्द ने अपने नाम को परमशिव भट्टारक से अभिन्न कहकर उनसे भावापन्न होकर महार्थमञ्जरी की रचना करने की बात भी कही है—महेश्वरानन्दो हि नाम श्रीमत्सदाशिवपर्यान्ताशेषशुद्धाशुद्धाधिकारानुप्रविष्टप्रमातृपरम्पराप्रभावसर्वस्वाभिभावी नित्यानवच्छिन्नप्रकाशानन्दपरमार्थस्वातन्त्र्यलक्षणः शिवभट्टारक एव। तद्भावापन्नोऽयं तन्त्रकृदिति यावत्। तद्भावापत्तिश्च तस्य देशिककटाक्षपातशक्तिपातसौभाग्यस्य .... ।

उन्होंने अपने को शिवभावापत्ति से उसी प्रकार समलंकृत कहा है, जिस प्रकार

---

१. परिमल (उपोद्घात) २. महार्थमञ्जरी (७०)

शिवदृष्टिकार सोमानन्द थे और जिन्होंने इसे स्वयं स्वीकार करते हुए कहा था—

अस्मद्रूपसमाविष्टस्वात्मनात्मनिवारणे ।
शिव: करोतु निजया नम: शक्त्या ततात्मने।।[१]

अत: उन्होंने शिवभावापत्ति को अपने जीवन का परम लक्ष्य स्वीकार किया।

महार्थमञ्जरी के विवेच्य विषय के मूल बिन्दु

१. आत्मा विश्व का मूल है।
२. शिव और शक्ति का स्वरूप।
३. आत्मोपासना।
४. विधि-निषेध।
५. प्रकाश और विमर्श।
६. कार्य-कारणसिद्धान्त।
७. शक्तितत्त्व।
८. सदाशिव, ईश्वर, विद्या, ज्ञाता, ज्ञान एवं ज्ञेय।
९. परमात्मा की मोहनी शक्ति— माया।
१०. शिव एवं जीव में अभेद।
११. शिव नाटक के शैलूष के रूप में।
१२. शिव की शक्तियाँ—ज्ञान, क्रिया, माया एवं शाम्भवी।
१३. अन्त:करणचतुष्टय।
१४. परमात्मा की कर्मेन्द्रियाँ-ज्ञानेन्द्रियाँ।
१५. त्रैलोक्य-धूर्त के रूप में शिव।
१६. शम्भु की विमर्शसंरम्भमयी महाशक्ति।
१७. अध्वषट्क।
१८. शिवशक्त्यैक्य।
१९. शिव विश्वशरीरी के रूप में।
२०. उन्मेष-निमेष में ऐक्य।
२१. अद्वैतवाद।
२२. पीठतत्त्व।
२३. पूजा एवं वरिवस्या का यथार्थ स्वरूप या रहस्य।
२४. शरीर—एक महापीठ के रूप में।
२५. शरीर-अष्टपुर्यात्मक रूप में।
२६. शिव के कृत्य।

---

१. महार्थमञ्जरी (गाथा क्रमाङ्क-१)

२७. शिव की भासा शक्ति।

२८. शुद्धि का स्वरूप।

२९. पूर्णाहन्ता में विकल्पांकुरों का निक्षेप।

३०. देवता का यथार्थ स्वरूप।

३१. मन्त्र का स्वरूप।

३२. वाणी के रूप—वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती, सूक्ष्मा।

३३. मुद्रा का स्वरूप।

३४. विमर्शकल्पद्रुम।

३५. परमात्मा—अक्रमिक, कालकल्मष से अस्पृष्ट एवं निरावरणरूप में।

३६. आत्मा की नित्यता एवं शाश्वत स्थिरता।

३७. आत्मा—आनन्दस्वभाव के रूप में।

३८. सोऽहं जप।

३९. निष्कल परमशिव।

४०. रसस्वरूप शिव।

४१. परमात्मा—दर्पण के रूप में एवं जगत् प्रतिबिम्ब के रूप में।

४२. चारो अवस्थाओं में आत्म-व्याप्ति।

४३. योग-भोगसाहचर्यवाद।

४४. मन्थानभैरव-मथित अमृतमयी विद्या की सर्वश्रेष्ठता।

४५. हृदय एवं उद्योग की निरन्तर पर्यालोचना।

सर्वात्मवाद एवं आत्मोपासना

भारत की प्राचीनतम उपासनाओं में आत्मोपासना प्रधान थी। वैदिक काल में कर्मकाण्डीय विधान एवं यज्ञीय अनुष्ठानों की प्रधानता तो थी; किन्तु साथ ही साथ 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' की दृष्टि ने जब उस एक का सन्धान करना प्रारम्भ किया तो वह उन्हें दो रूपों में मिला—ब्रह्म एवं आत्मा। यही कारण है कि वैदिक-औपनिषदिक साधना में ब्रह्मोपासना एवं आत्मोपासना का स्वर उदग्र होता चला गया। उपनिषदों में आकर कर्मकाण्डीय विधान एवं यज्ञीय अनुष्ठान अपना प्रामुख्य खोने लगे और उनके स्थान पर आत्मोपासना एवं ब्रह्मोपासना की ऊँचाई अभ्रंलिह शिखरों का स्पर्श करने लगी।

बृहदारण्यकोपनिषद् में आत्मोपासना की प्रधानता का एक उपाख्यान देखिये—

याज्ञवल्क्य मैत्रेयी से कहते हैं—अरी मैत्रेयी! यह आत्मा ही दर्शनीय, श्रवणीय, मननीय एवं ध्येय है। हे मैत्रेयि! इस आत्मा के ही दर्शन, श्रवण, मनन एवं विज्ञान से सबका ज्ञान हो जाता है—आत्मा वा अरे द्रष्टव्य: श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन, श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्।

वसुगुप्ताचार्य और आत्मोपासना—त्रिक दर्शन के प्रवर्तक आचार्य वसुगुप्त ने भी आत्मोपासना को सर्वाधिक महत्त्व देने के कारण शिवसूत्र के प्रथमोन्मेष शाम्भवोपाय के प्रथम सूत्र के रूप में आत्मासम्बन्धी सूत्र—चैतन्यमात्मा (१.१) को ही स्थान दिया। उनकी दृष्टि में चैतन्य ही आत्मा है।

आत्मा क्या है? वसुगुप्त कहते हैं—आत्मा चैतन्य है। यह चैतन्य क्या है? आचार्य क्षेमराज कहते हैं—चैतन्य शिव है और यह शिव ही विश्व की आत्मा है—चैतन्यपरमार्थतः शिव एव विश्वस्य आत्मा।

चार्वाक की दृष्टि—चार्वाक की दृष्टि में—

१. शरीर ही आत्मा है : शरीरात्मवाद।
२. पुत्र ही आत्मा है : आत्मा वै जायते पुत्रः : अपत्यात्मवाद।
३. बुद्धि ही आत्मा है : बुद्ध्यात्मवाद।
४. प्राण ही आत्मा है : प्राणात्मवाद।
५. इन्द्रियाँ ही आत्मा है : इन्द्रियात्मवाद।
६. मन ही आत्मा है : मनसात्मवाद।

शून्यवादी बौद्धों की दृष्टि : शून्य ही आत्मा है : शून्यात्मवाद।
विज्ञानवादी बौद्धों की दृष्टि : विज्ञान ही आत्मा है : विज्ञानात्मवाद।

त्रिक दर्शन के आचार्य ने कहा कि आत्मा इनमें से कोई भी नहीं है—आत्मा क्व? इति जिज्ञासून् उपदेश्यान् प्रति बोधयितुं न शरीर-प्राण-बुद्धि-शून्यानि लौकिक-चार्वाक-वैदिक-योगाचार-माध्यमिकाद्यभ्युपगतानि आत्मा, अपितु यथोक्तं चैतन्यमेव।[1]

आचार्य क्षेमराज की दृष्टि—आचार्य क्षेमराज कहते हैं कि—

१. चेत्यमानस्तु स्वप्रकाशचिदेकीभूतत्वात् चैतन्यमात्मैव : चैतन्य ही आत्मा है।

२. चैतन्यं विश्वस्य स्वभावः : चैतन्य ही विश्व का स्वभाव है।

३. जीवजडात्मनो विश्वस्य परमशिवरूपं चैतन्यरूपं चैतन्यमेव स्वभावः अर्थात् चराचर जड़-चेतनात्मक विश्व का चैतन्यस्वरूप परमशिव एवं चैतन्य ही स्वभाव है।

४. शङ्करात्मकस्पन्दतत्त्वरूपं चैतन्यं सर्वदा स्वप्रकाशं परमार्थसत् अस्ति। अर्थात् शङ्करात्मक स्पन्दतत्त्वरूप चैतन्य, जो कि नित्य स्वप्रकाश है, वही पारमार्थिक सत् तत्त्व है।[2]

५. चैतन्य ही आत्मा है। वही भावाभावरूप जगत् का स्वभान है—

स्वभावः.................................भावाभावरूपस्य विश्वस्य जगतः।

मृत्युजिद्भट्टारककार की दृष्टि—मृत्युजिद्भट्टारककार का कथन है कि—

---

१. शिवसूत्रविमर्शिनी (सूत्र १.१) २. शिवसूत्रविमर्शिनी (१.१)

१. आत्मा परमात्मस्वरूप है।

२. वह सर्वोपाधिविवर्जित है।

३. वह चैतन्यरूपा है—

परमात्मस्वरूपं तु सर्वोपाधिविवर्जितम्।
चैतन्यमात्मनो रूपं सर्वशास्त्रेषु पठ्यते।।

वार्त्तिककार की दृष्टि—वार्त्तिककार ने भी इसी दृष्टि की पुष्टि करते हुए कहा कि—

चैतन्यमात्मनो रूपं सिद्धं ज्ञानक्रियात्मकम्।
तस्यानावृतरूपत्वाच्छिवत्वं केन वार्यते।।

आचार्य महेश्वरानन्द की दृष्टि—आचार्य महेश्वरानन्द ने भी सर्वत्र आत्मोपासना को ही विशेष महत्त्व दिया। ग्रन्थोपक्रम में महाप्रकाश की वन्दना के बाद उनकी प्रथम गाथा (क्रमाङ्क-३) आत्मा के विषय में ही है। उनके अनुसार आत्मा विश्व का मूल है।

वैशेषिक दर्शनानुयायी कहते हैं कि विश्व का मूल परमाणु है।

सांख्य कहता है कि विश्व का मूल प्रकृति-पुरुष-सम्बन्ध है। वेदान्त कहता है कि विश्व का मूल अज्ञान या माया है। मीमांसा कहती है कि विश्व का मूल प्राणियों के अदृष्ट हैं। महेश्वराचार्य कहते हैं कि विश्व का मूल आत्मा है—

आत्मा खलु विश्वमूलं तत्र प्रमाणं न कोऽप्यर्थयते।[१]

इसका अर्थ तो यह हुआ कि जो मूल ३६ तत्त्व हैं और जो अशेष षट्त्रिंशदात्म जगत् है, उन सभी का मूल (उद्भव केन्द्र) आत्मा ही है।

• जिनके लिए आत्मभाव के अतिरिक्त कोई अन्य अनात्मभाव अनुगमनीय है, उन अनात्मचिन्तकों के लिए अपनी उपासना का फल प्राप्त कर पाना संदिग्ध है।

येषां निरूपणीयो व्यतिरिक्तः कोऽप्यात्मनोभावः।
आत्मविमुखानां तेषामधिकारिविभागविभ्रमो भवतु।।[२]

• जो लोग आत्मा की पर्यालोचना (चिन्तन) से विमुख हैं, वे संसारभय से सदैव विमोहित होते रहते हैं।[३]

• हृदयदेश में आविर्भूत बड़ी-बड़ी शाखाओं वाला आत्मविमर्शरूप कल्पद्रुम भोगश्री (अपवर्ग आदि) से साधक को पुष्पित करता है और साथ ही निष्कल आनन्द-स्वरूप प्रकाशरूप फल से कृतार्थ करता है।[४]

• आत्मा नित्य है, स्थिर है। जो कुछ भी जिस किसी भी रूप में दृष्टिगत होता है, वह वैसा नहीं है। यह सब तो क्षणभंगुर एवं अस्थिर है।[५]

१. महार्थमञ्जरी-३ ३. महार्थमञ्जरी-८ ५. महार्थमञ्जरी-५४
२. महार्थमञ्जरी-६ ४. महार्थमञ्जरी-५२

• आत्मा की प्रियता से ही समस्त विषयवस्तु की प्रियता सिद्ध होती है। अतः आत्मा आनन्दस्वभाव है। उसके मुक्त होने या अमुक्त होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता; क्योंकि वह स्वभावतः आनन्दरूप है और आनन्द ही तो ब्रह्म है—आनन्दं ब्रह्म। आनन्द-मयोऽभ्यासात्।[१]

• प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि वह अत्यासन्न हृदय एवं उसके उद्योग (स्वभाव का उद्यन्तृत्व, विश्वप्रथापरामर्श, स्वात्मविश्रान्तिस्वभाव प्रत्यगानन्द, विश्व की आत्मा-नुकूलता) की पर्यालोचना करे, जिससे कि गर्भ में पड़कर बार-बार भ्रमित न हो—'अत्यासन्नं हृदयं पर्यालोचयत तस्योद्योगम्' और 'मा भ्रमत गर्भलोकेषु।'[२]

• जिस प्रकार माणिक्य कञ्चुकित (निचोलित) रहने पर भी प्रस्फुटित रहता है, उसी प्रकार आत्मा अपने पूर्ण तेज के साथ लोकप्राणियों में स्फुट होते हुए भी अस्फुट रूप में निवास करती है—प्रतिभाति लौकिकानामत्यन्तस्फुटोऽप्यस्फुट आत्मा।[३]

• योगी रंग-विरंगी मणिमाला के समान विमर्शसूत्र में गुम्फित जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति एवं तुरीय अवस्था की परिपाटी का उद्वहन करता है। इन चारो अवस्थाओं को आत्मस्वरूप का विमर्श करते हुए धारण करता है।[४]

• साधक को यथास्वरूप (आत्मस्वरूप में स्थित) रहना चाहिये—'यथा तव स्थितिस्तथास्स्व निश्चिन्त इति खलु प्रतिष्ठितोऽर्थः।[५]

महार्थमञ्जरी में क्रमदर्शन, कुलदर्शन एव त्रिकदर्शन अर्थात् तीनों दर्शनों का मणि-काञ्चन योग है। इसमें शांकर अद्वैत दर्शन को मायावेदान्त, पाशववेदान्त, बाह्यद्वैत-सिद्धान्त एवं पाशवशास्त्र आदि कहकर उसका तिरस्कार एवं प्रत्याख्यान किया गया है। इसमें श्रुति, स्मृति, पुराण एवं वर्णाश्रम आदि का भी खण्डन किया गया है। इसमें बाह्याचार, बाह्याडम्बर एवं स्थूलोपासना का भी खण्डन किया गया है। इसमें गुरुमत-सम्मत अख्यातिवाद का समर्थन किया गया है। नैयायिकों के अन्यथाख्यातिवाद, योग-चारियों (विज्ञानाद्वैतवादियों) के आत्मख्यातिवाद, शून्यवादियों के असत्ख्याति, रामानुज के सत्ख्यातिवाद एवं शङ्कराचार्य के अनिर्वचनीयख्याति का खण्डन करके अभिनवगुप्त-प्रतिपादित पूर्णाख्याति (स्वात्मापूर्णाख्याति) एवं गुरुसम्मत अख्यातिवाद की पुष्टि की गई है।

इस ग्रन्थ में विधि-निषेध की नैगमिक दृष्टि का प्रत्याख्यान करके एक नव्य दृष्टि प्रतिपादित की गई है और कहा गया है—

> यत्र रुचिस्तत्र विधिर्यत्र नास्ति तत्र च निषेधः।
> इत्यस्माकं विवेको हृदयपरिस्पन्दमात्रशास्त्राणाम्।।[६]

---

१. महार्थमञ्जरी-५५
२. महार्थमञ्जरी-६९
३. महार्थमञ्जरी-९
४. महार्थमञ्जरी-६१
५. महार्थमञ्जरी-६४
६. महार्थमञ्जरी-७

महार्थमञ्जरीकार 'सर्वं सर्वात्मकम्' का सिद्धान्त प्रतिपादित करते हैं। प्रकाश विमर्श से एवं विमर्श प्रकाश से पृथक् नहीं रह सकते; अतः यहाँ द्वयात्मक अद्वयवाद की पुष्टि की गई है, न कि शांकर केवलाद्वैत की।

'न शिवेन विना शक्तिर्न शक्तिरहितः शिवः' (सूतसंहिता ४.१३.३९) की दृष्टि त्रिकदर्शन का मूल सिद्धान्त है। शिव प्रकाशरूप है और शक्ति विमर्शरूपा है। सारा विश्व इसी प्रकाश एवं विमर्श की क्रीड़ा है। प्रकाश की आत्मा विमर्श है और विश्व की आत्मा प्रकाशरूप शिव है।

प्रकाश और विमर्श (शिव और शक्ति) अभिन्न शरीरी हैं। परमेश्वर की उन्मेष एवं निमेष नामक दो शक्तियाँ हैं। इनकी स्थिति इस प्रकार है। ये विरुद्ध होकर भी एक साथ रहती हैं; यथा—स्वरूपोन्मेष के समय → विश्वनिमेष एवं विश्वोन्मेष के समय→ स्वरूपनिमेष की विरुद्ध स्थितियाँ एकाकार होकर शिव में रहती हैं; क्योंकि वे एक साथ विश्वमय भी हैं और विश्वातीत भी हैं। विश्वोन्मेष के समय किसी का नाश नहीं होता; प्रत्युत केवल होता है—आत्मस्वरूप का तिरोधान। परमार्थतः तो वेदिता वेद्य है, वेद्य ही वेदिता है एवं वित्ति ही वेद्य है। इसी प्रकार उन्मेष ही निमेष है और निमेष ही उन्मेष है।

- ईश्वर की दृष्टि से सदाशिव शिव का निमेष है।
- शिव की दृष्टि से सदाशिव उन्मेष है।
- सकल की दृष्टि से ईश्वर निमेष है।
- सदाशिव की दृष्टि से ईश्वर उन्मेष है।

शक्ति शिव का विमर्श है; यह अहमाकार बोध है, यह आत्मबोध है, यह प्रत्यभिज्ञा है।

विमर्श शक्ति और क्या है? इस पर प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी में कहा गया है—

विमर्शो हि सर्वंसह आत्मानमपि परमीकरोति, परमप्यात्मीकरोति, द्वयमप्येकीकुरुते, उभयमपि न्यग्भावयति।

विश्व में सर्वत्र ऐकरूप्य ही है। तन्त्रालोकविवेक का 'समता सर्वभावानाम्' का प्रतिपादित सिद्धान्त, विज्ञानभैरव का समत्ववाद का सिद्धान्त तथा सोमानन्द का सर्वशिववाद का सिद्धान्त इसी सर्व सर्वात्मकम् की दृष्टि की ही पुष्टि करता है। यहाँ बन्धन-मुक्ति, चेतन-जड़, सुख-दुःख आदि सारी दृष्टियाँ अभिन्न हैं। तन्त्रालोक (२.९) में भी इसी दृष्टि का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है कि—

अस्यां भूमौ सुखं दुःखं बन्धो मोक्षश्चितिर्जडः।
घटकुम्भवदेकार्थाः शब्दाः.................. ।।

यहाँ स्वात्मपरामर्श को ही परादेवता स्वीकार किया गया है। यहाँ की 'येन येन स्वरूपेण भासते तस्य तन्मयी' की दृष्टि सर्वात्मवाद को भी प्रतिष्ठित करती है। यहाँ सर्वसामरस्यवाद ही प्रतिपाद्य है।

यहाँ का बन्ध-मोक्ष का सिद्धान्त अन्य दर्शनों की दृष्टियों से भिन्न है। अन्य दर्शनों में बन्धन और मुक्ति पृथक्-पृथक् हैं; किन्तु यहाँ दोनों अभिन्न हैं; क्योंकि दोनों शिव के आत्माभिनय ही तो हैं। आत्मप्रच्छादनात्मिका क्रीड़ा स्वरूपतिरोधित्सा एवं आत्मगोपन की स्वकल्पित लीला का नाम ही तो बन्धन है और उसका त्याग ही मुक्ति है। ये दोनों स्वकल्पित मनोरञ्जन-क्रीड़ायें हैं; अत: इसमें सुख-दु:ख, बन्धन-मोक्ष आदि के लिए कहाँ स्थान है? कहा भी गया है—

वस्तुस्थित्यां न बन्धोऽस्ति तदभावान्न मुक्तता।
विकल्पघटितावेतावुभावपि न किञ्चन।।

वस्तुत: बन्धन है ही नहीं। यदि बन्धन ही नहीं है तो मोक्ष की कल्पना कैसी?

यहाँ स्वस्वरूपरामर्श नामक चिदानन्दलाभरूप स्वस्वभाव ही मोक्ष है और यही जीवन्मुक्ति है। यहाँ वैष्णव दर्शन की मुक्ति स्वीकार्य नहीं है; क्योंकि वहाँ जीवन्मुक्ति अस्वीकृत है—'तत एव जीवन्मुक्तिरपि दूरोत्सारिता अत: सफलभेदनिवृत्तिरूपा जीवन्मुक्ति-र्जीवितो न सम्भवति। यहाँ विदेहमुक्ति नहीं, जीवन्मुक्ति ही स्वीकृत है। यही जीवन्मोक्ष भी है।

जहाँ तक बन्धन के कारणों का प्रश्न है, उन्हें यहाँ 'मल' कहा गया है, जो कि तीन प्रकार के हैं—आणव मल, मायीय मल एवं कार्म मल।

अज्ञान के कारण उत्पन्न इन मलों के आच्छादन कार्य द्वारा आत्मा बन्धनग्रस्त हो जाती है। इन्हें स्पन्दशास्त्र में अशुद्धि कहा गया है। इनको दूर करने के साधनों को उपाय कहा गया है। ये उपाय तीन हैं—

१. इच्छोपाय २. ज्ञानोपाय ३. क्रियोपाय।
१. शाम्भवोपाय २. शाक्तोपाय ३. आणवोपाय

इसके अतिरिक्त अनुपाय भी एक उपाय है।

शिवसूत्रकार ने ज्ञान को ही बन्धन कहा है। अन्यत्र अज्ञान को बन्धन कहा गया है। प्रापञ्चिक अनात्मक ज्ञान ही बन्धन है और इस ज्ञान से मुक्ति ही मोक्ष है। मोक्ष स्वात्मस्वरूप का साक्षात्कार है और यही जीवन्मुक्ति भी है। पूर्णाहन्ता की अपरोक्षानुभूति ही अपनी पूर्णता है।

वेदान्त का ज्ञान इस प्रकार है—१. ब्रह्म सत्यं, २. जगन्मिथ्या, ३. जीवो ब्रह्मैव नापर:। (शंकराचार्य)।

यहाँ का ज्ञान है—१. अहमस्मि (शिव का ज्ञान) २. अहमिदं (सदाशिव का ज्ञान) ३. इदमहम् (ईश्वर का ज्ञान)।

यहाँ इच्छा-ज्ञान-क्रिया भिन्न-भिन्न नहीं हैं; प्रत्युत एकाकार हैं। अत: यहाँ की दृष्टि है—इच्छाज्ञानक्रियाभेदवाद। अन्य शास्त्रों में मोक्ष के लिए भोग का त्याग अनिवार्य है; किन्तु यहाँ भोग-मोक्षसामरस्यवाद के कारण योगभोग-साहचर्यवाद स्वीकृत है।

ज्ञानमार्ग में भक्ति एवं भक्ति-मार्ग में ज्ञान मूल्यहीन या त्याज्य हैं; किन्तु यहाँ का स्वीकृत सिद्धान्त है—ज्ञान-भक्ति-सामञ्जस्यवाद।

वेदान्त आदि दर्शनों में शक्ति और शक्तिमान (यथा—वेदान्त में ब्रह्म एवं माया शक्ति) पृथक्-पृथक् हैं; किन्तु यहाँ की स्वीकृत दृष्टि है—शिव-शक्तिसामरस्यवाद या प्रकाश-विमर्श अभेदवाद।

अन्य दर्शनों में चित् एवं अचित् (चेतन एवं जड़) दो भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं; किन्तु यहाँ का स्वीकृत सिद्धान्त है—सर्वचैतन्यवाद या सर्वचिन्मयवाद। यहाँ की दृष्टि में जड़ कोई है ही नहीं।

वेदान्त आदि दर्शनों में सत्य और मिथ्या के रूप में पदार्थों की दो श्रेणियाँ मान्य हैं; किन्तु यहाँ 'सर्वं शिवात्मकम्' की दृष्टि मान्य होने से मिथ्या तो कुछ हो ही नहीं सकता। सब कुछ शिवात्मक है; अत: सब कुछ सत्यात्मक है।

वेदान्तादि दर्शनों में—

१. प्रतिबिम्बवाद	४. आभासवाद	७. सत्कार्यवाद
२. अवच्छेदवाद	५. विवर्तवाद	८. असत्कार्यवाद
३. जीवसृष्टिवाद	६. परिणामवाद	९. आरम्भवाद

आदि के सिद्धान्त स्वीकार्य हैं; किन्तु यहाँ स्वातन्त्र्यवाद स्वीकृत है।

वेदान्त का निर्गुण, निराकार एवं निष्क्रिय ब्रह्म सृष्टि आदि व्यापारों की शक्ति से वञ्चित है। सृष्टि आदि का कार्य उसकी माया शक्ति करती है; किन्तु यहाँ प्रतिपादित शिव सर्वज्ञ, पूर्ण एवं नित्य के साथ सर्वकर भी है—सर्वकर: सर्वज्ञ: पूर्णो नित्योऽसङ्कुचंश्च विपरीत इव महेशो याभिस्ता: भवन्ति पञ्च शक्तय:।[1]

सांख्य-वेदान्त आदि की शक्ति जड़ है; किन्तु यहाँ प्रतिपादित शक्ति चेतन है।

सांख्य, मीमांसा एवं वेदान्त आदि में परमात्मा की शक्ति परमात्मा में समवाय सम्बन्ध से रहने वाली उसकी स्वाभिन्ना शक्ति नहीं है; किन्तु यहाँ परमशिव की शक्ति शिव से उसी प्रकार अभिन्न है, यथा—चन्द्रिका से चन्द्र एवं ऊष्णता से अग्नि। अत: यहाँ सम्बन्ध-प्रकृति की दृष्टि से शिव-शक्तिसमवायवाद का सिद्धान्त स्वीकृत है।

१. महार्थमञ्जरी-१८

यदि हम अद्वैतवाद की प्रकृति पर विचार करें तो वेदान्त की अद्वैतवादी दृष्टि—एको ब्रह्म द्वितीयो नास्ति। अहं ब्रह्मास्मि। जीवो ब्रह्मैव नापर:—के अद्वैत को तो मानती है; किन्तु जगत् के सम्बन्ध में उसकी अद्वैत दृष्टि पूर्ण नहीं है; क्योंकि वह मानती है कि जगन्मिथ्या (शंकर)। वह 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' को पूर्णतया नहीं मानती; किन्तु यहाँ मान्य अद्वैत की दृष्टि 'शिवोऽहं शिवोऽहं शिवोऽहं शिवोऽहं' के साथ ही साथ यह भी स्वीकार करती है कि—विश्वोऽहं। ममायं (विश्वात्मैक्यवाद)। यही उपर्युक्त विश्वोऽहं की दृष्टि उसे पूर्णाहन्ता एवं जीवन्मुक्ति के एवरेस्ट शिखर पर पहुँचा देती है। यहाँ अद्वैत का स्वरूप इस प्रकार है—

यहाँ जगत् को अपने शरीर का एक अभिन्न अंग माना जाता है।
प्रत्यभिज्ञाकारिका
(उत्पलदेव)

इति वा यस्य संवित्ति:
क्रीड़ात्वेनाखिलं जगत्।
स पश्यन् सर्वतो युक्तो
जीवन्मुक्तो न संशय:।।
(स्पन्दकारिका)

यहाँ जगत् को अपना क्रीड़ा-प्राङ्गण माना जाता है। (भट्टकल्लट)

न्याय-वैशेषिक-मीमांसा आदि दर्शनों में जगत् के आविर्भाव को सृष्टि माना गया है। उसे सर्जना या आविर्भाव आदि माना गया है; किन्तु यहाँ सृजन या सृष्टि को उन्मेष या उन्मीलन माना जाता है। जगत् की अभिव्यक्ति कोई सृष्टि नहीं है; प्रत्युत यह 'कूर्मोऽङ्गानीव' प्रकटीकरण है, यह अन्त:संहृत सत्ता का उद्वमन है, यह जृम्भण है। यह निलीन प्रकटीकरण या उन्मीलन है। प्रलय कोई विनाश या ध्वंस नहीं है; प्रत्युत यह निमीलन है। अत: यहाँ सृष्टि के प्रसंग में मान्य दृष्टि है—उन्मीलन-निमीलनवाद। यहाँ ऊर्णनाभि के तन्तु-प्रसारण एवं तन्तुनिर्गुणीकरण की क्रिया को ही सृष्टि-प्रलय के दृष्टान्त के रूप में स्वीकार किया गया है।

यदि कार्यकारणवाद पर दृष्टिपात करें तो सांख्य, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा आदि सारे दर्शन कारण एवं कार्य को पृथक्-पृथक् मानते हैं; किन्तु यहाँ कार्य एवं कारण दोनों एक माने जाते हैं और इसे आचार्य क्षेमराज ने (प्रत्यभिज्ञाहृदयम् में) पारमार्थिक कार्यकारणवाद की आख्या दी है।

न्याय, वैशेषिक आदि अधिकांश दर्शन विश्व का कर्त्ता परमात्मा को मानते हैं; किन्तु यहाँ आत्मा को ही विश्व का मूल कर्त्ता कहा गया है—आत्मा खलु विश्वमूलं (महार्थमञ्जरी)।

यदि हम विद्या के स्वरूप पर दृष्टिपात करें तो इसे आत्मदर्शन, विकल्पों का ध्वंस, अज्ञान का नाश, काम-क्रोध आदि विकारों से मुक्ति कहा गया है; किन्तु यहाँ विद्या के प्रति दृष्टि ही भिन्न है। यहाँ सद्विद्या का स्वरूप तो अहं एवं इदम् में सामानाधिकरण्य है—

सामानाधिकरण्यं च सद्विद्याहमिदं धियोः।

महेश्वरानन्द ने इसे ही एकरसा संसृष्टि कहा है—

एकरसां संसृष्टिं यत्र गतौ सा खलु निस्तुषा विद्या।[1]

परिमलकार इसका स्वरूप स्वस्वभाव प्रत्यभिज्ञापनात्मिका स्वातन्त्र्य शक्ति मानते हैं—अशुद्धविद्या-कलङ्क-प्रक्षालनाविनाभूता स्वस्वभावप्रत्यभिज्ञापनात्मिका संवित् स्वातन्त्र्य-शक्तिः शुद्धविद्या।[2]

ज्ञाता और ज्ञेय—ज्ञाता और ज्ञेय कौन है? ज्ञाता तो आत्मा है और ज्ञेय है—जगत् (इदमात्मक जगत्)—

ज्ञाता स आत्मा ज्ञेयस्वभावश्च लोकव्यवहारः।[3]

माया—माया क्या है? शङ्कर की दृष्टि में माया आवरण एवं विक्षेप शक्तियों से युक्त एक अनिर्वचनीय प्रकृति या ब्रह्म की बाह्य शक्ति है; किन्तु यहाँ यह जड़ एवं अनिर्वचनीय शक्ति नहीं है; प्रत्युत यह परमस्वतन्त्र शिव की वह मोहनी शक्ति है, जो एकरस स्वभाव में विश्वशिल्प को आविर्भूत करने वाली है—

एकरसे स्वभावे उद्भावयन्ती विकल्पशिल्पानि।
मायेति लोकपतेः परमस्वतन्त्रस्य मोहनी शक्तिः।।[4]

विश्व—विश्व क्या है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए महार्थमञ्जरीकार कहते हैं कि विश्व एक नाटक-रंगमञ्च है और उसका अभिनेता शम्भु है—

य एष विश्वनाटकशैलूषः शुद्धसंविच्छम्भुः।
वर्णकपरिग्रहमयी तस्य दशा कापि पुरुषो भवति।।[5]

प्रकृति—प्रकृति क्या है? सांख्य दर्शन मानता है कि प्रकृति गुणत्रय की साम्यावस्था है। प्रकृति जड़ है और पुरुष से उसका नदी-नाव संयोग वाला संयोग है। महेश्वरा-

---

१. महार्थमञ्जरी-१६
२. परिमल
३. महार्थमञ्जरी-१६
४. महार्थमञ्जरी-१७
५. महार्थमञ्जरी-१९

नन्द की प्रकृतिसम्बन्धिनी दृष्टि पृथक् है। वे उसे ज्ञान, क्रिया, माया से युक्त (गुणत्रय-समलंकृता) एवं अविभागावस्थापन्न शाम्भवी शक्ति मानते हैं—

ज्ञानक्रियामयानां गुणानां सत्त्वरजस्तमस्वभावानाम्।
अविभागावस्थायां तत्त्वं प्रकृतिरिति शाम्भवी शक्तिः।।

'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' कहने वाले केवलाद्वैतवादी आचार्य शङ्कर की दृष्टि के विपरीत महेश्वरानन्द विश्व को एक उद्यान मानते हैं और उस उद्यान में खेलने वाले खिलाड़ी को वे त्रैलोक्यधूर्त देव (शिव) मानते हैं—

विश्वोद्यानविरूढानि गन्धप्रमुखानि सुगन्धीनि पुष्पाणि।
पञ्चाप्याजिघ्रन् क्रीडति त्रैलोक्यधूर्तो शिवः।।[१]

उनकी दृष्टि में विश्व एक क्रीड़ाङ्गण है। यह एक उद्यान है और इसमें मनोरञ्जन करने वाले व्यक्ति की क्रिया क्रीड़ा है और वह क्रीड़ाकारी व्यक्ति शिव है। इस शिव की शक्ति का क्या स्वरूप है? महेश्वरानन्द कहते हैं—

सर्वस्य भुवनविभ्रमयन्त्रोल्लासस्य तन्तुवल्लीव।
विमर्शसंरम्भमयी उज्जृम्भते शम्भोर्महाशक्तिः।।

इसमें शैव-शाक्त दर्शन के अध्वषट्क का भी निरूपण किया गया है—

यद्ध्वनां च षट्कं तत्र प्रकाशार्थलक्षणमर्धम्।[२]

अध्वषट्क

वर्णः कला पदं तत्त्वं मन्त्रो भुवनमेव च।
इत्यध्वषट्कं देवेशिः भाति त्वयि चिदात्मनि।।

ये छः अंगों वाले अध्व परमशिव के उन्मेष-निमेषात्मक दो प्रकार के चमत्कार (उल्लास) हैं। यही है—शिवस्य यामलोल्लासः (महार्थमञ्जरी-२७)। उन्मेष-निमेष में ऐक्य है—

विश्वोन्मेषदशायां देशिकनाथस्य यावान् प्रसरः।
कललावस्थया स्थितोऽपि विश्वनिमेषोऽपि तावान् भवति।।[३]

यहाँ यह भी प्रतिपादित किया गया है कि ज्ञाता, ज्ञान एवं ज्ञेय के रूप में त्रिपुटित विश्व भले ही भिन्नात्मक (वैचित्र्यपूर्ण, अनन्त भेदों से पूर्ण) दृष्टिगोचर क्यों न हो; किन्तु है वह—एकस्वभाव-निर्मित अर्थात् उसका उन्मीलन एक, अभिन्न एवं अद्वैत तत्त्व द्वारा अभेदात्मक रूप से ही हुआ है—

त्रिपुटीमयं खलु समस्तं तत्र ज्ञेये ज्ञातरि च समम्।
दृढग्रन्थिर्ज्ञानकला कलयति त्रैलोक्यमेकलम्।।[४]

---

१. महार्थमञ्जरी-२४ २. महार्थमञ्जरी ३. महार्थमञ्जरी-३० ४. महार्थमञ्जरी-३१

महार्थमञ्जरी ३६ तत्त्वों का प्रतिपादन करती हुई भी उन सभी में (एवं सारे विश्व में) एक (अद्वैत परम तत्त्व) की ही अनुस्यूतता देखती है। माणिक्य एवं मरकत में अन्तर (भेद) होने के समान ही विश्व के सभी पदार्थों में भी अन्तर (भेद) है तथापि जिस प्रकार भेद होते हुए भी मरकत एवं मणि में प्रभा का स्वारस्य (ऐक्य) निहित है, उसी प्रकार विश्व के भेदों में भी एक की ही अनुस्यूतता होने के कारण स्वारस्य एवं ऐक्य निहित है। अत: द्वैताभास में भी अद्वैत ही मूल तत्त्व है—

माणिक्यमरकतयोरिव भावाभावयोर्भेदप्रतिभासम्।
एकरसोऽन्योऽन्यं द्वयोरप्युन्मार्ष्टि स्फुरणसम्भेद:।।[१]

यही महार्थमञ्जरी द्वारा प्रतिपादित अद्वैतवाद का स्वरूप है।

प्रतीत तो यह होता है कि शरीर के सारे कार्य शरीररूप पीठ एवं उसमें स्थित इन्द्रियाँ करती हैं; किन्तु यह दृष्टि भी भ्रान्त है; क्योंकि उनके भी मध्य ज्ञाननिधि परमशिव अवस्थित होकर सारे शरीरपीठ एवं इन्द्रियों को शक्ति प्रदान करता है—

अण्डमये निजपिण्डे पीठे स्फुरन्ति करणदेव्य:।
प्रस्फुरति च परमशिवो ज्ञाननिधिस्तासां मध्ये।।[२]

महेश्वरानन्द की साधना का स्वरूप

यदि हम महेश्वरानन्द की साधना के स्वरूप पर दृष्टिपात करें तो इस पर भावनोपनिषद्, त्रिकदर्शन एवं क्रमदर्शन का प्रत्यक्ष प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। महेश्वरानन्द ने पूजा को बाह्याचार, बाह्य प्रदर्शन एवं गौणी भक्ति (वैधी भक्ति) के रूप में स्वीकार नहीं किया है। वे उसे परापूजा, मानसपूजा एवं (त्रिकदर्शन में प्रतिपादित) ज्ञानोत्तरा भक्ति के रूप में स्वीकार करते हैं। वे बहिर्याग के स्थान पर अन्तर्याग को स्वीकार करते हैं। इसी कारण वे पूजा एवं भक्ति के बाह्योपकरणों को स्थूल रूप में नहीं, सूक्ष्म एवं प्रतीकात्मक रूप में स्वीकार करते हुए कहते हैं कि—

- परमशिव-मात्र ही अर्चनीय है; किन्तु उस परमशिव की पूजा विमर्शपुष्पवासित, परिमलों से मन्त्रित चित्तरूपी चषक से अर्पित वेद्यों की सुधा से होनी चाहिए।

स तत्रार्चनीयो विमर्शपुष्पाधिवाससुरभिभि:।
चित्तचषकार्पितैर्वेद्यसुधा वीरपाणवस्तुभि:।।[३]

- इस अर्चना में श्रीपीठ, पञ्चवाह, नेत्रत्रय एवं वृन्दचक्रों का चिन्तन किया जाना चाहिए और साथ ही गुरुमण्डल तथा पञ्चशक्तियों (सृष्टि, स्थिति, संहार, अनाख्य, भासा) का चिन्तन किया जाना चाहिए।[४]

---

१. महार्थमञ्जरी-३३ २. महार्थमञ्जरी-३४ ३. महार्थमञ्जरी-३५ ४. महार्थमञ्जरी-३६

• बाह्य पीठों को छोड़कर शरीर को ही पीठ मानकर उसमें ही नौ कलाओं (शक्तियों), पञ्चवाह शक्तियों, भालनेत्रस्थ सत्रह कलाओं, दक्षिणनेत्र में बारह एवं वाम नेत्र में सोलह कलाओं की स्थिति मानकर तथा सबके मध्य परमशिव को अधिष्ठित मानकर परम-शिव की शरीररूप जाग्रत महापीठ में अर्चना करनी चाहिये।[१]

• यहाँ निजबलनिभालन (आत्मशक्ति का प्रकाशन) ही उपासना (वरिवस्या) है। विश्वपति की पूजा के लिए आसव-ताम्बूल-गन्ध-पुष्प आदि सभी द्रव्य तो सुगमता से मिल जाते हैं; किन्तु निजबलनिभालनात्मक वरिवस्या की तो बात ही कुछ और है। यही चरम वरिवस्या है, जो कि दुर्लभ है—

निजबलनिभालनमेव वरिवस्या सा च दुर्लभा लोके।

• यहाँ प्राणायाम का स्वरूप भी भिन्न है। अपने सत्त्व का पर्यालोचन (चिन्तन) करने में स्वसामर्थ्यरूप विभव में आत्मा के शान्त होने पर बाह्यवृत्तियों का उच्छेद हो जाना ही प्राणायाम है—

बाह्यवृत्तान्तानां भङ्गः प्राणस्य संयमो ज्ञेयः।[२]

• यहाँ आत्मविमर्श ही विकल्पवर्ग का अङ्ककवच है। वेद्यतत्त्व का विलास ही अर्घ्यदान है। इसमें स्वभाव का पोषण करने वाले भाव ही पुष्प हैं।[३]

• यहाँ पूर्णाहन्ता के मुख में विकल्परूप अंकुरों के निक्षेपपूर्वक मन्त्रों के उल्लेख से पूर्ण क्रिया ही कुलबिन्दु तर्पण है। यह कुलबिन्दु तर्पण ही परममोक्षप्राप्त्यर्थ पूजन-क्रम है। इसमें प्राधान्य है—पूर्णाहन्तायां मुखे विश्वविकल्पाङ्कुराणां विक्षेपम्।[४]

• यहाँ आत्मवैभव में मननमयी और आत्मसङ्कोच की दिशा में त्राणमयी, समस्त विकल्पों को कवलित करने वाली जो आत्मानुभूति है, वही मन्त्र है; शब्दों का समुच्चय नहीं।[५]

• यहाँ महासिद्धियों के सौभाग्य को तिरस्कृत करने वाली विमर्शानन्द की परमाह्लादिनी शक्ति ही मुद्रा है।[६]

• यहाँ प्राणापानैक्यात्मक सोम-सूर्य का (ह एवं स का) जप (अजपा जप) ही यथार्थ जप है।[७]

• यहाँ का पूज्य देवता विश्वशरीरी है—

सा स्वच्छन्दश्रियो विश्वशरीरस्य कियती भवतु।

• यहाँ देवता का स्वरूप शास्त्र-प्रतिपादित देवता का स्वरूप नहीं है; प्रत्युत साधक के भावयोग से कल्पित देवता का स्वरूप हैं; क्योंकि 'यो यस्य भावयोगस्तस्य खलु

---

१. महार्थमञ्जरी-३७
२. महार्थमञ्जरी-४३
३. महार्थमञ्जरी-४५
४. महार्थमञ्जरी-४६
५. महार्थमञ्जरी-४९
६. महार्थमञ्जरी-५१
७. महार्थमञ्जरी-४४

स एव देवता भवति।' क्योंकि—'तद्भावभाविता अभिलषितं तथा फलन्ति प्रतिमाः।'

• जिस शुद्धि से परमात्मैक्य-बोध एवं आत्मविमर्श की सिद्धि होती है, उस शुद्धि के चार अङ्ग हैं—मल का शोष, वासनोच्छेद, सूक्ष्मीकृत वासनाओं का आप्लावन एवं ज्ञानसुधा—

शोषो मलस्य नाशो दाह एतस्य वासनोच्छेदः।
आप्लावनं तनूनां ज्ञानसुधासेकनिर्मिता शुद्धिः।।[१]

• महेश्वरानन्द आवागमन-चक्र से मुक्त होने के लिए स्वात्मविश्रान्तिस्वरूप उद्योग के चिन्तन का उपदेश देते हैं—'अत्यासन्नं हृदयं पर्यालोचयत तस्योद्योगम्'। उद्योग क्या है? यह स्वात्ममात्रविश्रान्ति है (परिमल)। यह स्वभाव-उद्यन्तृत्व है (परिमल)।

• साधक कौन है? इसका निर्णय भी किया गया है। साधक वह है, जो सदैव अन्तर्मुख रहे। वह कभी बहिर्मुखी न होने पाये; क्योंकि—अन्तर्मुखो योगी बहिर्मुख इति कल्पना कुतः?[२]

• योगी (साधक) रंग-विरंगी मणिमाला के समान विमर्श के सूत्र में गुम्फित जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति एवं तुरीय अवस्था की परिपाटी का उद्वहन करता है।[३]

• योगी अपने हृदय के उद्वमनशाली जिन इन्द्रियमार्गों से विषयसुखों को ग्रहण करता है, उन्हीं से वह लोकत्रय को स्फुरित भी करता है।[४]

• क्षणमात्र भी अमृतस्वभावरूप भाव का स्पर्श होने पर योगी सर्वोत्तीर्ण हो जाता है, सारे बन्धनों से मुक्त हो जाता है और सदा के लिए अशेष सौभाग्य प्राप्त कर लेता है—

सर्वोत्तीर्णः सर्वः सर्वचिरं लभते सर्वसौभाग्यम्।[५]

• ऐसा सिद्ध योगी लोक का त्याग नहीं करता; प्रत्युत जिस प्रकार उन्माद को कम करने के लिए इमली का सेवन किया जाता है, उसी प्रकार आत्मस्वरूपानन्द सुधा की मादकता को कुछ कम करने के लिए लोकयात्रा की भी अभिलाषा करता है—

अभिलषति लोकयात्रातिन्तिणिचर्वणरसान्तरं योगी।[६]

• यहाँ योगी का आत्मपरामर्श चारो अवस्थाओं में निरन्तर चलता रहता है; क्योंकि उसकी दृष्टि में जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति एवं तुरीय आदि सभी अवस्थायें आत्मविमर्श के लिए उपयोगी हैं।[७]

• यहाँ योगी योग-भोग—दोनों में अविरोध मानकर दोनों का रसास्वादन करता है।[८]

---

१. महार्थमञ्जरी-५६
२. महार्थमञ्जरी-६०
३. महार्थमञ्जरी-६१
४. महार्थमञ्जरी-६३
५. महार्थमञ्जरी-६६
६. महार्थमञ्जरी-६२
७. महार्थमञ्जरी-६१
८. महार्थमञ्जरी-६२

• उक्त साधना से योगी सर्वोत्तीर्ण एवं नित्य सर्वसौभाग्य प्राप्त करने वाला बन जाता है।[१]

महार्थमञ्जरी और महेश्वरानन्द

महार्थमञ्जरी ग्रन्थ के प्रणेता का नाम महेश्वरानन्द है। उनको 'गोरक्षनाथ' नाम से भी अभिहित किया गया है। गुरुनाथपरामर्श (श्लोक-३९) के अनुसार महेश्वरानन्द के पिता का नाम माधव था।

आल इण्डिया ओरियेण्टल कान्फ्रेंस, श्रीनगर, अक्टूबर १९६१ के अध्यक्षीय भाषण में वी. राघवन महोदय ने कहा था कि महेश्वरानन्द दक्षिण भारत में जो 'चिदम्बरम' नामक स्थान है, वहाँ चोलवंश के राज्यकाल में विद्यमान थे। महेश्वरानन्द ने अपने को महाप्रकाश का शिष्य बताया है—

गोरक्षो लोकधिया देशिकदृष्ट्या महेश्वरानन्दः।
उन्मीलयामि परिमलमन्तर्ग्राह्यं महार्थमञ्जर्याम्।।[२]

महेश्वरानन्द ने अपने को देवपाणि सम्प्रदाय का अनुवर्ती कहा है—श्रीदेवपाणि-सम्प्रदायानुप्रविष्टैरस्माभिरनुसन्धीयते।[३]

महेश्वरानन्द ने कहा है कि मुझे 'प्रत्यभिज्ञामार्ग' के अनुगमन से ही आत्मज्ञान हुआ था। अतः स्पष्ट है कि वे प्रत्यभिज्ञा (त्रिक मत) के अनुयायी थे।

महेश्वरानन्द क्षेमराज के उपरान्त विज्ञानभैरव के टीकाकार शिवोपाध्याय से पहले उत्पन्न हुये थे। महेश्वरानन्द ने क्षेमराज का नामोल्लेख किया है और शिवोपाध्याय ने महेश्वरानन्द का भी नामोल्लेख किया है।[४] स्पष्ट है कि महेश्वरानन्द शिवोपाध्याय के पूर्ववर्ती थे।

काश्मीर के वर्तमान कौलों की मान्यता है कि महेश्वरानन्द उनके पूर्वज थे। वे दक्षिण भारत से आकर कश्मीर में बस गये थे। इस प्रकार महेश्वरानन्द १६वीं शती ईस्वी से पहले तो विद्यमान थे ही। महेश्वरानन्द ने अपने लिये 'योगीन्द्र' शब्द का भी उल्लेख किया है। साहिब कौल या आनन्दनाथ शैवाचार्य-परम्परा में एक प्रमुख व्यक्तित्व थे। वे कौल परम्परा के अनुयायी थे।

महार्थमञ्जरीकार महेश्वरानन्द ने अपनी व्याख्या स्वोपज्ञ परिमल में ऋजुविमर्शिनी-कार शिवानन्द को अपना परमगुरु कहा है। महेश्वरानन्द ने 'एतच्चास्मत्परमगुरुकर्तृके श्रीमदृजुविमर्शिन्यादौ विमर्शनीयम्' कहकर शिवानन्द को अपना परमगुरु स्वीकार किया है।

महार्थमञ्जरी-परिमल में महेश्वरानन्द जी द्वारा 'अथ सा कालयोगेन शिवानन्दस्य

---

१. महार्थमञ्जरी-६६
२. महार्थमञ्जरी (परिमल)
३. महार्थमञ्जरी
४. विज्ञानभैरवविवृति

धीमत:' कहे जाने तथा—

> अथ कालक्रमवशाच्चोलदेशशिरोमणि:।
> महाप्रकाशो नामासीद् देशिको दृक्क्रियोत्तर:।।
> तस्य शिष्योऽभवद्धीमान् गोरक्षो नाम वश्यभाक्।
> महेश्वरानन्द इति प्राप्तपूज्याह्वयो महान्।।

कहे जाने से भी सिद्ध होता है कि स्वयं शिवानन्द जी भी चोल (केरल) देश के रहने वाले थे। दक्षिणापथ में शिवानन्द के अनेक ग्रन्थ पाये जाते हैं। शिवानन्द, पुण्यानन्द, अमृतानन्द आदि के भी ग्रन्थ दक्षिण भारत के पुस्तकालयों में पाये जाते है। स्पष्ट है कि ये सभी आचार्य दाक्षिणात्य ही रहे होंगे।

महार्थमञ्जरी महाराष्ट्री प्राकृत में निबद्ध है। ऋतुविमर्शिनी प्रत्यभिज्ञादर्शन की प्रतिपादिका है; किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि शिवानन्द काश्मीरी थे।

महेश्वरानन्द स्वयमेव भी काश्मीर के प्रत्यभिज्ञादर्शन एवं क्रमदर्शन के प्रतिपादक हैं। उन्होंने अपने को चोलदेश-निवासी स्वीकार भी किया है। ऋजुविमर्शिनी में 'सम्प्रदायस्य कश्मीरोद्भूतत्वात्' कहे जाने के बाद भी शिवानन्द काश्मीर के नहीं थे।

यद्यपि लोग महार्थमञ्जरीकार महेश्वरानन्द को गोरक्षनाथ मान कर उन्हें नव नाथों में प्रसिद्ध गोरक्ष से अभिन्न मानते हैं; किन्तु यह दृष्टि समीचीन नहीं है। महेश्वरानन्द के पूर्व शिवानन्द थे। शिवानन्द के पूर्व क्षेमराज थे। क्षेमराज के पूर्व अभिनवगुप्त थे। अभिनवगुप्त के पूर्व मत्स्येन्द्रनाथ थे।

इस स्थिति में भला महेश्वरानन्द के गुरु मत्स्येन्द्रनाथ कैसे हो सकते हैं? यदि मत्स्येन्द्रनाथ उनके गुरु नहीं थे तो उन्हें नव नाथों में परिगणित गोरक्षनाथ से अभिन्न कैसे माना जा सकता है? नव नाथों में परिगणित गोरक्षनाथ के गुरु तो मत्स्येन्द्रनाथ थे, न कि महाप्रकाश (शिवानन्द के शिष्य)।

महेश्वरानन्द ने कभी भी अपने गुरु के रूप में मत्स्येन्द्रनाथ का स्मरण (या उल्लेख) नहीं किया है। यदि हम नाथपन्थी गोरक्षनाथ के हठयोगात्मक नाथ सम्प्रदाय के सिद्धान्तों पर विचार करें तो महेश्वरानन्द के सिद्धान्त उनसे मेल भी नहीं खाते। दोनों की दृष्टियों में स्पष्टतया पार्थक्य परिलक्षित होता है।

शिवानन्द अपनी 'ऋजुविमर्शिनी' टीका में सोमशम्भुकृत कर्मकाण्डक्रमावली का उद्धरण देते हैं। शम्भुनाथ ने इस ग्रन्थ का प्रणयन ई. १०७३ में किया था।

शिवानन्द ने 'ऋजुविमर्शिनी' टीका में दो-तीन बार नागभट्ट एवं उनके ग्रन्थ 'त्रिपुरासारसमुच्चय' के श्लोकों को भी उद्धृत किया है। नागभट्ट (जैन सम्प्रदाय के हस्तिमल्ल) ई. सन् १३वीं सदी के थे। स्पष्ट है कि महेश्वरानन्द (१४वीं सदी) मत्स्येन्द्रनाथ (९वीं या १०वीं सदी) के शिष्य नहीं थे; अत: वे नव नाथों में सम्मिलित गोरक्षनाथ

से अभिन्न नहीं थे। महेश्वरानन्द का समय (स्थितिकाल) ई. सन् १४वीं सदी का है। यदि महेश्वरानन्द (नाथ-परम्परा के) गोरक्षनाथ से अभिन्न होते तो मत्स्येन्द्रनाथ के शिष्य हुये होते और इस स्थिति में उन्होंने मत्स्येन्द्रनाथ की कौल-धारा का प्रतिपादन किया होता; किन्तु ऐसा नहीं है।

सारांश यह कि—

१. महेश्वरानन्दो न कथमपि भवितुमर्हति नाथसम्प्रदायप्रवर्तको गोरक्षनाथः।

२. गोरक्षनाथस्य हठयोगिनो नाथसम्प्रदायप्रवर्तकस्य सिद्धान्तानां नैव किमपि साम्यमवलोक्यत इत्युभयोः पार्थक्यमेवाङ्गीकर्तव्यम्।

३. गोरक्षनाथोऽपि नैव भवति साक्षाच्छिष्यो मत्स्येन्द्रनाथस्य न च प्रातिनिध्यमाचरति मत्स्येन्द्रसिद्धान्तानाम्। गोरक्षनाथाद्भिन्न एवायं महेश्वरानन्दः।

महेश्वरानन्द ने महार्थमञ्जरी में गाथाओं की संख्या मात्र सत्तर रखी है—ऐसा क्यों?

शिवानन्दमुनि-विरचित सुभगोदय में, सुभगोदयवासना एवं सुभगोदयप्रभा में तथा शिवानन्द के पौत्र चिदानन्द के पुत्र कण्ठानन्द के द्वारा प्रणीत निष्कलक्रम में भी ७० ही श्लोक हैं।

महेश्वरानन्द ने शिवानन्द, महाप्रकाश एवं महेश्वरानन्द—तीनों नामों का एक ही स्थल पर यथाक्रम उल्लेख किया है।[१]

गोरक्षनाथ जी ने सिद्धसिद्धान्तपद्धति में कहा है कि—उक्तं च शिवानन्दाचार्यैः— सर्वशक्तिप्रसरसङ्कोचाभ्यां जगत्सृष्टिः संहृतिश्च भवत्येव न सन्देहः। तस्मात् तां मूलमित्युच्यते। अतः प्रायेण सर्वसिद्धा मूलाधाररता भवन्ति।

इस वाक्य में शिवानन्द के पूर्व किसी सम्मानजनक विशेषण का प्रयोग नहीं किया गया है; जबकि (यदि वे परमगुरु थे तो) यह होना चाहिये था।

चोलजनपदाभिजन महेश्वरानन्द पहले 'गोरक्ष' नाम से प्रसिद्ध थे। इसी कारण इन्हें नाथपन्थियों के नव नाथों में प्रख्यात गोरक्षनाथ से अभिन्न स्वीकार कर लिया गया था और इस धरातल पर उन्हें मत्स्येन्द्रनाथ का शिष्य भी स्वीकार कर लिया गया; किन्तु यह मत समीचीन नहीं है।

ऋजुविमर्शिनीकार शिवानन्द का काल-ईसा सन् १३वीं शताब्दी का अन्तिम भाग है। योगिनीहृदयदीपिकाकार का काल ईसा सन् १४वीं शती का अन्तिम भाग है। शिवानन्द (१३वीं सदी का उत्तरार्द्ध) तथा अमृतानन्द (१४वीं सदी का उत्तरार्द्ध) के मध्यवर्ती काल ही महेश्वरानन्द का आविर्भावकाल है। मत्स्येन्द्रनाथ का समय ईसा की नवीं-दसवीं सदी है।

---

१. श्रीशिवानन्दमहाप्रकाशमहेश्वरानन्दप्रभृतिभिर्योगीन्द्रैः (परिमल-महार्थमञ्जरी)।

अभिनव गुप्त ने मत्स्येन्द्रनाथ का सकलकुलशास्त्रावतारक के रूप में बड़ी श्रद्धा के साथ तन्त्रालोक में नामोल्लेख किया है। सारांश यह कि मत्स्येन्द्रनाथ अभिनवगुप्त के पूर्ववर्ती थे। आचार्य क्षेमराज अभिनवगुप्त के शिष्य थे। महेश्वरानन्द ने महार्थमञ्जरी में क्षेमराज का बड़ी श्रद्धा के साथ नामोल्लेख किया है। शिवानन्द (महेश्वरानन्द के परमगुरु) ने भी क्षेमराज को (ऋजुविमर्शिनी में) सश्रद्ध स्मरण किया है। वे इस स्थल पर स्पन्दनिर्णय एवं शिवसूत्रविमर्शिनी (क्षेमराज की कृतियाँ) की दृष्टि के अनुवर्ती भी दृष्टिगत होते हैं। उनके वाक्यों में इनकी स्पष्ट छाया दृष्टिगत होती है।

यदि महेश्वरानन्द नाथपन्थियों में प्रख्यात सिद्ध योगी गोरक्षनाथ हैं तो उन्होंने परिमल में तो स्वरचित पुस्तकों का नामोल्लेख किया है; किन्तु उसमें नाथपन्थदीक्षित गोरक्षनाथप्रणीत—योगबीज, गोरक्षशतक, विवेकमार्तण्ड, अमरौघप्रबन्ध, सिद्धसिद्धान्तपद्धति आदि को अपनी कृतियाँ कहकर उनका उल्लेख क्यों नहीं किया?

काश्मीरीय शैव-तन्त्रों या तदाश्रित साहित्य की खोज में उन्हीं के साथ गोरक्षनाथप्रणीत एक ग्रन्थ 'अमरौघशासन' भी प्राप्त हुआ है। यह ग्रन्थ संस्कृत में है।

गोरक्षनाथ (नाथपन्थी गोरक्षनाथ) ने कोई भी रचना प्राकृत भाषा में नहीं की है; किन्तु महेश्वरानन्द ने महार्थमञ्जरी की रचना प्राकृत भाषा में ही की है। इस स्थिति में दोनों को अभिन्न कैसे माना जाय? गोरक्षनाथ को शिव का अवतार कहा जाता है; किन्तु महेश्वरानन्द को नहीं।

आचार्य क्षेमराज ने महार्थमञ्जरी ग्रन्थ का प्रत्यभिज्ञाहृदयम् में नामोल्लेख किया है और उसकी दृष्टि की व्याख्या भी की है; अतः स्पष्ट है कि महेश्वरानन्द आचार्य क्षेमराज के पूर्ववर्ती दार्शनिक थे। क्षेमराज प्रत्यभिज्ञाहृदयम् के सूत्र ११वें में कहते हैं—श्रीमन्महार्थमञ्जरीदृष्ट्या दृगादिदेवीप्रसरणक्रमेण यद्यत् आभाति तत्तत् सृज्यते, तथा सृष्टे पदे तत्र यदा प्रशान्तनिमेषं कञ्चित् कालं रज्यति .... संह्रियते।

यह भी बात सत्य है कि महेश्वरानन्द का नाम गोरक्षनाथ भी था। यह बात उन्होंने स्वयं ही स्वीकार किया है—गोरक्षो लोकधिया देशिकदृष्ट्या महेश्वरानन्दः (परिमल)।

महेश्वरानन्द की रचनायें—महेश्वरानन्द ने अनेक पुस्तकें लिखीं; जिसमें प्रख्यात रचनाओं के नाम इस प्रकार हैं—

१. महार्थमञ्जरी
२. परिमल (महार्थमञ्जरी की टीका)
३. कुण्डलाभरणम्
४. कोमलवल्लीस्तवः
५. नखप्रलापः
६. परास्तोत्रम्
७. पादुकोयः
८. महार्थोदयः
९. संविदुल्लासः

महार्थमञ्जरी : एक संक्षिप्त परिचय

महार्थमञ्जरी का बीजात्मक मूल स्वरूप—स्वयमेव महेश्वरानन्द ने स्वीकार किया है कि महार्थमञ्जरी में प्रतिपादित विचार एवं तन्निष्ठ दृष्टि का बीज तो अन्यत्र है; मैंने तो केवल उसके अङ्कुर का पल्लवनमात्र किया है—

इह महति रहस्योन्मीलने मङ्गलाय प्रभवति मम संविद्योगिनीनां प्रसादः।

स्वप्नसमयोपलब्धा सा सुमुखी सिद्धयोगिनी देवी।
गाथाभिः सप्तत्या स्वापितभाषाभिरस्तु सम्प्रीता।।[१]
इत्थं प्राकृतसूत्रसप्ततिसमुल्लासैकसन्धायिनीं
जाग्रत्तत्क्षणनिर्विशेषस्वप्नावतीर्णां प्रतिज्ञोत्तराम्।
लोकोल्लङ्घनयोग्यसिद्धिपदवीप्रस्थानबद्धोद्यमां
कन्थाशूलकपालमात्रविभवां वन्दे तां योगिनीम्।।[२]

सारांश यह कि स्वप्न की अवस्था में योगिनी ने प्रकट होकर 'महार्थमञ्जरी' का उपदेश दिया था। महेश्वरानन्द ने उसे सत्तर गाथाओं में निबद्ध कर डाला। ग्रन्थकार इस ग्रन्थ को योगिनी-प्रसाद मानता है—

प्रभवति मम संविद्योगिनीनां प्रसादः।

इसीलिये महेश्वरानन्द ग्रन्थान्त में भी उनका नमन करते हुये कहते हैं—

कन्थाशूलकपालमात्रविभवां वन्दे तां योगिनीम्।

इस ग्रन्थोपदेश की प्राप्ति स्वप्न में होने की पुष्टि भी महेश्वरानन्द ने की है—

स्वप्नसमयोपलब्धा सा सुमुखी सिद्धयोगिनी देवी।

सम्पूर्ण ग्रन्थ इकहत्तर गाथाओं में समाप्त किया गया है, जिसमें सत्तर गाथाओं में उपदेशों का सारसंग्रह है; किन्तु ७१वीं गाथा में उपदेष्टा सिद्धयोगिनी को नमन किया गया है।

---

१. परिमल टीका २. महार्थमञ्जरी-७१ ३. परिमल

विषयानुक्रमणी

॥ श्रीः ॥

स्वोपज्ञ'परिमला'ख्यव्याख्योपेता

श्रीमन्महेश्वरानन्दप्रणीता

महार्थमञ्जरी

'भारती' भाषाभाष्योपेता

* परिमल *

नमो नालयते शुण्डां विषाणेन मृणालिने ।
प्रत्यक्कमलकन्दाय कर्णाभ्यां पर्णशालिने ॥१॥
जयत्यमूलमम्लानमौत्तरं तत्त्वमद्वयम् ।
स्पन्दास्पन्दपरिस्पन्दमकरन्दमहोत्पलम् ॥२॥
कारुण्यामृतसिन्धोरुदितमिवावर्तमीक्षणापाङ्गात् ।
मौक्तिकमयं दधाना ताटङ्कं जयति गौरवी मूर्तिः ॥३॥
स्फूर्तये विश्वशिल्पस्य श्रीशिवानन्दमूर्तये ।
नित्योन्मेषनिमेषायै निस्तुषायै नमस्त्विषे ॥४॥
यस्मादनुत्तरमहाह्रदमज्जनं मे
सौभाग्यशाम्भवसुखानुभवश्च यस्मात् ।
तत्स्वात्मचित्क्रमविमर्शमयं गुरूणा-
मोवल्लियुग्ममुदितोदितवीर्यमीडे ॥५॥
नमो निखिलमालिन्यविलापनपटीयसे ।
महाप्रकाशपादाब्जपरागपरमाणवे ॥६॥
गोरक्षो लोकधिया देशिकदृष्ट्या महेश्वरानन्दः ।
उन्मीलयामि परिमलमन्तर्ग्राह्यं महार्थमञ्जर्याम् ॥७॥
स्वक्रियाया अपि व्याख्यां स्वयमेव प्रयुञ्ज्महे ।
उपर्यप्यात्मसंरम्भसम्भोगाम्रेडनोत्सुकाः ॥८॥
यद्वा विनेयजनचित्तचमत्क्रियार्थ-
मत्रोद्यमोऽयमुदितोऽस्तु तदेतदास्ताम् ।
संक्षेपविस्तरविभागविविक्तशोभः
पुष्पाञ्जलिर्भवतु वाङ्मय एष शम्भोः ॥९॥

अवगतशिवदृष्टिप्रत्यभिज्ञार्थतत्त्व-
क्रमसरणिरहस्योल्लाससर्वस्ववेदी ।
गुरुचरणसपर्याचातुरीचिद्घनोऽहं
गहनमपि हृदन्तर्व्योम तद्व्याकरोमि ।।१०।।

इह महति रहस्योन्मीलने मङ्गलाय
प्रभवति मम संविद्योगिनीनां प्रसादः ।
अति तु कुलसपर्याबिम्बसम्बन्ध्यवन्ध्याः
सकृदपि मतिमन्तो नैनमुद्घाटयन्तु ।।११।।

स्वप्नसमयोपलब्धा सा सुमुखी सिद्धयोगिनी देवी ।
गाथाभिः सप्तत्या स्वापितभाषाभिरस्तु सम्प्रीता ।।१२।।

वर्धतां देशिकः श्रीमान् संविन्मार्गश्च वर्धताम् ।
माहेश्वराश्च वर्धन्तां वर्धतां च महेश्वरः ।।१३।।

अथ यदेतदात्मस्वरूपाविभिन्नपरमेश्वरपरामर्शोपायप्रतिपादनप्रवृत्तमभ्युपगम-सिद्धान्तस्थित्या तात्पर्यतः प्रविज्ञाद्यव(यव)पञ्चकात्मकं महार्थमञ्जर्याह्वयं महत् तन्त्रम्, अत्र सूत्रायमाणा गाथाः सप्ततिर्भवन्ति। तत्र चाद्यायां मङ्गलाचारपूर्वक-मादिवाक्योपक्षेपः। द्वितीयायां तन्त्रप्रतिपाद्यस्य वस्तुनो निर्देशः। ततस्तिसृषु स्वात्मतत्त्वे प्रमाणानुपयोगप्रपञ्चनम्। षष्ठ्यामधिकारिविभागव्यपोहः। सप्तम्यां विधिनिषेधनिष्टङ्कनम्। अष्टम्यां संसारस्वरूपनिरूपणम्। नवम्यां स्वात्मनः स्फुट-स्याऽप्यस्फुटत्वौचित्यानुशासनम्। दशम्यां विम्रष्टृस्वरूपविमर्शस्य पुरुषार्थत्वा-वस्थापनम्। ततो द्वयोर्विमर्शस्वरूपविमर्शः। ततस्त्रयोदशसु षट्त्रिंशत्तत्त्वविवेकः। षड्विंश्यामुक्तार्थं प्रति परमार्थपर्यालोचनम्। सप्तविंशतितम्यां विश्वस्य प्रकाश-विमर्शान्तर्भावोद्भावनम्। अष्टाविंश्यामेकत्रैव वस्तुनि शिवशक्तिविभागाध्यव-सानम्। एकोनत्रिंश्यां परमेश्वरस्य विश्वशरीरतया शक्त्युत्कर्षोपपादनम्। त्रिंश्यां विश्ववैचित्र्यस्य स्वात्मन्यवैकल्येनावस्थानप्रदर्शनम्। एकत्रिंश्यां प्रमात्रादित्रि-कस्याद्वैतपर्यवसायित्वोन्मीलनम्। ततो द्वयोः सत्यासत्यविभागव्युदासः। ततोऽपि द्वयोः परमेश्वरसपर्याया वैशिष्ट्यावभासनम्। ततश्च षट्सु पूज्यतया श्रीपञ्चार्थ-क्रमावमर्शः। ततश्च पञ्चसु सपर्यायाः स्वरूपनिष्कर्षः। ततोऽपि द्वयोर्देवतास्व-भावनिर्णयः। एकोनपञ्चाश्यां मन्त्रतत्त्वोद्धारः। पञ्चाश्यां वाग्वृत्तिविचारः। एक-पञ्चाश्यां मुद्रासतत्त्वोन्मुद्रणम्। द्विपञ्चाश्यां विमर्शशक्तेर्भोगापवर्गफलप्रदत्वो-ल्लिङ्गनम्। त्रिपञ्चाश्यां जीवन्मुक्त्युपपत्तिः। चतुष्पञ्चाश्यां क्षणभङ्गवादभङ्गः। पञ्चपञ्चाश्यां स्वात्मस्वरूपस्यानन्दस्पन्दतानुवर्णनम्। ततश्चतसृषु तत्त्वावबोधं प्रति स्फुट उपायोपदेशः। ततश्च षट्सु विमर्शानुप्रवेशिनां नैश्चिन्त्यनिश्चयः।

षट्षष्टितम्यां स्वात्मविमर्शस्य सद्यः सिद्धिदत्वप्रत्यायनम्। सप्तषष्टितम्यां विमर्श-लाभस्य गुरुकटाक्षाधीनत्वप्रख्यापनम्। अष्टषष्टितम्यामुक्तार्थस्य सर्वदर्शनसार-त्वसाधनम्। एकोनसप्ततितम्यां तन्त्रविस्तरस्य संग्रहेणोपन्यासः। सप्ततितम्यां व्यासादियोगिनामप्यनुत्तरार्थैकशरणत्वप्रकाशनम्। अन्त्यायां तन्त्रकृतस्तन्त्रो-पदेशहेतुप्रयोगः। इति तन्त्रार्थतत्त्वतात्पर्यार्थः।

अथ ग्रन्थो व्याख्यायते। श्रीमदनुत्तराद्वैतसिद्धिहेतोर्द्वैतप्रथासत्तत्त्वप्रत्यूहव्य-पोहदक्षं देशिकेन्द्रभट्टारकस्वातन्त्र्यमनुसन्दधानस्तन्त्रकृत् तन्त्रोपन्यासं प्रत्युपोद्-घातमुद्घाटयति—

महाप्रकाश गुरु की वन्दना

णमिऊण णिच्चसुद्धे गुळुणो चळणे महप्पआसस्स।
गट्ठइ महत्थमंजरिमिमिणं सुरहिं महेसराणंदो ॥१॥

(नत्वा नित्यशुद्धौ गुरोश्चरणौ महाप्रकाशस्य।
ग्रथ्नाति महार्थमञ्जरीमिमां सुरभिं महेश्वरानन्दः।।)

महाप्रकाश (मत्स्येन्द्रनाथ या परमशिव भट्टारक) रूप गुरु के नित्य शुद्ध चरण-युगल में नतमस्तक होकर मैं महेश्वरानन्द (महायोगज्ञानरूप) 'महार्थमञ्जरी' रूपी परिमल को ग्रन्थरूप में निबद्ध करता हूँ।।१।।

इस खलु सर्वस्यापि जनस्योपास्यतया काचिद् देवतास्त्येवेत्यत्राविप्रतिपत्तिः। केवलं तस्या नामरूपादिव्यपदेशमात्रे वैषम्यम्। सा च युक्तिपर्यालोचनायां स्वात्मसंवित्स्फुरत्तामात्रस्वरूपेति प्रकाश एव विश्वोपास्या देवतेत्यापतितम्। तस्य च महत्त्वम्—

सा स्फुरत्ता महासत्ता देशकालाविशेषिणी।
सैषा सारतया चोक्ता हृदयं परमेष्ठिनः।।

इति श्रीप्रत्यभिज्ञानीत्या सर्वसङ्कोचोल्लङ्घितया स्फुरत्तैकस्वरूपत्वम्। स च गुरुः गृणाति प्रकाशयति विश्वव्यवहारमिति निरुक्त्या सर्वानुग्राहकः। तादृक्-प्रकाशकव्यतिरेके विश्वस्यान्धबधिरतादिप्रायतापत्तेः। स च पर्यन्ततः परमशिव-भट्टारकापरपर्यायः स्वात्मरूपो महान् प्रमाता। यदुक्तं श्रीशिवसूत्रेषु—'गुरुरुपायः' इति। तस्य चरणौ ज्ञानक्रियालक्षणं स्वातन्त्र्यं चर्यते गम्यते प्राप्यते बुध्यते भक्ष्यते चाभ्यां विश्वमिति हि चरणावित्युच्येते। यदुक्तं श्रीकुब्जिकामते—

भोग्यभोक्तृषु भावेषु मिषत्स्वनिमिषत्सु च।
देशकालदिगाख्येषु स्थूलसूक्ष्मपरेषु च।।

सत्तास्फुरणकव्याप्ता गतिभक्षणयोगतः ।
कर्मणा चरणाख्येयं न तु पादतया प्रिये! ।। इति।

तृतीयस्तु चरणः साक्षाद् गुरुः स्वलक्षण एवेति द्विवचनेन व्याख्या। यदुक्तं तत्रैव—

सितो वामेऽरुणो दक्षे वराभयकरो गुरुः ।
प्रेताम्बुजगतोऽङ्कस्थरक्तशक्तिस्त्रिलोचनः ।।
पञ्चमुण्डधरः स्रग्वी हृदि ध्येयः स्मिताननः । इति।

'अयमेव सकलनिष्कलात्मा सर्वविधूननावस्थायां निर्वाणरूपस्तुरीयः पादः' इत्युपनिषत्। लौकिको व्यवहारस्तु सकलेन निष्कलेन च द्वाभ्यामेव चरणाभ्यामुपकल्प्यते। यदाहुः—

शुक्लोऽङ्घ्रिः शुक्लमाविष्टो रक्तं रक्तोऽङ्घ्रिराश्रितः ।
पित्रोरङ्घ्रिद्वयेनेदममुना जायतेऽखिलम् ।। इति।

तौ च नित्यशुद्धौ उन्मेषनिमेषविभागव्युदासेन पदार्थान्तरप्रतिबिम्बनक्षमौ। एतदेव हि परमेश्वरस्य तत् पारमैश्वर्यम्, यदन्तर्बहिश्च ज्ञानक्रियाप्रतिबिम्बनानुप्राणिताशेषविश्वविलासत्वम्। तच्च स्वातन्त्र्यस्पन्दस्फुरत्तोद्यमादिशब्दैरागमेषूद्घोष्यते। नित्यशुद्ध्या च तयोर्वक्ष्यमाणविमर्शानुप्राणितत्वं प्रत्याय्यते। यदुक्तं श्रीप्रत्यभिज्ञायाम्—

विमर्श एव देवस्य शुद्धे ज्ञानक्रिये यतः ।। इति।

तौ नत्वा उत्कर्षकक्ष्यारूढतया विमृश्य। वाङ्मनःकायानां तदेकविषयीकारलक्षणः प्रह्वीभावो हि नमनम्। महाप्रकाशत्वं च परमेश्वरस्य महानुत्कर्षः। तं प्रति तदुपासकस्य प्रह्वीभावश्चेति द्वितयमपि कण्ठेनोक्तम्। यजननमस्काराद्युपन्यासमात्रे तु एकतरस्याभिधेयत्वमन्यतरस्यार्थाक्षिप्तता चेति प्रतिपत्तॄन् प्रत्युभयप्रतिपत्तिसौकर्यं न सम्भवति। अयं च महान् मङ्गलाचारो यत् परमेश्वरोत्कर्षानुस्मरणम्, यस्य च तन्त्रारम्भं प्रत्यवश्यकर्तव्यत्वम्। यदुक्तं श्रीमत्स्तोत्रावल्याम्—

सर्वाशङ्काशनिं सर्वालक्ष्मीकालानलं तथा ।
सर्वामङ्गल्यकल्पान्तं मार्गं माहेश्वरं नुमः ।। इति,
व्यापाराः सिद्धिदाः सर्वे ये त्वत्पूजापुरस्सराः । इति च।

एतेन 'मङ्गलादीनि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि च शास्त्राणि प्रथन्ते। वीरपुरुषाणि भवन्त्यायुष्मत्पुरुषाणि च' इति महाभाष्यमर्यादया द्वित्रप्रदेशावच्छिन्नमङ्गलानामपि शास्त्राणामूरीकार्यत्वम्। किमुत प्रतिगाथानुभूयमानपरमेश्वरैश्वर्यो-

त्सवतया घनसारशकलपरिमलवत् सर्वत्रैव मङ्गल्योल्लासमुदग्रमुन्मीलयतोऽस्य महातन्त्रस्येत्यासूत्र्यते। एतच्च व्याख्यातृश्रोतृशिक्षामात्रतात्पर्यात् तन्त्रोपोद्घाते साक्षादुपनिबद्धम्, अन्यथा परमेश्वरप्रणामस्य क्रियामात्रादपि प्रत्यूहव्यपोहसिद्धेः। उक्तरूपं च परमेश्वरैश्वर्योत्कर्षानुसन्धानमनुसन्धातुस्तादात्म्यमेवोपस्थापयति। यथोक्तं श्रीशिवदृष्टौ—

> अस्मद्रूपसमाविष्टस्वात्मनात्मनिवारणे ।
> शिवः करोतु निजया नमः शक्त्या ततात्मने ।। इति।

अत एव हि नत्वेति परमेश्वरप्रणामक्रियोत्तरकालं महेश्वरानन्द इत्युक्तम्। महेश्वरानन्दो हि नाम श्रीमत्सदाशिवपर्यन्ताशेषशुद्धाशुद्धाधिकारानुप्रविष्टप्रमातृ-परम्पराप्रभावसर्वस्वाभिभावी नित्यानवच्छिन्नप्रकाशानन्दपरमार्थस्वातन्त्र्यलक्षणः परमशिवभट्टारक एव। तद्भावापन्नोऽयं तन्त्रकृदिति यावत्। तद्भावापत्तिश्च तस्य देशिककटाक्षपातशक्तिपातसौभाग्यस्य समयानुप्रवेशमङ्गमहाभिषेकसम्पत्संस्कारो-पारोहप्रक्षालितमलोपलेपत्वात्, औत्तराम्नायाद्यशेषशास्त्रार्थावबोधशिक्षाशालि-त्वात्, स्वस्य च परमेश्वरैश्वर्योत्कर्षविमर्शानुस्यूत्युपक्षीणान्तःकरणत्वाच्चेत्य-वगन्तव्यम्। यदुक्तं श्रीनिशाटने—'त्रिप्रत्ययमिदं ज्ञानम्' इति। तच्चोक्तं श्री-किरणायाम्—'गुरुतः शास्त्रतः स्वतः' इति। ततश्च 'योऽविपस्थो ज्ञाहेतुश्च', 'दानमात्मज्ञानम्' इति श्रीशिवसूत्रस्थित्या स्वयमपरोक्षितात्मीयपारमैश्वर्योल्लासस्य परानुजिघृक्षावेशवैवश्येन तन्त्रकृतस्तन्त्रोन्मीलनं प्रत्यौचित्यमासूत्र्यते। अन्यथा बाह्यशास्त्रप्रणेतृवद् विप्रलम्भकतामात्रमेव पर्यवस्येत्। यदुक्तं श्रीहंसभेदे—

> सेव्यन्ते गुरवोऽनेके ज्ञानविज्ञानभासुराः ।
> दुर्लभोऽयं गुरुर्देवि योऽहङ्कारक्षयङ्करः ।।
> तेनाधीतं श्रुतं तेन तेन सर्वमनुष्ठितम् ।
> येनाहङ्कारनिर्मुक्तः केवलो विदितः स्वयम् ।। इति।

बाह्यशास्त्राणां तु—

> अन्यथा देवपाण्डित्यं शास्त्रपाण्डित्यमन्यथा ।
> अन्यथा तत्पदं शान्तं लोकाः पश्यन्ति चान्यथा ।।

इति स्थित्या साक्षात् स्वात्मपरामर्शोपायत्वं न सम्भवति। यथा श्रीतन्त्रा-लोके—

> येऽप्यसाक्षादुपायेन तद्रूपं प्रविविन्दते ।
> नूनं ते सूर्यसंवित्त्यै खद्योतादीच्छवो जडाः ।। इति।

यथा च श्रीकुलकमले—

शाक्तेन तेजसा शून्यं ये मार्गं पर्युपासते ।
ते वह्निरहिते कुण्डे स्थाल्या होमं प्रकुर्वते ।। इति।

तत्र च तारतम्यं किञ्चिदालोचनीयम्। यदुक्तम्—

नरर्षिदेवद्रुहिणविष्णुरुद्राद्युदीरितम् ।
उत्तरोत्तरवैशिष्ट्यात् पूर्वपूर्वप्रबाधकम् ।। इति।

स च महेश्वरानन्दो महार्थमञ्जरीं ग्रथ्नाति। विश्वतदुत्तरोभयस्पन्दतया पूर्णाहम्भावस्वभावस्यार्थस्य अर्थ्यते इति व्युत्पत्त्या सर्वप्रार्थ्यस्य वस्तुनः शिवशक्त्यादिभेदप्रथाप्ररोहेऽपि पारमार्थिकाद्वैतप्रथासतत्त्वां स्फुरत्तामुपदर्शयति। ग्रन्थसन्दर्भद्वारा लोकमनुभावयतीत्यर्थः। मञ्जर्यपि हि पृथक् पुष्पभेदप्रतिभासेऽप्येकाकाराऽनुभूयते। ग्रथनं च पुष्पादेरुपेयस्यानायासग्रहणोपायतया प्रसिद्धम्। सा च सुरभिः, सर्वाभिलषणीयप्रकाशरूपसौरभास्पदत्वात्। अनेन च विश्वस्य भोग्यतयाऽवस्थापनाद् वक्ष्यमाणस्य विमर्शोपायस्यौचित्यमुन्मील्यते। यतो निर्भयभोग्यमित्येतत्तन्त्रमाम्नायते। यदुक्तं श्रीसिद्धामते—

अर्थषट्कं च दीक्षा च शिवशास्त्रमिति स्मृतम् ।
दीक्षाध्वा निर्भयो भोगशास्त्रे भैरवसंज्ञके ।। इति।

इमामिति। प्राकट्योत्कर्षादनपह्नवनीयामतिसुलभास्वादामनुन्मीलितपूर्वां चेत्यर्थः। यदुक्तं श्रीप्रत्यभिज्ञायाम्—

इति प्रकटितो मया सुघट एव मार्गो नवो ।
महागुरुभिरुच्यते स्म शिवदृष्टिशास्त्रे यथा ।। इति।

अत्र च योऽयं महार्थमञ्जरीपर्यायो विश्ववैचित्र्यविलासः, स एव च वक्ष्यमाणस्य प्रत्यभिज्ञापरपर्यायस्य विमर्शस्योपायतया तन्त्रप्रतिपाद्योऽर्थः। यतः शब्दस्पर्शाद्यनुभवस्तदनुभवितृद्वारा महाप्रकाशपर्याये क्वचिन्महानुभवितरि पर्यवयति। तत्परिज्ञानं च प्रयोजनम्। तत्प्रयोजनं च विमर्शस्वरूपसिद्धिः। तस्या अपि प्रयोजनं भोगापवर्गलक्षणः स्वस्य माहेश्वर्योल्लासः। उपरि च प्रयोजनान्तरापेक्षा, तस्यैव प्राप्यतयाभिलष्यमाणत्वादनवस्थाप्रसङ्गाच्च। यच्छ्रुतिः—'आत्मलाभान्न परं विद्यते' इति। सम्बन्धश्च तन्त्रस्य प्रतिपाद्यस्य चाभिधानाभिधेयभावः। प्रतिपाद्यस्य चिद्विमर्शस्य चोपायोपेयभावः, तयोरन्योन्यं कार्यकारणभूतत्वात्। तन्त्रस्य प्रतिपत्तॄणां च सम्बन्धो गुरुपर्वक्रमात्मा व्यक्तमुपलभ्यते, नत्वा नित्यशुद्धौ गुरोश्चरणावित्युपक्रान्तत्वात्, 'देसिअकडक्खपादे' इत्युपसंहारिष्यमाणत्वाच्च। तत्त्वदृष्ट्या तु स्वात्मरूप एव सर्वोऽयं सम्बन्धः। यथा श्रीस्वच्छन्दे—

गुरुशिष्यपदे स्थित्वा स्वयं देवः सदाशिवः ।
पूर्वोत्तरपदैर्वाक्यैसतन्त्रं समवतारयत् ।। इति।

यथा चोक्तमाचार्याभिनवगुप्तनाथपादैः—

सदाभिनवगुप्तं यत् पुराणं च प्रसिद्धिमत् ।
हृदयं तत् परोल्लासैः स्वयं स्फूर्जत्यनुत्तरम् ।। इति।

स्वयमवगतार्थतत्त्वस्य च तन्त्रकृतः कारुण्योत्कर्षप्रवृत्तेन सर्वजनसामरस्य-लक्षणेन ताटस्थ्येन ग्रथ्नामीत्यविच्छिन्नाहम्भावस्वभावोत्तमपुरुषव्यपोहाद् ग्रथ्नातीति तन्त्रोपपादने संरम्भोद्भावने विनेयवर्गस्य तन्त्रप्रवृत्त्यौन्मुख्यं विधीयमानत्वेनार्थतः सिद्धम्। एतेन तन्त्रकृतः प्रसिद्धप्रभावस्य सम्भावनाप्रत्य-योत्पादनेन प्रतिपत्तृजनप्रवृत्त्यर्थं नामोपादानमित्यप्यासूत्र्यते। प्रतिपत्तॄणां चोक्तमर्थं प्रत्यधिकारितायां न कश्चिन्नियमः। यदुक्तं श्रीस्पन्दे—

लब्ध्वाऽप्यलभ्यमेतज्ज्ञानधनं हृद्गुहान्तकृतनिहितेः ।
वसुगुप्तवच्छिवाय हि भवति सदा सर्वलोकस्य ।। इति।

किञ्च, नत्वा गुरोश्चरणावित्यनेन श्रीचरणविद्यासङ्केतोऽप्यत्र किञ्चिदुन्मुद्र्यते। सोऽपि पर्यालोच्यमानः—

विद्येति मातृकापीठं तत् पार्थिवमुदाहृतम् ।
मण्डलं कुण्डलीपीठं तदाप्यं परिकीर्तितम् ।।
मन्त्रसंज्ञं क्रियापीठं तैजसं तत् प्रकीर्तितम् ।
ज्ञानपीठं तु मुद्राख्यं तद् वायव्यं सुरेश्वरि ।।
परेच्छामुखतो व्योम पीठत्वेनेह नादृतम् ।
तन्मूलस्योपचारस्य बाह्यस्याभावतः प्रिये ।।
चेष्टात्मको भवेद् वायुस्ततः स्यान्नतिरध्वरे ।
दीपः स्यात् तैजसस्तोयं चरुरिष्टो रसात्मकः ।।
पृथिव्या गन्धवत् पुष्पमुपचाराय पादयोः ।।

इति श्रीचरणसूत्रनीत्या श्रीपञ्चवाहक्रममेवानुप्रवेक्ष्यति, सर्वेषामपि श्रीरसान्व-यानामत्रैव तात्पर्यात्। तद्व्याख्यानवैदग्ध्यप्रकाशनं तु नात्यन्तमुपयुज्यते। नत्वेति च नतेः कण्ठोक्त्या मन्त्रमण्डलादेरपि वायुशक्तिसतत्त्वायाः स्वपरिस्पन्दनानु-प्राणनाया मुद्रायास्तन्त्रान्तरारम्भरूपोद्योगानुगुण्यात् प्राधान्यं प्रत्याय्यत इत्यल-मुपक्रम एव प्रसक्तानुप्रसक्तिकप्राचुर्येण। उपरि प्रपञ्चयिष्यमाणाशेषतन्त्रार्थसूक्ष्म-शरीरप्रायेयं गाथा। अत एवातिप्रपञ्च्यमानेयमतिप्रसङ्गाय भविष्यनीति संक्षिप्यैव व्याख्याता। उक्तार्थप्रपञ्चोपपादनं च तत्र तत्राग्रत उद्भावयिष्यते।।१।।

॥ भारती ॥

महाप्रकाश = प्रकाशात्मा परमशिवरूप विश्वगुरु, आत्मस्वरूप महागुरु। चरणौ = चरणद्वय। सुरभि = परिमल, सौरभ। ग्रथ्नाति = ग्रन्थ-प्रणयन करता है।

महेश्वरानन्द कहते हैं कि सभी लोगों का कोई न कोई उपास्य देवता है, इस विषय में तो कोई विप्रतिपत्ति है नहीं। यदि है तो उसके नाम-रूपादि व्यपदेश के विषय में है। इस दिशा में मैं मानता हूँ कि 'स्वात्मसंवित्सफुरत्तामात्रस्वरूप प्रकाश' ही विश्व के उपास्य देवता हैं—'स्वात्मसंवित्स्फुरत्तामात्रस्वरूपेति प्रकाश एव विश्वोपास्या देवत्यापतितम्।'[१]

प्रत्यभिज्ञाकारिकाकार की दृष्टि—उत्पलदेवाचार्य उस स्फुरत्तैकस्वरूप परा सत्तारूप देवता का उल्लेख इन शब्दों में करते हैं—

सा स्फुरत्ता महासत्ता देशकालाविशेषिणी।
सैषा सारतया चोक्ता हृदयं परमेष्ठिनः।।

यह 'स्फुरत्ता' समस्त सङ्कोचों को अतिक्रान्त करके स्थित है। वही 'गुरु' भी है—'स च गुरुः'।[२]

गुरु कौन है? 'गृणाति प्रकाशयति विश्वव्यवहारमिति निरुक्त्या सर्वानुग्राहकः'।[३]

नत्वा नित्यशुद्धौ गुरोश्चरणौ महाप्रकाशस्य।

गुरुतत्त्व की महिमा—(क) शिवसूत्रों में 'गुरुरुपायः' कहकर; (ख) 'शिवसूत्रविमर्शिनी' में 'गृणाति उपदिशति तात्त्विकमर्थमिति गुरुः सोऽत्र व्याप्तिप्रदर्शकत्वेन उपायः' कहकर; (ग) मालिनीविजयकार ने श्रीमालिनीविजय में 'स गुरुर्मत्समः प्रोक्तो मन्त्रवीर्यप्रकाशकः' कहकर; (घ) 'स्पन्दप्रदीपिका' में—

अगाधिसंशयाम्भोधिसमुत्तरतारिणीम् ।
वन्दे विचित्रार्थपदां चित्रां तां गुरुभारतीम्।।

कहकर; (ङ) श्रीमन्त्रिशिरोभैरव में—'गुरोर्गुरुतरा शक्तिर्गुरुवक्त्रगता भवेत्' तथा (च) मालिनीविजय में 'शक्तिचक्रं तदेवोक्तं गुरुवक्त्रं तदुच्यते' कहकर ग्रन्थकारों ने गुरुतत्त्व का सर्वातिशायी महत्त्व प्रतिपादित किया है।

गुरु की कृपा से ही 'मातृकाचक्रसम्बोधः' (शिवसूत्र-२-७) की स्थिति प्राप्त होती है; इसलिये भावनोपनिषद् में गुरु को 'परमकारणभूता शक्ति' कहा गया है—'श्रीगुरुः परमकारणभूता शक्तिः' (भावनो.-१) और इसे ग्रन्थ के प्रथम सूत्र के रूप में उपन्यस्त किया गया है।

ऐसे ही गुरु के दोनों चरणों में—'नत्वा नित्यशुद्धौ गुरोश्चरणौ महाप्रकाशस्य' (म. मञ्जरी-१) प्रणाम करके ग्रन्थकार ग्रन्थारम्भ करता है।

१-३. परिमल

चरणौ = दोनों चरणों में। दोनों चरण क्या हैं? क्या ये मांसपिण्ड हैं? नहीं। दोनों चरण ज्ञान और क्रिया हैं।[१]

तत्त्वतः चरण हैं क्या? 'चरण' की व्याख्या इस प्रकार है—चरणौ ज्ञानक्रिया-लक्षणं स्वातन्त्र्यं चर्यते, गम्यते, प्राप्यते, बुध्यते, भक्ष्यते चाभ्यां विश्वमिति हि चरणा-वित्युच्येते।[२] अर्थात् ज्ञान एवं क्रिया के स्वरूप वाली 'स्वातन्त्र्य शक्ति' जिसके द्वारा प्राप्त की जाती है—आस्वादित की जाती है—तात्त्विक स्वरूप में जानी जाती है—अनुभूति एवं आचरण का विषय बनती है और 'विश्वोऽहम्' की अनुभूति कराती है, वही है—गुरोश्चरणौ।

कुब्जिकामतकार की दृष्टि—इस ग्रन्थ में (कुब्जिकामत में) कहा गया है—

भोग्यभोक्तृषु भावेषु मिषत्स्वनिमिषत्सु च।
देशकालदिगाख्येषु स्थूलसूक्ष्मपरेषु च॥
सत्तास्फुरणकव्याप्ता गतिभक्षणयोगतः।
कर्मणा चरणाख्येयं न तु पादतया प्रिये॥[३]

'चरणौ' कहकर द्विवचनान्त शब्द का व्यवहार क्यों किया गया? महेश्वरानन्द कहते हैं कि तृतीय चरण तो साक्षात् गुरु ही है—'तृतीयचरणः साक्षात् गुरुः स्वलक्षण एवेति द्विवचनेन व्याख्या।'[४] कहा भी गया है—

सितो वामेऽरुणो दक्षे वराभवकरो गुरुः।
प्रेताम्बुजगतोऽङ्कस्थरक्तशक्तिस्त्रिलोचनः।
पञ्चमुण्डधरः स्रग्वी हृदि ध्येयः स्मिताननः॥

औपनिषदिक दृष्टि—उपनिषद् में कहा गया है कि 'निर्वाणरूपस्तुरीयः पादः; अयमेव सकलनिष्कलात्मा सर्वविधूननावस्थायां निर्वाणरूपस्तुरीयः पादः।'

लौकिक व्यवहार तो सकल एवं निष्कल—दो चरणों से ही उपकल्पित होते हैं। कहा भी गया है—

शुक्लोऽङ्घ्रिः शुक्लमाविष्टो रक्तं रक्तोऽङ्घ्रिराश्रितः।
पित्रोरङ्घ्रिद्वयेनेदममुना जायतेऽखिलम्॥

नित्यशुद्धौ = त्रिकालात्मक शुद्धि से युक्त, सतत निर्मल, निष्कलुष, मलादिशून्य होने से स्वच्छ एवं पवित्र।

नित्यशुद्धौ = उन्मेष-निमेष के विभाग से व्युदास एवं पदार्थान्तर प्रतिबिम्बनक्षम। यही है परमेश्वर का पारमैश्वर्य—'एतदेव हि परमेश्वरस्य तत्पारमैश्वर्यम्'।[५] यह ऐश्वर्य है क्या? यह है—

१-५. स्वोपज्ञ परिमल

'यदन्तर्बहिश्च ज्ञानक्रियाप्रतिबिम्बनानुप्राणिताशेषविश्वविलासत्वम्'।[१] इसे ही स्वातन्त्र्य, स्पन्द, स्फुरत्ता एवं उद्यम आदि शब्दों द्वारा आगमों में उद्घोषित किया गया है।

नित्यशुद्ध्या = वक्ष्यमाण विमर्शानुप्राणितत्त्व द्वारा प्राप्त निर्मलता के द्वारा। ऐसा क्यों? क्योंकि—विमर्श एव देवस्य शुद्धे ज्ञानक्रिये यतः।

नत्वा = नमन करके, प्रणिपात करके, उत्कर्ष कक्षा में आरूढ़ होते हुये विमर्शन करके। 'नमन' है क्या? वाणी, मन एवं शरीरों का एकविषयीकारलक्षण वाला प्रह्वीभाव।

'महाप्रकाशत्व' क्या है? परमेश्वर का महानुत्कर्ष ही महाप्रकाशत्व है—महाप्रकाशत्वं च परमेश्वरस्य महानुत्कर्षः। परमोत्कर्ष के अनुस्मरण, यजन एवं नमस्कार आदि के उपन्यास से मंगलाचरण भी सूचित है—अयं च महान् मङ्गलाचारो यत् परमेश्वरोकर्षानुस्मरणम्।[२]

स्तोत्रावलीकार की दृष्टि—

सर्वाशङ्काशनिं सर्वालक्ष्मीकालानलं तथा।
सर्वा मांगल्यकल्पान्तं मार्गं माहेश्वरं नुमः।
व्यापाराः सिद्धिदाः सर्वे ये त्वत्पूजापुरस्सराः।।

महाभाष्यकार ने भी मङ्गलाचरण की महत्ता स्वीकार करते हुये कहा है कि 'मङ्गलादीनि, मङ्गलमध्यानि, मङ्गलान्तानि च शास्त्राणि प्रथन्ते। वीरपुरुषाणि भवन्त्यायुष्मत्पुरुषाणि च'।

योगिनियों के द्वारा उपदिष्ट प्रत्येक गाथा में पारमैश्वर्योत्सव कपूर के परिमल की भाँति सर्वत्र अनुभूयमान होती है और इसी परिमल को ग्रन्थ का स्वरूप प्रदान कर दिया गया है। यह परमेश्वर के ऐश्वर्य के उत्कर्ष के अनुसन्धायक द्वारा शिवतादात्म्य की उपस्थापना का प्रयास है—परमेश्वरैश्वर्योत्कर्षानुसन्धानमनुसन्धातुस्तादात्म्यमेवोपस्थापयति।[३]

शिवदृष्टिकार सोमानन्द की दृष्टि—

अस्मद्रूपसमाविष्टस्वात्मनात्मनिवारणे ।
शिवः करोतु निजया नमः शक्त्या ततात्मने।।

कहकर सोमानन्द ने भी शिव को नमन किया है और शिव को 'अस्मद्रूपसमाविष्ट स्वात्मा' कहा है।

महेश्वरानन्दः = परमशिवभट्टारक। 'महेश्वरानन्दो' हि नाम श्रीमत्सदाशिवपर्यन्ताशेषशुद्धाशुद्धाधिकारानुप्रविष्टप्रमातृपरम्पराप्रभावसर्वस्वाभिभावी नित्यानवच्छिन्नप्रकाशानन्दपरमार्थस्वातन्त्र्यलक्षणः परमशिवभट्टारक एव।[४]

१-४. स्वोपज्ञ परिमल

देशिक की विशेषताएँ हैं; यथा—

१. उनके कटाक्षपात से शक्तिपात होता है।

२. उनके शक्तिपात, महाभिषेक से मलों का ध्वंस होता है।

३. औत्तराम्नाय आदि शास्त्रों का अशेष अर्थाववोध प्राप्त होता है।

४. परमेश्वर के ऐश्वर्योत्कर्षविमर्श की प्राप्ति होती है।[१]

श्रीनिशाटन में कहा गया है कि ज्ञान त्रिप्रत्ययात्मक होता है—त्रिप्रत्ययमिदं ज्ञानम्। श्रीकिरणशास्त्र में कहा गया है कि गुरु से, शास्त्र से या स्वतः ज्ञान का आविर्भाव होता है—गुरुतः शास्त्रतः स्वतः। योऽविपस्थो ज्ञानहेतुश्च (शिवसूत्र) एवं दानमात्मज्ञानम् (शिवसूत्र) के द्वारा सिद्ध किया गया है कि ज्ञान का स्वरूप क्या है तथा यह भी कहा गया है कि पारमैश्वर्योल्लास का कारण परानुजिघृक्षामात्र है—पारमैश्वर्योल्लासस्य परानुजिघृक्षावेशवैवश्येन।[२]

श्रीहंसभेदकार की दृष्टि—इसी प्रसंग में श्रीहंसभेद में कहा गया है कि—

सेव्यन्ते गुरवोऽनेके ज्ञानविज्ञानभासुराः।
दुर्लभोऽयं गुरुर्देवि! योऽहङ्कारक्षयङ्करः।।
तेनाधीतं श्रुतं तेन तेन सर्वमनुष्ठितम्।
येनाहङ्कारनिर्मुक्तः केवलो विदितः स्वयम्।।

जहाँ तक बाह्य शास्त्रों की बात है, उसके विषय में कहा गया है कि—

अन्यथा देवपाण्डित्यं शास्त्रपाण्डित्यमन्यथा।
अन्यथा तत्पदं शान्तं लोकाः पश्यन्ति चान्यथा।।

इस कारण बाह्य प्रयत्न के द्वारा स्वात्मपरामर्शरूप उपाय प्राप्त होना सम्भव नहीं होता—साक्षात् स्वात्मपरामर्शोपायत्वं न सम्भवति।[३]

तन्त्रालोककार की दृष्टि—तन्त्रालोक में कहा गया है कि—

येऽप्यसाक्षादुपायेन तद्रूपं प्रविविन्दते।
नूनं ते सूर्यसंवित्त्यै खद्योतादीच्छवो जडाः।।

तन्त्रालोककार तो कहते हैं कि साक्षात् उपाय के सामने (स्वात्मपरामर्शात्मक अनुपाय या शिवोपाय के सामने) आणवादि उपाय सूर्य के सामने रहते हुये भी जुगुनू से प्रकाश की याचना करने के समतुल्य हैं।

कुलकमलकार की दृष्टि—श्रीकुलकमल में कहा गया है कि जो लोग शाक्त तेज से शून्य मार्ग की उपासना करते हैं, वे वह्निरहित कुण्ड में आहुति डालते हैं—

१. स्वोपज्ञ परिमल २. स्वोपज्ञ परिमल ३. परिमल

शात्तेन तेजसा शून्यं ये मार्गं पर्युपासते।
ते वह्निरहिते कुण्डे स्थाल्या होमं प्रकुर्वते।।

यहाँ तारतम्य आलोचनीय है। कहा भी गया है—

नरर्षिदेवद्रुहिणविष्णुरुद्राद्युदीरितम् ।
उत्तरोत्तरवैशिष्ट्यात् पूर्वपूर्वप्रबाधकम्।।

इसी तारतम्य में महेश्वरानन्द ने महार्थमञ्जरी की रचना की है।[१]

विश्व एवं विश्वातीत दोनों के स्पन्द के कारण पूर्णाहंभावस्वभाव के अर्थ का जो रहस्य है, उसका यहाँ उद्घाटन किया गया है और शिव-शक्ति आदि में भेद-प्रथा के अङ्कुरित होने पर भी पारमार्थिक अद्वैत प्रथा एवं स्फुरत्ता का यहाँ प्रतिपादन किया गया है।[२]

मञ्जरी = पुष्पों की अनेकता के होने पर भी मञ्जरी में एकता है। यही 'मञ्जरी' शब्द के प्रयोग का अभिप्राय है।[३]

ग्रथ्नाति—ग्रथित करता है। यहाँ 'ग्रथन' शब्द पुष्पादिक उपेय का अनायास ग्रहण कर लेने के भाव को संकेतित करता है।[४]

सुरभिः = सुगन्ध। इसे 'सुरभि' या परिमल इसलिये कहा गया; क्योंकि जिस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति सुगन्ध पाना चाहता है और इस प्रकार सुगन्धि सर्वाभिलषणीय है, उसी प्रकार यह ग्रन्थ सर्वाभिलषणीय होने के कारण सौरभास्पद है।[५]

इसके द्वारा विश्व का भोग्यात्मक अवस्थापन दिखाकर भी विमर्शोपाय के औचित्य को उन्मीलित किया गया है।[६] यहाँ निर्भय भोग की भी पुष्टि की गई है। 'सिद्धामत' में भी इसकी पुष्टि की गई है।

श्रीसिद्धामतकार की दृष्टि—श्रीसिद्धामत में कहा गया है कि—

अर्थषट्कं च दीक्षां च शिवशास्त्रमिति स्मृतम्।
दीक्षाध्वा निर्भयो भोगशास्त्रे भैरवसंज्ञके।।

यहाँ अपह्नवनीय विमर्शोत्कर्ष परमास्वाद उन्मीलित किया गया है।[७]

प्रत्यभिज्ञाकार की दृष्टि—प्रत्यभिज्ञाकारिका में उत्पलदेवाचार्य कहते हैं कि—

इति प्रकटितो मया सुघट एव मार्गो नवो।
महागुरुभिरुच्यतेस्म शिवदृष्टिशास्त्रे यथा।।

भाव यह कि सोमानन्दाचार्य ने 'शिवदृष्टि' नामक ग्रन्थ में जिस नव्य मार्ग को प्रकट किया है, उसी की 'प्रत्यभिज्ञाकारिका' में व्याख्या की गई है।

यहाँ 'महार्थमञ्जरी' नामक जो विश्ववैचित्र्य विलास है, वही वक्ष्यमाण 'प्रत्यभिज्ञा'

१-७. स्वोपज्ञ परिमल

का अपर पर्याय 'विमर्श' उपाय के रूप में तथा तन्त्र के प्रतिपाद्यार्थ के रूप में अङ्गीकृत है। यहाँ शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध नामक पञ्चमहाविषयों का अनुभव महाप्रकाश के पर्यायस्वरूप किन्हीं महान् अनुभवकर्ताओं में पर्यवसित हुआ है अर्थात् पञ्च विषयों का जो अनुभव सामान्य गण स्थूल धरातल पर करते हैं, उन्हें महान् योगी सूक्ष्मतम धरातल पर करके उनकी प्रतीकात्मक अनुभूति करते हैं[१]। यही परिज्ञान हमारा प्रयोजन है।

प्रयोजन—यह प्रयोजन क्या है? यह प्रयोजन विमर्शस्वरूप की सिद्धि है—तत्परिज्ञानं च प्रयोजनम्। तत्प्रयोजनं च विमर्शस्वरूपसिद्धिः। इस प्रयोजन का भी कोई प्रयोजन है और वह है—अपने भोगापवर्गलक्षणात्मक माहेश्वर्य का उल्लास—

१. तत् प्रयोजनं च विमर्शस्वरूपसिद्धिः।

२. तस्या अपि प्रयोजनं भोगापवर्गलक्षणः स्वस्य माहेश्वर्योल्लासः।

सम्बन्ध—प्रत्येक ग्रन्थ का परापर सम्बन्ध भी रहता है। अनुबन्धचतुष्टय में सम्बन्ध भी एक तत्त्व है। यहाँ सम्बन्ध क्या है?

श्रुतियों में कहा गया है कि आत्मलाभ से बढ़कर कोई लाभ नहीं है—'आत्म-लाभान्न परं विद्यते'। सम्बन्ध क्या है? ग्रन्थ के प्रतिपाद्य का अभिधान-अभिधेयवाद ही सम्बन्ध है।

(क) अभिधान-अभिधेयवाद—सम्बन्धश्च प्रतिपाद्यस्य चाभिधानाभिधेयभावः।

(ख) उपायोपेयभाव क्या है? 'प्रतिपाद्यस्य चिद्विमर्शस्य चोपायोपेयभावः तयोरन्योन्यं कार्यकारणभूतत्वात्।

(ग) तन्त्रस्य प्रतिपत्तॄणां च सम्बन्धो गुरुपर्वक्रमात्मा[२]।

(घ) तात्त्विक सम्बन्ध—तात्त्विक दृष्टि से तो सारे सम्बन्ध स्वात्मरूपमात्र हैं—तत्त्वदृष्ट्या तु स्वात्मरूप एव सर्वोऽयं सम्बन्धः।

स्वच्छन्दशास्त्रकार की दृष्टि—

गुरुशिष्यपदे स्थित्वा स्वयं देवः सदाशिवः।
पूर्वोत्तरपदैर्वाक्यैस्तन्त्रं समवतारयत्॥

आचार्य अभिनवगुप्त की दृष्टि—आचार्य अभिनवगुप्त कहते हैं—

सदाभिनवगुप्तं यत् पुराणं च प्रसिद्धिमत्।
हृदयं तत् परोल्लासैः स्वयं स्फूर्जत्यनुत्तरम्॥

परिमलकार का कथन है कि तन्त्रतत्त्वज्ञों ने जो ग्रन्थरचना की है, उसका उद्देश्य आत्म-विज्ञापन नहीं; प्रत्युत कारुण्योत्कर्ष है। इन ग्रन्थों की रचना सामरस्यलक्षणात्मक ताटस्थ्य एवं सर्वजनहिताकांक्षा से मण्डित है। परिमलकार कहते हैं कि महार्थमञ्जरी

१-२. परिमल

में 'ग्रथ्नाति' शब्द का व्यवहार क्यों किया गया?[१] इसमें 'ग्रथ्नामि' शब्द का व्यवहार क्यों नहीं किया गया? इसके पीछे भी रहस्य है। विश्व के प्रति कारुण्यभाव एवं विश्व-हिताकांक्षा ही आर्ष-साहित्य की मूल प्रेरणा है।[२]

स्पन्दकारिकाकार की दृष्टि—'स्पन्दकारिका' में कहा गया है—

लब्ध्वाऽप्यलभ्यमेतज्ज्ञानघनं हृद्गुहान्तकृतनिहिते।
वसुगुप्तवच्छिवाय हि भवति सदा सर्वलोकस्य।।

'नत्वा गुरोश्चरणौ' पद का प्रयोग करके ग्रन्थकार ने श्रीचरणविद्यासंकेत को भी उन्मुद्रित किया है। वह भी पर्यालोच्यमान है—

विद्येति मातृकापीठं तत् पार्थिवमुदाहृतम्।
मण्डलं कुण्डलीपीठं तदाप्यं परिकीर्तितम्।
मन्त्रसंज्ञं क्रियापीठं तैजसं तत् प्रकीर्तितम्।।
ज्ञानपीठं तु मुद्राख्यं तद् वायव्यं सुरेश्वरि।
परेच्छामुखतो व्योमपीठत्वेनेह नादृतम्।।
तन्मूलस्योपचारस्य बाह्यस्याभावतः प्रिये।
चेष्टात्मको भवेद् वायुस्ततः स्यान्नतिरध्वरे।।
दीपः स्यात् तैजसस्तोयं चरुरिष्टो रसात्मकः।
पृथिव्यं गन्धवत् पुष्पमुपचाराय पादयोः।। (श्रीचरणसूत्र)

महाप्रकाशात्मा परमशिव का स्वरूप

अथ तन्त्रप्रतिपाद्यमर्थतत्त्वं तत्परिज्ञानस्य प्रयोजनतयाऽन्वेष्यतां चाभिदधानस्तन्त्रकृत् तत्रैवावृत्त्या तत्प्रयोजनमात्मविमर्शस्वरूपमप्युपेयतयोपपादयति—

वड्ढउ महप्पआसो विमरिसविच्छुरिअणिच्चलुज्जोओ।
सण्णाविसेसणिण्ण अमत्तपअत्ताइ जत्थ सत्ताई ।।२।।

(वर्धतां महाप्रकाशो विमर्शविच्छुरितनिश्छलोद्योतः।
संज्ञाविशेषनिर्णयमात्रप्रवृत्तानि यत्र शास्त्राणि।।)

जिस परम तत्त्व के विषय में (यत्र) समस्त शास्त्र उसकी ओर मात्र विशिष्ट संकेत (संज्ञा) करने में ही (समर्थ) एवं प्रवृत्त हैं (उस) विमर्श शक्ति से विच्छुरित (द्योतित) एवं निर्मल ज्योतिःस्वरूप महाप्रकाश (परमशिवरूप जगद्गुरु) की महावृद्धि हो (जय हो)।।२।।

अत्र योऽयं महाप्रकाशस्तत्तत्प्रमातृप्रकाशावेशाधीनप्रकाशमानतास्वभावमात्रपारिशेष्यात् स्वरूपनिष्कर्षे क्रियमाणे—

१-२. परिमल

तत्तद्रूपतया ज्ञानं बहिरन्तः प्रकाशते ।
ज्ञानादृते नार्थसत्ता ज्ञानरूपं ततो जगत् ।।
नहि ज्ञानादृते भावाः केनचिद् विषयीकृताः ।
ज्ञानं तदात्मतां यातमेतस्मादवसीयते ।।

इति श्रीदेविकाक्रमस्थित्या प्रकाशैकस्वभावः षट्त्रिंशत्तत्त्वसम्पिण्डनात्मा प्रत्येकतत्त्वपर्यालोचनेऽप्यनन्तप्रकारायमाणो विश्वविलासः, स वर्धताम् उपर्युपरि स्वस्फुरत्तामनुभवतु। अयमेव महानुपायो वक्ष्यमाणस्य विमर्शस्येति यावत्। ननु शून्यतामात्रस्वभावेन मिथ्यात्वमात्रानुप्राणितव्यवहरेण वा विश्ववैचित्र्येणोपायभूतेन परमार्थभूतस्वात्मरूपविमर्शलाभ इत्येतदनौचित्योत्कर्षकाष्ठाप्राप्तिरिति माध्यमिकानिर्वचनीयवादमर्यादामाशङ्क्याह—निश्छलोद्योत इति। स्फुटप्रकाशात्मनि प्रपञ्चोद्योते न कस्यचिद् मिथ्यात्वोपपादकादेश्छलस्यावकाश इत्यर्थः। अस्त्वेवम्, तथाप्यवघातस्वेदादिवदन्यथासिद्धसान्निध्येन लोकव्यवहारेण कथमात्मविमर्शोत्पत्तिरित्याशङ्क्याह—विमर्शविच्छुरितेति। न खलु स्वसत्तामात्रेण विश्वस्यात्मविमर्शं प्रत्युपायत्वम्, अपि तु तथा तथा विमृश्यमानावस्थायामेव। तत्र च विश्वरूपस्येव तन्मिथ्यात्वादेस्तद्विपर्ययस्य च विम्रष्टव्यत्वोद्भावनाय निश्छलोद्योत इत्यस्य विमर्शविच्छुरितेत्यनेन सहैकपद्यम्। ननु यदि हि विश्वव्यवहारस्य किञ्चिन्नैयत्यं तदुपपद्येतापि नाम तस्योपायत्वम्। तच्च न सम्भवति। अद्यापि सिद्धान्तिभिर्द्रव्यगुणादयः षडिति, प्रमाणप्रमेयादयः षोडशेति, रूपवेदनादयः पञ्चेति च पृथक् पृथग् विकल्प्यमानत्वादित्याशङ्क्याह—संज्ञाविशेषेत्यादि। यत्र विश्वविलासात्मन्यर्थे काणादीयाक्षपादीयप्रभृतीनि शास्त्राणि तत्तत्परिभाषानुगुण्येन संज्ञालक्षणा ये व्यपदेशविशेषास्तन्मात्रोपक्षीणव्यापाराणि, न पुनः प्रत्यक्षादिप्रमाणोपगृह्यमाणपृथिव्यादिपदार्थपरम्परापरिस्पन्दापलापप्रगल्भानीत्याद्यवाक्यार्थः। द्वितीये तु योऽयं महाप्रकाश उक्तलक्षणोऽनवच्छिन्नः प्रमाता, यद्विमर्शः पुरुषार्थतयाऽवस्थापयिष्यते, स वर्धताम्। मायीयमलोपलेपसंस्कारोच्छेदपर्यन्तमुल्लसतु। सा च वृद्धिर्न कैवल्येन। किं तर्हि? एवमहमलौकिकः कश्चित् प्रमातेति प्रत्यभिज्ञानात्मा यो विमर्शः, तेन यद् विच्छुरणं विशेषतोऽन्यप्रकाशवैलक्षण्येन लौकिकसम्बन्धस्वभावातिक्रान्त्या तादात्म्यपर्यवसायितयोपश्लेषः, तद्वत्तया निश्छलो निर्गलितोपाधिकलङ्क उद्योतः स्फुरत्ता यस्य तादृशतया वर्धतामित्यर्थः। दर्पणादिप्रकाशानां हि प्रतिबिम्बादिप्रकाशनक्षमत्वेऽपि प्रमातृप्रकाशसापेक्षत्वादस्त्युपाधिमत्त्वम्। प्रमातृप्रकाशस्य त्वनन्यमुखप्रेक्षित्वमेवेत्यर्थः। एतदुत्तरत्रापि भविष्यति। ननु विम्रष्टव्यस्यात्मस्वरूपस्य व्यपदेशनैयत्याभावात् तद्विमर्शं प्रत्यसद्भावपर्यवसायी कश्चिद् हृदयङ्गमीभावः स्यादित्याशङ्क्याह—संज्ञाविशेषेत्यादि। यत्र

परमप्रमातृविषये व्यवह्रियमाणानि सर्वाण्यपि शास्त्राणि शिनो विष्णुर्बुद्ध इत्यादिव्यपदेशमात्रव्यापृतानि, न पुनरर्थस्वभावात्यन्तभेदोपपादनप्रवीणानि भवन्ति। तथाहि—चार्वाकास्तावद् भूतान्येव चेतयन्त इति चैतन्यविशिष्टमेव शरीरमात्मानमाचक्षते। 'असदेवेदमग्र आसीत्' इत्यभावब्रह्मवादिनः शून्यताभिमानिनो माध्यमिकाश्चानाख्याकक्ष्यायामिव स्वात्ममात्रस्फुरत्तालक्षणमात्मतत्त्वमाहुः। साङ्ख्यादयस्तु विज्ञानाकलप्रायतामस्याङ्गीकुर्वते। शब्दब्रह्मवादिनश्च पश्यन्तीपदाभिमानिनः श्रीमत्सदाशिवतत्त्वभूतमेनं मन्यन्ते। मीमांसका अपि सुखाद्युपरागयोग्यमात्मानं मन्वानाः संवित्स्वभावतामस्य नापह्नुवते। नैयायिकादयो ज्ञानादिगुणगणास्पदमेनमिच्छन्ति। सौगताः पुनर्ज्ञानलक्षणसन्तानरूपमेनं सङ्गिरन्ते। एवमन्यत्राप्यूह्यमिति श्रौताश्रौतेषु सर्वेष्वपि सिद्धान्तेषु नात्यन्तमत्र विसंवादः। किन्तु स्पृष्टास्पृष्टिकयाऽवस्थानम्, तन्निबन्धनमात्रश्च वादिनामन्योन्यकलहकोलाहलक्लेशः। तदुक्तं मयैव श्रीपादुकोदये 'अतो विश्वात्मको नाथः' इत्यारभ्य

> लोकायतानां देहात्मा शून्यात्मा शून्यवादिनाम्।
> क्षणात्मा क्षणनिष्ठानां भिन्नात्मा भेददर्शिनाम्॥
> मीमांसिनामपूर्वात्मा ब्रह्मात्मा ब्रह्मवादिनाम्।
> अद्वैतिनामभेदात्मा बहुना वा किमुच्यते॥
> आक्रीडनं च बालानां स एव परमो गुरुः।
> स एव च महार्थात्मा महार्थिकमनीषिणाम्॥ इति।

तथा च श्रीप्रत्यभिज्ञाहृदये—'तद्भूमिकाः सर्वदर्शनस्थितयः' इति। अत एव हि—

> स हि भैरवसिद्धान्तपूर्वपक्षोऽपि यन्मयः।

इति पर्यन्तपञ्चाशिकायामुक्तम्। एवं च वस्तुवृत्त्या सिद्धान्तिभिः सर्वैरपि परमेश्वरस्य विश्वात्मकत्वस्वभावमैश्वर्यमेवोद्घोष्यते। यन्मयैवोक्तं श्रीसंविदुल्लासे-

> अन्योन्यमप्रतीकारा बाध्यबाधकभावतः।
> वदिन्त तव वैश्वात्म्यं वादिविप्रतिपत्तये॥ इति।

एतदुक्तं भवति—बहुविधसिद्धान्तविकल्प्यमानान्योन्यबाध्यबाधकभावेऽपि विश्वावभासे स्तम्भकुम्भादयो भावा आपामरपण्डितं प्रत्यक्षमेवानुभूयन्त इत्यत्र न काचिद् विप्रतिपत्तिः। अनुभूयमानत्वं च तेषामनुभवनक्रियाविष्टत्वम्। सा च क्रिया सामान्यानतिलङ्घिस्वभावतया पादपच्छेदादिरिव परश्वधादिना केनचित् करणविशेषेण विना न सङ्गच्छत इत्येतत् तावदङ्गीकार्यम्। ततश्च ग्राह्यग्रहणवेलायां चक्षुराद्यवश्यम्भावः। तदुक्तं मयैव संविदुल्लासे—

अविनाशिनि मङ्गलप्रदीपे मनसि प्रज्वलिते महाप्रकाशे ।
बहिरिन्द्रियगोलकैर्गवाक्षैरविशेषादवभास्यते त्रिलोकी ।। इति।

चक्षुरादिचक्रं च बहिष्करणमात्रस्वस्पन्दास्पदत्वादविकलेन्द्रियस्यापि प्रमातुरौदासीन्याद्यवस्थास्वर्थावभासासम्भवाच्च किञ्चिदन्तःकरणमपेक्षत इत्येतदप्यवश्याभ्युपगन्तव्यम्। ततश्च मनोविमर्शस्यावर्जनीयत्वम्। तदुक्तमस्मद्गुरुभिर्मनोनुशासनस्तोत्रे—

हंसाः पतन्ति गगने प्रविसार्य पक्षौ
स्वौ सर्वदैव किल मानसराजहंसः ।
अत्यद्भुता तव गतिर्गगने परस्मिन्
विक्षेपशून्यमयपक्षयुगं विहाय ।। इति।

करणानां च कर्तृव्यतिरेके कार्यकारित्वानौचित्यात् स्वस्वभावावसादप्रसङ्गाच्च स्तम्भकुम्भादिपर्यालोचनक्रियायामन्तः कश्चित् कर्तृविशेषोऽप्यर्थत आक्षिप्यते। यदुक्तमस्मत्परमगुरुभिः श्रीसौभाग्यहृदयस्तोत्रे—

नेत्रादिजालकोपान्ते हृत्पद्मासनलीलया ।
वारं वारं त्वया देवि! रूपादि मधु सेव्यते ।।

स च वेद्यविकल्पोपरक्तत्वाद् देशकालाद्यवच्छेदमनुभवति। तदवच्छेदोल्लङ्घिना च भाव्यमलौकिकेन केनचित् प्रमातृविशेषेण, अन्यथा विश्ववैचित्र्यस्यैव विपर्ययप्रसङ्गात्। विश्वव्यवहारो ह्यवच्छिन्नानवच्छिन्नप्रमातृद्वयाङ्गीकारादृते न सङ्गच्छते। तत्राऽकल्पितः प्रमाता स्फुरत्तैकस्वभावतया वेद्यवर्गस्य प्रकाशैकार्णवीभावमुद्भावयति। कल्पितस्तु स्तम्भः कुम्भ इत्यादिभेदप्रथोपश्लेषणप्रागल्भ्यात् तत्तद्विकल्पविक्षोभस्वभावभावानां व्यवहारविभागमुद्भावयतीत्युभयावश्यम्भावौचित्यम्। एवं च ग्राह्यग्रहणवेलायामिन्द्रियादिप्रणाडिकया विश्वप्रतिष्ठाभूमिरकृत्रिमः प्रमाता कश्चिदन्तर्विम्रष्टव्य इति पारम्पर्यादापतितम्। यथोक्तमजडप्रमातृसिद्धौ—

इदमित्यस्य विच्छिन्नविमर्शस्य कृतार्थता ।
या स्वस्वरूपे विश्रान्तिर्विमर्शः सोऽहमित्ययम् ।। इति,
प्रकाशस्यात्मविश्रान्तिरहम्भावो हि कीर्तितः। इति च।

यथा चोक्तमाचार्याभिनवगुप्तपादैः—'स्फुटतरभासमाननीलसुखादिप्रमात्रन्वेषणद्वारेणैव पारमार्थिकप्रमातृलाभ इहोपदिश्यते' इति। एवमभिप्रायेणैव हि श्रीविज्ञानभैरवे—

गीतादिविषयास्वादसमसौख्यैकतात्मनः ।
योगिनस्तन्मयत्वेन मनोरूढिस्तदात्मता ।।

इत्याद्युपायतयोपपाद्यते। स्मार्तादयोऽप्यत्र नात्यन्तं विसंवदन्ते। यदाहुः—

वीणावादनतत्त्वज्ञः स्वरशास्त्रविशारदः ।
तालज्ञश्चाप्रयासेन मोक्षमार्गं निगच्छति ।। इति।

वर्धतामिति लोट्प्रत्यययायुक्त्या—

ख्यातिमपूर्णां पूर्णख्यातिसमावेशदार्ढ्यतः क्षपय ।
सृज भुवनानि यथेच्छं स्थापय हर तिरय भासय च ।।

इत्यादिवदुपायोपेयभावं द्योतयन्त्या परमेश्वरस्यात्यन्तदुर्घटघटनप्रागल्भ्यलक्षणं स्वातन्त्र्यमासूत्र्यते। यदनेन दर्शनान्तरप्रणेतृमनीषया संसारनिबन्धत्वेनोपकल्पितः शब्दस्पर्शादिविषयविक्षोभो जीवन्मुक्तिलक्षणाह्लादस्वभावं स्वात्मनो विमर्शं प्रत्युपायतयोपदिश्यते। यथा च तन्त्रान्ते वक्ष्यते—

ओ संसारसुहेल्ली ओ सुलहं मोक्खमग्गसोहग्गम् । इति।

अस्य चोपायोपेयभावस्याव्यभिचारस्वभावसामरस्योद्भावनाय यावद्गति यतितव्यमिति नीत्या वाक्यद्वयैक्यावभासात्मना तन्त्रापरपर्यायेण श्लेषेणोपन्यासः। एवमत्राभिधेयं प्रयोजनं तत्प्रयोजनं च वितत्योन्मीलितम्। पार्यन्तिकं तु प्रयोजनं 'हिअअट्ठाणपरूढो' इति प्रपञ्चयिष्यते।।२।।

विमर्श शक्ति और माया—वेदान्त के ग्रन्थों में यह कहीं नहीं लिखा गया है कि संकेतमात्रैकगम्य उस निर्गुण ब्रह्म की वृद्धि (जय) हो, जो मायाशक्ति से शोभायमान (विच्छुरित) है। कारण स्पष्ट है, निर्गुण ब्रह्म मायाशक्ति से विच्छुरित नहीं है; क्योंकि उसकी माया न सत् है, न असत् है, न सदसदनुभय है; प्रत्युत वह अनिर्वचनीय है। अत: जब वह स्वयं प्रकाशित नहीं है तो ब्रह्म को क्या प्रकाशित करेगी? 'माया' तो अज्ञान है। वह तो मात्र आवरण एवं विक्षेपरूप बन्धनकारिणी शक्ति है। वह चित् एवं सत्य भी नहीं है। वह ब्रह्म की समवायिनी शक्ति भी नहीं है। वह सत्, असत्, सदसत् से परे; भिन्न, अभिन्न, भिन्नाभिन्न से परे अद्भुत एवं अनिर्वचनीय है—

सन्नाप्यसन्नाप्युभयात्मिका नो भिन्नाप्यभिन्नाप्युभयात्मिका नो।
साङ्गाप्यनङ्गाप्युभयात्मिका नो महाद्भुतानिर्वचनीयरूपा।[१]

महेश्वरानन्द के परमशिव की शक्ति सत् है, शिव की समवायिनी एवं नित्य शक्ति है, वह शिव की अविच्छेद्य एवं स्वरूपात्मिका शक्ति है, वह शिवस्वरूप चन्द्र की चन्द्रिका, अग्निस्वरूप शिव की दाहकतारूप गुण एवं उनका स्वरूप, धर्म, प्रकृति एवं स्वभाव है।

---

१. शंकराचार्य : विवेकचूड़ामणि (१११)

शैवागम की शक्ति चिति है, प्रत्यवमर्शात्मा है, परावाक् है; स्वरसोदिता है, स्वातन्त्र्य है, परमात्मा का ऐश्वर्य है, स्फुरत्ता है, महासत्ता है, सार है और परमेष्ठी का हृदय है—

चितिः प्रत्यवमर्शात्मा परावाक् स्वरसोदिता।
स्वातन्त्र्यमेतन्मुख्यं तदैश्वर्यं परमात्मनः।।
सा स्फुरत्ता महासत्ता देशकालाविशेषिणी।
सैषा सारतया प्रोक्ता हृदयं परमेष्ठिनः।।[1]

विमर्शशक्ति-समवेत परमशिव—परमशिव माया से नहीं; विमर्श शक्ति से समवेत है। 'विमर्श' क्या है? क्या यह माया है? कदापि नहीं।

'विमर्श' परमशिव (परमात्मा) का स्वभाव है। 'माया' निर्गुण ब्रह्म का स्वभाव नहीं है; किन्तु विमर्श शक्ति परमशिव का स्वभाव है—'स परमात्मा चिद्रूपो विमर्शाख्येनैव मुख्यस्वभावेनाव्यभिचारिणा महेश्वरश्चित्तस्य विश्वात्मनः शिवसंज्ञस्याहंविमर्शनमेव शुद्धे ज्ञानक्रिये भिन्नाभिन्नज्ञेयकार्यगते त्वीश्वरस्य शुद्धाशुद्धे भिन्नार्थविषयत्वे पुंसः सत्त्वरजोवृत्तिरूपे प्रकाशप्रवृत्तिसंज्ञे तमसा संकुचिते अशुद्धे एव[2]—

स एव विमृशत्वेन नियतेन महेश्वरः।
विमर्श एव देवस्य शुद्धे ज्ञानक्रिये यतः।।[3]

माया का स्वरूप—माया विमर्श शक्ति से भिन्न है (यद्यपि तत्त्वतः तो सब कुछ विमर्श शक्ति का ही रूपान्तर है; अतः सभी उससे अभिन्न है; किन्तु व्यवहारतः वह भिन्न है)। माया भेदात्मिका है और पशुभाव-प्रकाशिका है—

भेदधीरेव भावेषु कर्तुर्बोधात्मनोऽपि या।
मायाशक्त्येव सा विद्येत्यन्ये विद्येश्वरा यथा।
तस्यैश्वर्यस्वभावस्य पशुभावे प्रकाशिका।।
विद्याशक्तिस्तिरोधानकरी मायाभिधा पुनः।
भेदे त्वेकरसे भातेऽहन्तयानात्मनीक्षते।
शून्ये बुद्धौ शरीरे वा मायाशक्तिर्विजृम्भते।।[4]

विमर्श शक्ति भेदप्रथा-प्रसवित्री नहीं है, किन्तु 'माया' भिन्नवेद्यप्रथा की जन्मदात्री है—

भिन्नवेद्यप्रथात्रैव मायाख्यं जन्मभोगदम्।

विमर्श शक्ति से परिणद्ध अन्धा नहीं, शक्तिमान बनता है; किन्तु माया-परिणद्ध जीव 'अन्धा' हो जाता है—

---

१. प्रत्यभिज्ञाकारिका (४४-४५)
२. प्रत्यभिज्ञाकारिकावृत्ति
३. प्रत्यभिज्ञाकारिका (८८)
४. प्रत्यभिज्ञाकारिका

एष प्रमाता मायान्धः संसारी कर्मबन्धनः।

माया के कारण ही मल (आणव, मायीय एवं कार्ममल) उत्पन्न होते हैं—

कर्तर्यबोधे कार्मं तु मायाशक्त्यैव तत्त्रयम्।

आत्मा का प्रत्यभिज्ञान विद्या से होता है; किन्तु माया से पशुभाव प्राप्त होता है—

तस्यैश्वर्यस्वभावस्य पशुभावे प्रकाशिका।
विद्याशक्तिस्तिरोधानकरी मायाभिधा पुनः।।

'माया' विमर्श शक्ति से एवं परमशिव से स्वतन्त्र एवं पूर्णतया पृथक् स्वतन्त्र सत्ता भी नहीं है; क्योंकि उसे भी शक्तिमान से अव्यतिरिक्त शक्ति कहा गया है तथापि वही शिव की परा शक्ति (विमर्श शक्ति या स्वातन्त्र्य शक्ति) नहीं है; क्योंकि उससे बड़ी तो महामाया है। माया स्वरूपगोपनात्मिका क्रीड़ा है। उसी से अख्यातिमय यह विश्व प्रकट होता है—माया नाम शक्तिः, शिवस्य शक्तिमतोऽव्यतिरेकिणी स्वरूपगोपनात्मिका क्रीडा, तन्निमित्तादेव यस्मादख्यातिमयमेतद्विश्वं भासते।[1]

मायारहित ब्रह्म अपने स्वस्वरूप से च्युत नहीं होता; किन्तु विमर्शहीन परमशिव की स्थिति ऐसी नहीं है। यही शान्तब्रह्मवादियों एवं शैवागमदार्शनिकों में भेद है—निर्विमर्शस्य प्रकाशस्यापि स्फटिकादिवद्विश्वावभासनेऽपि अस्वतन्त्रत्वात्स्वात्मन्यसत्ता जडेन च भावेन सादृश्यमेव स्यात् परस्परवृत्तपरिज्ञानेऽनेकमूकप्रायत्वात्। एतेन शान्तब्रह्म-वादनिरासः कटाक्षितः।[2]

वेदान्तियों का मायावाद शैवागमिकों के स्वातन्त्र्यवाद से इसीलिये भिन्न है।

स्वात्मविश्रान्ति के समय माया नहीं रहती; किन्तु विमर्श तो रहता है—विमर्श शक्ति तो रहती है—

या स्वस्वरूपे विश्रान्तिर्विमर्शः सोऽहमित्ययम्।
वर्धतां महाप्रकाशो विमर्शविच्छुरितनिश्छलोद्योतः।।

(महार्थमञ्जरी)

विमर्श का स्वरूप—विमर्श का स्वरूप क्या है? काश्मीरीय शैव दर्शन की अद्वैतप्राण दृष्टि में तत्त्वातीत परमशिव ही अन्तर्बाह्य सर्वत्र व्याप्त है। वह चिद्रूप है। शिवसूत्रों में चैतन्यमात्मा (१.१) कहकर इसे ही चैतन्यस्वरूप आत्मा कहा गया है। समस्त छत्तीस तत्त्व और उनका समस्त प्रपञ्चीकरणात्मक जगत् इसी चैतन्यस्वभाव आत्मा में स्थित है। यही परतत्त्व है। इसे ही परा संवित् 'परमशिव' एवं अनुत्तर आदि संज्ञाओं से संकेतित किया गया है—

१-२. उत्पलदेवाचार्य : अजडप्रमातृसिद्धिवृत्ति।

१. चितिस्तुर्यातीतपदात्मिका परासंवित्।[१]

२. यत् परतत्त्वं तस्मिन् विभाति षट्त्रिंशदात्म जगत्।[२]

३. अनुत्तरं न विद्यते प्रकृष्टतरं यतस्तदनुत्तरं चिद्घनम्।[३]

प्रकाश-विमर्श—प्रकाश परमशिव (परमात्मा सत्ता) की संज्ञा है और 'विमर्श' उसकी स्वसमवेता, अव्यभिचारिणी शक्ति एवं महेश्वरता की पूर्ण प्रतीति है—

स एव विमृशत्वेन नियतेन महेश्वरः।

प्रकाश (परमशिव/शक्तिमान/परमात्मा/महेश्वर/चिति शक्ति/परासंवित्/परतत्त्व) विमर्श से अपृथक् है। इनमें अविनाभाव सम्बन्ध है; अतः ये परस्पर अविच्छेद्य हैं—

प्रकाशमानं न पृथक् प्रकाशात् स च प्रकाशो न पृथग् विमर्शात्।[४]

१. प्रकाश आत्मा का स्वरूप है तो विमर्श प्रकाशस्वभाव परमात्मा के स्वरूप की प्रतीति है।

२. 'विमर्श' महेश्वरता की पूर्ण प्रतीति है।

३. विमर्श परमशिव का पूर्णतम 'अहं' है।

४. प्रकाश शिव है एवं 'विमर्श' प्रकाश की शक्ति है।

एक ही सत्ता के दो पक्ष

प्रकाश | विमर्श

५. परमशिव कौन है? शिव एवं शक्ति का जो अविच्छेद्य एवं नित्य सामरस्य है, वही परमशिव है।

६. शक्ति एवं शिव में अभेदात्मक सम्बन्ध है।

७. शिव के विना शक्ति एवं शक्ति के विना शिव अकल्पनीय है।

८. शक्ति के विना शिव भी जड़ स्फटिक जड़तुल्य हो जायेंगे; क्योंकि प्रकाशात्मा होते हुये भी स्फटिक, मणि आदि को अपनी सत्ता का बोध तो होता नहीं।[५]

९. 'प्रकाश' की आत्मविश्रान्ति अहंभाव है—

प्रकाशस्यात्मविश्रान्तिरहंभावो हि कीर्तितः।[६]

यहाँ 'अहं' एवं 'इदम्' में पार्थक्य-बोध नहीं रहता—

या स्वस्वरूपे विश्रान्तिर्विमर्शः सोऽहमित्ययम्।[७]

---

१. तन्त्रालोक (भाग ३)
२. परमार्थसारकारिका (११)
३. परात्रिंशिकाविवृति
४. विज्ञानभैरवविवृति
५. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी (भाग १)
६. अजडप्रमातृसिद्धि
७. अजडप्रमातृसिद्धि

शिव एवं शक्ति का अभेद—शिवदृष्टिकार सोमानन्द ने इसे बहुत अच्छी तरह समझाया है—

न शिवः शक्तिरहितो न शक्तिर्व्यतिरेकिणी।
शिवः शक्तस्तथा भावानिच्छया कर्तुमीहते।
शक्तिशक्तिमतोर्भेदः शैवे जातु न वर्ण्यते।।[१]

शक्ति और विमर्श—शक्ति आत्मास्वरूप परमशिव का विमर्श है। यह विमर्श उस शक्ति का शाम्भव सामर्थ्य है, जो कर्तुं, अकर्तुं एवं अन्यथाकर्तुं के स्वभाव वाली है।

ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनीकार की दृष्टि—अभिनवगुप्त 'विमर्श' की व्याख्या इस प्रकार करते हैं—'विमर्शो हि सर्वंसहः परमपि आत्मीकरोति, आत्मानं च परीकरोति, उभयम् एकीकरोति, एकीकृतं द्वयमपि न्यग्भावयति इत्येवं स्वभावः।[२]

विमर्श शक्ति और स्वातन्त्र्य शक्ति—इसी विमर्श शक्ति की सामर्थ्य से सब कुछ कर सकने की शक्ति प्राप्त करने के कारण परमशिव को पूर्ण स्वतन्त्र एवं उसकी शक्ति को स्वातन्त्र्य कहा गया है। परमशिव की इच्छाशक्ति ही उसका स्वातन्त्र्य है—

स्वतन्त्र इति तस्येच्छा शक्तिः स्वातन्त्र्यसंज्ञिता।[३]

परमेश्वर की इच्छाशक्ति ही उसकी स्वातन्त्र्य शक्ति है। इस स्वातन्त्र्य शक्ति में 'ज्ञानशक्ति' एवं 'क्रियाशक्ति' की अभेदात्मक स्फुरता है—

विमर्श एव देवस्य शुद्धे ज्ञानक्रिये यतः।[४]

शिव से लेकर पृथ्वी-पर्यन्त छत्तीस तत्त्वों का अभेदात्मकतापूर्ण स्फुरण आत्मा का विश्वात्मक प्रसार है। इसे ही शैवागम विमर्श की आख्या प्रदान करता है। 'विमर्श' परमशिव की शक्ति है और यह निःशेष जगत् इसी शक्ति का विश्वात्मक स्फार है। 'विश्व' परमशिव (आत्मा) का शक्तिप्रचय है—स्वशक्तिप्रचयोऽस्य विश्वम्।[५]

विश्व का उन्मेष-निमेष करने वाली इसी पारमेश्वरी परा शक्ति को स्पन्दकारिका में स्पन्द कहा गया है।

'विमर्श' चिदात्मा के प्रकाशस्वरूप की प्रतीति है। विमर्श ही चिदात्मा शिव का स्वातन्त्र्य है। इसी से आत्मा पर-निरपेक्ष (पर-पराङ्मुख) रहकर अपनी पूर्णता में विश्रान्त रहा करता है। उसकी यह पर-निरपेक्ष आत्मपूर्णता की प्रतीति ही उसका आनन्द है—स एव परानपेक्षः पूर्णत्वादानन्दरूपो। अभिनवगुप्तपादाचार्य कहते हैं—अन्यनिरपेक्षतैव परमार्थत आनन्दः।[६]

---

१. शिवदृष्टि (३.२-३)
२. ई. प्र. विम. (भाग-२)
३. मालिनी
४. प्रत्यभिज्ञाकारिका
५. शिवसूत्र (३.३०)
६. ई. विमर्शिनी (भाग-१)

चित् अंश शिवभाव है और आनन्दांश शक्तिभाव है। चिदंश (प्रकाश) एवं आनन्दांश (विमर्श) का सामरस्य ही परमभाव है। इसी परमभाव को शैवागमों में परासंवित् एवं परमशिव कहा गया है। अपनी ही शक्ति के प्रसाररूप विश्व को अहंरूप में विमर्श करने की क्रिया का स्वतन्त्र कर्ता होने से वह स्वतन्त्र चिदात्मा है।

'शक्ति' विशुद्ध दर्पण है। इसमें शिव अपना साक्षात्कार करते हैं। शिव का स्वरूप या उनकी प्रकृति 'अहं' है—अहं विश्वस्य स्वरूपम् अहं इत्येवं आकारम्। शिव का अनुभव (विमर्श) अहन्ता (अहन्ता की अनुभूति) है—अहं इत्येवं रूपं ज्ञानम्।

पुण्यानन्द की दृष्टि—पुण्यानन्दनाथ 'कामकलाविलास' में कहते हैं कि जिस प्रकार कोई नृपति निर्मल दर्पण में अपने प्रतिबिम्ब को देखकर अपने सुन्दर मुख का ज्ञान प्राप्त करता है, उसी प्रकार शिव भी स्वाधीन स्वात्मशक्ति को देखकर अपनी परिपूर्ण अहन्ता एवं प्रकाशस्वरूप का ज्ञान प्राप्त करता है। इसी विमर्श की संज्ञा है—स्फुरत्ता, स्पन्द, परावाक्, महासत्ता आदि।

विमर्शसम्बन्धिनी नागानन्द की दृष्टि—आचार्य नागानन्द कहते हैं—विमर्शो नाम विश्वाकारेण वा विश्वप्रकाशेन वा विश्वोपसंहारेण वा अकृत्रिमोऽहमिति स्फुरणम्। तस्यां तल्लीनत्वं नाम अन्तर्मुखत्वम्।

परमशिव की जो पूर्णाहन्ता है, उसी का आख्यान्तर 'विमर्श' है। 'प्रकाश' शिव-रूप है और 'विमर्श' शक्तिरूप है। 'शक्ति' आत्मारूपी परमशिव का विमर्श है। विमर्श एक नैसर्गिकी स्फुरत्ता है। जिसके द्वारा शिव जगत् की सृष्टि, उसका पालन एवं संहार किया करते हैं—

नैसर्गिकी स्फुरत्ता विमर्शरूपास्य वर्तते शक्तिः।
तद्योगादेव शिवो जगदुत्पादयति पाति संहरति।।[१]

शिव ही प्रकाश है और शक्ति ही विमर्श है। इसी विमर्श शक्ति को शिव अन्तर्गर्भित करके स्थित है। 'कामकलाविलास' में पुण्यानन्द कहते हैं—

सकलभुवनोदयस्थितिलयमयलीलाविनोदनोद्युक्तः।
अन्तर्लीनविमर्शः पातु महेशः प्रकाशमात्रतनुः।।

अभिनवगुप्तपादाचार्य की दृष्टि—आचार्य अभिनवगुप्त कहते हैं—

अन्तर्विभाति सकलं जगदात्मनीह यद्वद्विचित्ररचना मुकुरान्तराले।
बोधः पुनर्निजविमर्शनसारवृत्त्या विश्वं परामृशति नो मुकुरस्थया तु।।

नित्याषोडशिकार्णवकार की दृष्टि—इस ग्रन्थकार के अनुसार त्रिदेवात्मिका पारमेश्वरी परमा शक्ति त्रिपुरा ही विमर्श है—

---

१. वरिवस्यारहस्यम्

एषा सा परमा शक्तिरेकैव परमेश्वरी।
त्रिपुरा त्रिविधा देवी ब्रह्मविष्ण्वीशरूपिणी।।

आचार्य शिवानन्द की दृष्टि—आचार्य शिवानन्द कहते हैं कि 'परमा शक्तिरिति विमर्शरूपा'।

आचार्य अमृतानन्दनाथ की दृष्टि—आचार्य अमृतानन्दनाथ कहते हैं कि प्रकाशात्मक दीपकरूप शिव की प्रभारूपा शक्ति ही विमर्श है—शिवस्य प्रकाशात्मने दीपस्य शक्ति-विमर्शाख्यैव प्रभा। यही शक्ति मेय-मातृ-प्रमा-प्रमाण से सङ्कुचित होकर विश्व बन जाती है—विश्वाकारा मेय-मातृ-प्रमा-प्रमाणभेदैः सङ्कुचद्रूपा।

ऋजुविमर्शिनीकार की दृष्टि—ऋजुविमर्शिनी में कहा गया है कि यही विमर्श शक्ति छत्तीस तत्त्वों के रूप में परिणत हो जाती है—विश्वाकार प्रमा षट्त्रिंशतत्त्वात्मना परिणता विमर्शशक्तिः।[१]

नागानन्द ने कहा था कि 'विमर्श' एक अद्वैतबोध है, जो विश्वाकारेण, विश्वप्रकाशनेन एवं विश्वसंहारेण के रूप में शाम्भवी शक्ति द्वारा प्रकट हुआ करता है। 'विमर्श' पूर्णाहंभावना है।

नटनानन्दनाथ की दृष्टि—नटनानन्दनाथ 'चिद्वल्ली' में कहते हैं कि—'जगदुत्पत्ति-स्थितिलयहेतुभूताकृत्रिमाहम्भावपरामर्शो विमर्शः।

प्रत्यभिज्ञाकारिकाकार की दृष्टि—प्रत्यभिज्ञाकारिका में आचार्य उत्पलदेव कहते हैं कि अवभास का स्वभाव ही विमर्श है—

स्वभावमवभासस्य विमर्शं विदुरन्यथा।[२]

'प्रकाश' की मुख्य आत्मा प्रत्यवमर्श है—प्रकाशस्य मुख्य आत्मा प्रत्यवमर्शः।[३] उसके विना आकार में स्वच्छता (निर्मलता/प्रकाशमयता) तो आ सकती है; किन्तु चैतन्य (अजाड्य) नहीं आ सकता; क्योंकि उसके विना उसकी स्थिति चैतन्यहीन; किन्तु स्वच्छ स्फटिक के समान हो जाएगी—

प्रकाशोऽर्थोपरक्तोऽपि स्फटिकादिजडोपमः।[४]

प्रत्यवमर्शस्तं विनार्थभेदिताकारस्यास्य स्वच्छतामात्रं न त्वजाड्यं चमत्कृतेरभावात्।[५]

साक्षात्कार ज्ञान में भी विमर्श की ही विद्यमानता रहती है—

साक्षात्कारक्षणेऽप्यस्ति विमर्शः कथमन्यथा।[६]

---

१. ऋजुविमर्शिनी टीका
२. ईश्वर प्र. का. (४२)
३. ईश्वर प्र. का. वृत्ति
४. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका
५. ईश्वर प्र. का. वृत्ति
६. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाका.

साक्षात्कारक्षणज्ञानेऽपि चितोऽर्थप्रत्यवमर्शोऽस्ति सूक्ष्मः।[१]

विमर्श जड प्रकृति अचेतन शक्ति की आख्या नहीं है; क्योंकि विमर्श चित्स्वभाव है—वपुः चित्स्वभावताम् अभ्येति, स च संरम्भो विमर्शः क्रियाशक्तिरुच्यते।

अभिनवगुप्त ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी में कहते हैं कि विमर्श ही तो ज्ञान है। इसके विना तो स्वयं शिव भी जड़ हो जाते हैं—विमर्श एव ज्ञानं तेन विना हि जडभावोऽस्य स्यादिति उक्तम् स एव च क्रिया।

अभिनवगुप्त कहते हैं कि शिव की महेश्वरता उसकी अपनी विमर्श शक्ति के कारण ही है—

स एव विमृशत्वेन नियतेन महेश्वरः।
विमर्श एव देवस्य शुद्धे ज्ञानक्रिये यतः।।

अभिनवगुप्तपाद की दृष्टि—आचार्य अभिनवगुप्त की दृष्टि इस प्रकार है—

१. प्रकाशलक्षण स्वात्मा स्फटिकादिक की भाँति परामर्शनशून्य नहीं है; प्रत्युत वह सदैव विमृश्यमानस्वरूप है—यही उसका विमृशद्रूपत्व है।

२. अनवच्छिन्न विमर्शता ही उसका अन्योन्यमुखत्व, आनन्दैकघनत्व एवं माहेश्वर्य है—

(क) न च अस्य असौ प्रकाशलक्षणः स्वात्मा नीलाद्युपरागश्च परामर्शनशून्य एव आस्ते स्फटिकमणेरिव अपितु सदैव विमृश्यमानरूपः। इति विमृशद्रूपत्वम्।

(ख) अनवच्छिन्नविमर्शता अनन्योन्मुखत्वम् आनन्दैकघनत्वमेव अस्य माहेश्वर्यं।[२]

३. शिव का विमर्श अहंभावात्मक है—स एव हि अहंभावात्मा विमर्शो।[३] (विमर्श एव देवस्य—ई. प्रत्यभिज्ञा)।

४. प्रकाशरूपता ही 'ज्ञान' है। वहीं (ज्ञान में) स्वातन्त्र्यात्मा विमर्श क्रिया विद्यमान है—प्रकाशरूपता ज्ञानं तत्रैव स्वातन्त्र्यात्मा विमर्शः क्रिया।[४]

५. विमर्श अन्तःकृत प्रकाश है—विमर्शश्च अन्तःकृतप्रकाशः।[५]

६. यही विमर्श परावस्था में ज्ञान और क्रिया दोनों है, जो परस्पर अभिन्न है—

(क) विमर्श एव देवस्य शुद्धे ज्ञानक्रिये यतः। (प्र. का.)

(ख) इति विमर्श एव परावस्थायां ज्ञानक्रिये।[६]

७. परापरावस्था में भगवान् सदाशिव की भूमि में 'इदन्तासामान्याधिकरण्यापन्नाहंताविमर्शस्वभावे'[७]। सामान्याधिकरण्यापन्ना अहन्ता का विमर्श होना है।

---

१. प्रत्यभिज्ञाकारिकावृत्ति
२. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी
३. आचार्य अभिनवगुप्त
४. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी
५. अभिनवगुप्तपादाचार्य
६. प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी
७. ई. प्र. विमर्शिनी

८. अपरावस्था अर्थात् मायापद (मायिक भूमि) में इदम् भाव के प्राधान्य से ही इस विमर्श की विद्यमानता है—अपरावस्थायां च मायापदे इदंभावप्राधान्येन वर्तमाने इति विशेषः।[१]

विमर्श की अवस्थायें

- १. परावस्था—यहाँ ज्ञान एवं क्रिया दोनों अभिन्न हैं। जहाँ ज्ञान है, वहीं क्रिया है तथा जहाँ क्रिया है, वहीं ज्ञान है।
  (परावस्थायां ज्ञानक्रिये। विमर्शश्च अन्तकृतप्रकाशः)
- २. परापरावस्था—यहाँ इदन्ता एवं अहन्ता में सामानाधिकरण्य है।
  परापरावस्थायां इदन्तासामान्याधिकरण्यापन्नाहन्ता विमर्शः स्वभावे।
- ३. अपरा अवस्था—इस मायापद में इदम् का प्राधान्य है।
  अपरावस्थायां च मायापदे इदंभावप्राधान्येन इति विशेषः।

सांख्य का सत्कार्यवाद और आगमिक सर्वविमर्शवाद—सत्कार्यवादी कहते हैं कि कोई नूतन सृष्टि नहीं होती। अप्रकट का प्रकट हो जाना ही सृष्टि है। सृष्टि सर्जन नहीं है। कूर्माङ्गों की भाँति अपने भीतर अवस्थित सत्ता का बहिःप्रकाशन ही सृष्टि है। शैव आगमिक भी ऐसा ही कहते हैं—

वर्तमानावभासानां भावानामवभासनम्।
अन्तःस्थितवतामेव घटते बहिरात्मना।।[२]

यही प्रत्यवमर्श का माहात्म्य है—प्रत्यवमर्शस्य माहात्म्यं यद्विश्वं स्वात्मैक्येनान्तःस्थितं बहिरिदन्तयोद्भासयन् (उद्भास्यमानमपि पुनः पूर्णाहन्ताविश्रान्त्याभेदमापादयेत्)।[३]

शिव का विमर्श क्या है? उसकी आत्मविश्रान्ति की अवस्था में उसका विमर्श-स्वरूप क्या है—

या स्वस्वरूपे विश्रान्तिर्विमर्शः सोऽहमित्ययम्।

यहाँ 'इदम्' 'अहं' में लयीभूत रहता है और प्रकाशस्यात्मविश्रान्तिरहम्भावो हि कीर्तितः।[४] इसकी (जगत् की) सत्ता अन्तःसत्ता का प्रकाशन है—

चिदात्मैव हि देवोऽन्तःस्थितमिच्छावशाद्बहिः।
योगीव निरुपादानमर्थजातं प्रकाशयेत्।।[५]

---

१. ई. प्र. वि. (का. ११)
२. प्रत्यभिज्ञाकारिका (१.३२)
३. अजडप्रमातृसिद्धि (१४)
४. अजडप्रमातृसिद्धि (२२)
५. प्रत्यभिज्ञाकरिका (३८)

आत्मा की विश्वमूलकता तथा उसकी स्वतःप्रामाणिकता

ननूक्तयुक्त्या विम्रष्टव्यः कश्चित् कर्तृविशेषः कुलालादिवद् न कुत्रचिदपरोक्षमुपलक्ष्यते, अनुमेयत्वादौ तु तत्र प्रमाणाधीना हि वस्तुस्थितिरिति स्थित्या तादृक् किञ्चित् प्रमाणं वक्तव्यम्। तदनुक्तौ च तस्यासत्कल्पत्वापत्तिरित्याशङ्क्याह—

अत्ता खु वीसमूलं तत्थ पमाणं ण को वि अत्थेइ।
कस्स व होइ पिपासा गंगासोत्ते णिमग्गस्स ॥३॥

(आत्मा खलु विश्वमूलं तत्र प्रमाणं न कोऽप्यर्थयते।
कस्य वा भवति पिपासा गङ्गास्रोतसि निमग्नस्य।।)

निश्चय ही आत्मा विश्व की मूल सत्ता है। उसके साक्ष्य के लिये किसी भी अन्य प्रमाण को खोजने की सार्थकता नहीं है। गंगा जी की धारा में अवस्थित कोई भी प्राणी भला कैसे प्यासा रह सकता है।।३।।

इहात्मैव हि प्रकाशस्वभावत्वाद् विश्वव्यवहारे निबन्धनम्, ममावभासते मयावलोक्यत इति प्रमातृप्रकाशोपश्लेषेणैव स्तम्भकुम्भादीनां प्रकाशमानत्वात्। तद्व्यतिरेके च तेषां स्तम्भ एव कुम्भः, कुम्भ एव स्तम्भ इत्यनयोरन्योन्यं स्वलक्षणापहारोपक्रमे न कस्यचिदपि नियन्तृत्वमिति स्मम्भरूपेण स्तम्भः किं भवत्यस्तम्भो वेति सन्देहो वा तस्याप्यसम्भवो वेति सर्वथा तूष्णीम्भाव एव स्वभावः स्याद् भुवनव्यवहारस्य। यदि च स्तम्भादिरूपतयैव तेषां प्रकाशमानत्वं न पुनः प्रमातृप्रकाशानुग्रहात्मा कश्चिदतिशयः, तर्हि सर्वेषामपि तथा प्रकाशेरन्, न वा कस्यचिदपीति प्रमातृणां व्यवहारोच्छेदप्रसङ्गः। किञ्च, स्तम्भकुम्भाद्यात्मनो विश्वस्य स्वात्मनैव प्रकाशमानताङ्गीकारे सर्वस्यापि प्रमातृवर्गस्य सार्वज्ञ्यमत्यन्ताज्ञत्वं वा प्रसज्येत, नियामकाभावात्। तस्मादात्मनो जगद्व्यवहारप्रयोजकत्वमनिच्छताऽप्यङ्गीकार्यम्। प्रयोज्यप्रयोजकभावश्च पर्यन्ततोऽनयोस्तादात्म्यमेव पर्यवसाययिष्यतीत्यात्मप्रकाशमयोऽयं विश्ववर्तिवेद्यवर्गोल्लास इत्यापतितम्। यदुक्तं श्रीप्रत्यभिज्ञायाम्—

प्रागिवार्थोऽप्रकाशः स्यात् प्रकाशात्मतया विना।
न च प्रकाशो भिन्नः स्यादात्मार्थस्य प्रकाशता ।। इति।

खलुरविप्रतिपत्तौ। एवं स्थिते तत्रैवात्मनीदमेतादृगिति वस्तुव्यवस्थापकत्वलक्षणं स्वाभासविशेषं प्रमाणं प्रति पण्डितस्य वा पामरस्य वा न कस्यचिदपेक्षोत्पद्यते, प्रमातृप्रकाशादव्यतिरेकात्। प्रत्युत तेनैव व्यवस्थाप्यमानत्वाच्च प्रमाणस्य। प्रमाणं हि नाम नवनवोदयः स्वाभासविशेषः। सोऽपि स्वाभासोऽभिनव इत्युक्त-

त्वात्। नवनवोदयत्वं च तस्य तत्तद्देशकालोपश्लेषावच्छिद्यमानान्योन्यविलक्षण-प्रमेयद्वारोपारूढः कश्चिद् विशेषः। न पुनः स्वाभाविको धर्म इत्यवधीरिताखिल-विकल्पविक्षोभमक्षुभिताब्धिकल्पमेकस्वभावमात्मतत्त्वं प्रत्यस्य व्यापार एव नोपपद्यत इत्यर्थः। न कोऽप्यर्थयत इति। आत्मनि प्रमाणमिच्छन्नात्मा स्यान्न वा। यद्यनात्मा जगवर्गः, तत्प्रमाणापेक्षैव नोपपद्यते। आत्मैव चेत्, तर्हि स्वस्मिन् स्व-यमेव प्रमाणमपेक्षत इत्यापतेत्। यदाहुः—

अख्यातिर्यदि न ख्यातिः ख्यातिरेवावशिष्यते ।
ख्यातिश्चेत् ख्यातिरूपत्वात् ख्यातिरेवावशिष्यते ।। इति।
प्रमातृतास्पदे तत्र प्रमाणं नोपयुज्यते ।
करणात् कर्तुराधिक्यमन्यैरभ्युपगम्यते ।।
स्वतन्त्रः खलु कर्तेति शाब्दिकैरप्युदीर्यते ।
तच्च स्वातन्त्र्यमन्येभ्यः कारकेभ्यः प्रधानता ।।
यत्प्रभावात् प्रमाणानां प्रमाणत्वव्यवस्थितिः ।
तत्रैव तदपेक्षेति न किं व्यर्थं वचो भवेत् ।।
लौकिकानां प्रमाणानामनाश्वासाद्धि यौक्तिकैः ।
ईश्वरस्य प्रमाणत्वं प्रमातृत्वेऽप्युदाहृतम् ।।
प्रमातरि प्रमाणं किमिति पृच्छन् प्रमातृताम् ।
विजहाति न वा नाद्यः प्रश्नस्यानुपपत्तितः ।।
न द्वितीयश्च कल्पः स्यात् प्रमाणं किमु विस्फुरेत् ।
इति हि प्रश्नतात्पर्यं तत्रात्मन्यैक्यसम्मतौ ।।
मयि त्वयीति भेदोऽयं न कदाचन युज्यते ।
नानात्मत्वे स्वविषयं प्रमाणं प्रति भावना ।।
पृच्छ्यते प्रतिवादीति महन्मौर्ख्यं प्रसज्यते ।
भ्रान्तिश्चेदात्मनि भ्रान्त्या बुद्धे रज्जुभुजङ्गवत् ।।
वाच्यं प्रमाणमित्येतदुन्मत्तवचनायते ।
अथ नास्त्येव मे तत्र प्रतीतिरिति कथ्यते ।।
तत्र प्रमाणं पृच्छ्येत कीदृग् वोत्तरमुच्यताम् ।
अगोचरः प्रमाणानामत आत्मा महेश्वरः ।।

यदुक्तं श्रीप्रत्यभिज्ञायाम्—

प्रमातरि पुराणे तु सर्वदाभातविग्रहे ।
किं प्रमाणं नवाभासः सर्वप्रमितिभागिनि ।। इति।

तथा चोपनिषत्—'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्' इति।

स्वपदा स्वशिरश्छायां यद्वल्लङ्घितुमीहते ।
पादोद्देशे शिरो न स्यात् तथेयं वैन्दवी कला ।। इति।

श्रीतन्त्रालोकेऽपि—

प्रमाणान्यपि वस्तूनां जीवितं यानि तन्वते ।
तेषामपि परो जीवः स एव परमेश्वरः ।। इति।

उक्तमर्थं दृष्टान्तदृष्ट्या प्रतिपादयति—कस्य वेत्यादि। **गाङ्गो हि प्रवाहः शैत्य-प्रसादाद्यनेकगुणोत्कर्षादन्तर्बहिस्तापापहारप्रवीणो भवति। तत्रैव सर्वाङ्गीणाप्लव-पूर्वकमघमर्षणाद्यवस्थासु को नाम नरस्तृषितः स्यात्। न कश्चिदपि तथा स्यादिति यावत्। पिपासेत्यनेन गङ्गास्रोतोनिमग्नस्यापि यदि कस्यचित् सलिलपानेच्छा, कस्तत्र पातुं प्रत्यूह इति प्रत्याययता दार्ष्टान्तिकेऽपि स्थले विश्वव्यवहारनिबन्धनं परमेश्वरं प्रति प्रमाणजिज्ञासायां प्रत्यक्षादीनि सर्वाण्यपि प्रमाणानि सम्भवन्ति, न पुनरेषामत्र काचिदपेक्षेत्युद्भाव्यते। एतेन—**

तन्वादि बुद्धिमत्कर्तुं सन्निवेशविशेषवत् ।
घटवद् यदनेवं तत्रैवं खपरमणुवत् ।।

इत्यादिप्रमाणोपपादनोपक्षीणस्येश्वरसिद्ध्यादेः प्रबन्धस्य प्रवृत्तिवैफल्यशङ्का-कलङ्कोऽप्युट्टङ्कित इत्यवगन्तवयम्।।३।।

सारे लोक-व्यवहार का कारण आत्मा ही है। प्रकाशस्वभाव होने के कारण ही (आत्मा के कारण) समस्त लोक-व्यवहार चल रहा है। चूँकि आत्मा प्रकाश-स्वभाव है; इसीलिये सारे लौकिक व्यवहार चल रहे हैं; अन्यथा उसके विना तो स्तम्भ, घट, पट एवं उपल आदि में भेद कौन कर पाता? ऐसी स्थिति में तो 'तद्व्यतिरेके च तेषां स्तम्भ एव कुम्भः, कुम्भ एव स्तम्भ इति'। फिर उन दोनों में अन्तर क। नियन्तृत्व कौन करता? 'न कस्यचिदपि नियन्तृत्वमिति'। सारांश यह कि निःशेष लोक-व्यवहार का नियामक मात्र आत्मसत्ता है।

१. इहात्मैव हि प्रकाशस्वभावत्वाद् विश्वव्यवहारे निबन्धनम्।

२. तस्मादात्मनो जगद्व्यवहारप्रयोजकत्वमनिच्छताप्यङ्गीकार्यम्।

३. प्रयोज्यप्रयोजकभावश्च पर्यन्ततोऽनयोस्तादात्म्यमेव पर्यवसाययिष्यतीति। आत्म-प्रकाशोऽयं विश्ववर्तिवेद्यवर्गोल्लास इति।

प्रत्यभिज्ञाकार की दृष्टि—ईश्वरप्रत्यभिज्ञा में आचार्य उत्पलदेव कहते हैं—

प्रागिवार्थोऽप्रकाशः स्यात् प्रकाशात्मतया विना।
न च प्रकाशो भिन्नः स्यादात्मार्थस्य प्रकाशता।।

प्रश्न—यदि कोई आत्मा के प्रमाण पर शंका करता है तो शंका करने वाले में आत्मा न होती तो शंका ही कौन उठाता? जड़ पत्थर तो अपनी सत्ता के विषय में कोई शंका नहीं उठा पाते। इसी दिशा में महेश्वरानन्द पूछते हैं—आत्मनि प्रमाणमिच्छन्नात्मा स्यान्न वा। यद्यनात्मा जडवर्गः तत्प्रमाणापेक्षैव नोपपद्यते। आत्मैव चेत्तर्हि स्वस्मिन् स्वयमेव प्रमाणमपेक्षत इत्यापतेत्।

इसी प्रसंग में निम्न तर्क महत्त्वपूर्ण है—

अख्यातिर्यदि न ख्यातिः ख्यातिरेवावशिष्यते।
ख्यातिश्चेत् ख्यातिरूपत्वात् ख्यातिरेवावशिष्यते।।
प्रमातृतास्पदे तत्र प्रमाणं नोपयुज्यते।
करणात् कर्तुराधिक्यमन्यैरभ्युपगम्यते।।
स्वतन्त्रः खलु कर्तेति शाब्दिकैरप्युदीर्यते।
तच्च स्वातन्त्र्यमन्येभ्यः कारकेभ्यः प्रधानता।।
यत्प्रभावात् प्रमाणानां प्रमाणत्वव्यवस्थितिः।
तत्रैव तदपेक्षेति न किं व्यर्थं वचो भवेत्।।
लौकिकानां प्रमाणानामनाश्वासाद्धि यौक्तिकैः।।
ईश्वरस्य प्रमाणत्वं प्रमातृत्वेऽप्युदाहृतम्।।
प्रमातरि प्रमाणं किमिति पृच्छन् प्रमातृताम्।
विजहाति न वा नाद्यः प्रश्नस्यानुपपत्तितः।।
न द्वितीयश्च कल्पः स्यात् प्रमाणं किमु विस्फुरेत्।
इति हि प्रश्नतात्पर्यं तत्रात्मन्यैक्यसम्मतौ।।
मयि त्वयीति भेदोऽयं न कदाचन युज्यते।
नानात्मत्वे स्वविषयं प्रमाणं प्रति भावना।।
पृच्छ्यते प्रतिवादीति महन्मौर्ख्यं प्रसज्यते।
भ्रान्तिश्चेदात्मनि भ्रान्त्या बुद्धे रज्जुभुजङ्गवत्।।
वाच्यं प्रमाणमित्येतदुन्मत्तवचनायते।
अथ नास्त्येव मे तत्र प्रतीतिरिति कथ्यते।।
तत्र प्रमाणं पृच्छ्येत कीदृग् वोत्तरमुच्यताम्।
अगोचरः प्रमाणानामत आत्मा महेश्वरः।।

श्रीप्रत्यभिज्ञाकार की दृष्टि—ईश्वरप्रत्यभिज्ञा में कहा गया है कि—

प्रमातरि पुराणे तु सर्वदाभातविग्रहे।
किं प्रमाणं नवाभासः सर्वप्रमितिभागिनि।।

औपनिषदिक दृष्टि—विज्ञातारमरे केन विजानीयात्।

स्वपदा स्वशिरश्छायां यद्वल्लङ्घितुमीहते।
पादोद्देशे शिरो न स्यात्तथेयं वैन्दवी कला।।

तन्त्रालोककार की दृष्टि—आचार्य अभिनवगुप्त 'तन्त्रालोक' में कहते हैं—

प्रमाणान्यपि वस्तूनां जीवितं यानि तन्वते।
तेषामपि परो जीवः स एष परमेश्वरः।।

औपनिषदिक दृष्टि—आत्मा की विश्वमूलकता प्रतिपादित करते हुये तैत्तिरीयोपनिषद् (वल्ली २, अनु. १) में कहा गया है कि विश्व का मूल तत्त्व आत्मा है और उसी से पञ्चभूतों का आविर्भाव है—तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरऽग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्या ओषधयः। ओषधीभ्योऽन्नम्। अन्नात्पुरुषः। स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः।

आत्मा → → आकाश → → वायु → → अन्न → → जल → → पृथ्वी → → औषधियाँ → → अन्न → → पुरुष → → पुरुष की अन्नरसमयता आदि।

१. आत्मा प्राणमायः (२.२)
२. शारीर आत्मा (२.३)
३. आत्मा मनोमयः (२.३)
४. योग आत्मा (२.४)
५. आत्माऽऽनन्दमयः, आनन्द आत्मा (२.६)
६. सोऽकामयत्। बहु स्यां प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत् यदिदं किं च।

तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्। तदनुप्रविश्य सच्च व्यच्चाभवत्। निरुक्तं चानिरुक्तं। निलयनं चानिलयनं। विज्ञानं चाविज्ञानं। सत्यं चानृतं च सत्यमभवत्। यदिदं किं च। तत्सत्यमित्याचक्षते।

७. यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञास्व। तद् ब्रह्मेति। (भृगु वल्ली—प्रथम अनुवाक)
८. ॐ आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्। नान्यत्किञ्चनमिषत्। स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति। (ऐतरेयोपनिषद्—प्र.अ., प्र.ख.)

शिव की सार्वत्रिक स्फुरता

ननु स्तम्भकुम्भादिवदात्मनः प्रकाशो न कदाचिदपि स्फुटतयोपलभ्यते। अस्फुटे चार्थे प्रमाणव्यापारेणैवावतरितव्यमित्याशङ्क्याह—

जं जाणंति जळा अपि जळहारीओ पि जं विजाणंति।
जस्स च्चिअ जोक्कारो सो कस्स फुडो ण होइ कुळणाहो ।।४।।

(यं जानन्ति जडा अपि जलहार्योऽपि यं विजानन्ति।
यस्यैव नमस्कारः स कस्य स्फुटो न भवति कुलनाथः।।)

जिसे (वैश्वात्म्य के कारण सर्वज्ञात कुलनाथ को) आभीरादिक जड़ीभूत चेतना वाले (जड़) लोग एवं जल भरने वाली अति सामान्य दासियाँ भी जानती हैं और जिस (प्रकाशात्मा शिव) के लिये ही सारे अभिवादन समर्पित किये जाते हैं वह 'कुल' (शरीर-इन्द्रिय-लोकादिक से युक्त विश्व) का स्वामी किसके समक्ष प्रकाशित (व्यक्त) होकर विद्यमान नहीं होता।।४।।

यं वैश्वात्म्येन प्रसिद्धिमन्तं प्रकाशात्मनो वीरेश्वरा इवानुद्रिक्तप्रकाशा जडा आभीरादयोऽपि जानन्ति, यं च विमर्शमय्यो वीरेश्वर्य इव वैदग्ध्याभासशालिन्यो घटदासीप्रभृतयोऽप्यवबुध्यन्ते। सर्वेषामपि स्थूलोऽहं सम्पन्नोऽहमित्यादेः स्वात्मस्फुरणस्य स्फुटमेवोपलभ्यमानत्वात्। यच्छ्रुतिः—

उतैनं गोपा अदृशन् अदृशन्नुदहार्यः इति ।

विमर्शप्राधान्याज्जलहारीज्ञानं प्रति वैशिष्ट्यमुक्तम्। ज्ञानशक्त्येव प्रमातॄणां क्रियाशक्त्याऽप्ययं क्रोडीक्रियत इत्याह—यस्यैव नमस्कार इति। **जडजलहार्यादिर्हि सर्वोऽपि जीववर्गस्तत्तत्फलकाङ्क्षया तत्र तत्र नमस्कुर्वाणो लक्ष्यते। स सर्वोऽपि नमस्कारो यत्सम्बन्धेनैव भवति, यथा श्रुतिः—'यस्मै नमस्तच्छिरः' इति। सर्वस्यापि स्वात्मैव देवतेत्यग्रे भविष्यति। यतः—**

त्वमेवात्मेश! सर्वस्य सर्वश्चात्मनि रागवान् ।

इति श्रीमत्स्तोत्रावल्यामुक्तम्। अथ च जडाः स्तम्भकुम्भादयो भावाः, जलहार्यः शब्दस्पर्शाद्यादानक्षमा इन्द्रियशक्तयः, तेऽपि यज्जानन्तीति परमेश्वरस्य प्राकट्योत्कर्ष उपपाद्यते। यतः स्तम्भकुम्भादयोऽपि तत्तत्प्रमातृविषयीकारद्वारा ज्ञानक्रियाश्रयतया निश्चीयन्ते। यदुक्तम्—'द्रष्टैव हि ततो जगत्' इति। कर्तैवेत्यस्याप्युपलक्षणमेतत्। यत् प्रयुक्तं शम्भ्वैक्यदीपिकायाम्—'विश्वमिदं मन्मयम्, मत्कार्यत्वात्। यदित्थं तत् तथा। यथा शरीरम्। इदं च मम कार्यं तस्मान्मन्मयम्' इति। तद्वच्चक्षुरादीन्द्रियाण्यपि प्रमातृपरिबर्हतयैव तथा तथा भवन्तीति। उक्तरूपश्च स परमेश्वरः कुलस्य देहाक्षभुवनादेर्विश्वविलासस्य तादात्म्यपर्यवसायितया स्मृत्यादिनिर्वाहको भवन् कस्य पदार्थस्य स्फुटो न भवति। कस्येति यदि कश्चिदुच्येत स एव स्वभावतो न स्यादित्यर्थः। अयं भावः—विषयेन्द्रियादेर्वेद्यवैचित्र्यस्य गोपालजलहार्यादेः प्रमातृवर्गस्य च—

समलो विमलो वापि व्यवहारोऽनुभूयते ।

इति श्रीप्रत्यभिज्ञाप्रक्रियया ग्रामं गच्छति, सन्ध्यामुपास्ते इत्यादिलौकिक-

शास्त्रीयव्यवहारस्वभावं ज्ञानक्रियायुगलमेव साक्षात् पारम्पर्येण वाऽनुप्राणनमवलोक्यते। यथा श्रीप्रत्यभिज्ञायाम्—

तथाहि जडभूतानां प्रतिष्ठा जीवदाश्रया।
ज्ञानं क्रिया च भूतानां जीवतां जीवनं मतम्।। इति।

ते च ज्ञानक्रिये ममेत्यहमिति वाऽहम्भावव्यतिरेके कुत्रापि नोपपद्येते इति सर्वाहम्भावस्वभावं परमेश्वरं प्रत्यस्फुटत्वशङ्काया न कश्चिदवकाश इति।।४।।

यं = जिसे, प्रकाशात्मा परमशिव को। जडा = आभीर आदि जड़ीभूत चेतना वाले लोग। जलहार्यो = जल भरने वाली दासियाँ। स्फुट = व्यक्त। प्रकाशित। अभिव्यक्त। कुलनाथ = विश्वरूप कुल का स्वामी शिव। यस्यैव नमस्कार: = 'यस्मै नमस्तच्छिर:' (श्रुति)।

सभी प्राणियों में निवास करने वाली आत्मा ही देवता है—सर्वस्थापि स्वात्मैव देवता (परिमल)। अत: 'त्वमेवात्मेश सर्वस्य सर्वश्चात्मनि रागवान्'।

आचार्य महेश्वरानन्द की दृष्टि—आचार्य महेश्वरानन्द कहते है कि 'जड़' (स्तम्भ-कुम्भ) आदि एवं 'जलहार्य:' (शब्द-स्पर्श-आदान आदि में समर्थ इन्द्रियाँ) भी जिसे जानती हैं, उस सर्वज्ञात शिव का सर्वज्ञातृत्व असामान्य है; अत: इससे 'परमेश्वरस्य प्राकट्योत्कर्ष उपपाद्यते'।[1] यही तो शिव की अनुत्तर महिमा है। 'द्रष्टैव हि ततो जगत्'। स्तम्भ, कुम्भ आदि भी उन-उन प्रमाताओं के विषय बनने एवं ज्ञान-क्रिया के आश्रित होने के फलस्वरूप ही तो पहचाने एवं निश्चित किये जाते हैं कि ये कौन हैं?

शाम्भवैक्यदीपिकाकार की दृष्टि—'शाम्भवैक्यदीपिका' में कहा गया है कि यह समस्त विश्व 'मन्मय' है; क्योंकि यह मेरा कार्य है। यह जो जैसा है, वह वैसा (परमेश्वरवत्) है; जैसे कि शरीर। चूँकि यह मेरा कार्य है; अत: यह मन्मय है—विश्वमिदं मन्मयम्, मत्कार्यत्वात्। यदित्थं तत् तथा। यथा शरीरम्। इदं च मम कार्यं तस्मान्मन्मयम्।

अहंभाव के व्यतिरिक्त किसी की भी सत्ता नहीं है। परमेश्वर कैसा है? 'सर्वाहम्भावस्वभावं परमेश्वरं' परमात्मा सारे अहंभावों की समष्टि है।[2]

'ज्ञान' और 'क्रिया' जो शिव की शक्तियाँ हैं, उनके विना तो किसी भी प्रकार का ज्ञान एवं किसी भी प्रकार की क्रिया सम्भव ही नहीं है; अत: जगत् के सारे ज्ञानों एवं क्रियाओं के मूल में भी शिव ही है; इसीलिये प्रत्यभिज्ञाकार उत्पलदेव कहते हैं—

तथाहि जडभूतानां प्रतिष्ठा जीवदाश्रया।
ज्ञानं क्रिया च भूतानां जीवतां जीवनं मतम्।।[3]

१-३. परिमल

शिवतत्त्व (या आत्मसत्ता) **की अनिर्वचनीयता**

एवं सामान्यतः प्रमाणानामनुपयोगमात्मन्युपपाद्य विशेषतोऽप्युपपादयन्नागमे कञ्चिदनुग्रहं दर्शयति—

ओच्छिण्णं पच्चक्खं ओच्छिण्णं तम्मुहं च अणुमाणं।
आअमदीवालोओ तस्स पयासेइ किं पि माहाप्पं॥५॥

(अवच्छिन्नं प्रत्यक्षमवच्छिन्नं तन्मुखं चानुमानम्।
आगमदीपालोकस्तस्य प्रकाशयति किमपि माहात्म्यम्॥)

प्रत्यक्ष प्रमाण तो (अपनी सङ्कुचित शक्ति एवं अपने सीमित विस्तार के कारण) अवच्छिन्न है और तन्मुखापेक्षी अनुमान प्रमाण भी अवच्छिन्न है। आगमशास्त्ररूपी दीप-प्रभा ही थोड़ा-बहुत उसकी (अनवच्छिन्न परम तत्त्व की) महिमा पर प्रकाश डाल पाती है॥५॥

ग्राह्यार्थसन्निकर्ष एव प्रत्यक्षस्य प्रामाण्यमित्यत्यन्तमेतत् सङ्कुचितम्। अनुमानं च व्याप्त्युपलम्भसापेक्षत्वाद् व्याप्त्युपलम्भस्य च प्रत्यक्षमूलत्वादवच्छिन्नमेव। अर्थापत्त्यादेरत्रान्तर्भावो वैशेषिकादिभिरभ्युपगतः। अनन्तर्भावे वा तस्य संकोचः कल्पकाद्युपलम्भविकल्पात् स्वयमुपकल्पनीयः। एवं चावच्छिन्नानां प्रमाणानामनवच्छिन्ने स्वात्मनि प्रवृत्तिरिति महतीमनौचित्यकक्ष्यामवतरतीति प्रागप्युक्तम्। आगमस्तु यद्याप्तमात्रवाक्यत्वात् प्रामाण्यमर्हति, तर्हि तस्याप्तिः कीदृगिति चिन्तायामन्यस्मादाप्तात्, तस्याप्यन्यस्मादिति मूलक्षयकारिण्यनवस्थेत्यप्रामाण्यमेव। माणिक्यादिपरीक्षावत् त्रिचतुरकक्ष्याविश्रान्तौ तु सैव सङ्कोचाय कल्पते। यदि पुनः 'आगमस्त्वनवच्छिन्नप्रकाशात्मकमाहेश्वरविमर्शपरमार्थः' इत्याचार्याभिनवगुप्तोक्तस्थित्या परप्रमातृविमर्शशक्तिमयतयायमङ्गीक्रियते, तदानीमसौ तस्य स्वात्मनः स्वभावभूते प्रकाशे प्रदीपोल्लेख इव तमःस्थगिते स्तम्भकुम्भादावभिव्यञ्जकतया कञ्चिच्चमत्कारमुपजनयति। तत्रापि यथा दीपालोकेन ध्वान्तगर्भवर्तिनां स्तम्भादीनामारोहपरिणाहादिस्वभाव उन्मील्यते, तद्वदस्यापि स्वात्मनो यन्माहात्म्यमनवच्छिन्नस्वभावत्वं स्वव्यतिरिक्ताशेषभुवनाक्षाद्यनुप्राणनक्षमत्वं विश्वतदुत्तीर्णत्वलक्षणस्वलक्षणद्वितयसामरस्यसम्पत्पात्रत्वम्, तत् किमप्यलौकिकं तत्त्वमागमेनोन्मुद्र्यते। यदुक्तमाचार्याभिनवगुप्तपादैः—

यं प्राप्य सर्वागमसिन्धुसङ्घपूर्णत्वमभ्येति कृतार्थतां च।
तं नौम्यहं शाम्भवतत्त्वचिन्तारत्नौघसारं परमागमाब्धिम्॥ इति।

अथ यदि शाखाशिखायां शशाङ्कमण्डलमित्यादिवदुपचारादत्र प्रमाण-

व्यवहारकौतूहलम्, तदा स्वस्विन्नात्मनि प्रत्यक्षं परत्रानुमानं सर्वत्रागम इत्यलं तन्त्रान्तरपान्थघण्टापथप्रस्थानेन।।५।।

प्रत्यक्ष = प्रति + अक्ष। जो अक्षों (इन्द्रियों) के प्रति उन्मुख या आविर्भूत हो— 'ग्राह्यार्थसन्निकर्ष एव प्रत्यक्षः।'[१] 'प्रत्यक्ष' तो अत्यन्त सङ्कुचित है; क्योंकि सारे पदार्थ इन्द्रियग्राह्य नहीं हैं। अनुमान = अनुमीयते अनेन इति अनुमानम्। अनुमान तो प्रत्यक्ष पर अवलम्बित है; क्योंकि जो प्रत्यक्षीकृत नहीं होगा, उसका अनुमान क्यालगाया जा सकेगा? 'व्याप्त्युपलम्भसापेक्षत्वाद् व्याप्त्युपलम्भस्य च प्रत्यक्ष मूलत्वादवच्छिन्नमेव'।[२]

सारांश यह कि प्रत्यक्ष प्रमाण एवं अनुमान प्रमाण दोनों अवच्छिन्न हैं। अर्थापत्ति आदि प्रमाण प्रत्यक्ष-अनुमान पर आश्रित हैं। इन सबकी अप्रामाणिकता स्वयमेव उपकल्पनीय है। अवच्छिन्न के फीते से अनवच्छिन्न को नापना कहाँ तक समीचीन है? 'एवं चावच्छिन्नानां प्रमाणानामनवच्छिन्ने स्वात्मनि प्रवृत्तिरिति महतीमनौचित्यकक्ष्यामवतरतीति'।[३]

जहाँ तक आगम (आर्ष) प्रमाण की बात है, उस सम्बन्ध में तो यह कहा ही गया है कि स्वयं आगम उस आत्मतत्त्व को 'नेति नेति' कहता है। आप्त वाक्य भी उसके स्वरूपोद्घाटन में पंगु हैं। आप्त वाक्यों को प्रमाण मानने पर अनवस्थादोष से मुक्ति कैसे मिलेगी?[४] यदि वे आप्त वाक्य यह सूचना देते हैं कि 'द' ने यह कहा तो 'द' से किसने कहा? यदि 'द' से 'स' ने कहा तो 'स' से किसने कहा? यदि 'स' से 'ब' ने कहा तो 'ब' से किसने कहा? यदि 'ब' से 'अ' ने कहा तो 'अ' से किसने कहा? किसका कथन प्रामाणिक है? आप्त वाक्यों की प्रामाणिकता भी सिद्ध नहीं है; क्योंकि इसमें तो अनन्त 'किसने' 'क्यों' 'क्या' की परम्परा जुड़ी मिलेगी। अतः आत्मा को प्रमाणित करने वाले सारे प्रमाण पङ्गु हैं।[५]

क्या 'माणिक्य' के अस्तित्व के लिये किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता पड़ती है? क्या अपने अस्तित्व 'अहमस्मि' की पुष्टि के लिये अन्य प्रमाणों की अपेक्षा होती है? आत्मा यही 'अहं' है। इसी 'अहं' का रूपान्तर 'इदम्' है; अतः 'अहं' और 'इदम्' दोनों के अस्तित्व का प्रमाण स्वयं आत्मा है; क्योंकि 'आत्मा खलु विश्वमूलं'। अतः 'तत्र प्रमाणं न कोऽप्यर्थयते। कस्य वा भवति पिपासा गङ्गास्रोतसि निमग्नस्य'।[६]

अभिनवगुप्त कहते हैं—आगमस्त्वनवच्छिन्नप्रकाशात्मकमाहेश्वरविमर्शपरमार्थः। परप्रमातृ विमर्श शक्ति के द्वारा अङ्गीकार्य है। आत्मा अपने स्वभावभूत प्रकाशमयता के कारण प्रज्वलित प्रदीप की भाँति स्वयंप्रकाशित एवं स्वतःप्रमाण है। जो विश्वोत्तीर्ण है, उसे विश्व के पैमाने से कैसे नापा जा सकता है?

अभिनवगुप्त की दृष्टि—आचार्य अभिनवगुप्त कहते हैं—

१-५. महेश्वरानन्द : परिमल ६. महार्थमञ्जरी

यं प्राप्य सर्वागमसिन्धुसङ्घपूर्णत्वमभ्येति कृतार्थतां च।
तं नौम्यहं शाम्भवतत्त्वचिन्तारत्नौघसारं परमागमाब्धिम्।।

सारे आगम भी उसी की पूर्णता से पूर्ण हैं तो पूर्णतम को 'अपूर्ण' की आँखों से कैसे देखा जा सकता है और उसे कैसे पूर्णतया पहचाना जा सकता है?

अनात्मोपासना की दिशा में साफल्याप्ति के प्रति शंकास्पदता

ननु प्रमाणपथातिवृत्तं चेदिदमात्मतत्त्वम्, तत् सर्वोऽपि जनस्तद्विमर्शं प्रत्यधिकारी न कश्चिद् वा स्यादप्रमितत्वाविशेषादित्याशङ्क्य नात्र कश्चिदधिकारिविभागक्लेश इत्याह—

जाणं णिरूवणिज्जो वइरिक्को को पि अप्पणो भावो।
अप्पविमुहाण ताणं अहिआरिविहाअविब्भमो होउ ।।६।।

(येषां निरूपणीयो व्यतिरिक्तः कोऽप्यात्मनो भावः।
आत्मविमुखानां तेषामधिकारिविभागविभ्रमो भवतु।।)

जिन लोगों का आत्मातिरिक्त अन्य पदार्थ विभावनीय (अनुगमनीय/उपास्य) है, उन आत्मसाधना-विमुखों (अनात्मोपासकों) का साफल्याधिकार (उपलब्धियों का अधिकार) सदैव शंकास्पद ही रहता है।।६।।

इह येषां पुंसां स्वात्मरूपात् परमेश्वराद् व्यतिरिक्तो भवन् कश्चिज्ज्योतिष्टोमादिः पदार्थो निरूपणीयो विभावनीयो भवति, तेषामन्यपदार्थौन्मुख्याविनाभूतादात्मवैमुख्यादेव हेतोरयमत्राधिकारी न त्वयमिति यो विभ्रमो विशिष्टो भ्रमो विलासरूपत्वादप्रामाणिको व्यवहारो वा स भवतु। तत्सद्भावे वयं न प्रतिबन्धारः। अतिसर्गे लोट्। ततश्च तेषामुपालम्भनीयता च द्योत्यते। यदुक्तमाचार्याभिनवगुप्तपादैः—

आत्मानमनभिज्ञाय विवेक्तुं योऽन्यदिच्छति।
तेन भौतेन किं वाच्यं प्रश्नेऽस्मिन् को भवानिति।।

कोऽपीति। **अस्मन्मर्यादायां भावान्तरस्यात्मव्यतिरेकस्फुरणमात्रे सत्यपि पर्यन्ततस्तन्मयताया एवावधारणादात्मनो व्यक्तिरिक्तः कोऽपि भाव इत्ययुक्तैव वाचोयुक्तिः। यदुक्तं संवित्प्रकाशे—**

यदिदं दृश्यते किञ्चिद् दर्शनात् तन्न भिद्यते।
दर्शनं द्रष्टृतो नान्यद् द्रष्टैव हि ततो जगत्।। इति।

आगमेऽपि—

यावन्न वेदका एते तावद्वेद्याः कथं प्रिये। इति।

अथाप्युपरि कथ्यत इत्यर्थः। येषां पुनः स्वात्मन एव भावः स्वातन्त्र्यस्वभावः कश्चिदतिशयितो धर्मो विमृष्टव्यतयाऽवतिष्ठते, तेषामात्मौन्मुख्यशालिनां न कदाचिदप्ययमधिकारिविभागव्याक्षेपः। एतदुक्तं भवति—ज्योतिष्टोमादयो हि विभावनीया अर्था विभावयितॄन् प्रमातॄन् प्रति पृथग्भावेन प्रसिद्धाः। अतस्तेषां स्वर्गकामत्वादिरधिकारिविभागः कश्चित् सङ्गच्छेत। येषां पुनरात्मस्वरूपमेव निरूपणीयम्, तेषां नैरात्म्यशङ्कायामस्त्वनधिकारित्वम्। तदभावाच्च कथमधिकारितारतम्यमिति। एतेनेहामुत्रार्थभोगविरागाद्यपि नाधिकारिवैशिष्ट्यायेति व्याख्यातम्, यत इहामुत्रार्थभोगोद्रेक एव मोक्षः पुरुषार्थात्मनः स्वात्मविमर्शस्य प्रयोजनतया प्रतिपादयिष्यते। तर्हि मुमुक्षुत्वमस्त्वधिकार इति चेत्? न,

वस्तुस्थित्यां न बन्धोऽस्ति तदभावान्न मुक्तता।
विकल्पघटितावेतावुभावपि न किञ्चन।।

इति न्यायाद् बन्ध एव नास्ति। कुतो मोक्षः कुतस्तरां तदिच्छा। अस्तित्वे वा सैव क्रियाशक्तिपर्यन्तमुज्जृभत इति विमर्शस्य तदिच्छायाश्च पर्यन्ततो भेदाभावात् प्राप्य एवार्थोऽधिकार इत्युक्तं भवतीति।।६।।

निरूपणीय = विभावनीय, अनुगमनीय, उपास्य। व्यतिरिक्त = पृथक् कोई अन्य। अन्य कोई अर्थात् ज्योतिष्टोम यज्ञादिक। विभ्रमो भवतु = आत्मातिरिक्त अन्य पदार्थों के प्रति औन्मुख्य होने पर अर्थात् आत्मवैमुख्य होने से—यह उपासक उस उपासना या साधना में या उस साधना से सम्भूत उपलब्धियों को प्राप्त करने के सौभाग्यरूप अधिकार को प्राप्त भी कर सकेगा या नहीं?—यह शङ्का सदैव बनी रहती है।[१]

महेश्वरानन्द कहते हैं कि जिन लोगों के लिये स्वात्मरूप परमेश्वर से अतिरिक्त ज्योतिष्टोमादि अन्य पदार्थ विभावनीय होता है, उनका अन्य पदार्थों के प्रति औन्मुख्य होने के कारण (आत्मवैमुख्य के परिणामस्वरूप) साधना में साफल्य (या साधना में विशिष्ट उपलब्धियों को प्राप्त होने) का अधिकार मिलना निश्चित नहीं रहा करता; प्रत्युत यह अधिकार-प्राप्ति शंक़ास्पद रहा करती है।[२]

अभिनवगुप्तपादाचार्य की दृष्टि—इसी प्रसंग में आचार्य अभिनवगुप्त (उक्त तथ्य की पुष्टि करते हुये) कहते हैं—

आत्मानमनभिज्ञाय विवेक्तुं योऽन्यदिच्छति।
तेन भौतेन किं वाच्यं प्रश्नेऽस्मिन् को भवानिति।।

१-२. परिमल

संवित्प्रकाशकार की दृष्टि—संवित् प्रकाश में कहा गया है—

यदिदं दृश्यते किञ्चिद् दर्शनात् तन्न भिद्यते।
दर्शनं द्रष्टृतो नान्यद् द्रष्टैव हि ततो जगत्।।

भाव यह है कि जो कुछ भी देखा जाता है अर्थात् जो दृश्य है, वह 'दर्शन' से भिन्न नहीं है। यह 'दर्शन' द्रष्टा से भिन्न नहीं है। 'द्रष्टा' है; इसीलिये जगत् भी है; क्योंकि जगत् तो दृश्य है। यदि द्रष्टा ही नहीं रहेगा तो दृश्य कहाँ से रहेगा?

आगमोक्त मत—आगमों में भी इसी दृष्टि को उपन्यस्त करते हुये कहा गया है कि—यावन्न वेदका एते तावद्वेद्याः कथं प्रिये?

अर्थात् यदि वेदक ही न हो तो वेद्य कैसे रह सकता है? अर्थात् वेद्य वेदक पर एवं दृश्य द्रष्टा पर निर्भर है।

प्रश्न—क्या पदार्थ की सत्ता वेदक या द्रष्टा पर निर्भर है? यदि हाँ तो अन्धा तो घट-पट नहीं देखता तो क्या घट-पट की सत्ता नहीं है?

उत्तर—है तो, किन्तु 'घटत्व' एवं 'पटत्व' के प्रति उसकी जो संवेदनशीलता, उसके प्रति राग-द्वेष, आसक्ति-अनासक्ति, आकर्षण-विकर्षण उत्पन्न हुआ करता है, वह नहीं रहेगा। यदि किसी नारी के प्रति आकर्षण-विकर्षण नहीं है तो द्रष्टा के लिये नारी के होने या न होने में कोई अन्तर रहेगा ही नहीं। इसी दृष्टि से कहा जाता है कि 'दृश्य' द्रष्टा पर, 'वेद्य' वेदक पर एवं 'ग्राह्य' ग्राहक पर निर्भर है।

जिनमें अनात्मातिरिक्त स्वात्मभाव विद्यमान है—जिनमें स्वातन्त्र्य स्वभाव है और वह तत्त्व उनका सतत रूप से विम्रष्टव्य पदार्थ है—उन आत्मौन्मुख्यनिरत (आत्मोन्मुख) साधकों को साधना के प्रत्येक क्षेत्र में अधिकार प्राप्त है—चाहे वह अधिकार साधना में प्रवेश का हो या उसमें साफल्याप्ति का—'येषां पुनः स्वात्मन एव भावः स्वातन्त्र्य-स्वभावः कश्चिदतिशयितो धर्मो विम्रष्टव्यतयाऽवतिष्ठते, तेषामात्मौन्मुख्यशालिनां न कदाचिदप्ययमधिकारिविभागव्याक्षेपः'।

महेश्वरानन्द की दृष्टि—महेश्वरानन्द कहते हैं कि जो साधक ज्योतिष्टोम यज्ञ आदि बाह्योपासनाओं में निरत हैं, उनकी दृष्टि में यज्ञोपासना एवं यज्ञोपासक पृथक्-पृथक् तत्त्व हैं। वे पृथग्भूत तत्त्व हैं; अतः ऐसी द्वैतदृष्टि से अनुष्ठित उपासना स्वर्ग आदि तो दे सकती है; किन्तु मुक्ति नहीं अर्थात् आत्मसाक्षात्काररूप परमा उपलब्धि उन्हें प्राप्य नहीं है। यहाँ तो भोग-योगसाहचर्य भी है; किन्तु वहाँ वह भी नहीं है। यहाँ मोक्ष की दृष्टि भी विलक्षण है; क्योंकि 'यत इहामुत्रार्थभोगोद्रेक एव मोक्षः। भोगश्च मोक्षश्च करस्थ एव'।[१]

---

१. परिमल

क्योंकि आत्मविमर्श में निरत उपासकों के लिये भोग-मोक्ष एवं बन्धन-मुक्ति में भेद भी नहीं है; क्योंकि—

वस्तुस्थित्यां न बन्धोऽस्ति तदभावान्न मुक्तता।
विकल्पघटितावेतावुभावपि न किञ्चन।।

आचार्य गौड़पाद की दृष्टि—आचार्य गौड़पाद 'वैतथ्यप्रकरण' में कहते हैं—

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता।।

क्योंकि—

मनोदृश्यमिदं द्वैतं यत्किञ्चित्सचराचरम्।
मनसो ह्यमनीभावे द्वैतं नैवोपलभ्यते।।
प्रपञ्चो यदि विद्येत निवर्तेत न संशयः।
मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः।।[१]

विज्ञानभैरवकार की दृष्टि—विज्ञानभैरव में कहा गया है—

न मे बन्धो न मोक्षो मे भीतस्यैता बिभीषिकाः।
प्रतिबिम्बमिदं बुद्धेर्जलेष्विव विवस्वतः।।

कल्हण की दृष्टि—घास-फूस से बनाया हुआ मुझौसा आदमी पक्षियों को तो ड़रा सकता है; किन्तु मतवाले वनकुञ्जरों का क्या बिगाड़ सकता है—

शालीन् पलालपुरुषोऽवति यः कृशानुः दग्धाननश्चटकपेटकभीतिदानैः।
त्रातुं स एव विहितो विपिने विदध्यात्किंतत्र भञ्जनकृतां वनकुञ्जराणाम्।।

संसार से मोहित, बन्धन-ग्रस्त एवं विषयासक्त लोगों को बन्धन एवं मुक्ति प्रभावित कर सकती है; किन्तु वह जीवन्मुक्तों पर भला क्या प्रभाव डाल सकती है?

इसी दृष्टि से महेश्वरानन्द कहते हैं—इति न्यायाद् बन्ध एव नास्ति। कुतो मोक्षः? कुतस्तरां तदिच्छा?[२]

विधि-निषेध के नियम या सिद्धान्त

ननु प्रमाणाधिकारिविभागाद्यनुपयोगे विधिनिषेधयोरेव वैयर्थ्यं स्यात्, विपर्यये बाधाभावादित्याशङ्क्य तयोः स्वरूपमुन्मीलयति—

जत्थ रुई तत्थ विही जत्थ इमा ण त्थि तत्थ अ णिसेहो।
इअ अह्माण विवेओ हिअअपरिप्पंदमत्तसत्थाणं ।।७।।

१. माण्डूक्यकारिका २. परिमल

(यत्र रुचिस्तत्र विधिर्यत्रेयं नास्ति तत्र च निषेधः।
इत्यस्माकं विवेको हृदयपरिस्पन्दमात्रशास्त्राणाम्।।)

जहाँ (आत्मा और परमात्मा के चिन्तन में) रुचि है, वहाँ विधि (शास्त्रादेशात्मक स्वीकृति) है और जहाँ (आत्मविषयक चिन्तन में रुचि) नहीं है, वहाँ निषेध है। यही हमारा (विधि-निषेध का निष्कर्ष एवं तात्पर्यरूप तथा पारमेश्वर-विमर्शात्मक पूर्णाहंभाव रूप) विवेक (परम ज्ञान) है, जो कि हमारे (आगमरूप) शास्त्रों का हृदय-परिस्पन्द (हृदय में प्रवाहित परमर्शात्मा-चमत्कार रूप स्पन्द) है या हृदयपरिस्पन्दस्वरूप हमारे शास्त्रों (आगमों) का यही विवेक (परमज्ञान) है।।७।।

यदेतदस्तीति ज्ञानलक्षणो विधिर्नास्तीति ज्ञानस्वभावो निषेधश्च चोदनार्थः। तत्र सन्ध्योपास्त्यादौ विधिः, कलञ्जभक्षणादौ निषेधश्चेत्युच्यते। तत्रेदमालोचनीयम्—अनुष्ठातॄणां प्रवृत्तिनिवृत्तिप्रयोजनतया हि विधिनिषेधयोर्व्यापारः, 'अज्ञातज्ञापकत्वे सत्यप्रवृत्तप्रवर्तको विधिः' इत्युक्तत्वात्। तत्र किं तज्ज्ञानमात्रेण ते प्रवर्तन्ते निवर्तन्ते च, उत स्वेच्छानुगुण्यात्। यदि ज्ञानमात्रेण, सन्ध्यानुपासकः कलञ्जभक्षको वा न कश्चिदालोक्येत। यदि तु स्वेच्छानुगुण्यात्, तदनुष्ठातॄणां रुचिमेव विधिनिषेधावनुवर्तेते इत्यर्थो भवति। ततश्च तेषां सन्ध्योपासनादावर्थे यत्र रुचिस्तत्र विधिः, यत्र वा कलञ्जभक्षणादौ न रुचिस्तत्र च निषेध इत्यनया भङ्ग्या सन्ध्योपासनादावेवारुचिश्चेत् तत्र च निषेधः, कलञ्जभक्षणादावेव चेद् रुचिस्तत्र च विधिरित्यर्थतत्त्वनिश्चयः स्यात्। इत्युक्तक्रमेणास्माकं पारमेश्वरविमर्शपर्यायपूर्णोऽहम्भावभूषितानां विवेको विधिनिषेधयोस्तात्पर्यतो निष्कर्षः। एतादृशे च तत्त्वनिश्चये तदेव नः शास्त्रम्, यत् सर्वसंवित्संघट्टनात्मना स्वहृदयस्य परितः पृथिव्यादितत्त्वपरम्पराक्रोडीकारप्रावीण्येन स्पन्दः परामर्शात्मा चमत्कारः। पारमेश्वरः परामर्श एव ह्यागम इति प्रागप्यवोचाम। तदनुष्ठातॄणामिच्छाशक्तिरेव प्रवृत्तिनिवृत्त्यौन्मुख्याद् विधिर्निषेध इति व्यपदेशभेदमनुभवतीति यावत्। यदुक्तं संवित्प्रकाशे—

**त्यागः शक्यक्रियो यस्य स हेय इति निश्चितः।
त्यक्तुं न शक्यते यच्च तदुपादेयमित्यपि।। इति।**

मया चोक्तं संविदुल्लासे—

**प्रामाणिकी विधिनिषेधकथा यदि स्यात्
पर्यन्ततः परम एव शिवः प्रमाणम्।
सर्वोत्तरः स खलु तत्र विधिं निषिद्धे
कर्तुं क्षमेत विहिते च विभुर्निषेधम्।। इति।**

एतेन श्रुतिस्मृत्यादेरप्यस्मत्तन्त्रस्य प्रामाण्योत्कर्षो व्याख्यातः। यथोक्तं श्रीभगवद्गीतासु—

एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते । इति।
त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन । इति च।

यथा श्रीविज्ञानभैरवे—

किञ्चिज्ज्ञैर्या स्मृताऽशुद्धिः सा शुद्धिः शम्भुदर्शने ।
न शुचिर्ह्यशुचिस्तस्मान्निर्विकल्पो भवेन्नरः ।। इति।

यथा च श्रीकालिकामते—

पतन्ति जन्तवो येन कर्मणा नरके ध्रुवम्।
उत्पतन्ति च तेनैव त्रिकालज्ञा भवन्ति च।।

एतदाशयेनैव हि श्रीविज्ञानेन्दुकौमुद्याम्—

मनो यत्रैव विश्रान्त्या पूर्णभावमुपाश्नुते।
अतः परं हि किं नाम शुभक्षेत्रं भविष्यति।।

इति पुण्यक्षेत्रादिलक्षणमुन्मीलितम्। एतेन—

अप्रबुद्धमतीनां हि एता बालबिभीषिकाः।
मातृमोदकवत् सर्वं प्रवृत्त्यर्थमुदाहृतम्।।

इति श्रीविज्ञानभैरवांशो व्याख्यातः।।७।।

विधि किसे कहते हैं? 'अज्ञातज्ञापकत्वे सत्यप्रवृत्तप्रवर्तको विधिः'। विवेक क्या है? पारमेश्वर-विमर्श का पर्याय पूर्णोऽहम्भावना-विभूषित ज्ञान ही विवेक है—'पारमेश्वर-विमर्शपर्यायपूर्णोऽहंभावभूषितानां विवेको:'। सन्ध्योपासना आदि व्यापारों में रुचि ही विधि हैं और कलञ्ज (विषाक्त बाणों से मृत पशुओं का मांस, तम्बाकू का पौधा) भक्षण में रुचि नहीं है; अतः वहाँ निषेध है। संविदुल्लास में कहा गया है कि—

प्रामाणिकी विधिनिषेधकथा यदि स्यात्
पर्यन्ततः परम एव शिवः प्रमाणम्।
सर्वोत्तरः स खलु तत्र विधिं निषिद्धे
कर्तुं क्षमेत विहिते च विभुर्निषेधम्।।

विज्ञानभैरव में कहा गया है—

किञ्चिज्ज्ञैर्या स्मृताऽशुद्धिः सा शुद्धिः शम्भुदर्शने।
न शुचिर्ह्यशुचिस्तस्मान्निर्विकल्पो भवेन्नरः।।

विधिनिषेध की व्यवस्था के अनुकूल ही व्यक्ति की लोकयात्रा निष्पन्न होती है। उसे ही 'संसार' कहते हैं। उसका उल्लंघन ही पुरुषार्थ है—'सैव च संसार इत्युच्यते। तदुल्लङ्घनं च पुरुषार्थ:'। शास्त्रों में कहा गया है कि—

अप्रबुद्धमतीनां हि एता बालविभीषिका:।
मातृमोदकवत् सर्वं प्रवृत्त्यर्थमुदाहृतम्।।

विज्ञानेन्दुकौमुदी में कहा गया है—

मनो यत्रैव विश्रान्त्या पूर्णभावमुपाश्नुते।
अत: परं हि किं नाम शुभक्षेत्रं भविष्यति।।

विधि-निषेध—तत्र सन्ध्योपास्त्यादौ विधि:, कलञ्जभक्षणादौ निषेधश्चेत्युच्यते।

प्रवृत्ति-निवृत्ति के प्रयोजन से ही विधि-निषेध का अनुगमन होता है। व्यापारों एवं वस्तुओं के शुभाशुभ परिणामों के ज्ञान से ही विधि-निषेध एवं प्रवृत्ति-निवृत्ति के व्यापार निष्पन्न हुआ करते हैं। इनमें विधि-निषेध के कारण ही ग्रहण एवं त्याग हुआ करता है।

संवित्प्रकाशकार की दृष्टि—

त्याग: शक्यक्रियो यस्य स हेय इति निश्चित:।
व्यक्तुं न शक्यते यच्च तदुपादेयमित्यपि।।

कालिकागम की दृष्टि—कालिकागम में विधि-निषेधात्मक व्यापारों के ग्रहण के आधार पर तन्निहित कर्मों से नरकादिक का विधान माना गया है—

पतन्ति जन्तवो येन कर्मणा नरके ध्रुवम्।
उत्पतन्ति च तेनैव त्रिकालज्ञा भवन्ति च।।

आत्म-पर्यालोचना के अभाव के दुष्परिणाम

ननु विधिनिषेधादिना हि लोकयात्रा, तयोश्च स्वेच्छामात्रजीवितत्वे तस्या न किञ्चिद्रूपमित्युक्तं भवति। सैव च संसार इत्युच्यते। तदुल्लङ्घनं च पुरुषार्थ:। तत्प्रयोजनतया प्रवृत्तं चैतत् तन्त्रं काकदन्तपरीक्षाप्रायमापद्येतेत्याशङ्क्याह—

पच्चाळोअणविमुहे वत्थुसहावस्स अत्तणो हिअए।
सङ्काविसवेएण व संसारभएण मुज्झए लोओ ॥८॥

(पर्यालोचनविमुखे वस्तुस्वभावस्यात्मनो हृदये।
शङ्काविषवेगेनेव संसारभयेन मुह्यति लोक:।।)

हृदय के, वस्तुस्वभावरूप आत्मा के, पर्यालोचन से विमुख रहने पर यह जीव-लोक शंका के विष के शक्तिशाली प्रवाह के समान ही संसार के भय से भ्रमित होता रहता है।।८।।

योऽयं लोको दृश्यवर्गवैलक्षण्याद् द्रष्टृत्वधर्मा तत एव परमेश्वरवदात्मनो विश्वशरीरत्वपञ्चकृत्यकारित्वाद्यैश्वर्ययोगेऽपि पशुत्वाभिमानी प्रमातृवर्गः, तस्यायं प्रायशः स्वभावो यद्युक्तितत्त्वान्वेषणे परमेश्वराभिन्नोऽपि स्वयं स्वेच्छामात्रत्वादहम्भाववदिदम्भावमप्यवगाहमानस्य स्वस्य यद्धृदयमिच्छाज्ञानक्रियात्मकशक्तित्रितयमे(लाप?ल)नरूपमन्तस्तत्त्वम्, तत्परामर्शं प्रत्यौदासीन्यमवलम्बत इति। तच्च तस्य स्वचित्तस्वभावादापतितम्। चित्तं हि नाम चैतन्यपथावरोहाच्चेत्यसञ्चयान्तश्चर्याचातुर्योपात्तसङ्कोचा चिच्छक्तिरित्यवधार्यते। चित्तमयत्वं चास्याऽवच्छिन्नस्य 'प्रमातुः तन्मयो मायाप्रमाता' इति श्रीप्रत्यभिज्ञाहृदयमर्यादया सम्प्रतिपन्नम्। यतः श्रीशिवसूत्रेषु 'चैतन्यमात्मा' इतिवत् 'चित्तमात्मा' इत्यप्याणवदशौचित्येन पुनरुपदिष्टमिति स्वाभाविकमस्येदमौदासीन्यम्। अत एव चायं संसाराज्जननमरणादिरूपाल्लोयात्राव्यवहाराद् बिभ्यद् 'द्वितीयाद् वै भयं भवति' इत्युपनिषत्प्रक्रियया भेदप्रथोपारूढं चाकित्यमुद्वहन् मुह्यति। आत्मनः परमैश्वर्यावस्थास्मृतिप्रमोषादन्तः संक्लिश्यते। यथा सर्पदंशाभावेऽपि विषावेशशङ्काशाली स्वस्य मनसि सर्पभ्रमदायिनो रज्ज्वादेः पदार्थस्य वस्तुभूतस्वभावपर्यालोचनोपेक्षायां तात्त्विकसर्पदंशवन्मूर्च्छामरणादिकामन्तर्व्यथामुपगच्छति, तद्वदित्युपमया प्रतिपादितमर्थतत्त्वं हृदयङ्गमीक्रियते। उक्तरूपे चास्य मोहे स्वशक्तय एव प्रवर्तन्ते। ताश्च वाग्भूमौ परापश्यन्त्यादिमथ्यो वाचि ब्राह्मीमाहेश्वर्यादयः। संवित्क्रमे स्वात्मस्फुरत्तासारा वामेश्वरीखेचर्याद्याः। प्राणपर्वणि च शरीरनिर्वहणोपक्षीणवृत्तयः प्राणापानप्रभृतयः। तासां ह्यहन्तेदन्ताद्वितयावगाहनसामर्थ्यादात्मस्वरूपोन्मीलनवत् तदाच्छादनेऽप्यौचित्यमस्ति। यद्यप्यस्य पश्वभिमतस्यात्मन इच्छादिशक्तित्रितयानुप्राणनत्वमपरिहार्यम्, तथापि या एताः पारमेश्वर्यामवस्थायामप्रतिहतस्वातन्त्र्यलक्षणेच्छा विश्वभेदप्रथानुरूपेण सार्वज्ञ्योपबृंहिता ज्ञानशक्तिः, तद्वत् सर्वकर्तृत्वात्मिका क्रियाशक्तिश्च, ता एव पशुदशायां कूर्माङ्गभङ्ग्या सङ्कुचन्त्यः क्रमादपूर्णताख्यातिरूपमाणवम्, वेद्यभेदप्रथास्वरूपं मायीयम्, शुभाशुभानुष्ठानात्मकं कार्मणं च मलमुन्मीलयन्ति, ततश्चायं संसारीत्युच्यते। एनमेव हि व्यामोहं प्रत्यूहयितुं सदाचार्यचरणराजीवसपर्या कार्यतयोद्घोष्यते। यदा पुनः स एव लोकः स्वहृदयस्य वास्तवं स्वभावं पर्यालोचयितुमुन्मुखीभवति, तदा न कश्चित् संसारशब्दस्यार्थतयोपलभ्यते। स्वसंरम्भविजृम्भात्मकतयैवास्य विमृश्यमानत्वात्। यथोक्तमाचार्याभिनवगुप्तपादैः—

स्वतन्त्रः स्वच्छात्मा स्फुरति सततं चेतनशिवः
पराशक्तिश्चेयं करणसरणिप्रान्तमुदिता।
तदाभोगैकात्मा स्फुरति च समस्तं जगदिदं
न जाने कुत्रायं ध्वनिरनुपतेत् संसृतिरिति ।। इति।

यथा चाद्वयोल्लासे—

भ्रमः संसारो यत् कथमिव भवेन्मुक्तिरमुत-
स्त्वितीयं या वाञ्छा बत जडधियां सा प्रसरति।
त्वदन्यन्नास्तीति प्रभवदविकल्पाद्वयमते:
स्थिरीकारो मोक्षो द्वितयघटना संसृतिरतः ।। इति।

यथा च संवित्प्रकाशे—

तस्माद् विकल्पः संशुद्धाद् विज्ञानान्नातिरिच्यते ।
तेनैव निर्विकल्पोऽयं विकल्पः स्वात्मनि स्थितः ।। इति।
सर्वो विकल्पः संसार इत्युक्तेरयमाशयः ।
तदसत्त्वं सृतेः सत्त्वं शुद्धायाः संविदः स्थितम् ।। इति च।

अत्राप्युक्त एव दृष्टान्तः। यथा—रज्ज्वादितत्त्वावबोधे भुजङ्गादिभ्रान्त्यभावान्मूर्च्छाद्यननुभव इति। अयमर्थः—सर्वस्यापि जनस्य बाह्यव्यवहारव्यतिरेकेण स्वहृदयोन्मुखः कश्चिदहमित्युद्योगः परिस्फुरति। स च जानामीति संविद्विशेषवपुरेवोपपद्यत इति ज्ञानशक्तेरनपह्नवः। जानामीत्यत्र विमर्शाकारसंरम्भरूपा काचित् क्रियाप्यर्थाक्षिप्ता। एतद्द्वितयानुप्राणनावस्थायामिच्छाशक्तिव्यपदेश इत्यव्याकुलोऽयमिच्छाज्ञानक्रियासामरस्यात्मा स्वभावः, यो हृदयमिति व्यवह्रियते। तस्य च वस्तुनः पर्यालोचनायां 'वितर्क आत्मज्ञानम्' इति श्रीशिवसूत्रस्थित्या स एवाहं परमशिवभट्टारकः शक्तित्रितयवत्त्वादिति विमर्शलक्षणा शक्तिराविर्भवति। यदुद्देशेन 'शक्त्याविष्करणेनेयं प्रत्यभिज्ञोपदिश्यते' इति श्रीप्रत्यभिज्ञोक्तिः। यथोक्तमीश्वरसिद्धौ—

स्वात्मैवायं स्फुरति सफलप्राणिनामीश्वरोऽन्तः ।
कर्ता ज्ञातापि च यदि परं प्रत्यभिज्ञास्य साध्या ।। इति।

यथा चोक्तं श्रीविज्ञानभैरवे—

सर्वज्ञः सर्वकर्ता च व्यापकः परमेश्वरः ।
स एवाहं शैवधर्मा इति दार्ढ्याच्छिवो भवेत् ।। इति।

श्रीशिवदृष्टौ च—

अथ स्थिते सर्वदिक्के शिवतत्त्वेऽधुनोच्यते ।
तस्मिन् ज्ञातेऽथवाऽज्ञाते शिवत्वमनिवारितम् ।।
वह्निर्ज्ञातोऽथवाऽज्ञातः प्रकाशं जनयेन्न किम् ।
अज्ञातं न सुवर्णं किं तदा किमुपलं भवेत् ।।

इत्याक्षिप्य,

सत्यमेव तथापीह सुवर्णं ज्ञातमात्रकम् ।
मूल्यादिनोपभोगाय दानार्थमुपयुज्यते ।।
चिन्तामणिरविज्ञातो भवेच्चिन्तामणिः स्फुटम् ।
तथापि कार्यभोगार्थमज्ञातः केन धार्यते ।।

इत्यादिनोपपादितम्। एतच्च पुरस्तादप्युद्घाटयिष्यते। एवं च स्वात्मनः परमेश्वरतया परामर्शात् परमेश्वरस्य च धर्मिग्राहकप्रमाणप्राबल्याद् विश्वशरीरतयाऽङ्गीकारात् संसारचाकित्यादेश्च स्वर्गनरकादिवैचित्र्यवद् विश्वान्तर्भावेनोपलभ्यमानत्वात् शरीरिणश्च शरीरं प्रत्यहम्भावभावनोत्कर्षादभेदानुभवैकभाजनत्वात्

परमेश्वर! तेषु तेषु कृच्छ्रेष्वपि नामोपनमत्स्वहं भवेयम् ।
न परं गतभीतस्त्वदङ्गसङ्गादुपजाताधिकसम्मदोऽपि यावत् ।।

इति श्रीमत्स्तोत्रावलिस्थित्या महेश्वराद्वैतसंविदाह्लादामृतमहाह्रदावगाहचमत्कारचर्वणचातुर्यमेव पर्यवस्यति। न पुनर्बन्धमोक्षादिविकल्पविक्षोभातङ्ककलङ्कशङ्काप्यत्र सम्पद्यते। यच्छ्रुतिः—'तरति शोकमात्मवित्' इति।

यथा च श्रीमदनुभवस्तोत्रे—

त्वं पृथग्विगतबाह्यसम्भ्रमस्तिष्ठसीश्वर! यदात्मचित्यलम् ।
लूनमूलकलनैः कुतस्तदा गम्यतामतनुमायिता गुणैः ।। इति।

एवं स्थितेऽपि—

यथा नृपः सार्वभौमः प्रभावामोदबृंहितः ।
क्रीडन् करोति पादातधर्मांस्तद्धर्मधर्मतः ।।
तथा प्रभुः प्रमोदात्मा क्रीडत्येवं तथा तथा ।

इति श्रीशिवदृष्टिदृष्ट्या स्वात्मस्वातन्त्र्योल्लासात् स्वहृदयपरामर्शशून्यत्वं च केषाञ्चित् सम्भवति, येन संसारादिविभागव्यवहारः। यथा श्रुतिः—'अदेवाद् देवः प्र च ता गुहा यन्' इत्यादि। अत्र च श्रीचिद्गगनचन्द्रिका—

हृद्गुहामभिलषन्नहन्तया दृक्क्रियावपुरदृक्क्रियात् पदात् ।
सन्तमेमि समभावदं शिवं सख्यहानिरमुना हि सूतये ।। इति।

यथा च समाधिपञ्चदश्याम्—

यदेतस्यापरिज्ञानं तत् स्वातन्त्र्योपकल्पितम् ।
स एव खलु संसारो जडानां यस्तु भीषणः ।। इति।

श्रीसर्ववीरभट्टारकेऽपि—

अज्ञानाच्छङ्कते लोकस्ततः सृष्टिश्च संहृतिः ।
मन्त्राः शिवात्मकाः सर्वे सर्वे वर्णाः शिवात्मकाः ।। इति।

मोक्षोपाये च—

स्वापरामर्शमात्रोऽयमपराधः कियानसौ ।
तावन्मात्रेण तज्जातं यद् वक्तुं नैव पार्यते ।। इति।

उक्तरूपार्थपरिज्ञानेव मोक्षः, तद्विपर्ययश्च बन्ध इत्यलमतिप्रपञ्चेन।।८।।

लोक = दृश्यवर्ग, पशुत्वाभिमानी प्रमातृवर्ग। इस पशुप्रमाता का स्वभाव यह है कि यह परमेश्वर से अभिन्न होने पर भी स्वतः अपनी स्वेच्छा-मात्र से अहंभाव की भाँति इदंभाव का अवगाहन करता हुआ अपनी इच्छा, ज्ञान एवं क्रियारूप शक्तित्रय के प्रति उदासीन है, उसके सत्परामर्श के प्रति पराङ्मुख है। उसकी यह मानसिकता स्वचित्त के स्वभाव के कारण है।[१] चित्त क्या है? चैतन्य का संकोच-ग्रहण या चिति शक्ति का सङ्कोच ही चित्त है।[२]

आचार्य क्षेमराज की दृष्टि—प्रत्यभिज्ञाहृदयम् में आचार्य क्षेमराज कहते हैं कि 'चितिरेव चेतनपदावरूढा चेत्यसङ्कोचिनी चित्तम्' अर्थात् चेतन पद से अवतरित तथा विषयों द्वारा सङ्कुचित 'चिति शक्ति' ही चित्त है।

चित्त भगवती चिति का स्वरूपान्तर है—

१. चित्त कोई अन्य तत्त्व नहीं है; अपितु भगवती चिति ही चित्त हैं—'न चित्तं नाम नान्यत्किञ्चित् अपितु सैव भगवती तत्'।[३]

२. जब यह चिति शक्ति अपने स्वरूप को छिपाकर संकोचावलम्बन करती है तब उसकी दो प्रकार की गतियाँ होती हैं—कभी तो वह उल्लसित सङ्कोच को गौण करके चित्प्राधान्य को लेकर स्फुरित होती है और कभी सङ्कोच-प्राधान्य को लेकर स्फुरित होती है।

३. स्वाभाविक चित्प्राधान्यपक्ष में प्रकाशमात्र प्रधान होने पर 'विज्ञानाकलता' का विकास होता है और प्रकाश तथा विमर्श दोनों की प्रधानता होने पर विद्यातत्त्व में अवस्थित प्रमातृता प्राप्त होती है।[४]

४. प्रकाश एवं विमर्श के प्राधान्य में भी क्रमशः सङ्कोच के सङ्कुचित एवं क्षीण होने पर आत्मा ईश्वर, सदाशिव एवं अनाश्रित शिवरूपता का स्वरूप प्राप्त करती है।

५. स्वातन्त्र्यात्मा चिति शक्ति ही ज्ञान, क्रिया एवं माया के स्वरूप में रूपान्तरित

१-२. परिमल ३-४. प्रत्यभिज्ञाहृदयम्

होकर पशुदशा में सङ्कोच-प्रकर्ष के कारण सतोगुण, रजोगुण एवं तमोगुण के स्वभाव वाले चित्त के रूप में स्फुरित होती है—'स्वातन्त्र्यात्मा चितिशक्तिरेव ज्ञान-क्रिया-माया-शक्तिरूपा पशुदशायां सङ्कोचप्रकर्षात् सत्त्वरजस्तमःस्वभावचित्तात्मतया स्फुरति'।[1]

प्रत्यभिज्ञाकार की दृष्टि—'चित्तमयत्वं चास्याऽवच्छिन्नस्य प्रमातुः तन्मयो माया प्रमाता इति श्रीप्रत्यभिज्ञाहृदयमर्यादया सम्प्रतिपन्नम्।[2]

शिवसूत्रकार की दृष्टि—शिवसूत्र में चैतन्यमात्मा तो कहा ही गया है; किन्तु इसके साथ ही साथ 'चित्तं मन्त्र' (२.१) भी कहा गया है और 'आत्मा चित्तम्' भी कहा गया है—

१. चैतन्यमात्मा = (प्र. उन्मेष-१.१) शाम्भवोपाय।
२. चित्तम् मन्त्रः = (द्वि. उन्मेष-२.१) शाक्तोपाय।
३. आत्मा चित्तम् = (तृ. उन्मेष-३.१) आणवोपाय।

आणवदशा में चित्त ही आत्मा है—'यदेतत् विषयवासनाच्छुरितत्वात् नित्यं तद्ध्यवसायादिव्यापारबुद्ध्यहंकृन्मनोरूपं चित्तं तदेव अतति, चिदात्मकस्वरूपाख्यात्या सत्त्वादिवृत्त्यवलम्बनेन योनीः सञ्चरति इति आत्मा अणुरित्यर्थः। न तु चिदेकरूपस्य अस्य अतनमस्ति'।

आत्मा के दो रूप—१. चैतन्यमात्मा २. आत्मा चित्तम् (संकोचावभासात्मक)।[3]

श्रुति की दृष्टि—'द्वितीयाद् वै भयं भवति' (द्वितीय (आत्मातिरिक्त द्वितीय = अर्थात् द्वैत दृष्टि) से भय उत्पन्न होता है)—भेदप्रथोपारूढं चाकित्यमुद्वहन् मुह्यति।[4]

महेश्वरानन्द कहते हैं कि जिस प्रकार साँप के न काटने पर भी विष के चढ़ने के भय के कारण (रस्सी को साँप समझने वाले व्यक्ति को) सर्पदंश के समान मूर्च्छा एवं मृत्यु की अन्तर्व्यथा अनुभूत होने लगती है, उसी प्रकार आत्मा को न जानने वाले व्यक्तियों को संसार के भय व्यामोहित करके कष्ट देने लगते हैं। यह कष्ट देने वाले व्यापार भी 'स्वशक्ति' के ही रूपान्तरण हैं—उक्तरूपे चास्य मोहे स्वशक्तय एव प्रवर्तन्ते।

(क) संवित् क्रम में वामेश्वरी एवं खेचरी आदि शक्तियाँ स्वात्मस्फुरत्ता की ही उपज हैं।[5]

(ख) वाग्भूमि में परा, पश्यन्ती, मध्यमा एवं वैखरी शक्तियाँ (वाणीरूपा शक्तियाँ) भी पराशक्ति के ही रूपान्तरण हैं।

(ग) मातृका एवं उनकी अधिष्ठात्री देवियों की भूमि में ब्राह्मी, माहेश्वरी आदि शक्तियाँ भी एक ही पराशक्ति का रूपान्तरण हैं।

---

१. क्षेमराज : प्र. हृ. ३. शिवसूत्रविमर्शिनी (क्षेमराज)
२. परिमल ४-५. परिमल

(घ) प्राणभूमि में प्राण, अपान, समान, व्यान, उदान एवं धनञ्जय आदि प्राण-प्रकार भी एक ही शक्ति के रूपान्तरण है—प्राक् संवित् प्राणे परिणता।

(ङ) चैतन्यविभाग की भूमि में अहं प्रत्यय एवं इदम् प्रत्यय तथा अहमस्मि, अहमिदम्, इदमहम्, इदमन्यत्, अहमन्यत् आदि स्तरों पर भी एक ही आत्मा विभिन्न रूपों में अवभासित होती है। अहन्ता और इदन्ता, वेदक और वेद्य, ग्राहक और ग्राह्य तथा जड़ और चेतन सभी में एक ही आत्मा के अन्तःस्थित होने के कारण ये सभी एक के ही बहुरूप हैं, एकोऽहं बहु स्याम् की परिणतियाँ हैं।

'संसारभयेन मुह्यति' अर्थात् संसार के भय से व्यामोहित होता है। 'संसार' तो है ही नहीं। 'एको ब्रह्म द्वितीयो नास्ति' की यथार्थता के कारण 'द्वितीय' तो है ही नहीं; अतः द्वितीय की अनुभूति अज्ञान के कारण ही होती है। अज्ञान के उदय से ही 'द्वितीय' की अनुभूति एवं भय का उदय होता है--'द्वितीयाद् वै भयं भवति'। प्रत्येक पशु में पशुपति की ही शक्तियाँ हैं—पशु और पति में कोई भेद नहीं है।

शिव की शक्तियाँ और उनका पशुओं में सङ्कोच[१]

- ज्ञानशक्ति—पारमेश्वर्यावस्थायां प्रतिहतस्वातन्त्र्यलक्षणेच्छाविश्वभेदप्रथानुरूपेण सार्वज्ञोपबृंहिता ज्ञानशक्तिः।
- क्रियाशक्ति—तद्वत् सर्वकर्तृत्वात्मिका क्रियाशक्तिश्च।

पशु-दशा में सङ्कोच

आणव मल मायीय मल कार्मण मल (मलत्रय)

१. ता एव पशुदशायां कूर्माङ्गभङ्ग्या सङ्कुञ्चन्त्यः क्रमादपूर्णताख्यातिरूपमाणवम्।

२. वेद्यभेदप्रथास्वरूपं मायीयम्।

३. शुभाशुभानुष्ठानात्मकं कार्मणं च मलमुन्मीलयति।

इन्हीं तीनों मलों के कारण प्राणी संसारी कहा जाता है—'ततश्चायं संसारीत्युच्यते'।

जब यही 'लोक' अपने हृदय के यथार्थ स्वभाव के पर्यालोचनार्थ साधना करता है तब उसे कोई भी 'संसार' (लोक) यथार्थ सत्ता के रूप में अनुभूत नहीं होता—यदा पुनः स एव लोकः स्वहृदयस्य वास्तवं स्वभावं पर्यालोचयितुमुन्मुखीभवति तदा न कश्चित् संसारशब्दस्यार्थतयोपलभ्यते।[२]

इसी तथ्य को आचार्य क्षेमराज ने विस्तार से समझाया है।

आचार्य क्षेमराज की दृष्टि—आचार्य क्षेमराज निम्न सूत्र की व्याख्या में कहते हैं—चिद्वत्तच्छक्तिसङ्कोचात् मलावृतः संसारी।[३]

१-२. परिमल ३. शक्तिसूत्र

संसारी—यदा चिदात्मा परमेश्वर: स्वस्वातन्त्र्यात् अभेदव्याप्तिं निमज्ज्य भेदव्याप्तिम् अवलम्बते तदा तदीया इच्छादिशक्तय: असङ्कुचिता अपि सङ्कोचयत्यो भान्ति, तदानीमेव अयं मलावृत: संसारी।

(क) आणव मल—इच्छाशक्ति → आणव मल। तथा च अप्रतिस्वातन्त्र्यरूपा इच्छाशक्ति: सङ्कुचिता सती अपूर्णम्मन्यतारूपम् आणवं मलम्।

(ख) मायीय मल—ज्ञान शक्ति → मायीय मल। ज्ञानशक्ति: क्रमेण सङ्कोचात् भेदे सर्वज्ञत्वस्य किञ्चिज्ज्ञत्वाप्ते: अन्त:करणबुद्धीयतापत्तिपूर्वं अत्यन्तं सङ्कोचग्रहणेन भिन्नवेद्यप्रथारूपं मायीयं मलम्।

(ग) कार्ममल—क्रियाशक्ति → कार्ममल। क्रियाशक्ति: क्रमेण भेदे सर्वकर्तृत्वस्य किञ्चित्कर्तृत्वाप्ते: कर्मेन्द्रियरूपसङ्कोचग्रहणपूर्वम् अत्यन्तं परिमिततां प्राप्ता शुभाशुभानुष्ठानमयं कार्मं मलम्।

इच्छाशक्ति का सङ्कोच →	ज्ञानशक्ति का सङ्कोच →	क्रियाशक्ति का सङ्कोच
↓	↓	↓
आणव मल	मायीय मल	कार्म मल

इन्हीं शक्तियों का सङ्कोच 'शिव' को उसकी अपरिमित शक्तियों के स्थान पर सङ्कुचित (सीमित) शक्तियों वाला बना देता है। परिणामत: वह शक्तिदरिद्री होकर 'संसारी' कहलाने लगता है—तथा सर्वकर्तृत्व-सर्वज्ञत्व-पूर्णत्व-नित्यत्व-व्यापकत्वशक्तय: सङ्कोचं गृह्णाना यथाक्रमं कला-विद्या-राग-काल-नियतिरूपतया भान्ति। तथाविधश्च अयं शक्तिदरिद्र: संसारी उच्यते स्वशक्तिविकासे तु शिव एव।[१]

अभिनवगुप्तपादाचार्य की दृष्टि—आचार्य अभिनवगुप्त कहते हैं कि स्वात्मा तो स्वतन्त्र, स्वच्छ, मलहीन है; फिर भी यह पाशविक मालिन्य कहाँ से आ गया? सत्ता तो मात्र एक है—आत्मा या शिव; फिर संसार कहाँ से आ गया? आगे वे फिर कहते हैं—

स्वतन्त्र: स्वच्छात्मा स्फुरति सततं चेतनशिव:
पराशक्तिश्चेयं करणसरणिप्रान्तमुदिता।
तदाभोगैकात्मा स्फुरति च समस्तं जगदिदं
न जाने कुत्रायं ध्वनिरनुपतेत् संसृतिरिति।।

अद्वयोल्लासकार की दृष्टि—अद्वयोल्लास में कहा गया है—

भ्रम: संसारो यत् कथमिव भवेन्मुक्तिरमुत-
स्त्वितीयं या वाञ्छा बत जडधियां सा प्रसरति।

१. प्रत्यभिज्ञा हृदयम्

त्वदन्यन्नास्तीति　　प्रभवदविकल्पाद्वयमते:
स्थिरीकारो　मोक्षो　द्वितयघटनासंसृतिरत:।।

सारे विकल्प ही समष्टि रूप में एकत्रित होकर 'संसार' का स्वरूप धारण कर लेते हैं। विकल्पों की संशुद्धि होने पर ही स्वात्मा में स्थिति सम्भव है; अन्यथा नहीं।

संवित्प्रकाशकार की दृष्टि—संवित् प्रकाश में कहा गया है—

तस्माद् विकल्प: संशुद्धाद् विज्ञानान्नातिरिच्यते।
तेनैव निर्विकल्पोऽयं विकल्प: स्वात्मनि स्थित:।।
सर्वो　विकल्प:　संसार　इत्युक्तेरयमाशय:।
तदसत्त्वं सृते: सत्त्वं शुद्धाया: संविद: स्थितम्।।

सभी लोगों में बाह्य व्यवहार-व्यतिरेक द्वारा स्वहृदयोन्मुख कोई 'अहम्' रूप वाला उद्योग परिस्फुरित होता है। हृदय क्या है? इच्छाज्ञानक्रियासामरस्यात्मास्वभाव: यो हृदयमिति व्यवह्रियते।[1]

तत्त्वपर्यालोचना की स्थिति में 'वितर्क आत्मज्ञानम्'[2] की स्थिति में आरूढ़ होने पर अनुभव यह होता है कि मैं शक्तियों से परिणद्ध शिवभट्टारक हूँ और मेरी शक्ति विमर्श शक्ति है—स एवाहं परमशिवभट्टारक: शक्तित्रयत्वादिति विमर्शलक्षणा शक्तिराविर्भवति।

'शक्त्याविष्करणेनेयं प्रत्यभिज्ञोपदिश्यते' कहकर प्रत्यभिज्ञाकार ने भी इसी लक्ष्य को प्राप्त करने का विधान किया है।

ईश्वसिद्धिकार की दृष्टि—ईश्वरसिद्धि में कहा गया है—

स्वात्मैवायं　स्फुरति　सकलप्राणिनामीश्वरोऽन्त:।
कर्ता ज्ञातापि च यदि परं प्रत्यभिज्ञास्य साध्या।।

विज्ञानभैरवकार की दृष्टि—विज्ञानभैरव में भी 'पशु' को सर्वकर्ता, सर्वज्ञ, सर्वव्यापक परमेश्वर ही कहा गया है। उसे अपने इस स्वरूप की 'प्रत्यभिज्ञा' शैवधर्म में दृढ़ता के द्वारा ही होती है—

सर्वज्ञ:　सर्वकर्त्ता　च　व्यापक:　परमेश्वर:।
स　एवाहं　शैवधर्मा　इति　दार्ढ्याच्छिवो　भवेत्।।

शिवदृष्टिकार की दृष्टि—आचार्य सोमानन्द कहते हैं कि जीव 'शिव' है। चाहे जीव इसे जाने और चाहे न जाने। चाहे कोई अग्नि को जाने और चाहे न जाने; किन्तु अग्नि सदैव प्रकाश देती ही है। जानने और न जानने से क्या होता है? क्या न जानने से सोना पत्थर बन जायेगा?

---

१. परिमल　२. शिवसूत्रम्

अथ स्थिते सर्वदिक्के शिवतत्त्वेऽधुनोच्यते।
तस्मिन् ज्ञातेऽथवाऽज्ञाते शिवत्वमनिवारितम्।।
वह्निर्ज्ञातोऽथवाऽज्ञातः प्रकाशं जनयेन्न किम्।
अज्ञातं न सुवर्णं किं तदा किमुपलं भवेत्।।

यह बात अवश्य सत्य है कि यदि कोई यह जान ले कि 'यह सोना है' तो वह मूल्य, उपभोग एवं दान आदि के प्रयोजन में उपादेय होगा और इसी प्रकार यदि चिन्तामणि रत्न के विषय में यह ज्ञान प्राप्त रहेगा कि यह बहुमूल्य चिन्तामणि महारत्न है तो यह भी अपने समस्त अभीप्सितों को पूर्ण करता रहेगा; अन्यथा इसे कोई धारण ही क्यों करेगा?

सत्यमेव तथापीह सुवर्णं ज्ञातमात्रकम्।
मूल्यादिनोपभोगाय दानार्थमुपयुज्यते।।
चिन्तामणिरविज्ञातो भवेच्चिन्तामणिः स्फुटम्।
तथापि कार्यभोगार्थमज्ञातः केन धार्यते।।

'संसारभयेन मुह्यति' (संसार के भय से मोहग्रस्त होता है) ऐसा क्यों? इसका कारण अज्ञान-मात्र है, न कि संसार एवं संसरण। 'संसार' तो आनन्द-क्रीड़ा है; अतः इससे भय कैसा?

आचार्य सोमानन्द की दृष्टि—शिवदृष्टि में कहा गया है कि जगत् एक क्रीड़ा है—

यथा नृपः सार्वभौमः प्रभावामोदबृंहितः।
क्रीडन् करोति पादातधर्मांस्तद्धर्मधर्मतः।।
तथा प्रभुः प्रमोदात्मा क्रीडत्येवं तथा तथा।।

यदि जगत् शिव की क्रीड़ा है तो चूँकि जीव भी शिव ही है तो यह जगत् उसके लिये भी भय नहीं, मात्र आनन्दप्रद क्रीड़ा ही है।

स्पन्दकारिकाकार की दृष्टि—'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते' कहकर श्रुति ने भी सृष्टि को आनन्द की उत्पत्ति उद्घोषित किया है; अतः जगत् को (या निःशेष सृष्टि को) आनन्द का पर्याय मानना चाहिये। 'आनन्दकन्द' की आनन्दात्मिका सृष्टि में दुःख है कहाँ? इसीलिये स्पन्दप्रदीपिकाकार कहते हैं कि जगत् केवल मनोञ्जन की क्रीड़ा है। जो इसे इस दृष्टि से देखता है, वह जीवन्मुक्त हो जाता है—

इति वा यस्य संवित्तिः क्रीडात्वेनाखिलं जगत्।
स पश्यन् सर्वतो युक्तो जीवन्मुक्तो न संशयः।।[१]

---

१. स्पन्दकारिका

समाधिपञ्चदशाकार की दृष्टि—समाधिपञ्चदशा में कहा गया है कि यद्यपि संसार दुःखमय तो नहीं है; किन्तु जड़ लोगों के लिये भीषण है—

यदेतस्यापरिज्ञानं तत् स्वातन्त्र्योपकल्पितम्।
स एव खलु संसारो जडानां यस्तु भीषणः।।

सत्य तो यह है कि शिव स्वेच्छया आत्मप्रच्छादन करके लीलावश 'पशु' एवं 'जगत्' की भूमिका की (स्वातन्त्र्य शक्ति के द्वारा) काल्पनिक रचना करता है और उसमें आनन्दमग्न होकर रमण करता है; फिर दुःख एवं कष्ट के लिये स्थान ही कहाँ है?

श्रुतियों में ऋषियों की दृष्टि—छान्दोग्योपनिषद् (३.९.१२) में कहा गया है कि आत्मा ही जगत् है। आत्मा में नानात्व किञ्चित् भी नहीं है—आत्मैवेदं जगत् सर्वं नेह नानास्ति किञ्चन। आत्मैवेदं सर्वम् ('यह' अर्थात् यह सम्पूर्ण इदमात्मक जगत् आत्मा-मात्र ही है)।

उसी आत्मा से सभी का जन्म हुआ है। आकाश (प्रथम तत्त्व) भी उसी से आविर्भूत हुआ है—तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः (तै. उ.-२.१.२), 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' (तै. उप.-३.१)।

वह सत्य है, वह आत्मा है और वही तू है—तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि, (छा. उप.-८.८-१६)।

'न तु तद् द्वितीयमस्ति' (बृ. उप.-४.३.२३)। उस आत्मा के अतिरिक्त अन्य (दूसरा) कोई है ही नहीं।

प्रपञ्चो यदि विद्येत निवर्तेत न संशयः।
मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः।। (मा. का.)

सृष्टि के पूर्व पहले यह मात्र आत्मा ही विद्यमान थी—आत्मैवेदमग्र आसीत् (बृ. उ.)।

यहाँ इसके लिये सब आत्मा ही हो गया है—यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् (बृ. उ.-४.५.१५)।

आत्मा (ब्रह्म) को छोड़कर यहाँ नाना कुछ है ही नहीं—नेह नानास्ति किञ्चन (क. उ.-२.१)। वही एक अनेक बन गया है—इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते (बृह. उप.-१.४.१७)। ब्रह्म वा इदमग्र आसीत् (बृ. उप.-१.४.१०)। माण्डूक्योपनिषद् में कहा गया है कि यह सब ब्रह्म ही है। यह आत्मा ही ब्रह्म है—सर्वं ह्येतद् ब्रह्मायमात्मा।

दुःख क्यों है? दुःख इसलिये है; क्योंकि 'अहं' ने अपने को 'इदम्' मान रक्खा है—चैतन्य ने अपने को जड़ (शरीर, इन्द्रिय एवं इन्द्रियों के धर्म) मानकर उसके साथ तादात्म्य स्थापित कर लिया है। सब कुछ चिन्मय है। वेद्य का ऐसा कोई भाग नहीं

है, जो वेदक से बाहर हो। वेद्य वेदक है। वेदक संवित् है और संवित् ही आत्मा है—

यदैव विदितं विश्वं तदानीमेव चिन्मयम्।
यन्नास्ति भागो वेद्योऽसौ नाथ यो वेदकाद् बहिः।।
वेद्यो वेदकतामाप्तो वेदकः संविदात्मताम्।
संवित् त्वदात्मा चेत् सत्यं तदिदं त्वन्मयं जगत्।।

अतः 'आत्मैवेदं जगत् सर्वं नेह नानास्ति किञ्चन' (छा. उ.-३.९.१२) ही सत्य है। ऐसी कोई अवस्था ही नहीं है, जो शिव न हो—

तेन शब्दार्थचिन्तासु न सावस्था न यः शिवः।[१]

फिर पति 'पशु' कैसे बन गया? उसने सुख में दुःख कैसे खोज लिया? कारण सुस्पष्ट है। पशुत्व का कारण शक्तिवर्ग की भोग्यता है—

शब्दराशिसमुत्थस्य शक्तिवर्गस्य भोग्यताम्।
कलाविलुप्तविभवो गतः सन् स पशुः स्मृतः।।[२]

एक ही क्रियात्मिका शक्ति प्राणी को पशु एवं सिद्ध, बन्धनग्रस्त एवं मुक्त दोनों बना देती है—

सेयं क्रियात्मिका शक्तिः शिवस्य पशुवर्तिनी।
बन्धयित्री स्वमार्गस्था ज्ञाता सिद्ध्युपपादिका।।[३]

श्रीसर्ववीरभट्टारककार की दृष्टि—श्रीसर्ववीरभट्टारक में तो कहा गया है कि अज्ञान के कारण ही सृष्टि-संहार दृष्टिगत होते हैं—

अज्ञानाच्छङ्कते लोकस्ततः सृष्टिश्च संहृतिः।

प्रश्न है कि जब 'सृष्टि' है ही नहीं अर्थात् हमारा जन्म हुआ ही नहीं है तो दुःख किसको? इस समस्त विश्व की जड़ कौन है? विश्व का मूल क्या है? आत्मा ही निःशेष सृष्टि का मूल है—'अत्ता खु वीसमूलं', आत्मा खलु विश्वमूलं[४]' इहात्मैव हि प्रकाशस्वभावत्वाद् विश्वव्यवहारे निबन्धनम्'।[५]

'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' उसके प्रकाश से ही यह समस्त जगत् प्रकाशित होता है।

ऐसी स्थिति में 'संसारभयेन मुह्यति लोकः' वाक्य की सार्थकता क्यों है? चूँकि प्राणी आत्मा के वस्तुस्वभाव के पर्यालोचन से विमुख है—[६]पर्यालोचनविमुखे वस्तु-स्वभावस्यात्मनो हृदये।

१. स्पन्दकारिका (२९)
२. स्पन्दकारिका (४५)
३. स्पन्दकारिका (४८)
४. महार्थमञ्जरी (३)
५. परिमल
६. महार्थमञ्जरी (८)

इसी कारण मिथ्या शंका से विष का वेग सारे जगत् को कष्ट दे रहा है—शंका विषवेगेनेव संसारभयेन मुह्यति लोकः।[१]

सारे शोकों को अतिक्रान्त करने का केवल एक ही मूल मन्त्र है और वही शोक-सागर से उद्धार करता है और वह है—'आत्मज्ञान'—'तरति शोकमात्मवित्' (श्रुति)। इसीलिये अनुभवस्तोत्र में कहा गया है—

त्वं पृथग्विगतबाह्यसंभ्रमस्तिष्ठसीश्वर! यदात्मचित्यलम्।
लूनमूलकलनैः कुतस्तदा गम्यतामतनुमायिता गुणैः।।

परिमलकार की दृष्टि—परिमलकार महेश्वरानन्द अन्तिम परामर्श देते हुये (इस भय को नष्ट करने हेतु) मोक्षोपाय की शरण में जाने का उपदेश देते हैं और कहते हैं कि आत्मपरामर्श न करना ही अपराध है। इसी कारण प्राणी वस्तु के वस्तुत्व का बोध ग्रहण नहीं कर पाता; अतः स्वपरामर्श ही भयमुक्ति का द्वार है—

स्वापरामर्शमात्रोऽयमपराधः कियानसौ।
तावन्मात्रेण तज्जातं यद् वक्तुं नैव पार्यते।।

आत्मा की समस्त प्राणियों में स्फुटता

नन्वात्मनो विमर्शमयः कश्चिद् विशेषः संसाराद्यशेषक्लेशोपशमनसामर्थ्य-शालितयोन्मीलितः। स च तस्यास्फुटस्वभावस्य स्फुटीकारात्मेत्यवधार्यते। न च तत्रास्फुटत्वशङ्काऽप्यवतरितुमर्हति, अत्यन्तस्फुटतयोपपादितत्वात्। ततः प्रमाण-प्रमेयव्यवहारविकल्पस्यानुपयोगोऽत्र वितत्य व्याख्यात इत्याशङ्क्याह—

माणिक्कपवेओ विअ णिओलिओ णिअमऊहलेहाए।
पडिभाइ लोइआणं अच्चंतफुडो वि अप्फुडो अप्पा ॥९॥

(माणिक्यप्रवेक इव निचोलितो निजमयूखलेखया।
प्रतिभाति लौकिकानामत्यन्तस्फुटोऽप्यस्फुट आत्मा।।)

जिस प्रकार सर्वोत्कृष्ट (प्रवेक) माणिक्य निचोलित (कञ्चुकित, आवरित) रहने पर भी अपनी रश्मियों के लेख के कारण प्रकाशित रहता है, उसी प्रकार आत्मा (तत्त्वतः) अस्फुट रहते हुये भी समस्त प्राणियों के भीतर अत्यन्त स्फुट रूप में प्रकाशित रहा करती है।।९।।

आत्मरूपो हि परमेश्वरः प्रकाशोत्कर्षवत्वादशेषभुवनव्यापनक्षमत्वाच्च विश्वविकल्पकल्पनामयीमर्चिःप्रोहपरम्परामुपर्युपर्युन्मीलयन्, 'तत् सृष्ट्वा तदेवानु-प्राविशत्' इत्युपनिषत्प्रक्रियया तथैव निचोलितः कञ्चुकितप्रायो नित्यमास्ते। तत्र

---

१. महार्थमञ्जरी (८)

लौकिकानां प्रमेयतयालोक्यमाने विश्वस्मिन् व्यवर्तॄणां प्रमातॄणाम्—

अत्यन्तस्वच्छता सा यत् स्वाकृत्यनवभासनम् ।

इति श्रीतन्त्रालोकस्थित्या प्राकट्योद्रेककक्ष्यारूढतया विप्रष्टव्योऽप्यसौ मध्याह्नमार्तण्डमण्डलन्यायेन तत्तद्रश्मिपरम्परास्फुरणप्राचुर्येण रश्मिमद्ग्रहणासामर्थ्यादप्राकट्यावस्थामधितिष्ठति। यथा त्रासादिराहित्यादत्यन्तश्लाघ्यो माणिक्योपलखण्डः स्फुरदुरुमरीचिमञ्जरीपिञ्जरितपर्यन्ततयैव माणिक्यमेतदुत्कृष्टमिति नाध्यवसितुं शक्यते तद्वदात्मनोऽपि स्वशक्तिप्रसरतिरोहितत्वादेवास्फुटत्वशङ्का। एवमुभयस्वभावतायामेवास्य विश्वव्यवहारौचित्यम्। तदुक्तं मयैव संविदुल्लासे—

अर्चिःप्ररोहे महतः प्रमातुर्वातिस्फुटत्वे च बहिः प्रथा मे ।
अपेक्षते प्रेक्षितुमात्मदर्शं सूर्योदयं तद्व्यवधिं च लोकः ।। इति।

इयं च लौकिकानेव मातॄन् प्रत्युपपद्यते। यदुक्तं श्रीप्रत्यभिज्ञायाम्—

किन्तु मोहवशादस्मिन् दृष्टेऽप्यनुपलक्षिते ।
शक्त्याविष्करणेनेयं प्रत्यभिज्ञोपदिश्यते ।। इति।

तैस्तैरप्युपयाचितैरुपनतस्तन्व्याः स्थितोऽप्यन्तिके
कान्तो लोकसमान एवमपरिज्ञातो न रन्तुं यथा ।
लोकस्यैष तथानवेक्षितगुणः स्वात्मापि सन्नीश्वरो
नैवालं निजवैभवाय तदियं तत्प्रत्यभज्ञोदिता ।। इति च।

अलौकिकानन्तर्मुखान् प्रति तु—

न ध्यायतो न जपतः स्यादस्याऽविधिपूर्वकम् ।
एवमेव शिवाभासस्तं नुमो भक्तिशालिनम् ।।

इति श्रीमत्स्तोत्रावल्युक्तिरेव युक्तिपथमनुवर्तत इति।।९।।

प्रवेक = अत्यन्त श्रेष्ठ, उत्कृष्ट। निचोलित = आच्छादित, आवरणबद्ध। मयूख = रश्मि। स्फुट = सुस्पष्टतया प्रकाशित।

लोकव्यवहार में सर्वत्र आत्मसत्ता ही क्रियारत है और वही सभी की सृष्टि करके सभी के भीतर प्रविष्ट हो गई है—तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् इतना होने पर भी वह प्रायः निचोलित (आच्छादित, कञ्चुकित) अवस्था में ही रहती है—निचोलितः कञ्चुकितप्रायो नित्यमास्ते।[१]

कठोपनिषत्कार की दृष्टि—कठोपनिषद् में कहा गया है कि सम्पूर्ण प्राणियों में छिपा हुआ यह आत्मा प्रकाशमान नहीं होता। यह तो सूक्ष्मदर्शी पुरुषों द्वारा अपनी

१. परिमल

तीव्र एवं सूक्ष्म बुद्धि के द्वारा ही देखा जा सकता है; अन्यथा नहीं—

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः।।[१]

वागिन्द्रिय का मन में, मन का बुद्धि में, बुद्धि का महत्तत्व में एवं महत्तत्त्व का आत्मा में लय करना चाहिये—

यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि।।[२]
पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः।[३]

आत्मा अस्फुट रहकर भी सर्वत्र स्फुट है।

संविदुल्लासकार की दृष्टि—संविदुल्लास में कहा गया है—

अर्चिः प्ररोहे महतः प्रमातुर्नातिस्फुटत्वे च बहिः प्रथा मे।
अपेक्षते प्रेक्षितुमात्मदर्शं सूर्योदयं तद्व्यवधिं च लोकः।।

प्रत्यभिज्ञाकार की दृष्टि—प्रत्यभिज्ञाकार का कथन है—

किन्तु मोहवशादस्मिन् दृष्टेऽप्यनुपलक्षिते।
शक्त्याविष्करणेनेयं प्रत्यभिज्ञोपदिश्यते।।[४]

प्रत्यभिज्ञा का उपदेश इसी उपर्युक्त उद्देश्य के कारण हुआ है। यह भी कहा गया है—

तैस्तैरप्युपयाचितैरुपनतस्तन्व्याः स्थितोऽप्यन्तिके
कान्तो लोक समान एवमपरिज्ञातो न रन्तुं यथा।
लोकस्यैष तथानवेक्षितगुणः स्वात्मापि सन्नीश्वरो
नैवालं निजवैभवाय तदियं तत्प्रत्यभिज्ञोदिता।।

जो अलौकिक सामर्थ्य वाले सिद्ध योगी हैं, उनके लिये तो ध्यान, जप एवं विधि-पालन आदि सभी व्यर्थ हैं; क्योंकि वे तो केवल भक्तिमात्र से ही शिवाभास पा लेते हैं; अतः वे भक्तिशाली साधक नमस्कार्य हैं—

न ध्यायतो न जपतः स्यादस्याऽविधिपूर्वकम्।
एवमेव शिवाभासस्तं नुमो भक्तिशालिनम्।।

उपनिषदों के ऋषियों की दृष्टि—यह अमृत ब्रह्म ही आगे, पीछे, दाँयीं और बाँयीं ओर, नीचे एवं ऊपर सर्वत्र फैला हुआ है। यह समस्त जगत श्रेष्ठतम ब्रह्म ही है—

१. कठोपनिषद् (१.१२) ३. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा (उत्पलदेव)
२. कठोपनिषद् (१३) ४. कठोपनिषद्

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद्ब्रह्म पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण।
अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्।।[1]

आत्मा है तो सर्वत्र किन्तु वह निगूढ़ भी है; अतः उसको जानने हेतु आत्मक्रीड, आत्मरति भी होना आवश्यक है—आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः।[2]

वह (आत्मा) सर्वत्र स्फुट होने पर भी अस्फुट है; अतः सत्य, तप, सम्यक् ज्ञान एवं ब्रह्मचर्य से ही प्राप्य है—सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा, सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।[3]

प्रकाशरूप शिव द्वारा समस्त मलों का ध्वंस

नन्वात्मनः स्फुटत्वमस्फुटत्वं चेत्यन्योन्यविरुद्धमेतद्धर्मद्वयं कथं नाम सङ्गच्छत इत्याशङ्क्य तस्य तादृशं किञ्चित् स्वातन्त्र्यमस्ति, यद् विमर्श इत्याख्यायते, यद्वत्तया चास्य परामर्शः पुरुषार्थतया सर्वथा साध्य इत्युपपादयति—

उड्ढो जलइ पआसो लोआलोअस्स मंगलपईपो।
विमरिसदसामुहाणिअढज्जंतमलालितेलविच्छड्डो ॥१०॥

(ऊर्ध्वो ज्वलति प्रकाशो लोकालोकस्य मङ्गलप्रदीपः।
विमर्शदशामुखानीतदह्यमानमलालितैलविच्छर्दः ।।)

प्रकाशरूप शिव परमात्मा अपनी विमर्श शक्ति की स्फुरणावस्था के औन्मुख्य में स्थित होकर (आणव, कार्म एवं मायीय) मलों के सञ्चित समूह को जलाकर (प्रमाता-प्रमेय या ग्राहक-ग्राह्यरूप) 'लोकालोक' को उसी प्रकार तीक्ष्णता से प्रकाशित करता है, यथा (दीपक की) बत्ती के द्वारा अपने अग्र भाग पर लाये गये तेल को जलाकर मंगलमय दीपक सारे अन्धकार को दूर करके लोकालोक को प्रकाशित कर देता है।।१०।।

योऽयमहं जानामि मम स्फुरतीत्याद्यशेषव्यवहारानुस्यूतः प्रकाशरूपोऽर्थः, स खलु लोक्यमानस्य भावराशेरलोक्यमानस्य खपुष्पाद्यविशेषमभावजातस्य च प्रदीपवत् प्रकाशकतयाऽनूभूयते। तथा लोको मुख्यया वृत्त्या प्रकाशस्वभावत्वात् प्रमाता, अलोकश्च तदधीनप्रकाशत्वात् प्रमेयम्, ग्राह्यग्राहकोभयकोट्युपश्लेषाल्लोकालोकः प्रमाणमिति प्रमात्रादित्रिकपरमार्थस्य विश्वस्य प्रकाशको भवति। तादृक्प्रकाशाभावे विश्वस्यान्धतमसत्वापत्तिरिति प्रागप्यवोचाम। अत एव ह्यसौ मङ्गलतयोपन्यस्तः। इदमेव हि तदतिमहन्मङ्गलम्, यत् स्तम्भकुम्भादीनामन्योन्यस्वभावापहारशङ्कां निस्स्वभावत्वसम्भावनां च व्यपोह्य तेषां तथाभावेनावस्थापनम्। स च ऊर्ध्वः स्वयम्प्रकाशतया प्रकाश्यवर्गोत्तीर्णो भवन् ज्वलति सर्व-

---

१. मुण्डकोपनिषद् (११) २. मुण्डकोपनिषद् (४) ३. मुण्डकोपनिषद्

सम्प्रतिपत्त्या परिस्फुरति। तस्य च विमर्शाख्योऽतिशयः कश्चित् स्वभावतया स्वीकर्तव्यः। अन्यथा दर्पणादिप्रकाशवदस्य जाड्यकक्ष्यानुप्रवेशप्रसङ्गात्।

यदुक्तं श्रीप्रत्यभिज्ञायाम्—

प्रकाशोऽर्थोपरक्तोऽपि स्फटिकादिजडोपमः। इति।

स च कार्यवर्गवैलक्षण्येन प्रकाशस्य कर्तृत्वाख्यो धर्म इत्यनन्तरमुपपादयिष्यते।

अत्र खल्वतिविस्तीर्णे लोकयात्राविजृम्भिते।
व्यवह्रियन्ते बहवो भावा भूभूधरादयः॥
व्यवहारविधिस्तेषामसङ्कीर्णश्च लक्ष्यते।
तत्र किं तन्निमित्तं स्यादित्यालोचयतां सताम्॥
संवित्तिव्यतिरेकेण नैवान्यदुपलभ्यते।
तस्या व्यपोहशङ्कायां भूः स्वात्मनि न भूर्भवेत्॥
नाप्यभूर्भूधरादस्याः पृथक्त्वं च कथं भवेत्।
मिथो रूपापहारे च फूत्कर्तुं कस्य कौशलम्॥
एवं वेद्यस्य पृथ्व्यादेरसङ्कीर्णे प्रकाशने।
सामान्यतो विशेषाच्च संविदेव प्रगल्भते॥
सापि वेद्यवदन्येन प्रकाश्या चेत् प्रवर्तते।
प्रकाशस्तन्मयो न स्याज्जाड्ययोगाविशेषतः॥
संविदोऽन्यप्रकाश्यत्वे संवित्त्वं लुप्यते न वा।
न चेद् व्यर्थं तदन्यत् स्याद् येन सेयं प्रकाश्यते॥
लुप्यते चेत् किमाकारा सा तेनास्तु प्रकाशिता।
तस्मान्यस्य प्रकाशश्च कुत इत्यवलोकने॥
अन्यदन्यदिति व्यक्तमनवस्थितिरापतेत्॥
अतोऽस्याः स्वप्रकाशत्वं स्वभावादेव सिध्यति॥
प्रकाशश्चोक्तया भङ्ग्या स्वप्रकाशो भवन्नपि।
भावमात्रस्वभावत्वे न जाड्यं वेद्यवत् त्यजेत्।
स्वप्रकाशोऽप्यसौ काञ्चित् कर्तृतामश्नुते न चेत्।
अन्यथा त्वर्थवन्नास्य स्वभावः स्यात् प्रकाशनम्॥
ततश्च कर्तृता तस्य स्वात्मविश्रान्तिलक्षणा।
अनिच्छतापि स्वीकार्या यामहन्तां विदुर्बुधाः॥
पार्यन्तिकी प्रतिष्ठाभूर्वेद्यवर्गस्य यो विभुः।
तस्य स्वयम्प्रतिष्ठत्वमहम्भावः प्रकीर्त्यते॥

विमर्शश्चायमेव स्यान्मुख्यमैश्वर्यमीशितुः ।
अतः स्वतन्त्रो भगवान् सर्वंसह इति स्थितम् ।।

तस्य च विमर्शस्य या दशा स्फुरणावस्था, तस्या मुखेन औन्मुख्ययोगेन मलानामाणवकार्मणमायीयानामालिः पारम्पर्यात्मा सञ्चयः प्रकाशेन कर्तृभूतेन दह्यते, स्वात्मानुप्रवेशितया स्वीक्रियते। तत्र भिन्नवेद्यप्रथा माया। तदायत्तं मलं मायीयम्। कर्मणा पुण्यपापवासनात्मना सम्भूतं कार्मणम्। अणुर्नाम पूर्णाहम्भाव-परामर्शशून्यत्वात् सङ्कुचितम्मन्यो जीवः। तद्भाव एवाणवम्। तच्चानात्मन्यात्मज्ञानमात्मन्यनात्मज्ञानं च। एतदाशयेनैव हि श्रीशिवसूत्रेष्वकारप्रश्लेषा-प्रश्लेषाभ्यां चैतन्यमात्मज्ञानं बन्ध इत्युक्तम्। यदुक्तं श्रीतन्त्रालोके—

चैतन्यमात्मज्ञानं बन्ध इत्यत्र सूत्रयोः ।
संश्लेषेतरयोगाभ्यामयमर्थः प्रकाशितः ।। इति।

परमेश्वरो हि ज्ञानक्रियारूपतया प्रकाशविमर्शस्वभावः। तस्य च ज्ञातृत्वे विम्रष्टृत्वे चैकतरस्मिन्नप्यपरामृश्यमाने मलमाणवं नामोत्पद्यत इति तात्पर्यार्थः। यथा श्रीप्रत्यभिज्ञायाम्—

स्वातन्त्र्यहानिर्बोधस्य स्वातन्त्र्यस्याप्यबोधता ।
द्विधाणवं मलमिदं स्वस्वरूपापहानितः ।। इति।

सर्वोऽपि मलोल्लासः

मलमज्ञानमिच्छन्ति संसाराङ्कुरकारणम्।

इति श्रीमालिनीविजयोत्तरस्थित्या स्वपरामर्शानान्मुख्यमात्रस्वभावः। स च—

औष्ण्यं हुताश इव शीतलिमानमिन्दौ
शय्यासु मार्दवमिवाश्मसु कर्कशत्वम्।
बाह्येषु मोहमिव योगिषु च प्रबोधं
स्वातन्त्र्यमस्ति हि नियन्त्रयितुं महन्मे।।

इति संविदुल्लासस्थित्या पारमेश्वरस्वातन्त्र्यमेवेति विवेकः। एतेन—

एकोऽप्यनेकशक्तिर्दृक्क्रिययोश्छादको मलः पुंसाम् ।
तुषकम्बुकवद् ज्ञेयस्ताम्राश्रितकालिकावद् वा ।।

इत्यादिना मलो नामात्मगतं किञ्चिद् द्रव्यमित्याचक्षाणाः प्रत्याख्याताः। तत्र चोक्तमलत्रयोपरक्ताः सकला मायातत्त्वान्तरालवर्तिनो देवादयश्च, आण-वकार्मणमलद्वयानुबद्धाः प्रलयाकलाः। आणवे च तेषामात्मज्ञातृत्वविमर्श-शून्यतानिबन्धनं मलमित्यनुसन्धेयम्। तेषु च केषुचिद् वेद्यभेदप्रथोपाधिको

मायीयोऽपि मलः सम्भवति। अन्येषां त्वपवेद्यप्रथानुप्रविष्टानामसौ न विद्यत इति विशेषः। एकमला विज्ञानकलाः। तत्रापि तन्मलं स्वात्मनो विप्रष्टृत्वविमर्श-शून्यत्वात्। विद्येश्वराणामपि मायीयमात्रानुबन्धादेकमलत्वमेव। मलक्षयोपलक्षिता मन्त्रादयः। तत्रापि तत्क्षयौन्मुख्यमात्रे मन्त्राः, तदुपक्रमे मन्त्रेश्वरा विद्येश्वराश्च, येषामीश्वरोऽभिमन्ता। क्षीयमाणमलत्वे मन्त्रमहेश्वराः, येषां च सदाशिवोऽधिष्ठाता। वासनामात्रोपरक्तमलतायामनाश्रितशिवतत्त्वम्। सर्वाकारानुत्पन्नमलोल्लासस्तु भगवान् परमशिवभट्टारक एवेति प्रमातृवैचित्र्यम्। आनीतेति। मलत्रयदाहस्य चायमुपायो यद्विमर्शमुखेनान्तःप्रापणम्। स्वात्मानुप्रविष्टानां च—

यथा हि वह्निना लीढमिन्धनं तन्मयं भवेत्।
एवं चिता समालीढं चैत्यं चिन्मयतां व्रजेत्।।

इत्यादिनीत्या तद्वद्भावावश्यम्भावात् तेषां मलस्वभावत्वमेव विपर्यस्यतीति यावत्। यदुक्तं श्रीभगवद्गीतासु—

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन। इति।

यच्चोक्तं मयैव संविदुल्लासे—

वेद्योपरागविभवेन विमोह्यमानं
लोहान्तरव्यतिकरादिव व्यक्तकार्ष्ण्यम्।
ज्वालावलीभिरभितप्य विमर्शवह्निः
स्वच्छं हिरण्यमिव मे हृदयं विधत्ते।। इति।

मलशङ्कापरित्याग एव मलक्षयोपाय इति यावत्। तदुक्तं श्रीनिशाकुले–

स्फटिकोपलगो रेणुः किं तस्य कुरुतां प्रिये।
व्योम्नीव नीलं हि मलं मलशङ्कां ततस्त्यजेत्।। इति।

यथा किल चैत्रमैत्रादेर्जीवकदम्बकस्य स्तम्भकुम्भादेर्भावराशेश्च प्रकाशको गृहदेवताद्युपचारद्वारा मङ्गल्यः प्रदीपो वह्निविशेषत्वादग्नेरूर्ध्वज्वलनमिति न्यायादूर्ध्वो भवन् ज्वलति। यथा च तस्य वर्तिमुखेनानीय तैलप्रसरो दह्यत इति रूपकश्लेषौ। उपमाद्यलङ्कारेण वाक्यवैचित्र्यं तदर्थस्य हृदयङ्गमीकरणायेत्युक्त-प्रायमेतत्।।१०।।

प्रकाशो = परमप्रकाशक शिव। लोक = प्रकाशस्वभाव प्रमाता। अलोक = प्रमाता के अधीनस्थ, अप्रकाश प्रमेय। लोकालोक = ग्राहक-ग्राह्य, प्रमाता-प्रमेय। ऊर्ध्वः = स्वयंप्रकाश होने के कारण प्रकाश्य वर्ग से उत्तीर्ण (श्रेष्ठतर)। ज्वलति = परिस्फुरित होता है। प्रकाशो = प्रमा, प्रमेय एवं प्रमाता को प्रकाशित करने वाला। विमर्शदशा =

आत्मपरामर्श की स्फुरणावस्था। मुखेन = औन्मुख्य योग द्वारा। मल = आणव मल, २. कार्मण मल एवं ३. मायीय मल। आलि = पंक्ति, समूह, सञ्चय।

१. आणव मल—'अणुर्नाम पूर्णाहम्भावपरामर्शशून्यत्वात् सङ्कुचितम्मन्यो जीवः। तद्भाव एवाणवम्'। 'पूर्णोऽहं' की भावराशि से शून्य जो संकुचित जीव हैं, वे 'अणु' कहलाते हैं। उनका अपूर्णोऽहं भावजात ही आणवमल है। इस आणवमल के दो प्रकार हैं—

स्वातन्त्र्यहानिर्बोधस्य स्वातन्त्र्यस्याप्यबोधता।
द्विधाणवं मलमिदं स्वस्वरूपापहानितः।।

यह स्वस्वरूप की हानि का पर्याय है।

यह अनात्मा में आत्मज्ञान एवं आत्मा में अनात्म-ज्ञान से युक्त है—तच्चानात्मन्यात्मज्ञानमात्मन्यात्मज्ञानं च। (आत्मनि अनात्मज्ञानम् + अनात्मनि आत्मज्ञानं)।[१]

२. कार्मण मल—कर्मणा पुण्यपापवासनात्मना सम्भूतं कार्मणम्।[२]

३. माया मल—तत्र भिन्नवेद्यप्रथा माया। तदायत्तं मलं मायीयम्।[३]

परमशिव अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति के द्वारा जो अवरोहणात्मक स्वात्मप्रच्छादन की क्रीड़ा करता है, वह स्वरूपगोपनात्मिका इच्छारूपा क्रीड़ा ही काश्मीर शैवदर्शन में आणव मल स्वीकार की गई है। आणवमल यथार्थ नहीं है; प्रत्युत शिव की अवरोहण लीला के लिये शिव के द्वारा अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति के माध्यम से की गई मल की कल्पनामात्र है—

देवः स्वतन्त्रश्चिद्रूपः प्रकाशात्मा स्वभावतः।
रूपप्रच्छादनक्रीड़ायोगादणुरनेककः ।।

(अभिनवगुप्ताचार्य—तन्त्रालोक-१३.१०३)

आणव मल का कारण है—ईश्वर की स्वस्वरूप-तिरोधित्सा—इह ईश्वरस्य स्वरूपतिरोधित्सैव तावदाणवमलस्य कारणम् (तन्त्रालोक : भाग-८)।

मल है क्या? संसाराङ्कुरकारणरूप अज्ञान ही 'मल' है—

मलमज्ञानमिच्छन्ति संसाराङ्कुरकारणम्।

तन्त्रसारकार की दृष्टि—तन्त्रसार नामक ग्रन्थ में कहा गया है कि जो अज्ञान है, वही बन्धन का मूल कारण है और उसे ही तन्त्राम्नाय में 'मल' कहा गया है—

अज्ञानं किल बन्ध हेतुरुदितः शास्त्रे मलं तत्स्मृतम्।

क्या अज्ञान ज्ञानाभाव की संज्ञा है? नहीं। सांसारिक जीवों में होने वाला परिमित

१-२. महेश्वरानन्द : स्वोपज्ञ परिमल ३. परिमल

ज्ञान ही अज्ञान है; इसलिये इस ज्ञान को शिवसूत्रकार ने दो बार अज्ञान कहा है। वे कहते हैं—ज्ञानं बन्धः। (१.२)

शैव शास्त्रों में इस अज्ञान को ही 'मल' कहा गया है। अज्ञान का कारण क्या है? परमशिव की वह स्वातन्त्र्य नाम्नी शक्ति, जिसके द्वारा वह अवरोहण एवं आरोहण नामक क्रीड़ा किया करता है, अज्ञान का कारण है।

आचार्य उत्पलदेव आणव मल के दो रूप बताते हैं—

१. स्वातन्त्र्यहानिर्बोधस्य : स्वातन्त्र्य-बोध का अभाव।
२. स्वातन्त्र्यस्याप्यबोधता : स्वातन्त्र्य का अबोध।
३. स्वस्वरूप की हानि (अबोध)—

स्वातन्त्र्यहानिर्बोधस्य स्वातन्त्र्यस्याप्यबोधता।
द्विधाणवं मलमिदं स्वस्वरूपापहानितः।।

अज्ञान एवं मल में क्या सम्बन्ध है?

मलमज्ञानमिच्छन्ति संसाराङ्कुरकारणम्।।

मालिनीविजयोत्तरतन्त्रकार की दृष्टि—इस तन्त्र-ग्रन्थ में स्वपरामर्शात्मक ज्ञान को एवं स्वातन्त्र्य को प्राधान्य देते हुये कहा गया है—

औष्ण्यं हुताश इव शीतलिमानमिन्दौ
शय्यासु मार्दवमिवाश्मसु कर्कशत्वम्।
बाह्येषु मोहमिव योगिषु च प्रबोधं
स्वातन्त्र्यमस्ति हि नियन्त्रयितुं महन्मे।।

संविदुल्लासकार की दृष्टि—संविदुल्लास में कहा गया है कि पारमेश्वर स्वातन्त्र्य ही प्रधान तत्त्व है। 'मल' आत्मगत नहीं, बाह्य है—

एकोऽप्यनेकशक्तिर्दृक्क्रिययोश्छादको मलः पुंसाम्।
तुषकम्बुकवद् ज्ञेयस्ताम्राश्रितकालिकावद् वा।।

परमशिव अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति एवं स्वतन्त्र स्वभाव के कारण जो लीलावश जीवस्वभाव ग्रहण करते हैं और स्वरूप-गोपन करके स्वेच्छावश स्वगृहीत पारिमित्य को यथार्थ समझने लगते हैं, उनकी वही पारिमित्य-प्रतीति 'बन्धन' बन जाती है—

केवलं एताः बन्धमोक्षादिकल्पना मायाशक्तिवशात्।
अपरामृष्टस्वरूपस्यैव न तु चिदद्वैतपरामर्शशीलस्य।।[1]

१. अणुत्व चेतना में अहन्ताभिमान आणवमल है।

---

१. विज्ञानभैरवविवृति

२. भिन्नवेद्यप्रथा मायीय मल है।

३. शुभाशुभ वासनाओं से रचित मल कार्ममल है।

शुभाशुभविकल्प ही कार्ममल का स्वरूप है। पारमित्य या सङ्कोच को ग्रहण करना ही आणवमल है—सङ्कोच एव हि पुंसामाणवमलमित्युक्तप्रायम्।[१]

इसी कार्ममल के पाश से पाशबद्ध होकर जीव बार-बार जन्म-मृत्यु (आवागमन चक्र) का कष्ट भोगता है।

१. 'माया' किसे कहते हैं? 'तत्र भिन्नवेद्यप्रथा माया'। अभेद में भेद, अद्वैत में द्वैत एवं अद्वय में द्वय की मिथ्या कल्पना या विकल्प-सृष्टि ही माया है।

२. मायीय मल क्या है? मायायत्त मल ही मायीय मल है—तदायत्तं मलं मायीयम्।

३. कार्ममल क्या है? पुण्यपापवासनात्मना सम्भूत मल ही कार्मणमल हैं—कर्मणा पुण्यपापवासनात्मना सम्भूतं कार्मणम्।

४. आणवमल क्या है? पूर्णाहम्भावपरामर्श से शून्य एवं संकुचितम्मन्य जीव ही अणु कहा जाता है और उसके इसी भाव को आणवमल कहते हैं—अणुर्नाम पूर्णाहम्भावपरामर्शशून्यत्वात् सङ्कुचितम्मन्यो जीवः। तद्भाव एवाणवम्।

उसी प्रकार का अनात्मा में आत्मज्ञान एवं आत्मा में अनात्मज्ञान ही आणवमल है—तच्चानात्मन्यात्मज्ञानमात्मन्यात्मज्ञानं च।

शिवसूत्रकार की दृष्टि—उक्त आशय से ही वसुगुप्ताचार्य ने 'शिवसूत्र' में कहा था कि 'चैतन्यमात्माज्ञानं बन्धः'।[२]

तन्त्रालोककार अभिनवगुप्तपादाचार्य की दृष्टि—अभिनवगुप्त ने 'चैतन्यमात्मा' एवं 'ज्ञानं बन्धः'—इन दोनों शिवसूत्रों को एक सूत्र में मिलाकर उन दोनों की एकीकृत व्याख्या की है—

चैतन्यमात्मज्ञानं बन्ध इत्यत्र सूत्रयोः।
संश्लेषेतरयोगाभ्यामयमर्थः प्रकाशितः।।

तान्त्रिकों का परमेश्वर वेदान्त के निर्गुण ब्रह्म से भिन्न है; क्योंकि—परमेश्वरो हि ज्ञानक्रियारूपतया प्रकाशविमर्शस्वभावः।

उसके ज्ञातृत्व-विम्रष्टृत्व में से किसी के भी अपरामृश्यमान रहने पर आणवमल नहीं उत्पन्न होता।

प्रत्यभिज्ञाकार उत्पलदेव की दृष्टि—'विमर्शदशामुखानीतदह्यमानमलालि-

---

१. स्वच्छन्दतन्त्र टीका

२. परिमल

तैलविच्छर्दः'। तीनों मलों के प्रज्वलित या परिदग्ध करने के लिये विमर्श की उन्मुखता ही उपाय है।

जिस प्रकार बत्ती के द्वारा अपने अग्रभाग पर लाये गये तेल-समूह को दीपक की आग जलाकर अन्धकार को विनष्ट करते हुये जड़ एवं चेतन (अलोक-लोक) सारे समूह को प्रकाशित कर देती है, उसी प्रकार 'प्रकाश'रूप परमशिव अपनी समवायिनी विमर्श शक्ति की स्फुरणावस्था के औन्मुख्य बिन्दु पर अवस्थित होकर सारे अज्ञानात्मक अन्धकार को नष्ट करके प्रमाता-प्रमेयरूप (ग्राहक-ग्राह्यरूप) सारे जगत् को प्रकाशित कर देता है।

ज्वलति = सम्पूर्ण सम्प्रतिपत्ति (विद्यमानता, समीप स्थिति) के द्वारा परिस्फुरित होता है। विमर्श क्या है? 'विमर्श' शिव का स्वभाव है—विमर्शाख्योऽतिशयः कश्चित् स्वभावतया स्वीकर्तव्यः।[१] लोकालोकस्य मंगलप्रदीपः—लोक्यमान एवं अलोक्यमान (लोकालोक दोनों) प्रकाशरूप शिव के प्रकाश से प्रकाशित हो उठते हैं; क्योंकि शिव इन दोनों के लिये तमध्वंसी मंगलप्रदीप है।

परमात्मा को 'प्रकाश' इसलिये कहा गया है; क्योंकि 'प्रकाश्य' जगत् के सारे प्रकाश इसी महाप्रकाश शिव से आविर्भूत होते हैं। 'प्रकाश' (शिव) केवल प्रकाशमय ही नहीं, कर्तृत्वमय भी है—प्रकाशस्य कर्तृत्वादयो धर्मः।[२] यदि प्रकाश में कर्तृत्व नहीं होगा तो वह प्रकाशमय किन्तु जड़ स्फटिक की भाँति रह जाएगा—

प्रकाशेऽर्थोपरक्तोऽपि स्फटिकादिजडोपमः।[३]

प्रकाश और कर्तृत्व का सामरस्य—वेदान्त का ब्रह्म कर्तृत्वहीन है; किन्तु शैवों-शाक्तों का शिव कर्तृत्ववान है। इसी दिशा में व्यक्त विचारों पर ध्यान दीजिये—

अत्र खल्वतिविस्तीर्णे लोकयात्राविजृम्भते।
व्यवह्रियन्ते बहवो भावा भू भूधरादयः।।
व्यवहारविधिस्तेषामसङ्कीर्णश्च लक्ष्यते।
तत्र किं तन्निमित्तं स्यादित्यालोचयतां सताम्।।
संवित्तिव्यतिरेकेण नैवान्यदुपलभ्यते।
तस्या व्यपोहशङ्कायां भूः स्वात्मनि न भूर्भवेत्।।
नाप्यभूर्भूधरादस्याः पृथक्त्वं च कथं भवेत्।
मिथो रूपापहारे च फूत्कर्तुं कस्य कौशलम्।।
एवं वेद्यस्य पृथ्व्यादेरसङ्कीर्णे प्रकाशने।
सामान्यतो विशेषाच्च संविदेव प्रगल्भते।।

---

१. परिमल २. परिमल ३. प्रत्यभिज्ञाकारिका

सापि वेद्यवदन्येन प्रकाश्या चेत् प्रवर्तते।
प्रकाशस्तन्मयो न स्याज्जाड्ययोगाविशेषतः।।
संविदोऽन्यप्रकाश्यत्वे संवित्त्वं लुप्यते न वा।
न चेद् व्यर्थं तदन्यत् स्याद्येन सेयं प्रकाश्यते।।
लुप्यते चेत् किमाकारा सा तेनास्तु प्रकाशिता।
तस्मान्यस्य प्रकाशश्च कुत इत्यवलोकने।।
अन्यदन्यदिति व्यक्तमनवस्थितिरापतेत्।
अतोऽस्याः स्वप्रकाशत्वं स्वभावादेव सिध्यति।।
प्रकाशश्चोक्तया भङ्ग्या स्वप्रकाशो भवन्नपि।
भावमात्रस्वभावत्वे न जाड्यं वेद्यवत् त्यजेत्।।
स्वप्रकाशोऽप्यसौ कश्चित् कर्तृतामश्नुते न चेत्।
अन्यथा त्वर्थवन्नास्य स्वभावः स्यात् प्रकाशनम्।।
ततश्च कर्तृता तस्य स्वात्मविश्रान्तिलक्षणा।
अनिच्छतापि स्वीकार्या यामहन्तां विदुर्बुधाः।।
पार्यन्तिकी प्रतिष्ठाभूर्वेद्यवर्गस्य यो विभुः।
तस्य स्वयंप्रतिष्ठत्वमहम्भावः प्रकीर्त्यते।।
विमर्शश्चायमेव स्यान्मुख्यमैश्वर्यमीशितुः।
अतः स्वतन्त्रो भगवान् सर्वंसह इति स्थितम्।।

ज्वलति—उन शिव की शक्ति विमर्श की जो स्फुरणावस्थारूप दशा है, उसके मुख से अर्थात् औन्मुख्य बल से मलों के (आणव-कार्मण-मायीय मलों के) सञ्चय-प्रकाशरूप शिव के प्रकाश से जल जाते हैं; अतः स्वात्मानुप्रवेश द्वारा स्वीकार कर लिये जाते हैं अर्थात् शिव उन मलों को अपने में लेकर उन्हें भस्म कर देते हैं।[१]

विमर्शदशामुखानीतदह्यमानमलालि—'विमर्श' की दशा (स्फुरणावस्था) के 'मुख' से (औन्मुख्य योग से) मलों (आणव, कार्म एवं मायीय मलों) के समूह (आलि) जल जाते हैं।

शिव प्रकाश-विमर्शस्वभाव हैं—परमेश्वरो हि ज्ञानक्रियारूपतया प्रकाशविमर्शस्वभावः (परिमल)। शिव मङ्गलदीपवत् अन्धकार को या मल को नष्ट कर देता है—

१. दीप अन्धकार को नष्ट कर देता है।

२. शिव अपने प्रकाश से मलों को नष्ट कर देता है।

मल और उसके प्रमाता—

सकल—'आणव मल' 'कार्ममल' एवं 'मायीय मल' तीनों मलों से युक्त प्रमाता

१. परिमल (१०)

ही 'सकल' कहलाता है—मलत्रयोपरक्ता: सकला मायातत्त्वान्तरालवर्तिनो देवादयश्च।[१]

प्रलयाकल—आणवमल एवं कार्मण मल अर्थात् दो मलों से युक्त जीव 'प्रलया-कल' कहलाते हैं—आणवकार्मणमलद्वयानुबद्धा: प्रलयाकला:।[२]

आणव मल—अणुओं का मल।

आत्मज्ञानतृप्तित्व एवं विमर्शशून्यता से रहित मल आणवमल का एक लक्षण है—आणवे च तेषामात्मज्ञातृत्वविमर्शशून्यतानिबन्धनं मलमित्यनुसन्धेयम्।[३]

विज्ञानाकल—एक मल से उपहित प्राणी ही विज्ञानाकल कहलाते हैं—एक-मला: विज्ञानाकला:। 'विज्ञानाकलों' में भी स्वात्मविभ्रष्टृत्व विमर्शशून्यता[४] रहती है। विद्येश्वरों में भी मायीयमात्रानुबन्ध के कारण एकमलत्व होता है। मन्त्रादिक में मलों का ध्वंस हो जाता है।

(क) मलों का क्षयौन्मुख्य 'मन्त्र' से सम्बद्ध है।

(ख) उपक्रम में 'मन्त्रेश्वर' तथा 'विद्येश्वर' स्थित हैं। वासनामात्रोपरक्त मलतायमानाश्रित ही 'शिवतत्त्व' है।

(ग) परमशिव भट्टारक कौन है—सर्वाकारानुत्पन्नमलोल्लासस्तु भगवान् परम-शिवभट्टारक एवेति।[५]

जिसमें तीन में से कोई भी मल उत्पन्न एवं उल्लसित नहीं होते वे ही हैं—परम-शिवभट्टारक। परमशिव में मलत्रय का अवस्थान क्यों नहीं होता? कारण सुस्पष्ट है—

यथा हि वह्निना लीढमिन्धनं तन्मयं भवेत्।
एवं चितासमालीढं चैत्यं चिन्मयतां व्रजेत्।।

भगवान् श्रीकृष्ण ने इसी तथ्य की पुष्टि करते हुये कहा है—

ज्ञानाग्नि: सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन।

संविदुल्लासकार की दृष्टि—संविदुल्लास में महेश्वरानन्द कहते हैं—

वेद्योपरागविभवेन विमोह्यमानं
लोहान्तरव्यतिकरादिव व्यक्तकार्ष्ण्यम्।
ज्वालावलीभिरभितप्य विमर्शवह्नि:
स्वच्छं हिरण्यमिव मे हृदयं विधत्ते।।

मलशङ्का का परित्याग ही मलक्षयोपाय है।[६]

१-३. सोपज्ञ परिमल ५. परिमल
४. परिमल (१०) ६. परिमल (१०)

श्रीनिशाकुलकार की दृष्टि—

स्फटिकोपलगो रेणुः किं तस्य कुरुतां प्रिये।
व्योम्नीव नीलं हि मलं मलशङ्का ततस्त्यजेत्।।

विमर्श और विश्वविस्तार

अथ प्रक्रान्तं विमर्शस्वरूपमात्मनः स्वभावतया स्वयमेवोपपादयति—

संतो हिअअपआसो भवणस्य किआए होइ कत्तारो।
सच्चिअ किआ विमरिसो सोत्था खुहिआ अ वीसवित्थारो ॥११॥

(सन् हृदयप्रकाशो भवनस्य क्रियायां भवति कर्ता।
सैव क्रिया विमर्शः स्वस्था क्षुभिता च विश्वविस्तारः।।)

(स्वात्मस्वरूप) हृदस्थ आत्म-प्रकाश ही भवन-क्रिया (विश्व-सृजन) का कर्ता है। यही (हृदय-प्रकाश) जब तक आत्मा में अवस्थित रहता है तब तक (शुद्ध आत्म-स्वभावस्वरूप) 'विमर्श' कहा जाता है और क्षुब्ध होने पर यही विश्व-विस्तार बन जाता है।।११।।

स्वहृदयस्य प्रकाशो हि सर्वस्यास्तीति वक्तव्यम्, असत्त्वे स्वव्याघातप्रसङ्गात्। यथोपनिषत्—

असन्नेव स भवति असद् ब्रह्मेति वेद चेत्।
अस्ति ब्रह्मेति चेद् वेद सन्तमेनं ततो विदुः ।। इति।

तस्मात् स्वात्मरूपो हृदयप्रकाशः। सन्नित्यत्र सम्प्रतिपत्तिरेव। तत्र सन्नित्येतत् प्रकृतितः प्रत्ययतश्च पर्यालोचनीयम्। अस्तेर्धातोः शतरि खल्वेवमुत्पद्यते। तत्र चास्त्यंशस्यार्थो भावनाख्या क्रिया, प्रत्ययांशस्य तु कर्तेत्यङ्गीकार्यम्। ततश्च सन्नित्यस्य भवनलक्षणायाः क्रियायाः कर्तेत्यर्थो भवति। सैव भवनक्रिया कर्तृतामयी विमर्श इत्युच्यते। पुनः क्रियाशब्दोपन्यासेन भवनं सत्त्वम्, तच्च सामान्यरूपम्। ततो न तस्य क्रियात्वमिति वदन्तो निराक्रियन्ते। यतो भावः क्रियेति नीत्या धात्वर्थमात्रस्य क्रियात्वमभ्युपगन्तव्यमित्यावेद्यते। सा च क्रिया—

अवस्थायुगलं चात्र कार्यकर्तृत्वशब्दितम्।
तथाहि संविदेवेयमन्तर्बाह्योभयात्मना।
स्वातन्त्र्याद् वर्तमानैव परामर्शस्वरूपिणी ।।

इति श्रीस्पन्दतन्त्रालोकस्थित्या यदा स्वस्मिन् हृदयप्रकाशरूप एवात्मनि तिष्ठति, तदा विमर्शः शुद्धो विमर्श इत्येव व्यवह्रियते। यदा तु विकल्पोपश्लेषलक्षणं क्षोभमनुभवति, तदा विश्वविस्तारः प्रपञ्चस्फुरणवैचित्र्यात्मा विमर्श इति

तत्राधिको विशेषणांशः कश्चिदुत्पद्यते। एवं च प्रकाशस्य विमर्शः स्वभाव इत्यङ्गी-कार्यम्। एतद्व्यतिरेकश्च स्वभावभङ्गपर्यायत्वात् तस्याप्रकाशत्वमेव प्रयोजयति। ततश्चायं स्फटिकमुकुरादिवदल्पप्रकाशः स्तम्भकुम्भादिवदप्रकाशो वा स्यादित्युक्तं भवति। किञ्च, सन्नित्यत्र या सत्तोक्ता, सैव चित्त्वमुच्यते। सत्त्वचित्त्वयोश्च साम-रस्यमानन्दः। यदुक्तं श्रीरसान्वये—

या चिद् सत्त्वैव सा प्रोक्ता सा सत्तैव चिदुच्यते।
अत्र चित्सत्तयोर्व्याप्तिस्तत्रानन्दो विराजते।।
यत्रानन्दो भवेद् भावे तत्र चित्सत्तयोः स्थितिः। इति।

आहत्य च सच्चिदानन्दस्वरूपः स्वहृदयात्मा परमेश्वर इत्यवगन्तव्यम्। यदाहुः—

सच्चित्सुखमयः शम्भुस्त्रिरूपः सर्ववस्तुषु। इति।
इत्थमन्तर्बहिर्भाववैचित्र्येऽपि प्रसर्पति।।
यौगपद्यमयीं स्वस्य विप्रकृष्टत्वमयीं स्थितिम्।
अनुशील्य जनः स्वच्छामैश्वरीं श्रियमश्नुते।
एवमेतदुपेक्षायां पाशवेन विमुह्यति।।
यथा यथा विजृम्भेत स्वसंरम्भचमत्क्रिया।
तथा तथा विकल्पानां विक्षोभः क्षयमश्नुते।।
कलयापि विमर्शस्य वीर्यवत्ता विपश्चितः।
तन्व्यापि विषकाकिण्या दुर्लङ्घो हि भुजङ्गमः।। इति।

कर्तृत्व शक्तिसम्पन्नता विश्व-विस्तार की पारमात्मिकी शक्ति ही विमर्श है। जब तक यह हृदय का प्रकाश आत्मस्वरूप रहता है तब तक शुद्ध सत्त्व क्रियात्मक रहता है। जैसे ही इसमें विकल्पों की अभिव्यक्ति प्रारम्भ होती है तभी विश्व का विस्तार प्रारम्भ हो जाता है। 'स्वशक्तिप्रचयो विश्वम्' (शिवसूत्र) भी प्रपञ्च को शक्ति का प्रचय ही घोषित करता है। संसार में व्यक्त असंख्य कार्यों, व्यापारों एवं क्रियाओं के मूल में परमात्मा की क्रियाशक्ति ही व्याप्त है। विश्व-विमर्श (विश्व-विस्तार या विश्व-सृष्टि) में शक्तिमान शिव ही विद्यमान है।

विमर्श-स्वरूप—विमर्श का स्वरूप क्या है? नागानन्द कहते हैं कि अकृत्रिम अहंभाव का स्फुरण या पूर्ण अहंभावना (पूर्णाहन्ता) ही 'विमर्श' है। यह सृष्टि, स्थिति एवं संहार—तीनों में अहमाकाराकारित होकर व्यक्त होती है।

विमर्श परमात्मा की वह शक्ति है, जो कि विश्वाकार में परिणत हो जाती है। विश्व को अपने भीतर स्थित रखती है और विश्व का संहार कर देती है; किन्तु उसके परिणमन—सृजन-स्थिति एवं संहार तीनों में उसका अकृत्रिम अहं ही व्यक्त होता है।

उसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं—विमर्शो नाम विश्वाकारेण वा विश्वप्रकाशेन वा विश्वोपसंहारेण वा अकृत्रिमोऽहमिति स्फुरणम्।

परमशिव की जो 'पूर्णाहन्ता' है, वही आख्यान्तर में 'विमर्श' है। 'प्रकाश' विश्वस्वरूप है और 'विमर्श' शक्तिस्वरूप। शक्ति ही परम शिव का 'विमर्श' है। यह परा शक्ति है, जिसमें कर्तुं, अकर्तुं एवं अन्यथाकर्तुं तीनों की शक्तियाँ विद्यमान हैं—विमर्शो हि सर्वंसहः परमपि आत्मीकरोति आत्मानं च परीकरोति उभयम् एकीकरोति एकीकृतं द्वयमपि न्यग्भावयति इत्येवंस्वभावः। 'विमर्श' एक नैसर्गिकी स्फुरत्ता है, शिव की शक्ति है। यह वह शक्ति है, जिसके द्वारा शिव जगत् की उत्पत्ति, पालन एवं संहार करते हैं। अन्त्य 'ह'वाच्य कला भी विमर्श है—

> नैसर्गिकी स्फुरत्ता विमर्शरूपास्य वर्तते शक्तिः।
> तद्योगादेव शिवो जगदुत्पादयति पाति संहरति।।[1]
> अकारः सर्ववर्णाग्र्यः प्रकाशः परमः शिवः।
> हकारोऽन्त्यः कलारूपः विमर्शाख्यः प्रकीर्त्तितः।।

शिव तत्त्व प्रकाशात्मा है और 'विमर्श' ही इसका स्वभाव है।

सृष्टि की अवस्था में विश्वाकार होने के द्वारा, स्थिति की अवस्था में प्रकाशन के द्वारा तथा संहार की अवस्था में आत्मसात् करने के द्वारा शिव में जो पूर्ण अकृत्रिम अहंभाव है, उसे ही 'विमर्शशक्ति' कहते हैं। यदि शिव में विमर्श शक्ति न हो तो शिव अनीश्वर या जड़ हो जायेंगे। 'विमर्श' के अनेक पर्याय हैं; यथा—कर्तृत्व, स्फुरत्ता, चित्, परावाक्, चैतन्य एवं परमात्मा का मुख्यैश्वर्य आदि।

इस शक्ति के अनन्त रूप हैं; किन्तु इन्हें पाँच वर्गों में विभाजित किया गया है, जो इस प्रकार है—

१. चित्शक्ति ३. इच्छाशक्ति ५. आनन्दशक्ति
२. आनन्दशक्ति ४. ज्ञानशक्ति

उत्पलदेवाचार्य की दृष्टि—आचार्य उत्पलदेव प्रत्यभिज्ञाकारिका में कहते हैं कि अवभास का स्वभाव ही विमर्श कहा जाता है—स्वभावमवभासस्य विमर्शं विदुरन्यथा। यह चेतन तत्त्व है, चैतन्य है, चित्क्रिया है, चितिकर्तृता है; चिति, प्रत्यवमर्शात्मा, परावाक्, स्वातन्त्र्य, ऐश्वर्य स्फुरत्ता, सार एवं परमेष्ठी का हृदय है—

> आत्मा त एव चैतन्यं चित्क्रिया चितिकर्तृता।
> चितिः प्रत्यवमर्शात्मा परावाक् स्वरसोदिता।
> स्वातन्त्र्यमेतन्मुख्यं तदैश्वर्यं परमात्मनः।। (१.४)

---

१. वरिवस्यारहस्यम्

सा स्फुरत्ता महासत्ता देशकालाविशेषिणी।
सैषा सारतया प्रोक्ता हृदयं परमेष्ठिनः।। (१.४५)

उत्पलदेवाचार्य कहते हैं कि 'विमर्श' तो चिद्रूप परमात्मा का मुख्य स्वभाव है और यह (स्वभावस्वरूप) 'विमर्श' ज्ञान-क्रियायुक्त है—

स एव विमृशत्वेन नियतेन महेश्वरः।
विमर्श एव देवस्य शुद्धे ज्ञानक्रिये यतः।। (१.८८)

अर्थात् स परमात्मा चिद्रूपो विमर्शाख्येनैव मुख्यस्वभावेनाव्यभिचारिणा महेश्वरश्चित्तत्त्वस्य विश्वात्मनः शिवसंज्ञस्याहंविमर्शनमेव शुद्धे ज्ञानक्रिये (प्र. का. वृत्ति)।

'आत्मविमर्शरूपा अनादिनिधना प्रभोः स्वभावभूता'। पुण्यानन्दनाथ कहते हैं कि महेश सृष्टिप्राक् अवस्था में 'विमर्श' को अन्तर्लीन करके रखते हैं—अन्तर्लीनविमर्शः पातु महेशः प्रकाशमात्रतनुः।

विमर्श की व्याख्या करते हुये नटनानन्दनाथ कहते हैं कि 'विमृश्यते परामृश्यते इदमिति विमर्शः प्रपञ्चः'। परमात्मा द्वारा सृष्ट विश्व का जो परामर्श है, वह प्रसिद्ध परामर्श है—इदम्, इदमित्येव हि परमात्मना सृष्टस्य जगतः प्रसिद्धपरामर्शः। इदमित्येव हि प्रपञ्चपरामर्शो दृश्यते। एवंभूतो विमर्शः प्रपञ्चः। विमर्शः पूर्णाहम्भावना।

सारांश यह कि पूर्णाहम्भावनायुक्त (पूर्णाहन्तायुक्त) होकर प्रपञ्च की अहमाकार भावना करना ही 'विमर्श' है। यह जगदात्मैक्यसंवलित विमर्श महेश्वर की अपनी शक्ति है। यही 'विमर्श' महेश्वर की वास्तविक क्रियाशक्ति है; इसीलिये 'महार्थमञ्जरी' में कहा गया है—सैव क्रिया विमर्शः।

प्रकाश और विमर्श परस्पर सर्वथा अभिन्न हैं; अतः ये दो होकर भी अद्वैत हैं और अद्वैत होकर भी दो जैसे प्रतीत होते हैं। यह आत्मास्वरूप परासंवित् ही समस्त भावों में—निःशेष सत्ताओं में—व्याप्त है। इसे ही चिति या आत्मा कहा गया है और यह आत्मा इतनी व्यापक है कि ऐसा कोई भाव नहीं है, जहाँ यह व्याप्त न हो। आचार्य सोमानन्दपाद ने शिवदृष्टि में कहा है—

आत्मैव सर्वभावेषु स्फुरन्निर्वृत्तचिद्विभुः।
अनिरुद्धेच्छाप्रसरः प्रसरद् दृक् क्रियः शिवः।। (प्र. आ.-२)

प्रतिज्ञा—सर्वभावेषु स्वात्मैव इति व्यवहर्तव्यम् इति प्रतिज्ञा।

हेतु—निर्वृतचिदित्यादिविशेषणकलापो हेतुः।

प्रमाण—स्फुरन्निति धर्मिणो हेतोश्च स्वसंवेदनप्रत्यक्षं प्रमाणम्।

निगमन—अतएव स्फुरन्निति पृथक्पदम्। निर्वृतचित्त्वाद्येव च शिवत्वमित्यर्थाच्छिवलक्षणमपि दर्शितम्। तस्मिंश्च सिद्धे विषये शिवत्वव्यवहारमात्रं तद्विषयं साध्यते।

यही आत्मा शिव है और उसका विमर्श ही शक्ति है। शक्ति एवं शक्तिमान दोनों अभिन्न हैं। आचार्य सोमानन्दपाद 'शिवदृष्टि' में इसकी पुष्टि करते हुये कहते हैं कि—

न शिवः शक्तिरहितो न शक्तिर्व्यतिरेकिणी।
शिवः शक्तस्तथा भावानिच्छया कर्तुमीहते।
शक्तिशक्तिमतोर्भेदः शैवे जातु न वर्ण्यते।।

'शक्ति' की समवेतता के कारण ही शिव शक्तिमान एवं कर्ता बनता है। 'शक्ति' आत्मस्वरूप परमशिव का विमर्श है। यही विमर्श नाम्नी शक्ति अघटनघटनापटीयसी (कर्तुं, अकर्तुं, अन्यथाकर्तुं) शिव की अपनी शक्ति है। 'शिवदृष्टि' में कहा गया है कि जिस प्रकार कुम्भकार (कर्ता) का कार्य 'घट' है, उसी प्रकार कार्यों को उत्पन्न करने वाली (परमशिव की) इच्छाशक्ति ही 'विमर्श' है—

यथा कर्तुः कुलालादेर्घटः कार्य इतीदृशः।
विमर्श इच्छारूपेण तद्वदत्रापि संस्थितम्।। (३.८४)

परमात्मा शिव अपने इसी 'विमर्श' शक्ति की सहायता से सब कुछ कर सकने की क्षमता के कारण 'स्वतन्त्र' है और उनकी शक्ति का नाम है—स्वातन्त्र्य शक्ति। परमशिव की स्वतन्त्र इच्छाशक्ति ही (परोन्मुखी, परापेक्षी न होने के कारण) स्वतन्त्र इच्छा (स्वातन्त्र्य) शक्ति कहलाती है। परमशिव की इच्छा परोन्मुख नहीं है; किन्तु अन्य प्राणियों की इच्छा परोन्मुखी (परापेक्षी) है। प्रत्येक अपूर्ण सत्ता दूसरे की सहायता से ही अपना कार्य निष्पादित कर पाती है; अतः अपूर्ण कहलाती है।

परमशिव की यह अन्यापेक्षारहितत्व (निराशंज्ञता, आकांक्षा का अभाव) ही आत्मा की पूर्णता है। इसी कारण इसे स्वतन्त्र कहा जाता है।

स्वात्मविश्रान्ति—परमशिव (स्वतन्त्र आत्मा) अपने-आपमें ही विश्रान्त रहता है। उसकी यह स्वात्मविश्रान्ति ही उसका पूर्ण आनन्द है—

स्वात्मविश्रान्तिरेवैषा देव-स्यानन्द उच्यते।

शिव से लेकर पृथ्वी-पर्यन्त छत्तीस तत्त्वों में अभेदरूप से स्फुरित आत्मा का इच्छाप्रसार ही उसकी विश्वात्मकरूपता है। इसे ही शैवागम में विमर्श कहा गया है। 'शक्ति' का स्फार ही विश्व है और शक्ति ही है—शिव की आन्तरिक स्वातन्त्र्य शक्ति या विमर्श। 'शक्तिप्रचयोऽस्य विश्वम्' (शिवसूत्र) द्वारा इसी तथ्य की अभिव्यक्ति की गई है। यह भी ध्यातव्य है कि परमात्मा शिव (परमशिव) की इच्छा, ज्ञान, क्रिया—तीनों अपृथक् हैं। इसीलिये कहा गया है कि—

न क्रियारहितं ज्ञानं न ज्ञान-रहिता क्रिया। (नेत्रतन्त्र)

ज्ञान एक क्रिया है; अतः उसका कोई कर्ता होना आवश्यक है। वही कर्ता (क्रिया

का आश्रय) शिव है। परमशिव की इच्छा से ही ज्ञान एवं क्रिया—दोनों का उद्भव हुआ है। अतः परमात्मा की इच्छा चिकीर्षारूपात्मिका है और उसी में सब कुछ निहित है। विश्व परमशिव (आत्मा) का शक्तिसंघात है। प्रकाश आत्मा का स्वरूप है और विमर्श प्रकाशात्मा परमात्मा के स्वस्वरूप की प्रतीति है। यह विमर्श ही प्रकाश की अपनी प्रकाशकता एवं महेश्वरता की पूर्ण प्रतीति है—

स एव विमृशत्वेन नियतेन महेश्वरः।

परासंवित्, प्रकाश एवं विमर्श—प्रकाश और विमर्श परस्पर पूर्णतः अभिन्न हैं। दोनों में से कोई भी अकेला एक अपना पृथक् अस्तित्व नहीं रखता। एक के अभाव में दूसरे की कल्पना सम्भव ही नहीं है।

एक ही तत्त्वातीत परमशिव अन्तर्जगत् एवं बाह्य जगत् में अर्थात् सर्वत्र व्याप्त है। यह सम्यक् चिद्रूप है; इसीलिये इसे 'चिति' या 'परासंवित्' कहा गया है।

शिवसूत्रों का आद्य सूत्र 'चैतन्यमात्मा' है। इस सूत्र के माध्यम से चिति या परम-शिव को आत्मा कहा गया है अर्थात् वसुगुप्ताचार्य ने शिवसूत्रों में चिति या परमशिव को ही आत्मा ही आख्या दी है। सर्वचैतन्यवादी आचार्य वसुगुप्त और उनका 'शिवसूत्र' शिव से लेकर धरणी-पर्यन्त सभी तत्त्वों का अवस्थान चैतन्य में स्वीकार करता है और चैतन्य को आत्मस्वरूप मानता है। यही वह परात्पर परतत्त्व है, जिसमें छत्तीस तत्त्वों की समष्टि के स्वरूप वाला विश्व अवस्थित है। इस चैतन्यस्वरूप आत्मा से श्रेष्ठतर एवं महत्तर विश्व में कोई भी नहीं है। इसी के कारण इसको 'परमशिव' या 'परा संवित्' एवं 'अनुत्तर' आदि कहा गया है। अभिनवगुप्त तन्त्रालोक (भाग-३) में इसी चैतन्य तत्त्व को परासंवित् कहते हैं—चितिस्तुर्यातीतपदात्मिका परा संवित्[१] इसी परतत्त्वात्मक परासंवित् में षट्त्रिंशदात्म विश्व अवस्थित है—यत् परतत्त्वं तस्मिन् विभाति षट्त्रिंशदात्म जगत्।[२]

परात्रिंशिकाविवृति में इसी चिद्घन को अनुत्तर तत्त्व कहा गया है—अनुत्तरं न विद्यते प्रकृष्टमुत्तरं यतस्तदनुत्तरं चिद्घनम्।[३] जिस प्रकार प्रकाशमान प्रकाश से पृथक् नहीं रह सकता, उसी प्रकार प्रकाश भी विमर्श से पृथक् कल्पित नहीं किया जा सकता—प्रकाशमानं न पृथक् प्रकाशात्। स च प्रकाशो न पृथग् विमर्शात्।[४] प्रकाश एवं प्रकाश-मान में जो अविनाभाव सम्बन्ध है, वही प्रकाश एवं विमर्श में है। प्रकाश ही आत्मा है, चिति ही आत्मा है, चैतन्य ही आत्मसंवित् है तथा इस प्रकाशरूप परमात्मा के स्वरूप की प्रतीति ही विमर्श है। महेश्वर के माहैश्वर्य की पूर्ण प्रतीति ही विमर्श है।

प्रकाश शिव है और विमर्श उसकी शक्ति है। विमर्श परमशिव की पूर्णाहन्ता है,

---

१. तन्त्रालोक (भाग-३)
२. परमार्थसारकारिका
३. परात्रिंशिकाविवृति
४. विज्ञानभैरवविवृति

पूर्ण अहम् की प्रतीति है—या स्वस्वरूपे विश्रान्तिर्विमर्शः सोऽहमित्ययम्[१]। शिव और शक्ति का नित्य सामरस्य ही परमशिव है। आचार्य उत्पलदेवाचार्य प्रत्य-भिज्ञाकारिका में कहते हैं कि शिव के विना शक्ति का अस्तित्व सम्भव नहीं है और शक्ति से व्यतिरिक्त होकर तो शिव स्फटिक आदि की भाँति जड़ हो जायेगा; क्योंकि स्फटिक प्रकाशस्वरूप होकर भी अपनी सत्ता की प्रतीति (विमर्श) नहीं कर सकता। इसीलिये उत्पलदेव कहते हैं कि 'अवभास' का स्वभाव ही विमर्श है और इसके विना 'प्रकाश' स्फटिक मणि आदि की भाँति अर्थोपरक्त होने पर भी (तदवत्) मात्र जड़ बनकर रह जायेगा—

स्वभावमवभासस्य विमर्शं विदुरन्यथा।
प्रकाशोऽर्थोपरक्तोऽपि स्फटिकादिजडोपमः।।[२]

सन् हृदय प्रकाशो = अपने-अपने हृदय का प्रकाश तो सभी जीवों में विद्यमान है; क्योंकि असत्त्व (उसके न होने) की बात तो स्वव्याघात होगा—

असन्नेव स भवति असद् ब्रह्मेति वेद चेत्।
अस्ति ब्रह्मेति चेद् वेद सन्तमेनं ततो विदुः।।

अतः हृदयप्रकाश स्वात्मरूप है।

भवनक्रिया = कर्तृतामयी विमर्श, भावनाख्या क्रिया। सन् = सम्प्रतिपत्ति (विद्यमानता, उपस्थिति)। यहाँ अस्त्यंश का अर्थ भावनाख्या क्रिया है। प्रत्ययांश कर्ता है। 'सन्' = भवन लक्षण वाली क्रिया का कर्ता। भवन क्रिया ही 'विमर्श' है—

अवस्थायुगलं चार्यकार्यकर्तृत्वशब्दितम्।
तथा हि संविदेवेयमन्तर्बाह्योभयात्मना।
स्वातन्त्र्याद् वर्तमानैव परामर्शस्वरूपिणी।।[३]

(क) जब हृदय प्रकाशरूप अपनी आत्मा में स्थित रहता है तब शुद्ध विमर्श कहा जाता है—यदा स्वस्मिन् हृदयप्रकाशरूप एवात्मनि तिष्ठति, तदा विमर्शः शुद्धो विमर्श इत्येव व्यवह्रियते।[४]

(ख) जब यह विकल्पोश्लेषलक्षणात्मक क्षोभ का अनुभव करता है तब यह विश्वविस्तार—प्रपञ्चस्फुरण-वैचित्र्यात्मा 'विमर्श' कहलाता है। विमर्श प्रकाश का स्वभाव है—प्रकाशस्य विमर्शः स्वभाव इत्यंगीकार्यम्। इसका व्यतिरेक स्वभावभङ्ग होने के कारण अप्रकाशत्व कहलायेगा। इस स्थिति में यह प्रकाश स्फटिक, मुकुर की भाँति अल्पप्रकाश एवं स्तम्भ-कुभादिक के रूप में प्रकाशहीन कहलाता है। मुख्य तत्त्व

१. अजडप्रमातृसिद्धि
२. प्रत्यभिज्ञाकारिका (१.४२)
२. स्पन्दकारिका
४. परिमल

है—चित्तत्त्व; जो कि प्रकाशात्मक एवं क्रियात्मक दोनों है। 'आनन्द' क्या है? सत्व + चित्त्व का सामरस्य ही 'आनन्द' है—सत्त्वचित्त्वयोश्च सामरस्यमानन्दः।[१]

श्रीरसान्वयकार की दृष्टि—श्रीरसान्वय में कहा गया है—

या चित् सत्तैव सा प्रोक्ता सत्तैव चिदुच्यते।
अत्र चित्सत्तयोर्व्याप्तिस्तत्रानन्दो विराजते।
यत्रानन्दो भवेद् भावे तत्र चित्सत्तयोः स्थितिः।।

सत् चित् एवं आनन्द (सच्चिदानन्द) **का अन्तःसम्बन्ध**—

१. जहाँ-जहाँ सत् है, वहाँ-वहाँ चित् तत्त्व भी है—सर्वचिन्मयवाद की पुष्टि।

२. जहाँ-जहाँ चित् तत्त्व है, वहाँ-वहाँ सत् तत्त्व भी है।

(क) चित् तत्त्व ही सत् तत्त्व है।

(ख) सत् तत्त्व ही चित् तत्त्व है।

३. जहाँ चित् तत्त्व एवं सत् तत्त्व दोनों हैं, वहाँ आनन्द तत्त्व भी है—यत्रानन्दो भवेद् भावे तत्र चित्सत्तयोः स्थितिः।[२]

यह भी ध्यातव्य है कि पहले आनन्दतत्त्व है और बाद में इच्छातत्त्व। आनन्दतत्त्व में क्षोभ आने पर ही इच्छातत्त्व का उन्मेष होता है; अतः यथार्थ आनन्द इच्छा में नहीं, इच्छातीतावस्था (आनन्दावस्था) में है। सांसारिक आनन्द इच्छात्मक है, आनन्द नहीं, आनन्द का संक्षोभ है। परनिरपेक्ष 'स्वातन्त्र्य' ही आनन्द है। आनन्द ब्रह्म है। स्वहृदयात्मा परमेश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप है। यह सच्चिदानन्दात्मक स्वहृदयात्मा ही परमेश्वर है—सच्चिदानन्दस्वरूपः स्वहृदयात्मा परमेश्वर इत्यवगन्तव्यम्। कहा भी गया है—

सच्चित्सुखमयः शम्भुस्त्रिरूपः सर्ववस्तुषु।
इत्थमन्तर्बहिर्भाववैचित्र्येऽपि प्रसर्पति।।
यौगपद्यमयीं स्वस्य विम्रष्टृत्वमयीं स्थितिम्।
अनुशील्यजनः स्वच्छामैश्वरीं श्रियमश्नुते।
एवमेतदुपेक्षायां पाशवेन विमुह्यति।।
यथा यथा विजृम्भेत स्वसंरम्भचमत्क्रिया।
तथा तथा विकल्पानां विक्षोभः क्षयमश्नुते।।
कलयापि विमर्शस्य वीर्यवत्ता विपश्चितः।
तन्व्यापि विषकाकिण्या दुर्लङ्घो हि भुजङ्गमः।।[३]

---

१. परिमल

२. परिमल

३. परिमल (महेश्वरानन्द)

विमर्शोन्मेष और जगत्

ननु विश्वव्यवहारो हि बहिर्ग्राह्यार्थतया वर्तमानः कथमात्मस्वभावो विमर्शः स्यादित्याशङ्क्याह—

पुहुवीपरमसिवाणं पच्चाहारे पआसपरमत्थे।
जो अण्णोण्णविसेसो सो च्चिअ हिअअस्स विमरिसुम्मेसो ॥१२॥

(पृथ्वीपरमशिवयोः प्रत्याहारे प्रकाशपरमार्थे।
योऽन्योन्यविशेषः स एव हृदयस्य विमर्शोन्मेषः।।)

पृथ्वी और परमशिव के मध्य एक-दूसरे से (तत्त्वसंघातरूप) जो प्रकाश है, वही हृदय में स्थित विमर्श शक्ति का विश्वोल्लासस्वरूप 'उन्मेष' है।।१२।।

इह हि विश्वव्यवहारानुबन्धी सर्वोऽपि सम्बन्धः कार्यकारणमात्रपर्यवसायी। कारणं च पर्यन्ततः परमशिवात्मा कर्तेति स्वीकार्यम्, यतः संयोगसमवायौ तदनुबन्धिनोऽन्येऽपि सम्बन्धाः संयोजकाद्यवान्तरकर्तृसद्भावेऽपि पर्यन्ततः परमेश्वरेच्छानुविधायितया तस्यैव कर्तुः कार्यतयाऽनुभूयन्ते। अन्यथा द्वयोः पदार्थयोरन्योन्यप्राप्तिरूप एकः सम्बन्ध इत्युक्तौ कथमेकत्रोपक्षीणाशेषशरीरभारोऽयमन्यद्वस्तु स्प्रष्टुमपि प्रगल्भेत। अवैषम्येण च द्वयोर्वृत्तौ कथं सम्बन्ध एव द्विधाभावादसम्बन्धकल्पो न स्यात्। यत्र पुनः समवायादौ लौकिकस्य कर्तुरनुपलम्भः, तत्र परमेश्वर एव कर्तेत्यभ्युपेयम्। नित्योऽपि समवायः परमेश्वरकर्तृकतां नातिक्रामति। क्षणमात्रमगुणं तिष्ठतीति स्थित्या द्रव्याणां क्षणनिर्गुणत्वस्य तैरेवोक्तत्वात् तत्संयोजनवियोजनवैदग्ध्यं तस्यैवेति सिद्धम्। अपि च, अमी संयोगसमवायादयः स्वस्वोचितविषयव्यतिरेकेणान्यत्र न क्वचिदपि प्रवर्तन्त इत्यभ्युपेयम्। अन्यथाऽतिप्रसङ्गात्। तच्चौचित्यं किंवपुरिति पर्यालोचने द्रव्यगुणादिसम्बन्धिस्वभावाद्यतिक्रान्तमन्यदेव तत्त्वमित्यास्थेयम्, यदस्माभिः पारमेश्वरं स्वातन्त्र्यमित्याक्रन्द्येत इति सर्वस्यापि प्रपञ्चस्य तत्कार्यतायां न विप्रतिपत्तिः। सामान्यादीनां च लोकमर्यादया नित्यानामपि परमेश्वरापेक्षया कार्यत्वमेव, येनाकाशस्य नित्याभिमतस्यापि 'तस्माद् वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः' इति श्रुत्या कार्यत्वमासूत्र्यते। उपलक्षणं चैतत्। अतश्च विश्वलक्षणस्यास्य कार्यस्य परमेश्वरः कर्तेति भङ्ग्या कार्यकारणभावोऽयं कर्मकर्तृभावपरमार्थ इत्युक्तं भवति। कारणत्वं च पर्यालोच्यमानं जडस्य नोपपद्यते, मृद्दण्डचक्रादिसामग्रीसद्भावेऽपि कुलालाद्यौदासीन्ये कुम्भाद्यनुत्पत्तेः। बीजादङ्कुर उत्पद्यते इत्यादौ तु कर्तृविशेषानवलोकनेऽप्यङ्कुरस्य तावत् तादृक् सामर्थ्यं न सम्भवति, तस्य तदा सत्त्वाभावात्। बीजस्य तत्सामर्थ्यमिति चेत्? न। कथमङ्कुर उत्पद्यत इति सामर्थ्यं वैयधिकरण्येन बीजस्येत्युच्यते।

किञ्च, तद् बीजं सन्तं वा अङ्कुरमुत्पादयति, असन्तं वा? सन्तं चेत्, कोऽयमत्रोत्पादनरूपोऽर्थः, प्रागेव तत्सत्त्वस्योक्तत्वात्। यद्यसन्तम्, कथं सत्त्वासत्त्वे तत्र न विरुध्येयाताम्। तदभ्युपगमे वा कथं नातिप्रसङ्गः। अतः कश्चिदजड एव कारणं कार्यवर्गस्य। तच्चाजाड्यमस्य कर्तृत्वमेव। यच्च क्वचित् कुलालादीनां कर्तृत्वम्, तत्रापि—

तथा हि कुम्भकारोऽसावैश्वर्येव व्यवस्थया।
तत्तन्मृदादिसंस्कारक्रमेण जनयेद् घटम्॥

इति श्रीप्रत्यभिज्ञाप्रक्रियया यत्स्वातन्त्र्यादमी मृदैव घटस्तन्तुभिरेव पट इति व्यवस्थामनुवर्तन्ते, न पुनर्व्यत्यासेन कर्तुं शक्नुवन्ति, तत्र स एव कर्तेति कुलालादीनां कुम्भाद्यपेक्षया किञ्चिदजाड्येऽपि परमेश्वरापेक्षया जाड्यमेवेति सुष्ठूक्तं कार्यकारणभाव एव सर्वे सम्बन्धाः, कारणं च कर्तैवेति। एवं च सति तत्र परमशिवादुपरि न कर्त्रन्तरस्फुरणम्, पृथिव्या उपरि न कार्यान्तरोत्पत्तिश्च। तयोर्यः प्रतिपदार्थमानुपूर्व्येण व्यवह्रियमाणो बुद्ध्याकृष्यमाणो मध्यवर्ती तत्त्वसंघातरूपोऽर्थः, तस्य प्रत्यक्षादिप्रमाणोपगृह्यमाणस्य पर्यन्ततः प्रकाश एवानुप्राणनतया स्वभाव इत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यामवधार्यते, अन्यथा चक्षुरादिसामग्र्यामपि तेषामप्रकाशमानत्वापत्तेः। यदुक्तं नरेश्वरविवेके—

न प्रथेताप्रथारूपं नाश्वेतं श्वेतते यथा। इति।

यथा च श्रीतन्त्रालोके—

न ह्यप्रकाशरूपस्य प्राकाश्यं वस्तुतापि च। इति।

ततश्चान्तःस्थः स्वात्मप्रकाश एव बहिः प्रकाश्यप्रपञ्चतया स्फुरतीत्येतत् तावदभ्युपगन्तव्यम्। ततश्च षट्त्रिंशतोऽपि तत्त्वानां प्रकाशस्वभावत्वाविशेषात् पृथिव्याप इत्यादिरन्योन्यविशेषतो व्यवहारो न सम्भवति। व्यवह्रियते च विशेषः प्रत्यक्षमेव लोकेन। अन्यथा जलस्थलविभागादेरर्थक्रियां प्रत्यनियमापत्तेः। स च विशेषः स्वहृदयगतया विमर्शसत्तयैवोत्पद्यते। उत्पत्तिश्च तादात्म्ये पर्यवस्यति। यद् यज्जातं तत् तदेव हीत्युक्तत्वात्। उन्मेषपदेनैतदाह—स्वात्मविमर्शद्रुमस्य पल्लवपुष्पादिप्रायमेतद् विश्ववैचित्र्यस्फुरणमिति। एतेन परापरप्रमात्रोः प्रकाशविमर्शानुप्राणनत्वं पर्यन्ततस्तयोरैकात्म्यं च व्याख्यातम्। परमशिव इति। उक्तरूपं चास्य स्वातन्त्र्यं विश्वोत्तीर्णत्वमात्रे विश्राम्यति, न पुनर्विश्वमयविश्वोत्तीर्णत्वलक्षणे परमस्वातन्त्र्यसम्पत्साम्राज्ये, तादृक्स्वभावस्य च प्रत्याहारानौचित्यात्, प्रत्युत तस्य प्रत्याहर्तृत्वमेव स्वभाव इति॥१२॥

महेश्वरानन्द पूछते हैं कि विश्व का व्यवहार तो बहिर्ग्राह्यार्थ रूप में स्थित है; फिर

क्यों कहा गया है कि 'विमर्श' आत्मस्वभावात्मक है—कथमात्मस्वभावो विमर्शः। इसी शंका के निराकरणार्थ १२हवीं गाथा कही गई हैं।

पृथ्वी सृष्टि का अन्तिम स्थूलतम पदार्थ एवं कार्य है और परमशिव सारे कारणों का परम कारण है। 'पृथ्वी परमशिवयोः'—पृथ्वी एवं परमशिव में अर्थात् अन्तिम कार्य एवं आदि कारण (परमशिव) के मध्य।

१. परमार्थ = कार्यकारणभावोऽयं कर्मकर्तृभावपरमार्थ इत्युक्तं भवति।

२. कार्य = विश्वविलक्षणास्य कार्यस्य। विश्वव्यवहार।

३. कर्त्ता = कर्ता परमेश्वरः। कारणं च कर्तैवेति।

४. कारणत्व = पर्यालोच्यमान जड़ तो कारण हो ही नहीं सकता। कोई चेतन ही 'कारण' हो सकता है और वह है—परमशिव।

कश्चिज्जड एव कारणं कार्यवर्गस्य।
परमशिवादुपरि न कर्त्रन्तरस्फुरणम्।।

प्रश्न—बाह्य प्रपञ्चरूप कार्य क्या है? अन्तःस्थः स्वात्मप्रकाश एव बहिःप्रकाश्य प्रपञ्चतया स्फुरतीति।

५. विमर्श = परमशिव का पूर्ण अहं ही विमर्श है। 'प्रकाश' शिवरूप है और 'विमर्श' शक्तिरूपा है।

६. पृथ्वी परमशिवयोः—शैवागम के छत्तीस तत्त्वों में प्रथम तत्त्व 'शिवतत्त्व' है और अन्तिम तत्त्व 'पृथ्वी' है।

शैवागम के छत्तीस तत्त्व

- अभेद भूमिका (शिव-शक्ति) **(दो तत्त्व)**
- भेदाभेद भूमिका। सदाशिव ईश्वर। शुद्ध विद्या तत्त्व **(तीन तत्त्व)**
- भेदभूमिका। माया, कला, विद्या, राग, काल, नियति, पुरुष, प्रकृति, बुद्धि, अहंकार, मन, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच तन्मात्रायें, पाँच महाभूत **(इकतीस तत्त्व)**

तयोः—बुद्ध्याकृष्यमाणो मध्यवर्ती तत्त्वसंघातरूपोऽर्थः। उनका स्वभाव क्या है? 'प्रकाश'।

विशेषः—व्यवह्रियते च विशेषः प्रत्यक्षमेव लोकेन। लोक द्वारा प्रत्यक्ष रूप में व्यवहृत।

यह विशेष स्वहृदयस्थ 'विमर्श' से ही उत्पन्न होता है।

उन्मेष—स्वात्मविमर्शद्रुम का विश्ववैचित्र्यरूप स्फुरण।

विमर्श के दो पृथक्-पृथक् रूप—१. आत्मस्वभावविमर्श एवं २. विश्व-विमर्श—ये दोनों एक नहीं हो सकते।

विश्वविस्तार हृदयप्रकाश की बाह्याभिव्यक्ति है तथापि यह हृदयप्रकाशरूप परमात्मा एवं उसकी बाह्याभिव्यक्तिस्वरूप (प्रकाश्य) वेद्योल्लास एक (अभिन्न) नहीं हैं, उनमें व्यावहारिक भेद तो है ही।

औपनिषदिक मत (कार्य-कारणवाद के विषय में)—सृष्टि के मूलभूत तत्त्व आकाश आदि भी जगत् के कारण नहीं हैं; प्रत्युत किसी कर्ता (आत्मा/परमात्मा) के कार्य हैं; इसीलिये उपनिषदों में कहा गया है—

तस्माद् वा एतस्मादात्मन आकाश: सम्भूत:।

अर्थात् सृष्टि-निर्माण करने वाला प्रथम पदार्थ आकाश भी 'आत्मा' से उत्पन्न होने के कारण जगत् का कर्ता नहीं; प्रत्युत एक कार्य है। कर्ता परमेश्वर है—

विश्वलक्षणस्यास्य कार्यस्य परमेश्वर: कर्तेति।

प्रश्न—जड़तत्त्व को 'कारण' एवं 'कर्ता' क्यों न स्वीकार कर लिया जाय?[1]

महेश्वरानन्द कहते हैं कि मृत्तिका, दण्ड, चक्र आदि (भाण्ड-निर्माण की सामग्री) रहते हुये भी कुलाल (कुम्भकार) के न रहने पर कुम्भ का निर्माण सम्भव नहीं हो पाता; अत: सर्वकर्ता परमेश्वर के विना कार्य (जगत्) कैसे निर्मित हो सकता है? यह कर्ता कोई चेतन ही हो सकता है, जड़ नहीं—[2]

कश्चिदजड एव कारणं कार्यवर्गस्य।
तच्चाजाड्यमस्य कर्तृत्वमेव।।

श्रीप्रत्यभिज्ञाकारिकाकार की दृष्टि—प्रत्यभिज्ञा में कहा गया है कि—

तथा हि कुम्भकारोऽसावैश्वर्येव व्यवस्थया।
तत्तन्मृदादिसंस्कारक्रमेण जनयेद् घटम्।।

सृजन की एक व्यवस्था-प्रक्रिया है। मिट्टी से ही घट बन पाता है और तन्तुओं से ही पट बन पाता है; व्यत्यास से निर्माण सम्भव नहीं है।[3]

कुलाल घट की अपेक्षा तो जड़ नहीं है; किन्तु परमेश्वर की तुलना में तो जड़ है ही। सारे सम्बन्ध कार्य-कारणभावस्वरूप हैं और कारण ही कर्ता है। इस प्रकार चिन्तन करने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि परमशिवादुपरि न कर्त्रन्तरस्फुरणम्।

अर्थात् परमशिव से ऊपर अन्य कोई कर्ता नहीं है। पृथ्वी के बाद कार्यान्तरोत्पत्ति नहीं है।

---

१. परिमल २. महेश्वरानन्द ३. स्वोपज्ञ परिमल

चितिः स्वतन्त्र विश्वसिद्धिहेतुः।[1] अर्थात् स्वतन्त्र चिति ही सृष्टि, स्थिति एवं लय का हेतु है। आचार्य क्षेमराज कहते हैं—

१. विश्वस्य सदाशिवादेः भूम्यन्तस्य सिद्धौ निष्पत्तौ प्रकाशने स्थित्यात्मनि, परप्रमातृ-विश्रान्त्यात्मनि च संहारे, पराशक्तिरूपा 'चितिः' एव भगवती स्वतन्त्रा अनुत्तर-विमर्शमयी शिवभट्टारकाभिन्ना हेतुः कारणम्।

२. चिति शक्ति से भिन्न अन्य कोई भी सत्ता जगत् का कर्ता नहीं है—ननु जगदपि चितो भिन्नं नैव किञ्चित्।

३. यदि मात्र अभेद है, भेद है ही नहीं तो हेतुहेतुमद्भाव कैसा?

४. यहाँ कैसा कार्य कारणभाव है?

५. यहाँ का कार्य-कारणभाव पारमार्थिक है—चिदेव भगवती स्वच्छस्वतन्त्ररूपा तत्तदनन्तजगदात्मना स्फुरति—इत्येतावत्परमार्थोऽयं कार्यकारणभावः।

६. प्रकाशरूपा चितिरेव हेतुः न त्वसौ कश्चित्।

७. अन्यस्य तु माया प्रकृत्यादेः चित्प्रकाशभिन्नस्य अप्रकाशमानत्वेन असत्त्वान्न कश्चिदपि हेतुत्वम्। प्रकाशमानत्वे तु प्रकाशैकात्म्यात् प्रकाशरूपा चितिरेव हेतुः न त्वसौ कश्चित्।

सारांश यह कि माया, प्रकृति आदि अप्रकाशमान हैं; अतः कारण नहीं बन सकते। केवल प्रकाशात्मा चिति ही विश्व का मूल कारण है।

८. 'स्वेच्छया स्वभित्तौ समुन्मीलयति' (शक्तिसूत्र-२) अर्थात् चिति शक्ति स्वेच्छा-पूर्वक स्वात्मारूप भित्ति पर विश्व का उन्मीलन करती है।

अवस्थित वस्तु का प्रकटीकरण ही 'उन्मीलन' है, अतः जगत् का प्रकाशैकात्म्येन अवस्थान है—

१. उन्मीलनं च अवस्थितस्यैव प्रकटीकरणम्।

२. इत्यनेन जगतः प्रकाशैकात्म्येन अवस्थानम् उक्तम्।[2]

'प्रकाश' ही सभी को अनुप्राणित करता है; अतः वही सबका स्वभाव है—'प्रकाश एवानुप्राणनतया स्वभाव इति। अन्यथा चक्षु आदि भी (अप्रकाशमान होने के कारण) सृष्टि का कारण नहीं बन सकते।

नरेश्वरविवेककार की दृष्टि—नरेश्वरविवेक में कहा गया है कि जो अप्रथात्मक है, उसका प्रथन सम्भव नहीं है तथा जो श्वेत नहीं है, उसे श्वेत नहीं किया जा सकता—

न प्रथेताप्रथारूपं नाश्वेतं श्वेतते यथा।

तन्त्रालोककार की दृष्टि—जो अप्रकाशरूप है, उसका प्राकाश्य सम्भव नहीं है—

---

१. प्रत्यभिज्ञाहृदयम् (१) २. प्रत्यभिज्ञाहृदयम्

न ह्यप्रकाशरूपस्य प्राकाश्यं वस्तुतापि च।

वस्तुस्थिति यह है कि जो अन्त:स्थ स्वात्म प्रकाश है, वही बाहर प्रकाश्य प्रपञ्च के रूप में स्फुरित हुआ करता है—अन्त:स्थ: स्वात्मप्रकाश एव बहि: प्रकाश्यप्रपञ्चतया स्फुरति इति।[१]

छत्तीस मूल तत्त्व भी प्रकाशस्वभाव से प्रकाशित हैं।

प्रश्न—शैवागम में उत्पत्ति का क्या अर्थ है?

उत्तर—

१. उत्पत्ति का अर्थ है—अन्त:स्थ तत्त्व का बहि:प्रकाशन या बाह्योन्मीलन।

२. उत्पत्ति तादात्म्यक है—उत्पत्तिश्च तादात्म्ये पर्यवस्यति।[२]

३. यद्यज्जातं तत् तदेव हि।[३]—जो कुछ भी उत्पन्न होता है, वह सभी कुछ परमशिव का अपना स्वरूप ही है।

४. स्वात्मविशर्मद्रुमस्य पल्लवपुष्पादिप्रायमेतद् विश्ववैचित्र्यस्फुरणमिति।[४] अर्थात् स्वात्मविमर्शस्वरूप वृक्ष का पल्लव-पुष्पादि विश्ववैचित्र्यस्फुरण है।

सृष्टि का प्रत्येक पदार्थ प्रकाशविमर्शानुप्राणित है। अत: सभी में ऐकात्म्य है—प्रकाशविमर्शानुप्राणनत्वं पर्यन्ततस्तयोरैकात्म्यम्।[५]

परमशिव का स्वभाव प्रत्याहर्तृत्व है—तस्य प्रत्याहर्तृत्वमेव स्वभाव इति।

शिव का स्वातन्त्र्य केवल उसके विश्वोत्तीर्ण-स्वरूपमात्र में विश्राम ग्रहण करता है—चास्य स्वातन्त्र्यं विश्वोत्तीर्णत्वमात्रे विश्राम्यति।[६]

उसकी आत्मविश्रान्ति क्या है? 'प्रकाशस्यात्मविश्रान्तिरहंभावो हि कीर्तित:'।[७] उसकी विश्रान्ति, स्वातन्त्र्य, कर्तृता सभी अभिन्न हैं—

उक्ता सैव च विश्रान्ति सर्वापेक्षानिरोधत:।
स्वातन्त्र्यमथ कर्तृत्वं मुख्यमीश्वरतापि च।।[८]

परमस्वच्छन्द शिव और उनकी शक्तियाँ

अथैनं विमर्शमेव द्रढयितुं षट्त्रिंशत्तत्त्वानामन्योन्यतो विशेषं सृष्टिक्रमानुगुण्येनोपपादयन्नादौ शिवतत्त्वमालोचयति—

तह तह दीसन्ताणं सत्तिसहस्साण एक्कसंघट्टो।
णिअहिअउज्जमरूपो होइ सिवो णाम परमसच्छन्दो ।।१३।।

---

१. परिमल
२. स्वोपज्ञ परिमल
३. परिमल-१२
४. महेश्वरानन्द
५. परिमल
६. परिमल (१७)
७. अजडप्रमातृसिद्धि (२२)
८. अजडप्रमातृसिद्धि (२२)

(तथा तथा दृश्यमानानां शक्तिसहस्राणामेकसंघट्टः।
निजहृदयोद्यमरूपो भवति शिवो नाम परमस्वच्छन्दः।।)

उस-उस प्रकार के (सृष्टिसंहारादिक) विभिन्न रूपों में परिलक्षित होने वाली शक्ति के सहस्रों-सहस्रों व्यापारों की एकता ही अपने हृदयोद्यमस्वरूप सर्वतन्त्रस्वतन्त्र परमशिव के नाम से (अशेष विश्व-सृष्टि में) अभिव्यक्त हुआ करती है।।१३।।

पृथिव्यादिः शक्तिपर्यन्तो योऽयं विश्वस्फुरणप्रकारः, यस्येच्छा ज्ञानं क्रियेति, ज्ञानं स्मृतिरपोहनमिति, सृष्टिः स्थितिः संहारोऽनाख्या भासेति, अन्यथा च तत्तत्स्रोतोन्तरेषु पूज्यमाना योगिन्यो योगिनश्चेति वेद्यविक्षोभोल्लासः, तन्मयीनां शक्तीनां तेन तेन प्रकारेण तत्र तत्रानुभूयमानानामेकैकव्यक्तिपर्यालोचनेऽप्यानन्त्यम्, किमुत कात्स्र्न्यानुसन्धाने। तथा हि—इच्छा तावज्जिज्ञासाचिकीर्षादिभेदाद् बहुप्रकारा। ज्ञानं च स्मृत्यनुभवसंशयविपर्ययोत्प्रेक्षादिवैचित्र्यादनन्तप्रकारम्। क्रियापि गमनासनशयनभोजनभाषणादिभेदादनन्ता। तेषामपि प्रत्येकं भेदप्रभेदविकल्पविक्षोभ इत्यानन्त्योत्कर्षाशयेनोक्तम्—शक्तिसहस्राणामिति। **तेषां च य एकः संघट्ट ऐक्यमनुभवन्नेव सृष्टिसंहाराद्यन्योन्यविरुद्धक्रियायौगपद्यभूमिर्भवति। यश्च 'उद्यमो भैरवः' इति शिवसूत्रस्थित्या स्वहृदयोद्योगस्वभावतयाऽनुभूयते, यश्चोक्तप्रकारार्थद्वितयसामरस्यचमत्कारगोचरीभावयोगादन्यतत्त्ववैलक्षण्येनात्यन्तोत्कृष्टमनन्यमुखप्रेक्षित्वलक्षणं स्वच्छन्दत्वं स्वातन्त्र्यमनुभवतीत्यवधार्यते। अन्यानि हि प्रकृतिपुरुषादीनि तत्त्वान्यधोऽधःपर्वप्रतियोगितया स्वातन्त्र्यमुत्तरोत्तरतत्त्वापेक्षया पारतन्त्र्यं च प्रतिपद्यन्ते। परमस्वच्छन्द इति प्राग्वद् विश्वोत्तीर्ण एवोच्यते। अन्यस्तु विश्वोत्तीर्णविश्वमयः परमशिवभट्टारकः पश्चात् प्रकटयिष्यते। एवंविधः शिवो नाम भवति। अयं भावः—उन्मेषनिमेषात्मना तत्त्वान्तरदुर्लभेन स्वातन्त्र्येण चिदाह्लादलक्षणशक्तिद्वितयसामरस्यमात्रक्रोडीकृतेच्छाज्ञानाद्युत्तरोत्तरशक्तिपरम्परापरिग्रहौन्मुख्यात् 'स्वशक्तिप्रचयो विश्वम्' इति श्रीशिवसूत्रस्थित्या विश्वविक्षोभात्मकानन्तबाह्यशक्तिचक्रवैचित्र्यविजृम्भणाद्भुतोद्भावनप्रगल्भस्वात्मचैतन्योद्यन्तृतापरिस्पन्दसारः प्रमातृविशेषः शिवभट्टारक इति। यदुक्तं श्रीशिवदृष्टौ—**

आत्मैव सर्वभावेषु स्फुरन्निर्वृतचिद् विभुः।
अनिरुद्धेच्छाप्रसरः प्रसरद्दृक्क्रियः शिवः।। इति।

यथा श्रीविज्ञानेन्दुकौमुद्याम्—

सर्वव्यापकताभूमिर्ज्ञत्वकर्तृत्वसम्मता।
निजाभासचमत्कारमयी शिवदशा स्मृता।। इति।

भवतीति। **सर्वमप्येतदुपपादितमैश्वर्यं स्वरूपसत्तायामेव पर्यवस्यति। सा च**

चित्त्वं न व्यभिचरतीति प्रागेवोक्तम्—

या चित् सत्तैव सा प्रोक्ता सा सत्तैव चिदुच्यते ।

इत्युक्तत्वात्। या च सा स्फुरत्ता महासत्ता इति प्रत्यभिज्ञाप्यते, तस्याश्च नित्यप्रवर्तमानतया लट्प्रयोगः।।१३।।

महेश्वरानन्द कहते हैं कि पृथ्वी तत्त्व से लेकर शक्ति-पर्यन्त जो यह विश्व-स्फुरण है; इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति, सृष्टि, स्थिति, संहार, अनाख्या, भासा आदि जिसकी अपनी स्वतन्त्र अभिव्यक्तियाँ हैं, वे सभी एक ही परमा शक्ति के विभिन्न रूप हैं।

'शक्तिसहस्राणां' क्यों कहा गया? स्पष्ट है कि शक्ति के अनन्त रूप, अनन्त विस्तार एवं अनन्त विग्रह हैं। अनन्तरूपा किन्तु एकात्मिका परा शक्ति 'एकोऽहं बहु स्याम' के अनुसार एक होकर भी अनन्त है।

इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया के फलस्वरूप पृथ्वी आदि में अन्तर्व्याप्त क्रियाशक्ति के असंख्य व्यापारों (कार्यवर्ग) की एकता ही शिवस्वरूप में अभिव्यक्त है। समस्त विश्व-वैचित्र्यविलासरूप विश्व-विमर्श में स्वसंवेद्य अलख निरञ्जन ही शक्तिमान परमशिव में अभिव्यक्त हो रहा है।

'स्वशक्तिप्रचयोऽस्य विश्वम्' (शिवसूत्र) भी इसी तथ्य का प्रमाण है। शिव की सर्वशक्तिमत्ता से ही यह अशेष विश्वविमर्शात्मक (जगत् रूप) कार्य अनुप्राणित है।

(क) चित् शक्ति (ख) आनन्द शक्ति।

शक्ति के विभिन्न रूप

- इच्छाशक्ति—जिज्ञासा एवं चिकीर्षा आदि अनेक भेद हैं।
- ज्ञानशक्ति—स्मृति, अनुभव, संशय, विपर्यय, उत्प्रेक्षा आदि अनन्त भेद हैं।
- क्रियाशक्ति—गमन, भोजन, शयन, आसन, भाषण आदि अनन्त भेद हैं।

शक्ति की अभिव्यक्तियों के असंख्य रूप होने के कारण ही गाथाकार कहते हैं—शक्तिसहस्राणां।

संघट्ट—उन सहस्रों रूपों, अनन्त अभिव्यक्तियों एवं असंख्य व्यापारों में भी एक ऐक्य है और उसे ही 'संघट्ट' कहा गया है। यहाँ सृष्टि-स्थिति-संहार आदि में जो परस्पर विरुद्ध क्रियायें हैं, वे सभी एक साथ भी कार्य रहती हैं—उनमें यौगपद्य है। शिवसूत्रकार ने जो 'उद्यमो भैरवः' सूत्र कहा है, उसी का भाव इस गाथा के 'निजहृद-योद्यमरूपो भवति' वाक्य में भी अभिव्यक्त है।

'स्वच्छन्दः' का अर्थ है—अनन्यमुखप्रेक्षित्व या पराश्रयताभाव अर्थात् अपने किसी भी कार्य के निष्पादन में किसी की भी सहायता न लेना। परमस्वच्छन्द विश्वोत्तीर्ण है;

क्योंकि विश्वापेक्षी नहीं है। स्वच्छन्द वही है, जिसमें स्वातन्त्र्य (परमुखापेक्षा का अभाव) एवं अपने सभी कार्यों को विना किसी परापेक्षा के सम्पन्न कर लेने की क्षमता हो। स्वच्छन्दत्व स्वातन्त्र्यास्वातन्त्र्य परमशिव की अपनी सर्वोच्च शक्ति है। इसका नाम है—स्वातन्त्र्य शक्ति। इसमें पारतन्त्र्य का पूर्ण अभाव है—स्वच्छन्दत्वं अनन्यमुख-प्रेक्षित्वलक्षणम् (परिमल)।

शिव विश्वमय एवं विश्वातीत दोनों है—विश्वोत्तीर्णविश्वमयः परमशिवभट्टारकः। शिव उन्मेष-निमेष शक्तियों से युक्त है।

स्पन्दकारिकाकार की दृष्टि—स्पन्दकारिका में कहा गया है कि शंकर उस उन्मेष एवं निमेष से युक्त है, जिसके द्वारा जगत् का उद्भव एवं संहार—सृष्टि एवं प्रलय—निर्माण एवं ध्वंस—दोनों व्यापार निष्पादित होते हैं—

यस्योन्मेषनिमेषाभ्यां जगतः प्रलयोदयौ।
तं शक्तिचक्रविभवप्रभवं शङ्करं स्तुमः।।[1]

शङ्कराचार्य की दृष्टि—आचार्य शङ्कर ने भी परमा शक्ति में निमेष एवं उन्मेष शक्तियों की महनीयता का उल्लेख किया है—

निमेषोन्मेषाभ्यां प्रलयमुदयं याति जगती
तवेत्याहुः सन्तो धरणिधर राजन्य तनये।
त्वदुन्मेषाज्जातं जगदिदमशेषं प्रलयतः
परित्रातुं शंके परिहृतनिमेषास्तव दृशः।।[2]

'शक्तिसहस्राणां'—शक्ति के सहस्रों रूप हैं। यथा—

१. चिति शक्ति ३. इच्छाशक्ति ५. क्रियाशक्ति
२. आनन्दशक्ति ४. ज्ञानशक्ति

(या)

१. खेचरी शक्ति ३. दिक्चरी शक्ति
२. गोचरी शक्ति ४. भूचरी शक्ति

(या)

१. अनाख्या शक्ति २. भासा शक्ति आदि।

'शक्ति' के इन्हीं विभिन्न स्वरूपों को महेश्वरानन्द ने अन्य गाथाओं में भी उद्घाटित किया है—[3]

सृष्टौ दश कलाः स्थितौ द्वाविंशतिर्भवन्ति शक्तयः।
एकादश संहारे त्रयोदश तास्तुरीयपर्वणि।।

---

१. परिमल (१३) २. सौन्दर्यलहरी ३. महार्थमञ्जरी (३९)

भासायां न विकल्पः स्फुरति स्फुरदेकनिष्कलश्रियाम्।
यदि प्रतिबिम्बगत्या स्फुरति परं षोडशाधिका देवी।।[१]

१. स्वातन्त्र्य शक्ति में सृष्टि, स्थिति, संहार एवं अनाख्य की भाँति विभाग नहीं हैं। यह विकल्पशून्य है।

२. सृष्टि में स्थिति, संहार, अनाख्य एवं भासा कलायें स्थित हैं।

३. संहार में सृष्टि, स्थिति, संहार एवं भासा—चार कलायें स्थित हैं।

४. अनाख्य में सृष्टि, स्थिति, संहार एवं भासा—चार कलायें स्थित हैं।

५. भासा में उक्त विभागों या विकल्पों की विद्यमानता नहीं है। वह इन सोलह विकारों से अतीत है। यह निष्कल स्वतन्त्र शक्ति है। यह चिच्छक्ति है।

सृष्टि से अनाख्य-पर्यन्त सोलह शक्तियाँ विश्वप्रतिबिम्बस्वभावा हैं। भासा शक्ति षोडशविकारप्रतिबिम्बित समष्टिस्वभावा सत्रहवीं शक्ति है। भासा शक्ति[२]—

सृष्टेः पञ्चम कला भासेति जनो गणयति व्यवधानम्।
सृष्टेर्भूलकन्दो भासा भासायाः पल्लवः सृष्टिः।।

- सबसे पहले इस भासा शक्ति का स्फुरण होता है।
- यह सृष्टि की पाँचवीं कला है।
- इसमें क्रम का व्यवधान नहीं है।
- यह सृष्टि का मूल कन्द है।
- भासा का स्फुरण (पल्लव) ही सृष्टि है।
- यह परमेश्वर की तत्त्वरूपिणी परम स्वतन्त्र चिच्छक्ति है। यह सृष्टि की आदि भूमि है।
- सृष्टि, स्थिति, संहार एवं अनाख्य में इसी पाँचवीं भासा कला का प्राधान्य है। यही क्रमविमर्श ही जीवन्मोक्ष है।

शिव अनन्त शक्तियों से युक्त हैं—

(क) तं शक्तिचक्रविभवप्रभवं शंकरं स्तुमः।[३]

(ख) विश्वविक्षोभात्मकानन्तबाह्यशक्तिचक्रवैचित्र्यविजृम्भणाद्भुतोद्भावनप्रगल्भस्वात्मचैतन्योद्यन्तृतापरिस्पन्दसारः प्रमातृविशेषः शिवभट्टारक इति।[४]

शिवदृष्टिकार की दृष्टि—आचार्य सोमानन्दपाद ने आत्मा एवं शिव को ही जगत् की प्रत्येक सत्ता का मूल केन्द्र स्वीकार करते हुये कहा है—

आत्मैव सर्वभावेषु स्फुरन्निर्वृतचिद् विभुः।
अनिरुद्धेच्छाप्रसरः प्रसरद् दृक् क्रियः शिवः।।

---

१. महार्थमञ्जरी (४०)   ३. स्पन्दकारिका (१)
२. महार्थमञ्जरी (४१)   ४. परिमल (१३)

विज्ञानेन्दुकौमुदीकार की दृष्टि—विज्ञानेन्दुकौमुदी में कहा गया है कि शिव की अवस्था सर्वव्यापकता की भूमि, सर्वज्ञातृत्व, सर्वकर्तृत्व से युक्त एवं निजाभासस्वरूपा एवं चमत्कारमयी है—

सर्वव्यापकताभूमिर्ज्ञत्वकर्तृत्वसम्मता ।
निजाभासचमत्कारमयी शिवदशा स्मृता।।

जो चित्तत्त्व है, वही सत्ता है और जो सत्ता है, वही चित्तत्त्व है—

या चित् सत्तैव सा प्रोक्ता सा सत्तैव चिदुच्यते।

इसी को स्फुरत्ता एवं महासत्ता आदि भी कहा गया है—

चितिः प्रत्यवमर्शात्मा परावाक् स्वरसोदिता।
स्वातन्त्र्यमेतन्मुख्यं तदैश्वर्यं परमात्मनः।।
सा स्फुरत्ता महासत्ता देशकालाविशेषिणी।
सैषा सारतया प्रोक्ता हृदयं परमेष्ठिनः।।[१]

शक्ति का स्वरूप

अथ क्रमप्राप्तं शक्तितत्त्वं परामृशति—

सो च्चिअ वीसं महिउं णाउं काउं च उम्मुहो होंतो।
सक्तिसहावो कहिओ हिअअतिओणमहुमंसलुल्लासो ।।१४।।

(स एव विश्वमेषितुं ज्ञातुं कर्तुं चोन्मुखो भवन्।
शक्तिस्वभावः कथितो हृदयत्रिकोणमधुमांसलोल्लासः।।)

वह (शिव) जगत् को देखने, जानने एवं उसका निर्माण करने के लिये सिसृक्षा, ज्ञान एवं क्रिया में प्रवृत्त होता हुआ (इच्छा-ज्ञान-क्रियारूप) हृदयस्थ त्रिकोण के मधुर एवं पुष्कल आनन्द से युक्त होने पर शक्तिस्वभाव कहा जाता है।।१४।।

स उक्तस्वभावः शिव एव शक्तिस्वभावः कथितः। तस्यैव किञ्चिदुच्छूनतावस्थायां शक्तिशब्दव्यपदेश इत्यर्थः। तस्य चायं स्वभावः—यत् स्वहृदयरूपेणेच्छाज्ञानक्रियात्मकविश्वविकल्पपर्यायकोणत्रयसामरस्यलक्षणेन नित्यप्रवृत्तचर्वणोत्सवत्वादन्तर्मग्नसंविदानन्दस्पन्दसन्धुक्षणक्षमेण मधुना मांसलमत्यन्तबृंहितं परिवाहक्रियार्हमहातटाकाम्भःसम्भारकल्पं 'बहु स्यां प्रजायेय' इत्याम्नायस्थित्या स्वयमेव स्वहृदयोद्यमवमनोपक्रमात्मानमुल्लासमाह्लादातिशयमनुभवतीति। यदुक्तं श्रीमत्स्तोत्रावल्याम्—

---

१. आचार्य उत्पलदेव : प्रत्यभिज्ञा- कारिका (४४-४५)

स्फारयस्यखिलमात्मना स्फुरन् विश्वमामृशसि रूपमामृशन् ।
यत् स्वयं निजरसेन घूर्णसे तत् समुल्लसति भावमण्डलम् ।। इति।

ततश्चायम्—

गच्छतो निस्तरङ्गस्य जलस्यातितरङ्गिताम् ।
आरम्भे दृष्टिमापात्य तदौन्मुख्यं हि गम्यते ।।

इत्यादिश्रीशिवदृष्टिदृष्ट्या यदा स्वहृदयवर्तिनमुक्तरूपमर्थतत्त्वं बहिःकर्तुमुन्मुखो भवति, तदा शक्तिरिति व्यवह्रियते। औन्मुख्यं च तदिच्छया ज्ञानेन क्रियया च भवति। कथित इति। आगमैर्बहुभिरेवंस्वभावत्वेनोद्घोषितः। यथा श्रीशिवदृष्टौ—

इत्थं शिवो बोधमयः स एव परनिर्वृतिः ।
सैव चोन्मुखतां याति स्वेच्छाज्ञानक्रियात्मताम् ।
सैव शाक्तशरीरादिनारकान्तं हि भूतता ।।

इत्यादि। यथा श्रीकुलमूलावतारे—

अनादिनिधनाच्छान्ताच्छिवात् परमकारणात् ।
इच्छाशक्तिर्विनिष्क्रान्ता ततो ज्ञानं ततः क्रिया ।।

इत्यारभ्य,

तयोत्पन्नानि भूतानि भुवनानि चतुर्दश ।
वाङ्मयं चैव यत्किञ्चित् तत्सर्वं मातृकोद्भवम् ।।

इत्यन्तम्। यथा च श्रीप्रत्यभिज्ञावृत्तौ—'चिद्वपुषः स्वतन्त्रस्य विश्वात्मना स्थातुमिच्छैव जगत् प्रति कारणता कर्तृतारूपा' इत्यादि। तथा श्रीतन्त्रालोके—

अकुलस्यास्य देवस्य कुलप्रथनशालिनी ।
कौलिकी सा परा शक्तिरवियुक्तो यया प्रभुः ।। इति।

यथा च श्रीमालिनीविजये—

या सा शक्तिर्जगद्धातुः कथिता समवायिनी ।
इच्छात्वं तस्य सा देवी सिसृक्षोः प्रतिपद्यते ।।
एवमेतदिति ज्ञेयं नान्यथेति सुनिश्चितम् ।
ज्ञापयन्ती जगत्यत्र ज्ञानशक्तिर्निगद्यते ।।
एवम्भूतमिदं वस्तु भवत्विति यदा पुनः ।
ज्ञात्वा तदैव तद् वस्तु कुर्वन्त्यत्र क्रियोच्यते ।।
एवमेषा त्रिरूपापि पुनर्भेदैरनन्तताम् ।
अर्थोपाधिवशाद् याति चिन्तामणिरिवेश्वरी ।। इति।

तथा च श्रीपरासूक्तेऽपि—

कृत्येषु देवि! तव सृष्टिमुखेषु नित्यं।
स्वाभाविकेषु विसरत्सु यदुन्मुखत्वम्।।
इच्छेति तत् किल निरूपितभागमज्ञै-
र्जानासि येन विदधासि च तं तमर्थम्।। इति।

पूजारहस्ये च—

औन्मुख्यमिच्छा ज्ञानं च क्रियेत्येतच्चतुष्टयम्।
स्पन्दनं देवदेवस्य बोधभैरवरूपिणः।
औदासीन्यप्रहाणेन यदौन्मुख्यं महेशितुः
तदिदं स्याज्जगत् सर्वमित्यस्मिन् किन्नु युक्तिभिः।। इति।

उक्त स्वभाव वाला शिव ही शक्तिस्वभाव कहा जाता है। थोड़ी-सी उच्छूनतावस्था आने पर (In the state of swelling) शिव शक्ति कहा जाने लगता है। उस शिव में जैसे ही 'बहुस्यां प्रजायेय, एकोऽहं बहुस्याम' के स्वरूप वाली सिसृक्षा का उदय होता है, वह अपने हृदय में स्थित इच्छा, ज्ञान एवं क्रियारूप महात्रिकोण को अव-भासित करने की दिशा में उन्मुख हो उठता है और उसके कारण वह आनन्दातिशय से भर उठता है—

स्फारयस्यखिलमात्मना स्फुरन् विश्वमामृशति रूपमामृशन्।
यत् स्वयं निजरसेन घूर्णसे तत् समुल्लसति भावमण्डलम्।।[1]

इसीलिये उसमें औन्मुख्य की प्रवृत्ति होती है—

गच्छतो निस्तरङ्गस्य जलस्यातितरङ्गिताम्।
आरम्भे दृष्टिमापात्य तदौन्मुख्यं हि गम्यते।।[2]

जब शिव अपने हृदय में स्थित उक्त रूप अर्थतत्त्व को बाह्योन्मुख करता है तब वह 'शक्ति' कहा जाता है—यदा स्वहृदयवर्तिनमुक्तरूपमर्थतत्त्वं बहिःकर्तुमुन्मुखो भवति तदा शक्तिरिति व्यवह्रियते।[3]

उन्मुखो भवन्—उन्मुख होता हुआ। औन्मुख्य क्या है? शिव की इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया के द्वारा ही औन्मुख्य—बहिर्मुखी प्रकाशन होता है; अतः औन्मुख्य शिव की बाह्याभिमुखी (विश्वसर्जनोन्मुखी) इच्छा है।

औन्मुख्य का स्वरूप—स्वात्मानन्द-विश्रान्त परमशिव का स्वातन्त्र्यात्मक स्व-स्वभाव (स्वरूपपरामर्शात्मक प्रकृति) विश्वोन्मुख होकर उल्लसित होने के प्रति अनुन्मुख होते हुये भी जब सिसृक्षा के प्रति उन्मुखवत् होता है तब उसकी वह सुसूक्ष्म अभि-

१. स्तोत्रावली २. शिवदृष्टि ३. स्वोपज्ञ परिमल

लाषामात्र उन्मुखता ही औन्मुख्य कही जाती हैं—

यदा तु तस्य चिद्धर्मविभवामोदजृम्भया।
विचित्ररचनानानाकार्यं सृष्टिप्रवर्तने।।
भवत्युन्मुखिता चित्ता सेच्छाया: प्रथमा तुटि:।।[1]

जिस प्रकार निस्तरंग एवं प्रशान्त जल की अत्यन्त तरंगित अवस्था की उन्मुखता होने पर सर्वप्रथम जल में एक सूक्ष्म कम्पन उदित होता है, उसी प्रकार स्वात्मविश्रान्त पूर्ण संवित् में विश्व-सिसृक्षा के प्रति अतिसूक्ष्म अभिलाषा उदित होती है। इस सुसूक्ष्य अभिलाषा का कारण चिदात्मा की आनन्दोच्छलित स्वभावक्रीड़ा है। इस सिसृक्षा की सूक्ष्मतमा अभिलाषा की आरम्भावस्या ही औन्मुख्य है—

यथा जलस्य पूर्वं निस्तरंगस्यातितरंगितां गच्छत: पूर्व: कम्प औन्मुख्यरूप: दृश्यते तथा बोधस्य स्वस्वरूपस्थस्य पूर्णस्य विश्वरचनां प्रति अभिलाषामात्ररचनायोग्यताया य: प्रथमो विकास: प्रवृत्त्यारम्भस्तदौन्मुख्यं प्रचक्षते।[2]

शिवदृष्टिकार ने जो 'तुटि' शब्द का प्रयोग किया है, वह भी औन्मुख्य का ही बोधक है—

(क) सा तुटि: (उन्मुखिता) इच्छाप्रथमभाग:।
(ख) सा च तुटि: सूक्ष्मौन्मुख्य शक्तिरूपा:।[3]
(ग) तस्यौन्मुख्यस्येच्छा कार्या। तस्य हि योऽसौ उत्तरो भाग: सेच्छा व्यवस्थिता।[4]

औन्मुख्य इच्छा का प्रथम भाग है। आनन्द शक्ति और औन्मुख्य में (एक ही शक्ति का स्वरूप होने के कारण) कोई भेद नहीं है। पूर्ण संवित् की विश्वसिसृक्षा के प्रति अभिलाषामात्र की सृजन शक्ति या प्रवृत्ति के समारम्भ का प्रथम सोपान या प्रथम विकास ही 'औन्मुख्य' है।

विश्वसृजन की अभिलाषा में जो विश्वसृजन की शक्ति या क्षमता है, उसका प्राथमिक उन्मेष ही औन्मुख्य है। यह औन्मुख्य एक कर्म है। आनन्द शक्ति में यह प्रवृत्ति-आरम्भ-रूप कर्म नहीं रहा करता। औन्मुख्य कर्मावच्छिन्न है; किन्तु आनन्दशक्ति कर्मावच्छिन्न नहीं है। आचार्य उत्पलदेव ने औन्मुख्य एवं आनन्दशक्ति में यही भेद बताया है—कर्मावच्छिन्ना निर्वृतिरौन्मुख्यम् अनवच्छिन्ना निवृत्तिमात्रमानन्दशक्तिरिति यावत्।

औन्मुख्य का उत्तरवर्ती भाग इच्छाशक्ति है। परमेश्वर में जो विश्वचिकीर्षात्मक परामर्श (इच्छात्मक विमर्श) है, वही शिव की इच्छाशक्ति है।

औन्मुख्य शिव की इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया से निष्पादित होता है—औन्मुख्यं च

---

१. शिवदृष्टि (१.७-८)
२. शिवदृष्टिवृत्ति
३. शिवदृष्टिवृत्ति
४. शिवदृष्टिवृत्ति

तदिच्छया ज्ञानेन क्रियया च भवति।[1]

शिवदृष्टि की दृष्टि—

इत्थं शिवो बोधमयः स एव परनिर्वृतिः।
सैव चोन्मुखतां याति स्वेच्छाज्ञानक्रियात्मताम्।
सैव शाक्तशरीरादिनारकान्तं हि भूतता।।

श्रीकुलमूलावतार की दृष्टि—

अनादिनिधनाच्छान्ताच्छिवात् परमकारणात्।
इच्छाशक्तिर्विनिष्क्रान्ता ततो ज्ञानं ततः क्रिया।।
तयोत्पन्नानि भूतानि भुवनानि चतुर्दश।
वाङ्मयं चैव यत्किञ्चित् तत्सर्वं मातृकोद्भवम्।।

प्रत्यभिज्ञावृत्तिकार की दृष्टि—चिद्वपुषः स्वतन्त्रस्य विश्वात्मना स्थातुमिच्छैव जगत् प्रति कारणता कर्तृतारूपता।

तन्त्रालोककार अभिनवगुप्त की दृष्टि—अभिनवगुप्त कहते हैं कि अकुल देव (परमशिव) की कुलप्रथनशालिनी (विश्वोल्लासकर्त्री) कौलिकी परा शक्ति ही वह शक्ति है, जिससे प्रभु (शिव) सदैव अवियुक्त (संयुक्त) रहते हैं और उसी से सृष्टि करते हैं।

मालिनीविजयकार की दृष्टि—मालिनीविजयोत्तर तन्त्र में कहा गया है कि परमात्मा शिव की जो स्वसमवायिनी शक्ति है, वही उस सिसृक्षु शिव की शक्ति सिसृक्षा के प्रसंग में 'इच्छाशक्ति' बन जाती है—

या सा शक्तिर्जगद्धातुः कथिता समवायिनी।
इच्छात्वं तस्य सा देवी सिसृक्षोः प्रतिपद्यते।।

जो जगत् को ज्ञापित करती है और ज्ञेय बनकर प्रस्तुत होती है, वही शक्ति ज्ञानशक्ति है—

एवमेतदिति ज्ञेयं नान्यथेति सुनिश्चितम्।
ज्ञापयन्ती जगत्यत्र ज्ञानशक्तिर्निगद्यते।।

उपर्युक्त ज्ञानशक्ति का विषयभूत जगत् अब उत्पन्न हो जाय—इस इच्छा के साथ शक्ति के द्वारा विश्वावभासन करने वाली शक्ति की आख्या ही है—क्रियाशक्ति—

एवम्भूतमिदं वस्तु भवत्विति यदा पुनः।
ज्ञात्वा तदैव तद् वस्तु कुर्वन्त्यत्र क्रियोच्यते।।[2]

यही त्रिरूपात्मिका शक्ति अनन्तरूपाकार होकर अनन्तरूपात्मक जगत् बन जाती

१. स्वोपज्ञ परिमल २. मालिनीविजयोत्तरतन्त्र

है। इस प्रकार परमात्मा की शक्ति चिन्तामणि के समान यथेच्छ रूपधारिणी है—

एवमेषा त्रिरूपापि पुनर्भेदैरनन्तताम्।
अर्थोपाधिवशाद् याति चिन्तामणिरिवेश्वरी।।[१]

श्रीपरासूक्तकार की दृष्टि—परासूक्तकार कहते हैं कि संवित्तत्त्व के सृष्ट्युन्मुख होने पर औन्मुख्य एवं तदनन्तर इच्छाशक्ति का उदय होता है—

कृत्येषु देवि! तव सृष्टिमुखेषु नित्यं
स्वाभाविकेषु विसरत्सु यदुन्मुखत्वम्।
इच्छेति तत् किल निरूपितभागमज्ञै-
र्जानासि येन विदधासि च तं तमर्थम्।।

पूजारहस्यकार की दृष्टि—'पूजारहस्य' में औन्मुख्य, इच्छा, ज्ञान, क्रिया को बोधभैरव (शिव) का स्पन्दन कहा गया है और जगत् के विकास का मूल औन्मुख्य बताया गया है[२]—

औन्मुख्यमिच्छा ज्ञानं च क्रियेत्येतच्चतुष्टयम्।
स्पन्दनं देवदेवस्य बोधभैरवरूपिणः।
औदासीन्यप्रहाणेन यदौन्मुख्यं महेशितुः।
तदिदं स्याज्जगत् सर्वमित्यस्मिन् किन्नु युक्तिभिः।।

१. समस्त विश्व-विस्तार शिव की इच्छा, ज्ञान एवं क्रियाशक्ति का परिणमन, रूपान्तरण या विकास है।

२. विश्व शम्भु की निजा शक्ति (अन्तरंगा शक्ति) का कार्य है।

३. शिव अपनी इच्छा-ज्ञान-क्रिया शक्तियों से उपहित होकर ही शक्तिमान कहा जाता है।

४. शिव अपनी ही निजा शक्ति से विश्व में व्याप्त होकर तथा स्वहृदयोल्लास को अनेक रूपों में अभिव्यञ्जित करके उसका रसास्वादन करता है।

५. शिव की स्वहृदयात्मक तत्त्व के बहिःस्फुरण की दशा में जो उन्मुखता होती है, वही क्रियाशक्ति है।

६. पञ्च तन्मात्रायें, पञ्च महाभूत, लोकत्रय, चतुर्दश भुवन आदि समस्त विश्वविस्तार शिव की शक्ति का ही तो प्रसार है।

हृदय-त्रिकोण = हृदय में स्थित इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति एवं क्रियाशक्ति। मांसलोल्लास = आनन्दातिशय। उपबृंहित आनन्द।

शिव का स्वभाव—महेश्वरानन्द की दृष्टि में—यत् स्वहृदयरूपेणेच्छाज्ञानक्रिया-

---

१. मालिनीविजयोत्तरतन्त्र　२. पूजा-रहस्य

त्मकविश्वकल्पपर्यायकोणत्रयसामरस्यलक्षणेन नित्यप्रवृत्तचर्वणोत्सवत्वादन्तर्मग्नसंविदानन्द-स्पन्दसन्धुक्षणक्षमेण मधुना मांसलमत्यन्तबृंहितं परिवाहक्रियार्हमहातटाकाम्भः समारम्भकल्पं बहुस्यां प्रजायेय इत्याम्नायस्थित्या स्वयमेव स्वहृदयोद्यमवमनोपक्रमात्मानमुल्लासमाह्लादातिशयमनुभवतीति।[1]

आरम्भवाद एवं असत्कार्यवाद का खण्डन—महेश्वरानन्द ने 'स्वहृदयोद्यमव-मनोपक्रमात्मानमुल्लासमाह्लादातिशयमनुभवतीति' कहकर सत्कार्यवाद का प्रतिपादन किया है। विश्व कोई नव्य सृजन नहीं है; प्रत्युत शिव में पूर्व रूप से विद्यमान सत्ता का 'वमन' है। वामा शक्ति का परिणाम है।

सदाशिव और ईश्वर का स्वरूप

अथ सदाशिवेश्वरौ पर्यालोचयति—

णाणं किअत्ति दोण्ण वि पढमुम्मेसम्मि सइसिवो देवो।
वीआए उल्लेहे वीओ सो होइ ईसरो णाम॥१५॥

(ज्ञानं क्रियेति द्वयोरपि प्रथमोन्मेषे सदाशिवो देवः।
द्वितीयाया उल्लेखे द्वितीयः स भवतीश्वरो नाम।।)

ज्ञान और क्रिया, दोनों में से प्रथम (ज्ञान) के उन्मेष में (अपने-आपमें पूर्ण अहं रूप में अवस्थित परमात्मा शिव) 'सदाशिव' कहलाते हैं और द्वितीय (क्रिया) के स्फुरण में वे 'ईश्वर' नाम वाले कहलाते हैं।।१५।।

ज्ञानं हि नामाहम्भावावभासनात्मा सर्वप्राणिनां स्वसंवेदनसिद्धस्वभावः। क्रिया च करचरणाद्यनुबन्धिनी सर्वसाक्षात्कारयोग्या परिस्फुरति। तत्र जानामि करोमीत्यादिवज्जानासीत्यादावपि आदर्शावलोकनादिन्यायादस्मच्छब्दार्थ एव युष्मदाद्यर्थतयाऽवभासते। तथा चैत्रोक्तावेव चैत्रः प्रणमतीत्यादिवदहम्भाव एव व्यवधानोपधाने प्रथमपुरुषादितया प्रतीयत इत्यहन्तैव सर्वत्रात्मतत्त्वम्। यदुक्तम्—

अस्तिशेषा क्रिया सर्वा कर्तृशेषं च कारकम्।
एकशेषं च वचनं पुरुषश्चोत्तमावधिः ।। इति।

अहन्तोल्लेखश्च ज्ञानशब्दार्थः। एवं करोषि करोतीत्यादावपि करोमीत्यस्यैव पारमार्थ्यात् क्रियापि ज्ञानवदहम्भावानुप्रविष्टेत्यवधार्यते। केवलमस्या इदम्भाव-प्राचुर्येणानुभूयमानतया भेदव्यवहारः। एवं च ज्ञानं क्रियेति यौ द्वौ भावौ, तयोर्मध्ये प्रथमस्य ज्ञानस्योद्रेके द्वितीयायाश्चार्थादस्फुटत्वरूपे न्यग्भावे सति सदाशिवाख्यं तत्त्वमित्याख्यायते, यदधिष्ठातृतया सदाशिव इत्येव नाम्ना कश्चिद् विष्णुरुद्रादि-

---

१. स्वोपज्ञ परिमल

साधारण्येनोपास्यते। स च देवो दृक्शक्तेरौल्बण्यात् क्रियायाश्चात्यन्तापकर्षाभावात् क्रीडाव्यवहाराद्यनेकार्थानुसन्धाने समर्थः। किञ्च, एतदुपक्रममेव तत्त्वस्वभावतया विश्वसिसृक्षालक्षणस्वात्मशक्त्यविभिन्नस्य परमेश्वरस्य द्योतनमित्यासूत्रयितुं देव इत्युक्तम्। यदुक्तमाचार्याभिनवगुप्तनाथपादैः—

श्रीमत्सदाशिवोदारप्रारम्भं वसुधान्तकम्।
यदन्तर्भाति तत्त्वानां चक्रं तं संस्तुमः शिवम्।। इति।

शिवशक्त्योस्तु तत्त्वव्यपदेशो नात्यन्तं मुख्यय वृत्त्या, किं तर्हि सदाशिवाद्युत्तरतत्त्वव्रातनिर्वाहकताकारविकल्पसंस्पर्शमात्रादौपचारिकः। उपचारेणाप्यनयोस्तत्त्वव्यपदेशसद्भावात् तत्त्वानां षट्त्रिंशत्त्वं प्रति न किञ्चिद् व्याहतत्वम्। या च तत्र द्वितीया क्रिया, तस्या उल्लेखे स्फुरणापरपर्याये प्राचुर्ये ज्ञानस्य चार्थतः स्तैमित्ये सति ईश्वरो नाम भवति। ईश्वराख्यं तत्त्वमित्याम्नायते। तदधिष्ठाता च कश्चिदीश्वर इत्येव प्रमाता। एतदुक्तं भवति—अहन्तेदन्तालक्षणयोर्ज्ञानक्रिययोराद्योद्रेकादनुन्मीलितचित्रन्यायेन व्यक्ताव्यक्तमयविश्वप्रमातृतास्वभावं सदाशिवाख्यं तत्त्वम्, एतद्विपर्यासेन क्रियाशक्त्यौज्ज्वल्ये व्यक्ताकारविश्वानुसन्धातृरूपमीश्वरतत्त्वमिति। प्रथमोन्मेष इति। उन्मेषनिमेषौ नाम परमेश्वरस्य परमस्वातन्त्र्यलक्षणं स्पन्दतत्त्वम्। तत्र च यदाहन्तोन्मेषस्तदानीमिदन्ताया निमेषः, इदन्तोन्मेषे चाहन्ताया निमेष इत्यनेन

ईश्वरो बहिरुन्मेषो निमेषोऽन्तः सदाशिवः।

इति श्रीप्रत्यभिज्ञानीत्या तत्तदागमान्तरप्रसिद्धमनयोर्नामधेयान्तरद्वितयमप्यासूत्र्यते। द्वितीय इत्यनेनेश्वरस्य सदाशिवतत्त्वाद् वैषम्येऽप्यव्यवधानं द्योतयता सर्वत्रापि तत्त्वव्राते तत्तद्वैलक्षण्यप्रबन्धोपन्यासेऽप्यहन्तानुस्यूतितारतम्यक्रमोऽनुसन्धेय इत्युन्मील्यते। यदुक्तं श्रीप्रत्यभिज्ञायाम्—

बहिर्भावपरत्वे तु परतः पारमेश्वरम्। इति।

अहन्तायाश्च शिवशक्तिद्वितयरूपत्वादत्रैव तदुद्भावनौचित्यम्। एतेन गाथायाः पूर्णोपादानं व्याख्यातम्।।१५।।

अहंतत्त्वात्मक ज्ञानभूमि पर आरूढ़ परमात्मा को 'सदाशिव' कहा गया है। यही सदाशिव परमात्मा क्रियाभूमि पर (विश्वविमर्श के कर्ता के रूप में) ईश्वर कहा जाता है। ईश्वर का सम्बन्ध विशेषतः परमात्मा की क्रियाशक्ति से है। अहंस्वरूप ज्ञान के स्तर पर वही सदाशिव कहा जाता है।

सदाशिव और ईश्वर का स्वरूप—सदाशिव एवं ईश्वरतत्त्व सृष्टि-विकास के भेदाभेद भूमिका से सम्बद्ध है। श्रीमदाचार्य उत्पलदेव ने प्रत्यभिज्ञाकारिका के आगमाधि-

कार में कहा है कि ईश्वर बहिरुन्मेष है और सदाशिव अन्त:निमेष है—

ईश्वरो बहिरुन्मेषो निमेषोऽन्तः सदाशिवः।

उत्पलदेवाचार्य इसकी व्याख्या करते हुये प्रत्यभिज्ञाकारिकावृत्ति में कहते हैं— उन्मेषनिमेषौ बहिरन्त:स्थिती एवेश्वरसदाशिवौ बाह्याभ्यन्तरयोर्वेद्यवेदकयोरेकचिन्मात्रविश्रान्तेरभेदात्सामानाधिकरण्येनेदं विश्वमहमिति विश्वात्मनो मतिः शुद्धविद्या। षट्त्रिंशत्तत्त्वसन्दोह में सदाशिव एवं ईश्वर की व्याख्या करते हुये कहा गया है कि—

१. स्वेच्छाशक्त्युद्गीर्णं जगदात्माहन्तया समाच्छाद्य।
निवसन् स एव निखिलानग्रहनिरतः सदाशिवोऽभिहितः।।३।।

२. विश्वं पश्चात्पश्यन्निदन्तया निखिलमीश्वरो जातः।।४।।

सप्त प्रमाता

१. परप्रमातृ = सत्य प्रमाता = परप्रमाता = शिव।

२. मन्त्रमहेश्वर—सदाशिवतत्त्व में अवस्थित प्रमाता = मन्त्रमहेश्वर।

३. मन्त्रेश्वर—ईश्वरतत्त्व में अवस्थित प्रमाता = मन्त्रेश्वर।

४. मन्त्र—शुद्धविद्या तत्त्व में अवस्थित प्रमाता = मन्त्र।

५. विज्ञानाकल—शुद्धविद्या से नीचे, किन्तु माया से ऊपर स्थित प्रमाता = विज्ञानाकल।

६. प्रलयाकल = प्रलयकेवली मायातत्त्वावस्थित प्रमाता = प्रलयकेवली।

७. सकल (जीव)—माया प्रमाता, परिमित प्रमाता, संकुचित प्रमाता = सकल।

जगत् (इदन्ता) को आत्म अहन्ता से आच्छादित करके वर्तमान, निखिल विश्व के अनुग्रह में निरत, इदन्ता के उन्मेष में भी शिवता के वर्तमान रहने के कारण स्थित शिव 'सदाशिव' कहलाते हैं।

सदाशिव के पश्चात् निखिल विश्व को इदन्ता के प्राधान्य के रूप में अनुभव करने वाले परमेश्वर को 'ईश्वर' कहा जाता है।

शुद्धाध्वप्रमातृता = शुद्ध विद्या से लेकर अनाश्रित शिवपर्यन्त शुद्धाध्वा है। मन्त्र, मन्त्रेश्वर, मन्त्रमहेश्वर आदि शुद्धाध्व प्रमाता कहे जाते हैं।

अनाश्रित शिव = शून्य प्रमाता। सदाशिव = बुद्धि-प्रमाता। ईश्वर = प्राणप्रमाता। विद्या = देहप्रमाता।

अनाश्रितः शून्यप्रमाता बुद्धिमाता सदाशिवः।
ईश्वरः प्राण-प्रमाता च विद्या देहप्रमातृता।।

(तन्त्रालोक-६)
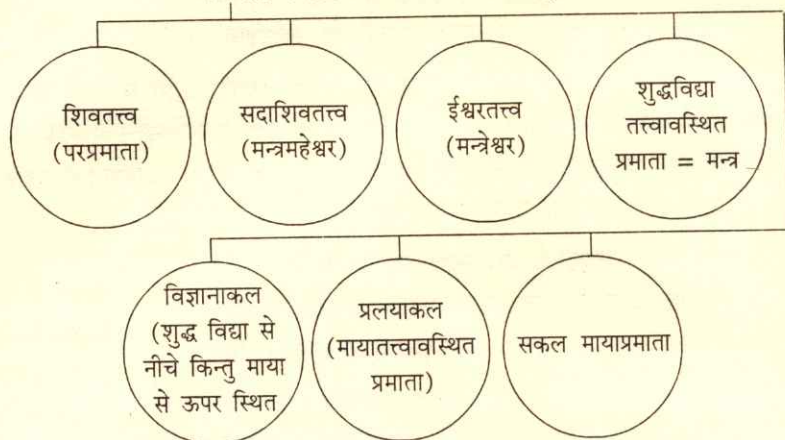
शिव से शुद्ध विद्या तक शिव के जो पाँच रूप हैं, वे ही पाशबद्ध पुरुष के लिये माया से राग तक के तत्त्व के कंचुक होते हैं—

शिवादिशुद्धविद्यान्तं यच्छिवस्य स्वकं वपुः।
तदेव पुंसो मायादिरागान्तं कञ्चुकी भवेत्।।
(६.४१-४२) (तन्त्रा.-६)
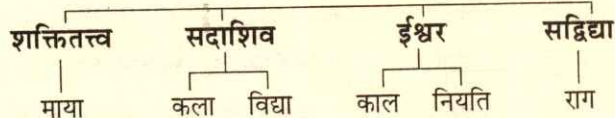
अभिनवगुप्त तन्त्रालोक (अ०-६) में कहते हैं—

अनाश्रितं यतो माया कलाविद्ये सदाशिवः।
ईश्वरः काल नियती सद्विद्या राग उच्यते।।[2] (६.४२)

अनाश्रित अर्थात् शक्तितत्त्व। अनाश्रित (शक्तितत्त्व) ही बाह्यावभास में माया, सदाशिव ही कला एवं विद्या, ईश्वर ही काल एवं नियति तथा सद्विद्या ही राग बनकर व्यक्त होते हैं।

१-२. तन्त्रालोक (आह्निक ६)
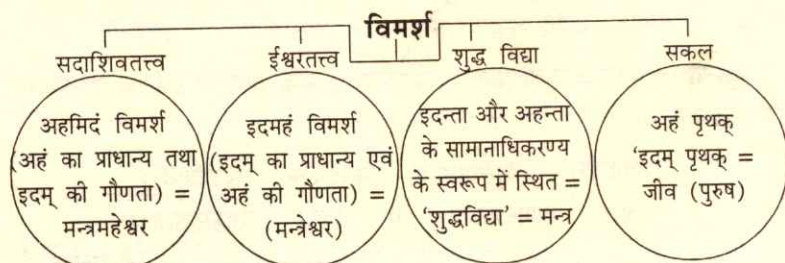
शुद्ध संवित् तत्त्व तो उक्त तीनों में अधिकरण है; किन्तु तीनों के स्तर पृथक्-पृथक् हैं—यदा तु मध्यकोटौ समधृततुलावत् विश्राम्यत: तया अहमिदमिति ग्राहके ग्राह्यस्य प्रक्षेपोऽत एव ध्यामलग्राह्यांशो विमर्श: सदाशिवनाथे। इदमहमिति ग्राह्ये स्फुटीभूतेऽहमिति प्रक्षेपात् सामानाधिकरण्यं विमर्श ईश्वरभट्टारके।[१]

आचार्य क्षेमराज प्रत्यभिज्ञाहृदयम् के तृतीय सूत्र की व्याख्या में कहते हैं कि—

१. सदाशिव तत्त्व में अहन्ता से आच्छादित और अस्फुट इदन्तामय जैसा परापर रूप विश्व ग्राह्य है। इसी प्रकार सदाशिवभट्टारक से अधिष्ठित मन्त्रमहेश्वर नामक प्रमातृवर्ग भी परमेश्वर की इच्छा से कल्पित हुआ है।[२]

२. ईश्वरतत्त्व में स्फुट इदन्ता और अहन्ता का समानाधिकरणरूप जैसा विश्व ग्राह्य रहता है, वैसा ही ईश्वरभट्टारक से अधिष्ठित मन्त्रेश्वरवर्ग भी ग्राहक है।[३]

३. विद्या पद में अनन्तभट्टारक से अधिष्ठित बहु शाखाओं एवं अन्यान्य भेदों से भिन्न यथा मन्त्ररूप ग्राहक हैं, वैसा ही भेदात्मक विश्व ग्राह्य है।

४. माया के ऊर्ध्व भाग में कर्तृताशून्य शुद्धबोधात्मा जिस प्रकार विज्ञानाकल ग्राहक है, वैसा ही सकल एवं प्रलयाकलयात्मक पूर्वावस्थाओं से परिचित अभेदरूप इनका प्रमेय है।[४]

माया में प्रलयकेवली शून्य प्रमाताओं का उनके अनुरूप प्रलीन सदृश प्रमेय रहता है। भूमि-पर्यन्त अवस्थित 'सकल' नामक प्रमाताओं का जो परिमित और पूर्णतया भिन्न-भिन्न है, वैसा ही प्रमेय भी है। इन सप्त प्रमाताओं से परे प्रकाशैकशरीर शिव-भट्टारकस्वरूप प्रमाता के लिये प्रकाशैकरूप ही प्रमेय है।

विश्व से परे तथा विश्वात्मक परमानन्दमय प्रकाशैकघन श्रीमान् परमशिव का ऐसा ही शिव से लेकर धरापर्यन्त सम्पूर्ण प्रमेय अभिन्न रूप से ही स्फुरित होता है। वस्तुत: कोई अन्य ग्राह्य-ग्राहक (प्रमेय एवं प्रमाता, ज्ञेय एवं ज्ञाता) है ही नहीं; अपितु परमशिव ही इस प्रकार अनन्त विचित्रताओं के रूप में स्फुरित होते हैं; क्योंकि भगवान् विश्वशरीर है—यथा च भगवान् विश्वशरीर:। श्रीपरमशिव: स्वात्मैक्येन स्थितं विश्वं चिदैकात्म्येन विश्वशरीर: शिवभट्टारक एव, एवं भगवान विश्वशरीर:।[५]

श्रीपरमशिव अपने स्वरूप से अभिन्न रूप में अवस्थित विश्व को सदाशिव आदि रूप से प्रकाशित करने की इच्छा करते हुये प्रथमत: चिदैक्य संकोचमय अनाश्रित शिव या शून्यातिशून्य रूप में प्रकाशात्मक एवं प्रकाशमान रूप से स्फुरित होते हैं। जीव भी विश्वरूप शरीरधारी शिव से अभिन्न है। संकोच भी विचार करने पर चिदैक्य

---

१. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनीविवृति
२. प्रत्यभिज्ञाहृदयम्
३. आचार्य क्षेमराज : प्रत्यभिज्ञाहृदयम्
४-५. प्रत्यभिज्ञाहृदयम्

रूप से विकसित होने के कारण चिन्मय ही है और इसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। इस प्रकार सभी जीव विश्वशरीर वाले शिवभट्टारक ही हैं। इसीलिये स्पन्दशास्त्र में कहा गया है—

तेन शब्दार्थचिन्तासु न सावस्था न यः शिवः।

स्वातन्त्र्यात्मा चिति शक्ति ही ज्ञान, क्रिया एवं मायारूप होकर पशुदशा में सत्त्व, रज एवं तम स्वभाव वाले चित्त में स्फुरित होती है।[१]

विश्व-विकास-प्रक्रिया में सदाशिव एवं ईश्वरतत्त्व (षट्त्रिंशत्तत्त्वानि विश्व—कल्पसूत्र)

शिव शक्ति सदाशिव ईश्वर शुद्धविद्या माया अविद्या कला राग काल नियति

पुरुष प्रकृति मन बुद्धि अहंकार ५ ज्ञानेन्द्रियाँ (१७-२१) ५ कर्मेन्द्रियाँ (२२-२६)

५ तन्मात्रायें (२७-३१) ५ महाभूत (३२-३६) = ३६ तत्त्व।

सदाशिव तत्त्व—

स्वेच्छाशक्त्युद्गीर्णं जगदात्मतया समासाद्य।
निवसन् निखिलानुग्रहनिरतः सदाशिवोऽभिहितः।।

स्वेच्छावश अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति के द्वारा उद्गीर्ण जगत् को अपनी आत्मा (आत्म-स्वरूप) मानकर स्थित रहने वाला एवं समस्त प्राणियों पर अनुग्रह करने में सदा तत्पर और 'अहमिदं' का विमर्श करने वाला पूर्णाहन्ता का विमर्शक तथा शिव-शक्ति का प्रथम विकास (सृष्टिक्रम में शिव-शक्ति से उत्पन्न प्रथम आदि सत्ता) ही सदाशिव है।

परमशिव की अपनी अभिन्न शक्ति में जब 'उन्मेष' होता है तब सृष्टि होती है और जब वह आँख मूँद लेती है तो प्रलय हो जाता है। यह उन्मेष एवं निमेष शक्ति के सृष्टि-संहार व्यापार हैं। इसी उन्मेष के कारण सदाशिव तत्त्व अभिव्यक्त होता है। यह शक्तितत्त्व का प्रथम एवं स्थूल उन्मेष है। इसे ही सादाख्य तत्त्व कहते है। शैव दर्शन में सृष्टि शक्ति का उन्मेषमात्र है।

सदाशिव के विषय में जो यह कहा गया है कि 'निमेषोऽन्तः सदाशिवः' (ईश्वर-प्रत्यभिज्ञाः-३.१.३), उसका अर्थ है कि यह निमेष अन्तर्वर्ती है। इस सदाशिवावस्था में इच्छाशक्ति का प्राधान्य रहता है; क्योंकि शिवत्व के इस स्तर पर 'अहं' अंश प्रधान रहता है और 'इदं' अंश अस्फुट रहता है। अतः अहं अंश उस इदं अंश को आच्छादित किये रखता है। यहाँ सदाशिव का विमर्श होता है—'अहमिदम्' = मैं यह हूँ। यहाँ जगत् का अव्यक्त रूप में भान होता है।

सदाशिव—शिव-शक्ति का जो आन्तर निमेष है, उसे ही सदाशिव एवं बाह्य

१. प्रत्यभिज्ञाहृदयम् (क्षेमराज)।

उन्मेष को ईश्वर कहते हैं। क्षेमराज प्रत्यभिज्ञाहृदयम् में कहते हैं—अहन्ताच्छादित-मस्फुटेदन्तामयं यादृशं .... विश्वं ग्राह्यं। चूँकि सत्ता का आरम्भ यहीं से होता है, इसी से इसका नाम सादाख्य तत्त्व है—सादाख्यायां भवं सादाख्यं यत: प्रभृति सदिति प्रख्या (ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी-३.१.२)। ईश्वरो बहिरुन्मेषो निमेषोऽन्त: सदाशिव:। (ईश्वरप्रत्यभिज्ञा) कहकर सदाशिव को शिव-शक्ति का आन्तर निमेष भी कहा गया है। विकासोन्मुख ज्ञान की तृतीय अवस्था 'ईश्वरतत्त्व' सदाशिव का बाह्य रूप है।

सदाशिव निस्पन्द परमेश्वर में किंचित् चलनात्मक स्फुरण है। प्रभा का 'अहमंश' यहाँ 'इदमंश' को आवृत करके स्थित रहता है; अत: जगत् का अव्यक्त रूप से ही भान होता है।

शिवतत्त्व एवं विद्यातत्त्व के विमर्श : ज्ञान की अवस्था

सृष्टि-संघटक तत्त्वों के तीन वर्ग हैं—

१. **शिवतत्त्व**—(क) शिव, (ख) शक्ति।

२. **विद्यातत्त्व**—(क) सदाशिव, (ख) ईश्वर, (ग) शुद्ध विद्या।

३. **आत्मतत्त्व** (३१ तत्त्वों की समष्टि) (माया से भूमिपर्यन्त ३१ तत्त्व)।

शिवतत्त्व में 'अहं' विमर्श होता है—अहमस्मि।

१. सदाशिव तत्त्व में अहमिदं विमर्श होता है।

२. ईश्वरतत्त्व में इदमहं विमर्श होता है।

३. सद्विद्या में 'अहं' और 'इदं' दोनों की समभावेन प्रधानता विद्यमान है।

सदाशिव तत्त्व में 'अहं' का प्राधान्य रहता है; जबकि ईश्वरतत्त्व में 'इदं' का प्राधान्य होता है। सद्विद्या, विद्या या शुद्ध विद्या में अहं एवं इदं का सामानाधिकरण्य (दोनों की समान रूप से स्थिति) है। परासंवित् का शिव-शक्त्यात्मक स्वरूप सर्गात्मक होता है। सदाशिव में अहं इदं (जगत्) का आत्मा के एक अंश के रूप में आत्मा से अभिन्न मानकर अनुभव होता है। मायाशक्ति का कार्य होता है—अहं एवं इदम् को पृथक्-पृथक् करना। इसमें अहमंश हो जाता है—पुरुष (जीव) एवं इदमंश (जगत्) हो जाती है—प्रकृति। शिव को पुरुषाकार या पुरुषस्वरूप में अवतरित करने हेतु माया पाँच रूपों (कंचुकों) या उपाधियों की सृष्टि करती है, जो कला, विद्या, राग, काल एवं नियति हैं।

ये शक्ति को परिच्छिन्न करने वाले मायावरण हैं। परमेश्वर मायाशक्ति द्वारा अपने रूप को आच्छादित कर लेते हैं, तभी पुरुषतत्त्व बनकर पृथक् हो जाते हैं।

ईश्वर तत्त्व में 'अहम्' अंश गौण होता है और 'इदम्' अंश की प्रधानता रहती है। इदम्-अहम् इस प्रकार की प्रतीति विमर्श शक्ति में उल्लसित होती है। यहाँ ज्ञान-शक्ति का प्राधान्य है।

शुद्धविद्या या सद्विद्या भूमि में अहम् एवं इदम्—इन दोनों रूपों में ऐक्य की प्रतीति रहती है। मैं = यह हूँ—यही भावना इस भूमि में जागृत रहती है। इसमें क्रिया-शक्ति का प्राधान्य रहता है।

मायातत्त्व की भूमि में पूर्व की ऐक्य प्रतीति पृथक्-पृथक् हो जाती है। अहं अंश पुरुषरूप में तथा इदम् अंश प्रकृति के रूप में यहाँ अभिव्यक्त होते हैं। यहाँ अचित् (जड़) में प्रमातृत्व का आभास होता है।

यही कलादिक पञ्चकञ्चुकों का उपादान कारण है।

सदाशिव एवं ईश्वरतत्त्व—

१. ब्रह्म का स्थान = हृदय।

२. विष्णु का स्थान = कण्ठ।

३. रुद्र का स्थान = तालुमध्य।

४. बिन्दुरूप ईश्वर का स्थान = भ्रूमध्य।

५. नादा-त्मक सदाशिव का स्थान = ललाट से मूर्धा तक।

६. (शिव की अंगभूता शक्ति) व्यापिनी एवं समना का स्थान = मूर्धा के मध्य से ऊपर तक (बिन्दु, अर्द्धचन्द्र एवं निरोधिका तक)।

७. नाद की व्याप्ति नादान्त तक आदि।

बिन्दु पद के अधिष्ठाता ईश्वर हैं और नाद पद के सदाशिव। निमग्न भाव की प्रकृति को निमेष कहते हैं। यह विमर्श शक्ति से आता है। यह अवस्था सदाशिव की अवस्था-जैसी है। इसमें अहंभाव के द्वारा आच्छादित अस्फुट इदंभाव विद्यमान रहता है। अहंभाव से आच्छादित अस्फुट इदंभाव की दशा ही सदाशिव की दशा है। सारांश यह कि—१. सदाशिव अहंप्रधान है। २. ईश्वर इदंप्रधान है। ३. शुद्धविद्या उभयप्रधान है।

महार्थमञ्जरी के अनुसार—अहन्तेदन्तालक्षणयोर्ज्ञानक्रिययोराद्योद्रेकात् उन्मीलितचित्र-न्यायेन व्यक्ताव्यक्तविश्वप्रमातृतास्वभावं सदाशिवाख्यं तत्त्वम्। एतद्विपर्ययेण क्रियाशक्त्यौ-ऽज्ज्वल्ये व्यक्ताकारविश्वानुसन्धातृरूपम् ईश्वरतत्त्वम्।

सृष्टि की भेदाभेदभूमिका में आभासक्रम का तृतीय तत्त्व सदाशिव है। इसकी अभि-व्यक्ति शिव की इच्छाशक्ति से होती है। शिव की इच्छा का अन्तर्मुख स्पन्द ज्ञानशक्ति है और बहिर्मुख स्पन्द है—क्रियाशक्ति। अन्तर्मुख स्पन्द में ज्ञान का प्राधान्य और क्रिया की अस्फुटता रहती है। उक्त अन्तर्मुख स्पन्द या आन्तर ज्ञानदशा का उल्लासन ही सदाशिव तत्त्व है—किन्त्वान्तरदशोद्रेकात्सादाख्यं तत्वमादितः (ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, भाग-२,३.१.२)।

मन्त्रमहेश्वर और उनका विमर्श = अहमिदम्—सदाशिव दशा के प्रमाता की पारिभाषिक संज्ञा है—मन्त्रमहेश्वर। यद्यपि मन्त्रमहेश्वर भी शिव ही हैं तथापि भेदाभेद

दृष्टि के कारण वे मन्त्रमहेश्वर कहे जाते हैं। मन्त्रमहेश्वर के विमर्श का स्वरूप अहमिदं है—अत्र यदा अहम् इत्यस्य यदधिकरणं चिन्मात्ररूपं तत्रैवेदमंशमुल्लासयति तदा तस्यास्फुटत्वात् सदाशिवता अहमिदम् इति। (ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी)।

सादाख्य तत्त्व—इस तत्त्व का अपर पर्याय 'सदाख्य' है—ततश्चान्तरी ज्ञानरूपा या दशा तस्या उद्रेकाभासने सादाख्यं सदाख्यायां भवम्········ सदाख्यायाश्च सदाशिव-शब्दरूपाया इदं वाच्यं तत्त्वम् (ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी : भाग-२)।

सदाशिव तत्त्व के अहमिदम् विमर्श में अहं तो शिव का एवं इदम् विश्व का सूचक है। इस तत्त्वावस्था के परामर्श में प्रमाता की अहन्ता प्रधान रहती है और अहन्ता के प्रकाश की प्रधानता से आच्छादित होने के कारण यहाँ विश्व की प्रतीति उसी प्रकार अस्पृष्ट रहती है, जिस प्रकार बीज का अंकुरायमाण स्वरूप उसकी बीज-रूपता के प्रकाश में अस्फुट रहता है—सदेवांकुरायणमाणमिदं जगत् स्वात्मनाहन्तयाच्छाद्य स्थितं रूपं सदाशिवतत्त्वम् (पराप्रवेशिका)।

सदाशिव और ईश्वर—दोनों सत्ताओं में विश्व की सत्ता विद्यमान रहती है; किन्तु सदाशिव तत्त्व में 'अहन्ता' के परामर्श से विश्व के आच्छादित रहने के कारण सदाशिव का विमर्श अस्फुटप्राय रहता है। ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी (भाग-२) में कहा गया है कि—

१. जगत् की सृष्टि की प्रारम्भिक (आद्य) अवस्था में मन्त्रमहेश्वर नामक प्रमाता (चैतन्यवर्ग) का प्रमेयरूप भावचक्र अहन्ता के प्रकाश में उसी प्रकार अस्फुट रहता है, जिस प्रकार कुछ रेखा-बिन्दुओं से उन्मीलितमात्र चित्र चित्रफलक के प्रकाश के प्राधान्य में अस्फुटप्राय रहता है।

२. उपर्युक्त अस्फुट भावराशि में चैतन्यवर्ग (मन्त्रमहेश्वर) प्रमाता का जो अस्फुट वेद्यसदृश ज्ञानरूप चित्तविशेषत्व है, उसका अभिधान 'सदाशिव तत्त्व' है—

ततश्च शुद्धचैतन्यवर्गो यो मन्त्रमहेश्वराख्यः तस्य प्रथमसृष्टावस्माकमन्तःकरणैकमेवाद्य-मिव ध्यामलप्रायमुन्मीलितमात्रचित्रकल्पं यद् भावचक्रं, संहारे च ध्वंसोन्मुखतया तथाभूतमेव चकास्ति प्रतिबिम्बप्रायतया, तस्य चैतन्यवर्गस्य तादृशि भावराशौ तथा प्रथनं नाम यच्चि-द्विशेषत्वं तत्सदाशिवतत्त्वम्।

शिव-शक्ति की सामरस्यावस्था में तो सत्-असत् जैसे विकल्पों का उदय तक नहीं होता। सृष्टि के विकास में 'सदाशिव तत्त्व' प्रथम तत्त्व है, जिससे सत् का ज्ञान प्रारम्भ होता है—सृष्टिक्रमोपदेशादौ प्रथममुचितं तत्सादाख्यं तत्त्वम्।

इसी कारण इसे सादाख्य तत्त्व कहा जाता है—यतः प्रभृति सदिति प्रख्या, सदा-ख्यायाश्च सदाशिवशब्दरूपाया इदं वाच्यं तत्त्वम्····· तत्सादाख्यं तत्त्वम्।

सदाशिव तत्त्व निमेष है—निमेषोऽन्तः सदाशिवः।

जहाँ इदम् रूप प्रमेय (विश्व) अप्रधान एवं अहं रूप प्रमाता प्रधान रहता है, उस अहं-प्रधान प्रमाता की ही संज्ञा 'सदाशिव' है।

सदाशिवावस्था में विश्वावभास अस्फुट रहता है। यहाँ प्रमाता के परामर्श में विश्व-परामर्श प्रच्छन्न (आच्छादितप्राय) रहता है। यह अवस्था प्रलय की सूचक है—सदाशिवतत्त्वं यतो जगत: प्रलय: (ईश्व० प्र० वि०)।

अहम् में इदम् (विश्व) की प्रलीनता के कारण ही सदाशिव तत्त्व का अभिधान 'निमेष' है।

इच्छाशक्ति का प्राधान्य एवं ज्ञान का उद्रेक होने पर शिव का जो आभासन होता है, उसी की संज्ञा है—सदाशिव तत्त्व। शिव तत्त्व तो अभेदावस्था है। उसमें भेद का किञ्चिन्मात्र भी भास नहीं होता। शिवतत्त्व = अभेदावस्था। सदाशिवतत्त्व = भेदाभेदावस्था।

शिव के अन्तर्मुख स्पन्द में ज्ञान की एवं उनके बहिर्मुख स्पन्द में क्रिया की अस्फुट एवं निर्विषयक अभिव्यक्ति होती है। शिव का अन्त:निमेष सदाशिव तत्त्व एवं बाह्योन्मेष ईश्वरतत्त्व है। सदाशिव तत्त्व में यथार्थ बाह्यता नहीं है। यह भी शिव से अभेद की भूमिका है। विकासक्रम में चतुर्थतत्त्व ईश्वर तत्त्व है। जिस प्रकार शिव की इच्छा का अन्तर्मुख स्पन्द सदाशिव कहलाता है, उसी प्रकार उसके बहिर्मुख स्पन्द का अभिधान ईश्वरतत्त्व है। इसका आविर्भाव या अभिव्यक्तीकरण शिवेच्छा में क्रियाशक्ति के उद्रेक से हुआ करता है—बहिर्भावस्य क्रियाशक्तिमयस्य परत्वे उद्रेकाभासे सति पारमेश्वरं परमेश्वरशब्द-वाच्यमीश्वरतत्त्वं नाम।

प्रत्यभिज्ञाकारिकावृत्ति में उत्पलदेवाचार्य कहते हैं—ईशितुर्बहि:स्थितावन्तर्भावप्राधान्ये पुन: सादाख्यं तत्त्वम् अपरं बहिर्भावोद्रेकादैश्वरम्। अर्थात्—

किंत्वान्तरदशोद्रेकात्सादाख्यं तत्त्वमादित:।
बहिर्भावपरत्वे तु परत: पारमेश्वरम्।।
ईश्वरो बहिरुन्मेषो निमेषोऽन्त: सदाशिव:।
सामानाधिकरण्यं च सद्विद्याहमिदंधियो:।। (३.३)

आचार्य उत्पलदेव कहते हैं—उन्मेषनिमेषौ बहिरन्त:स्थिती एवेश्वरसदाशिवौ बाह्या-भ्यन्तरयोर्वेद्यवेदकयोरेकचिन्मात्रविश्रान्तेरभेदात्सामानाधिकरण्येनेदं विश्वमहमिति विश्वात्मनो मति: शुद्धविद्या।

भगवती के उन्मेष से जिसकी अभिव्यक्ति होती है, वह है—ईश्वरतत्त्व और उनके निमेष से जिसकी अभिव्यक्ति होती है, वह है—सदाशिव तत्त्व।

उन्मेषादीश्वरो यस्या निमेषाच्च सदाशिव:।

सारांश यह है परमशिव की क्रियाशक्ति के उद्रेक से ही ईश्वर का अवतरण होता है।

शिवतत्त्व का स्पन्दन

- शिव की इच्छा का अन्तर्मुख स्पन्दन। 'सदाशिव' तत्त्व (मन्त्रमहेश्वर)
- शिव का बहिर्मुख स्पन्दन ईश्वरतत्त्व (मन्त्रेश्वर)

अहन्ता की अनुभूति में जब इदन्ता (विश्व) की आन्तर अनुभूति होती है तब उसे ईश्वर कहते हैं। सदाशिव एवं ईश्वर में भेद की विभाजिका रेखा इदम् की अनुभूति होना या न होने को लेकर नहीं है; प्रत्युत इदम् के अस्फुट एवं स्फुट अनुभूति को लेकर है।

अहं और इदम् की अनुभूति

- सदाशिव में अहं की प्रधान एवं इदम् की अहमाच्छादित गौण (अस्फुट) अनुभूति होती है। सदाशिव का परामर्श = अहमिदम्। इस भूमिका का अनुभविता = मन्त्रेश्वर।
- ईश्वरतत्त्व में अहं की अपेक्षा इदम् भी स्फुट अनुभूति होती है। ईश्वरतत्त्व का परामर्श = इदमहम्। इस भूमिका का अनुभविता = मन्त्रेश्वर।

१. शिवशक्ति की भूमिका = अभेद भूमिका शुद्ध = आधा।

२. सदाशिव, ईश्वर, शुद्धविद्या की भूमिका = भेदाभेद भूमिका = शुद्ध अध्वा।

३. माया से पृथ्वी तक के ३१ तत्त्वों की भूमिका = भेदभूमिका (अशुद्ध अध्वा)।

पराप्रावेशिका में कहा गया है कि सदाशिव तत्त्व में जो विश्व अंकुरायमाण अवस्था में था और अहन्ता के परामर्श के प्राधान्य से अस्फुट प्रतीति का विषय था वही ईश्वर-तत्त्व की दशा में अंकुरित होकर स्फुटभाव से परामृष्ट होकर प्रतीति का विषय बनता है।

ईश्वरतत्त्व का प्रमाता मन्त्रेश्वर एवं प्रमेय ईश्वरतत्त्व है। प्रमेय (ईश्वरतत्त्व) का विमर्श 'यह मैं हूँ' (इदमहम्) है। यहाँ इदम् (विश्व) का स्फुटावभास होने के कारण अहं का परामर्श अस्फुट रूप में होता है। स्फुटावभासित इदम् अंश के अधिकरण में जब अहं का विमर्श अस्फुट रूप में होता है तब इदम् (विश्व) का स्फुट वेद्य— परामर्श ईश्वरतत्त्व कहलाता है—

भावराशौ पुनः स्फुटीभूते तदधिकरणे एवेदमंशे यदाहमंशं निषिञ्चति तदा ज्ञान-शक्तिप्रधानमीश्वरतत्त्वम् इदमहमिति।

रामकण्ठाचार्य स्पन्दविवृत्ति में कहते हैं कि—[१]क्रिया के प्राधान्य से बाहर उन्मिषित शक्ति की परम अहंभाव में जो विश्रान्ति है, वही ईश्वरतत्त्व है। यहाँ प्रयुक्त बहिः (बाहर) का तात्पर्य परमेश्वर से बाहर नहीं है; क्योंकि परमेश्वर तो सर्वत्र स्थित है। विश्व की स्फुट प्रतीति ही बाह्यता या उन्मेष है। ईश्वरतत्त्व के उन्मेष से ही विश्वोदय होता है— यस्योन्मेषादुदयो जगतः इत्यत्र ईश्वरतत्त्वमेवोन्मेषशब्देनोक्तम्।

---

१. तन्त्रालोक टीका (भाग-६) विवेक (तन्त्रालोक टीका)

स्पन्दविवृति में कहा गया है कि क्रिया के प्राधान्य से बाहर उन्मिषित शक्ति की परम अहंभाव में जो विश्रान्ति है, वही ईश्वरदशा है—यत्र पुनः शक्तिक्रियाप्राधान्येन बहिर्गृहीतोन्मेषायाः पराहंभावविश्रान्तिः सा ईश्वरदशा।

जिस प्रकार सदाशिवतत्त्व विश्व के प्रलय या निमेष का सूचक है, उसी प्रकार विश्वविकास (आभासक्रम) की दृष्टि से विश्वोन्मेष ईश्वरतत्त्व का सूचक है।

सदाशिव एवं ईश्वरतत्त्व का अहंविमर्श तो समान है; किन्तु उनके इदम् के परामर्श में ही वैभिन्न्य है। सदाशिव में इदम् का परामर्श अस्फुट है तो ईश्वरतत्त्व का स्फुट। सदाशिव में अहं पहले और इदम् बाद में एवं ईश्वर में इदम् पहले और अहम् बाद में परामृष्ट होते हैं। दोनों में प्रधान अन्तर यही है—अतएव चाहंविमर्शस्याविशेषेऽपि अत्रेदमंशस्य ध्यामलत्वाध्यामलत्वाभ्यामयं विशेषः।[१] दोनों की व्यावर्तक रेखायें निम्नांकित हैं—

१. सदाशिवपदं ज्ञेयं यत्रास्फुटमिदं जगत्।
२. विश्राम्यन्यत एवायं निमेषोऽस्ति सदाशिवः।
३. इति युक्ता निमेषस्योक्ता सदाशिवात्मता।
४. सृष्टे स्फुरता यास्ति सा सदाशिवता मता।
५. तत्त्वे सदाशिवे सन्ति स्थिता मन्त्रमहेश्वराः।
६. मन्त्रेश्वराः स्थितास्तत्त्व ईश्वरे तदधिष्ठिताः।
७. विद्यातत्त्वे स्थिता मन्त्रा मातारो भेददर्शिनः।
८. ज्ञानक्रियात्मिका सैव प्रोक्ता सदाशिवेशता।
९. उक्ता विमर्शदार्ढ्येन क्रिया सैवेश्वरात्मिका।।

(क) सदाशिवतत्त्व में रहने वाला प्रमाता = मन्त्रमहेश्वर।
(ख) ईश्वरतत्त्व में रहने वाला प्रमाता = मन्त्रेश्वर।
(ग) विद्यातत्त्व में रहने वाला प्रमाता = मन्त्र।

पराप्रावेशिका (क्षेमराज) के शब्दों में—

(क) सद्रूप अंकुरायमाण जगत् की जो प्रथमावस्था है, जो अपने स्वरूप में अहन्ता से आच्छादित करके स्थित है, उसे सदाशिव कहते हैं अर्थात् अहन्ता से इदन्ता को आच्छादित करने वाले तत्त्व को सदाशिव कहते हैं तथा—

(ख) अंकुरित जगत् को अहन्ता द्वारा स्फुट रूप से जो ग्रहण किये हुये है, उसे 'ईश्वर' कहते हैं।

आभासन तो होता ही है। अतः यह भेद की भी भूमिका है। सदाशिव शिव की

---

१. क्षेमराज (पराप्रावेशिका)

भेदाभेदभूमिका का अनुभविता प्रमाता मन्त्रमहेश्वर है। उसकी अनुभूति है—अहमिदम्। अहमिदं में इमद् तत्त्व अहम् से भिन्न नहीं है; प्रत्युत उसी का रूपभेद है; क्योंकि यहाँ इदम् भी आन्तर है, बाह्य नहीं है। अहमिदं के परामर्श में (अहमिदं की प्रतीति में) इदन्ता अहन्ता से आच्छन्न (आच्छादित) है। अहं (मैं) एवं इदं (जगत्) अंश का अस्फुट उल्लास ही सदाशिव है।

अस्फुट रेखाओं से उन्मीलित चित्र की भाँति सदाशिव तत्त्व है। इसमें विश्वरूपी चित्र का प्राथमिक आभास तो है; किन्तु वह अंकित नहीं है।

सत्ता एवं विकास (सृष्टि) **की भूमिकायें**

- (अभेद भूमिका) आत्मतत्त्व : २ तत्त्व—शिव, शक्ति।
  ↓
- (भेदाभेद भूमिका) विद्यातत्त्व : ३ तत्त्व—सदाशिवतत्त्व, ईश्वरतत्त्व, सद्विद्या तत्त्व।
  ↓
- (भेदभूमिका) आत्मतत्त्व = ३१ तत्त्व (माया की सहायता से अघोर या अनन्त द्वारा सृष्टि)।

शुद्ध अध्वा : ५ तत्त्वों का विकास

शुद्धाध्वा के प्रमाता—

१. शाम्भव　३. मन्त्रमहेश　५. मन्त्र
२. शक्तिज　४. मन्त्रनायक

शाम्भवाः शक्तिजा मन्त्रमहेशा मन्त्रनायकाः।
मन्त्रा इति विशुद्धा स्युरमी पञ्च गणाः क्रमात्।।
तदेवं पञ्चमिदं शुद्धोऽध्वा परिभाष्यते।
तत्र साक्षाच्छिवेच्छैव कर्त्र्याभासितभेदिका।।

(तन्त्रालोक ६.९.६०)

शाम्भव, शक्तिज, मन्त्रमहेश, मन्त्रनायक एवं मन्त्र—शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर एवं सद्विद्या के नामान्तर नहीं हैं; प्रत्युत ये उनके प्रमाता हैं।

प्रमेय एवं प्रमाता (प्रमेय)

शिव	शक्ति	सदाशिव	ईश्वर	सद्विद्या	= प्रमेय।
(शाम्भव)	(शक्तिज)	(मन्त्रमहेश)	(मन्त्रनायक)	(मन्त्र)	= प्रमाता।

जयरथ ने शाम्भव आदि को प्रमाता माना है और शिव आदि को प्रमेय माना है—एष्विति शिवादि पञ्चसु तत्त्वेषु कश्चैनां स्वो गण? इत्याशंक्योक्तम् शाम्भवाद्या अमी पञ्चगणा इति, क्रमादिति—यथासंख्येन, तेन शिवतत्त्वे शाम्भवा यावद् विद्यातत्त्वे मन्त्रा इति।

किसी-किसी विद्वान् ने इन दोनों को पर्यायवाची शब्द मान लिया है; किन्तु यह भूल है।

ज्ञानं क्रियेति—ज्ञान का स्वरूप क्या है? ज्ञान के निम्न लक्षण हैं—१. यह अहम्भाव भासनात्मा है। २. यह समस्त प्राणियों का स्वसंवेदनसिद्ध स्वभाव है—ज्ञानं हि नामाहम्भावावभासनात्मा सर्वप्राणिनां स्वसंवेदनसिद्धः स्वभावः।[१]

क्रिया क्या है? इसका स्वरूप क्या है? इसके भी दो लक्षण हैं—१. यह करचरणाद्यनुबन्धिनी है। यह सर्वसाक्षात्कारयोग्या ३. यह परिस्फुरणात्मा है—क्रिया च करचरणाद्यनुबन्धिनी सर्वसाक्षात्कारयोग्या परिस्फुरति।[२]

'मैं जानता हूँ, करता हूँ' की भाँति 'तुम जानते हो' आदि की भाँति आदर्शावलोकनादिन्याय से अस्मत् शब्दार्थ ही युष्मदाद्यर्थ के रूप में अवभासित होते हैं।[३]

इसमें 'चैत्र' शब्द कहने पर 'चैत्र प्रणाम करता है' की भाँति अहंभाव ही व्यवधानोपधान द्वारा प्रथम पुरुष आदि की भाँति प्रतीत होता है। यह 'अहन्ता' ही सर्वत्र आत्मतत्त्व है। कहा भी गया है—

अस्तिशेषा क्रिया सर्वा कर्तृशेषं च कारकम्।
एकशेषं च वचनं पुरुषश्चोत्तमावधिः।।

अहन्तोल्लेख ही 'ज्ञान' है—अहन्तोल्लेखश्च ज्ञानशब्दार्थः।[४]

इसी प्रकार 'करते हो, करता है' इत्यादि वाक्यों में भी 'मैं करता हूँ' इसके पारमर्थ्य से क्रिया भी ज्ञान की भाँति अहम्भावानुप्रविष्ट की भाँति ज्ञात होती है। इसका केवल इदंभावप्राचुर्य की अनुभूति के रूप में भेदव्यवहार हुआ करता है।

इसी प्रकार ज्ञान एवं क्रिया—ये जो दो भाव हैं, उन दोनों के मध्य प्रथम (अर्थात् ज्ञान) के उद्रेक की स्थिति में और द्वितीय अर्थ के अस्फुटत्व की स्थिति में (न्यग्भाव होने पर) सदाशिवतत्त्व की स्थिति मानी जाती है। इसके अधिष्ठाता होने पर सदाशिव के नाम से विष्णु, रुद्र आदि की उपासना की जाती है। यह सदाशिव देव दृक् शक्ति के औल्बण्य के कारण तथा क्रिया के अत्यन्तापकर्षाभाव के कारण क्रीड़ादिक व्यवहार के अनुसन्धान में पूर्ण समर्थ है। यह उपक्रममात्र ही तत्त्वस्वभाव के कारण विश्व की सिसृक्षालक्षणात्मक स्वशक्ति से अविभिन्न परमेश्वर का द्योतन आसूचित करने हेतु 'देव' कहा गया है।

अभिनवगुप्तपादाचार्य की दृष्टि—

श्रीमत्सदाशिवोदारप्रारम्भं वसुधान्तकम्।
यदन्तर्भाति तत्त्वानां चक्रं तं संस्तुमः शिवम्।।[५]

१-४. परिमल ५. तन्त्रालोक

शिव और शक्ति का तत्त्वव्यपदेश किसी मुख्य वृत्ति से नहीं है। सदाशिव आदि उत्तरतत्त्व व्रातनिर्वाहकताकार विकल्प के संस्पर्श आदि मात्र औपचारिक हैं।

क्रिया का स्फुरण-प्राचुर्य की स्थिति में एवं ज्ञान का स्तैमित्य होने पर ईश्वर की विद्यमानता माननी चाहिये। यह ईश्वराख्य तत्त्व एक प्रमाता है।

सदाशिव एवं ईश्वर में भेद—

१. अहन्तेदन्तालक्षणयोर्ज्ञानक्रिययोराद्योद्रेकादनुन्मीलितचित्रन्यायेन व्यक्ताव्यक्तमय-विश्वप्रमातृततास्वभावं सदाशिवाख्यं तत्वम् (सदाशिवतत्त्व)।[1]

२. एतद्विपर्यासेन क्रियाशक्त्यौज्ज्वल्ये व्यक्ताकारविश्वानुसन्धातृरूपमीश्वरत्वमिति। (ईश्वरतत्त्व)।[2]

'प्रथमोन्मेषे' में उन्मेष का क्या अर्थ है? उन्मेष एवं निमेष परमेश्वर का परम-स्वातन्त्र्यलक्षणात्मक स्पन्दतत्त्व है। जब अहन्ता का उन्मेष होता है तब इदन्ता का निमेष होता है और जब इदन्ता का उन्मेष होता है तब अहन्ता का निमेष हुआ करता है—

१. यदाहन्तोन्मेषस्तदानीमिदन्ताया निमेषः।[3]

२. इदन्तोन्मेषे चाहन्ताया निमेषः।

अतः कहा गया है कि—

ईश्वरो बहिरुन्मेषो निमेषोऽन्तः सदाशिवः।

यद्यपि ईश्वर की सदाशिव से भिन्नता प्रतिपादित की गई है तथापि दोनों में अव्यवधान है; क्योंकि अहन्तानुस्यूति दोनों में है, केवल तारतम्यक्रम में भेद है। अहन्ता के दो रूप हैं—१. शिव २. शक्ति—'अहन्तायाश्च शिवशक्तिद्वितयरूपत्वात् अत्रैव अनुसन्धेयः।' उत्पलदेवाचार्य कहते हैं—

बहिर्भावपरत्वे तु परतः पारमेश्वरम्।

ज्ञाता, ज्ञेय एवं विद्या का स्वरूप

अथ शुद्धविद्यामुद्योतयति—

पाआरो सो अप्पा णेअसहावो अ लोअववहारो।
एक्करसं संघाडिं जत्थ गआ सा खु णित्थुसा विज्जा॥१६॥

(ज्ञाता स आत्मा ज्ञेयस्वभावश्च लोकव्यवहारः।
एकरसां संसृष्टिं यत्र गतौ सा खलु निस्तुषा विद्या॥)

आत्मा ही ज्ञाता है और विश्वविलासात्मक लोकव्यवहार ही ज्ञेय है। (ज्ञाता एवं ज्ञेय की सामरस्यरूपा) एकरसात्मिका संसृष्टि (सामरस्यात्मक सृष्टि) ही शुद्धा (निस्तुषा)

१-३. परिमल

विद्या है, जहाँ जाकर ज्ञाता (आत्मा) एवं ज्ञेय (जगत् एवं लोकव्यवहार) समरसाकार हो जाते हैं।।१६।।

ज्ञातृत्वधर्मापि विभिन्नाहम्भाव आत्मा परमेश्वरः, तस्यैव चिच्छक्तिक्रोडीकार्यात्मीयसद्भावो लोकव्यवहारः स्फुरत्तापरामर्शानुप्राणनस्य तस्य प्रपञ्चसरस्य हानोपानादिभिरर्थक्रिया चेत्येतौ द्वावप्यन्योन्यं प्रतीतिसामरस्यलक्षणां संसृष्टिं प्राप्ताविति योऽर्थः, सा निस्तुषा शुद्धा विद्या। सा च संसृष्टिरेकरसा। एकमभिन्नरूपमन्यतत्त्वदुर्लभोक्तचमत्काराधारतया रस्यमानमधिकरणमस्या इति। ततश्च—

सामानाधिकरण्यं च सद्विद्याहमिदन्धियोः ।

इत्युक्तं भवति। यदुक्तमस्मद्गुरुभिः श्रीमातङ्गीस्तोत्रे—

स्तनौ घनौ पूर्णसुधौ सुकान्तौ तवेशि! नन्दामि परस्पराभौ ।
स्थितौ समानाधिकृतौ सुविद्ये! समौ तवैवाहमिदम्प्रकाशौ ।। इति।

माया प्रमातृवर्गे प्रमातारं प्रति अहमिति प्रमेयं प्रति त्विदमिति वैयधिकरण्यमनयोः सम्प्रतिपन्नम्। अत्र तु न तथेति सामानाधिकरण्यमेकरसशब्देनोच्यते। शुद्धिः पुनरस्या बहिष्ट्वेनावभासमानस्यापि वेद्यवर्गस्य यदहमित्येव प्रथनरूपं स्वाभाविकमौचित्योत्तरं च वपुः, तल्लौकिकैरिदमिति व्यवह्रियते। तद्व्युदासेन यथावस्त्ववभासनात्मकमुत्कृष्टत्वम्। यथा पर्यन्तपञ्चाशिकायाम्—

शुद्धिर्बहिष्कृतार्थानां स्वाहन्तायां निमज्जनम् । इति।

श्रीतन्त्रालोके च—

चिदात्मकेष्वप्येतेषु या बुद्धिर्व्यतिरेकिणी ।
सैवाशुद्धिः परा प्रोक्ता शुद्धिस्तद्धीविमर्दनम् ।। इति।

अन्ये पुनः शुद्धिमित्थमस्या मन्यन्ते—यत् सदाशिवादिष्वहमिदमिति सामरस्यशालिनी संविदस्ति, तत्र सामानाधिकरण्यादैकरस्ययोगेऽपि मायीयस्येदन्तांशोल्लासस्यावर्जनीयत्वात् सदाशिवादीनां च मायावार्तानभिज्ञत्वात् सोऽयमिदन्तांशो मायीयतादोषव्युदासादहम्भावभागवदनया प्रतीयमानत्वेनावस्थाप्यते। तत्प्रतीतिव्यतिरेके तु तत्सामानाधिकरण्यमेव भज्येतेति। अयं भावः—भगवतः परमशिवभट्टारकस्य पशूनपि कांश्चित् प्रमातॄन् प्रति सदाशिवादिनिर्विशेषमनुजिघृक्षोत्कर्षादशुद्धविद्याकलङ्कप्रक्षालनाविनाभूता स्वस्वभावप्रत्यभिज्ञापनात्मिका संवित्स्वातन्त्र्यशक्तिः शुद्धविद्या, यामवलम्ब्य विज्ञानकेवला रुद्रोऽग्निश्चेति प्रमातृवैचित्र्यमिति स इत्यनेनेदन्ताक्रान्तस्यार्थस्य कार्त्स्न्येन कोट्यन्तरत्वद्योतनार्थमहम्भावस्यावापोद्धारबुद्ध्युपलब्धं कैवल्यमुन्मील्यते। सा खल्विति प्रसिद्ध्यु-

त्कर्षोपपादनेनैतदुद्भाव्यते—यड्डाकिनीराकिन्यादयो धातुदेवताः, चर्याक्रियादयः पुरुषार्थोपायाः, शाम्भवशाक्तादयो दीक्षाविशेषाः, जाग्रत्स्वप्नावस्थाभेदाश्चास्या एव विभूतिपरिस्पन्दतया तथा तथा व्यवह्रियन्ते। यत्रेति विभक्तिप्रतिरूपको निपातः।।१६।।

ज्ञाता (आत्मा/परमात्मा एवं ज्ञेय (वेद्य वर्ग/जगत्) जहाँ पहुँचकर अपनी भिन्नता का त्याग करके एकरूप हो जाते हैं, वही स्थान विद्या है।

त्रिक-दर्शन की दृष्टि के अनुरूप व्याख्यायित करके ग्रन्थकार निस्तुषा (विशुद्ध) विद्या को अद्वैत की दृष्टि से सिद्ध करता है। जब ज्ञाता, ज्ञेय एवं ज्ञान की त्रिपुटी में भेदाभास की दृष्टि नष्ट होकर सभी में ऐकात्म्य का साक्षात्कार होने लगे तब उस साक्षात्कार, अविरत अनुभूति एवं ज्ञान को शुद्धा विद्या कहा जाता है।

ज्ञातृत्व शक्ति (या ज्ञातृत्व धर्म) से सम्पन्न एवं पूर्णाहम्भावना से युक्त परमेश्वर ही ज्ञाता है। ज्ञेय है—यह विराट जगत्। ज्ञाता-ज्ञेय की पृथक् प्रतीति अज्ञान है। ज्ञाता और ज्ञेय में सामरस्य की स्थिति (अभेद-दृष्टि) ही 'शुद्धा विद्या' है। ज्ञान प्रकाशक तत्त्व है—

ज्ञानं प्रकाशकं सर्वमात्मा चैव प्रकाशकः।
अनयोरपृथग्भावाज्ज्ञाने ज्ञानी प्रकाशते।। (शिसूत्रविमर्शिनी)

लोकव्यवहारात्मक प्रपञ्च आत्मतत्त्व से (तत्त्वतः) पृथक् नहीं है। इसकी पृथकता ही भेददृष्टि एवं अज्ञान है तथा दोनों में अभेददृष्टि शुद्ध विद्या है। स्वस्वभावप्रत्यभिज्ञापनात्मिका संवित् स्वातन्त्र्य शक्ति ही शुद्धविद्या है।

विज्ञानभैरव में परमात्मा को सर्वोच्च ज्ञाता होने के कारण 'ज्ञानौघ' कहा गया है—

उदेति देवि! सहसा ज्ञानौघः परमेश्वरः।

परमात्मा अनन्त ज्ञानस्वरूप है—अनन्त ज्ञानी है। भगवती श्रुति उसे ज्ञानस्वरूप कहती है—सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। भगवान् की पाँच शक्तियाँ हैं, जिनमें उनकी एक शक्ति का नाम है—ज्ञानशक्ति।

ज्ञान

अहं (परमशिव का ज्ञान)	अहमिदम् (शिव का ज्ञान)	इदमहम् (सदाशिव का ज्ञान)	इदमहम् (ईश्वर का ज्ञान)	अहं पृथक् इदम् पृथक् (पशुओं (जीवों) का ज्ञान)

सृष्टि = अवरोहणानुकूल ज्ञान

- अभेदस्तरीय ज्ञान—शिव-शक्ति
- भेदाभेदस्तरीय ज्ञान—१. सदाशिव २. ईश्वर ३. सद्विद्या
- भेदज्ञान—पशु (जीव)

सद्विद्या—सदाशिवतत्त्व एवं ईश्वरतत्त्व दोनों अधिष्ठाता देवताओं का करणस्थानीय तत्त्व है—तदधिष्ठातृदेवताद्वयगतं करणं विद्यातत्त्वम्।[१] परमशिव का बहिः औन्मुख्य शक्तितत्त्व है, उसी प्रकार सदाशिव एवं ईश्वरतत्त्व का बहिः औन्मुख्य शुद्धविद्या तत्त्व है।[२]

वेद्यदशा में अवस्थित होने के कारण इदम् प्रत्यय (ज्ञान, बोध) के रूप में परामृष्ट भावों को भी इस अवस्था का प्रमाता जड़रूप में न देखकर प्रकाशकरूप में ही देखता है। यहाँ अहं और इदम्—इन दो अंशों का ज्ञान होने पर भी अहम् रूप प्रमाता वेद्य विषय को भी चिन्मयरूप से अवस्थित देखता है।[३]

अहन्ता और इदन्ता की एकता का ज्ञान जिसके द्वारा होता है, उसे शुद्ध विद्यातत्त्व कहते हैं।[४]

सृष्टि के विकास-क्रम में पाँचवाँ तत्त्व सद्विद्या या शुद्धविद्या है। यह शुद्धाध्व का अन्तिम तत्त्व है। शिव का अहं आद्य विमर्श अभेदात्मक है; किन्तु सद्विद्या अवस्था में विमर्श का जो स्वरूप है वह अहम् और इदम् इस प्रकार का है। इस विमर्श में अहम् और इदम् की प्रतीति समान स्फुटता के धरातल पर अनुभूत होती है अर्थात् सद्विद्या विकास का वह चेतनस्तर है, जहाँ 'मैं' एवं 'जगत्' इन दोनों की अनुभूति में समान स्फुटता है—अहं एवं इदम् समस्फुट हैं। यहाँ 'अहम्' एवं 'इदम्' (मैं और विश्व) का बोध पृथक् अधिकरण में स्थित प्रमाता और प्रमेय से नहीं होता। यहाँ एक ही अभिन्न चिन्मात्राधिकरण में तुला के समान भार (वजन) के पलड़ों की भाँति ही अहम् और इदम् रूप दोनों प्रकाशांशों की अभेदात्मक प्रतिपत्ति होती है। जिस अभेदज्ञानदशा में समान स्फुटता से अहम् एवं इदम्रूप प्रकाशांशों का जो प्रत्यवमर्श होता है, उस प्रत्यवमर्श की संज्ञा शुद्धविद्या या सद्विद्या है। यहाँ तुला के समान पलड़ों की भाँति अहं और इदम् की स्फुटता है और अधिकरणसाम्य है—

ये एते अहम् इति इदम् इति धियौ तयोर्मायाप्रमातरि पृथगधिकरणत्वम् अहम् इति ग्राहके इदम् इति च ग्राह्ये, तन्निरासेनैकस्मिन्नेवाधिकरणे यत्सङ्गमनं सम्बन्धस्वरूपप्रथनं तत् सती शुद्धा विद्या।[५]

यहाँ अहं-इदम् का समान पलड़ा है—यः समधृततुलापुटन्यायेन अहमिदमिति परामर्शः तत्क्रियाशक्तिप्रधानं विद्यातत्त्वम्।[६]

जहाँ इदन्ता एवं अहन्ता दोनों में अभेदात्मक प्रतिपत्ति हो, वही अवस्था शुद्धविद्या है। क्षेमराज कहते हैं—

---

१. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी (भाग २)
२. तन्त्रालोक टीका (भाग ६)
३. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी
४. पराप्रावेशिका
५. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी (भाग २)
६. तन्त्रालोक की टीका विवेक (भाग ६) जयरथ

सा भवति शुद्धविद्या येदन्ताहन्तयोरभेदमतिः।[१]

ईश्वरप्रत्यभिज्ञा (भाग-२,३.१.४) में ठीक ही कहा गया है—

इदंभावोपपन्नानां वेद्यभूमिमुपेयुषाम्।
भावानां बोधसारत्वाद्यथावस्त्वलोकनात्।।

इस दशा में अहम् और इदम् इन दोनों अंशों का ज्ञान होता है तथापि अहम् रूप प्रमाता का वेद्यविषयक दृष्टिकोण यथावस्तुरूप ही है अर्थात् वेद्यदशा प्राप्त होने से इदम् रूप प्रत्यय से परामृष्ट किये जाने वाले भावों को भी यहाँ प्रमाता जड़रूप से नहीं देखता।

इस प्रकार इदम् प्रत्यय से परामृष्ट भावों का जो पारमार्थिक रूप (प्रकाशमात्रैक-स्वरूप) है, उसी स्वरूप में उनको परामृष्ट करने के कारण अहं (प्रमाता) का अहमिदम् (मैं यह (विश्व) हूँ) इस स्वरूप वाले शुद्ध परामर्श को या इस भेदाभेदात्मिका दृष्टि को ही 'शुद्धविद्या' कहा जाता है—तदेषां यदेव पारमार्थिकरूपं तत्रैव प्ररूढत्वात् अहमित्यस्य शुद्धवेदनरूपत्वात्।[२]

शुद्धविद्या में भेदाभेद दृष्टि है। इसका अर्थ यह है कि यहाँ प्रमाता अहन्ता और इदन्ता दो प्रकार के परामर्श करता है। प्रमाता को अहन्ता और इदन्ता जैसे दो प्रकार के विमर्शों के होने के कारण इसका विमर्श भेदमय माना जाता है। इतना होने पर भी यहाँ प्रमाता अहन्ता एवं इदन्ता दोनों को चिद्रूप मानता है। अहन्ता एवं इदन्ता इत्याकारक प्रत्यवमर्श होने पर भी चिन्मयी दृष्टि दोनों विमर्शों में एक है; अतः यह भेदाभेदमयी भूमि है। चूँकि यहाँ अहं और इदम् दोनों में एक ही चिद्रूपता का विमर्श होता है; अतः इस एकात्मता या अभेददृष्टि के कारण प्रमाता की दृष्टि अभेदमयी भी है।

जिस प्रकार परमशिव का बाह्यौन्मुख्य शक्तितत्त्व कहलाता है, उसी प्रकार सदाशिव एवं ईश्वर का बाह्यौन्मुख्य शुद्धविद्या कहलाता है—यद्यपि परमशिवस्यैवेदमेकघनमैश्वर्यं तथापि तस्य यथा बहिरौन्मुख्येन व्यापारः शक्तितत्त्वं तथा सदाशिवेश्वरयोरपि विद्यातत्त्वम्।[३]

यहाँ 'परता' एवं 'अपरता' दोनों विमर्शस्वरूपों का स्पर्श होने के कारण प्रमातृवर्ग की यह संवेदनदशा 'परापरा' कही जाती है—

अत्रापरत्वं भावानामनात्मत्वेन भासनात्।
परताहन्ताच्छादात्परापरदशा हि सा।।[४]

शैव आगमों में शुद्ध विद्या को परापरदशा कहा गया है। सदाशिवतत्त्व में परता

---

१. षट्त्रिंशत्तत्त्वसन्दोह
२. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी (भाग-२)
३. तन्त्रालोक की टीका विवेक (भाग-६)
४. ईश्वरप्रत्यविज्ञा (भाग-२,३.१.५)

होती है (अर्थात् भावों में परता होती है), उनके भावों का स्फुट रूप से अन्योन्यमुख अहमाकार परामर्श होता है और उनका पूर्ण अहंरूप में परामर्श होना उनका 'परत्व' है। ईश्वरतत्त्व में उन भावों की इदन्ता का परामर्श स्फुट होता है। उनका परामर्श अहन्ता-सापेक्ष होता है। यह अन्य की अपेक्षा ही अपूर्णत्व है, जिसे 'अपरत्व' कहा जाता है। इस प्रकार 'परता' एवं 'अपरता' दोनों परामर्शरूपों का इसमें स्पर्श है; अतः प्रमाता की संवेदनदशा 'परापरा' कही गई है।

आचार्य उत्पलदेव ईश्वरप्रत्यभिज्ञावृत्ति में कहते हैं कि शक्ति का उन्मेष और निमेष (बाह्य एवं आभ्यन्तर अवस्था) ही क्रमशः ईश्वर एवं सदाशिव है। बाह्याभ्यन्तर (वेद्य-वेदक) की एकचिन्मात्ररूप में विश्रान्ति होने के कारण वेद्य और वेदक में यहाँ अभेद सम्बन्ध है। इसी कारण सामानाधिकरण्य भाव से समष्टि प्रमाता का अहम् इदम् अस्मि (मैं यह (विश्व) हूँ)—इत्याकारक जो परामर्श होता है, उसे 'शुद्धविद्या' कहा जाता है—उन्मेषनिमेषौ बहिरन्तःस्थिती एवेश्वरसदाशिवौ बाह्याभ्यन्तरयोर्वेद्यवेदकयोरे-कचिन्मात्रविश्रान्तेरभेदात्सामानाधिकरण्येदं विश्वमहमिति विश्वात्मनो मति शुद्धविद्या।

उत्पलदेवाचार्य ने शिवदृष्टिवृत्ति में सदाशिव ईश्वर एवं परमशिव की व्याख्या करते हुये कहा है—

१. शक्तिशक्तिमतोरभेदात् ज्ञानशक्तिमान् सदाशिवः।

२. उद्रिक्तक्रियाशक्तिरीश्वर इति।

३. अत एवेच्छाशक्तिमयः शिवो यावच्चित्स्वातन्त्र्यशक्तिमान् पर्यन्ते परमशिवः।

इन दोनों के मध्य शुद्धविद्या का स्तर है।

शाक्तदर्शनम् में कहा गया है कि जगदहं (मैं ही जगत् हूँ)—इस प्रकार की सदा-शिवसम्बन्धिनी वृत्ति ही 'विद्या' है—

१. जगदहमेवेत्याकारिका या सदाशिवसम्बन्धिनी वृत्तिः सा विद्यापदवाच्यं पञ्चमं तत्त्वम्।

२. अहन्ता इदन्ता इत्येतदुभयोरैक्यप्रतिपत्तिः अर्थात् जगदहमेवेत्याकारा या सदाशिववृत्तिः सा 'विद्या' नाम पञ्चमं तत्त्वम्।

३. मलरहितत्त्वेन 'शुद्धविद्या' सद्विद्या वा।

पूर्णता प्रत्यभिज्ञा में कहा गया है—

विद्या नाम च तत्तत्त्वं सदाशिवेश्वरोभयोः।
यः स्वरूपादभिन्नत्वपरामर्शो हि विद्यते।।
सामानाधिकरण्यं हि सद्विद्याऽहमिदंधियोः।
नात्राधिकरणं किन्तु तृतीयं सम्भवेत् परम्।।

इदमामृश्यमानानां वेद्यानां बोधसारता।
यौचिताऽमृश्यते सात्र तस्माच्छुद्धेति गीयते।।
अपरत्वमपूर्णत्वमन्याकांक्षित्वमेव यत्।
इदमित्युच्यते तत्तु पूर्णत्वमहमित्यदः।।
विद्यातत्त्वे स्थिता मन्त्रा मातारो भेददर्शिनः।।
शिवस्य बहिरौन्मुख्यं व्यापारः शक्तिरुच्यते।
विद्या तथैव व्यापारः सादाख्येश्वरयोरपि।।

जहाँ इदन्ता एवं अहन्ता में अभेद ज्ञान हो, वहीं शुद्धविद्या है—

इदन्ताहन्तयोर्यदभेदज्ञानं सा शुद्धविद्या कथिता।
सा भवति शुद्धविद्या येदन्ताहन्तयोरभेदमतिः।। (क्षेमराज)

ईश्वरप्रत्यभिज्ञा में सामानाधिकरण्य को विद्या का लक्षण बताया गया है—
सामानाधिकरण्यं सद्विद्याहमिदंधियोः। (३.३)

उत्पलदेव प्रत्यभिज्ञाकारिकावृत्ति में इसी बात को 'उन्मेषनिमेषौ.................शुद्धविद्या' द्वारा निरूपित करते हैं।

उत्पलदेव ने ईश्वरप्रत्यभिज्ञावृत्ति में विद्यातत्त्व की इस तरह भी व्याख्या की है—
अत्रेदन्तामतेरपरत्वमहन्तया सर्वस्य वेद्यस्याच्छादनात्परतेति परापरावस्थैषा।[१]

भिन्नवेद्यभूमाविन्दतया दृश्यतामापादितानां भावानां चिन्मात्रसारत्वादहमिदमिति तत्त्व-प्रतिपत्तिः शुद्धताज्ञप्तिः।[२]

शुद्धविद्या का व्यावर्तक लक्षण सामानाधिकरण्य है—

सामानाधिकरण्यं च सद्विद्याहममिदंधियः। (३.१.३)[३]

इसका भाव यह है कि—ज्ञानस्य यादृगवस्थायाम् 'अहं' 'इदम्' इत्यनयोः पूर्ण-सामानाधिकरण्यमक्षुण्णं विद्यते अर्थादुभयोरेकत्र समानत्वेन स्थितिर्भवेत् सैव 'सद्विद्या' इत्याकारावस्थायां सदाशिवः सर्वं जगत् स्वविभवत्वेनानुभवति; उक्तञ्च ईश्वरप्रत्यभिज्ञायाम्—

सोऽहं ममायं विभव इत्येवं परिजानतः।
विश्वात्मनो विकल्पानां प्रसरेऽपि महेशता।।

१. शिवतत्त्व में अहंविमर्श (चितिशक्ति) है—शिव का विमर्श।
२. सदाशिवतत्त्व में अहम् इदं विमर्श है—सदाशिव का विमर्श।
३. ईश्वरतत्त्व में इदम् अहम् विमर्श है—ईश्वरतत्त्व का विमर्श।

---

१. प्रत्यभिज्ञाकारिका (३.५) की व्याख्या
२. उत्पलदेव : प्रत्यभिज्ञाकारिकावृत्ति (श्लोक ४)
३. उत्पलदेव : प्रत्यभिज्ञाकारिका (३.)

सदाशिव एवं ईश्वर में प्रथम स्थान (प्रथम में अहं या इदं?) में कौन है अर्थात् प्रथमस्थानीय होने से कौन पद प्रधान है?—इसी के द्वारा सदाशिव एवं ईश्वर में भेद स्थापित होता है।

अहं इदम्—चिति शक्ति के प्रथम स्पन्दन में अहंभाव का स्फुरण होता है। उस समय शक्ति केन्द्रीभूत रहती है—चेतना केन्द्रगत रहती है; अत: अहंबोध स्फुट रूप में होता है। सदाशिव तत्त्व नादशक्ति है। यही सादाख्यतत्त्व भी है।

स्वेच्छाशक्त्युद्गीर्णा जगदात्माहन्तया समाच्छाद्य।
निवसन् स एव निखिलानुग्रहनिरत: सदाशिवोऽभिहित:।।३।।
विश्वं पश्चात्पश्यन्निदन्तया निखिलमीश्वरो जात:।
सा भवति शुद्धविद्या येदन्ताहन्तयोरभेदमति:।।४।।[१]

सदाशिव तत्त्व परमशिव का हृदय है। यह भगवान् के सत् स्वरूप को अभिव्यक्त करने के कारण सदाख्य तत्त्व कहलाता है। सदाख्य तत्त्व में इच्छाशक्ति का एवं अहं का प्राधान्य होता है। ईश्वर में इदं का प्राधान्य होता है। पाँचवाँ तत्त्व शुद्धविद्या तत्त्व में अहं एवं इदं दोनों का सन्तुलन है। यह भेदाभेदात्मक है। यह सांसारिक अनुभव कराने वाला प्रमुख तत्त्व है। यहाँ चेतन एवं जड़ दोनों समान प्रतीत होते हैं। शुद्धविद्या भी 'परा' एवं 'अपरा'—दो भेदों वाली है। यह क्रियाशक्तिप्रधान है। यहाँ 'अहमिदं' में समधृतपुट तुला की भाँति समतुल्यता है।

शुद्धाध्व तत्त्व

- शिव—चित् शक्ति का प्राधान्य।
- शक्ति—आनन्द शक्ति का प्राधान्य।
- सदाशिव—इच्छाशक्ति का प्राधान्य, अहमिदं का परामर्श।
- ईश्वर—ज्ञानशक्ति का प्राधान्य, इदमहम् का परामर्श।
- सद्विद्या—क्रियाशक्ति का प्राधान्य, अहमिदम् की समतुल्यता।

संविदात्मा महेश्वर की शक्तियाँ—

१. तस्य प्रकाशरूपता चिच्छक्ति:।
२. स्वातन्त्र्यम् आनन्दशक्ति:।
३. तच्चमत्कार: इच्छाशक्ति:।
४. आमर्शात्मकता ज्ञानशक्ति:।
५. सर्वकारयोगित्वं क्रियाशक्ति:।[२]

---

१. षट्त्रिंशत्तत्त्वसन्दोह २. वामदेव भट्टाचार्य : जन्ममरणविचार

सादाख्यास्तु समाख्यातः सकलो मन्त्रविग्रहः।
सर्वकारणमध्यक्षः सृष्टिसंहारकारकः।। (स्वच्छन्दतन्त्र)

ईश्वरतत्त्व का आसन—सहस्रदल। सदाशिव का आसन = लक्षपत्रदल।

चिदात्मक एकरस संसृष्टि में व्यतिरेक उत्पन्न करने वाली बुद्धि अशुद्धि है और इसे नष्ट करके आवरणों का उच्छेद करने वाली पूर्णाहन्तात्मिका और समरसाकारा अद्वैत दृष्टि ही शुद्धा विद्या है।

त्रिक दर्शन के अनुसार पाँचवाँ तत्त्व सद्विद्या या शुद्धविद्या है।

शुद्धविद्या का स्वरूप

उत्पलदेवाचार्य की दृष्टि—ईश्वर सदाशिव एवं सद्विद्या की तुलनात्मक स्थिति।

(क) ईश्वर तो बहिरुन्मेष है।

(ख) सदाशिव अन्तःनिमेष है।

(ग) सद्विद्या अहं और इदं में सामानाधिकरण्य है—

सामानाधिकरण्यं च सद्विद्याहमिमं धियोः।[1]

उत्पलदेवाचार्य कहते हैं—उन्मेषनिमेषौ बहिरन्तःस्थिती एवेश्वरसदाशिवौ बाह्याभ्यन्तर-योर्वेद्यवेरकयोरेकचिन्भात्रविश्रान्तेरभेदात्सामानाधिकरण्येनेदं विश्वमहमिति विश्वात्मनो मतिः शुद्धविद्या।[2]

तन्त्रालोककार की दृष्टि—आचार्य जयरथ कहते हैं कि शिव का अहंरूप आद्य विमर्श पूर्ण अभेदबोध का सूचक है; किन्तु सद्विद्या में विमर्श का रूप अहम्-इदम्—इस प्रत्यय द्वारा प्रकट किया जाता है।[3]

अभिनवगुप्त की दृष्टि—इस परामर्श में 'अहम्' और 'इदम्' की समान स्फुटता से प्रतीति होती है; किन्तु मायाप्रमाता के विमर्श की भाँति यहाँ 'अहं' और 'इदम्' का बोध पृथक् अधिकरण में स्थित प्रमाता और प्रमेयभाव से नहीं होता। यहाँ एक ही अभिन्न चिन्मात्र अधिकरण में तुला के समान वजन के दो पलड़ों की भाँति अहम् एवं इदम् रूप दोनों प्रकाशांशों की अभेदप्रतिपत्ति होती है। आचार्य जयरथ कहते हैं—

१. यः समधृततुलापुटन्यायेन अहमिति परामर्शः तत्क्रियाशक्तिप्रधानं विद्यातत्त्वम्।[4]

२. ये एते अहम् इति इदम् इति धियौ तयोर्माया प्रमातरि पृथगधिकरणत्वम् अहम् इति ग्राहके इदम् इति च ग्राह्ये, तन्निरासेनैकस्मिन्नेवाधिकरणे यत्संगमनं सम्बन्धस्वरूपप्रथनं तत् सती शुद्धा विद्या।[5] (अभिनवगुप्तपादाचार्य)

---

१. प्रत्यभिज्ञाकारिका
२. प्र. भि. का. (उत्पलदेव)
३. विवेक (भाग-६)
४. विवेक
५. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी

आचार्य क्षेमराज की व्याख्या—शुद्ध विद्या को पारिभाषित करते हुये कहा गया है कि जिस अभेदात्मक ज्ञानदशा में समान स्फुटता से अहम् और इदम् रूप दोनों प्रकाशांशो की अभेद-प्रतिपत्ति होती है या समान स्फुटता से अहम् एवं इदम् रूप प्रकाशांशों का जो प्रत्यवमर्श होता है, वह प्रत्यवमर्श ही सद्विद्या या शुद्धविद्या है—

सा भवति शुद्धविद्या येदन्ताहन्तयोरभेदमतिः।[१]

यहाँ अहं और इदम्—इन दोनों अंशों का ज्ञान होने पर भी अहम् रूप प्रमाता का वेद्यविषयक दृष्टिकोण यथावस्तुस्वरूप है अर्थात् वेद्यदशा प्राप्त होने के कारण इमद् रूप प्रत्यय (बोध) से परामृष्ट किये जाने वाले भावों को भी यहाँ प्रमाता प्रकाशात्मक रूप में देखता है, जड़ रूप में नहीं। इस प्रकार इदम् प्रत्यय से परामृष्ट किए जाने वाले भावों का जो पारमार्थिक रूप (प्रकाशमात्र रूप) है, उसी रूप में उनको परामृष्ट करने के कारण अहम् (प्रमाता) का अहमिदम् (मैं यह शिव हूँ) ऐसे स्वरूप वाला जो शुद्ध परामर्श है, वही भेदाभेदमय परामर्श या दृष्टि शुद्धविद्या है।

ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकार की दृष्टि—

(क) इदंभावोपपन्नानां वेद्यभूमिमुपेयुषाम्।
भावानां बोधसारत्वाद्यथावस्त्ववलोकनात्।।[२]

(ख) तदेषां यदेव पारमार्थिकं रूपं तत्रैव प्ररूढत्वात् अहमित्यस्य शुद्धवेदनरूपत्वम्।

शुद्ध विद्या को भेदाभेदात्मक क्यों कहा जाता है? यहाँ अहन्ता एवं इदन्ता जैसे दो रूपों का विमर्श होता है; केवल अहन्ता का ही नहीं। अतः यहाँ भेदाभेदरूप विमर्श है। किन्तु यहाँ भेद के साथ अभेद भी है; क्योंकि अहन्ता और इदन्तारूप प्रत्यवमर्श होने पर भी वह प्रमाता अहन्ता की चिद्रूपता की भाँति इदन्ता को भी चिद्रूप समझता है; अतः अहं और इदम् दोनों में एक ही चिद्रूपता का परामर्श होने के कारण उसकी दृष्टि अभेदात्मिका भी है।

आचार्य उत्पलदेव का कथन है कि शक्ति का उन्मेष और निमेष या बाह्य और आभ्यन्तर स्थिति ही क्रमशः ईश्वर और सदाशिव हैं। बाह्य और आभ्यन्तर (वेद्य एवं वेदक) की एकचिन्मात्ररूप में विश्रान्ति होने के कारण वेद्य एवं वेदक में यहाँ अभेद सम्बन्ध रहता है। इसी कारण सामानाधिकरण्यभाव से विश्वात्मा (समष्टि प्रमाता) का अहम् इदम् अस्मि (मैं यह (विश्व) हूँ) ऐसा विमर्श ही शुद्धविद्या है—

उन्मेषनिमेषौ बहिरन्तःस्थिती एवेश्वरसदाशिवौ बाह्याभ्यन्तरयोर्वेद्यवेदकयोरेकचिन्मात्र-विश्रान्तेरभेदात्सामानाधिकरण्येनेदं विश्वमहमिति विश्वात्मनो मतिः शुद्धविद्या।[३]

१. षट्त्रिंशत्तत्त्वसन्दोह
२. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा (२.३.१.४)
३. ईश्वरप्रत्यभिज्ञावृत्ति

परापरा दशा एवं शुद्धविद्या—शैवागमों में शुद्धविद्या को 'परापर दशा' कहा जाता है; क्योंकि सदाशिवतत्त्व में भावों की 'परता' होती है अर्थात् स्फुट रूप से उनका (भावों का) अनन्योन्मुख अहम् रूप में परामर्श होता है और पूर्ण अहं रूप में परामृष्ट होना उनका परत्व है। ईश्वरतत्त्व में उन भावों की इदन्ता का विमर्श स्फुट होता है, वे उद्देशस्थानीय अहम् के विधेय बन जाते हैं। उनका विमर्श अहन्ता-सापेक्ष हो जाता है। यह अन्यापेक्षा ही अपूर्णत्व है, जो कि अपरत्व है। इस प्रकार परता एवं अपरता दोनों विमर्शरूपों का इसमें स्पर्श होने के कारण प्रमातृ वर्ग की यह संवेदन दशा परापरा दशा कही जाती है—

अत्रापरत्वं भावानामनात्मत्वेन भासनात्।
परताहन्तयाच्छादात्परापरदशा हि सा।।[1]

सद्विद्या तत्त्व सदाशिव तत्त्व एवं ईश्वर तत्त्व दोनों अधिष्ठातृ देवों का करणस्थानीय तत्त्व है।

ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनीकार की दृष्टि—इसी दृष्टि को प्रस्तुत करते हुये अभिनवगुप्त कहते हैं—तदधिष्ठातृदेवताद्वयगतकरणं विद्यातत्त्वम्।[2]

आचार्य जयरथ की दृष्टि—तन्त्रालोक की टीका (भाग छः) में आचार्य जयरथ कहते हैं कि जैसे परमशिव का बहिः औन्मुख्य शक्तितत्त्व कहलाता है, वैसे ही सदाशिव और ईश्वर का बाह्य औन्मुख्य शुद्ध विद्यातत्त्व कहलाता है—यद्यपि परमशिवस्यैवेदमेकघनमैश्वर्यं तथापि तस्य यथा बहिरौन्मुख्येन व्यापारः शक्तितत्त्वं तथा सदाशिवेश्वरयोरपि विद्यातत्त्वम्।[3]

१. शिव ३. सदाशिव ५. शुद्ध विद्या
२. शक्ति ४. ईश्वर

इन पाँचों तत्त्वों का विकास शुद्ध अध्वा कहा जाता है; क्योंकि साक्षात् शिव अपनी इच्छामात्र से ही अभिन्न रूप में इस तत्त्वपञ्चक को आभासित करते हैं और अपने पूर्ण स्वातन्त्र्य की महिमा से वही उक्त पाँचों तत्त्वों के प्रमातृ रूपों में प्रकाशित होता है; जिन्हें आभासन के क्रम से—१. शाम्भव, २. शक्तिज, ३. मन्त्रमहेश ४. मन्त्रनायक एवं ५. मन्त्र कहा गया है—

शाम्भवाः शक्तिजा मन्त्रमहेशा मन्त्रनायकाः।
मन्त्रा इति विशुद्धाः स्युरमी पञ्चगणाः क्रमात्।।

सहजविद्या एवं शुद्धविद्या के भावाभाव के परिणाम

१. विद्याऽविनाशे जन्मविनाशः। (३.१८)[4]

१. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा (२,३.१.५) ३. तन्त्रालोक टीका (जयरथ) भाग ६
२. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी (२) ४. शिवसूत्र

२. यदा तु शुद्धविद्यास्वरूपम् अस्य निमज्जति तदा कवर्गादिषु माहेश्वर्याद्याः पशुमातरः। (३.१९)[१]

अतः योगियों का कर्तव्य है कि 'शुद्धविद्या' की रक्षा करें—अतः शुद्धविद्यास्वरूपमुक्तयुक्तिभिरासादितमपि यथा न नश्यति तथा सर्वदशासु योगिना सावधानेन भवितव्यम्।[२]

नाड़ी-संहार आदि आणवोपाय से प्राप्त मोह पर विजय से ही शुद्धविद्या का उदय होता है और उससे शाक्त बल की प्राप्ति (आसादन) के उत्कर्ष से परामृत ह्रद की प्राप्ति होती है और वही शाम्भव योगी कहलाता है।[३]

सहजविद्या की प्राप्ति के उपाय—शिवसूत्रकार कहते हैं—मोहजयादनन्ताभोगात्सहजविद्याजयः।[४]

भगवान् स्वयमेव विद्याशरीर हैं—विद्या शरीरसत्ता मन्त्ररहस्यम् (शिवसूत्र-२.३)। विद्या पराद्वयप्रथा शरीरं स्वरूपं यस्य स विद्याशरीरो भगवान् शब्दराशिः। अर्थात् विद्याशरीर की जो 'सत्ता' है—अशेष विश्वाभेदमय पूर्णाहंविमर्शनात्मा सत्ता या स्फुरत्ता है—वही रहस्य है—उपनिषत् है।

'अहं' और 'इदम्' के इसी सामानाधिकण्य को 'सद्विद्या' कहा गया है।

मातङ्गीस्तोत्रकार की दृष्टि—इसमें इसी तथ्य को इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—

स्तनौ घनौ पूर्णसुधौ तवेशि! नन्दामि परस्पराभौ।
स्थितौ समानाधिकृतौ सुविद्ये समौ तवैवाहमिदम्प्रकाशौ।।

मायाप्रमाता के वर्ग में प्रमाता 'अहं' है और प्रमेय 'इदम्' है। यहाँ सामानाधिकरण्य नहीं; प्रत्युत वैयधिकरण्य सम्प्रतिपन्न है। सामानाधिकरण्य एकरसात्मकता का वाचक है—सामानाधिकरण्यमेकरसशब्देनोच्यते।[५]

पञ्चाशिकाकार की दृष्टि—बहिर्भूतता, बहिर्मुखता, बाह्यावभासन, बाह्याभिव्यक्ति आदि शब्द अशुद्धि को ही द्योतित करते हैं। शुद्धि है—बहिष्कृतार्थों का स्वाहन्ता में निमज्जन—

शुद्धिर्बहिष्कृतार्थानां स्वाहन्तायां निमज्जनम्।

तन्त्रालोककार का कथन है कि—

चिदात्मकेष्वप्येतेषु या बुद्धिर्व्यतिरेकिणी।
सैवाशुद्धिः परा प्रोक्ता शुद्धिस्तद्धीविमर्दनम्।।

---

१. शिवसूत्र
२. शिवसूत्रविमर्शिनी (उन्मेष ३.१९)
३. शिवसूत्रविमर्शिनी (३.१६)
४. शिवसूत्र (३.७)
५. परिमल

सदाशिव आदि में तो अहं प्रत्यय एवं इदम् प्रत्यय सामरस्ययुक्त हैं। वहाँ सामानाधिकरण्यात्मक एकरसता विद्यमान है। मायीय 'अहन्ता' एवं 'इदन्ता' भेदात्मिका है।

महेश्वरानन्द कहते हैं कि 'शुद्धविद्या' स्वस्वभावप्रत्यभिज्ञापनात्मिका संवित् स्वातन्त्र्य शक्ति है—स्वस्वभावप्रत्यभिज्ञापनात्मिका संवित्स्वातन्त्र्यशक्तिः शुद्धविद्या।[1]

अहन्ता एवं इदन्ता—

१. मायीय—१. अहन्ता २. इदन्ता (भेदात्मिका)

२. शुद्धाध्व की—१.अहन्ता २. इदन्ता (सामरस्यमयी अभेद। भेदाभेद)

अहन्ता और इदन्ता का उल्लास ही प्रपञ्च है और इसके विकास का उच्चस्तरीय चिदालोक हमें शुद्धविद्या की ओर एवं इनका निम्नमार्गी (अधोमार्गी) उल्लसन अविद्या एवं अशुद्धाध्व की ओर अग्रपद करता है।[2]

मोहनी 'माया शक्ति' और उसका स्वरूप

अथ मायामुन्मीलयति—

एअरसम्मि सहावे उब्भावेंती विअप्पसिप्पाइं।
माएत्ति लोअवइणो परमसअन्तस्स मोहणी सत्ती ॥१७॥

(एकरसे स्वभावे उद्भावयन्ती विकल्पशिल्पानि।
मायेति लोकपतेः परमस्वतन्त्रस्य मोहनी शक्तिः।।)

(परमस्वतन्त्र (परा स्वातन्त्र्य शक्ति से परिणद्ध) एवं समस्त लोकों के स्वामी परमशिव की जो 'माया' नामक मोहनी शक्ति है, वह सरस स्वभाव परमशिव में (विश्ववैचित्र्यात्मक) विकल्प-शिल्प को उत्पन्न करती हुई (स्थित है)।

(अथवा)

परम स्वतन्त्र (स्वातन्त्र्य शक्तिसम्पन्न) एवं लोकाधिपति परमशिव की जो विश्वमोहिनी परा शक्ति एकरसस्वभाव परमशिव में विकल्पात्मक विश्ववैचित्र्य को उत्पन्न करती हुई (स्थित है) वह 'माया' (कही जाती है)।।१७।।

परमेश्वरस्य ह्यसाधारणो भावो विश्वस्फुरत्तात्मकमहासत्तोल्लासरूपो युक्तिपर्यालोचनायामेकरसः स्वसंविदानन्दपरिस्पन्दसौन्दर्यमात्रसारतयास्ते, न पुनर्विकल्पशङ्कोल्लिङ्गनौचित्येन, भेदवादस्यापवदिष्यमाणत्वात्। एवं स्थितेऽपि तत्रैव चैत्रो मैत्रः स्तम्भः कुम्भ इत्यादयो ये विकल्पाः कटकमुकुटाद्याकल्पशिल्पवद् भेदावभासबाहुल्येऽपि चारुत्वचमत्कारकारितया हृदयङ्गमाः सन्तो वेद्यविला-

१. परिमल २. तन्त्रालोक

सास्तानुपर्युपर्युन्मीलयन्ति। तत एव मुक्तमपि बद्धविभीषिकया बद्धमपि च मुक्त्यभिमानेन व्यत्यासयन्ती शक्तिर्मायेत्युच्यते। यतोऽयमीश्वरः परमस्वतन्त्रः। इयमेव हि तस्य स्वातन्त्र्योत्कर्षकाष्ठा, यत् स्वात्मावभासाद्वैतजीविते जगति भेदप्रभेदवैचित्र्योत्पादनप्रावीण्यम्, येनातिदुर्घटकारी परमेश्वर इत्याघोष्यते। अत एव चासौ लोकपतिः, देहाक्षभुवनादेः प्रपञ्चस्येश्वरः। मायाव्यतिरेके भेदप्रथापारमार्थ्यस्य प्रपञ्चस्याभावः। तदभावे च तत्प्रतियोगिकस्य परमेश्वरैश्वर्यस्यानुपपत्तिरिति न किञ्चिदप्युज्जृम्भेत। तदियं माया नाम तस्योत्कृष्टं स्वातन्त्र्यम्। यथोक्तमस्मद्गुरुभिः श्रीमनोनुशासनस्तोत्रे—

स्वातन्त्र्यापरपर्यायमायाजाड्यविलापनात्।
विलीय चिद्रसीभूतं विश्वानन्दमुपास्महे ।। इति।

यथा च परमार्थसंग्रहे—

परमं यत् स्वातन्त्र्यं दुर्घटसम्पादनं महेशस्य।
देवी मायाशक्तिः स्वात्मावरणं शिवस्यैतत् ।। इति।

शचीमते च—

स्वातन्त्र्यशक्तिर्मेऽसि त्वमतिदुर्घटकारिणी।
मायेति कीर्त्यसे देवि! भर्तुर्मे वैश्वरूप्यदा ।। इति।

श्रीमत्स्तोत्रावल्यामपि—

न च विभिन्नमसृज्यत किञ्चि-
दस्त्यथ सुखेतरदत्र विनिर्मितम्।
अथ च दुःखि च भेदि च सर्वथा-
ऽप्यसमविस्मयधाम नमोऽस्तु ते ।। इति।

श्रीतन्त्रालोकेऽपि—

तस्य स्वतन्त्रभावोऽयं किं किं यत्र विचित्रयेत्। इति।

एनामेवावलम्ब्य प्रलयकेवला विष्णुः सूर्य इति प्रमातारः प्रथन्ते। यद्यपि—

वाय्वग्निसलिलेन्द्राणां धारणानां चतुष्टयम्।

इतिश्रीत्रिंशिकाशास्त्रस्थित्या मायायाः कलाविद्याद्यन्तर्भावेनोन्मीलिनौचित्यम्, तथापि—

कालाग्निमादितः कृत्वा मायान्तं ब्रह्मदेहगम्।

इत्युद्धतस्य श्रीपराबीजप्रथमांशस्याभिव्यक्त्यर्थमेव पृथक्कृत्योच्यते।

ननु कथं भेदवादापवादः, येन विश्वस्वभावस्यैकरस्यं स्यादिति चेत्, उच्यते। कोऽयं भेदो नाम। किमन्योन्याभावः, उत वैधर्म्यम्, आहोस्वित् स्वरूपमेव। नाद्यः, स खलु स्तम्भः कुम्भो न भवति कुम्भश्च न स्तम्भ इत्येतादृशेन वपुषा द्वयोरन्योन्यतारूपमुपाधिमपेक्ष्यैवोत्पद्यते। स च विचार्यमाणस्तयोरन्यत्वे वीप्स्यमान एवाविर्भवति। तच्चान्यत्वं पदार्थानां स्वभावो वा, भेदनिबन्धनः कश्चिदुपाधिर्वा। यद्याद्यः, तर्ह्येकत्वाक्रान्तानामपि भेदः प्रसज्येत। द्वितीयश्चेत्, तदन्यत्वं भेदे सत्येवोपपद्यते। भेदश्च नाद्यापि सिद्धस्वरूप इत्यात्माश्रयत्वमन्योन्याश्रयत्वं वा स्यात्। न द्वितीयः। वैधर्म्यं नाम स्तम्भादीनां स्तम्भत्वकुम्भत्वादिरूपोऽर्थः। तत्र स्तम्भेष्वेव स्तम्भत्वं कुम्भत्वं च कुम्भेष्वेवेति यदि किञ्चिन्नैयत्यम्, तदुपपद्येत भेदः। नियामकं च किञ्चिदालोक्यते। नन्वस्ति दारुमयत्वं पृथुबुध्नोदराकारत्वं च तद्व्यवस्थापकमिति चेत्, न। तदसाधारण्येनाप्रतीतेः। तादृशी च प्रतीतिः स्तम्भादीनां भेदे सत्येव सङ्गच्छेत। स च साध्यकोट्यारूढ इति पूर्ववदात्माश्रयत्वाद्यापातः। किञ्च, दारुमयत्वादीनामपि भेदस्तत्तद्वैधर्म्यात्मक इति परमाण्वन्तं पर्यालोचनायामामूलविपर्यासिन्यनवस्था स्यात्। नापि तृतीयः, स्वरूपं हि स्तम्भादेः स्वमनन्यस्वभावानुषक्तं रूपमिति वक्तव्यम्, अन्यथा भावानां स्वभावसाङ्कर्यप्रसङ्गात्। अन्यस्वभावानुपरागश्च स्तभादेः किन्निबन्धन इत्यन्वेषणे तत्रापि भेदसद्भावादित्येवोक्तिर्युक्तिमालम्बते। स चाद्यापि मनोरथायमानस्वभाव इति प्राचीन एव दोषानुषङ्गः। किञ्च, स्वरूपमेव भावानां भेदश्चेत्, इदं रजतमित्यादिभ्रान्त्युल्लेखो दत्ताञ्जलिः स्यात्। तत्र हि शुक्तिकायाः स्वरूपं व्यक्तमेवाध्यक्षीक्रियते, रजततयाऽध्यवसीयते च। अख्यातिवादपदवीप्रस्थानेऽपि भ्रान्त्यात्मिकायाः प्रतीतेरेवापलापो न पुनस्तदनुगुणस्य व्यवहारास्यापीत्यभ्युपगन्तव्यम्। अपि चायं भेदो भावेष्वेव भासमानस्तत्तद्भावेभ्यः स्वयं भिन्नो वा न वा? न चेत्, अभेद एवेत्यापतति। भिन्नश्चेत्, सोऽपि भेदः कथमिति निरूप्यमाण उपर्युपरि भेदपरम्परापरिग्रहप्राचुर्यादनवस्थामेवोपस्थापयति। भेदश्चायं प्रकृत्या भिन्नस्य वा स्यात्, उताभिन्नस्यापि भावस्य। यदि भिन्नस्य, किमनेनागन्तुकेन भेदेन। कृतकारित्वं च महान् दोषः। अभिन्नस्य चेत्, व्यक्तं व्याघातः स्यात्। अन्यच्चेदमालोचनीयम्। स्तम्भात् कुम्भो भिन्न इत्यादिर्हि भेदव्यवहारः। तत्र भेदविषयनिर्देशार्थमनयोर्द्वयोरप्येकहृदयक्रोडीकार्यतया भाव्यम्। तथाभावे च तयोः,

> इदमस्मादिह पृथगिति बहिरङ्गुल्यभिनयक्रियाकल्पः ।
> अन्तर्गतस्वभावस्तात्त्विकमनयोरभेदमाचष्टे ।।

इत्यादिस्थित्या वस्तुभेदस्वभावत्वादभेद एव प्रतितिष्ठति। प्रयोगश्चात्र— यत् प्रकाशते तदेकप्रकाशात्मकम्, प्रकाशमानत्वात्। अहम्प्रत्यवमर्शवदिति। अत्र

चोपाधिविधूननाद्युपन्यासो ग्रन्थगौरवायेति वन्ध्योऽयं भेदवादास्वाददोहलप्रयासः। ननु स्तम्भः कुम्भ इत्यादिरन्योन्यसङ्कीर्णो व्यवहारः कथमिति चेत्, भेदाभेदमर्यादयेति ब्रूमः। पारमेश्वरो हि प्रकाशः सर्वत्रापि प्रपञ्चे निर्विशेषमुन्मिषति, तस्यैव स्वातन्त्र्यात्। सागरतरङ्गभङ्ग्या स्तम्भः कुम्भ इत्यादिपृथग्व्यवहारोपपत्तिश्च। तर्ह्यंशतोऽत्रापि भेदवाददूषणापत्तिरिति चेत्, न। शुद्धो हि भेदस्तादृशमपवादमनुभवति। अत्र त्वभेदोपश्लेषसौभाग्याल्लवणाकरावगाढसर्वलावण्यन्यायेन भेदोऽपि तद्वद् दूष्यतयैवावतिष्ठते। यदस्माभिर्विभागनिबन्धन एव भेदो विश्वस्याभ्युपागम्यते, न तु पृथक्त्वोपाधिकः, तयोर्द्वितीयेनैवाभेदस्य विरोधात्। ननु भेदानुषङ्गदौर्भाग्यादभेदस्यापि दूष्यत्वमिति विपर्ययः किं न स्यादिति चेत्, न। प्रकृतिर्हि विकृतिमनुगृह्णाति। तत्र चाभेदः प्रकृतिरन्यो विकृतिरित्यभ्युपगन्तव्यम्। यतो भिन्नानामपि पदार्थानां प्रातिस्विकेन रूपेणैक्यमपरिहार्यम्। तदेव चाभेद इति विश्वविलासस्यास्य वास्तवस्वभावोऽयमभेद एवेत्यत्र न काचिदनुपपत्तिः। यदत्रैव वस्तुनि 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म', 'नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादयोऽनन्ता उपनिषद उन्मिषन्ति। ननु व्याहतोऽयमर्थो भेदश्चाभेदश्चेति चेत्? हन्त प्रक्रान्तं प्रस्मृतमायुष्मता, एवमतिदुर्घटनकार्यघटनहेतोर्हि भगवतो माया नाम काचिदतिमहती शक्तिरस्तीत्यङ्गीक्रियते। एतेनाद्वैतमेव सर्वसारः सिद्धान्तः। तच्च पार्यन्तिकी प्रतिष्ठेति परावस्था। भेदाभेदस्तु व्यवहारसर्वस्वं निर्वहन् विश्वस्य विश्वोत्तीर्णस्य च सम्बन्धस्वभावो विजृम्भत इति परापरावस्था। भेदश्च विश्वोत्तीर्णपरमेश्वरप्रकाशपरामर्शप्रागल्भ्यपल्लवपरम्पराप्रायता विश्ववैचित्र्यशिल्पकल्पनाचित्रमण्डपायमानविभ्रमः प्रसर्पतीत्यपरावस्था। यासु क्रमात् सुप्रबुद्धः प्रबुद्धोऽप्रबुद्ध इति योगितारतम्यम्। आसु च सर्वास्वपि पारमेश्वरप्रकाशानुस्यूतेर्न क्वचिदपि वैलक्षण्यमित्यतिविचक्षणैकशिक्षणीयोऽयमास्माकीनः पक्ष इति। तदुक्तं पर्यन्तपञ्चाशिकायाम्—

> अनन्तैतावदाकारस्वीकारेऽप्येकलक्षणाम् ।
> तां स्वसंविदमाविश्य विकल्पान्न विकल्पयेत् ।। इति।

एता एवोपासकजनापेक्षया तत्तद्देवतात्वेनाराध्यन्ते। यदुक्तं श्रीतन्त्रालोके–

> परा चन्द्रसमप्रख्या रक्ता देवी परापरा ।
> अपरा सा परा काली भीषणा चण्डयोगिनी ।। इति।

एवं मायास्वरूपपरामर्श एव जीवन्मुक्तिरित्युपनिषत्।।१७।।

मायाशक्ति का स्वरूप एवं उसके लक्षण—'माया' के लक्षण क्या हैं? यह विवेच्य है—

१. यह एकरसस्वभाव परासत्ता में विकल्पों का आविर्भाव करती है।

२. यह परमस्वतन्त्र एवं लोकपति की मोहनी शक्ति है। (महार्थमञ्जरी)

३. यह भेदबुद्धि-उद्भाविनी शक्ति है—

माया विभेदबुद्धिनिजांशजातेषु निखिलजीवेषु।
नित्यं तस्य निरङ्कुशविभवं वेलेव वारिधिं रुन्धे।।
स तया परिमितमूर्तिः सङ्कुचितसमस्तशक्तिरेष पुमान्।
रविरिव सन्ध्यारक्तः संहृतशक्तिः स्वभासनेऽप्यपटुः।।

(आचार्य क्षेमराज—षट्त्रिंशत्तत्त्वसन्दोह)

४. यह सङ्कुचित पशुभाव को जन्म देती है और (क) कला (ख) विद्या (ग) राग (घ) काल एवं (ङ) नियतिरूप पञ्चकञ्चुकों की प्रसवित्री है।

५. कलादिक तत्त्वों का अविवेक ही 'माया' है—

कलादीनां तत्त्वानामविवेको माया। (शिवसूत्र ३.३)

६. किञ्चित्कर्तृतादिरूपकलादिक्षित्यन्तानां तत्त्वानां कञ्चुकपुर्यष्टकस्थूलदेहत्वेन अवस्थितानां योऽयमविवेकः पृथक्त्वाभिमतानामेव अपृथगात्मत्वेन प्रतिपत्तिः सा माया तत्त्वाख्यातिमयः प्रपञ्चः। शिवसूत्रविमर्शिनी (क्षेमराज)

७. 'माया' आत्मतिरोधित्सा, आत्मप्रच्छादन या आत्मसङ्कोच की शैवी शक्ति है—तदेव असौ भगवान् स्वमायाशक्त्याख्येन अव्यभिचरितस्वातन्त्र्यशक्तिमहिम्ना स्वात्मनैव आत्मानं संकुचितमिव अवभासयन् विज्ञानाकलः प्रलयाकलः सकलश्च सम्पद्यते।

(वामदेव भट्टाचार्य—जन्ममरणविचारः)

८. चिति शक्ति का रूपान्तरण ही 'माया' है—स्वातन्त्र्यात्मा चितिशक्तिरेव ज्ञान-क्रियामायाशक्तिरूपा पशुदशायां सङ्कोचप्रकर्षात् सत्त्वरजस्तमःस्वभावचित्तात्मतया स्फुरति।

(क्षेमराज—प्रत्यभिज्ञाहृदयम्)

९. अन्तरन्तःस्फुरत्किंचित्कर्तृत्वादिप्रदायिनाम्।
कलादिक्षितिपर्यन्ततत्त्वानां कञ्चुकात्मनाम्।।
पुर्यष्टकमयत्वेन स्थूलदेहादिरूपतः।
स्थितानामविवेकस्तेष्वात्मत्वेनानुसंहितिः।
सैव सम्मोहिनी माया तत्त्वाख्यातिमयं जगत्।।(वरदराज—शिवसूत्रवार्तिक)

१०. चित्प्रतिबिम्बयुक्ता माया शक्तिः। (१.२.२)
भुवनेश्वरी साभासा माया। (९.३.२) (आचार्य हयग्रीव—शाक्तदर्शनम्)

स्वातन्त्र्य शक्ति—सङ्कोचहीन शिव की अभिन्न स्वातन्त्र्य शक्ति के पाँच मुख—

१. चित् — सर्वज्ञता
२. निवृत्ति — सर्वकर्तृता

३. इच्छा — पूर्णता
४. ज्ञान — नित्यता
५. क्रिया — व्यापकता

मायातत्त्व—सङ्कुचित पशुभाव को जन्म देने वाली भेदपूर्ण माया के पाँच मुख—

१. विद्या — अल्पज्ञता
२. कला — अल्पकर्तृता
३. राग — अपूर्णता
४. काल — अनित्यता
५. नियति — अव्यापकता

आवरणद्वय—

अन्तरङ्ग आवरण		बहिरङ्ग आवरण
१. माया	६	१. देह
२. कला	कं	२. प्राण
३. विद्या	चु	३. पुर्यष्टक
४. राग	क	४. ज्ञानेन्द्रियाँ
५. काल		५. कर्मेन्द्रियाँ
६. नियति		६. अन्त:करण आदि

अशुद्धाध्व (मायातत्त्व से पृथ्वी तक) के शाक्त अवरोहक्रम में समस्त स्पन्दनमयी और सर्वस्वतन्त्र चित् शक्ति जड़ मायातत्त्व का रूप धारण कर लेती है और यह तत्त्व-रूपा माया पशु (शिवांश) को चिन्मात्ररूप शिवभाव से पृथक् करके सुषुप्त (नि:संज्ञ) की भाँति बना देती है।

अभिनवगुप्तपादाचार्य की दृष्टि—

१. माया हि चिन्मयाद् भेदं शिवाद्विदधती पशोः।
सुषुप्ततामिवाधत्ते तत एव ह्यदृक्क्रियः।।[1]

२. जब पारमेश्वरी स्वातन्त्र्य शक्ति निजी संकल्पात्मक स्फुरण के द्वारा (एक होकर भी स्वेच्छया) अपने से भिन्न रूप में अवभासित करने के दुर्घट कृत्य की ओर उन्मुख होती है, उस समय उसकी आख्या 'माया' पड़ जाती है। अभेद में भेद-सर्जना करने के स्वातन्त्र्य को ही मायाशक्ति कहते हैं—

माया नाम च देवस्य शक्तिरव्यतिरेकिणी।
भेदावभासस्वातन्त्र्यं तथाहि स तया कृतः।।

१. तन्त्रालोक (९.२७५)

परमार्थसारकार की दृष्टि—शिव की स्वात्मावरणकारिणी, दुर्घटसम्पादिका स्वातन्त्र्य शक्ति ही देवी 'मायाशक्ति' है—

परमं यत्स्वातन्त्र्यदुर्घटसम्पादनं महेशस्य।
देवी मायाशक्तिः स्वात्मावरणं शिवस्यैतत्।।[1]

मालिनीविजयकार की दृष्टि—मायाशक्ति एक सर्वव्यापक, सूक्ष्म, खण्डों या भागों से शून्य, समग्र संसार को अपने गर्भ में धारण करने वाली अनादि, अनन्त, अकल्याणिनी होने पर भी स्वातन्त्र्यपूर्ण और अविकृत शक्ति है—

सा चैका व्यापिनीरूपा निष्कला जगतो निधिः।
अनाद्यन्ता शिवेशानी व्ययहीना च कथ्यते।।

महामाया और मायाशक्ति—महामाया माया से पृथक् एवं उच्चतर है। यह स्वातन्त्र्य शक्ति की वह अवस्था है, जिसमें अहन्ता रूप में स्थित इदन्ता को भेद-रूप में अवभासित करने की ओर केवल प्राथमिक संकल्पात्मक स्फुरणा (उन्मुखतामात्र) होती है और अभी इदन्ता का पृथक् रूप में विभाजन नहीं हुआ होता। यह आन्तर विमर्श में भेदावभास के उपक्रम के सूक्ष्म आसूत्रण की अवस्था है। यहीं से स्वातन्त्र्य शक्ति में संकोचरूप मलत्रय का सूत्रपात हुआ करता है—मायाशक्त्यैव तत्त्रयम्।[2]

(क) मायाशक्ति के गर्भ में आगामी इदन्ता का पूर्ण विभाग (समस्त स्थूल विश्व का भेदपूर्ण वैचित्र्य) उसी तरह अन्तर्निहित रहता है, यथा शिम्बिका (सेम की कली) के गर्भ में असंख्य बीज अलग-अलग होकर भी बाहर एकरूप दृष्टिगत होते हैं—बहिर्मुखतायां भाविनो विभागस्य शिम्बिकादलवदस्यां गर्भीकारोऽस्ति।[3]

(ख) मायाशक्ति—जो अपूर्णता के अनुभव को आविर्भूत करके स्वरूप की हिंसा करती है, वही माया शक्ति है—अपूर्णताप्रथनेन मीनाति हिनस्ति इति मायाशक्तिरुच्यते।[4]

दुर्गासप्तशती में यह प्रश्न उठाया गया है कि 'माया' ऊपर स्थित 'महामाया' का क्या स्वरूप है? स्वारोचिष मन्वन्तर में राजा सुरथ के प्रश्न करने पर मुनि मेधा ने 'महामाया' के स्वरूप पर अच्छा प्रकाश डाला है।

मुनि मेधा की दृष्टि—मुनि मेधा कहते हैं—

महामायाप्रभावेण संसारस्थितिकारिणा।
तन्नात्र विस्मयः कार्यो योगनिद्रा जगत्पतेः।।
महामाया हरेश्चैषा तया सम्मोह्यते जगत्।
ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा।।

---

१. परमार्थसार (१५)
२. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा. (३.२.५)
३. तं. वि. (९.१५१)
४. तन्त्रालोक-विवेक

बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति।
तया विसृज्यते विश्वं जगदेतच्चराचरम्।
नित्यैव सा जगन्मूर्तिस्तया सर्वमिदं जगत्।
देवानां कार्यसिद्ध्यर्थमाविर्भवति सा यदा।।

(विष्णु भगवान् योगनिद्रा में निमग्न थे, तभी मधु-कैटभ ब्रह्माजी का वध करने के लिये दौड़ पड़े।) 'योगनिद्रा' विष्णु की आँखों में स्थित निद्रादेवी हैं। उन्हीं के विषय में कहा गया है—

महाविद्या महामाया महामेधा महास्मृतिः।
महामोहा च भवती महादेवी महासुरी।।
प्रकृतिस्त्वं च सर्वस्य गुणत्रयविभाविनी।
कालरात्रिर्महारात्रिर्मोहरात्रिश्च दारुणा।।
त्वं श्रीस्त्वमीश्वरी त्वं ह्रीस्त्वं बुद्धिर्बोधलक्षणा।
लज्जा पुष्टिस्तथा तुष्टिस्त्वं शान्तिः क्षान्तिरेव च।
परापराणां परमा त्वमेव परमेश्वरी।।[१]

'माया' तो तिरोधानकारी है ('महामाया' उससे पृथक् है)—तिरोधानकारी मायाभिधा पुनः।[२] 'माया' जड़ है—सा जडा भेदरूपत्वात् कार्यं चास्या जडं यतः।[३] जड़ कौन है? अयमेव हि जडस्य स्वभावो यत् इदमत्र इदानीं भाति इति परिच्छिन्नतया प्रकाश्यते।[४]

'माया' परमेश्वर की स्वातन्त्र्य शक्ति है। यह अचिन्त्य सामर्थ्यस्वरूपा है। अपने अहंविमर्श में अभेद रूप में अवस्थित विराट् विश्वकल्पना को अपने से भिन्न रूप में अवभासित करके इसकी सृष्टि-संहार आदि की क्रीड़ा करना उसी का सामर्थ्य है। अभेद में भेद-सर्जना करने के स्वातन्त्र्य को ही 'मायाशक्ति' कहते हैं।

वेदान्तियों की मायासम्बन्धिनी दृष्टि

केवलाद्वैत वेदान्ती आचार्य शङ्कर की दृष्टि में 'माया' अनात्मक, असत् एवं मरुमरीचिका के समान मिथ्या पदार्थ है—

माया मायाकार्यं सर्वं महदादि देहपर्यन्तम्।
असदिदमनात्मकं त्वं विद्धि मरुमरीचिकाकल्पम्।।

जो अव्यक्त नाम वाली त्रिगुणात्मिका अनादि अविद्या परमेश्वर की 'पराशक्ति' है, वही माया है। इससे यह सारा जगत् उत्पन्न हुआ है। बुद्धिमान् जन इसके कार्य से ही इसका अनुमान करते हैं—

---

१. दुर्गासप्तशती (प्रथमाध्याय)
२. ई. प्र. (३.१.७)
३. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा (३.१.७)
४. तन्त्रालोक विवेक (९.१५२)

अव्यक्तनाम्नी परमेशशक्तिरनाद्यविद्यात्रिगुणात्मिका परा।
कार्यानुमेया सुधियैव माया यया जगत्सर्वमिदं प्रसूयते।।
सन्नाप्यसन्नाप्युभयात्मिका नो भिन्नाप्यभिन्नाप्युभयात्मिका नो।
साङ्गाप्यनङ्गाप्युभयात्मिका नो महाद्भुतानिर्वचनीयरूपा।।

'माया' की शक्तियाँ (विवेकचूड़ामणि के अनुसार)

१. आवरण शक्ति—

एषावृतिर्नाम तमोगुणस्य शक्तिर्यया वस्त्ववभासतेऽन्यथा।
सैषा निदानं पुरुषस्य संसृतेर्विक्षेपशक्तेः प्रसरस्य हेतुः।।

१. जिसके कारण कुछ की कुछ प्रतीति होने लगती है, यह तमोगुण की आवरण शक्ति है।

२. यही संसरण का आदि कारण है।

३. यही विक्षेप शक्ति के प्रसार का भी कारण है।

२. विक्षेप शक्ति—

विक्षेपशक्ती रजसः क्रियात्मिका यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी।
रागादयोऽस्याः प्रभवन्ति नित्यं दुःखादयो ये मनसो विकाराः।।

१. विक्षेप शक्ति रजोगुण की क्रियाशक्ति है।

२. इससे रागादि एवं दुःखादि मन के विकार उत्पन्न होते हैं।

३. क्रियारूपा विक्षेप शक्ति रजोगुण की है।

उत्पलदेवाचार्य की दृष्टि—आचार्य उत्पलदेव मायासम्बन्धिनी अपनी दृष्टि को इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं—

मायाभिधायास्तच्छक्तेरेव चान्या प्रसिद्धितः।
तदख्यातिमयं ह्येतज्जगन्निर्मातृतेशिता।।[१]

आचार्य उत्पलदेव कहते हैं—

१. माया शिव की शक्ति है।

२. यह शक्तिमान से अव्यतिरेकिणी शक्ति है।

३. यह स्वरूपगोपनात्मिका क्रीड़ा है।

४. इसी के प्रभाव से अख्यातिमय यह विश्व भासित होता है।

माया नाम शक्तिः शिवस्य शक्तिमतोऽव्यतिरेकिणी स्वरूपगोपनात्मिका क्रीड़ा। तन्निमित्तादेव यस्मादख्यातिमयमेतद्विश्वं भासते। (अजडप्रमातृसिद्धि-२४)

१. अजडप्रमातृसिद्धि (२४)

प्रकाशात्मन: परमेश्वरस्य मायाशक्त्या स्वात्मरूपं विश्वं भेदेनाभास्यते : मायाशक्त्या।

मायाशक्ति के द्वारा परमात्मा की विमर्श शक्ति भिन्नसंवेद्य हो जाती है—

मायाशक्त्या विभो: सैव भिन्नसंवेद्यगोचरा।[1]

सृष्टि केवल 'माया' से ही नहीं होती। सृष्टि माया से पूर्व 'महामाया' के द्वारा होती है। 'महामाया' ईश्वरीय इच्छा है। उसका सर्जन नवीन उत्पत्ति नहीं है; प्रत्युत—

चिदात्मैव हि देवोऽन्त:स्थितमिच्छावशाद्बहि:।
योगीव निरुपादानमर्थजातं प्रकाशयेत्।।[2]

अशुद्धाध्व की सृष्टि तो 'माया' से होती है; किन्तु शुद्धाध्व की सृष्टि तो 'माया' से होती नहीं; फिर किससे होती है?

महामाया—शुद्धाध्वा का उपादान महामाया है। परमेश्वर अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति के द्वारा सर्वप्रथम अपने स्वरूप को आच्छादित करने वाली 'महामाया' शक्ति को व्यक्त करते हैं। इसी से स्वच्छ आत्मा में संकोचाविर्भाव होता है।

'महामाया' → → 'माया'

मायाशक्ति का प्रभाव

कला	विद्या	राग	काल	नियति
↓	↓	↓	↓	↓
(किंचित् कर्तृत्व)	(किंचिज्ज्ञत्व)	(अपूर्णत्व)	(अनित्यत्व)	(अव्यापकत्व)
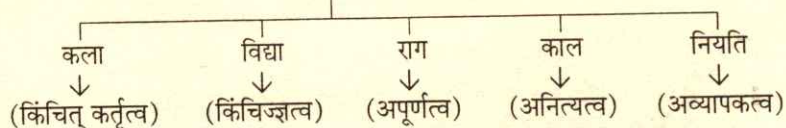
स्वतन्त्र, शक्तिमान, पतिप्रमाता का शक्तिदरिद्र पशु बनना (पशुपति का पशु के रूप में रूपान्तरण)।

स्वातन्त्र्य शक्ति का रूपान्तरण—षट्कञ्चुक के रूप में आत्मा का संसारी बन जाना। 'पति' का 'पशु' बनना।

माया के विभिन्न लक्षण—

१. माया = जिसे योगी हेय मानकर उसका परित्याग कर देते हैं—मीयते हेयतया परिच्छिद्यते योगिभि:। (तन्त्रालोक : विवेक-९.१५२)

२. माया = जो शब्द-स्पर्शादि पञ्चतन्मात्राओं या पञ्चभूतों के गुणों (या पञ्च महाविषयों) में सर्वत्र स्थित है—सर्वत्र मातीति। (तन्त्रालोक : विवेक-९.१५२)

३. माया = जो स्वयं 'मा' शब्द से वाच्य निषेध का विषय नहीं बनता अर्थात् जो नित्य है—माशब्दवाच्याद्विनाशरूपान्निषेधाद् यातेति। (तन्त्रालोक : विवेक-९.१५२)

४. माया = जिसके गर्भ में समस्त विश्व अवस्थित रहता है—मात्यस्यां विश्वमिति। (तन्त्रालोक : विवेक-९.१५२)

१. प्रत्यभिज्ञाकारिका (१.४९) २. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका

५. माया = जिस शक्ति के द्वारा परमात्मस्वरूप में अभिन्न रूप में भी अवस्थित भावराशि को अपने से भिन्न रूप में प्रतिष्ठित करता है—स्वात्माभिन्नमपि भावमण्डलं शिवो यया मिमीते भिदा व्यवस्थापयतीति। (तन्त्रालोक : विवेक)

६. माया = अशिवा भेदप्रथाप्रदा।

७. माया = जो नष्ट कर दिए जाने पर भी 'गोनासा' नामक कश्मीरी सर्प की भाँति डसती रहती है—

उन्मूलितापि शतशः खण्डितापि सहस्रशः।
गोनासेवाप्रथोदेति द्रागत्र शरणं शिवः।।

८. माया = सर्वथा हेय है—

मलः कर्म च माया च मायीयमखिलं जगत्।
सर्वं हेयमिति प्रोक्तं विज्ञेयं वस्तुनिश्चितम्।।
(मालिनीविजय-१.१६)

आचार्य महेश्वरानन्द की दृष्टि—महेश्वरानन्द कहते हैं—

१. मायेति लोकतेः परमस्वतन्त्रस्य मोहनी शक्तिः।[1]

२. माया नाम तस्योत्कृष्टं स्वातन्त्र्यम्।

अनुशासनसूत्रकार की दृष्टि—

स्वातन्त्र्यापरपर्यायमाया जाड्याविलापनात्।
विलीय चिद्रसीभूतं विश्वानन्दमुपास्महे।।

अर्थात्—

१. माया स्वातन्त्र्यशक्ति का ही अपर पर्याय है।

२. यह जाड्योत्पादिका है।

३. इसका विलय करने पर ही विश्वानन्दाप्ति सम्भव है।

परमार्थसंग्रहकार की दृष्टि—महेश्वर की जो दुर्घटसम्पादकत्व की स्वातन्त्र्य शक्ति है और जो शिव का आवरण है, वही माया शक्ति है।

शचीमतकार की दृष्टि—इसमें कहा गया है कि मेरी दुर्घटकारिणी स्वातन्त्र्य शक्ति ही 'माया' के नाम से प्रख्यात है—

स्वातन्त्र्यशक्तिर्मेऽसि त्वमतिदुर्घटकारिणी।
मायेति कीर्त्यसे देवि! भर्तुर्मे वैश्वरूप्यदा।।

स्तोत्रावलीकार की दृष्टि—इसमें कहा गया है—

---

१. महार्थमञ्जरी (१७)

न च विभिन्नमसृज्यत किञ्चिदस्त्यथ सुखेतरदत्र विनिर्मितम्।
अथ च दुःखि च भेदि च सर्वथाऽप्यसमविस्मयधाम नमोऽस्तु ते।।

तन्त्रालोककार की दृष्टि—

तस्य स्वतन्त्रभावोऽयं किं किं यत्र विचित्रयेत्।

त्रिंशिकाशास्त्र की दृष्टि—माया का कला विद्या आदि पञ्चकञ्चुकों में ही अन्तर्भाव है; अतः माया का क्षेत्र इस प्रकार है—

कालाग्निमादितः कृत्वा मायान्तं ब्रह्मदेहगम्।

आचार्य महेश्वरानन्द कहते हैं—

१. परमेश्वर का असाधारण भाव विश्वस्फुरत्तात्मक महासत्तोल्लासरूप है और यह स्वसंविदानन्दपरिस्पन्दसौन्दर्यमात्र साररूप है।

२. इतना होने पर भी उस अभेदात्मक सत्ता (परमात्मा) में चैत्र, मैत्र, स्तम्भ एवं कुम्भ आदि जो विकल्पों की विद्यमानता दिखाई पड़ती है, वह समस्त विकल्पात्मक वेद्यविलास ऊपरी तत्त्व हैं; आन्तर एवं तात्त्विक नहीं है—भेदावभास पारमार्थिक सत्य नहीं है—तात्त्विक याथार्थ्य नहीं है।

३. मुक्त को बद्धबिभीषिका से एवं बद्ध को भी मुक्त्यभिमान से बाधित करने वाली शक्ति माया है—मुक्तमपि बद्धविभीषिकया बद्धमपि च मुक्त्यभिमानेन व्यत्यासयन्ती शक्तिर्मायेत्युच्यते।[१]

ईश्वर तो परम स्वतन्त्र है। उसकी यही स्वातन्त्र्योत्कर्षकाष्ठा है कि जगत् के स्वात्मावभास अद्वैत में जीवित रहने पर भी वह शिव उसमें वैचित्र्योत्पादन उत्पन्न करने की पटुता रखता है। इसीलिये वह अतिदुर्घटकारी परमेश्वर कहलाता है। इसीलिये वह लोकपति भी है। वह देह, इन्द्रियसमुदाय एवं भुवनादिक प्रपञ्च का ईश्वर है; इसलिये भी वह लोकपति कहा जाता है।[२]

४. माया का विशिष्ट लक्षण भेदप्रथाविर्भाव है; अतः माया की व्यतिरेकावस्था में भेदप्रथापारमार्थ्यस्वरूप प्रपञ्च नहीं रह जाता—माया व्यतिरेके भेदप्रथापारमार्थस्य प्रपञ्चस्याभावः।

५. माया के न रहने से परमेश्वर की सत्ता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। माया उसकी स्वतन्त्र स्वातन्त्र्य शक्ति है—तदियं माया नाम तस्योत्कृष्टं स्वातन्त्र्यम्। इसीलिये परमार्थसंग्रहकार ने कहा है कि—

परमं यत् स्वातन्त्र्यं दुर्घटसम्पादनं महेशस्य।

१-२. परिमल (गाथा-१७)

भेदवाद (द्वैतवाद) और उसका प्रत्याख्यान

प्रश्न—विश्वस्वभावस्यैकरस्य में भेद कहाँ से आ गया? यह भेद है क्या? क्या यह अन्योन्यभाव है? वैधर्म्य है? या कि स्वस्वरूप ही है?[१]

यह अन्योन्यभाव तो नहीं है; किन्तु स्तम्भ कभी कुम्भ एवं कुम्भ कभी स्तम्भ तो नहीं बन पाता।

प्रश्न—क्या यह अन्यत्व (पृथक्त्व) पदार्थों का स्वस्वभाव है? क्या यह कोई भेदनिबन्धनात्मक उपाधि है?

यदि इसे पदार्थों का स्वभाव मान लिया जाय तब तो एकत्वाक्रान्तता की स्थिति में भी भेद विद्यमान ही रहेगा, मिटेगा नहीं।[२]

यदि इसे 'उपाधि' मान लिया जाय तब तो अन्यत्वात्मक भेद सत्य ही सिद्ध हो जाएगा; अतः यह उपाधि भी नहीं है।

प्रश्न—क्या यह वैधर्म्य है?

नहीं; यह भी नहीं है। वैधर्म्य क्या है? वैधर्म्यं नाम स्तम्भादीनां स्तम्भत्वकुम्भत्वादिरूपोऽर्थः। (स्तम्भत्व एवं कुम्भत्व पृथक्-पृथक् हैं) यदि स्तम्भत्व में मात्र स्तम्भत्व एवं कुम्भत्व में मात्र कुम्भत्व ही सदा विद्यमान रहे तभी कहा जा सकता है कि भेदवाद सत्य है। जो इनका नियामक तत्त्व है, वह किसी को भी दृष्टिगत नहीं हुआ करता।[३]

प्रश्न—क्या भेद पदार्थ का स्वस्वरूप है?

नहीं, ऐसा भी नहीं है; क्योंकि—नापि तृतीयः स्वरूपं हि स्तम्भादेः स्वमनन्यस्वभावानुषक्तं रूपमिति वक्तव्यम् अन्यथा भावानां स्वभावसाङ्कर्यप्रसङ्गात्।[४]

प्रश्न—भेद किसी भिन्न पदार्थ में है या अभिन्न में? यदि यह भेद भिन्न पदार्थों में है तो आगन्तुक भेद से क्या अन्तर पड़ेगा? यदि अभिन्न में भेद है तो यह कथन ही व्याघात दोषापन्न हो जाएगा।

स्तम्भ से कुम्भ भिन्न है—यही भेदव्यवहार है।

पारमेश्वर प्रकाश प्रपञ्च में सर्वत्र (स्वातन्त्र्य शक्ति के कारण) उन्मिषित है। भिन्न पदार्थों में भी प्रातिस्विक रूप से ऐक्य है ही। विश्वविलास की भेदात्मकता में भी तत्त्वतः अभेद विद्यमान है—विश्वविलासस्यास्य वास्तवस्वभावोऽयमभेद एवेत्यत्र न काचिदनुपपत्तिः।

एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म, नेह नानास्ति किञ्चन के श्रुत्योक्त वाक्य सर्वैक्यवाद की पुष्टि करते ही हैं।

१-४. परिमल (गाथा-१७)

निष्कर्ष—महेश्वरानन्द कहते हैं—एवमतिदुर्घटनकार्यघटनहेतोर्हि भगवतो 'माया' नाम काचिदतिमहती शक्तिरस्तीत्यङ्गीक्रियते। एतेनाद्वैतमेव सर्वसार: सिद्धान्त:।[१]

अद्वैतवाद की पुष्टि—महेश्वरानन्द कहते हैं—एतेनाद्वैतमेव सर्वसार: सिद्धान्त:। तच्च पार्यन्तिकी परावस्था।[२]

अवस्थात्रय

- अद्वैतवाद—तच्च पार्यन्तिकी प्रतिष्ठेति 'परावस्था'।
- परापरावस्था (भेदाभेदवाद)—भेदाभेदस्तु व्यवहारसर्वस्वं निर्वहन् विश्वस्य विश्वोत्तीर्णस्य च सम्बन्धस्वभावो विजृभत इति 'परापरावस्था'।
- अपरावस्था (भेदवाद)—भेदश्च विश्वोत्तीर्णपरमेश्वरप्रकाशपरामर्शप्रागल्भ्यपल्लवपरम्पराप्रायता।

विश्ववैचित्र्यशिल्पकल्पनाचित्रमण्डपायमानविभ्रम: प्रसर्पतीत्यपरावस्था।[३]

योग्यता-तारतम्य—१. सुप्रबुद्ध २. प्रबुद्ध ३. अप्रबुद्ध।

तन्त्रालोककार की दृष्टि—

परा चन्द्रसमप्रख्या रक्ता देवी परापरा।
अपरा सा परा काली भीषणा चण्डयोगिनी।।

मायास्वरूप का परामर्श ही व्यक्ति को जीवन्मुक्ति प्रदान कर देता है—एवं मायास्वरूपपरार्श एव जीवन्मुक्तिरित्युपनिषत्।[४]

परमशिव का स्वरूप

अथ मायाविभूत्यात्मकं कलादिपञ्चकमर्थद्वारा परीक्षते—

सब्वअरो सब्वण्णो पुण्णो णिच्चो असंकुअंतो अ।
विवरीओ व्व महेशो जाहिं ता होंति पञ्च सत्तीओ ॥१८॥

(सर्वकर: सर्वज्ञ: पूर्णो नित्योऽसङ्कुचंश्च।
विपरीत इव महेशो याभिस्ता भवन्ति पञ्च शक्तय:।।)

परमशिव सर्वकर्ता, सर्वज्ञ, पूर्ण, नित्य एवं संकोचशून्य है। (ऐसा होने पर भी) वह जिन शक्तियों के द्वारा विपरीत दिखाई पड़ता है, वे शक्तियाँ पाँच हैं।।१८।।

परमेश्वरो हि प्रकृत्या विश्वस्य कर्ता, ज्ञाता च, तत एव स्वातन्त्र्यात् पूर्ण: स्वात्मतृप्तश्च, प्रार्थनीयाभावात्। स्वव्यतिरिक्तस्य स्वावच्छेदकस्य कस्यचिद्

---

१. महेश्वरानन्द : परिमल (१७)
२. परिमल (१७)
३. स्वोपज्ञ परिमल (१७)
४. महेश्वरानन्द : स्वोपज्ञ परिमल (१७)

भावस्यासम्भवान्नित्यः प्राक्प्रध्वंसाभावातिलङ्घी। तत एव सङ्कोचलक्षणनियन्त्रणाशून्यश्च। तादृशोऽपि सन्नसौ याभिः शक्तिभिर्निबन्धनीभूताभिर्विपरीत इव किञ्चित्कर्तृत्वादिधर्मयुक्त इवावभासते ताः पञ्च शक्तयो भवन्ति। तदुक्तं श्रीक्रमोदये—

रागो माया कलाऽविद्या नियतिः काल एव च।
पञ्चवृत्त्याश्रयाः सर्वे पाशाश्चेति प्रकीर्तिताः ।। इति।

ताश्च कला अविद्या रागः कालो नियतिरित्युच्यन्ते। कला तस्य किञ्चित्कर्तृत्वहेतुः। अविद्या किञ्चिज्ज्ञत्वकारणम्। रागो विषयेष्वभिषङ्गः। कालो भावानामवभासनानवभासनात्मा क्रमः। नियतिर्ममेदं न ममेमित्यादिनियमहेतुः। एतत्पञ्चकं चागमेषु स्वरूपावरकत्वात् कञ्चुकमित्युच्यते। एतदभावे हि पुरुषः परमेश्वरवदतिप्रकटबोधशक्तिः, पाषाणवदत्यन्तनिमग्नैश्वर्यो वा भवेत्। तत्र च रागो मायाऽविद्या कला काल इति क्रमेण पुरुषस्योर्ध्वाधःपर्वानुप्रवेशपरिहारात् त्रिशङ्कुवन्मध्यस्थानावस्थानं प्रति पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशरूपतया तासामुपयोगः। एतेन धारणात्वमेतासां व्याख्यातम्। यथा श्रीत्रिंशिकाशास्त्रे—

वाय्वग्निसलिलेन्द्राणां धारणानां चतुष्टयम् । इति ।।१८।।

महार्थमञ्जरीकार और विज्ञानभैरव

सर्वकरः सर्वज्ञः पूर्णो नित्योऽसङ्कुचश्च (२८) के समतुल्य विचार इसके भी पूर्व विज्ञानभैरव की धारणा ८४ एवं छन्द १०७ में इस प्रकार व्यक्त किया गया है—

सर्वज्ञः सर्वकर्त्ता च व्यापकः परमेश्वरः।

परात्रिंशिकातात्पर्यदीपिका में कहा गया है—

तच्चोदकः शिवो ज्ञेयः सर्वज्ञः परमेश्वरः।
सर्वगो निर्मलः स्वच्छस्तृप्तः स्वायतनः शुचिः।। (३०३)

उत्पलदेवाचार्य श्रीशिवस्तोत्रावली में कहते हैं—

सर्वज्ञे सर्वशक्तौ च त्वय्येव सति चिन्मये। (१०.१७)
क्षीणाग्रमध्यमूलाय नमः पूर्णाय शम्भवे। (२.९)

जहाँ तक भगवान् में कर्तृत्व की बात है, उस सन्दर्भ में तो इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि समस्त विश्व की सृष्टि करने वाली क्रियाशक्ति भी शिव की ही शक्ति है और वह शिव का अभिन्न स्वरूप है।

आचार्य उत्पलदेव प्रत्यभिज्ञाकारिकावृत्ति में कहते हैं—चिद्वपुषः स्वतन्त्रस्य विश्वात्मना कर्तुमिच्छैव जगत्प्रति कारणता कर्तृतारूपा सैव क्रियाशक्तिः। एवं चिद्रूपस्यैकस्य

कर्तुरेव चिकीर्षाख्या क्रिया मुख्या।

चिकीर्षलक्षणैकत्वपरामर्शं विना क्रिया।
तिष्ठासोरेवमिच्छैव हेतुता कर्तृता क्रिया।।

(प्रत्यभिज्ञाकारिका)

परमात्मा में क्रिया तो है; किन्तु यह असामान्यलक्षण क्रिया है; क्योंकि इसके निष्पादन के लिये पृथक् से प्रयास नहीं करना पड़ता; प्रत्युत इच्छा का उदय होते ही क्रिया स्वयमेव निष्पादित हो जाती है; क्योंकि 'प्रमाता चिद्रूपोऽनन्तशक्तिरीश्वर: स्वेच्छा-वशात्तानाभासानाभासयेत् सैवेच्छाशक्तिर्निर्मातृताख्या क्रिया तस्य' (प्रत्यभिज्ञाकारिकावृत्ति—उत्पलदेव)।

आत्मा का स्वस्वरूप ही ज्ञानक्रियास्वरूपात्मक है—

चैतन्यमात्मनो रूपं सिद्धं ज्ञानक्रियात्मकम्।
या तस्यानावृतरूपत्वाच्छिवत्वं केन वार्यते।। (वार्तिक)

श्रीबोधपञ्चदशिका में अभिनवगुप्तपाद कहते हैं कि परमात्मा सर्वकर्तृत्वसम्पन्न है। सृष्टि, स्थिति, तिरोधान (संहार) आदि कार्य तो उसके स्वभाव के अंग हैं—उसकी अपनी शक्तियों के विविध व्यापार हैं, जो कि उसके स्वभाव के अंगीभूत या स्वसमवेत शक्तियाँ हैं—स्वात्मग व्यापार हैं—

एवमस्य स्वतन्त्रस्य निजशक्त्युपभेदिन:।
स्वात्मगा: सृष्टिसंहारा: स्वरूपत्वेन संस्थिता:।। (९)

महार्थमञ्जरीकार ने शिव को १. सर्वकर २. सर्वज्ञ ३. नित्य ४. असंकुचित एवं ५. पञ्चशक्तिसमन्वित कहा है?

परमात्मा शिव का सर्वकर स्वरूप

अभिनव गुप्त एवं पुण्यानन्द की दृष्टि—अभिनवगुप्तपाद परमार्थचर्चा में कहते हैं कि परमात्मा संविद्घन है, परात्पर है, परमेश है और सर्वोच्च कर्ता है। उसी परमात्मा में परमात्मा के द्वारा (परमात्मा के कर्तृत्व के द्वारा) नि:शेष विश्व आविर्भूत होता है—

संविद्घनस्तेन परस्त्वमेव त्वय्येव विश्वानि चकासति द्राक्।
स्फुरन्ति च त्वन्महस: प्रभावात् त्वमेव चैषां परमेशकर्ता।।

आचार्य पुण्यानन्द कामकलाविलास में कहते हैं कि प्रकाशमात्रतनु महेश सकल-भुवनोदय स्थितिलयमय लीलाविनोदनोद्युक्त परमकर्ता हैं—

सकलभुवनोदयस्थितिलयमयलीलाविनोदनोद्युक्त:।
अन्तर्लीनविमर्श: पातु महेश: प्रकाशतनु:।।१।।

शान्त ब्रह्मवाद का खण्डन—परमेश्वर अपनी तूलिका से जगत् का चित्र निर्मित करता है और अपने इस चित्ररूप कार्य को देखकर परमाह्लादित होता है—

जगच्चित्रं समालिख्य स्वेच्छा तूलिकयात्मनि।
स्वयमेव समालोक्य प्रीणाति परमेश्वरः।।
हृदयस्यापि लोकानामदृश्या मोहनात्मिका।
नामरूपविभागं च या करोति स्वलीलया।।

श्रुति भी कहती है—अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि। इसके अतिरिक्त—

स्वेच्छयैव जगत्सर्वं निगिरत्युद्गिरत्यपि।
यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च।।

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व, तद्ब्रह्मेति।

परमात्मा का स्रष्ट्रित्व एक क्रीड़ा है—लीला है—विनोद है; किन्तु फिर भी इससे उसके कर्तृत्व का बोध तो होता ही है। वह सृष्टि-क्रीड़ारूप क्रिया-व्यापार में नित्य समुत्सक रहता है। शंकर के निर्गुण ब्रह्म की भाँति—वेदान्तियों के शान्त ब्रह्म की भाँति जगत् के सृजन के प्रति तटस्थ या उदासीन नहीं है—

एष देवोऽनया देव्या नित्यं क्रीडारसोत्सुकः।
विचित्रान् सृष्टिसंहारान्विधत्ते युगपत्प्रभुः।।
अतिदुर्घटकारित्वमस्यानुत्तरमेव तत्।
एतदेव स्वतन्त्रत्वमैश्वर्यं परबोधितम्।।[1]

जगत् की सृष्टि, स्थिति एवं संहार आदि कार्य परमात्मा शिव के मायिक (मिथ्या = विवर्तजन्य) व्यापार नहीं; प्रत्युत उसके महान् ऐश्वर्य हैं—एतदेव स्वतन्त्रमैश्वर्यम्।

स्तवचिन्तामणि (श्लोक) में कहा गया है कि परमात्मा विना किसी भी अन्य उपादान के (स्वतन्त्र रूप में) अपनी आत्मभित्ति पर जगत् रूपी चित्र का निर्माण करता है—

निरुपादानसम्भारमभित्तावेव तन्वते।
जगच्चित्रं नमस्तस्मै कलाश्लाघ्याय शालिने।।[2]

गीता में भी श्रीकृष्ण कहते हैं कि मैं प्रकृति के गर्भ में बीज-वपन करता हूँ—

मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत।। (भ. गी.-१४.३)

---

१. श्रीबोधपञ्चदशिका २. स्तवचिन्तामणि

आचार्य उत्पलदेव शिवदृष्टिवृत्ति में परमात्मा के स्रष्ट्रित्व या कर्तृत्व का प्रतिपादन करते हुये कहते हैं कि परमात्मा विश्व का सृजन-व्यापार अपने अंग में विश्वचित्र के निर्माण के रूप में करता है—

चिदाकाशमये स्वांगे विश्वालेख्यविधायिने।
सर्वाद्भुतोद्भवभुवे नमो विषमचक्षुषे।।[१]

ज्ञान-इच्छा-क्रियासामञ्जस्यवाद—'सोऽकामयत् एकोऽहं बहुस्याम्, तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय' आदि श्रुतिवाक्यों में ब्रह्म की इच्छा का बार-बार प्रतिपादन किया गया है। 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' आदि द्वारा उस ब्रह्म की क्रिया का पृथक् निर्देश भी किया गया है; फिर भी पशुओं की इच्छा-ज्ञान-क्रिया में पार्थक्य तो है, किन्तु परमात्मा की इच्छा-ज्ञान-क्रिया में भेद नहीं है। शिवदृष्टि में इसी विचार की पुष्टि की गई है।

परमात्मा का कर्तृत्वादि व्यापार—आचार्य सोमानन्द कहते हैं कि विश्व के समस्त व्यापार, सृष्टि का निःशेष कर्तृत्व इच्छा-ज्ञान-क्रिया पर आश्रित है। पशुओं (पाशबद्ध जीवों, मनुष्य, देवता आदि चेतन सत्ताओं) की इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया में पृथकता है; किन्तु परमात्मा के स्तर पर तो जो इच्छा है, वही ज्ञान है और जो ज्ञान है, वही क्रिया है अर्थात् तीनों में कोई भी भेद है ही नहीं। अर्थात् परमात्मा जो इच्छा करता है, वह तत्काल हो भी जाता है। उसके निष्पादनार्थ पृथक् रूप से कोई प्रयास नहीं करना पड़ता। उसकी इच्छा, उसका ज्ञान एवं उसकी क्रिया—तीनों अभिन्न हैं—

तदिच्छा तावती तावज्ज्ञानं तावत्क्रिया हि सा।[२]

आचार्य उत्पलदेव भी इसकी पुष्टि करते हुये कहते हैं—परावस्थायां पुनः पूर्णोऽहमित्येव स्वस्वभावः प्रकाशते, तावत् प्रकाशत्वात् तदेव ज्ञानं, संरम्भरूपत्वात् सैव क्रिया, तत्स्वभावत्वेन तदभ्युपगमादिच्छापि स्थितैवेत्याह तदिच्छा तावतीति। तावच्च स्वरूपं क्रियेति योज्यम्।[३]

अभिनवगुप्तपादाचार्य की दृष्टि—इच्छाज्ञानक्रियैकात्म्यवाद के इसी सिद्धान्त को अभिनवगुप्त ने भी प्रतिपादित किया है। अभिनवगुप्तपादाचार्य परमार्थचर्चा में कहते हैं—

ज्ञानाद्विभिन्नो न हि कश्चिदर्थस्तत्तत्कृतः संविदि नास्ति भेदः।[४]
इत्थं स्वसंविद्घन एक एव शिवः स विश्वस्य परः प्रकाशः।
तथापि भात्येव विचित्रशक्तौ ग्राह्यग्रहीतृप्रविभागभेदः।।[५]

---

१. शिवदृष्टिवृत्ति
२. सोमानन्दपाद : शिवदृष्टि
३. उत्पलदेव : शिवदृष्टिवृत्ति
४. परमार्थचर्चा
५. परमार्थचर्चा (अभिनवगुप्त)

परमात्मा का कर्तृत्व बाह्योपादानसापेक्ष नहीं है, इसीलिये प्रतीत होता है कि वह कर्ता नहीं है; किन्तु वह है तो कर्ता ही। उसका निःशेष कर्तृत्व उसकी इच्छा में ही समाहित है—

चिदात्मैव हि देवोऽन्तःस्थितमिच्छावशाद्बहिः।
योगीव निरुपादानमर्थजातं प्रकाशयेत्।। (ईश्वरप्रत्यभिज्ञा)

अभिनवगुप्त तन्त्रालोक (३ आ.) में कहते हैं—यद्यपि समस्त विश्वरचना परमात्मा के भीतर ही निष्पादित होती है और मुकुरान्तराल में होती है; फिर भी यह शिव का ही विश्व-विमर्शन है—शिव की ही रचना है—

अन्तर्विभाति सकलं जगदात्मनीह
यद्वद्विचित्ररचना मुकुरान्तराले।
बोधः पुनर्निजविमर्शनसारयोगा-
द्विश्वं परामृशति नो मुकुरस्तथा तु।।

सारे सृष्टि-संहारादि व्यापार परमात्मा में स्वस्वरूप रूप में स्थित हैं—

स्वात्मगाः सृष्टिसंहाराः स्वरूपत्वेन संस्थिताः।[१]

आचार्य क्षेमराज की दृष्टि—आचार्य क्षेमराज प्रत्यभिज्ञाहृदयम् में कहते हैं—इति श्रीमत्स्वच्छादिशासनोक्तनीत्या सदा पञ्चविधकृत्यकारित्वं स्वरूपविकासरूपाणि सृष्ट्यादीनि करोति तथा सङ्कुचितचिच्छक्तितया संसारभूमिकायामपि पञ्चकृत्यानि विधत्ते।[२]

शिव ब्रह्म की भाँति निष्क्रिय नहीं है—तथापि तद्वत् पञ्चकृत्यानि करोति।
(प्र. हृ. सूत्र-१०)

अर्थात् इस स्वच्छन्दतन्त्र द्वारा उपर्युक्त नीति के अनुसार चिदात्मा भगवान् में सदैव पञ्चविधकृत्यकारिता विद्यमान रहती है। जैसे भगवान् अशुद्ध अध्वा के विकास-क्रम से स्वरूप-विकासात्मक सृष्टि आदि की रचना करते हैं, वैसे ही चित् शक्ति के संकुचित होने पर संसार-भूमिका में भी पञ्चकृत्य निष्पादित करते हैं।[३]

आत्मासम्बन्धी पञ्चविध कृत्यकारिता का यदि सदैव दृढ़ता से परिशीलन किया जाय तो निश्चय ही भक्तों के समक्ष वह महेश्वर के स्वरूप को उन्मीलित करती है—एवमिदं पञ्चविधकृत्यकारित्वम् आत्मीयं सदा दृढ़प्रतिपत्त्या परिशील्यमानं माहेश्वर्यं उन्मी-लयत्येव भक्तिभाजम्।

आभासन, शक्ति, विमर्शन—आभासन, शक्ति, विमर्शन, बीजावस्थापन और विलापन कार्य भी परमेश्वर निष्पादित करता है—बीजावस्थापनविलायनतस्तानि।[४]

स्पन्दशास्त्र और परमात्मा—प्रत्यभिज्ञादर्शन की भाँति काश्मीर का स्पन्दशास्त्र

१. श्रीबोधपञ्चदशिका २-४. प्रत्यभिज्ञाहृदयम्

भी परमात्मा को निष्क्रिय नहीं; सक्रिय एवं पञ्चकृत्यकारी मानता है। स्पन्दकारिका के आदि में ही इस तथ्य की पुष्टि करते हुये कहा गया है—

यस्योन्मेषनिमेषाभ्यां जगतः प्रलयोदयौ।[1]
तं शक्तिचक्रविभवप्रभवं शंकरं स्तुमः।। (१.१)

अर्थात् जिसके उन्मेष-निमेष के द्वारा जगत् की सृष्टि एवं प्रलय कृत्य निष्पादित होते हैं, उस शक्तिसमूह की अघटन-घटनापटीयसी कर्तृत्व-ज्ञातृत्व-तृप्तित्व-व्यापकत्व-सृजनत्व-संहारत्व आदि असामान्य शक्तियों के वैभव को उत्पन्न करने वाले भगवान् शंकर की मैं स्तुति करता हूँ।

सृजन-पालन-संहार-तिरोधान-अनुग्रह आदि कार्य तो भगवान् के स्वभावगत व्यापार हैं; अतः भगवान् स्वभावतः कर्ता एवं जगत् का परम कारण हैं।

भट्टकल्लट की दृष्टि—भट्टकल्लट भी इसी तथ्य की पुष्टि करते हुये कहते हैं—अनेन स्वस्वभावस्यैव शिवात्मकस्य सङ्कल्पमात्रेण जगदुत्पत्तिसंहारयोः कारणत्वं विज्ञानदेहात्मकस्य शक्तिचक्रैश्वर्यस्योत्पत्तिहेतुत्वम्। (स्पन्दवृत्ति)[2]

उत्पलदेव की दृष्टि—आचार्य उत्पलदेव ईश्वरसिद्धि में कहते हैं कि ईश्वर ज्ञाता एवं कर्ता दोनों है—कर्ता ज्ञाता स चेश्वरः।

आचार्य उत्पलदेव प्रत्यभिज्ञाकारिका में शिव के कर्तृत्व-ज्ञातृत्व का प्रतिपादन करते हुये कहते हैं—

कर्तरि ज्ञातरि स्वात्मन्यादिसिद्धे महेश्वरे। (प्रत्य. ज्ञा. २)

उत्पलदेव प्रत्यभिज्ञाकारिकावृत्ति में कहते हैं—स्वप्रकाशस्य प्रमात्रैकपुषः पूर्व-सिद्धस्य पुराणस्य ज्ञानं क्रिया च स्वसंवेदनसिद्धमेवैश्वर्यम्—ज्ञान एवं क्रिया ईश्वर के ऐश्वर्य हैं।

विश्व की सर्वोच्च क्रियात्मिका शक्ति भी शिव की ही शक्ति है—

सेयं क्रियात्मिका शक्तिः शिवस्य पशुवर्तिनी।[3]

परमात्मा की अनन्त शक्तियाँ हैं; किन्तु मुख्यतः उन्हें पाँच भागों में विभाजित किया गया है। उनमें क्रियाशक्ति, ज्ञानशक्ति आदि भी हैं।

परमात्मा शिव की शक्तियाँ

चित् शक्ति | आनन्द शक्ति | इच्छा शक्ति | ज्ञान शक्ति | क्रिया शक्ति

शान्त ब्रह्मवाद का खण्डन—जिसकी शक्ति ही क्रिया हो, वह निष्क्रिय कैसे हो सकता है?

---

१. स्पन्द-कारिका २. भट्टकल्लट ३. स्पन्दकारिका

शिव पूर्णाहन्तामय है। ईश्वरता, स्वतन्त्रता, अहन्ता एवं कर्तृत्व उसके पर्याय हैं—

ईश्वरता कर्तृत्वं स्वतन्त्रता चित्स्वरूपता चेति।
एतेऽहन्तायाः किल पर्यायाः सद्भिरुच्यते।।[१]

षट्त्रिंशत्तत्वसन्दोह में तो यह कहा गया है कि अनुत्तरमूर्ति परमात्मा की निजेच्छा में जो जगत्-सृष्टि का प्रथम स्पन्द उठा, वही शिवतत्त्व है—

यदयमनुत्तरमूर्तिर्निजेच्छयाऽखिलमिदं जगत्स्रष्टुम्।
स्पन्दते स स्पन्दः प्रथमः शिवतत्त्वमुच्यते तज्ज्ञैः।।[२]

परमशिव है तो निर्गुण; किन्तु सिसृक्षा होते ही वह सगुण हो उठता है और उससे सृष्टि-विकास (सृजन-व्यापार का प्रारम्भ) हो जाता है—

सच्चिदानन्दविभवात् सकलात् परमेश्वरात्।
आसीच्छक्तिस्ततो नादः नादाद् बिन्दुसमुद्भवः।।[३]

इसी क्रम में सृष्टिव्यापार अग्रपद होता है।

वामनदत्त ने संवित्प्रकाश में इसी प्रश्न को उठाकर उसका समाधान किया है—

कर्तृत्वं च न सत्तायाः कथञ्चिदतिरिच्यते।
सत्तैव यदि कर्तृत्वं तदनुक्तमसंवृतम्।।
प्रकाश्ये च भवेत् कर्म तच्च कर्ता विना कथम्?[४]

उत्पलदेवाचार्य श्रीशिवस्तोत्रावाली में शिव को संसार का निमित्त कारण कहकर सम्बोधित करते हैं—संसारैकनिमित्ताय (२.८) और उन्हें अद्भुत कर्म करने वाले, संहार, क्रीड़ा करने वाले सर्वशक्तिसम्पन्न कहते हैं—

जगत्संहारकेलये, आश्चर्यकरणीयाय नमस्ते सर्वशक्तये। (२.१३)

पूर्णता—महार्थमञ्जरीकार ने शिव को पूर्ण (पूर्णो) कहा है। उपनिषदों में भी इसका प्रतिपादन किया जा चुका है। कहा गया है—

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।

भगवान् की शक्ति, जो उनसे अभिन्न है, वह भी पूर्ण है—

तस्यैवैषा परा देवी स्वरूपामर्शनोत्सुका।
पूर्णत्वं सर्वभावेषु यस्यां नाल्पं न चाधिकम्।।[५]

---

१. विरूपाक्षपञ्चाशिका
२. षट्त्रिंशत्तत्वसन्दोह
३. शारदातिलक
४. वामनदत्त : संवित्प्रकाश
५. बोधपञ्चदशिका

परमात्मा को पूर्ण क्यों कहा गया? स्पष्ट है कि परमात्मा को छोड़कर कोई भी पूर्ण नहीं है।

परमात्मा की पूर्णता : सच्चिदानन्दत्व में पूर्णत्व

- परमात्मा का सत् पूर्ण है (सत् तत्त्व पराश्रित नहीं है, नित्य है, एकरस है, सर्वव्यापक है, सर्वाधार है)।
- परमात्मा का चित् पूर्ण है (चित् तत्त्व नित्य है, सर्वव्यापक है, सर्वानुस्यूत है, अनादि और अनन्त है—सभी चैतन्यों का उत्स है)।
- परमात्मा का आनन्द पूर्ण है (आनन्दतत्त्व नित्य है, एकरस है, जगत् के समस्त आनन्दों का केन्द्र है, स्थिर है, अक्षर और सर्वानुस्यूत है)।

ज्ञान-श्रेणी—परमात्मा सर्वज्ञ है।

ज्ञानों के विभिन्न स्तर

अभेदज्ञान भेदाभेदज्ञान भेदज्ञान

१. शिव का ज्ञान	अहमस्मि
२. सदाशिव का ज्ञान	अहमिदम्
३. ईश्वर का ज्ञान	इदमहम्
४. पशु-ज्ञान	अहं अन्यः इदम् अन्यः

शुद्धाध्व के तत्त्वों का ज्ञान

१. सदाशिव का ज्ञान—सदाशिवतत्त्वे अहन्ताच्छादित अस्फुटेदन्तामयं यादृशं परापररूपं विश्वं ग्राह्यं तादृगेव श्रीसदाशिवभट्टारकाधिष्ठितो मन्त्रमहेश्वराख्यः प्रमातृवर्गः परमेश्वरेच्छाकल्पिततथावस्थानः।[1]

२. ईश्वर का ज्ञान—ईश्वरतत्त्वे स्फुटेदन्ताहन्तासामानाधिकरण्यात्म यादृक् विश्वं ग्राह्यं, तथाविध एव ईश्वरभट्टारकाधिष्ठितो मन्त्रेश्वरवर्गः।

३. विद्या का ज्ञान—विद्यापादे श्रीमदनन्तभट्टारकाधिष्ठिता बहुशाखावान्तरभेदभिन्ना यथाभूता मन्त्राः प्रमातारः तथाभूतमेव भेदैकसारं विश्वमपि प्रमेयम्।[2]

४. परमशिव का ज्ञान—श्रीमत्परमशिवस्य पुनः विश्वोत्तीर्णविश्वात्मकपरमानन्दमय-प्रकाशैकघनस्य एवंविधमेव शिवादिधरण्यन्तं अखिलं अभेदेनैव स्फुरति, न तु वस्तुतः

---

१. आचार्य क्षेमराज—प्रत्यभिज्ञाहृदयम् २. प्रत्यभिज्ञाहृदयम्

अन्यत् किञ्चित् ग्राह्यं ग्राहकं वा, अपितु श्रीपरमशिवभट्टारक एव इत्थं नानावैचित्र्यसहस्रैः स्फुरति।[१]

वेदान्ती आचार्य शंकर एवं काश्मीरी शैव आचार्य—गाथा (१८) में परमात्मा परमशिव को सर्वकर, सर्वज्ञ, पूर्ण, नित्य, असंकुचित कहा गया है। शांकर दर्शन का निर्गुण ब्रह्म सर्वकर नहीं है। शैव-शाक्त दर्शन काश्मीरीय शैव दर्शन आदि में परमात्मा शांकर ब्रह्म कभी भी निष्क्रिय नहीं है।

आचार्य क्षेमराज की दृष्टि—वेदान्तियों के निर्गुण ब्रह्म के विपरीत अद्वैतवादी शैवों के ब्रह्म में (परमशिव में) क्रिया है—

नमः शिवाय सततं पञ्चकृत्यविधायिने।
चिदानन्दघनस्वात्मपरमार्थावभासिने ।।[२]

स्वच्छन्दतन्त्र (१ पटल) में भी इस तथ्य की पुष्टि की गई है—

सृष्टिसंहारकर्तारं विलयस्थितिकारकम्।
अनुग्रहकरं देवं प्रणतार्तिविनाशनम्।।

नेत्रतन्त्र काश्मीरी शैवों का सर्वाधिक प्रामाणिक ग्रन्थ है। नेत्रतन्त्र (एकविंशोऽधिकार) में कहा गया है—

परसर्वात्मकं शुद्धमनाद्यं कारणं ध्रुवम्।
अप्रमेयमनिर्देश्यमनौपम्यमनामयम् ।।
निराभासं परं शान्तं सर्वावयववर्जितम्।
व्यापकं सर्वतोभद्रं सार्वज्ञ्यादिगुणैर्युतम्।।
विज्ञानघनसम्पूर्णं स्वानन्दानन्दनन्दितम्।
सर्वरूपकलातीतमचलं शाश्वतं विभुम्।।
सर्वगं सर्वभावस्थं सर्वभूतेषु संस्थितम्।
तस्मात्सर्वगतं विश्वं स एकः परमेश्वरः।।
सर्वज्ञो नित्यतृप्तश्च तस्य बोधो ह्यनादिमान्।।
कार्यं तस्य परा शक्तिर्यथा सूर्यस्य रश्मयः।

परमशिव की शक्तियाँ—महेश्वरानन्द ने महार्थमञ्जरी में महेश को सर्वकर, सर्वज्ञ, पूर्ण, नित्य, असंकुचित और पञ्चशक्तिसम्पन्न विशेषणों से अभिहित किया है। त्रिक हृदय में भी कहा गया है—

नित्यं विसर्गपरमः स्वशक्तौ परमेश्वरः।
अनुग्रहात्मा स्रष्टा च संहर्ता चानियन्त्रितः।।

---

१. प्रत्यभिज्ञाहृदयम् २. क्षेमराज—प्रत्यभिज्ञाहृदयम्

पञ्चशक्तयः:—परमशिव की पाँच शक्तियाँ हैं—

परमशिव का शक्तिपञ्चक

चित् शक्ति | आनन्द शक्ति | इच्छा शक्ति | ज्ञान शक्ति | क्रिया शक्ति

चित् शक्ति, आनन्द शक्ति एवं इच्छा शक्ति की समष्टि परा शक्ति है। अभिनवगुप्तपाद परात्रिंशिकाविवृति में कहते हैं—तिसृणां शक्तीनाम् इच्छा-ज्ञान-क्रियाणां सृष्ट्याद्युद्योगादि-नामान्तरनिर्वाच्यानाम् ईशिका, ईश्वरी, ईशना च ईशितव्या व्यतिरेकैणैव भाविनि—इति एतच्छक्तिभेदत्रयोत्तीर्णा तच्छक्त्यविभागमयी संविद्भगवती भट्टारिका परा अभिधेयम्।

यही परा शक्ति परापरा शक्ति एवं अपरा आदि अनेक शक्तियों के रूप में परिणत हो जाती है।

परा शक्ति—प्रथमोच्छलत्तात्मक के रूप में बहिरुल्लिलसिषास्वभावा एवं प्रमातृ-विश्रान्तिधामभूता परा शक्ति ही आदि परा शक्ति है और उसी से इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति एवं क्रियाशक्ति का उल्लास होता है—

> या सा शक्तिर्जगद्धातुः कथिता समवायिनी।
> इच्छात्वं तस्य सा देवि! सिसृक्षोः प्रतिपद्यते।।

अभिनवगुप्तपादाचार्य परात्रिंशिकाविवृति में कहते हैं—व्योमचरी, गोचरी, दिक्चरी, भूचरी आदि अनन्त शक्तियाँ हैं; किन्तु फिर भी मुख्य शक्ति केवल एक है और वह है—पराशक्ति—क्रमेण व्योमचरी-गोचरी-दिक्चरी-भूचरीभूता या शक्तयः ता वस्तुत उक्त-नयेन स्वभावचरखेचरीरूपशक्त्यविभक्ता एव इत्येकैव सा पारमेश्वरी शक्तिः। यदुक्तम्—

> शक्तयोऽस्य जगत् कृत्स्नं शक्तिमांस्तु महेश्वरः।
> परा भगवती संवित्प्रसरन्ती स्वरूपतः।
> परेच्छाशक्तिरित्युक्ता भैरवस्याविभेदिनी।।

शक्ति का औन्मुख्य

परा अनुत्तरस्वरूपा निराकांक्षा पूर्णा भगवती संवित् में औन्मुख्य	ज्ञानशक्ति में औन्मुख्य	क्रियाशक्ति में औन्मुख्य
↓	↓	↓
इच्छाशक्ति → परावाक्	पश्यन्ती वाक्	मध्यमा वाक्

> परा भगवती संवित्प्रसरन्ती स्वरूपतः।
> परेच्छाशक्तिरित्युक्ता भैरवस्याविभेदिनी।।
> तस्याः प्रसरधर्मत्वज्ञानशक्त्यादिरूपता।

परापरापरारूपा पश्यन्त्यादिवपुर्भृतिः।
तदेवं प्रसराकारस्वरूपपरिमर्शनम्।। आदि।

'सा इयं हि भगवती परा' अर्थात् वही भगवती सब कुछ है—

यस्मिन्सर्वं यतः सर्वं यः सर्वं सर्वतश्च यः।
यश्च सर्वमयो नित्यं तस्मै सर्वात्मने नमः।।
आत्मैव सर्वभावेषु स्फुरन्निर्वृत्तचिद्वपुः।
अनिरुद्धेच्छाप्रसरः प्रसरद्दृक्क्रियः शिवः।।

परमशिव का शक्तिपञ्चक—तन्त्रसार (आह्निक-४) के अनुसार चिदात्मा परमेश्वर की असंख्य शक्तियाँ हैं। उनमें पाँच शक्तियाँ प्रमुख हैं—सविन्मय, चिद्घन-आनन्दघन आत्मा तो एक ही है; किन्तु शक्तिस्वभाव परमेश्वर के शक्तिस्वरूप की स्फुट व्याख्या के उद्देश्य से शैवाचार्यों ने उसके पाँच भेद किये हैं, जो कि आभास-दृष्टि (उन्मेषदृष्टि) से इस प्रकार विभाजित की गई हैं—

१. चित् शक्ति ३. इच्छा शक्ति ५. क्रियाशक्ति
२. आनन्द शक्ति ४. ज्ञानशक्ति

आचार्य अभिनवगुप्त कहते हैं—तत्र परमेश्वरः पञ्चभिः शक्तिभिः निर्भरः। (तन्त्रसार) आचार्य अभिनवगुप्त ने तन्त्रसार में चिदात्मा के प्रकाशरूपत्व को चित् शक्ति की आख्या दी है—प्रकाशरूपता चिच्छक्तिः।

चित् शक्ति—शिव की प्रकाशरूपता परमशिव की शुद्ध (विमल) संविद्रूपता है। चिदात्मा की प्रकाशरूपता ही उसकी चित् शक्ति है। अपने इस प्रकाशस्वरूप से वह सर्वत्र प्रकाशित होता है। उसके इस प्रकाशात्मक आश्रय में विश्व के समस्त तत्त्वों का प्रकाशन होता है। आत्मा की यह प्रकाशात्मकता सर्वव्याप्त है। प्रकाशात्मक आत्मा का इच्छा-स्फुरणस्वरूप जगत् भी प्रकाशरूप है—प्रकाशात्मा प्रकाश्याऽर्थो।[१]

परमशिव आत्मा के प्रकाशात्मक होने पर तो किसी को भी प्रकाश (ज्ञान) प्राप्त ही नहीं हो सकता और सर्वत्र आन्ध्य व्याप्त हो जाएगा—प्रकाशमानता ...... स्वात्मन्यपि वा न स्यात् इति अन्धता जगतः।[२]

आत्मा की प्रकाशरूपता सर्वत्र, सबमें एवं सर्वकाल में अभेदात्मना सर्वव्याप्त एवं सर्वानुस्यूत है। अप्रकाशरूपता तो। सम्भव ही नहीं है—नाप्रकाशश्च सिद्ध्यति।[३]

सर्वचैतन्यवाद—आत्मा (परमात्मा) की प्रकाशरूपता उसकी विमर्शरूपता से

---

१. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा
२. प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी (भाग १.१.५५)
३. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा (१.१.५.३)

अनुप्राणित है। चिदात्मा स्वेच्छा से ही अपने लीला-विलास के लिये स्वस्वरूप से अपनी ही प्रकाशभित्ति (आश्रय) में ही विविध विश्वरूपों को प्रकाशित करता है। चिति शक्ति अपनी स्वतन्त्र इच्छा से आत्मभित्ति पर (अपनी चिद्रूपता) के अन्तर्गत ही अभेद-रूप से विश्वोन्मीलनत करता है—स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति।

(प्रत्यभिज्ञाहृदयम्-२)

विमर्श चिदात्मा के प्रकाशस्वरूप की प्रतीति है। यह विमर्श ही उसका स्वातन्त्र्य है, जिससे आत्मा पर निरपेक्ष आत्मपूर्णता की प्रतीति ही उसका आनन्द है—अन्य-निरपेक्षतैव परमार्थत आनन्दः। स एव परानपेक्षः पूर्णत्वादानन्दरूपः। (ईश्वर० प्र० वि०)

चित् अंश शिवभाव है और आनन्दांश शक्तिभाव है। स्वातन्त्र्य शक्ति ही आनन्द है। स्वतन्त्र का पूर्ण विमर्श ही शिव का स्वातन्त्र्य है। चैतन्यमात्मा (१.१) कहकर शिवसूत्रकार ने आत्मा को चित्स्वरूप निरूपित किया है।

आचार्य वरदराज ने शिवसूत्रवार्तिक में विश्व का पारमार्थिक स्वरूप चैतन्य ही स्वीकार किया है—चैतन्यमेव विश्वस्य स्वरूपं पारमार्थिकम्।[१]

शिवसूत्रविमर्शिनी में आचार्य क्षेमराज कहते हैं—

१. यदेतत् चैतन्यम् उक्तं स एव आत्मा स्वभावः।
२. चित्प्रकाशव्यतिरिक्तं किञ्चिद् उपपद्यत।
३. चैतन्यशब्देनोक्तं यत्किञ्चित् स्वातन्त्र्यात्मकं रूपम्।
४. चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतुः (प्र.हृ.१) आदि।

आनन्द शक्ति—परमशिव की पाँच शक्तियों में द्वितीय शक्ति आनन्द शक्ति है। स्वातन्त्र्य का अपर नाम आनन्द है। परमात्मा सृष्टि-रचना में किसी भी अन्य की अपेक्षा नहीं रखता। उसकी यह निरपेक्ष स्वतन्त्रता एवं स्वकार्य-निष्पादन में पूर्ण निरपेक्ष स्रष्ट्रित्व-क्षमता ही शिव का आनन्द है। आनन्द अंश शक्तिभाव है, जबकि शिवभाव चिदंश है। चिदानन्द में इच्छा-ज्ञान-क्रिया—इन तीनों का सामरस्य है—समरसीभूतता है। चिदंश एवं आनन्दांश (प्रकाश एवं विमर्श) का सामरस्य ही परमभाव है। इसी परमभाव को शैवागम में परासंवित् या परमशिव कहा गया है। 'स्वातन्त्र्यम् आनन्दशक्तिः' कहकर तन्त्रसार में स्वातन्त्र्य को ही आनन्द शक्ति स्वीकार किया गया है।

औन्मुख्य—शैवागमों में कहा गया है कि जिस प्रकार तरंगहीन एवं प्रशान्त जल में तरंगातिशय उत्पन्न होने के पूर्व एक सूक्ष्म कम्प आविर्भूत होता है, ठीक उसी प्रकार स्वात्मविश्रान्त संवित् तत्त्व में विश्वोन्मेष (जगद्रचना) के प्रति सूक्ष्मतम आकांक्षा जागृत होती है। इस सूक्ष्मतम विश्वोन्मेषमुखी आकांक्षा के आरम्भ को ही औन्मुख्य का अभिधान

---

१. शिवसूत्रवार्तिक (वरदराज)

दिया गया है। शिवदृष्टिवृत्ति में आचार्य उत्पलदेवाचार्य ने इसे अपने शब्दों में इस प्रकार व्याख्यात किया है—

यथा जलस्य पूर्वं निस्तरङ्गस्यातितरङ्गितां गच्छतः सूक्ष्मः पूर्वः कम्प औन्मुख्यरूपः दृश्यते तथा बोधस्य स्वस्वरूपस्थस्य पूर्णस्य विश्वरचनां प्रति अभिलाषमात्ररचनायोग्यताया यः विकासः प्रवृत्त्यारम्भस्तदौन्मुख्यं प्रचक्षते।

यह जो औन्मुख्य है, इसे ही भट्ट प्रद्युम्न ने तत्त्वगर्भ में किंचित् उच्छूनता कहा है। औन्मुख्य से ही इच्छा की उत्पत्ति होती है—इच्छाशक्तिः तस्यौन्मुख्यस्येच्छा कार्या। (उत्पलदेव)

आचार्य सोमानन्द की दृष्टि—आचार्य सोमानन्द शिवदृष्टि में कहते हैं—

गच्छतो निस्तरङ्गस्य जलस्यातितरङ्गिताम्।। (१३)
आरम्भे दृष्टिमापात्य तदौन्मुख्यं हि गम्यते।
व्रजतो मुष्टितां पाणेः पूर्वं कम्पस्तदेक्ष्यते।। (१४)
बोधस्य स्वात्मनिष्ठस्य रचनां प्रति निर्वृतिः।
तदास्था प्रविकासो यस्तदौन्मुख्यं प्रचक्षते।। (१५)
किञ्चिदुच्छूनता सैव महद्भिः कैश्चिदुच्यते।
तस्येच्छा कार्यतां याता यथा सेच्छः स जायते।। (१६)
औन्मुख्यस्य य आभोगः स्थूलः सेच्छा व्यवस्थिता।
नैवान्मुख्यप्रसंगेन शिवः स्थूलत्वभाक् क्वचित्।। (१७)

उत्पलदेवाचार्य कहते हैं कि उत्पत्तिक्रम में इच्छा के आद्य काल में जो कर्मनिष्ठा होती है—निर्वृत्ति प्राप्ति होती है, वह कर्मावच्छिन्ना निर्वृति ही औन्मुख्य है—उत्पत्ति-कथायां तु इच्छायाः पुरोभागे या तस्मिन् कर्मणि तत्कर्मनिष्ठा निर्वृतिप्राप्तिः तदौन्मुख्यं कर्मावच्छिन्ना निर्वृतिरौन्मुख्यम्। अनवच्छिन्ना निर्वृतिमात्रमानन्दशक्तिरिति यावत्।

औन्मुख्य इच्छा का प्रथम भाग है। सब कुछ एक ही शक्ति का स्वरूप है; अतः औन्मुख्य एवं आनन्द शक्ति में भी भेद नहीं है। तथापि भेद तो है ही।

आनन्द शक्ति एवं औन्मुख्य में भेद—स्वस्वरूपस्थ संवित् की सिसृक्षा (विश्वोन्मेषाकांक्षा) जो प्रथम विकास (प्रवृत्ति का आरम्भ) है, वह औन्मुख्य है। रचनाभिलाषा में रचनायोग्यता का प्रवृत्ति-आरम्भ भी एक कर्म है। औन्मुख्य में यह स्थित है; किन्तु आनन्द शक्ति में प्रवृत्ति-आरम्भ कर्म स्थित नहीं रहता। आनन्द शक्ति कर्म से अनवच्छिन्न रहती है।

इच्छा शक्ति—औन्मुख्य की उत्तरवर्ती अवस्था इच्छा शक्ति है। आचार्य उत्पलदेव कहते हैं कि—

१. औन्मुख्य—सा तुटिः (उन्मुखिता) इच्छा प्रथम भाग।

२. सा च (तुटिः) सूक्ष्मौन्मुख्यशक्तिरूपा (शिवदृष्टिवृत्ति)।

३. तस्यौन्मुख्यस्येच्छा कार्या। तस्य हि योऽसौ उत्तरो भागः सेच्छा व्यवस्थिता।[१]

४. कर्मावच्छिन्ना निवृतिरौन्मुख्यम् अनवच्छिन्ना निवृतिमात्रमानन्दशक्तिरिति यावत्। (शिवदृष्टिवृत्ति)

इस औन्मुख्य का उत्तरवर्ती भाग ही इच्छाशक्ति कहा जाता है। परमेश्वर की सिसृक्षा (विश्व की चिकीर्षारूप परामर्श) या इच्छात्मक विमर्श ही इच्छा शक्ति है। अभिनवगुप्त कहते हैं कि परमेश्वर के स्वभावैश्वर्य (आनन्द) के चमत्कार को इच्छा शक्ति कहते हैं—परामर्शो हि चिकीर्षारूपेच्छा।[२]

इसी इच्छा शक्ति को चिद्‌घन परमेश्वर ज्ञातृ-ज्ञान-ज्ञेय रूपों में आत्मावभासन की इच्छा करता है। विश्वात्मकभाव से परमेश्वर की उल्लसित होने की आकांक्षारूपता या बहिरुल्लिलासयिषा ही उसकी इच्छा शक्ति है।

ज्ञान शक्ति—जब इच्छा शक्ति विकसित होते हुये विश्व-सृजनव्यापार के प्रकाशन की शक्ति बन जाती है तब उसे ज्ञान शक्ति कहते हैं। उत्पलदेवाचार्य कहते हैं—

परतस्तस्मिन् विश्वलक्षणो कार्ये यज्ज्ञानं, तत्प्रकाशनशक्तिरूपता—चिदात्मनः सर्वप्रतिपतॄणामवेद्यमन्तःकरण इव प्रकाशमानं तत् कार्यं यतः सा ज्ञानशक्तिः।

(शिवदृष्टिवृत्ति)[३]

तन्त्रसार में कहा गया है कि तच्चमत्कार ही इच्छा शक्ति है—तच्चमत्कार इच्छाशक्तिः। और आमर्शात्मकता ज्ञान शक्ति है—आमर्शात्मकता ज्ञानशक्तिः।[४] सदाशिव ज्ञान शक्ति से युक्त है—ज्ञानशक्तिमान् सदाशिवः।

ज्ञान के आविर्भाव में दो पक्ष प्रधान हैं—१. ज्ञाता एवं २. ज्ञेय। जो शक्ति ज्ञाता एवं ज्ञेय—दोनों रूपों का अवभासन करके ज्ञान कराती है, उसे ज्ञान शक्ति कहते हैं—

एवमेतदिति ज्ञेयं नान्यथेति सुनिश्चितम्।
ज्ञापयन्ती जगत्यत्र ज्ञानशक्तिर्निगद्यते।।[५]

चिद्‌घन परमेश्वर अपने भीतर ज्ञाता एवं ज्ञेय—दोनों को अपने से अभिन्न रूप में अवभासित करता है और वे अभिन्न होते हुये भी भिन्नवत् प्रतीयमान होते हैं। जो शक्ति इनका (ज्ञाता-ज्ञान का) भिन्नवत् अवभासन कराती है, वही है—ज्ञान शक्ति।

तन्त्रसार में अभिनवगुप्त कहते हैं कि चिद्‌घन परमेश्वर की इच्छा शक्ति (स्वातन्त्र्य शक्ति) जब थोड़ी-सी वेद्योन्मुखी होती है तब वह ज्ञान शक्ति की संज्ञा प्राप्त करती है।

---

१. शिवदृष्टिवृत्ति
२. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी (भाग २)
३. उत्पलदेव : शिवदृष्टिवृत्ति (१.२१)
४. मालिनीविजयोत्तरतन्त्र
५. मालिनीविजयोत्तरतन्त्र (अधि. ३.६-७)

आचार्य उत्पलदेव ने भी यह स्वीकार किया है कि ज्ञानशक्ति में किंचित् वेद्योन्मुखता होती है। इसी कारण सदाशिव को ज्ञान शक्तिमय कहा गया है। सदाशिव तत्त्व में इदन्ता स्वरूपवेद्य अस्फुट-सा प्रतीत होता है—तत्र सदाशिवतत्त्वे इदंभावस्य ध्यामलता (अस्फुटता)।[१] शिवदृष्टि में कहा गया है—

ज्ञानशक्तिस्तदर्थं हि योऽसौ स्थूलं समुद्यमः। (प्र. आ. २१)

क्रिया शक्ति—परमशिव की पाँचवीं शक्ति क्रियाशक्ति है। क्रियाशक्ति का स्वरूप क्या है? मालिनीविजयवार्तिक[२] में कहा गया है कि परमेश्वर अपने प्रकाशस्वरूप में जिस शक्ति के द्वारा विश्वात्मक भाव से नाना पदार्थों का भेदावभासन करता है, उस भासना को ही क्रियाशक्ति कहते हैं—

भासना च क्रियाशक्तिरिति शास्त्रेषु कथ्यते।
यया विचित्रतत्त्वादिकलना प्रविभज्यते।।[३]

ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी (भाग-१) में कहा गया है कि इच्छा शक्ति ही उत्तरोत्तर उच्छूनस्वभाव के कारण क्रिया शक्ति के रूप में परिणत हो जाती है—इच्छाशक्तिश्च उत्तरोत्तरं उच्छूनस्वभावतया क्रियाशक्तिपर्यन्तीभवति।[४]

यह समस्त विस्फार केवल क्रिया शक्तिमात्र है—क्रियाशक्तेरेव अयं सर्वो विस्फारः।[५]

विश्वाभास में तीन शक्तियाँ ही प्रमुख हैं; जो निम्नांकित हैं—

१. इच्छा शक्ति २. ज्ञानशक्ति ३. क्रिया शक्ति

चित् शक्ति एवं आनन्द शक्ति इन तीनों शक्तियों की सत्ता का आधार हैं।

विमर्श (स्वातन्त्र्य) का स्वपरामर्शस्वरूप प्रकाश ही उसकी चिकीर्षास्वरूप इच्छा शक्ति है और इच्छा शक्ति के ही विश्वाभास में उत्तरोत्तर उच्छूनस्वभाव होते जाने से ज्ञान शक्ति और क्रिया शक्ति का उदय हुआ करता है। परमेश्वर की एक स्वातन्त्र्य शक्ति ही परिणत होकर ज्ञान शक्ति एवं क्रिया शक्ति का रूप ग्रहण कर लेती है। यह इच्छारूपा स्वातन्त्र्य शक्ति ही शिव का शिवत्व है। समस्त जगत् शक्तिमान शिव की शक्ति ही तो है—

शक्तयोऽस्य जगत्कृत्स्नं शक्तिमांस्तु महेश्वरः।[६]

स्वातन्त्र्यरूप इच्छा शक्ति ही संकुचित होकर अपूर्णम्मन्यतात्मक आणव मल बन जाती है।

ज्ञान शक्ति संकुचित होकर (भेददशा में) सर्वज्ञता से अल्पज्ञता प्राप्त करके

१. भास्करी (भाग २)
२. मालिनीविजयवार्तिक (१.१०)
३. मालिनीविजयवार्तिक (१.९०)
४. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी (भाग १)
५. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी (भाग १)
६. तन्त्रालोक (५.४०)

अन्त:करण एवं ज्ञानेन्द्रियता प्राप्त करने से अत्यन्त संकोच ग्रहण करती हुई देहादि भिन्न-भिन्न वेद्यों के विकास का स्वरूप प्राप्त करके मायीय मल बन जाती है।

भेददशा में जब क्रिया शक्ति की सर्वकर्तृता अल्पकर्तृत्व प्राप्त करके तथा कर्मेन्द्रिय-रूप संकोच ग्रहण करके अत्यन्त परिमिति प्राप्त कर लेती है तब शुभाशुभ कर्ममयात्मक कार्ममल बन जाती है।[१]

सर्वकर्तृत्व कला, सर्वज्ञत्व विद्या, पूर्णत्व राग, नित्यत्व काल एवं व्यापकत्व नियति बन जाते हैं।[२]

१. अप्रतिहतस्वान्त्र्यरूपा इच्छाशक्ति: संकुचिता सती—अपूर्णम्मन्यतारूपम् आणवं मलम्।

२. ज्ञानशक्ति: क्रमेण संकोचात् भेदे सर्वज्ञत्वस्य किञ्चिज्ज्ञत्वाप्ते: अन्त:करण-बुद्धीन्द्रियापत्तिपूर्वं अत्यन्तं संकोचग्रहणेन भिन्नवेद्यप्रथारूपं मायीयं मलम्।

३. क्रियाशक्ति: क्रमेण भेदे सर्वकर्तृत्वस्य किञ्चित्कर्तृत्वाप्ते: कर्मेन्द्रियरूपसंकोच-ग्रहणपूर्वम् अत्यन्तं परिमिततां प्राप्ता शुभाशुभानुष्ठामयं कार्ममलम्। (प्रत्यभिज्ञाहृदयम्)

श्रीमद् भट्टवामदेव की दृष्टि—

परमात्मा शिव का शक्तिपञ्चक—

१. तस्य प्रकाशरूपता चिच्छक्ति:।
२. स्वातन्त्र्यम् आनन्दशक्ति:।
३. तच्चमत्कार: इच्छाशक्ति:।
४. आत्मर्शात्मकता ज्ञानशक्ति:।
५. सर्वाकारयोगित्वं क्रियाशक्ति:।

यद्यपि परमात्मा की ये ही पाँच शक्तियाँ नहीं हैं; प्रत्युत परमात्मा की अनन्त शक्तियाँ तथापि उन्हें इन्हीं पाँच विभागों या वर्गों में वर्गीकृत कर दिया गया है—इत्थं सर्वशक्तियोगेऽपि आभिर्मुख्याभि: शक्तिभिरुपचर्यते। स च भगवान् स्वातन्त्र्यशक्तिमहिम्ना स्वात्मानं सङ्कुचितमिव आभासयन् 'अणु:'। इति उच्यते।

व्यापको हि शिव: स्वेच्छाक्लृप्तसङ्कोचमुद्रणात्।
विचित्रफलकर्मौघवशात्तत्तच्छरीरभाक् ।।

इति निजस्वरूपगोपनकेलिलोलम् एवं माहेशशक्तिपरिस्पन्दं प्रवरगुरव: प्रतिपेदिरे। तथा च आहु:—

अतिदुर्घटकारित्वात्स्वाच्छन्द्यान्निर्मलादसौ ।
स्वात्मप्रच्छादनक्रीडापण्डित: परमेश्वर:।।
अनावृते स्वरूपेऽपि यदात्माच्छादनं विभो:।
सैवाविद्या यतो भेद एतावान्विश्ववृत्तिक:।।[३]

१-२. प्रत्यभिज्ञाहृदयम् ३. श्रीमद्वामदेवाचार्य : जन्ममरणविचार।

आचार्य अभिनवगुप्तपाद की दृष्टि—आचार्य अभिनवगुप्तपाद तन्त्रालोक (३. आ.-३) में कहते हैं कि सम्पूर्ण जगत् शक्तियों का ही स्वरूप है—शक्तयोऽस्य जगत्कृत्स्नम्........................,। कौलिकी शक्ति का प्रसार ही यह समस्त विश्व है। अकुल स्वरूप शिव का शाक्त प्रसार ही यह जगत् है। परा सूक्ष्मा कुण्डलिनी शक्ति शिव के साथ सामरस्यरूप मथ्य-मथक भाव से संघट्टित होकर उल्लसित होती है। इस उल्लास के तीन रूप हैं—१. इच्छा शक्ति २. ज्ञान शक्ति ३. क्रिया शक्ति।

रौद्री शक्ति को उन्मुद्रित करके कुण्डलिनी ही (शृंगाटक का रूप) अम्बिका शक्ति का आश्रय लेकर उकारात्मक चन्द्रकला का आकार धारण करती है। यह ज्येष्ठा शक्ति होती है। पुन: शशिबिन्दुओं से कालाग्नि रेफ बिन्दुओं की परम्परा से रेखा नि:सृत होती है और इस स्फुरण से निर्मित वर्णाकृति 'अ' है। यह जो परा सूक्ष्मा शक्ति है, उसे निराचारा कहा गया है—

या सा शक्ति: परा सूक्ष्मा निराचारेति कीर्तिता।

'अ' का शिर रौद्री है, मुख वामा है, बाहु अम्बिका शक्ति है और आयुध ज्येष्ठा शक्ति है—

अकारस्य शिरो रौद्री वक्त्रं वामा प्रकीर्तिता।
अम्बिका बाहुरित्युक्ता ज्येष्ठा चैवायुधं स्मृता।।

अकार और हकार (शिव और शक्ति) का यामल ही जगत् है—

न शिव: शक्तिरहितो न शक्ति: शिववर्जिता।
यामलं प्रसरं सर्वं..।।

इन्हीं शिव-शक्ति का यामल विश्व का उद्भावक है। विश्वसर्ग का समुल्लास इसी दिव्य यामल की परिणति है। यामल ही संघट्ट है और यही आनन्दशक्ति है और इसी से ही विश्व का विसर्ग होता है। यामलभाव शिव-शक्ति या अकुल-कौलिकी का होता है। संघट्ट है—परस्पर स्पन्दात्मक औन्मुख्य। औन्मुख्य है—सृष्टि की ओर उन्मुखता, स्वात्मोच्छलत्ता। इसे ही कहा जाता है—प्रकाश-विमर्श के शक्तियों का मिलन। इससे आनन्द शक्तिरूप 'आ' का उदय होता है। इसी आनन्द शक्ति से इच्छादिरूप विश्व का सृजन होता है। प्रकाशरूप पुरुष एवं विमर्शरूप नारी के परस्पर मिलन से ही जगत् की सृष्टि होती है।[१]

अकार: शिव इत्युक्तस्तथकार: शक्तिरुच्यते। (सोमानन्दपाद)

अ, आ, इ, ई, उ, ऊ का रहस्य—आचार्य अभिनवगुप्त ने अ, आ, इ, ई, उ आदि वर्णों के रहस्य का परात्रिंशिकाविवृत्ति में इसी प्रकार रहस्योद्घाटन किया है। वे कहते हैं—

१. जयरथ, तन्त्रालोक की टीका : विवेक (आह्निक ३)

अ—परमेश्वरस्य स्वात्मनि इच्छात्मिका स्वातन्त्र्यशक्तिरनुन्मीलितभावविकासा तथाविधान्तर्घनसंवित्स्वभावविमर्शसारा 'अ' इत्युच्यते।

आ—भैरवशक्तिमद्विमर्शसत्तेयं तादृश्येव पुनः प्रसरन्ती आनन्दशक्तिः 'आ' इति प्रसृता।

इ—इच्छैव भाविज्ञानशक्त्यात्मकस्वातन्त्र्येण जिघृक्षन्ती ईशनरूपा 'ई' इति।

उ—उन्मिषन्ती तु ज्ञानशक्तिरिष्यमाणसकलभावोन्मेषमयी 'उ' इति।

ऊ—सुस्फुटा प्रसृता ज्ञानशक्तिः 'ऊ' इति।[१]

भैरव की दो शक्तियाँ प्रधान हैं—१. इच्छा शक्ति एवं २. ज्ञानशक्ति[२]। क्रियाशक्ति क्या है? अभिनवगुप्तपाद परात्रिंशिकाविवृति में कहते हैं कि यहाँ इच्छा एवं ज्ञान दोनों का प्रसार भी सम्मिलित है और इसका स्वरूप इस प्रकार है—

क्रियाशक्तिस्तु प्रसरन्ती विचार्यते—इच्छाज्ञाने एव परस्परस्वरूपसाङ्कर्यवैचित्र्य-चमत्कारमयपूर्वापरीभूतस्वरूपपरिग्रहे संरभसारा क्रिया।[३]

नेत्रतन्त्रकार की दृष्टि—एकात्मिका परा शक्ति एक होकर भी विविध प्रकारों में परिणत हो गई है। उन्हीं के माध्यम से भगवान् शिव समस्त व्यापारों का निष्पादन किया करते हैं—

इच्छाज्ञानक्रियारूपा सा चैका शक्तिरुत्तमा।
तया प्रकुरुते नित्यं शक्तिमान्स शिवः स्मृतः।।[४]

नेत्रतन्त्र की दृष्टि से ज्ञानशक्ति परा सूक्ष्मा मातृकास्वरूपा है। यही समस्त मन्त्रों की उद्भाविका है, यह सर्वत्र अरणिस्वरूपा है—

ज्ञानशक्तिः परा सूक्ष्मा मातृकां तां विदुर्बुधाः।
सा योनिः सर्वमन्त्राणां सर्वत्रारणिवत्स्थिता।।

स्वच्छन्दतन्त्रकार की दृष्टि—विद्यादेह भगवान् के देह के अंगों में ३२ अक्षर उनके अवयव माने गये हैं। उस स्वरूप में भी तीनों शक्तियाँ सम्बद्ध हैं—

---

१. अभिनवगुप्तपादाचार्य : परात्रिंशिकाविवृति।

२. परात्रिंशिकाविवृति—परमेश्वरस्य भैरवस्य द्वे शक्ती, प्रथमा स्वरूपपरिपूरणारूपत्वात् पूर्णा चान्द्रमसीशक्त्यव्यतिरेकाच्च सहोमया वर्तत इति सोमरूपा स्वानन्दविश्रान्तिस्वभावा इच्छाख्या कलना महासृष्टिव्यपदेश्या। द्वितीया तु तत्स्वरूपभावराशिरेचनानुप्रवेशोद्रिक्ता तद्रचनादेव कृशा भावमण्डलप्रकाशनप्रसारणव्यापारा सूर्यरूपा स्वरूपभूता कुलसंवित्सञ्जिहीर्षात्मिका महासंसारशक्तिर्ज्ञानाख्या।

३. अभिनवगुप्तपाद : परात्रिंशिकाविवृति

४. नेत्रतन्त्र

१. चतुर्थस्वरसंयुक्तं हान्तं बिन्दुविभूषितम्।
क्रियाशक्तिः समाख्याता सर्वसृष्टिप्रकाशिता।। (स्वच्छन्दतन्त्र)

२. शकारस्य तृतीयं तु षष्ठयुक्तं सबिन्दुकम्।
ज्ञानशक्तिः स्मृता ह्येषा प्रबोधजननी शुभा।।६७।। (स्वच्छन्दतन्त्र)

३. क्षादिद्विस्वरसम्भिन्नं त्रिपञ्चेन तु मूर्च्छितम्।
इच्छाशक्तिः समाख्याता भैरवस्यामितात्मिका।। (स्वच्छन्दतन्त्र)
तयोर्यद्यामलं रूपं स संघट्ट इति स्मृतः।
आनन्दशक्तिः सैवोक्ता यतो विश्वं विसृज्यते।। (३.६८)

इसके ही नामान्तर सार, हृदय एवं पर एवं प्रभु हैं—

परापरात्परं तत्त्वं सैषा देवी निगद्यते।
तत्सारं तच्च हृदयं स विसर्ग परः प्रभुः।। (३.६९)

उसके मध्य—परा देवी, दक्षिण भाग में परापरा, वाम शृंग में अपरा, मध्य शृङ्ग के ऊर्ध्व भाग में संकर्षिणी परातीत देवी हैं। सार, हृदय, विसर्ग, पर, कालसंकर्षिणी एवं मातृसद्भाव आदि नामों से यह आनन्द शक्ति ही प्रख्यात है।

आनन्द तो ब्रह्म का ही रूप है—आनन्दो ब्रह्मणो रूपम्। आनन्द में चित्प्राधान्य है। परप्रमाता में सिसृक्षा का प्रत्यवमर्श होता है। वही इच्छा शक्ति है। शक्तियों की प्रभु परा शक्ति है।

इच्छा शक्ति के द्वारा ही चिन्मयता के चरमोत्कर्ष के आनन्द का महोल्लास होता है और उन्मुखता की चिन्ता होती है। चिन्ता ही इच्छा की प्रथम तुटि है। इच्छा शक्ति स्पन्दात्मिका होती है। इसमें बाह्यौन्मौख्य होता है। यह दो प्रकार की होती है—

१. सर्जन में अनारूषित इच्छामात्र रूपा।

२. प्रक्षुब्धता के कारण प्रयत्न-प्रवृत्ता।।

प्रत्यभिज्ञा में कहा गया है कि स्रष्टव्य से विप्रकृष्ट वह केवल इच्छारूप होती है, दूसरी प्रयत्न-प्रवृत्त सन्निकृष्टा। इस साक्ष्य से इसके दो भेद होना प्रमाणित है।

इच्छाशक्ति के दो प्रकार हैं। इसका 'प्रयत्न-प्रवृत्त संनिकृष्टा' स्वरूप क्या है? प्रक्षुब्ध स्थिति में जब इच्छाशक्ति का ऐश्वर्य दृष्टिगोचर होता है तब वह बाह्य रूप में स्फुरित होता है। भेद के कारण इसे 'घोर' कहते हैं। बाह्यावभासन ही इनका ऐश्वर्य है। ये भी स्वरूप-प्रकाशन में सदा समर्थ होती हैं। इससे चतुर्थ स्वर की उत्पत्ति होती है।

स्पन्द, नाद, एजन एवं इच्छा शक्ति—सकल, सच्चिदानन्द (सगुण ब्रह्म) में जो इच्छा—सोऽकामत, तदैक्षत आदि श्रुति-वाक्यों में अभिव्यक्त परमात्मा की आकांक्षा—व्यक्त हुई, वह एक प्रकार का स्पन्द या कम्पन (Vibration) है। इसे ही उपनिषदों

में 'एजन' कहा गया है। नाद या शब्द कम्पन का ही मूर्त रूप है। इसी कारण शैव-शाक्त आगमों में ब्रह्म या शिव की इस इच्छा को 'नाद' की आख्या प्रदान की गई है। यह स्पन्द अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण श्रुतिगम्य नहीं है। इच्छा ही नाद है। इच्छा के साथ अनुविद्ध क्रिया ही बिन्दु है। शक्ति से नाद की उत्पत्ति हुई और नाद से बिन्दु की उत्पत्ति हुई।

सच्चिदानन्दविभव सकल परमेश्वर → शक्ति → नाद → बिन्दु—

सच्चिदानन्दविभवात् सकलात् परमेश्वरात्।
आसीच्छक्तिस्ततो नादस्तस्माद्बिन्दुसमुद्भवः।।

सकल (सगुण) परमात्मा की इस शक्ति को ज्ञानशक्ति कहते हैं।

१. परमात्मा की उक्त शक्ति = ज्ञानशक्ति है।
२. .... नादशक्ति = इच्छाशक्ति है।
३. .... बिन्दु शक्ति = क्रियाशक्ति है।
४. त्रिकोण = यही है—ज्ञान-इच्छा-क्रिया का त्रिकोण।

गति = नाद या इच्छाशक्ति = गति है।

स्थिति = बिन्दु या क्रियाशक्ति = स्थिति है।

आकार = गति + स्थिति मिलकर आकार प्रकट करते हैं।

आकार = गति + स्थिति → आकार।

मानसोल्लासकारिका में सुरेश्वराचार्य कहते हैं कि बिन्दु-नाद, शिव-शक्ति ही परमतत्त्व हैं—

बिन्दुनादौ शक्तिशिवौ शान्तातीतौ ततः परम्।
षट्त्रिंशत्तत्त्वमित्युक्तं शैवागमविशारदैः।।

प्रकाश, बिन्दु एवं शिव ये परब्रह्म के पर्याय हैं। निर्गुण निराकार ब्रह्म में जब सृजनेच्छा होती है तो इसी सिसृक्षा से प्रकाश से विमर्श, बिन्दु से नाद, शिव से शक्ति का उद्भव होता है। इसे ही इच्छा शक्ति, चिच्छक्ति एवं महा शक्ति कहते हैं। इसी से ज्ञान शक्ति एवं क्रिया शक्ति का विकास होता है।

महात्रिपुरसुन्दरी और शक्तियाँ—इच्छा शक्ति, ज्ञान शक्ति एवं क्रिया शक्ति आदि शक्तियाँ राजराजेश्वरी पराभट्टारिका महात्रिपुरसुन्दरी की निजी शक्तियाँ हैं—उनका स्वरूप हैं। ब्रह्माण्डपुराण (ललितासहस्र) में कहा गया है कि भगवती त्रिपुर-सुन्दरी स्वयमेव इच्छास्वरूपा, ज्ञानस्वरूपा एवं क्रियास्वरूपा हैं—

इच्छाशक्तिज्ञानशक्तिक्रियाशक्तिस्वरूपिणी।[१]

---

१. शिवसूत्र

विभिन्न ग्रन्थों की विभिन्न दृष्टियाँ

संकेतपद्धति में कहा गया है—

इच्छा शिरप्रदेशश्च ज्ञाना च तदधोगता।
क्रियापदगता ह्रस्या एवं शक्तित्रयं वपुः।।

वामकेश्वरतन्त्र में भी कहा गया है—

त्रिपुरा त्रिविधा देवी ब्रह्मविष्ण्वीशरूपिणी।
ज्ञानशक्तिः क्रियाशक्तिरिच्छा-शक्त्यात्मिका प्रिये।।

लिंगपुराण में कहा गया है—

धृतिरेषा मदादिष्टा ज्ञानशक्तिः कृतिर्मता।
इच्छारूपा तथा ज्ञाना द्वे विद्ये च संशयः।।

यज्ञवैभवखण्ड की दृष्टि—

क्रियाशक्ति के विभिन्न रूप

स्पन्द | परिस्पन्द | प्रक्रम | परिशीलन | प्रचार

स्पन्दश्चैव परिस्पन्दः प्रक्रमः परिशीलनः।
प्रचार इति विद्वद्भिः कथिताः पञ्च ताः क्रिया।।

मालिनीविजयतन्त्र की दृष्टि—

या सा शक्तिर्जगद्धातुः कथिता ब्रह्मणः परा।
इच्छात्वं तस्य सा देवी सिसृक्षोः प्रतिपद्यते।।
एवमेतदिति ज्ञेयं नान्यथेति सुनिश्चितम्।
ज्ञापयन्ती झटित्यन्तर्ज्ञानशक्तिर्निगद्यते।।
एवंभूतमिदं वस्तु भवत्विति यदा पुनः।
ज्ञात्वा तदेव तद्वस्तु कुर्वन्त्यत्र क्रियोच्यते।।

वासिष्ठ रामायण की दृष्टि—

शिवं ब्रह्मबिन्दुः शान्तमवाच्यं वाग्विदामपि।
स्पन्दशक्तिस्तदिच्छेयं दृश्याभासं तनोति सा।
साकारस्य नरस्येच्छा यथा वै कल्पनापुरम्।।

प्रथम स्पन्द, स्पन्दन एवं ओम्—यदि प्रथम स्पन्द नाद के रूप में व्यक्त हुआ तो हमारी वर्णमात्रा में सर्वाधिक सूक्ष्म शब्द तो 'अ' है और स्थूल वर्ण (ओष्ठ्य वर्ण) 'म' है। यह ओष्ठ एवं नासिका दोनों से सहायता लेकर उच्चरित हो जाता है। मूल स्वर (या नाद) अकार है। प्रथम स्पन्द 'अ' रूप में गतिशील हुआ। यदि केवल

गतिशील ही रहे तो स्पन्द एवं कम्पन नहीं होंगे, अत: गति के साथ स्थिति भी चाहिये। नाद ही गति है और बिन्दु ही स्थिति है। गति और स्थिति का विलास ही विश्व है।

सृष्टि के लिये दो तत्त्व चाहिये—१. गतिरूप नाद एवं २. बिन्दु।

मकार अनुस्वार या चन्द्रबिन्दु में रूपान्तरित हो जाता है। 'अ' के साथ 'म' का संयोग होने से 'अ' की मात्रा 'म' तक आकर समाप्त हो गई। उच्चारण के स्थान की दृष्टि से कण्ठ (अ) से ओष्ठ (म) तक की यात्रा समाप्त होने के पूर्व (ओष्ठ बन्द होने के पूर्व) 'अ' एवं 'म' के मध्य 'उ' का उदय हो जाता है और 'अ' 'उ' एवं 'म' = 'ॐ' (अ + उ + म = ओम्) उदित हो जाता है। इस प्रकार प्रथम स्पन्द 'अ उ म' हुआ। यह कम्पन उत्पन्न होकर रुक नहीं गया; प्रत्युत लगातार चलता रहा और अनन्त काल तक चलता रहेगा; क्योंकि यदि बन्द हो जाय तो स्पन्दन कहा कैसे जाएगा? अ + उ + म—इन तीन अक्षरों का मिलित रूप है—'ओम्'।

विश्वव्यापी आद्य स्पन्द (Cosmic Vibration) इसी प्रकार का रहा होगा। यह ॐ (ओंकार) ही विश्वारम्भ है। निर्गुण ब्रह्म सगुण ब्रह्म के रूप में शब्दब्रह्म के स्वरूप में अवतरित हुआ। इसे प्रणव इसलिये कहा जाता है; क्योंकि इसकी नवीनता कभी कम पड़ी ही नहीं। यही नाथों का 'सूक्ष्म वेद' है। यही गीता का 'एकाक्षर ब्रह्म' है।

सारे आगम मानते हैं कि ॐ (शब्द) से सृष्टि हुई। आगम में ज्ञानशक्ति को बीज, इच्छाशक्ति को नाद एवं क्रियाशक्ति को बिन्दु कहा गया है। ये ही हैं—ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव।

एकोऽहं बहु स्याम = प्रथम स्पन्द = आद्य इच्छा—परमात्मा को इच्छा हुई कि एकोऽहं बहुस्याम (एक से अनेक हो जाऊँ)। यही इच्छा है—प्रथम स्पन्द। ज्ञान से इच्छा हुई—एकोऽहं = ज्ञान। बहुस्याम् = इच्छा। ज्ञान से इच्छा का उदय हुआ। इच्छा क्रियास्वरूप बन गई। इस तरह ज्ञान-इच्छा-क्रिया का त्रिकोण उदित हुआ। समस्त विश्व ई—इच्छा, ज्ञान एवं क्रियाशक्ति का परिणाम है। ज्ञान-इच्छा क्रिया का यह त्रिपुटीभाव त्रिपुरा शक्ति की संज्ञा से प्रख्यात है। यह परमात्मा की शक्ति है।

निर्गुण ब्रह्म में जैसे ही इच्छाशक्ति आविर्भूत होती है, वह सगुण ब्रह्म बन जाता है। सृष्टि का विधायक सगुण ब्रह्म ही है। शैवागम इस सगुण ब्रह्म को 'अपरशिव' एवं वेदान्त 'अपर ब्रह्म' कहता है। चूँकि सगुण ब्रह्म सकल परमात्मा है अर्थात् वह कला के साथ संयुक्त है; अत: प्रथमा कला इसी अपरशिव से सबसे प्रथम व्यक्त होती है। सकल = कलायुक्त सकल परमात्मा।

सच्चिदानन्द विभव परब्रह्म (परम शिव) → सगुण (अपरं ब्रह्म) सकल परमेश्वर। सगुण ब्रह्म (सकल परमात्मा) में जो इच्छा हुई, वह एक प्रकार का स्पन्द (कम्पन = Vibration) है।

यह भी ज्ञातव्य है कि ओम की भाँति ही 'अ' 'आ' 'इ' 'ई' 'उ' 'ऊ'—इन षडक्षरों से समस्त मातृकाओं का जन्म हुआ है। इच्छा और उन्मेष अभिन्न हैं।

क्षुभिता एवं अक्षुभिता इच्छाशक्ति—इच्छाशक्ति के चार रूप हैं। इच्छाशक्ति क्षुभिता एवं अक्षुभिता अवस्थाओं के कारण द्विप्रकारात्मक है। यह स्वात्म में इष्यमाण वस्तु को दो प्रकार से धारण करती है। इष्यमाण प्रकाशरूप भी होता है और विश्रान्ति-रूप भी होता है। स्वात्माधार में यह द्विरूपता प्रकाश एवं प्रकाशस्तम्भ सारूप्य के कारण होती है—

इच्छाशक्तिर्द्विरूपोक्ता क्षुभिताक्षुभिता च या।
इष्यमाणं हि सा वस्तु द्वैरूप्येणात्मनि श्रयेत्।।७८।।[१]

तन्त्रालोककार की दृष्टि—इच्छा शक्ति की क्षुभितावस्था में विद्युत् की प्रकाशमयता के कारण अग्नि की श्रुतिमात्र स्थिति उत्पन्न हो जाती है। प्रथमावस्था की अपेक्षा यहाँ कुछ अधिक उल्लास होता है; पार्थक्य-प्रथा नहीं। इसी प्रकार अक्षुभितावस्था में धरात्मक स्थिरता का संस्कार लेकर उसमें धरा बीज की श्रुति भी स्फुरित होती है। यह भी द्वितीयावस्था की बीजावस्था है, साक्षात् वर्णसत्ता नहीं। वर्ण की श्रुति वर्ण नहीं मानी जाती; प्रत्युत यह एक प्रकार की जात्यन्तर प्रवृत्ति है। इसीलिये ऋ ॠ ऌ एवं ॡ—ये चारों वर्ण नपुंसक माने जाते हैं—

ऋ ॠ ऌ ॡ चतुष्कं च नपुंसक गणस्तथा।

अक्षुब्धा इच्छा ऋ और क्षुब्धा ॠ—ये दोनों वर्ण धरा-संस्कार से रुषित अवस्था में ऌ एवं ॡ हो जाते हैं। इच्छा शक्ति में इष्यमाण भाव के स्फुरण से एक नया पृथक् परामर्श उदित होता है।[२]

उन्मेष शक्ति ही ज्ञान शक्ति है। इच्छा शक्ति में इष्यमाण समापत्ति जैसे अनन्त आन्तरिक उत्पाद का कारण है, उसी प्रकार ज्ञान शक्ति उत्पत्ति का कारण नहीं मानी जाती; अपितु वह भिन्नवस्थान मानी जाती है। इच्छा शक्ति में इष्यमाण रूप से उत्पन्न भाववर्ग का ज्ञान शक्ति में अभिव्यंजन होता है और उन्हीं का क्रिया शक्ति में बाह्यावभास होता है। इच्छा शक्ति में इष्यमाण का अपूर्व उत्पाद होता है। ज्ञान शक्ति में ऐसा नहीं होता; अपितु उसका परामर्श होता है; अन्य परामर्श नहीं होता।

इच्छाशक्ति में इष्यमाण समापत्ति से चार वर्ण श्रुतियाँ होती हैं। इनकी पृथक् प्रतीतिमात्र होती है; किन्तु वे पृथक् नहीं होतीं।

इच्छा शक्ति की इस चतुर्धात्मकता को परामृत कहते हैं। इनमें कोई नूतन क्षोभ नहीं होता। इसलिये ये किसी अन्य वर्ण के बीज नहीं माने जाते। परामृत स्वात्ममात्र में ही विश्रान्त होते हैं। यह एक प्रकार का परात्मक चमत्कार है।[३]

१. तन्त्रालोक २. तन्त्रालोक ३. शिवसूत्र

शिवसूत्रकार की दृष्टि—इच्छाशक्तिरुमा कुमारी (१.१३)[१]। योगीश्वरं शिवं वन्दे, वन्दे योगेश्वरं हरिम्—के अनुसार परमात्मा योगी है। विस्मयकारिणी योग भूमिका में अवस्थित योगी की इच्छा भगवती के उमा एवं कुमारी—दोनों स्वरूपों का प्रतिनिधित्व करती है। उमा एवं कुमारी—दोनों ही भगवती के नाम हैं।

कुमारी = बच्चों की भाँति निरुद्देश्य एवं स्वान्त:सुखाय स्वाभाविक रूप से क्रीडा करने वाली। जीवन्मुक्तों की भी यही अवस्था रहती है—बालोन्मत्तपिशाचवत्। यही अवस्था गीता (३.१७) में इस प्रकार बताई गई है—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानव:।
आत्मन्यैव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते।।

मुण्डकोपनिषद् (३.१४) में इस अवस्था को इस प्रकार चित्रित किया गया है—

आत्मक्रीड: आत्मरति: क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठ:।

आचार्य क्षेमराज शिवसूत्रविमर्शिनी (१.१३) में कहते हैं कि परभैरवतासम्प्राप्त योगियों की जो इच्छा होती है, वह उमा शक्ति है—वह परा पारमेश्वरी स्वातन्त्र्यरूपा है और साथ ही वह कुमारी अर्थात् विश्वसर्गसंहाररूप क्रीडापरा है। 'कुमार क्रीडायाम्' धातु से कुमार शब्द का सम्बन्ध क्रीड़ा से होने के कारण इच्छाशक्ति कुमारी रूप में विश्व की सृष्टि-स्थिति-संहाररूपा क्रीड़ा की विधायिका है—योगिन: परभैरवतां समापन्नस्य या इच्छा सा शक्तिरुमा, परैव पारमेश्वरी स्वातन्त्र्यरूपा, सा च कुमारी विश्वसर्गसंहारक्रीडापरा।

मृत्युंजयभट्टारक में कहा गया है कि इच्छा शक्ति मेरी स्वाभाविक शक्ति है—

सा समेच्छा पराशक्तिरवियुक्ता स्वभावजा।
वह्नेरूष्मेव विज्ञेया रश्मिरूपा रवेरिव।
सर्वस्य जगतो वापि सा शक्ति: कारणात्मिका।।

अर्थात् इच्छा मेरी परा शक्ति है। यह मेरी स्वाभाविक शक्ति है। यह उसी प्रकार मुझसे अभिन्न है यथा वह्नि के साथ ऊष्मा या रवि के साथ रश्मि। स्पन्दशास्त्र में भी कहा गया है—

न हीच्छा नोदनस्यायं प्रेरकत्वेन वर्तते।
अपि त्वात्मबलस्पर्शात्पुरुषस्तत्समो भवेत्।।

आचार्य क्षेमराज शिवसूत्रविमर्शिनी में कहते हैं कि योगियों की इच्छा स्थूलेच्छा नहीं हुआ करती; प्रत्युत यह तो परा शक्तिस्वरूपा सर्वत्र अप्रतिहता इच्छा होती है—एवं न लौकिकवदस्य योगिन: स्थूलेच्छा अपितु परा शक्तिरूपैव सर्वत्राप्रतिहता। स्वच्छन्दतन्त्र में कहा भी गया है—

---

१. शिवसूत्रविमर्शिनी

सा देवी सर्वदेवीनां नामरूपैश्च तिष्ठति।
योगमायाप्रतिच्छिन्ना कुमारी लोकभाविनी।।

अत: शिवसूत्र में 'इच्छा शक्तिरुमा कुमारी' (सूत्र-१.१३) कहकर इच्छा शक्ति की व्याख्या अभेदोत्पादिका तथा भोक्त्री पारमेश्वरी शक्ति के रूप में की गई है—कुं भेदोत्थापिका मायाभूमिं पारयति अनुदितन्न प्रसरा करोति तच्छीला कुमारी। कुमारी च परानुपभोग्या भोक्त्रैकात्म्येन स्फुरन्ती।

वरदराज शिवसूत्रवार्तिक में इसी भाव की पुष्टि करते हैं—

परभैरवतां युक्त्या समापन्नस्य शाश्वतीम्।
तस्यैव योगिनो येच्छाशक्ति: सैव भवत्युमा।।६७।।
परा भट्टारिका सैव कुमारीति प्रकीर्तिता।
सदाशिवादिक्षित्यन्तविश्वसर्गादिलीलया ।।६८।।
उमा कुमारी संत्यक्तसर्वासङ्गा महेशितु:।
आराधनपरा तद्वदिच्छा शक्तिस्तु योगिन:।।७१।।

भावनोपनिषद् की दृष्टि—इसमें कहा गया है कि भगवती महात्रिपुरसुन्दरी ही इच्छाशक्ति हैं। पीठ क्रियाशक्ति है और कुण्डलिनी ज्ञानशक्ति है—क्रियाशक्ति: पीठम्। कुण्डलिनी ज्ञानशक्तिर्गृहम्। इच्छाशक्तिर्महात्रिपुरसुन्दरी।

सीतोपनिषद् की दृष्टि—इसमें कहा गया है कि भगवती सीता (मूल प्रकृति, प्रणव, प्रकृति, माया, सर्वदेवमयी, सर्वलोकमयी, सर्ववेदमयी, सर्वधर्ममयी, सर्वाधार-कार्यकारणमयी, महालक्ष्मी) एक परा शक्ति हैं, जिसके तीन भेद हैं—१. इच्छा-शक्ति २. क्रियाशक्ति ३. साक्षात्शक्ति। सा देवी त्रिविधा भवति शक्त्यात्मना इच्छाशक्तिक्रिया-शक्तिसाक्षाच्छक्तिरिति। (११)

इच्छाशक्ति के भेद

श्री भूमि नीला — भद्ररूपिणी — प्रभावरूपिणी सोमसूर्याग्निरूपा

श्रीभूमि नीलात्मिका
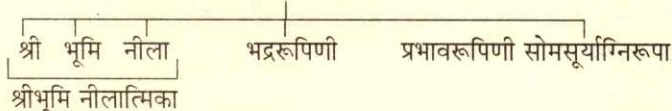
१. श्र्यात्मना भद्ररूपिणी।

२. भूम्यात्मना नानाविधपुण्यस्थलप्रभावरूपिणी।

३. नीलात्मना सोमसूर्याग्निरूपा।

सोम-सूर्य-अग्निरूपा शक्ति

सोमात्मिका	सूर्यात्मिका	अग्निरूपा
(औषधि, वनस्पति अमृतरूपा)	(सकलभुवनप्रकाशिनी)	(अन्नपान, क्षुधा, तृषाविधायिनी)
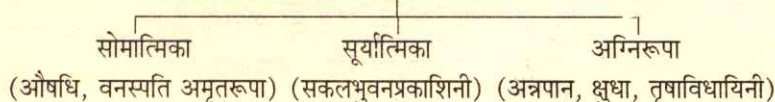
ज्ञान शक्ति—परमशिव की एक परात्पर शक्ति ज्ञान शक्ति भी है। जिस आद्यावस्था में प्रक्षुब्धावस्था नहीं रहती, उस समय एक ऐसा परामर्श था, जो स्वात्ममात्रनिष्ठ था। इसे 'एकवीरकपरामर्श' कहते हैं। वह अन्तर्विजिज्ञास्य विश्व के कारणरूप में अवस्थित था। उसी परामर्श से विश्वोन्मेषरूप आद्यस्पन्द सम्भव हुआ। उस रूप में अवस्थित उस परामर्श को ही ज्ञान शक्ति कहते हैं। यही पञ्चम बीज की उत्पत्ति का उत्स है।

इच्छाशक्ति द्वितीय का स्वरूप तो निम्नांकित है—

(सा केवलमिच्छामात्ररूपा स्त्रष्टव्यस्य विप्रकृष्टा।
काचित्पुनः प्रयत्नतामापन्ना सन्निकृष्टा।।)
सैव प्रक्षुब्धरूपा चेदीशित्री सम्प्रजायते।
तदा घोराः परा देव्यो जाताः शैवाध्वदैशिकाः।।७२।।

ज्ञानशक्ति का स्वरूप—

स्वात्मप्रत्यवमर्शो यः प्रागभूदेकवीरकः।। (७३)
ज्ञातव्यविश्वोन्मेषात्मा ज्ञानशक्तितया स्थितः।
इयं परापरादेवी घोरां या मातृमण्डलीम्।
सृजत्यविरतं शुद्धाशुद्धमार्गैकदीपिकाम्।। (७३)
मिश्रकर्मकलाशक्तिं पूर्ववज्जनयन्ति याः।
मुक्तिमार्गनिरोधिन्यस्ताः स्युर्घोरा परापरा।।

इसे दार्शनिक शब्दावली में कहा जाय तो कहा जायेगा कि यह उन्मेषमयी परापरा देवी घोरा है। यह शुद्ध एवं अशुद्ध दोनों मार्गों का अधःपात करने वाली स्थितियों की ओर उन्मुख करने वाली मातृशक्तियों का भी सृजन करने में समर्थ है और निरन्तर उनका सृजन करने में प्रवृत्त भी है। कहा भी गया है कि मिश्रित कर्मों के फलों की ओर आसक्त करती है और मुक्तिमार्ग की बाधिका भी है। यही परापरा शक्तियाँ घोरा हैं। यह पञ्चम बीज वर्ण के आद्यस्पन्द की अक्षुब्धावस्था में होने वाली अनुभूति का चित्रण है। इसे ही वर्णमातृका में उकार कहते है।

ज्ञानशक्ति के भेद—१. ज्ञेय का अनाधिक्य २. ज्ञेयाधिक्य।

ज्ञेयाधिक्यस्वरूपा ज्ञान शक्ति—जिस समय ज्ञेयांश विशेष रूप से उन्मेष के क्रमिक स्फुरणावस्था में होता है, उसमें तीव्रता आ जाती है और नील-पीत-सुख आदि की चित्रात्मकता भी आ जाती है, उस समय की अवस्था को क्षुभितावस्था कहते हैं। उस अवस्था में संवित् तत्त्व तनुता प्राप्त करता है। इसे ही ऊनता—अपूर्णता का अवभास कहते हैं। यह छठे वर्ण 'ऊ' के उदय की अवस्था है—

ज्ञेयांशः प्रोन्मिषन्क्षोभं यदैति बलवत्ततः।
ऊनताभासनं संविन्मात्रत्वे जायते तदा।। (३.७५)

अब तक व्याख्यात वर्णों का रहस्य क्या है?

१. अ = अनुत्तर परमशिव।

२. आ = आनन्द। निरतिशय स्वातन्त्र्य सुख।

३. इ = इच्छाशक्ति, सिसृक्षात्मक प्रत्यवमर्श, चित् के आनन्द की रचनात्मक स्फूर्ति।

४. ई = ईशित्री शक्ति। बहिरौन्मुख्यरूप प्रयास से पूर्ण ऐश्वर्यमयी शक्ति।

५. उ = उन्मेष शक्ति, ज्ञानशक्ति की अक्षुब्धावस्था।

६. ऊ = ज्ञान के परिवेश की क्षीणता, संवित् मात्र की तनुता, ऊर्मि की लहरों की भाँति संवित् की गहराई छोड़कर तरंग की चित्रात्मकता की सीमाबद्धता।

क्रिया शक्ति—विषयों में निमग्न पाशबद्ध पशुजनों को घोरतरी अपर शक्तियाँ अपने आवेश में लेकर और भी नीचे से नीचे गिरने के लिये बाध्य कर देती हैं। ये शक्तियाँ अशुद्ध अध्वा की अधिष्ठात्री होती हैं। पतन की ये निमित्त बनती हैं। अन्य अघोर शक्तियाँ इच्छा एवं ज्ञान शक्तियों से उत्पन्न होती हैं। इन तीन शक्तियों के संघट्ट के कारण भगवान् महेश्वर का त्रिशूलत्व सिद्ध होता है। यह चौदहवाँ परामर्शान्तर है। यह क्रिया शक्ति का स्फुटतम रूप है। अतः यहाँ इच्छा, ज्ञान और क्रिया का संघट्टरूप त्रिशूलता उत्पन्न हो जाती है। यहाँ भेद का प्राधान्य है। इसमें इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया शक्तियों का योग है।

ऊनता का आभास जब रूढ़ होने लगता है तब ज्ञेयरूप नील-पीत, सुख-दुःख आदि के अस्तित्व की आद्य आरम्भात्मक स्थिति होती है। साक्षात् सत्तात्मक स्थिति नहीं होती; क्योंकि यह क्रिया शक्ति के क्षेत्र में होता है। उस अवस्था में पार्थक्य प्रथा का प्रथन नहीं रहता, ज्ञेय वर्ग का बोध समुद्र में तरंगों की भाँति चित्रवत् स्फुरण तो रहता है; किन्तु वह कारणात्मक ही होता है। क्रिया शक्ति के स्फुरण का मानों वह बीज ही है। यह योगियों की अनुभूति का विषय है। यही स्थूल क्रिया शक्ति का जनक है।

बिन्दुसमवायवादियों की दृष्टि—तान्त्रिकों में जो भेदवादी चिन्तक थे, उनमें कतिपय दार्शनिक बिन्दुसमवायवादी थे। उनके मतानुसार शिव की समवायिनी शक्ति दो प्रकार की है—१. दृक् शक्ति या ज्ञान शक्ति और २. क्रिया शक्ति या कुण्ड-लिनी। क्रिया शक्ति का ही दूसरा नाम 'बिन्दु' है। माया इससे भिन्न है। स्वसमवेत ज्ञान शक्ति के द्वारा परमेश्वर का जगद्विषयक ज्ञान और क्रिया शक्ति के द्वारा उनकी जगद्रचना आविर्भूत होती है। ज्ञानशक्ति भिन्न-भिन्न पदार्थों को विषय करने से चरितार्थ होती है; किन्तु क्रियाशक्ति के विना वस्तु-निर्माणरूप फल नहीं हो सकता। यह ज्ञान एवं क्रियारूपा दो शक्तियाँ परमेश्वर में अविनाभूत रूप से प्रतिष्ठित हैं। क्रिया शक्ति-सम्बद्ध दीक्षा भी होती है, जिसके द्वारा महेश्वर पश्वात्मा को मुक्त करते हैं।

यद्यपि मूल रूप में भगवच्छक्ति चिदानन्दस्वरूप है तथापि इच्छा शक्ति, ज्ञान शक्ति एवं क्रिया शक्ति उस मूल अव्यक्त शक्ति की ही अभिव्यक्ति है। भगवान् की शक्तियों का तो कोई अन्त है ही नहीं; तथापि उनकी समस्त शक्तियों को प्रधानत: चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया—इन पाँच भागों में वर्गीकृत किया गया है। भगवान् की परा शक्ति में ये पाँचों शक्तियाँ अभिन्न रूपेण एकाकार हैं तथापि निम्न स्तर में व्यवहारार्थ इन शक्तियों में अभिन्नत्व रहने पर भी परस्पर भेद का स्फुरण हो जाता है। इसमें चित् और आनन्द उनके स्वरूप से अभिन्न होकर भी अतिरिक्त प्रमेय के सम्बन्ध से इच्छादि रूप में पृथक्-पृथक् संज्ञाओं से स्वरूप में नित्य समवेत रहते हैं। मूल शक्ति तो चित् शक्ति है। यह चित् शक्ति मानव शरीर में आन्तरिक शक्ति के रूप में विराजमान है।

चित् शक्ति मूल शक्ति है। जिस प्रकार स्वातन्त्र्य से चित् शक्ति आनन्दरूप में परिणत हो जाती है, उसी प्रकार आनन्द बहिर्मुख होने पर क्रमश: इच्छा-ज्ञान-क्रिया रूप में परिणत हो जाता है।

चित् शक्ति → आनन्दशक्ति → इच्छा-ज्ञान-क्रिया शक्ति।
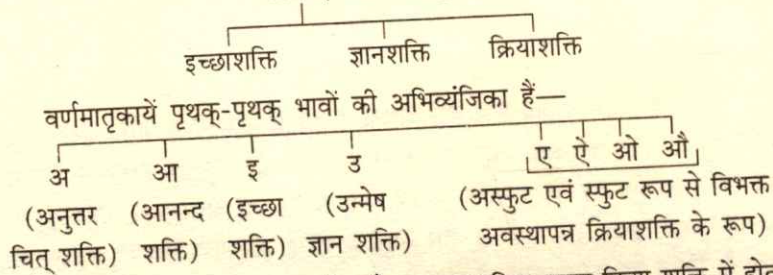
शक्ति का जो लगातार प्रसार होता है, उसका अन्तिम प्रसार क्रिया शक्ति में होता है। उसके अनन्तर शक्ति का प्रसार नहीं होता। इस अवस्था में शक्ति वहीं रुककर प्रत्यावृत्त होती है और मध्य की समस्त शक्तियों को गर्भीकृत करके और समष्टि रूप धारण करके बिन्दु बन जाती है। यह बिन्दु चित् शक्ति के साथ एकीकृत होकर तदात्मक हो जाता है। यह बिन्दु ही शिवबिन्दु है। बिन्दु अपने को दो बिन्दुओं ':' के रूप में प्रकट करता है और वही है—विसर्ग।

शिवबिन्दु → विसर्ग (यथा क:, :/:) यह बिन्दु की विसर्गलीला है। विसर्गलीला → तत्त्वों एवं भुवनों की सृष्टि। शिवबिन्दु (विसर्ग के प्रभाव से) → हकार → अहंभाव। शिवबिन्दु → अहंभाव का विकास—

अकार: सर्ववर्णाग्र्य: प्रकाश: परम शिव:।
हकारोऽन्त्यकलारूपो विमर्श: कथित: प्रिये।।

'अ' = प्रकाश। 'ह' = विमर्श। अ से ह = सम्पूर्ण वर्णमाला शिव (प्रकाश) एवं 'ह' (शक्ति) से सम्पुटित है; अत: मन्त्र है। वर्णमाला भगवान् की शक्तियों या रश्मियों का प्रतीक है। अहं—हकार प्राण का वाचक है। चित् शक्ति प्राण शक्ति के रूप में परिणत होकर विलोमक्रम से मूल स्थान में लौट आती है और 'अ' से मिल जाती है। इसी का नाम है—अहं। अ = पराशक्ति। सप्तदशी कला अमा भी है। यह नित्योदित है। यही अमृत कला भी है। १६ कलायें यही से उत्पन्न होती हैं। विसर्ग भी दो हैं—

१. पर विसर्ग (आनन्द) २. अपर विसर्ग (हकार या प्राण)।

शक्तिपञ्चक—पाँचों शक्तियों को हस्तामलकवत् व्याख्यात करना चाहें तो संक्षेप में इस प्रकार कह सकते हैं—

१. चित् शक्ति—इस प्रकाशरूपात्मिका शक्ति के द्वारा ही शिव अपने को स्व-प्रकाश समझते हैं।

२. आनन्द शक्ति—इसके द्वारा शिव आनन्दमय हैं और अपने में आनन्द का साक्षात्कार करते हैं।

३. इच्छा शक्ति—इसके द्वारा जगत् की सृष्टि, संहार एवं अन्य सभी व्यापारों का (शिव के द्वारा) निष्पादन किया जाता है।

४. ज्ञान शक्ति—इसके द्वारा शिव स्वयमेव ज्ञानस्वरूप हैं।

५. क्रियाशक्ति—इसके द्वारा शिव सभी स्वरूप धारण कर सकते हैं।

शिव इन पाँचों शक्तियों के द्वारा विश्व को उद्भासित, उन्मिषित एवं अभिव्यक्त करते हैं। शिव विना शक्ति के जड़वत् हैं। इसी शक्ति की सहायता से शिव अपने में अहं कबोध प्राप्त करते हैं। शंकराचार्य कहते हैं कि विना शक्ति के शिव हिल भी नही सकते—

शिव: शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्त: प्रभवितुं
न चेदेवं देवो न खलु कुशल: स्पन्दितुमपि।

चित्, चैतन्य, परावाक, परमात्मा का मुख्य ऐश्वर्य, कर्तृत्व एवं स्फुरत्ता आदि शब्द शक्ति के ही वाचक हैं।

सीतोपनिषद् में ही क्रिया शक्ति की भी विवेचना करते हुये कहा गया है कि—क्रियाशक्तिस्वरूपम् हरेर्मुखान्नाद:। तन्नादाद्बिन्दु:। बिन्दोरोङ्कार। ओंकारात् परतो राम-वैखानसपर्वत:। तत्पर्वते कर्मज्ञानमयीभिर्बहुशाखा भवन्ति। (२०)

मालिनीविजयोत्तरतन्त्रकार की दृष्टि—मालिनीविजयोत्तर के तृतीय अधिकार में कहा गया है कि भगवती के अनेक रूप हैं; यथा—

भगवती के विभिन्न रूप

इच्छा शक्ति ज्ञान शक्ति क्रिया शक्ति परा परापरा अपरा

१. इच्छाशक्ति—

या सा शक्तिर्जगद्धातुः कथिता समवायिनी।
इच्छात्वं तस्य सा देवि! सिसृक्षोः प्रतिपद्यते।।५।।
सैकापि सत्यनेकत्वं यथा गच्छति तच्छृणु।
एवमेतदिति ज्ञेयं नान्यथेति सुनिश्चितम्।।६।।

२. ज्ञान शक्ति—

ज्ञापयन्ती जगत्यत्र ज्ञानशक्तिर्निगद्यते।
एवम्भूतमिदं वस्तु भवत्विति यदा पुनः।।७।।

३. क्रिया शक्ति—

जाता तदैव तत्तद्वत्कुर्वत्यत्र क्रियोच्यते।
एवं सैषा हि रूपापि पुनर्भेदैरनेकताम्।।८।।
बीजमत्र शिवः शक्तिर्योनिरित्यभिधीयते।
माहेशी ब्राह्मणी चैव कौमारी वैष्णवी तथा।
ऐन्द्री याम्या च चामुण्डा योगीशी चेति ता मताः।।

१. परा शक्ति—

पूर्ववज्जन्तुजातस्य शिवधामफलप्रदाः।
पराः प्रकथितास्तज्ज्ञैरघोराः शिवशक्तयः।।३३।।

२. परापरा शक्ति—

मिश्रकर्मफलासक्तिं पूर्ववज्जनयन्ति याः।
मुक्तिमार्गनिरोधिन्यस्ताः स्युर्घोराः परापरा।।३४।।

३. अपरा शक्ति—

विषयेष्वेव संलीनानधोऽधः पातयन्त्यणून्।
रुद्राणून्याः समालिंग्य घोरतर्योऽपराः स्मृताः।।

१. अपरा = घोरतरी। परापरा = घोरा। परा = अघोरा।

अपरा शक्ति रुद्रात्माओं को घेरे रहती है और उन्हें इन्द्रिय विषयों की ओर गिराने एवं उनमें आसक्त करने का प्रयास करती है।

२. परापरा शक्ति भी जीवों की उन्नति के मार्ग में अवरोध उत्पन्न करती है और उन्हें सुख-दु:ख का भोग प्रदान करने के प्रयत्न में सदैव निरत रहती है।

३. परा शक्ति जीवों के परम पुरुषार्थ मोक्ष—शिवावस्था, भैरवापत्ति, शिवतादात्म्य प्राप्त कराने हेतु निरत रहती है।

परा—तिसृणां शक्तीनाम् इच्छा-ज्ञान-क्रियाणां सृष्ट्याद्युद्योगादिनामान्तरनिर्वाच्यानाम् ईशिका ईश्वरी, ईशना च ईशितव्याव्यतिरेकेणैव भाविनी—इति एतच्छक्तिभेदत्रयोत्तीर्णा-तच्छक्त्यविभागमयी संविद्भगवती भट्टारिका परा अभिधेयम्।[1]

परा भगवती संवित्प्रसरन्ती स्वरूपतः।
परेच्छाशक्तिरित्युक्ता भैरवस्याविभेदिनी।।
तस्या प्रसरधर्मत्वज्ञानशक्त्यादिरूपता।
परापरा-परारूप-पश्यन्त्यादिवपुर्भृतिः ।।

आचार्य अभिनवगुप्तपाद ने परा, परापरा एवं अपरा का स्वरूप-निर्वचन इस प्रकार किया है—[2]

परा शक्ति—यथेदं शिवादिधरण्यन्तमविकल्पसंविन्मात्ररूपतया बिभर्ति च पश्यति च भासयति च परमेश्वरः सास्य पराशक्तिः।

परापरा शक्ति—यथा दर्पणहस्त्यादिवत् भेदाभेदाभ्यां सा परापरा शक्तिः।

अपरा शक्ति—यथा परस्परविविक्ततात्मनाभेदेनैव सा अपरा शक्तिः।[3]

मालिनीविजयतन्त्र में कहा गया है—

अपरा शक्ति—

मायां तु मार्गसंशुद्धौ दीक्षाकर्मणि सर्वतः।
क्रियास्वनुक्तमन्त्रासु योजयेदपरां बुधः।।

परापरा शक्ति—

विद्यादिसकलान्तं च तद्वदेव परापराम्।
योजयेन्नेश्वरामूर्ध्वं नियत्यादिकमष्टकम्।।

परा शक्ति—

न चापि सकलादूर्ध्वमङ्गष्टङ्क विचक्षणः।
निष्कले परया कार्यं यत्किञ्चिद्विधिचोदितम्।।
ममैवाज्ञा पराशक्तिर्वेदसंज्ञा पुरातनी।
ऋग्यजुःसामरूपेण सर्गादौ सम्प्रवर्तते।।

यह वही परमा शक्ति है, जो विश्वविग्रहा है—प्राणिनामदृष्टवशात् स्वान्तःसंहृत-विश्वसिसृक्षया सैव परा शक्तिर्विमर्शरूपिणी स्वेच्छया विश्वरूपिणी विश्वं सृजति, शिव-स्तटस्थ उदासीन—

१-२. अभिनवगुप्तपादाचार्य : परात्रिंशिकाविवृति ३. परात्रिंशिकाविवृति

न तस्य कार्यं करणञ्च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।
पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।।[१]

यह परमा शक्ति कौन है?

त्रिपुरा परमा शक्तिराद्या ज्ञानादितः प्रिये।

भास्करराय सेतुबन्ध में कहते हैं—ज्ञानेच्छाक्रियातः पूर्वं सृष्टिप्रागभावस्य विनश्यदवस्थारूपा दशापि काचित्त्रिपुरानाम्नी परा शक्तिः तां स्मारयितु यदा सः परमा शक्तिः।[२]

अर्थात् सृष्टि-प्राक् अवस्था में—ज्ञानशक्ति-इच्छाशक्ति-क्रियाशक्ति के पूर्व स्थित भगवती त्रिपुरा ही वह परमा शक्ति या परा शक्ति है।

विज्ञानभैरव में कहा गया है, कि भगवान् भैरव की निष्कलावस्था में उसकी जो आत्मभूता, स्वसमवेता शक्ति है उसे परा कहते हैं—

एवंविधा भैरवस्य यावस्था परिगीयते।
सा परा पररूपेण परा देवी प्रकीर्तिता।।

यह शक्तिमान भैरव से अभिन्न है और धर्मी भैरव का धर्म है—

शक्तिशक्तिमतोर्यद्वदभेदः सर्वदा स्थितः।
अतस्तद्धर्मधर्मित्वात् पराशक्तिः परात्मनः।।[३]

महेश्वरानन्द की दृष्टि—

(क) महेश्वरानन्द केवलाद्वैतवादी शंकराचार्य के सिद्धान्तों के विरुद्ध परमात्मा को पञ्चकृत्यकारी मानते हैं, न कि निष्क्रिय एवं अकर्ता—परमेश्वरो हि प्रकृत्या विश्वस्य कर्ता, ज्ञाता च तत एव स्वातन्त्र्यात् पूर्णः स्वात्मतृप्तश्च।[४]

(ख) शंकराचार्य माया को ब्रह्म की शक्ति मानते तो हैं किन्तु वे उसे उसकी समवायिनी शक्ति नहीं मानते। त्रिक दर्शन एवं महेश्वरानन्द का परमात्मा पाँच शक्तियों से समवेत है। ये पाँचों शक्तियाँ (चित् शक्ति। आनन्द शक्ति। इच्छा शक्ति। ज्ञान शक्ति। क्रिया शक्ति) परमात्मा की समवायिनी शक्तियाँ हैं।

(ग) महेश्वरानन्द का परमात्मा स्वातन्त्र्य शक्तिसम्पन्न होने पर भी अपनी स्वरूप-तिरोधित्सा, स्वेच्छया स्वरूप-गोपन या आत्म-प्रच्छादन के कारण जब पशु बनकर पशुत्व की भूमिका का अभिनय करने लगता है तब उसकी वे ही उपर्युक्त असङ्कुचित पाँच शक्तियाँ सङ्कुचित बनकर—१. राग २. कला ३. विद्या ४. नियति एवं ५. काल बनकर शिव को पशु बना देती हैं।

विपरीत इव महेशो—श्रीक्रमोदय में इन पाँच शक्तियों का नामोल्लेख इस प्रकार किया गया है और इन्हें पाश कहा गया है—

---

१. योगिनीहृदयदीपिका—अमृतानन्द
२. सेतुबन्ध
३. विज्ञानभैरव
५. परिमल

रागो माया कला विद्या नियतिः काल एव च।
पञ्चवृत्त्याश्रयाः सर्वे पाशाश्चेति प्रकीर्तिताः।।

किञ्चित् कर्तृत्व, किञ्चित् ज्ञातृत्व आदि सङ्कुचित शक्तियाँ इन्हीं पाशों का परिणाम हैं। यह परिणाम शिव (पशु की भूमिका में अवस्थित शिव) में भी दृष्टिगत होते हैं, जो कि उसके असीम, अनन्त एवं असङ्कुचित पञ्च शक्तियों (चित् शक्ति, आनन्द शक्ति, इच्छाशक्ति आदि शक्तियों) से विपरीत हैं; अतः महेश्वरानन्द कहते हैं कि— विपरीत इव महेशो।

पञ्चकञ्चुक एवं पाश—इन पाँच पाशों को पञ्चकञ्चुक भी कहा गया है। इनके नाम निम्नांकित हैं—

ताश्च कला अविद्या रागः कालो नियतिरित्युच्यन्ते।[१]

१. **कला**—कला तस्य किञ्चित्कर्तृत्वहेतुः।

२. **अविद्या**—अविद्या किञ्चिज्ज्ञत्वकारणम्।

३. **राग**—रागो विषयेष्वभिषङ्गः।

४. **काल**—कालो भावानामवभासनानवभासनात्माक्रमः।

५. **नियति**—नियतिर्ममेदं न ममेदमित्यादि नियमहेतुः।

एतत्पञ्चकं चागमेषु स्वरूपावरकत्वात् कञ्चुकमित्युच्यते। एतदभावे हि पुरुषः परमेश्वर-वदतिप्रकटबोधशक्तिः।

आचार्य क्षेमराज की व्याख्या—

परमात्मा की पाँच शक्तियाँ—

१. चिति शक्ति   ३. इच्छा शक्ति   ५. क्रियाशक्ति।
२. आनन्द शक्ति   ४. ज्ञानशक्ति

पशु के पाँच कञ्चुक (परमात्मा की पाँच शक्तियों का सङ्कुचित स्वरूप)—

१. कला   ३. राग   ५. नियति
२. विद्या   ४. काल

सम्पूर्णकर्तृताद्या बह्व्यः सन्त्यस्य शक्तयस्तस्य।
सङ्कोचात् सङ्कुचिताः कलादिरूपेण रूढयन्त्येवम्।।[२]

१. कला का स्वरूप—

तत्सर्वकर्तृता सा सङ्कुचिता कतिपयार्थमात्रपरा।
किञ्चित्कर्तारममुं कलयन्ती कीर्त्यते कलानाम्।।

१. परिमल   २. षट्त्रिंशत्तत्त्वसन्दोह (आचार्य क्षेमराज)

२. विद्या का स्वरूप—

सर्वज्ञतास्य शक्तिः परिमिततनुरल्पवेद्यमात्रपरा।
ज्ञानमुत्पादयन्ती विद्येति निगद्यते बुधैराद्यैः।।

३. राग का स्वरूप—

नित्यपरिपूर्णतृप्तिः शक्तिः तस्यैव परिमिता तु सती।
भोगेषु रञ्जयन्ती सततममुं रागतत्त्वतां याता।।

४. काल का स्वरूप—

सा नित्यतास्य शक्तिर्निष्कृष्य निधनोदयप्रदानेन।
नियतपरिच्छेदकरी क्लृप्ता स्यात्कालतत्त्वरूपेण।।

५. नियति का स्वरूप—

यास्य स्वतन्त्राख्या शक्तिः संकोचशालिनी सैव।
कृत्याकृत्येष्ववशं नियतममुं नियमयन्त्यभून्नियति।।[१]

१. षट्त्रिंशत्तत्त्वसन्दोह (आचार्य क्षेमराज)
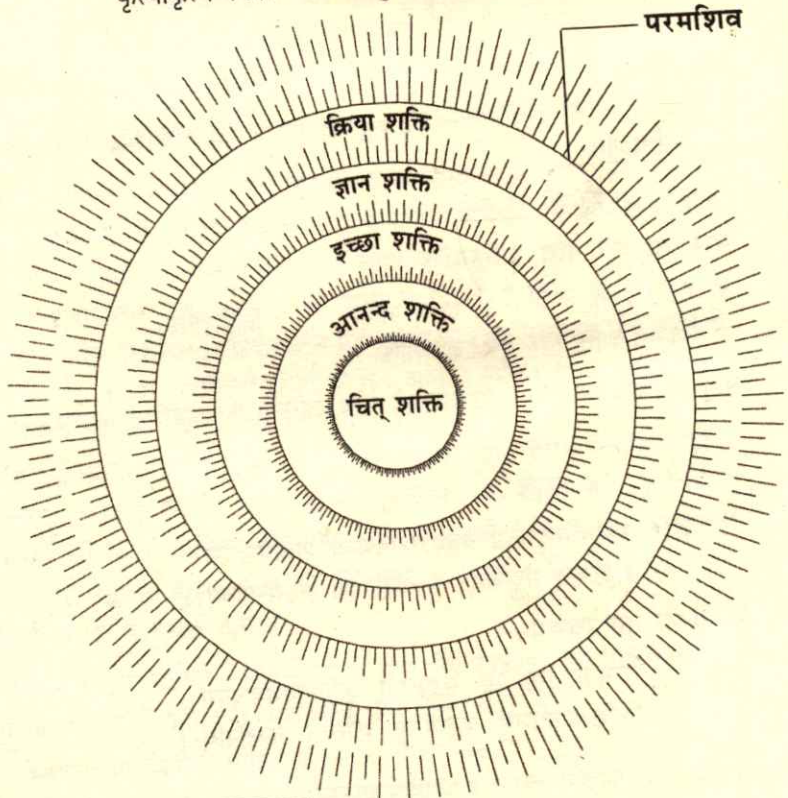
जीव की शक्तियाँ	**परमशिव की शक्तियाँ**
१. किञ्चित् कर्तृत्व	१. सर्वकर्तृत्व
२. किञ्चित् ज्ञातृत्व	२. सर्वज्ञातृत्व
३. परिमित तृप्ति	३. पूर्णत्व
४. अनित्यत्व	४. नित्यत्व
५. अव्यापकत्व	५. सर्वव्यापकत्व

पशुओं के पञ्चकञ्चुक (शक्तियाँ)
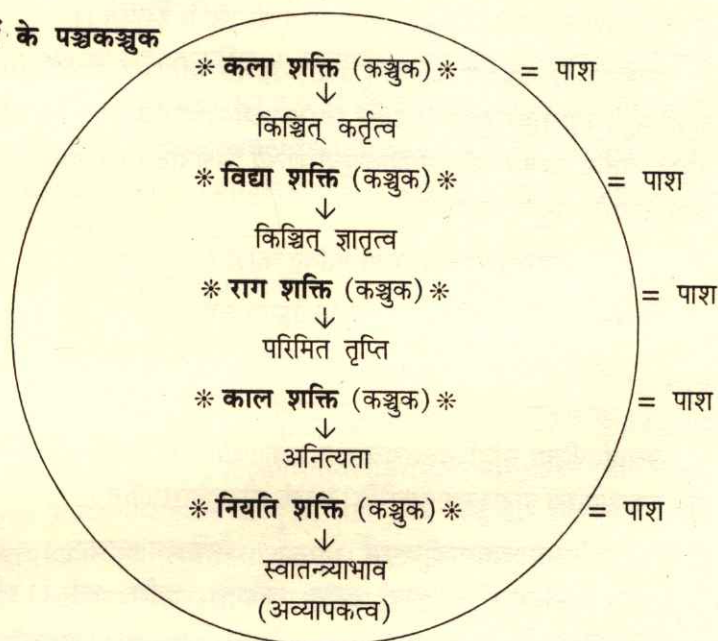
जीवरूप पशु के कञ्चुक—

१. कला   ३. राग   ५. नियति
२. विद्या   ४. कला

परमात्मा की शक्ति—

१. सर्वकर्तृत्व   ३. पूर्णत्व   ५. व्यापकत्व
२. सर्वज्ञातृत्व   ४. नित्यत्व

पञ्चशक्ति एवं पञ्चकञ्चुक—सर्वकर्तृत्व-सर्वज्ञत्व-पूर्णत्व-नित्यत्व-व्यापकत्व-शक्तयः सङ्कोचं गृह्णाना यथाक्रमं कलाविद्यारागकालनियतिरूपतया भान्ति। (प्रत्यभिज्ञाहृदयम्)

शम्भु की अभिनयात्मक पुरुषावस्था

अथ पुरुषस्वभावमुद्भावयति—

जो एस वीसणाडअसेलूसो सुद्धसंविओ संभू।
वण्णअपरिग्गहमई तस्स दसा कापि पुरुषो होइ ॥१९॥

(य एष विश्वनाटकशैलूषः शुद्धसंविच्छम्भुः।
वर्णकपरिग्रहमयी तस्य दशा कापि पुरुषो भवति।।)

जो यह विश्व-नाटक का महानट एवं शुद्ध संविद्रूप शिव है, उसकी ही अभिनयात्मक वेशधारी कोई विशिष्ट अवस्था पुरुष बन जाती है।।१९।।

परमेश्वरो हि अहमेव सर्वमिति वैश्वात्म्यप्रथानुभूतिस्फारचमत्कारोत्तरतया शुद्धां सङ्कोचकलङ्कशङ्काशून्यां संविदं स्वस्वातन्त्र्यस्वभावविद्यामयीमनुभवन्ननेनैव हेतुना 'नर्तक आत्मा' इति श्रीशिवसूत्रस्थित्या विश्वनाटकस्य शैलूषो नट इति व्यपदिश्यते। यदुक्तं श्रीनैश्वासे—

त्वमेकांशेनान्तरात्मा नर्तकः कोशरक्षिता । इति।

विश्वं च पृथिव्यादिशिवान्ततत्त्वसन्दोहात्मकम्—

जननशैशवयौवनवार्द्धकव्ययमयैरखिलैरपि सन्धिभिः ।
अभिनयन्नपि पौरुषनाटकं परिणतौ सशिवोऽस्मि महानटः ।।

इत्यादिनीत्या सृष्टिस्थित्याद्यवस्थापञ्चकाविनाभूतत्वादारम्भयत्नाद्यवस्था-पञ्चकलक्षणस्य नाटकस्यानुकरोति। तदुक्तं श्रीभट्टनारायणेन—

निसृष्टानेकसब्दीजगर्भं त्रैलोक्यनाटकम् ।
प्रस्ताव्य हर! संहर्तुं त्वन्तः कोऽन्यः कविः क्षम ।। इति।

स च शम्भुः शृङ्गारकरुणादिरसास्वादस्थानीयं शब्दस्पर्शाद्यनुभवात्मकं शं सुखं प्रेक्षकाणामिन्द्रियाणां भवत्यस्मादिति कृत्वा। तस्य च विश्वनाट्याभिनयोन्मुखस्य भूमिकावलम्बनलक्षणेनार्थेन प्रकृता यावस्था सा पुरुषो भवति। पुरुष इति व्यपदेशौचित्यमनुभवति। यदुक्तं श्रीसारशास्त्रे—

स्वयं बध्नाति देवेशः स्वयं चैव विमुह्यति ।
स्वयं भोक्ता स्वयं ज्ञाता स्वयं चैवोपलक्षयेत् ।। इति।

यदवस्थानुगुण्यादुच्छ्वासनिश्वासादिप्रवर्तकः प्राणः, हानोपादानाद्युपयोगी व्यानः, शरीरादिपोषणः समानः, धात्वाद्युन्नयन उदानः, विण्मूत्रादिविसर्जनोऽपान इति तत्तदुद्यमप्रकाराः प्रख्यायन्ते। यद्यपि 'असौ शक्तिपाताद्यभावात् कुम्भ-

कारस्यापि घटकरणे सर्वशक्तिशिवात्मता, तदपरिज्ञानात् तु कुम्भकारतेत्यर्थः' इति पदसङ्गतिप्रक्रियया स्वहृदयेन परमेश्वरीभावपरामर्शशून्यो भवति, तथापि तत्त्वदृष्ट्या तस्य परमेश्वरत्वमाम्नायोद्घोषितमवर्जनयीम्। तथाहि परमेश्वरस्य ह्ययमेवासाधारणस्वभावो यत् सर्वदा सृष्ट्यादिपञ्चकृत्यकारित्वम्। तच्चोत्तरत्र व्यक्तमालोचयिष्यते। एतदनङ्गीकाराद्धि मायावेदान्तादिनिर्णीतस्यात्मनः स्वस्फुरणामोदमान्द्यलक्षणमसत्कल्पत्वमापतितम्। पुरुषश्चायं

किन्तु दुर्घटकारित्वात् स्वाच्छन्द्यान्निर्मलादसौ ।
स्वात्मप्रच्छादनक्रीडापण्डितः परमेश्वरः ।।

इति श्रीतन्त्रालोकस्थित्या मायापथावतीर्णोऽपि परमेश्वरवत् सर्वदा पञ्चापि कृत्यानि करोति। यतोऽस्य न कस्याञ्चिदप्यवस्थायां संवित्संस्कारवन्ध्यत्वम्। सुषुप्त्यादावप्यौत्तरकालिकप्रबोधानुसन्धानबलादन्तर्मग्नं किञ्चिल्लोकयात्राव्यवहारविजृम्भणं सूक्ष्ममुपलक्षणीयम्। केवलमवस्थान्तरेषु संविदस्तारतम्यमेव भेदः। तदुक्तं श्रीस्पन्दे—

जाग्रदादिविभेदेऽपि तदभिन्ने प्रसर्पति ।
निवर्तते निजान्नैव स्वभावादुपलब्धृतः ।। इति।

तदुत्तरत्र 'जोई जाअरसिविणअ' इत्यत्र स्पष्टीकरिष्यते। ततश्च संवित्स्वातन्त्र्यसारस्यास्य स्तम्भाद्यवलोकनावस्थायां यदा स्तम्भावलोकनौन्मुख्यम्, तदा तस्य सृष्टिः। कुम्भादिवैलक्षण्येनावलोक्यमानतया सृष्टिरनेनैवेति कृत्वा तत्रैव यदा द्वित्रक्षणमात्रमवस्थास्नुता, तदा तस्य स्थितिः। पदार्थानां तत्तद्रूपतया धार्यमाणत्वस्य स्थिततियोक्तत्वात्। यदा कुम्भादिभावान्तरानुप्रवेशौन्मुख्यम्, तदा स्तम्भस्य संहारः कुम्भस्य सृष्टिश्च। यदा पुनः स्तम्भपरित्यागस्य कुम्भानुप्रवेशस्य च मध्यस्थावस्था, तदा तुरीयसत्ता। वेद्योपरागशून्यतया शुद्धसंविन्मयत्वात्। यदुक्तं मयैव श्रीकोमलवल्लीस्तवे—

ज्ञातमेकमवमुच्य चेतसो भावमन्यमवगाढुमिच्छतः ।
अन्तरालभुवमम्ब! लम्बिनीमामनन्ति तव तत्त्वमद्वयम् ।। इति।

उक्तसर्वक्रमानुस्यूता तदुल्लङ्घनक्षमा च स्वात्मगता संविच्छक्तिर्भासयति। यद्वा स्तम्भाद्यनुसन्धाने तं प्रति यद स्तम्भत्वावधारणम्, तदा तस्य दारुमयत्वादिकं न्यग्भवति। दारुमयत्वाद्यवधारणे च स्तम्भत्वस्य न्यक्कार इति एकतरसृष्टिरन्यतरसंहारश्चेति व्यक्तमुपलक्ष्यते। स्तम्भत्वदारुमयत्वादिमेलकपरामर्शे तु स्थितिः, प्रतीतिद्वयस्यापि न्यग्भावाभावात्। स्तम्भत्वाद्यशेषविकल्पोपशान्तौ अनाख्या।

स्वात्मस्फुरत्तायाः परामर्शे भासेति सृष्ट्यादिप्रकारो द्रष्टव्यः। तत्रैव च यदा स्तम्भं नियतदेशकालाकारतयाऽवलोकयति, तदा तदाभासांशेनास्य स्रष्टृता। अनैतद्देश-कालाद्याभासांशेन तस्य संहर्तृता। स्तम्भादिसामान्यांशेन तु स्थापकता। अविकल्पा-वलोकने तुरीयानुभवितृत्वम्, प्रकाशैक्येन प्रकाशने पुनरनुगृहीतृता चेति सिद्धमस्य स्वहृदयङ्गमीभावं विनापि यौगपद्येन सृष्ट्यादिपञ्चकृत्यकारित्वलक्षणमैश्वर्यम्। अत एव हि सङ्कुचितस्वभावोऽप्यसौ तत्त्ववृत्त्या विकसितत्वात् पुरुष इति व्यपदि-श्यते। यच्छ्रुतिः—'तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्' इति। श्रीचिद्गगनचन्द्रिकायां च—'पूरणात् पुरुषतामुपेयुषि' इति। कृत्यपञ्चके च परमेश्वरस्य सृष्टिस्थितिसंहारेषु त्रिषु न क्वचिदपि वैषम्यम्। उपरितनयोः पुनर्यदा व्यामोह्यमानपशुजनापेक्षया समयभ्रंशापादनादिरूपमेतच्चित्तस्य व्याकुलीकरणम्, यदा च कारुण्योत्कर्षा-देतद्दोषव्युदासेनास्य भूयः स्वरूपलाभप्रदायित्वम्, तदा तिरोधानमनुग्रहश्चेति तत्कृत्यद्वयं व्यपदिश्यते। यदा पुनः,

> यथा च विस्तृते वस्त्रे युगपद् भाति चित्रता।
> तथैव योगिनां धर्मसामस्त्येनैव भाति भूः।।

इति श्रीतन्त्रालोकस्थित्या पशुप्रमात्राद्यवच्छेदव्यपोहेन विश्वमेव कार्यतया-ऽनुसन्धीयते, तदानाख्या भासेति तत्कृत्यद्वयव्यपदेश इत्यलमवान्तरेण। नटं प्रति च भूमिकात्वेन यो रामादिराभासते, स तु सम्यङ्मिथ्यासंशयसादृश्यादिवैलक्षण्येन संविदन्तरविषयतया सामाजिकैरनुभूयते। तटस्थैस्तु श्रोत्रियादिभिर्नटतयैवेति। य एष इति पुराणागमादिप्रसिद्धस्य परमेश्वरस्य स्वात्मत्वेनात्यासत्त्या विप्रकृष्टव्यतां द्योतयन् तादृग्विमर्शोन्मेषे परमेश्वरसकाशात् पुरुषं प्रति प्रथमानोऽयं भेदो वाततूल-लौल्यलीलामनुभवतीत्युद्भावयति। दशा कापीत्यनेन परमेश्वरतापन्नस्यापि पुरुषस्य स्वपरामर्शशून्यतया वेद्यवर्गानुप्रवेशाभिमन्तृत्वेन महान् खल्वस्य मोहोत्कर्ष इति शोचनीयता द्योत्यते। यदुक्तं श्रीत्रिंशिकाशास्त्रे—

> पृथिव्यादीनि तत्त्वानि पुरुषान्तानि पञ्चसु।
> क्रमात् कादिषु वर्गेषु मकारान्तेषु सुव्रते।। इतिः

यथा च व्याख्यातमाचार्याभिनवगुप्तपादैः—पुरुषस्य हि संवेद्यरूपस्यैव परिमितस्य वेद्यराशौ गणनम्' इति। तस्य च—

> सम्पन्नोऽस्मि कृशोऽस्मि स्निह्यत्तारोऽस्मि भोदमानोऽस्मि।
> प्राणिमि शून्योऽस्मीति हि षट्सु पदेष्वस्मिता दृष्टा।।

इति श्रीविरूपाक्षपञ्चाशिकाप्रक्रियया देहप्राणाद्युपश्लेषवशाद् बहुत्वमप्युप-

पद्यते। यत एतदालम्बनेन ब्रह्मा चन्द्रः सकल इति प्रमातृभेदः परिस्फुरति। एतेन तस्य स्वर्गनरकाद्युपभोगौचित्यं व्याख्यातम्। यथा श्रीशिवदृष्टौ—

क्रीडया दुःखवेद्यानि कर्मकारीणि तत्फलैः।
सम्पत्स्यमानानि तथा नरकार्णवगह्वरे॥
निवासीनि शरीराणि गृह्णाति परमेश्वरः। इति।

स च कदाचित् स्वात्मस्फुरत्तामेव व्यामोहवशाच्छरीरेन्द्रियादिस्वस्पन्दतयाऽभिमन्यते। न चासौ वास्तवी दृष्टिः। यदुक्तं श्रीस्वच्छन्दे—

सुप्रदीप्ते यथा वह्नौ शिखा दृश्येत नाम्बरे।
देहप्राणस्थितोऽप्यात्मा तद्वल्लीयेत तत्पदे॥ इति।

वास्तवी तु दृष्टिरेतस्फुरत्तापि परमेश्वर एव पर्यवस्यतीति। यदुक्तमजडप्रमातृसिद्धौ—

यद्यप्यर्थस्थितिः प्राणपुर्यष्टकनियन्त्रिते।
जीवे निरुद्धा तत्रापि परमात्मनि सा स्थिता॥ इति।

किञ्च—

परमेष्ठिनमारभ्य कीटपर्यन्तमुल्लसन्।
बहुधोपाधिमास्थाय स एकः सन् प्रकाशते॥
शरीराणां प्रभेदेऽपि न शरीरी विभिद्यते।
आदर्शानां प्रभेदेऽपि पश्यन्निव मुखं पुमान्॥
एकमेव यथा तैलं स्थूलेऽपि तिलसञ्चये।
तथा विश्वविलासेऽस्मिन्नेको लोकोत्तरः प्रभुः॥
प्रतिरन्ध्रं गवाक्षाणामन्तरिक्षे व्यवस्थिते।
यथा न वस्तुतो भेदस्तद्वदात्मनि दृश्यताम्॥
एकमेव हि सामान्यं सत्ता गोत्वादि कल्प्यते।
तद्वदेकोऽयमात्मेति वदन् कस्मान्न मृष्यते॥
एकेनैवात्मना सिद्धे लोकयात्राऽनुवर्तने।
नानात्वकल्पनं तत्र गौरवाय न किं भवेत्॥
किञ्च भेदस्य न क्वापि विषयोऽस्तीति दर्शितम्।
अतोऽप्यद्वैतपक्षेऽस्मिन्नानात्वं कथमात्मनः॥
औपाधिकेऽपि तद्भेदे द्वासुपर्णादिवेदवाक्।
सुखदुःखादिभेदानां व्यवस्थाऽप्युपपद्यते॥

ऐक्येनैव निमित्तेन तत्तद्व्यक्त्यानुवर्तनात् ।
तस्य व्यापकता सिद्धा याऽन्यैरप्युपपाद्यते ।।
ततश्च गजकीटादेस्तत्तद्देहप्रमाणतः ।
आत्मावस्थानमित्येतत् त्यज्यतामर्हतां मतम् ।।
यत्तु तैरुच्यते तस्मिन्नशेषव्यापके सति ।
शरीरेष्विव चैतन्यं शिलास्वपि भवेदिति ।।
तत्रोत्तरं शिलादावप्यस्ति चैतन्यवासना ।
नौल्बण्यमस्याः प्राणादिसाहाय्यानुदयादिति ।।

ये पुनरेनं शरीरादिमेवाहुः, ते पुनरत्यन्तमूर्खाः। तथाहि—

स च देहमयो न स्याच्चैतन्यैकप्रसारभूः ।
नो चेच्छवशरीरेऽपि चेष्टा दृश्येत पूर्ववत् ।।
स्तम्भः कुम्भः सरिद् ग्रावा मृगः पक्षी पुमानिति ।
तारतम्ये निमित्तं किं भूतचैतन्यवादिनाम् ।।
एवं नेन्द्रियरूपोऽयं सुषुप्त्यादौ शरीरिणाम् ।
सत्येवेन्द्रियसंसर्गे चैतन्याऽनुपलम्भनात् ।।
देहेन्द्रियादेरात्मत्वे कर्तृत्वं पर्यवस्यति ।
प्रपञ्चस्यैव कर्तृत्वं कार्यमन्यत् किमिष्यते ।।
अंशतो यदि कर्तृत्वं कार्यत्वं चेति कथ्यते ।
कोंऽशः कस्यास्तु कर्तेति व्यवस्था केन कल्प्यते ।।
उक्तरूपविपर्यासशङ्का वा केन वार्यते ।
अतोऽस्मन्निश्चितस्यैव तत्त्वस्यात्मत्वमिष्यताम् ।।
अथ यः शून्यमाहैनं सोऽपि पर्यनुयुज्यते ।
विश्वान्तर्भावतः किं वा शून्योऽयं स्वयमेव वा ।।
स्वतः शून्यत्वपक्षोऽस्य स्वशास्त्रेऽपि न लिख्यते ।
वेद्यवर्गस्य शून्यत्वे व्यवहारो विलुप्यते ।।
सर्वं व्यवहरत्येव शून्यतां साधयन्नपि ।
विश्वं सत्यं वदत्यन्यः शून्यं वदति कश्चन ।।
यानासनादिवेलायामुभयोः सदृशी स्थितिः ।
व्यवहारैकरूप्यं चेद् वाग्वैषम्येण किं फलम् ।।
न च सर्वं जगच्छून्यमित्यर्थं साधयन् सुधीः ।
लभते वादिनं क्वापि स्वमात्मानं कथामपि ।।

इत्यलमतिप्रपञ्चोपन्यासप्राचुर्येण। प्रकृतमेवानुधाव्यते। इत्थं च सर्वस्यापि प्रपञ्चवैचित्र्यस्य—

तस्माच्छब्दार्थचिन्तासु न साऽवस्था न यः शिवः।

इति श्रीस्पन्दप्रक्रियया पारमेश्वरप्रकाशमयत्वाभ्युपगमे कुतोऽस्य पुरुषमेनं प्रति पक्षपातप्रतिक्षेप इति तात्पर्यार्थः। यदुक्तं नरेश्वरविवेके—

सर्वे चैते प्रमातारः प्रकाशत्वाच्छिवात्मकाः।
सर्वज्ञाः सर्वकर्तारः सर्वतश्चाविभेदिनः।। इति।

एतदर्थद्योतनाय हि पुरुषोऽपि पुरुष इत्युच्यते। यदनयोः पुरे वसतीति पुरुषः पुरमोषति दहतीति पुरुष इति स्वभावभेदः।

बुद्धिप्राणशरीराख्ये यदेतस्मिन् पुरत्रये।
अहङ्काराद् वसत्यात्मा तेनायं पुरुषः स्मृतः।।
एतत् पुरत्रयं दग्धं येन स त्रिपुरान्तकः।
स एव पुरुषः प्रोक्तः स्मरारिरपि स स्मृतः।।

इति श्रीहंसभेदस्थित्या यद्यप्यौचित्येनोन्मील्यते, तथापि पर्यन्ततस्तात्त्विकार्थचिन्तायां तयोरुक्तरूपमैकान्त्यमेव। तादृगवच्छेदे च तस्य स्वस्वातन्त्र्यरूपस्य मलत्रयस्योपलालनं हेतुरिति। ननु भेदप्रथाप्रकर्षेऽपि यद्यनयोस्तादात्म्यं तन्निबन्धनः पतिवत् पशोरैश्वर्योच्छ्रायश्चोपपाद्यते, तर्हि तेनैव तादात्म्येन पशुवत् पतिरपि मायाव्यामोहकदर्थनग्रथितहृदयवृत्तिरस्त्विति चेत्? नैवम्, ऐन्द्रजालिकदृष्टान्तस्यात्र प्राप्तावसरत्वात्। स खलु स्वयमखिलमपि लोकं व्यामोहयन् न केनचिद् व्यामोह्यते। एतदर्थमेव हि परमेश्वरं प्रति शैलूषव्यपदेश इति।।१९।।

इस गाथा में सृष्टिकर्ता परमात्मा को एक अभिनेता एवं जगत् को अभिनय का रङ्गमञ्च कहा गया है। गाथाकार की दृष्टि में जगत् एक रङ्गशाला है—अभिनय का रङ्गमञ्च है और सारे प्राणी अपनी-अपनी अभिनेय भूमिका के निष्पादक अभिनेता हैं। इसी प्रसंग में महेश्वरानन्द कहते हैं—य एष विश्वनाटकशैलूषः शुद्धसंविच्छम्भुः।

शम्भु विश्व-नाटक का महानट है और जगत् उसका नाटक है। (वर्णक = अभिनेता का परिधान (परिच्छद)। परिग्रह = प्राप्ति, सम्पत्ति।)

महेश्वरानन्द की दृष्टि—महेश्वरानन्द कहते हैं कि परमेश्वर वह सत्ता है, जो यह अनुभव करता रहता है कि मैं ही सब कुछ हूँ—परमेश्वरो हि अहमेव सर्वमिति।[१]

परमेश्वर में वैश्वात्म्यप्रथानुभूतिस्फारचमत्कार[२] होने के कारण ही आत्मा को नर्तक भी कहा गया है।

१-२. परिमल

शिवसूत्रकार की दृष्टि—शिवसूत्र में 'नर्तक आत्मा' (३.९) कहकर शिव को महानट की भूमिका में ही प्रस्तुत किया गया है।

आचार्य क्षेमराज की दृष्टि—आचार्य क्षेमराज कहते हैं कि—नृत्यति अन्तर्निगूहित-स्वस्वरूपावष्टम्भमूलं तज्जागरादिनानाभूमिकाप्रपञ्चं स्वपरिस्पन्दलीलयैव स्वभित्तौ प्रकटयति इति नर्तक आत्मा।[१]

अर्थात् परमात्मा अपने यथार्थ स्वरूप को छिपाकर (आत्मगोपन करके) स्वेच्छया अपनी आत्मभित्ति पर नानात्मक जागरादि भूमिकाओं में स्थित होकर अपने को एक अभिनेता की भाँति प्रकट करता है; न कि अपने को सर्वकर्ता, सर्वद्रष्टा, आप्तकाम, जगदीश्वर एवं विश्वातीत के रूप में।[२]

आचार्य वरदराज की दृष्टि—आचार्य वरदराज कहते हैं—

नृत्यत्यन्तःपरिच्छिन्नस्वस्वरूपावलम्बनाः ।
स्वेच्छया स्वात्मचिद्भित्तौ स्वपरिस्पन्दलीलया।।

जागरास्वप्नसौषुप्तरूपास्तास्ताः स्वभूमिकाः।
आभासयति यत्तस्मादात्मा नर्तक उच्यते।।

एवंविधजगन्नाट्यनर्तकस्यास्य योगिनः।
भूमिकाग्रहणस्थानं रङ्गमाह जगद्गुरुः।।[३]

श्रीनैश्वासकार की दृष्टि—श्रीनैश्वास में कहा गया है—अन्तरात्मा एकांश से नर्तक की भूमिका निष्पादित करती है। आगे ग्रन्थकार कहता है—त्वमेकांशेनान्तरात्मा नर्तक कोशक्षिता।

महेश्वरानन्द ने ठीक ही कहा है—श्रीशिवसूत्रस्थित्या विश्वनाटकस्य शैलूषो नट इति व्यपदिश्यते।[४]

विश्व है क्या? क्या पृथ्वी? क्या चौदह भुवन? क्या त्रिलोक या पिण्डाण्ड? नहीं; विश्व इससे भी बड़ा है—विश्वं च पृथिव्यादिशिवान्ततत्त्वसन्दोहात्मकम्।[५]

शिव इसी विश्व का अभिनय करता है—इसके पात्रों के रूप में अभिनय करता है—वही रंगमञ्च है, वही अभिनय है और वही अभिनेता भी है।

शक्तिसूत्रकार की दृष्टि—आचार्य क्षेमराज ने शक्तिसूत्र में शिव की समस्त भूमिकाओं को शक्ति द्वारा निष्पादित दिखाते हुये कहा है—

(क) स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति।[६]

१-२. शिवसूत्रविमर्शिनी
३. शिवसूत्रवार्तिक
४. परिमल (३.१९)
५. परिमल
६. शक्तिसूत्र

(ख) चिति: स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतु:।[१]

(ग) विश्वस्य सदाशिवादे: भूम्यन्तस्य सिद्धौ निष्पत्तौ प्रकाशने स्थित्यात्मनि, परप्रमातृविश्रान्त्यात्मनि च संहारे, पराशक्तिरूपा चिति एव भगवती स्वतन्त्रा, अनुत्तर-विमर्शमयी शिवभट्टारकाभिन्ना हेतु: कारणम्।[२]

(घ) ननु जगदपि चितो भिन्नं नैव किञ्चित्। चिदेव भगवती स्वच्छस्वतन्त्ररूपा तत्तदनन्तजगदात्मना स्फुरति—इत्येतावत्परमार्थोऽयं कार्यकारणभाव:।

तात्पर्य यह कि कार्य (जगत्) एवं शक्ति अभिन्न हैं। यहाँ कार्य-कारणभाव (Cause-Effect Connection) पारमार्थिक है। कारण कार्य से एवं कार्य कारण से पृथक् नहीं है।

विश्व भगवान् का शरीर है—भगवान् विश्वशरीर:।[३]

विश्व परमशिव से अभिन्न रूप में स्थित है। श्री परमशिव अपने स्वरूप से अभिन्न रूप में विश्व को धारण किये हुये स्थित हैं; अत: विश्व एवं शिव एक ही हैं—श्रीपरमशिव: स्वात्मैक्येन स्थितं विश्वम्।[४] इसी दृष्टि से क्षेमराज कहते है—विश्व शरीर: शिवभट्टारक एव।[५] याथार्थ्य तो यह है कि—न सावस्था न य: शिव:।

अन्य शास्त्रकारों की दृष्टि—अन्य शास्त्रों में कहा गया है कि जन्म, शैशव, यौवन, वार्धक्य आदि अनेक अवस्थाओं और उसमें निष्पादित अनेक भूमिकाओं का निष्पादन या अभिनय करने वाला मैं महानाटककार शिव हूँ। हमारा पौरुष—पुरुषार्थ ही तो नाटक है, जो कि जगत् में अनेक व्यापारों, क्रियाओं एवं कार्यों द्वारा व्यक्त होता है। हम उसी पौरुषस्वरूप नाटक के अभिनेता शिव हैं—

जननशैशवयौवनवार्धकव्ययमयैरखिलैरपि सन्धिभि:।
अभिनयन्नपि पौरुषनाटकं परिणतौ सशिवोऽस्मि महानट:।।

सृष्टि-स्थिति आदि अवस्थापञ्चक एवं आरम्भ-यत्न आदि अवस्थापञ्चक से युक्त जो विश्व नाटक है, उसी को 'य एष विश्वनाटकशैलूष:' वाक्य इंगित कर रहा है।

श्रीभट्टनारायण की दृष्टि—श्रीभट्टनारायण कहते हैं कि यह समस्त त्रिलोक एवं उसके समस्त व्यापार त्रैलोक्यनाटकमात्र हैं—

विसृष्टानेकसद्बीजगर्भं त्रैलोक्यनाटकम्।
प्रस्ताव्य हर! संहर्तुं त्वन्त: कोऽन्य: कवि: क्षम:।।

आचार्य महेश्वरानन्द कहते हैं कि नाटक रसनिष्पत्ति-प्रवण होते हैं और वे दर्शक-सापेक्ष भी होते हैं। इस नाटक का रस क्या है? इसके प्रेक्षक कौन हैं? इसी का समाधान करते हुये वे कहते हैं कि—

१. नाटकों में तो शृंगार रस, करुण रस आदि आस्वाद्य रसों की विद्यमानता रहती

---

१. शक्तिसूत्र (१) २-५. प्रत्यभिज्ञाहृदयम्

है; किन्तु विश्वनाटक में तत्स्थानीय—शब्द, स्पर्श, रूप, रस आदि अनुभवों से परिपूर्ण रस का प्रवाह रहता है।

२. सामान्य नाटकों के द्रष्टा रसिक लोग होते हैं; किन्तु विश्व-नाटक के द्रष्टा (प्रेक्षक) इन्द्रियाँ हैं।

'क्वापि पुरुषो भवति' उस विश्वनाट्य की ओर अभिनयोन्मुखी भूमिका ग्रहण करने की जो अवस्था होती है, वही तो पुरुष है—तस्य च विश्वनाट्याभिनयोन्मुखस्य भूमिका-वलम्बनलक्षणेनार्थेन यावस्था सा पुरुषो भवति।

पुरुष कोई नित्य सत्ता नहीं है—नित्य स्वरूप नहीं है, यह चेतना की एक स्वेच्छागृहीत आत्मगोपन की क्रीड़ा है; इसीलिये महेश्वरानन्द ने इसे अवस्था कहा है—यावस्था सा पुरुषो भवति।

अवस्थायें तो परिवर्तनशील होती हैं, किन्तु शिव एवं आत्मा (परमतत्त्व) अवस्थातीत है। पुरुष की अवस्था (शाम्भव दर्शन के अनुसार) जागतिक अभिनय की इच्छा है—विश्वनाट्य में अभिनय करने की एक अवस्था है।

सारशास्त्र की दृष्टि—सारशास्त्र में कहा गया है कि शिव स्वेच्छया भोक्ता बनकर एवं बन्धनों को स्वीकार करके पशु की भूमिका निष्पादित करता है—

स्वयं बध्नाति देवेशः स्वयं चैव विमुह्यति।
स्वयं भोक्ता स्वयं ज्ञाता स्वयं चैवोपलक्षयेत्।।

स्पष्ट है कि इसके माध्यम से वह विश्वनाटकशैलूष बनता है।

पुरुष और परमात्मा की एकरूपता (अभिन्नता)—महेश्वरानन्द कहते हैं कि पुरुष की शक्ति परमशिव की ही शक्ति है। अतः दोनों में अभिन्नता है; किन्तु इस अभेदबोध का अज्ञान ही उनमें भेद करता है। यथा—असौ शक्तिपाताद्यभावात् कुम्भकारस्यापि घटकरणे सर्वशक्तिशिवात्मता तदपरिज्ञानात् तु कुम्भकारतेत्यर्थः।[1]

शिवसूत्रकार की दृष्टि—विश्व एक रङ्गमञ्च है। शिवसूत्रकार ने आत्मा को एक रङ्गमञ्च कहा है—रङ्गोऽन्तरात्मा (३.१०)।

जगत् ही नाट्य है—जगन्नाट्यमाभासयति। आचार्य क्षेमराज कहते हैं कि—रज्यतेऽस्मिन् जगन्नाट्यक्रीड़ाप्रदर्शनाशयेनात्मना इति रङ्गः, तत्तद्भूमिकाग्रहणस्थानम् अन्तरात्मा, सङ्कोचावभासतत्त्वः शून्यप्रधानः प्राणप्रधानो वा पुर्यष्टकरूपो देहापेक्षया अन्तरो जीवः। तत्र हि अयं कृतपदः स्वकरणपरिस्पन्दक्रमेण जगन्नाट्यमाभासयति। उक्तं च स्वच्छन्दे—

पुर्यष्टकसमावेशाद्विचरन्सर्वयोनिषु।
अन्तरात्मा स विज्ञेय........................।।[2]

---

१. परिमल में उद्धृत २. शिवसूत्रविमर्शिनी

योगिनश्चक्षुरादीनि इन्द्रियाणि हि संसारनाट्यप्रमोदनिर्भरं स्वस्वरूपम् अन्तर्मुखतया साक्षात्कुर्वन्ति।

आचार्य वरदराज की दृष्टि—आचार्य वरदराज कहते हैं कि सदाशिव से क्षितिपर्यन्त यह नि:शेष प्रपञ्च-प्रसार केवल जगन्नाट्य है—

रज्यतेऽस्मिन् जगन्नाट्यक्रीड़ाकौतुकिनात्मना।
इति रङ्गोऽन्तरात्मेति जीव: पुर्यष्टकात्मक:।।
योगी कृतपदस्तत्र स्वेन्द्रियस्पन्दलीलया।
सदाशिवादिक्षित्यन्तजगन्नाट्यं प्रकाशयेत्।।
देहान्तरङ्गे रङ्गेऽस्मिन्नृत्यत: स्वान्तरात्मनि।
प्रेक्षकाणीति संसारनाट्यप्राकट्यकृद्वपु:।
चक्षुरादीन्द्रियाण्यन्तश्चमत्कुर्वन्ति योगिन:।।[१]

शैवागम मानता है कि परमेश्वर का असाधारण स्वभाव सृष्ट्यादिपञ्चकृत्यकारित्व है—परमेश्वरस्य ह्यमेवासाधारणस्वभावो यत् सर्वदा सृष्ट्यादिपञ्चकृत्यकारित्वम्।[२]

वेदान्त का ब्रह्म तो क्रियाशून्य है।

तन्त्रालोककार की दृष्टि—तन्त्रालोककार अभिनवगुप्त कहते हैं कि परमेश्वर में दुर्घटकारित्व की शक्ति है। उसमें स्वाच्छन्द्य है। वह स्वात्मप्रच्छादन क्रीड़ा में पण्डित है—

किन्तु दुर्घटकारित्वात् स्वाच्छन्द्यान्निर्मलादसौ
स्वात्मप्रच्छादनक्रीडापण्डित: परमेश्वर:।

महेश्वरानन्द कहते हैं कि मायोपहित होने पर भी शिव (पशुदशा में भी) पञ्चकृत्यों का निष्पादन करता है—मायापथावतीर्णोऽपि परमेश्वरवत् सर्वदा पञ्चापि कृत्यानि करोति। क्योंकि उसमें संवित्संस्कार कभी नष्ट नहीं हो सकते।

स्पन्दकारिकाकार की दृष्टि—भट्टकल्लट कहते है कि चेतन की अवस्थायें तो परिवर्तित होती रहती हैं; किन्तु चेतन किसी भी अवस्था में अवस्थान्तरित एवं रूपान्तरित नहीं होता; क्योंकि वह नित्य है—

जाग्रदादिविभेदेऽपि तदभिन्ने प्रसर्पति।
निवर्तते निजान्नैव स्वभावादुपलब्धृत:।।

इस गाथा में पुरुष का क्या अर्थ है? अतएव हि सङ्कुचितस्वभावोऽप्यसौ तत्त्व-वृत्त्या विकसितत्वात् पुरुष इति व्यपदिश्यते।[३]

(क) श्रुति = तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्।

---

२. शिवसूत्रवार्तिक २-३. परिमल

(ख) चिद्गगनचन्द्रिका = पूरणात् पुरुषतामुपेयुषि।

नरेश्वरविवेक में कहा गया है—

सर्वे चैते प्रमातारः प्रकाशत्वाच्छिवात्मकाः।
सर्वज्ञाः सर्वकर्तारः सर्वतश्चाविभेदिनः।।

इस शिवरूप की भी पुरुष से समानता है। पुरुष किसे कहते हैं?

(क) पुरे वसतीति पुरुषः।

(ख) पुरमोषति दहतीति पुरुष इति।

(ग) हंसभेद की दृष्टि—

बुद्धिप्राणशरीराख्ये यदेतस्मिन् पुरत्रये।
अहङ्काराद् वसत्यात्मा तेनायं पुरुषः स्मृतः।।
एतत् पुरत्रयं दग्धं येन स त्रिपुरान्तकः।
स एव पुरुषः प्रोक्तः स्मराररिपि स स्मृतः।।

अवच्छेद के कारण उस शिव का स्वस्वातन्त्र्य मलत्रयोपहित हो जाता है।[1] भेदप्रथा के प्रकर्ष की स्थिति में भी पति एवं पशु में तादात्म्य है।[2]

शिव एवं ऐन्द्रजालिक—परमेश्वर सारे जगत् को (एक ऐन्द्रजालिक की भाँति) व्यामोहित करके भी स्वतः उससे व्यामोहित नहीं हुआ करता—स खलु स्वयमखिलमपि लोकं व्यामोहयन् न केनचिद् व्यामोह्यते।

यही स्थिति परमेश्वर को शैलूष बना देती है—एतदर्थमेव हि परमेश्वरं प्रति शैलूषव्यपदेशः।[3]

'दशा कापि' कहकर गाथाकार ने यह इङ्गित करने का प्रयास किया है कि पुरुष परमेश्वरतापन्न भी क्यों न हो जाय; किन्तु स्वपरामर्शशून्य होने के कारण वेद्यवर्गानुप्रवेशाभिमन्तृत्व के कारण उसका महोत्कर्ष शोचनीय हो जाता है।[4]

श्रीत्रिंशिकाशास्त्र में इसी तथ्य को व्यक्त किया गया है—

पृथिव्यादीनि तत्त्वानि पुरुषान्तानि पञ्चसु।
क्रमात् कादिषु वर्गेषु मकारान्तेषु सुव्रते।।

श्रीविरूपाक्षपञ्चाशिका में भी कहा गया है—

सम्पन्नोऽस्मि कृशोस्मि स्निह्यत्तारोऽस्मि मोदमानोऽस्मि।
प्राणिमि शून्यऽस्मीति हि षट्सु पदेष्वस्मिता दृष्टा।।

परमेश्वर स्वेच्छया (अभिनयार्थ) दुःख, नरक आदि सभी स्वीकार कर लेता है—

१-२. परिमल ३-४. परिमल (१९)

क्रीडया दु:खवेद्यानि कर्मकारीणि तत्फलै:।
सम्पत्स्यमानानि तथा नरकार्णवगह्वरे।
निवासीनि शरीराणि गृह्णाति परमेश्वर:।।

यह स्वात्मस्फुरत्ता ही व्यामोह के कारण शरीर-इन्द्रिय आदि स्वस्पन्द के रूप में माना जाने लगता है; किन्तु यह वास्तविक नहीं है—न चासौ वास्तवी दृष्टि:। (परिमल)

इसी तथ्य की पुष्टि स्वच्छन्दागम में भी की गई है—

सुप्रदीप्ते यथा वह्नौ शिखा दृश्येत नाम्बरे।
देहप्राणस्थितोऽप्यात्मा तद्वल्लीयेत तत्पदे।।

अजडमातृसिद्धिकार की दृष्टि—अजडमातृसिद्धि में कहा गया है—

यद्यप्यर्थस्थिति: प्राणपुर्यष्टकनियन्त्रिते।
जीवे निरुद्धा तत्रापि परमात्मनि सा स्थिता।।

परमेष्ठी से कीटपर्यन्त सभी में एक ही तत्त्व स्थित है—

परमेष्ठिनमारभ्य कीटपर्यन्तमुल्लसन्।
बहुधोपाधिमास्थाय स एक: सन् प्रकाशते।।
शरीरिणां प्रभेदेऽपि न शरीरी विभिद्यते।
आदर्शानां प्रभेदेऽपि पश्यन्निव मुखं पुमान्।।
एकमेव यथा तैलं स्थूलेऽपि तिलसञ्चये।
तथा विश्वविलासेऽस्मिन्नेको लोकोत्तर: प्रभु:।।
प्रतिरन्ध्रं गवाक्षाणामन्तरिक्षे व्यवस्थिते।
यथा न वस्तुतो भेदस्तद्वदात्मनि दृश्यताम्।।
एकमेव हि सामान्यं सत्ता गोत्वादि कल्प्यते।
तद्वदेकोऽप्यमात्मेति वदन् कस्मान्न मृष्यते।।
एकेनैवात्मना सिद्धे लोकयात्राऽनुवर्तने।
नानात्वकल्पनं तत्र गौरवाय न किं भवेत्।।
किञ्च भेदस्य न क्वापि विषयोऽस्तीति दर्शितम्।
अतोऽप्यद्वैतपक्षेऽस्मिन्नानात्वं कथमात्मन:।।

शाम्भवी शक्ति के अनेक रूप

अथ प्रकृतिं प्रकटयति—

णाणकिआमाआणं गुणाण सत्तरअतमसहावाणं।
अविहाआवत्थाए तत्तं पअडित्ति संभवी सत्ती।।२०।।

(ज्ञानक्रियामायानां गुणानां सत्त्वरजस्तमस्स्वभावानाम्।
अविभागावस्थायां तत्त्वं प्रकृतिरिति शाम्भवी शक्तिः।।)

(शाम्भवी शक्ति के रूप में) ज्ञान शक्ति, क्रिया शक्ति एवं माया शक्ति (कही जाने वाली शम्भु-शक्ति) (और अधिक विभाग-विभक्त होने पर) एवं गुणों के रूप में व्यक्त सतोगुण, रजोगुण एवं तमोगुण के स्वभाव वाली प्रकृति (प्रकृति तत्त्व) अपनी अवि-भागावस्था (अविभक्त मूलावस्था) में शाम्भवी शक्ति कहलाती है अर्थात् ज्ञान, क्रिया एवं माया के गुणों वाली तथा सतोगुण, रजोगुण एवं तमोगुण के स्वभाव वाली प्रकृति अपनी अविभक्तावस्था में शाम्भवी शक्ति कहलाती है।।२०।।

ज्ञान नाम प्रकाशः। क्रिया विमर्शः। माया तु अहमिदमिति इदमहमिति किञ्चिद्भेदप्रथप्ररोहेऽपि सदाशिवेश्वरावस्थावदहन्तापर्यवसायिनी शक्तिः। तासां परमेश्वरशक्तिभूतानामपि व्यामोह्यमानपशुजनापेक्षया गुणत्वम्। यदुक्तं श्रीप्रत्य-भिज्ञायाम्—

स्वाङ्गरूपेषु भावेषु पत्युर्ज्ञानं क्रिया च या।
मायातृतीये ते एव पशोः सत्त्वं रजस्तमः।। इति।

ताश्च पशौ सत्त्वं रजस्तम इति भवन्ति। याभिः सुखदुःखमोहात्मकोऽयं लोकव्यवहारः। तन्मयीनां च तासां या विभागशून्या तुलाधारणवदत्यन्तावैष-म्यशालिन्यवस्था, तस्यां पर्यालोच्यमानायां प्रकृतिरिति तत्त्वं भवति। यस्यां शुभा-शुभस्वभावानेकसहस्रगुणदोषोन्मेषभूमिकायां शून्यबुद्धिप्राणशरीरविषयावच्छिन्नाः पञ्चाहन्ता निवृत्तिप्रतिष्ठाविद्याशान्तिशान्त्यातीताः कलाश्च विपश्चिद्भिर्विभूतितया विकल्प्यन्ते। सा च शाम्भव्येव शक्तिरित्यनेन साङ्ख्यादिसिद्धान्तोऽपहास्यते। ते खलु—

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः।।

इत्यादिना पुरुषादुपरि न किञ्चित् तत्त्वान्तरम्, पुरुषश्चोदासीनः प्रकृतिश्च तदधीना, सा च नित्या, न विकृतिः, षोडकस्तु नित्यं विकारात्मक एवेत्याचक्षते। नैवमस्मत्समयः। यतः पुरुषादुपरि बहूनि तत्त्वानि परमशिवपर्यन्तम्। पुरुषश्च सर्वदा सर्वज्ञः सर्वकर्ता च स्वात्माख्यातिवशात् सङ्कुचित इव भासते। प्रकृतिश्च न केवलं पुरुषेणैव प्रेर्यते। तस्य परमेश्वरस्वातन्त्र्यव्यतिरेके तादृक्प्रेरकत्वसामर्थ्या-भावात्। यदुक्तं श्रीस्पन्दे—

न हीच्छा नोदनस्यायं प्रेरकत्वेन वर्तते।
अपि स्वात्मबलस्पर्शात् पुरुषस्तत्समो भवेत्।। इति।

सा च नित्यं विकृता कदाचित्त्वविकृता। षोडशकोऽपि कदाचिदविकृतः, कदाचिच्च विकृतोऽपीति।

अथ ये तमुदासीनमाहुर्नित्योदितोद्यमम्।
त एवं प्रतिवक्तव्याः सर्वदा चेदनुद्यमः ।।
तेन मृत्पिण्डकल्पेन जगतः किं प्रयोजनम्।
किमित्यङ्गीकृतिस्तस्य किंप्रमाणोऽपि वा भवेत् ।।
यदुच्येत तदेवैतदौदासीन्यं चिदात्मनः।
प्रवर्तयति विश्वस्मिन् प्रकृतिं विकृतिस्पृशम् ।।
अन्यथा प्रकृतेः किञ्चिन्न प्रागल्भ्यं प्रवर्तते।
तदर्थं स्वीकृतिस्तस्य विश्वातिक्रान्ततेजसः ।।
तेनैव च प्रमाणेन तस्य सिद्धिर्भवेदिति।
अत्रोच्यते यथा सा चेदस्यौदासीन्यकल्पना ।।
अनुदासीन एवेति तात्पर्यं पर्यवस्यति।
वैलक्षण्यात् प्रकृत्यादेः सूक्ष्ममुद्यममास्थितः ।।
इत्यसौ निष्क्रियो न स्याद् यतः सूक्ष्मापि सा क्रिया।
स्थवीयसीः क्रिया सूते प्रकृतौ विकृतिष्वपि ।।
जडा अपि स्वभावेन देहाक्षभुवनादयः।
यत्प्रभावात् प्रवर्तन्ते स कथं निष्क्रियो भवेत् ।।

अत्र च मदीयमेव सूक्तं यथा—

अश्वेषु गच्छत्सु रथः प्रयातीत्युदेतु वादो रथमध्यवर्ती।
सुखं निषण्णो विषयान्तरं च प्राप्तः पुमान् किन्नु चकार शम्भो ।।

अत्रैतदवधार्यमन्तर्विद्भिः। यदुत—

शिवारम्भः प्रकृत्यन्तस्तत्त्वौघः प्रत्यगादि यः।
तत्र विश्वोत्तरस्यास्य शिवस्य परमेष्ठिनः ।।
सर्वक्रिया च सार्वज्ञ्यं सर्वदोदयता तथा।
सर्वव्यापकता पूर्तिः प्रथन्ते पञ्चशक्तयः ।।
अथ शक्तौ तदिच्छायामुन्मना समनेत्यपि।
व्यापिनी नादबिन्दू च रश्मयः पञ्च जाग्रति ।।
अनुग्रहतिरोधानसंहृतिस्थितिसृष्टयः ।
जगत्कृत्यानि पञ्चापि शक्तितत्त्वभुवः प्रथाः ।।

सदाशिवे पुनस्तत्त्वे ईशानस्तत्पुमानिति ।
अघोरो वामदेवश्च सद्योजातश्च शक्तयः ।।
तदूर्ध्वमीश्वरे तत्त्वे रूपातीतोत्तरं महत् ।
रूपातीतं च रूपं च पदं पिण्ड इति क्रमः ।।
तुर्यातीतं च तुर्यं च सुषुप्तिस्वप्नजागराः ।
अवस्थाः पञ्च शुद्धाया विद्यायाः शक्तिविभ्रमः ।।
सैवेयं शाम्भवीं शक्तिमाणवीं शोधनीमपि ।
बोधनीमपि ता दीक्षा प्रसूते स्फूर्तिशालिनी ।।
निरुपायप्रकाशाख्यो ज्ञानं योगः क्रियेत्यपि ।
चर्येति च तदुत्थैव पुमर्थोपायकल्पना ।।
तत एव महाशक्तिर्हाकिनी नाम जायते ।
डाकिनी राकिनी तद्वल्लाकिनी काकिनीत्यपि ।।
साकिनीति च देहेऽस्मिन् यद्वैचित्र्यं विजृम्भते ।
अथ मायेति यत् तत्त्वमुच्यते तस्य शक्तयः ।।
कलाविद्ये रागकालौ नियतिस्तत्र पञ्चमी ।
प्राणोऽपानः समानः स्यादुदानो व्यान इत्यपि ।।
शरीरयात्रोपक्षीणः पुरुषे शक्तिसंग्रहः ।
प्रकृतौ तु गुणाः सत्त्वं रजश्च तम इत्यपि ।।
विकृत्यविकृती तद्वदुच्यन्ते पञ्च रोचिषः ।
अथैतयोः पुम्प्रकृत्योः स्फुरणक्रियया भवेत् ।।
वक्ष्यमाणमशेषेण विश्ववैचित्र्यकल्पनम् ।
तत्प्रकारोऽपि विधिवद् वितत्य प्रतिपाद्यते ।।
पुम्प्रकृत्योः समुद्योगाद् धातुरात्मेति जायते ।
त्वगसृङ्मांसमेदोस्थिमज्जाशुक्राह्वयैरयम् ।।
वातपित्तकफाख्यैश्च स्वांशोद्योतैर्विजृम्भते ।
अनयोरेव संघट्टाद् यो मनो धीरहङ्क्रिया ।।
इत्यन्तःकरणोल्लासस्त्रैविध्येनानुभूयते ।
तत्र बुद्ध्युद्यमाद् धर्मो ज्ञानं वैराग्यमित्यपि ।।
ऐश्वर्यं वरदत्वं चेत्युन्मीलति विचित्रता ।
क्रमादेतद्विपर्यासो मनसः शिल्पमिष्यते ।।
मदीयत्वामदीयत्वकार्पण्यमदमत्सराः ।
अहङ्कारस्फुरत्ता स्युः संसारस्फुर्तिहेतवः ।।

तद्वत् तयोर्विभूत्यैव गुणाः सत्त्वं रजस्तमः ।
इति त्रयः प्रतीयन्ते विकृताविकृतोदयाः ।।
तत्र सत्त्वस्य सौन्दर्यं सौभाग्यं साधुशीलता ।
सौमुख्यमथ सौजन्यमिति स्फुरणविभ्रमः ।।
वशीकरणमाकर्षः शान्तिः पोषणपालने ।
इति कर्माणि रजसो गुणस्याहुः परिग्रहम् ।।
अथ विद्वेषणं यत् स्याद् यच्चोच्चाटनमुच्यते ।
स्तम्भनं मोहनं चेति मारणं चेति याः क्रियाः ।।
तदेतदखिलं तस्य तमसः क्षोभविभ्रमः ।
गुणैरेभिरुपस्कारमहङ्कारो यदाश्नुते ।।
सात्त्विकत्वादिभेदेन तदा त्रैविध्यमृच्छति ।
तत्र शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा इति क्रमात् ।।
सात्त्विकः स्वेन रूपेण प्रथते भोग्यवस्तुषु ।
राजसस्तु विजृम्भेत वचनादानधावनैः ।।
विसर्गानन्दनाभ्यां च पञ्चभिः स्वस्वभाववान् ।
तामसोऽपि खवाय्वग्निपाथोभूमिस्वलक्षणैः ।।
भूतैर्वपुष्मान् प्रथते विश्वोपादानहेतुभिः ।
किञ्च त्रैविध्यवत्यस्मिन्नहङ्काराह्वये पदे ।।
विभूतिविभ्रमोत्कर्षात् त्रिधा विततिरिष्यते ।
पुण्येच्छा तत्त्वजिज्ञासा लोकोत्तीर्णार्थगृध्नुता ।।
वस्तुष्वध्यवसायः श्रीर्धीः सङ्कल्पविकल्पिनी ।
शान्तिदान्त्यादिमित्रस्य सात्त्विकस्य विजृम्भितम् ।।
श्रोत्रत्वगक्षिरसनाघ्राणेन्द्रियमयीं दशाम् ।
राजसस्याहुरैश्वर्यं हर्षभीत्यादिदायिनः ।।
वाणी पाणिरथो पादः पायूपस्थमिति क्रमात् ।
मोहालस्यादिसुहृदस्तामसस्य परिच्छदः ।।
अथ या महती सिद्धिः प्रसूता प्रस्तुतद्वयात् ।
तस्याः पञ्चविधा स्फूर्जा साधकेष्वनुभूयते ।।
यथेप्सितशरीराप्तिः प्रवेशोऽन्यस्य वर्ष्मणि ।
दूराध्वयानायानं च दूरश्रवणदर्शनम् ।।
अदृश्यकरणं चेति तत्प्रकारः प्रतीयताम् ।
पुण्यक्रियेति काप्यस्ति विश्वोत्पत्त्यै स्थितिस्तयोः ।।

वीर्यं गाम्भीर्यमैश्वर्यं भोक्तृत्वं दातृतेत्यपि ।
तस्याः प्रथनवैचित्र्यं यल्लभ्यं भाग्यशालिभिः ।।
इत्थं तत्रैव चिन्नाडी ज्ञानसूत्रमिति स्मृता ।
चित्रपद्मशिवाख्याश्च शक्त्यात्माभिहिते अपि ।।
नाडीः पञ्च प्रपञ्चेऽस्मिन् प्रसुवाना प्रवर्तते ।
एवं हाटककालाग्नी कूटस्थ कूर्म इत्यपि ।।
अनन्तः शक्त्युपश्लिष्टः कपिलर्षिरिति क्रमात् ।
तद्विजृम्भैव बोद्धव्या सप्तपातालधारिणी ।।
उक्तैतदखिलाभोगस्वभावत्वेऽप्यनाविलः ।
निस्तरङ्ग इवाम्भोधिर्वहन् गाम्भीर्यसम्पदम् ।।
चिदानन्देषणाज्ञानक्रियापञ्चकशक्तिमान् ।
भैरवः परमो नाथस्तत्त्वान्ते कथयिष्यते ।।

प्रपञ्चवैचित्र्यभुवं प्रपञ्चयन् प्ररूढपञ्चार्थरहश्चमत्क्रियाम् ।
प्रकाशयामास महेश्वरः स्वयं परं परामर्शमयीमहंस्फुराम् ।।
अहङ्क्रिया नित्यमहङ्क्रियायां पराक्रमो यस्य पराक्रमे च ।
स एव वीरो ननु तस्य शास्त्रं विमर्शशाणोल्लिखिला स्वशक्तिः ।।

इत्यलमतिरहस्योन्मीलनसाहसोल्लासेन।।२०।।

प्रकृति एवं शाम्भवी शक्ति में ऐकात्म्य

ज्ञान = प्रकाश, क्रिया = विमर्श, माया = अहमिदम्, इदमहम् के स्वरूप वाली भेदप्रथा के प्ररोह के समय भी सदाशिव-ईश्वर की विशिष्ट अवस्था के समान अहन्ता पर्यवसायिनी शक्ति ही माया है—माया तु अहमिदमिति इदमहमिति किञ्चिदभेद-प्रथा-प्ररोहेऽपि सदाशिवेश्वरावस्थावदहन्तापर्यवसायिनी शक्तिः।

इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया शक्तियाँ ही पशुभाव में सतोगुण, रजोगुण एवं तमोगुण बन जाती हैं—

स्वांगरूपेषु भावेषु पत्युर्ज्ञानं क्रिया च या।
माया तृतीये त एव पशोः सत्त्वं रजस्तमः।।[१]

महेश्वरानन्द कहते हैं—

१. प्रकृति सत्वगुणस्वभावा होने पर ज्ञान शक्ति कहलाती है।
२. प्रकृति रजोगुणस्वभावा होने पर क्रियाशक्ति कहलाती है।
३. प्रकृति तमोगुणरूपिणी होने पर मायाशक्ति है।

---

१. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा

४. इस प्रकार विभाग-विभक्त दशा में प्रकृति ज्ञानक्रिया मायात्मिका है।
५. अविभक्त एकरस अवस्था में यही मूल शक्ति (मूल प्रकृति) ही शाम्भवी शक्ति है।

इन तीनों की शिव के साथ अभिन्नता एवं अन्तरंगता ही शाम्भवी शक्ति है।

सांख्य और त्रिक दर्शन—भेदक तत्त्व—

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः।।

सांख्यकारिका का यह सिद्धान्त एवं इस प्रकार का तत्त्व-विभाजन त्रिक दर्शन को स्वीकार्य नहीं है। इसमें कहा गया है कि पुरुष से उच्चतर अन्य कोई तत्व है ही नहीं। त्रिकनय की दृष्टि यह है कि पुरुष से ऊपर तो अनेक ऊर्ध्ववर्ती तत्त्व हैं और इनका तारतम्य परमशिव तक जाता है।[१]

त्रिक दर्शन के अनुसार प्रकृति का स्वरूप

परशुरामकल्पसूत्र के षट्त्रिंशत्तत्त्वानि सूत्र की सौभाग्यसुधोदय नामक टीका में रामेश्वर सूरि कहते हैं—सत्वरजस्तमोगुणानां साम्यवस्था प्रकृतिः चित्तापरपर्याया त्रयोदशं तत्त्वम्।

शाक्तद्वैतवादी त्रिपुरारहस्य में कहा गया है कि सुषुप्ति में जो प्रकृति है, जाग्रत् मे वही चित्त है—

सुषुप्तौ प्रकृतिर्ज्ञेया तदन्ते चित्तमुच्यते।
वासनापिण्डसहिता चितिश्चित्तमुदीरितम्।। (७२)
अव्यक्तमेतदेवोक्तं वासनापिण्डभावतः।
पुरुषाणां विभेदेन चित्तं बहुविधं भवेत्।। (ज्ञानखण्ड)

माया के कारण कालादिक तत्त्वपञ्चकों से संकोच-प्राप्त जीवरूपी शिव की भेदमयी दृष्टि से अवभासित होता हुआ उसका जो वेद्यस्वरूप विश्व का अविभक्त सामान्याकार है, उसे प्रकृतितत्त्व कहते हैं।

अवच्छिन्न कर्तृत्व से विशिष्ट शून्य आदि प्रमाता के भाव वेद्यविशेष की अपेक्षा जो वेद्यसामान्यात्मक भोग्यरूप है, उसी की आख्या है—प्रकृतितत्त्व या प्रधान।

एवं कलाख्यतत्त्वस्य किञ्चित्कर्तृत्वलक्षणे।
विशेषभागे कर्तृत्वं चर्चितं भोक्तृपूर्वकम्।
विशेषणतया योऽत्र किञ्चिद्भागस्तदोत्थितम्।
वेद्यमात्रं स्फुटं भिन्नं प्रधानं सूयते कला।
(तन्त्रा. ६.९, २१३-२१४)

---

१. परिमल

जैसे पुरुष जगत् उन्मेषरूपी क्रीड़ा करने वाले परमेश्वर की आत्मकल्पना है, वैसे ही प्रकृति उसकी वेद्यकल्पना है—इदमेव हि परं स्वातन्त्र्यं यत् स्वं स्वरूपं वेदकमेव सत् वेद्यत्वेन अवभासयति। (विवेक भाग-१)

काश्मीर का शिवाद्वयदर्शन प्रकृति को तीनों गुणों की अक्षुब्ध दशा या साम्यावस्था मानता है। सांख्य दर्शन भी सत्व, रज एवं तमोगुण की साम्यावस्था को प्रकृति मानता है। (विवेक-६)

सांख्य एवं त्रिक दर्शन में प्रकृतिविषयक धारणा में अन्तर—सांख्य दर्शन प्रकृति को जड़ मानता है और पुरुष को कर्तृत्वहीन एवं प्रकृति से निर्लिप्त मानता है। काश्मीरीय शैवदर्शन के अनुसार अनन्त (स्वतन्त्रेश) जीवों के कर्मानुसार उन्हें सुख-दु:ख का भोगानुभव कराने हेतु प्रकृति क्षुब्ध करते हैं और उक्त गुणत्रय क्षुब्ध होकर जगत् का विस्तार करता है। सांख्य एक प्रकृति मानता है; किन्तु त्रिक दर्शन प्रत्येक पुरुष की पृथक्-पृथक् प्रकृति मानकर प्रकृति की अनन्त संख्या स्वीकार करता है। (तन्त्रालोक भाग-६)

प्रकृति से बुद्धितत्त्व, बुद्धितत्त्व से अहंकार, अहंकार से मन (अन्त:करण) उद्भूत होते हैं। माया-प्रमाता (मित प्रमाता) पाँच ज्ञानेन्द्रियों एवं पाँच कर्मेन्द्रियों (करणों) द्वारा भोग प्राप्त करता है। पाँच तन्मात्रायें पाँच तत्त्व को जन्म देती हैं। सांख्य दर्शन के तेईस तत्त्व यथावत् त्रिक दर्शन में भी ले लिये गये हैं।

मुख्य बात यह है कि अनन्त जीवात्माओं के कर्मों के अनुसार भोग प्रदान करने हेतु प्रकृति को क्षुब्ध करता है—

ईश्वरछाक्षुब्धलौकिकं पुरुषं प्रति।
भोक्तृत्वाय स्वतन्त्रेश: प्रकृतिं क्षोभयेद् भृशम्।।
(तन्त्रा. ६.६-२२५)

त्रिक दर्शन के ३६ तत्त्व

- शिवतत्त्व—१. शिव २. शक्ति (अभेद भूमिका)
- विद्यातत्त्व—१. सदाशिव २. ईश्वर ३. शुद्धविद्या (भेदाभेदभूमिका)
- आत्मतत्त्व—माया, कला, विद्या, राग, काल, नियति, पुरुष, प्रकृति, अन्त:करण, बुद्धि, अहंकार, मन, ५ ज्ञानेन्द्रियाँ, ५ कर्मेन्द्रियाँ, ५ तन्मात्रा एवं ५ पञ्चमहाभूत। (भेदभूमिका)

शैवपरिभाषा (शिवाग्र योगीन्द्र ज्ञान शिवाचार्य) में कहा गया है कि गुणों से पृथ्वीपर्यन्त मूलोपादान ही प्रकृति है, न कि गुणों का उपादान कारण। गुणों की साम्यावस्था प्रकृति है—गुणादिपृथिव्यन्तमूलोपादानं प्रकृति:। ननु गुणोपादानं न प्रकृति:,

किन्तु साम्यावस्थायां प्राप्त गुण एव। ते च परमकरणम्।

इसीलिये कहा गया है—

गुणादिक्षितिपर्यन्तं तत्त्वजातं यतो भवेत्।
तदव्यक्तमिति प्रोक्तं क्षोभ्यं श्रीकण्ठविक्रमैः।।
गुणा एव समावस्थां प्राप्ता प्रकृतिरुच्यते।
तत्कथं तदुपादानं प्रकृतिः प्रतिपाद्यते।।

पौ. पंस्त्व (श्लो. १८-२१) में कहा गया है—

न गुणानां समावस्था प्रकृतिः शिवशासने।
अचेतनत्वेऽनैकत्वाद्गुणानां मुनिपुङ्गवाः।
इष्टं कारणपूर्वत्वं तत्तु प्रकृतिसंज्ञितम्।।

प्रकृति का स्वरूप—तत्त्वसमाससूत्र में प्रकृति एवं पुरुष को नित्य मूल्य तत्त्व प्रतिपादित करते हुये उन्हीं से अनन्त ब्रह्माण्डों की सृष्टि का प्रतिपादन किया गया है। भावगणेश कहते हैं—

पुरुषः स जयत्याद्यः प्रकृतिः सा जयत्यजा।
याभ्यां संसृज्य सृज्यन्तेऽनन्तब्रह्माण्डकोटयः।।

तत्त्वसमाससूत्र (सांख्य का सूत्रग्रन्थ = कपिल-प्रणीत) में कहा गया है कि— अष्टौ प्रकृतयः।

भावगणेश (तत्त्वयाथार्थ्यदीपन टीका में) कहते हैं—प्रकर्षेण कुर्वन्तीति प्रकृतयः। तत्त्वान्तरारम्भकत्वं प्रकृतित्वमिति सामान्यलक्षणम् अर्थात् जिसके द्वारा प्रकर्ष पूर्व क्रिया निष्पादित की जाती है, उसे प्रकृति कहते हैं। प्रकृति का सामान्य लक्षण है— तत्त्वान्तरों का आरम्भकत्व। प्रकृति का एक लक्षण है—गुणों की साम्यावस्था— साम्यावस्थोपलक्षिता गुणाः प्रकृतिरित्येकं लक्षणम्।

प्रकृति के पर्याय (भावगणेश की दृष्टि से)—अव्यक्त, प्रधान, ब्रह्म, अक्षर, क्षेत्र, तम, माया, ब्राह्मी, विद्या, अविद्या, प्रकृति, शक्ति एवं अजा।

गुणत्रय की वृत्तियाँ

सतोगुण—

१. सन्तोष	५. क्षमा	९. दान्ति
२. आर्जव	६. स्मृति	१०. क्षान्ति
३. शौच	७. सौहित्य	११. परा दया
४. व्यवसाय	८. परम औत्सुक्य	

सन्तोषमार्जवं शौचं व्यवसायः क्षमा स्मृतिः।
सौहित्यं परमौत्सुक्यं दान्तिः शान्तिर्दया परा।।
सत्त्वस्य वृत्तयः प्रोक्ताः रजसश्चाथ कथ्यते।

रजोगुण—

१. शौर्य	४. अभिमान	७. निर्दयता
२. क्रौर्य	५. सकल्कता	८. भोग
३. महोत्साह	६. दृढ़ता	९. दम्भ

शौर्यं क्रौर्यं महोत्साहः साभिमानः सकल्कता।
दार्ढ्यं च निर्दयत्वं च भोगो दम्भो रजोगुणाः।।

तमोगुण—

१. अरति	४. पैशुन्य	७. मद	१०. मूढ़ता
२. मन्दता	५. गुरुता	८. आलस्य	
३. दैन्य	६. निद्राधिक्य	९. निरोध	

अरतिर्मन्दता दैन्यं पैशुन्यं गुरुता तथा।
निद्राधिक्यं मदालस्यं निरोधो मूढता च या।
तमसो वृत्तयः प्रोक्ता विभिन्ना सर्वजन्तुषु।।

काश्मीरीय शैव दर्शन के अनुसार (त्रिक दर्शनानुसार) महामाया के स्थूल (तृतीयावस्था) रूप का नाम है—प्रकृति। यह त्रिगुणात्मिका है। महामाया ही अपनी स्थूलावस्था में प्रकृति बन जाती है।

आचार्य क्षेमराज षट्त्रिंशत्तत्त्वसन्दोह में प्रकृति का स्वरूप इस प्रकार परिभाषित करते हैं—

संकलितेच्छाद्यात्मकसत्वादिसाम्यरूपिणी तु सती।
बुद्ध्यादिसामरस्यस्वरूपचित्तात्मिका मता प्रकृतिः।।

इसी प्रकृति के जो तीन गुण हैं, उनका स्वरूप इस प्रकार है—

१. इच्छा = इच्छाऽस्य रजोऽरूपाहंकृतिरासीदहम्प्रतीतिकरी।
२. ज्ञान = ज्ञानमपि सत्त्वरूपा निर्णयबोधस्य कारणं बुद्धिः।
३. क्रिया = तस्य क्रिया तमोमयमूर्तिर्मन उच्यते विकल्पकरी।

आचार्य हयग्रीव ने शाक्तदर्शनम् में कहा है—मायावस्था प्रकृतिः मूलवह्निशिखाग्रे मूलप्रकृतिः।

आचार्य कपिल ने सांख्यसूत्र में कहा है—सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः।
(२.६१)

आचार्य विज्ञानभिक्षु सांख्यप्रवचनभाष्य में कहते हैं कि—सत्वादिद्रव्याणां या साम्यावस्था अन्यूनानतिरिक्तावस्था, न्यूनाधिकभावेनासंहतावस्थेति यावत् अकार्यावस्थेति निष्कर्ष:, अकार्यावस्थोपलक्षितं गुणसामान्यं प्रकृतिरित्यर्थ:।

श्रुति में कहा गया है—

सत्वं रजस्तम इति एषैव प्रकृति: सदा।
एषैव संसृतिर्जन्तोरस्या: पारे परं पदम्।।

सांख्यशास्त्र के तत्त्व : २५ तत्त्वों का वर्गीकरण—

१. प्रकृति = १ ३. विकृति = १६
२. प्रकृति-विकृति = ७ ४. 'प्रकृति-विवृति से परे' पुरुष = १—**२५ तत्त्व**

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्या: प्रकृतिविकृतय: सप्त।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृति: पुरुष:।।

स्वातन्त्र्यात्मा चिति शक्ति ही ज्ञान, क्रिया और मायारूप होकर पशुदशा में संकोच के प्रकर्ष से—१. सत्व २. रज ३. तमस् एवं तत्स्वभावात्मक चित्त के रूप में स्फुरित होती है—स्वातन्त्र्यात्मा चितिशक्तिरेव ज्ञानक्रियामायाशक्तिरूपा पशुदशायां संकोचप्रकर्षात् सत्वरजस्तमस्वभावचित्तात्मतया स्फुरति—यह बात श्रीप्रत्यभिज्ञा में कही गई।

श्रीप्रत्यभिज्ञा में कहा गया है—

स्वांगरूपेषु भावेषु पत्युर्ज्ञानं क्रिया च या।
माया तृतीये त एव पशो: सत्वं रजस्तम:।।

आचार्य महेश्वरानन्द कहते हैं—ताश्च पशौ सत्वं रजस्तम इति भवन्ति। याभि: सुखदु:खमोहात्मकोऽयं लोकव्यवहार:।

सारांश यह कि—संवित् शक्ति की अंगभूत—१. ज्ञान शक्ति २. क्रियाशक्ति एवं ३. माया शक्ति पश्वावस्था में—सतोगुण, रजोगुण एवं तमोगुण बन जाते हैं और वे प्राणियों में सुख-दु:ख-मोहस्वरूप सांसारिक लोकव्यवहार का प्रवर्तन करते हैं।

सत्वादि सामरस्यस्वरूप चित्तात्मिका शक्ति ही प्रकृति है। आचार्य क्षेमराज कहते हैं—

सत्वादिसामरस्यस्वरूपचित्तात्मिका मता प्रकृति:।[१]

प्रकृति का पञ्चभूतात्मक स्थूल स्वरूप

अपञ्चीकृत महाभूत पञ्चीकृत महाभूत

प्रथमावस्था—इस अवस्था में तन्मात्रायें शुद्ध स्वरूप में रहती हैं।

१. षट्त्रिंशत्तत्त्वसन्दोह

द्वितीयावस्था—इस अवस्था में पञ्चमहाभूतों की प्रत्येक तन्मात्रा की दो बराबर भागों में विभाजित होने की प्रवृत्ति।

तृतीयावस्था—इस अवस्था में वे बराबर भागों में बँट जाती हैं।

चतुर्थावस्था—इस अवस्था में प्रत्येक महाभूत की आधी तन्मात्रा अपने अविकल्प रूप में रहती है और अर्ध चार अंशों में आपने-आपको विभाजित कर लेती है—प्रत्येक अंश सम्पूर्ण तन्मात्रा का आठवाँ हिस्सा होता है।

इस तरह इस अवस्था में प्रत्येक प्रथमावस्था की तन्मात्रा अपने-आपको पाँच हिस्सों में बाँट लेती है—एक अर्धभाग और चार १/८ अंश।

पञ्चमावस्था—इस अवस्था में प्रत्येक आधा भाग ज्यों का त्यों बना रहता है और शेष चार भूतों के लिये गये चार १/८ अंशों के साथ मिल जाता है।

अवस्थायें	आकाश १	वायु २	अग्नि ३	जल ४	पृथ्वी ५	विवरण
१						तन्मात्राओं का अपना शुद्ध अस्फुट स्वरूप
२						तन्मात्राओं की दो भागों में विभाजित होने की उन्मुखता
३						तन्मात्राओं की विभाजित अवस्था
४	००००	००००	००००	००००	००००	आधा भाग अविकल्प रहता है और शेष आधा अपने-आपको चार अंशों में विभाजित कर लेता है।
५	०१ ०२ ०३ ०४ ०५	०१ ०२ ०३ ०४ ०५	०१ ०२ ०३ ०४ ०५	०१ ०२ ०३ ०४ ०५	०१ ०२ ०३ ०४ ०५	प्रत्येक तन्मात्रा के आधे भाग का दूसरे भूतों के चार अंशों के साथ मेल हो जाता है।

स्थूल महाभूतों की उत्पत्ति का क्रम

१. आकाश तत्त्व	१/२ आकाश	१/८ वायु	१/८ अग्नि	१/८ जल	१/८ पृथ्वी	पञ्चीकृतमहाभूत-सम्भवं कर्म सञ्चितम्।
२. वायु तत्त्व	१/२ वायु	१/८ आकाश	१/८ अग्नि	१/८ जल	१/८ पृथ्वी	शरीरं सुखदु:खानां भोगायतनमुच्यते।

३. अग्नि तत्त्व	१/२ अग्नि	१/८ आकाश	१/८ वायु	१/८ जल	१/८ पृथ्वी	
४. जल तत्त्व	१/२ जल	१/८ आकाश	१/८ वायु	१/८ अग्नि	१/८ पृथ्वी	(आत्मबोध, शंकराचार्य)
५. पृथ्वी तत्त्व	१/२ पृथ्वी	१/८ आकाश	१/८ वायु	१/८ अग्नि	१/८ जल	

त्रिक दर्शन का पुरुष—यह सर्वज्ञ है। यह सर्वकर्ता भी है; किन्तु स्वात्माख्याति (आत्मज्ञान) न होने के कारण सङ्कुचित-जैसा दृष्टिगत होता है। सांख्य का पुरुष तो क्रियाहीन है।

त्रिक दर्शन की प्रकृति—यह केवल पुरुष के द्वारा प्रेरित नहीं होती; प्रत्युत परमेश्वर की स्वातन्त्र्य शक्ति के व्यतिरेक (पार्थक्य) की स्थिति में तो प्रकृति सामर्थ्यहीन हो जाती है। इसकी शक्ति स्वातन्त्र्य शक्ति (परमशिव अघटन-घटनापटीयसी; कर्तुं-अकर्तुं-अन्यथाकर्तुं की क्षमता वाली शक्ति) से उद्भावित है। श्री स्पन्दशास्त्र (स्पन्द-कारिका) में भी यही कहा गया है—

> न हीच्छा नोदनस्यायं प्रेरकत्वेन वर्तते।
> अपि स्वात्मबलस्पर्शात् पुरुषस्तत्समो भवेत्।।

महेश्वरानन्द की दृष्टि—

१. सांख्यदर्शन की जो यह दृष्टि है कि—पुरुषादुपरि न किञ्चित् तत्त्वान्तरम्। पुरुषश्चोदासीनः। प्रकृतिश्च तदधीना, सा च नित्या, न विकृतिः षोडकस्तु नित्यं विकारात्मक एवेत्याचक्षते। नैवमस्मत्समयः—यह हमारा मत नहीं है।

२. पुरुष सांख्योक्त पुरुष के समान पङ्गु (क्रियाहीन) नहीं है; प्रत्युत इसके विपरीत वह कर्ता है (कर्तृत्व शक्ति से सम्पन्न है)।

३. प्रकृति मात्र पुरुष से प्रेरित नहीं होती; प्रत्युत शिव की स्वातन्त्र्य शक्ति से प्रेरित होती है।

४. सांख्य की प्रकृति जड़ है; किन्तु त्रिक दर्शन की मूल प्रकृति (स्वातन्त्र्य शक्ति संवित् शक्ति, विमर्श) चेतन है।

५. सांख्य की प्रकृति पुरुष से सर्वथा भिन्न तत्त्व है। उसका पुरुष के साथ केवल विच्छेद्य संयोगमात्र होता है; किन्तु त्रिकदर्शन की प्रकृति अविच्छेद्य है, शिव में समवेत है, शिव की अविच्छेद्य समवायिनी शक्ति है। इसका पुरुष के साथ (सांख्य की भाँति) आकस्मिक संयोग वाला सम्बन्ध नहीं है; प्रत्युत उसका शिव के साथ अविच्छिन्न, स्वसमवेत, शाश्वत, अनादिकालीन एवं शिव की आत्मशक्ति के रूप में एवं शिव के स्वभाव के रूप में अविनाभाव सम्बन्ध है।

६. पुरुष और प्रकृति की (सांख्य दर्शन की) दृष्टि त्रिक दर्शन से पूर्णतया पृथक् है।

७. सांख्य की प्रकृति प्रकृति है, विकृति नहीं है; किन्तु त्रिक दर्शन में वह प्रकृति एवं विकृति दोनों है।

८. षोडशक भी कभी विकृत है, कभी विकृत नहीं है।

(क) सा (प्रकृतिः) च नित्यं विकृता कदाचित्त्वविकृता।

(ख) षोडशकोऽपि कदाचिदविकृतः कदाचिच्च विकृतोऽपीति।[१]

कहा भी गया है—

अथ ये तमुदासीनमाहुर्नित्योदितोद्यमम्।
त एवं प्रतिवक्तव्याः सर्वदा चेदनुद्यमः।।
तेन मृत्पिण्डकल्पेन जगतः किं प्रयोजनम्।
किमित्यङ्गीकृतिस्तस्य किं प्रमाणोऽपि वा भवेत्।।
यदुच्येत तदेवैतदौदासीन्यं चिदात्मनः।
प्रवर्तयति विश्वस्मिन् प्रकृतिं विकृतिस्पृशग्।।

अन्यथा प्रकृतेः किञ्चिन्न प्रागल्भ्यं प्रवर्तते।
तदर्थं स्वीकृतिस्तस्य विश्वातिक्रान्ततेजसः।।
तेनैव च प्रमाणेन तस्य सिद्धिर्भवेदिति।
अत्रोच्यते यथा सा चेदस्यौदासीन्यकल्पना।।
अनुदासीन एवेति तात्पर्यं पर्यवस्यति।
वैलक्षण्यात् प्रकृत्यादेः सूक्ष्ममुद्यममास्थितः।।
इत्यसौ निष्क्रियो न स्याद् यतः सूक्ष्मापि सा क्रिया।
स्थवीयसीः क्रिया सूते प्रकृतौ विकृतिष्वपि।।
जडा अपि स्वभावेन देहाक्षभुवनादयः।
यत्प्रभावात् प्रवर्तन्ते स कथं निष्क्रियो भवेत्।।

महेश्वरानन्द कहते हैं—

अश्वेषु गच्छत्सु रथः प्रयातीत्युदेतु वादो रथमध्यवर्ती।
सुखं निषण्णो विषयान्तरं च प्राप्तः पुमान् किन्नु चकार शम्भो।।

यह भी कहा गया है कि त्रिक दर्शन की अपनी मौलिक दृष्टियाँ हैं; यथा—

शिवारम्भः प्रकृत्यन्तस्तत्त्वौघः प्रत्यपादि यः।
तत्र विश्वोत्तरस्यास्य शिवस्य परमेष्ठिनः।।
सर्वक्रिया च सार्वज्ञ्यं सर्वदोदयता तथा।
सर्वव्यापकता पूर्तिः प्रथन्ते पञ्चशक्तयः।।

---

१. परिमल (गाथा क्र०-२०)

अथ शक्तौ तदिच्छायामुन्मना समनेत्यपि।
व्यापिनी नादबिन्दू च रश्मयः पञ्च जाग्रति।।
अनुग्रहतिरोधानसंहृतिस्थितिसृष्टयः ।
जगत्कृत्यानि पञ्चापि शक्तितत्त्वभुवः प्रथाः।

* * * * * * *

सदाशिवे पुनस्तत्त्वे ईशानस्तत्पुमानिति।
अघोरो वामदेवश्च सद्योजातश्च शक्तयः।।
तदूर्ध्वमीश्वरे तत्त्वे रूपातीतोत्तरं महत्।
रूपातीतं च रूपं च पदं पिण्ड इति क्रमः।।
तुर्यातीतं च तुर्यं च सुषुप्तिस्वप्नजागराः।
अवस्थाः पञ्च शुद्धाया विद्यायाः शक्तिविभ्रमः।।
सैवेयं शाम्भवीं शक्तिमाणवीं शोधनीमपि।
बोधनीमपि ता दीक्षा प्रसूते स्फूर्तिशालिनी।।
निरुपायं प्रकाशाख्यो ज्ञानं योगः क्रियेत्यपि।
चर्येति च तदुत्थैव पुमर्थोपायकल्पना।।
तत एव महाशक्तिर्हाकिनी नाम जायते।
डाकिनी राकिनी तद्वल्लाकिनी काकिनीत्यपि।।
साकिनीति च देहेऽस्मिन् यद्वैचित्र्यं विजृम्भते।
अथ मायेति यत् तत्त्वमुच्यते तस्य शक्तयः।।
कलाविद्ये रागकालौ नियतिस्तत्र पञ्चमी।
प्राणोऽपानः समानः स्यादुदानो व्यान इत्यपि।।
शरीरयात्रोपक्षीणः पुरुषे शक्तिसंग्रहः।।
प्रकृतौ तु गुणाः सत्वं रजश्च तम इत्यपि।
विकृत्यविकृती तद्वदुच्यन्ते पञ्च रोचिषः।
अथैतयोः पुम्प्रकृत्योः स्फुरणक्रियया भवेत्।।
वक्ष्यमाणमशेषेण विश्ववैचित्र्यकल्पनम्।
तत्प्रकारोऽपि विधिवद् वितत्य प्रतिपाद्यते।।
पुम्प्रकृत्योः समुद्योगाद् धातुरात्मेति जायते।
त्वगसृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्लाह्वयैरयम् ।।

* * * * * * *

वातपित्तकफाख्यैश्च स्वांशोद्योतैर्विजृम्भते।
अनयोरेव संघट्टाद् यो मनो धीरहङ्क्रिया।।

इत्यन्त:करणोल्लासस्त्रैविध्येनानुभूयते ।।
तत्र बुद्ध्युद्यमाद् धर्मो ज्ञानं वैराग्यमित्यपि।
ऐश्वर्यं वरदत्वं चेत्युन्मीलति विचित्रता।
क्रमादेतद्विपर्यासो मनस: शिल्पमिष्यते।।
मदीयत्वामदीयत्वकार्पण्यमदमत्सरा: ।
अहङ्कारस्फुरत्ता स्यु: संसारस्फूर्तिहेतव:।।
तद्वत् तयोर्विभूत्यैव गुणा: सत्वं रजस्तम:।
इति त्रय: प्रतीयन्ते विकृताविकृतोदया:।।

* * * * * * *

तत्र सत्वस्य सौन्दर्यं सौभाग्यं साधुशीलता।
सौमुख्यमथ सौजन्यमिति स्फुरणविभ्रम:।।
वशीकरणमाकर्ष: शान्ति: पोषणपालने।
इति कर्माणि रजसो गुणस्याहु: परिग्रहम्।।
अथ विद्वेषणं यत् स्याद् यच्चोचाटनमुच्यते।
स्तंभनं मोहनं चेति मारणं चेति या: क्रिया:।।
तदेतदखिलं तस्य तमस: क्षोभविभ्रम:।
गुणैरेभिरुपस्कारमहङ्कारो यदाश्नुते।।
सात्विकत्वादिभेदेन तदा त्रैविध्यमृच्छति।
तत्र शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा इति क्रमात्।।
सात्त्विक: स्वेन रूपेण प्रथते भोग्यवस्तुषु।।
राजसस्तु विजृम्भेत वचनादानधावनै:।
विसर्गानन्दनाभ्यां च पञ्चभि: स्वस्वभाववान्।
तामसोऽपि खवाय्वग्निपाथोभूमिस्वलक्षणै:।।
भूतैर्वपुष्मान् प्रथते विश्वोपादानहेतुभि:।
किञ्च त्रैविध्यवत्यस्मिन्नहङ्काराह्वये पदे।।
विभूतिविभ्रमोत्कर्षात् त्रिधा विततिरिष्यते।।
पुण्येच्छा तत्त्वजिज्ञासा लोकोत्तीर्णार्थगृध्नुता।
वस्तुष्वध्यवसाय: श्रीर्धी: संकल्पविकल्पिनी।
शान्तिदान्त्यादिमित्रस्य सात्विकस्य विजृम्भितम्।
श्रोत्रत्वगक्षिरसनाघ्राणेन्द्रियमयीं दशाम्।
राजसस्याहुरैश्वर्यं हर्षभीत्यादिदायिन:।।
वाणी पाणिरथो पाद: पायूपस्थमिति क्रमात्।
मोहालस्यादिसुहृदस्तामसस्य परिच्छद:।।

अथ या महती सिद्धिः प्रसूता प्रस्तुतद्वयात्।
तस्याः पञ्चविधा स्फूर्जा साधकेष्वनुभूयते।।

* * * * * * *

यथेत्सितशरीराप्तिः प्रवेशोऽन्यस्य वर्ष्मणि।
दूराध्वयानायानं च दूरश्रवणदर्शनम्।।
अदृश्यकरणं चेति तत्प्रकारः प्रतीयताम्।
पुण्यक्रियेति काप्यस्ति विश्वोत्पत्त्यै स्थितिस्तयोः।
वीर्यं गाम्भीर्यमैश्वर्यं भोक्तृत्वं दातृतेत्यपि।
तस्याः प्रथनवैचित्र्यं यल्लभ्यं भाग्यशालिभिः।।
इत्थं तत्रैव चिन्नाडी ज्ञानसूत्रमिति स्मृता।
चित्रपद्मशिवाख्याश्च शक्त्यात्माभिहिते अपि।।
नाडीः पञ्च प्रपञ्चेऽस्मिन् प्रसुवाना प्रवर्तते।
एवं हाटककालाग्नी कूटस्थः कूर्म इत्यपि।।
अनन्तः शक्त्युपश्लिष्टः कपिलर्षिरिति क्रमात्।
तद्विजृम्भैव बोद्धव्या सप्तपातालधारिणी।।

* * * * * * *

उक्तैतदखिलाभोगस्वभावत्वेऽप्यनाविलः।
निस्तरङ्ग इवाम्भोधिर्वहन् गांभीर्यसम्पदम्।।
चिदानन्देषणाज्ञानक्रियापञ्चकशक्तिमान्।
भैरवः परमो नाथस्तत्त्वान्ते कथयिष्यते।।

* * * * * * *

प्रपञ्चवैचित्र्यभुवं प्रपञ्चयन् प्ररूढपञ्चार्थरहश्चमत्क्रियाम्।
प्रकाशयामास महेश्वरः स्वयं परं परामर्शमयीमहंस्फुराम्।।
अहङ्क्रिया नित्यमहङ्क्रियायां पराक्रमो यस्य पराक्रमे च।
स एव वीरो ननु तस्य शास्त्रं विमर्शशाणोल्लिखिता स्वशक्तिः।।

सांख्य दर्शन में प्रकृति जड़तत्त्व है। वह किसी शक्तिमान की चिदात्मिका समवायिनी शक्ति नहीं है; किन्तु त्रिक दर्शन में वह शाम्भवी शक्ति है—

ज्ञानक्रियामायानां गुणानां सत्वरजस्तमस्स्वभावानाम्।
अविभागावस्थायां तत्त्वं प्रकृतिरिति शाम्भवी शक्तिः।।

शैव-शाक्त आगमिक दृष्टि—प्रकृति के सम्बन्ध में आगमिक दृष्टि का वैलक्षण्य ध्यातव्य है।

माया के कारण मायादिक तत्त्वपञ्चक से सङ्कुचित जीवरूपी शिव की भेदात्मिका दृष्टि से अवभासित उसका जो वेद्यरूप विश्व का अविभक्त सामान्याकार है, उसकी ही आख्या है—प्रकृति तत्त्व।

ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकार की दृष्टि—ईश्वरप्रत्यभिज्ञा में कहा गया है कि—शून्यादि प्रमाता के अपने-आप से व्यतिरिक्त वेद्यमात्र स्वरूप वाले प्रकृति तत्त्व से कार्य एवं करण (इन्द्रिय) भाव से तेईस प्रकार के प्रमेयों का विकास होता है। यही प्रकृति है—

त्रयोविंशतिधा नेयं यत्कार्यकरणात्मकम्।
तस्याविभागरूप्येकं प्रधानं मूलकारणम्।।[1]

परमात्मा की शक्तियाँ

ज्ञान शक्ति → सतोगुण क्रिया शक्ति → रजोगुण माया शक्ति → तमोगुण

आचार्य क्षेमराज की दृष्टि—सांख्याचार्यों ने तो कहा था कि—सत्वरजस्तभ-साम्यावस्था ही प्रकृति है; किन्तु त्रिक दर्शन गुणत्रय का समुच्चय (समष्टि) को ही प्रकृति नहीं मानता। उसकी दृष्टि इस प्रकार है—

इच्छादित्रिसमष्टि: शक्ति: शान्ताऽस्य सङ्कुचद्रूपा।
सङ्कलितेच्छाद्यात्मकसत्वादिकसाम्यरूपिणी तु सती।
बुद्ध्यादिसामरस्यस्वरूपचित्तात्मिका मता प्रकृति:।।
इच्छाऽस्य रजोरूपाऽहङ्कृतिरासीदहम्प्रतीतिकरी।
ज्ञानमपि सत्वरूपा निर्णयबोधस्य कारणं बुद्धि:।
तस्य क्रिया तमोमयमूर्तिर्मन उच्यते विकल्पकरी।।[2]

यह भी कहा गया है कि—पराप्रकृति ही भगवान् वासुदेव हैं और समस्त जीव उसके अंश हैं। (पाञ्चरात्र मत)

स्वातन्त्र्यात्मा चिति शक्ति ही ज्ञान, क्रिया एवं माया के रूप में उदित होकर पशुदशा में संकोच-प्रकर्ष के कारण सतोगुण, रजोगुण एवं तमोगुण बन जाती है—

स्वाङ्गरूपेषु भावेषु पत्युर्ज्ञानं क्रिया च या।
मायातृतीये त एव पशो: सत्वं रजस्तम:।।

इन्हीं गुणों की साम्यावस्था प्रकृति है।[3]

---

१. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा (भाग २.३-१-१०)
२. षट्त्रिंशत्तत्त्वसन्दोह (१३-१५)
३. स्पन्दकारिका

अन्तःकरण के व्यापार

अथाहङ्कारबुद्धिमनसां तत्त्वमर्थद्वारोपदर्शयति—

कल्लोलंताइ सइं हिअअंबुणिहिम्मि तिण्णि कलणाइं।
आअङ्कंति इदंतं तत्थ अहंतं च एत्थ ओप्पंति॥२१॥

(कल्लोलायमानानि सदा हृदयाम्बुनिधौ त्रीणि करणानि।
आकर्षन्तीदन्तां तत्राहन्तां चात्रार्पयन्ति॥)

हृदय के समुद्र में (तरंगस्वरूप) तीन करण (मन, बुद्धि एवं अहंकार) सदैव तरंगित होते रहते हैं और वे वहाँ (हृदय में) इदन्ता (जागतिक बाह्य विषयों एवं विकल्पों) को आकृष्ट करते रहते हैं तथा यहाँ (बाह्याभिव्यक्त विश्व में) अहन्ता (आत्मसत्ता या हृदय के विचारों) को अर्पित (प्रकट) करते रहते हैं॥२१॥

व्याख्यातरूपं स्वहृदयं हि वैतत्यसर्वतत्त्वास्पदत्वादिना धर्मेण—

नमः प्रमातृवपुषे शिवचैतन्यसिन्धवे।

इति स्थित्या समुद्रतयाऽध्यवसीयते। तत्र कालविशेषावच्छेदव्युदासेन महातरङ्गवदाचरन्ति त्रीणि करणानि प्रमातृरूपस्य कर्तुः साधकतमानीन्द्रियाणि विद्यन्ते। तानि च यथा इदन्तानुप्राणितां विषयवैचित्र्यसम्पदं तत्र हृदयान्तरादाकर्षन्ति हठादनुप्रवेशयन्ति, तद्वदहन्तासारां स्वहृदयचिच्छक्तिमप्यत्र वेद्यभूमावर्पयन्ति, अनैसर्गिकत्वेऽपि नैसर्गिकतयाऽनुभावयन्ति। तानि चाहङ्कारो बुद्धिर्मन इति च व्यवह्रियन्ते तत्र ममेदं न ममेदमित्यभिमानसाधनमहङ्कारः, अध्वसायनिमित्तं बुद्धिः, सङ्कल्पविकल्पहेतुर्मन इति प्रत्येकं लक्षणम्। अयमर्थः—अहङ्कारादीन्यात्मनोऽन्तःकरणानि न केवलं बहिरवलोकितान् विषयानन्तरनुभावयन्ति, किं तर्हि स्वसंक्रान्तया प्रमातृचिच्छक्त्या तं बहिर्वर्तिनमखिलमपि वेद्यवर्गं विषयीभावयोग्यतानुप्रवेशनार्थं प्रकाशमानस्वभावतापादनात्मकपावनीकरणयुक्त्या जिघत्सितौषधाद्यभिमन्त्रणन्यायेनानुगृह्णन्तीति कल्लोलायमानानीति। एतानि हि हृदयमहाम्बुराशौ महातरङ्गाः। ज्ञानकर्मेन्द्रियाणि तु तरङ्गानुतरङ्गन्यायमनुवर्तन्त इत्यर्थः। एषां च विभूतिपरिस्पन्दप्राचुर्यमनन्तरमेवात्यन्तं वितत्य व्याख्यातम्।

अन्तःकरण अन्तस्थ विचारों को बाहर एवं बाह्यस्थ विषयों को भीतर प्रकट एवं विलीन करते रहते हैं। यही मन, बुद्धि एवं अहंकार के प्रमुख कार्य हैं।

जिस प्रकार समुद्र में बड़ी-बड़ी तरंगें उत्पन्न और लीन होती रहती हैं, उसी प्रकार हृदय-समुद्र में मन, बुद्धि एव अहंकाररूप महातरंगें तरंगायमान होती हुई लगातार उत्पन्न एवं लीन होती रहती हैं। ये हृदय की भावनाओं एवं विचारों को बाहर एवं बाहर के विषयों को भीतर प्रकट एवं विलीन करती रहती हैं।

मन संकल्प-विकल्पात्मक होता है। बुद्धि निश्चयात्मिका (अध्यवसायात्मिका) होती है। अहंकार—यह मेरा है, यह मेरा नहीं है—इत्याकाराकारित अहमात्मक विचारों से युक्त अभिमान का पोषक होता है।

मन बुद्धि और अहंकार—मन, बुद्धि, चित्त एवं अहंकार अन्तःकरणचतुष्टय के अङ्ग हैं।

(क) अध्यवसायनिमित्तं बुद्धिः। (परिमल)

(ख) संकल्पविकल्पनहेतुर्मनः। (परिमल)

(ग) तानि चाहङ्कारो बुद्धिर्मन इति च व्यवह्रियन्ते तत्र ममेदं न ममेदमित्यभिमान-साधनमहङ्कारः। (परिमल)
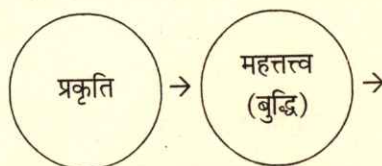
मन, बुद्धि एवं अहंकार—तीनों हमारे हृदय में निरन्तर कल्लोलित या आन्दोलित होकर भीतर एवं बाहर के विषय-वैचित्र्य (विषयों के अनन्तप्रकारात्मक विस्तार) का अनुभव करते रहते हैं। ये तीनों करण हैं।

करण क्या है? साधकतमं करणम्। जो किसी का सर्वोच्च साधन हो, उपाय हो, वही करण है। ये तीनों आन्तर विचारों को बाह्य जगत् में एवं बाह्यवर्ती विषयों को अन्तर (हृदय) में प्रकट करने के अन्यतम साधन हैं; अतः करण कहलाते हैं। सामान्यतया अन्तःकरण (अन्तर्जगत् के करण) चतुर्विध माना जाता है और इसके चार अङ्ग निम्नाङ्कित हैं—

१. मन ३. चित्त
२. बुद्धि ४. अहङ्कार

किन्तु इनमें यहाँ चित्त को छोड़कर तीन को ही करण माना गया है।

परिमलकार की दृष्टि—हृदयाम्बुनिधौ—हृदयसमुद्र में। चूँकि हृदय समस्त तत्त्वों के वैतत्य का आस्पद (स्थान) है; अतः इसे समुद्र कहा गया है—स्वहृदयं हि वैतत्य-सर्वतत्त्वास्पदत्वादिना धर्मेण नमः प्रमातृपुरुषे शिवचैतन्यसिन्धवे—इति स्थित्या समुद्रयाऽध्यवसीयते।[१]

कल्लोलायमानानि—तरंगित। कालविशेष के अवच्छेद के व्युदास (बहिष्करण, दूरीकरण, अनादर, तिरस्कार) के कारण उक्त तीन करण प्रमातारूप कर्ता के लिये साधकतम इन्द्रियाँ हैं; जो कि समुद्र में उठने वाले महातरंगों के समान कार्य करते हैं।[२]

१. महेश्वरानन्द २. परिमल

करणों की कार्य-प्रक्रिया[१]—अन्त:करण किस प्रकार कार्य किया करता है? उसकी क्रियापद्धति क्या है? इसके विषय में महेश्वरानन्द की दृष्टि क्या है? इस विषय में उन्होंने परिमल में सविस्तार प्रकाश डाला है।

अन्त:करण की कार्य-प्रणाली—अहङ्कारादीन्यात्मनोऽन्त:करणानि न केवलं बहिरवलोकितान् विषयानन्तरनुभावयन्ति किं तर्हि स्वसंक्रान्तया प्रमातृचिच्छक्त्या तं बहिर्वर्तिनमखिलमपि वेद्यवर्गं विषयीभावयोग्यतानुप्रवेशनार्थं प्रकाशमानस्वभावतापदनात्मकपावनीकरणयुक्त्या जिघत्सितौषधाद्यभिमन्त्रणन्यायेनानुगृह्णन्तीति कल्लोलायमानानीति। एतानि हि हृदयमहाम्बुराशौ महातरङ्गा:।[२] सारांश यह कि मन-बुद्धि-अहङ्कार आत्मा के आन्तर करण (उपायभूत साधन) हैं। ये केवल बाह्यावलोकित विषयान्तरों का ही अनुभव नहीं कराते; प्रत्युत प्रमाता की चित् शक्ति के द्वारा बाह्यवर्ती समस्त वेद्यवर्ग (ज्ञेय जगत्) को अपना विषय बनाकर उन्हें अन्तर्जगत् में भी प्रविष्ट कराते हैं। ये अन्त:-प्रविष्ट विषय हृदयसमुद्र में महातरंगों के रूप में उत्पन्न और विलीन होते रहते हैं। ये ही हमारी चित्तवृत्तियों का रूप धारण करते हैं। चित्तवृत्ति और उसका स्वरूप क्या है?

योगी आचार्य विज्ञानभिक्षु की दृष्टि—बुद्धि की वृत्ति दीपक की शिखा की भाँति बुद्धि का अग्रभाग है, जिससे कि चित्त का एकाग्रता रूप व्यवहार होता है। यह अग्रभाग ही इन्द्रिय द्वारा बाह्य विषय के सम्पर्क में आने पर विषयाकार में उसी प्रकार परिणत हो जाता है, जिस प्रकार की साँचे में डाला गया पिघला हुआ ताँबा—बुद्धिवृत्तिश्च प्रदीपस्य शिखावद्बुद्धेरग्रभागो येन चित्तस्यैकाग्रव्यवहारो भवति। स एवाग्रभाग इन्द्रियद्वारा बाह्यार्थे संयुज्य अर्थाकारेण परिणमते मूषानिक्षिप्तद्रवताम्रवत्।[३]

सांख्यसूत्रकार की दृष्टि—सांख्यसूत्रकार कहते हैं—भागगुणाभ्यां तत्त्वान्तरं वृत्ति: सम्बन्धार्थं सर्पतीति (सां.-५.१०७) अर्थात् वृत्ति चित्त के भाग एवं गुण दोनों से ही भिन्न पदार्थ है और यह विषय से सम्बन्ध स्थापित करने के लिये सरकती है।

बुद्धि की वृत्ति ही विषय से सम्पर्क स्थापित करने हेतु लिये जाती है। (सांख्य सूत्र : अध्याय-५, सूत्र १०७)। इस बुद्धि की वृत्ति की एक विशेषता यह है कि यह वृत्ति बुद्धि का उस प्रकार का कोई अंश भी नहीं है, जैसे कि स्फुलिंग अग्नि का अंश होता है; क्योंकि उस अवस्था में तो यह बुद्धि से विभक्त होने के कारण उसका विषय से सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सकती और यह न तो इच्छा आदि की भाँति उसका गुण ही है, जिस प्रकार कि रूप आदि अग्नि के गुण होते हैं; क्योंकि ऐसा स्वीकार करने पर वह अक्रिय हो जाती है तब उसमें सर्पणरूप क्रिया नहीं हो सकती; अत: इनसे भिन्न तत्त्वान्तर का परिणाम विशेष ही मानना पड़ेगा।

इसी तथ्य को विज्ञानभिक्षु इस प्रकार कहते हैं—वृत्ति न तो अग्नि की चिनगारी की भाँति बुद्धि का भाग है और न तो यह इच्छा आदि के समान उसका गुण है; क्योंकि द्रव्य में ही क्रिया सम्भव है।

१-२. परिमल ३. योगसारसंग्रह (प्रथमोंऽश:)

वह वृत्ति जो पुरुष में प्रतिबिम्बित होकर भासित होती है, वही प्रमाण का फलरूप प्रमा कही जाती है और उसी को द्रष्टा की वृत्ति से सारूप्य कहा जाता है—वृत्तिसारूप्यमितरत्र।[१]

आचार्य भोजराज की दृष्टि—भोजराज कहते हैं कि निर्मल सत्वरूप चित्त का परिणाम ही वृत्तियाँ हैं—चित्तस्य निर्मलसत्वपरिणामरूपस्य या वृत्तयो।

आचार्य व्यास की दृष्टि—योगभाष्यकार व्यास कहते हैं कि—आकर्षन्तीदन्तां तत्राहन्ता चात्रार्पयन्ति।

ज्ञान की प्रक्रिया—(महार्थमञ्जरी-२१) महार्थमञ्जरी के अनुसार करणों के दो व्यापार हैं—इदन्ता को हृदय में आकृष्ट करना, अहन्ता को जगत् के लिये अर्पित करना। तत्त्वत: अहन्ता और इदन्ता दो पदार्थ नहीं हैं; क्योंकि आत्मा (अहन्ता/अहं) ही सारे विश्व का मूल है—आत्मा खलु विश्वमूलं (महार्थमञ्जरी-३)। इन दृष्टियों को अन्त:सम्बद्ध करने पर जो निष्कर्ष निकलता है, वह इस प्रकार है—

---

१. योगसूत्र (१.४)

न्यायशास्त्र में ज्ञान की प्रक्रिया—इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष + मन का अर्थ के साथ संयोग → ज्ञानाप्ति।

महार्थमञ्जरीकार की दृष्टि इस प्रकार है—त्रीणि करणानि। आकर्षन्तीदन्तां तत्राहन्तां चात्रार्पयन्ति। (२१)

परिमलकार की व्याख्या—तानि च यथा इदन्तानुप्राणितां विषयवैचित्र्यसम्पदं तत्र हृदया-न्तरादाकर्षन्ति, हठादनुप्रवेशयन्ति, तद्वदहन्तासारां स्वहृदयचिच्छक्तिमप्यत्र वेद्यभूमावर्पयन्ति, अनैसर्गिकत्वेऽपि नैसर्गिकतयाऽनुभावयन्ति।

सारांश यह कि अन्तर्जगत् और बाह्य जगत् (विचार और बाह्य विषयरूप विश्व) में जो सम्बन्धस्थापन होता है, उसका साधन केवल अन्तःकरण (मन, बुद्धि, अहंकार) है। इनका स्वरूप इस प्रकार है—

१. अहङ्कार—ममेदं न ममेदमित्यभिमानसाधनमहङ्कारः।

२. बुद्धि—अध्यवसायनिमित्तं बुद्धिः।

३. मन—संकल्पविकल्पहेतुर्मन इति।[1]

(क) ये बाह्य विषयों की हृदय में अनुभूति कराते हैं।

(ख) ये हृदय की चिच्छक्ति द्वारा उसमें अन्तर्निहित विषयवस्तु को भी बाहर प्रकट करते रहते हैं।

विश्व के मूलभूत पदार्थ

आन्तर तत्त्व
(अन्तर्जगत्)

अहं
(आत्मा)

बाह्य तत्त्व
(बाह्यजगत्)

इदम्
(जगत्)
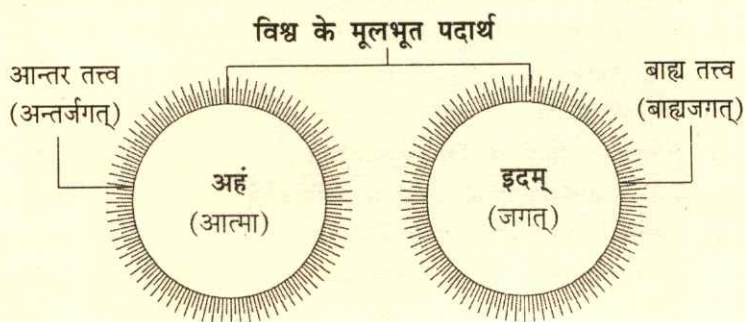
आत्मा की अभिव्यक्ति ही जगत् है—

१. आत्मा की सूक्ष्माभिव्यक्ति → सूक्ष्म जगत्।

२. आत्मा की स्थूलाभिव्यक्ति → स्थूल जगत्। (षट्त्रिंशदात्मक जगत्)

—World As An Idea में जर्मन दार्शनिक

आत्मा खलु विश्वमूलं की दृष्टि—महार्थमञ्जरीकार की इस प्राथमिक दृष्टि के अनुसार अहं एवं इदम् का स्वरूप भिन्न है। इसके अनुसार—

---

१. परिमल (२१)

इहात्मैव हि प्रकाशस्वभावत्वाद् विश्व व्यवहारे निबन्धनम्। (परिमल)
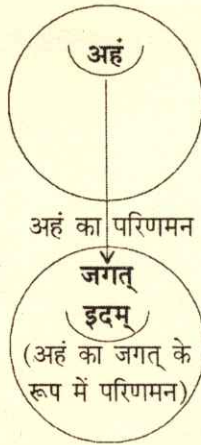
पूर्णाहन्ता या शिवत्व =
पूर्ण अहं (शिव)
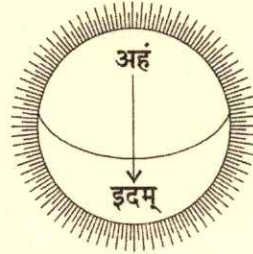
सोमानन्द की दृष्टि—

१. तस्मात् सर्वं स्थित: शिव:।

२. अथेदानीं प्रवक्तव्यं यथा सर्वं शिवात्मकम्।

३. भावैर्नास्ति विभेदत्वमथवाम्बुधिवीचिवत्।
तत्र विचित्वमापन्नं न जलं जलमुच्यते।।

४. न च तत्राम्बुरूपस्य वीचिकाले विनाशिता।
निश्चलत्वेऽपि हि जलं वीचित्वे जलमेव तत्।।

५. शक्तिमानेव शक्ति: स्याच्छिववत्करणार्थत:।
शक्ते: स्वातन्त्र्यकार्यत्वाच्छिवत्वं न क्वचिद्भवेत्।।

६. अतएव शिव: सर्वमिति योगोऽथ चेतसि।

७. प्रतिपादितमेतावत् सर्वमेव शिवात्मकम्।

८. भवति शिवमयात्मा सर्वभावेन सर्व:।

९. शिवो भोक्ता शिवो भोज्यं शिवेषु शिवसाधन:। (शिवदृष्टि)

स्पन्दकारिकाकार की दृष्टि—

१. तेन शब्दार्थ चिन्तासु न साऽवस्था न य: शिव:।
भोक्तैव भोग्यभावेन सदा सर्वत्र संस्थित:।।

२. इति वा यस्य संवित्ति: क्रीडात्वेनाखिलं जगत्।
स पश्यन् सततं युक्तो जीवन्मुक्तो न संशय:।।

पारमात्मिक विषयालोक और ज्ञानेन्द्रियाँ

अथ ज्ञानेन्द्रियाण्युन्मुद्रयति—

हिअअट्ठिअस्स विहुणो विसआलोओ विसिस्खलो होइ ।
णाणन्दिअदीवेसुं णिअणिअगोलग्गणिच्चलग्गेसुं ॥२२॥

(हृदयस्थितस्य विभोर्विषयालोको विशृङ्खलो भवति।
ज्ञानेन्द्रियदीपेषु निजनिजगोलाग्रनित्यलग्नेषु।।)

हृदय में अवस्थित विभु सर्वव्यापक परमात्मा का (शृंखलित) विषयालोक (शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्धरूप विषयों का प्रकाश) ही ज्ञानेन्द्रियरूप दीपकों के अपने-अपने गोलाग्र में नित्य स्थित होने पर विशृंखलित रूप में (एक से अनेक होकर) अवस्थित होते हुये व्यक्त हुआ करता है।।२२।।

विभोः परमस्वातन्त्र्यशालिनः स्वशक्त्यवच्छिन्नाशेषदेशकालस्वभावस्य महाप्रकाशस्य तदुचितं किञ्चित् सर्वोत्कृष्टं स्थानमस्ति, यद्धृदयं नाम। यदुक्तं श्रीप्रत्यभिज्ञायाम्—

सैषा सारतया चोक्ता हृदयं परमेष्ठिनः । इति।

तत्रावस्थितस्य चास्य बाह्यानां शब्दस्पर्शादीनां विषयाणां य आलोकः आ समन्ताल्लोकनं साकल्यतः स्वान्तश्चर्वणचातुर्यम्, स विशृङ्खलो भवति बहिर्भाव-स्वभावनियन्त्रणातिक्रान्तो भवति। अत्र चैतदेव निबन्धनं यद् ज्ञानप्रधानाना-मिन्द्रियाणां प्रकाशकत्वप्रकर्षेण प्रदीपप्रायाणां ये निजनिजास्तत्तदसाधारणा गोलाः श्रवणशष्कुल्यादयः, तदग्रेषु बहिर्विषयौन्मुख्यानुगुणेषु प्रदेशेषु सार्वकालिकं लग्नं स्फुरत्तयाऽवस्थानमिति। तानि च श्रोत्रं त्वक् चक्षुर्जिह्वा घ्राणमिति पञ्चधा भिद्यन्ते। शब्दस्पर्शरूपरसगन्धानां ग्राह्याणां क्रमेण ग्रहणोपकरणत्वमेषां लक्षणम्।।२२।।

ज्ञानेन्द्रियों—श्रवणेन्द्रिय, त्वगिन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय एवं घ्राणेन्द्रिय—के माध्यम से शब्द, स्पर्श, रस, रूप एवं गन्धनामक विषय का आलोक बाह्य जगत् में प्रकट होता है। ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा किया गया यह विषय-रसास्वाद हृदयस्थ परमेश्वर के स्वरूपभूत विषयालोक का विशृंखलित बाह्यवर्ती रूप है। समस्त विषयास्वादों का मूल कारण तो हृदयस्थ महाप्रकाश परमेश्वर है और उसी परमेश्वर का आलोक हमारे ज्ञानेन्द्रियों द्वारा अभिव्यक्त होकर शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध के स्वरूप में बाहर प्रकट होता रहता है।

परिमलकार की दृष्टि—महेश्वरानन्द ने 'हृदय' शब्द की इस प्रकार व्याख्या विशिष्ट अर्थ में की है—परमस्वातन्त्र्यशाली (विभु) परमशिव जिसकी स्वातन्त्र्य शक्ति

से समस्त देश-काल अवच्छिन्न है, ऐसे महाप्रकाशस्वरूप परमशिव का जो सर्वोत्कृष्ट स्थान है, उसे ही हृदय कहते हैं—महाप्रकाशस्य तदुचितं किञ्चित् सर्वोत्कृष्टं स्थान-मस्ति यद्धृदयं नाम।

ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकार की दृष्टि—आचार्य उत्पलदेव ने भी ईश्वरप्रत्यभिज्ञा में इस तथ्य की पुष्टि करते हुये कहा है कि परमात्मा की स्वातन्त्र्य शक्ति, जो परमशिव का सार है, वही हृदय है—

सैषा सारतया चोक्ता हृदयं परमेष्ठिनः।[१]

इसी की व्याख्या करते हुये उत्पलदेव कहते हैं—सा विश्वात्मनः परमेश्वरस्य स्वात्म-प्रतिष्ठारूपा हृदयमिति तत्र तत्रागमे निगद्यते।[२]

विशृंखलो भवति = शृंखलारहित हो जाता है। विषयालोक विशृंखलित हो जाता है। विषयों का आलोक = हृदयस्थ विभु का विषयालोक। हृदयस्थ परमेश्वर के बाह्यवर्ती शब्द-स्पर्श आदि विषयों का आलोक (आ = समन्तात् लोकनं) अर्थात् चारो ओर से साकल्यतः स्वान्तश्चर्वणरूप चातुर्य—शृंखलारहित हो जाता है अर्थात् बहिर्भावस्व-भावनियन्त्रणातिक्रान्त हो जाता है।[३]

गोला = प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय के अपने-अपने पृथक् गोलक होते हैं; यथा—श्रवण-शष्कुली आदि।[४] उन इन्द्रियगोलकों का बहिर्भूत विषयों के प्रति औन्मुख्य हुआ करता है और इनका स्फुरणात्मक अवस्थान हुआ करता है—ज्ञानप्रधानामिन्द्रियाणां प्रकाश-कत्वप्रकर्षेण प्रदीपप्रायाणां ये निजनिजास्तत्तत्साधारणा गोलाः श्रवणशष्कुल्यादयः तदग्रेषु बहिर्विषयौन्मुख्यनुगुणेषु प्रदेशेषु सार्वकालिकं लग्नं स्फुरत्तयाऽवस्थानमिति।[५]

इन्द्रियगोलकों के ही विषय में विज्ञानभिक्षु कहते हैं कि—बुद्धिवृत्तिश्च प्रदीपस्य शिखावदबुद्धेरग्रभागो येन चित्तस्यैकाग्रताव्यवहारो भवति। स एवाग्रभाग इन्द्रियद्वारा बाह्यार्थे संयुज्य अर्थाकारेण परिणमते।[६]

दीपक = इन्द्रियों को दीपक क्यों कहा गया है? इन्द्रियों को दीपक इसलिये कहा गया है; क्योंकि इन्द्रियों में प्रकाशकत्व का प्रकर्ष होता है—ज्ञानप्रधानामिन्द्रियाणां प्रकाशत्वप्रकर्षणप्रदीपप्रायाणां।

इसीलिये विज्ञानभिक्षु भी बुद्धिवृत्ति को प्रदीपशिखावत् कहते हैं—बुद्धिवृत्तिश्च प्रदीपस्य शिखावद् बुद्धेरग्रभागे।[७]

---

१. प्रत्यभिज्ञाकारिका (४५)

२. प्रत्यभिज्ञाकारिकावृत्ति

३-५. परिमल

६-७. योगसारसंग्रह

ज्ञानेन्द्रियों के प्रकार[1]

श्रोत्रेन्द्रिय	त्वगिन्द्रिय	नेत्रेन्द्रिय	रसनेन्द्रिय	घ्राणेन्द्रिय
↓	↓	↓	↓	↓
श्रवण	स्पर्श क्रिया	दर्शन	रसास्वादन	सूँघना
(शब्द)	(स्पर्श)	(रूप)	(रस)	(गन्ध)

परमात्मा की कर्मेन्द्रियाँ और जीवों में गति-सञ्चार

अथ कर्मेन्द्रियाण्युन्मीलयति—

होन्ति कलणाइ पञ्च खु कम्मपहाणाइ लोअणाहस्स।
फन्दइ सेरं जेहिं जणो जडादो विलक्खणो होन्तो ॥२३॥

(भवन्ति करणानि पञ्च खलु कर्मप्रधानानि लोकनाथस्य।
स्पन्दते स्वैरं यैर्जनो जडाद् विलक्षणो भवन्॥)

लोकपति परमेश्वर की (ज्ञानानुषंगिनी) पाँच कर्मप्रधान इन्द्रियों (वाक्, पाणि, पाद, पायु एवं उपस्थ) के स्वेच्छापूर्वक स्वतः कार्यों में प्रवृत्त होने पर (इसके परिणामस्वरूप) प्राणिवर्ग गतिशील (स्पन्दित) होकर जड़ से भिन्न प्रतीत होने लगता है॥२३॥

लोकस्य जडाजडविभागेनावलोक्यमानस्य विश्वस्य यो नाथः सृष्ट्यादि-निर्वाहकतया स्वामी तस्य कर्मप्रधानानि ज्ञानेन्द्रियाणां क्रियास्पर्शेऽपि ज्ञान-प्राचुर्यवद् ज्ञानानुषङ्गेऽपि क्रियाशक्त्युल्बणानि पञ्चेन्द्रियाणि भवन्ति। खलु प्रसिद्धौ। यैर्निमित्तभूतैः, जनो जननमरणाद्युपद्रुतोऽपि जीववर्गः, जडात् स्तम्भकुम्भादेः परिच्छिन्नप्रकाशादर्थाद् व्यतिरेकमश्नुवानः, स्पन्दते ईषच्चलति, तत्तदिन्द्रिय-प्राप्यादर्थादुपरि न किञ्चिच्चलति। तावच्चलति। स्वैरमिति। **स्वस्यात्मीयस्योप-करणस्य प्रेरणं यथा भवति तथेत्यर्थः। तादृक् स्वातन्त्र्यमेव चास्याऽपरिच्छिन्न-प्रकाशत्वम्। तानि च वाक्पाणिपादपायूपस्था इति विभिद्यन्ते। तल्लक्षणं च क्रमाद् वचनादानविहरणविसर्गानन्दात्मकक्रियासाधनत्वम्। अत्रैवं विवेकः—**

अन्तःकरणवर्गेऽस्मिन्नहङ्कारोऽभिमानभूः।
सहकारितया गृह्णन्नन्यद्धीमनसोर्द्वयम्॥

---

१. **अहङ्कारादिक अन्तःकरणों के व्यापार**—अहंकारादीन्यात्मनोऽन्तःकरणानि न केवलं बहिरवलोकितान् विषयानन्तरमनुभावयन्ति किं तर्हि स्वक्रान्तया प्रमातृचिच्छक्त्या तं बहिर्वर्तिन-मखिलमपि वेद्यवर्गं विषयीभावयोग्यतानुप्रवेशनार्थं प्रकाशमानस्वभावतापादनात्मकपावनी-करणयुक्त्या जिघत्सितौषधाद्यभिमन्त्रणन्यायेनानुगृह्णन्तीति कल्लोलायमानानीति। एतानि हि हृदयमहाम्बुराशौ महातरङ्गाः। ज्ञानकर्मेन्द्रियाणि तु तरङ्गानुतरङ्गन्यायमनुवर्तन्त इत्यर्थः।

प्रवर्तयति कर्तॄणां बहिर्ज्ञानं क्रियामपि ।
क्रमादेतद्द्वयाक्रान्त्या ज्ञानकर्मेन्द्रियप्रथा ।।
तत्र ज्ञानप्रधानं सच्चक्षुराद्युपपादितम् ।
कायप्रवृत्त्यभावेऽपि विषयग्रहणक्षमम् ।।
कर्मोत्तरेषु तेष्वेव विशेषः परिकीर्त्यते ।
क्रिया हि हानमादानमिति द्वेधाऽनुभूयते ।।
बाह्याभ्यन्तरभावेन द्वैविध्यं तद्द्वयोरपि ।
बाह्यतायां तयोः पायुर्हानप्राधान्यभाग् भवेत् ।।
आदानप्रवणः पाणिः पादस्तदुभयक्रियः ।
अन्तर्यदेतदखिलं प्राणो वितनुते मरुत् ।।
तद् वागिन्द्रियमाख्यातं शब्दसृष्टिविचक्षणम् ।
यदेतदुक्तविक्षोभशान्त्या विश्रान्तिरात्मनः ।
तदुपस्थ इति ज्ञेयमानन्दोत्तरमिन्द्रियम् ।
सम्भूयवृत्तावप्येषां प्राधान्यं क्वापि कस्यचित् ।। इति।

अनेक रूपात्मक प्रपञ्च में जड़ एवं चेतन को भिन्न-भिन्न प्रकट करने वाली परमात्मा की पाँच कर्मेन्द्रियाँ ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा प्रवृत्त होती हैं। वाक्, पाणि, पाद, वायु एवं उपस्थरूप कर्मेन्द्रियों के प्रयोग से चेतन जड़ से पृथक् होता है।

इनके कार्य पृथक्-पृथक् हैं; यथा—वचन, आदान, विहरण, विसर्गानन्द आदि क्रियायें।[१] आगमों में कहा गया है कि—

अन्तःकरणवर्गेऽस्मिन्नहङ्कारोऽभिमानभूः ।
सहकारितया गृह्णन्नन्यद्धीमनसोर्द्वयम् ।।
प्रवर्तयति कर्तॄणां बहिर्ज्ञानं क्रियामपि।
क्रमादेतद्द्वयाक्रान्त्या ज्ञानकर्मेन्द्रियप्रथा।।
तत्र ज्ञानप्रधानं सच्चक्षुराद्युपपादितम्।
कायप्रवृत्त्यभावेऽपि विषयग्रहणक्षमम्।।
कर्मोत्तरेषु तेष्वेव विशेषः परिकीर्त्यते।
क्रिया हि हानमादानमिति द्वेधाऽनुभूयते।।
बाह्याभ्यन्तरभावेन द्वैविध्यं तद्द्वयोरपि।
बाह्यतायां तयोः पायुर्हानप्राधान्यभाग् भवेत्।।
आदानप्रवणः पाणिः पादस्तदुभयक्रियः।
अन्तर्यदेतदखिलं प्राणी वितनुते मरुत्।।

---

१. परिमल

तद् वागिन्द्रियमाख्यातं शब्दसृष्टिविचक्षणम्।
यदेतदुक्तविक्षोभशान्त्या विश्रान्तिरात्मनः।।
तदुपस्थ इति ज्ञेयमानन्दोत्तरमिन्द्रियम्।
सम्भूयवृत्तावप्येषां प्राधान्यं क्वापि कस्यचित्।।[१]

ज्ञानानुषंगिणी कर्मेन्द्रियों में स्पन्दनशीलता होने पर ये जड़ से भिन्न हो जाती हैं।

लोकत्रय के क्रीड़ाङ्गण के क्रीड़ाकारी
परमेश्वर का स्वरूप

अथ शब्दादिविषयपञ्चकं विविनक्ति—

वीसुज्जाणविरूढे गन्धप्पमुहे सुगंधिए पुप्फे।
पञ्च वि अग्घाअन्तो कीलइ तेल्लोक्कधुत्तओ देओ॥२४॥

(विश्वोद्यानविरूढानि गन्धप्रमुखानि सुगन्धीनि पुष्पाणि।
पञ्चाप्याजिघ्रन् क्रीडति त्रैलोक्यधूर्तो देवः।।)

विश्व-वाटिका में उत्पन्न एवं जिसमें गन्धतन्मात्रा का प्राधान्य विद्यमान है, ऐसे पञ्चतन्मात्रात्मक पञ्चपुष्पों की गन्ध को सूँघता हुआ वह परमद्योतनस्वभाव तथा परम धूर्त (विश्व-क्रीड़ा-विदग्ध) परमशिव लोकत्रय (मान-मेय-मातृस्वरूप तीनों लोक) में साह्लाद क्रीड़ा कर रहा है।।२४।।

त्रैलोक्ये मानमेयमातृरूपे विश्वस्मिन्नपि यो धूर्तो वैदग्ध्यावधीरितान्यव्यवहारकलापः, स द्योतनस्वभावत्वान्महान् प्रमाता भवन् विश्वलक्षणादुद्यानादुत्पन्नानि पृथिव्याद्यसाधारणगुणगणं गन्धमादीकृत्य प्रवृत्तानि सुगन्धीनि प्रकाशपरिमलपरिस्फुरणोल्बणानि पञ्चापि प्रसूनान्याजिघ्रन् ग्रहणं प्रति किञ्चित्कौटिल्यसद्भावेऽप्यार्जवेनानुसन्दधानः क्रीडति हर्षानुसारेण स्पन्दते। स्वस्वातन्त्र्यमुपदर्शयतीति यावत्। ते च विषयाः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा इति भवन्ति। एषां च क्रमादाकाशादिगुणत्वं श्रोत्रादिग्राह्यत्वं वा प्रातिस्विकं लक्षणमूह्यम्। गन्धप्रमुखानीति संहारक्रमेणोक्तिस्तन्मात्रासु गन्धस्य प्राधान्यं प्रकटयितुम्। यदुक्तमभियुक्तैः—

१. परिमल

इन्द्रियद्वारसंग्राह्यैर्गन्धाद्यैरात्मदेवताः ।
स्वभावेन समाराध्य ज्ञातुः सोऽयं महामखः।। इति।

गन्धोऽपि निरूप्यमाणः पृथिवी। पृथिव्या उपरि न किञ्चिद् भूतान्तरमित्यत्रोत्कर्ष इति रहस्यम्।।२४।।

त्रैलोक्य = मानमेयमातृरूप विश्व। धूर्त = वैदग्ध्यावधीरितान्यव्यवहारकलाप। देव = द्योतनस्वभाव महान् प्रमाता। क्रीडति = हर्षानुसार स्पन्दित होता है। गन्धप्रमुखानि = शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध (पञ्चतन्मात्राओं) में गन्ध गुण प्रधान होने के कारण यहाँ पञ्चतन्मात्राओं के वाचक के रूप में 'गन्धप्रमुखानि' कहकर मात्र गन्धतन्मात्रा का ही उल्लेख किया गया है। गन्धप्रमुखानि (पञ्चतन्मात्राओं में गन्ध नामक तन्मात्रा प्रधान है) = गन्ध तन्मात्रा है प्रमुख जिनमें, ऐसी पञ्चतन्मात्रायें। कहा भी गया है—

इन्द्रियद्वारसंग्राह्यैर्गन्धाद्यैरात्मदेवताः ।
स्वभावेन समाराध्य ज्ञातुः सोऽयं महामखः।।

विश्वोद्यान = विश्वरूप वाटिका। पुष्पाणि = फूल। शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धरूप पञ्चतन्मात्राओं के प्रसून। विषय = शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध। क्रीडति—किञ्चित्कौटिल्य-सद्भावेप्यार्जवेनानुसन्दधानः क्रीडति हर्षानुसारेण स्पन्दते।

यह विश्व एक उद्यान के समान है। इसमें पृथ्वी आदि पञ्चभूतों के पुष्पों के प्रधान गुण (पञ्चन्मात्रा) अर्थात् शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध आदि गुणों का रसास्वादन करता हुआ त्रैलोक्यधूर्त शिव क्रीड़ा करता है—

प्रसूनान्याजिघ्रन् ग्रहणं प्रति किञ्चित्कौटिल्यसद्भावेऽप्यार्जवेनानुसन्धानः क्रीडति हर्षानुसारेण स्पन्दते।

धूर्त = व्यवहारकलाविदग्ध।

जगत् एक क्रीड़ा है। कहा गया है कि यह देव देवी के साथ निरन्तर क्रीड़ा रस हेतु उत्सुक होकर विचित्र प्रकार के सृष्टि-संहार की क्रीडनात्मक क्रियायें करता रहता है—

एष देवोऽनया देव्या नित्यं क्रीडारसोत्सुकः।
विचित्रान् सृष्टिसंहारान्विधत्ते युगपत्प्रभुः।।

इसी प्रकार महार्थमञ्जरीकार ने कहा है—क्रीडति त्रैलोक्यधूर्तो देवः। (म०-२४)

कहीं जगत् को क्रीड़ा कहा गया है और कहीं उसे चित्र कहा गया है—

निरुपादानसम्भारमभित्तावेव तन्वते।
जगच्चित्रं नमस्तस्मै कलाश्लाघ्याय शूलिने।।
जगच्चित्रं समालिख्य स्वेच्छातूलिकयात्मनि।
स्वयमेव समालोक्य प्रीणाति भगवान् शिवः।।

आचार्य सोमानन्द कहते हैं कि जिस प्रकार एक सार्वभौम सम्राट् अकारण एवं केवल मनोरञ्जन के लिये क्रीड़ा किया करता है, उसी प्रकार प्रमोदात्मा प्रभु भी विश्व-सृजन, विश्व-संहार आदि की क्रीड़ायें किया करता है—

यथा नृपः सार्वभौमः प्रभावामोदभावितः।
क्रीडन्करोति पादान्तधर्मांस्तद्धर्मधर्मतः।
तथा प्रभुः प्रमोदात्मा क्रीडत्येवं तथा तथा।

(शिवदृष्टि-१.३७-३८)

उत्पलदेवाचार्य की दृष्टि—आचार्य उत्पलदेव कहते हैं—यथैश्वर्यचमत्कारवासितः सार्वभौमो राजा निरर्गलतया क्रीडया तल्लक्षणस्वभावात्तैः पदातिसम्बन्धिचेष्टितानि आचरति, तथा परमेश्वरः पूर्णत्वात् स्वत आनन्दघूर्णितैस्तैस्तैर्भूतभेदात्मभिः प्रकारैरेवमेतत्सदृशं क्रीडति।

यह क्रीड़ा हर्षानुसारी स्पन्द है—हर्षानुसारी स्पन्दः क्रीड़ा। (शिवदृष्टिवृत्ति)

पञ्चमहाभूत और पारमात्मिक माधुर्य—
पारस्परिक अन्तःसम्बन्ध

अथ भूतपञ्चकमुद्भावयति—

थिण्णस्स कमवसादो इक्खुरसस्स व सिवप्पआसस्स।
गुलपिण्डा इव पञ्च वि भूदाइं महुरदं ण मुञ्चन्ति॥२५॥

(स्त्यानस्य क्रमवशादिक्षुरसस्येव शिवप्रकाशस्य।
गुडपिण्डा इव पञ्चापि भूतानि मधुरतां न मुञ्चन्ति।।)

पाँचों महाभूत (क्षिति, जल, पावक, समीर एवं गगन) प्रकाशस्वरूप परमात्मा के दिव्य माधुर्य का उसी प्रकार त्याग नहीं करते, जिस प्रकार (अग्नि के सम्पर्क में आने पर) यथाक्रम प्रगाढ़तर होने वाले ईख के रस के माधुर्य का गुड़पिण्ड त्याग नहीं किया करते।।२५।।

शिवात्मा खलु प्रकाशः शक्तिसदाशिवादिपरिपाट्यनुसारेण प्रस्तुतभूतपञ्चक-पर्यन्तं स्त्यानीभवति। वेदितृस्वभावन्यग्भावाधीनवेद्यतोत्कर्षात्मकं काठिन्य-मनुभवति। यदुक्तं श्रीशिवदृष्टौ—

.................इत्यादिषट्त्रिंशत्तत्त्वरूपताम् ।
बिभ्रद् बिभर्ति रूपाणि तावतो व्यवहारतः।।
यावत् स्थूलं जडाभासं संहतं पार्थिवं घनम्। इति।

तादृशस्य चास्य मधुरतां सर्वप्रमातृस्वात्मस्वभावताऽनुभाव्यपरमशिव-प्रकाशोल्लासात्मकमहाह्लादोपलक्षणं सामरस्यं पञ्चापि भूतान्याकाशप्रभूतानि

न परित्यजन्ति, किन्तु स्वान्तरखिलं गर्भीकृत्य प्रवर्तन्ते। केवलं शिवात् स्वच्छ-स्वभावात् स्त्यानताधिक्यमेतेषां भेदः। यद्वदिक्षुरसस्य स्वपाकयुक्तिक्रमात् स्त्यानीभूतस्य माधुर्यं गुडपिण्डैर्न परित्यज्यते। यथा च परमार्थसारे—

रसफाणितशर्करिकागुडखण्डाद्या यथेक्षुरस एव।
तद्वदवस्थाभेदाः सर्वे परमात्मनः शम्भोः ।। इति।

यथा च लक्ष्मीतन्त्रे—

संविदेव हि रूपं मे स्वच्छस्वच्छन्दनिर्भरा।
सापीक्षुरसवद् योगात् स्त्यानतां प्रतिपद्यते।
अतो निरूप्यमाणं तच्चैत्यं चित्त्वमुपैष्यति ।। इति।

ततश्च पृथिव्यामनाश्रितशिवप्रभृतीनि पञ्चत्रिंशदपि तत्त्वानि कारणवासना-नुवृत्तिद्वारा परिस्फुरन्तीत्यनया भङ्ग्या तत्र शिवतत्त्वे पृथिव्यादीनि सर्वाण्यपि सत्कार्यवादमर्यादयाऽवतिष्ठन्ते। एवं प्रकृतिपुरुषादिषु मध्यवर्तिष्वप्युक्तोभय-प्रक्रियया सर्वाण्यप्युपरितनान्यधस्तनानि च तत्त्वानि सम्मिलन्तीति सर्वं सर्वात्मक-मित्यर्थनिष्कर्षः स्यात्। तदुक्तं श्रीतन्त्रालोके—

एकैकत्र च तत्त्वेऽपि षट्त्रिंशत्तत्त्वरूपता। इति।

सर्वथा पारमेश्वरप्रकाशस्फुरत्तात्मकमेतदखिलमपि विश्ववैचित्र्यमित्युक्तं भवति। यदुक्तं श्रीशिवदृष्टौ—

एवं सर्वपदार्थानां समैव शिवता स्थिता।
परापरादिभेदोऽत्र श्रद्दधानैरुदाहृतः ।। इति।

भूतानि चाकाशः, वायुः, तेजः, आपः, पृथिवीति प्रसिद्धानि। शब्दादिगुणत्वं च तल्लक्षणं स्पष्टम्। यद्वा अवकाशध्वनिकरत्वम्, चलनसञ्जीवनता, पाच-कदाहकत्वम्, द्रावकप्लावकता, काठिन्यधारकत्वं च क्रमादमीषां लक्षणानि। अत्र च 'वर्णक्रमे पृथिव्यादिपुरुषान्तं स्पर्शाक्षराणि' इति श्रीत्रिंशिकाशास्त्रप्रक्रियया प्रागेव प्रदर्शितम्। पञ्चकञ्चुक्यां त्वन्तस्थाः। तत्र नियतिः सर्वानुस्यूतेति न पृथग्गणनार्हा। कालस्य तु आकाशशक्तित्वाच्चिन्मयतैकोपपादनप्रवृत्ततया पुंसः—

मायाप्रमातृतादानं प्रत्यौचित्यं न विद्यते।

इत्यन्तस्थाश्चतस्रः सञ्जाताः। यथोक्तं तत्रैव—

वाय्वग्निसलिलेन्द्राणां धारणानां चतुष्टयम्। इति।

यथा च व्याख्यातमाचार्याभिनवगुप्तपादैः—'आकाशशक्त्या तु नात्र माया-प्रमातृतादाने प्रयोजनमस्ति' इति। शुद्धविद्यादिशिवान्तं पुनरूष्माणः। तत्र हकारः

शक्तिः शिवश्चेत्यावृत्त्याऽवतिष्ठते, तस्यानुत्तरविसर्जनीयसामरस्यात्मकत्वात्। शिवशक्त्योस्त्यैकरूप्यमेव स्वभावः। भेदस्तु काल्पनिक इत्युपपादितत्वाच्च। यथोक्तम्—

तदूर्ध्वं शादि विख्यातं पुरस्ताद् ब्रह्मपञ्चकम्। इति।
षट्त्रिंशत्यत्र तत्त्वेषु पृथ्व्यम्बुपवनादयः।
ते ते पदार्थाः संयुक्त्या मिश्रिता बहुशाखया।
स्तम्भकुम्भादिभावेन कुर्वन्त्यर्थक्रियां नृणाम्।
तत्र कर्मेन्द्रियैरुक्तैर्बहिष्ठास्ते घटादयः॥
अर्प्यन्ते सन्निकर्षेण व्यवहर्तृजनं प्रति।
सांविदैरिन्द्रियैस्त्वेते निरीक्ष्यन्ते तथा तथा॥
अन्तःकरणवर्गेण सङ्कल्पितविकल्पिताः।
निश्चिताभिमताश्चैते विद्यया च विवेचिताः।
कलाकालादिभिर्भावैर्वेद्यत्वेनानुरञ्जिताः।
विश्राम्यन्ति विमर्शाढ्ये स्वात्मरूपे प्रमातरि॥
स च प्रमाता देहेऽस्मिन् प्राणो धीशून्यतोरपि।
बध्नाति यैरहम्भावं ते सद्विद्यादयः क्रमात्॥
एवं परामर्शमयीं प्रतिष्ठां लक्ष्माहुराप्ताः परमस्य शम्भोः।
एतद्विपर्यासवशात् पशुः स्यात् प्रमाणमस्मिन् गुरुशासनं नः॥२५॥

स्त्यान = घनीभूत। परमात्मा को रस कहा गया है—रसो वै सः। रसस्वरूप परमात्मा शिवात्मा ही प्रकाश है—शिवात्मा खलु प्रकाशः।[१] समस्त तत्त्वों में व्याप्त माधुर्यमय प्रकाश प्रकाशस्वरूप परमात्मा की परिव्याप्ति है। परमशिव (महाप्रकाश) के परमाह्लादात्मक सामरस्य का (माधुर्य का) आकाशादिक पञ्चमहाभूत कभी त्याग नहीं करते।

माधुर्य की घनीभूतता के आधिक्य की दृष्टि से पञ्चभूतों एवं परमात्मा के माधुर्य में भले अन्तर हो; किन्तु माधुर्य की दृष्टि से दोनों में कोई भी भेद नहीं है। रसमय परमात्मा सर्वत्र एकरस व्यापक है—शिवात्मा खलु प्रकाशः शक्तिसदाशिवादिपरिपाट्य-नुसारेण प्रस्तुतभूतपञ्चकपर्यन्तं स्त्यानीभवति।[२]

वेदितृ का वेद्यभाव में परिणमन उसके माधुर्यस्वरूप में तो नहीं; किन्तु उसके अवस्थान्तर में भेद अवश्य उत्पन्न करता है—वेदितृस्वभावन्यग्भावाधीनवेद्यतोत्कर्षात्मकं काठिन्यमनुभवति।[३]

---

१. परिमल २. परिमल (२५) ३. परिमल

आचार्य सोमानन्दपाद कहते हैं—

.... इत्यादिषट्त्रिंशत्तत्वरूपताम् ।
बिभ्रद् बिभर्ति रूपाणि तावतो व्यवहारत:।
यावत् स्थूलं जडाभासं संहतं पार्थिवं घनम्।।[१]

परमशिव के प्रकाशोल्लासात्मक महाह्लाद के स्वरूप में स्थित सामरस्य को पञ्चभूत कभी परित्यक्त नहीं करते; प्रत्युत वे अपने में गर्भीकृत करके रखते हैं—परमशिव-प्रकाशोल्लासात्मकमहाह्लादोपलक्षणं सामरस्यं पञ्चापि भूतान्याकाशप्रभूतानि न परित्यजन्ति, किन्तु स्वान्तरखिलं गर्भीकृत्य प्रवर्तन्ते।[२]

पञ्चभूतों एवं परमशिव के माधुर्य में अन्तर—दोनों के माधुर्य के स्वरूप में तो कोई भी भेद नहीं है; क्योंकि पूर्णतम की पूर्णता ही समस्त अपूर्णों में विद्यमान है—

ॐ पूर्णमद: पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।

'रसो वै स:' कहकर जिसे श्रुतियों ने रस (रसतम) कहा है, उसी का रस ही प्रपञ्च के प्रसार में सर्वत्र प्रवाहित है। यह रस ही माधुर्य है।

भगवान् का माधुर्य—वल्लभाचार्य ने इस पारमात्मिक माधुर्य का बड़ा सुन्दर निरूपण किया है। परमात्मा माधुर्य का विग्रह है और उसके सारे अंग, सारे व्यवहार, उसकी सारी लीला, उसके सारे परिकर, उसका गीत, उसका हँसना, बोलना, चलना आदि सब कुछ मधुर है; क्योंकि वह माधुर्य की प्रतिमूर्ति है। वल्लभाचार्य उसके इसी माधुर्य में डूबकर कहते हैं—

अधरं मधुरं वदनं मधुरं नयनं मधुरं हसितं मधुरम्।
हृदयं मधुरं गमनं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम्।।
वचनं मधुरं चरितं मधुरं वसनं मधुरं वलितं मधुरम्।
चलितं मधुरं भ्रमितं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम्।।
वेणुर्मधुरो रेणुर्मधुर: पाणिर्मधुर: पादौ मधुरौ।
नृत्यं मधुरं सख्यं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम्।।
गीतं मधुरं पीतं मधुरं भुक्तं मधुरं सुप्तं मधुरम्।
रूपं मधुरं तिलकं मधुरं मधुराधिपतेरधरं मधुरम्।।
करणं मधुरं तरणं मधुरं हरणं मधुरं रमणं मधुरम्।
वमितं मधुरं शमितं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम्।।
गुञ्जा मधुरा माला मधुरा यमुना मधुरा वीची मधुरा।
सलिलं मधुरं कमलं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम्।।

---

१. शिवदृष्टि २. परिमल (२५)

गोपी मधुरा लीला मधुरा युक्तं मधुरं भुक्तं मधुरम्।
दृष्टं मधुरं शिष्टं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम्।।
गोपा मधुरा गावो मधुरा यष्टिर्मधुरा सृष्टिर्मधुरा।
दलितं मधुरं फलितं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम्।।[१]

स्त्यानीभूत माधुर्य (घनीभूत ईख के रस) को गुड़ कभी नहीं छोड़ता—यद्वदिक्षुरसस्य स्वपाकयुक्तिक्रमात् स्त्यानीभूतस्य माधुर्यं गुडपिण्डैर्न परित्यज्यते।[२]

परमार्थसारकार की दृष्टि—उक्त माधुर्यवाद का ही प्रतिपादन परमार्थसार में भी करते हुये कहा गया है—

रसफाणितशर्करिका गुडखण्डाद्या यथेक्षुरस एव।
तद्वदवस्थाभेदाः सर्वे परमात्मनः शम्भोः।।

लक्ष्मीतन्त्रकार की दृष्टि—लक्ष्मीतन्त्र में भी इसी दृष्टि को उपन्यस्त करते हुये कहा गया है कि संवित्तत्त्व ही ईख के रस के समान गुड़ के रूप में स्त्यानीभूत (घनीभूत) हो जाता है; अतः ईख के रस एवं गुड़ में अवस्थान्तर भेद तो है, किन्तु स्वरूपान्तर भेद नहीं है—

संविदेव हि रूपं मे स्वच्छस्वच्छन्दनिर्भरा।
सापीक्षुरसवद् योगात् स्त्यानतां प्रतिपद्यते।
अतो निरूप्यमाणं तच्चैत्यं चित्वमुपैष्यति।।

महेश्वरानन्द की दृष्टि—स्थूलतम पृथ्वीतत्त्व से लेकर अनाश्रित शिव आदि ३५ तत्त्व भी कारणवासनानुवृत्ति के द्वारा अनुप्राणित होकर परिस्फुरित होते हैं; अतः शिवतत्त्व में पृथ्वी आदि सारे तत्त्व सत्कार्यवाद की दृष्टि से अवतिष्ठित रहने के कारण (कारण की ही भाँति) रसमय हैं।[३]

इसी प्रकार प्रकृति-पुरुष आदि तत्त्वों के मध्य स्थित सारे पदार्थ भी उक्त प्रक्रिया के द्वारा ऊपर से नीचे तक समस्त तत्त्व परस्पर सम्मिलित होकर अवस्थित हैं; अतः—

सर्वं सर्वात्मकम्—अर्थात् सारे पदार्थ निजी (व्यक्तिगत) स्वरूप में भी सर्वात्मक हैं—सर्वाण्यप्युपरितनान्यधस्तनानि च तत्त्वानि सम्मिलन्तीति सर्वं सर्वात्ममित्यर्थनिष्कर्षः स्यात्।[४]

सर्वसर्वात्मकतावाद—योगशास्त्र जात्यन्तर परिणामवाद का प्रतिपादन करते हुये उक्त सिद्धान्त की पुष्टि तो करता ही है, साथ ही महार्थमञ्जरीकार ने भी इसकी पुष्टि की है। इसीलिये उन्होंने कहा है—सर्वं सर्वात्मकमित्यर्थनिष्कर्षः।

तन्त्रालोककार की दृष्टि—आचार्य अभिनवगुप्तपाद भी इस दृष्टि को प्रतिपादित करते हैं—

१. मधुराष्टक (वल्लभाचार्य)
२. परिमल
३. परिमल (६५)
४. महेश्वरानन्द : परिमल (२५)

एकैकत्र च तत्त्वेऽपि षट्त्रिंशत्तत्त्वरूपता।

शिवदृष्टिकार की दृष्टि—आचार्य सोमानन्दपाद कहते हैं कि पारमेश्वर प्रकाश की स्फुरत्ता से समस्त विश्व-वैचित्र्य (विश्व के पदार्थों की अनेकरूपता) आद्यन्त स्फुरित हैं; अत: जगत् के समस्त पदार्थों में शिवत्व अभिव्यक्त हो रहा है—

एवं सर्वपदार्थानां समैव शिवता स्थिता।
परापरादिभेदोऽत्र श्रद्धानैरुदाहृत:।।[१]

त्रिंशिकाशास्त्रकार की दृष्टि—महार्थमञ्जरीकार ने कहा है कि त्रिंशिका शास्त्र भी मेरी दृष्टि को सम्पुष्ट करता है; क्योंकि उसमें सारे वर्णों से ही सारे तत्त्वों (पृथ्वी आदि तत्त्वों) की उत्पत्ति बतलाकर सारे तत्त्वों में वर्णों की अनुस्यूतता सिद्ध करते हुये सारे तत्त्वों एवं तज्जन्य पदार्थों में वर्णात्मक एकता प्रतिपादित की गई है— वर्णक्रमे पृथिव्यादिपुरुषान्तं स्पर्शाक्षराणि इति श्रीत्रिंशिकाशास्त्रप्रक्रियया प्रागेव प्रदर्शितम्।[२]

सर्वसामरस्यवाद—महार्थमञ्जरीकार ने इसी गाथा (२५वीं गाथा) की व्याख्या (परिमल) द्वारा सर्वसामरस्यवाद या सर्वैक्यवाद का प्रतिपादन किया है। उन्होंने कहा है कि—शिवशक्त्योस्त्यैक्यरूप्यमेव स्वभाव:। भेदस्तु काल्पनिक इति।

शास्त्रान्तर की दृष्टि और महार्थमञ्जरी—शास्त्रान्तर भी महार्थमञ्जरी की दृष्टि का पोषक है—

तदूर्ध्वं शादि विख्यातं पुरस्ताद् ब्रह्मपञ्चकम्।
षट्त्रिंशत्यत्र तत्त्वेषु पृथ्व्यम्बुपवनादय:।।
ते ते पदार्था: संयुक्त्या मिश्रिता बहुशाखया।
स्तम्भकुम्भादिभावेन कुर्वन्त्यर्थक्रियां नृणाम्।।
तत्र कर्मेन्द्रियैरुक्तैर्बहिष्ठास्ते घटादय:।
अर्प्यन्ते सन्निकर्षेण व्यवहर्तृजनं प्रति।।
सांविदैरिन्द्रियैस्त्वेते निरीक्ष्यन्ते तथा तथा।
अन्त:करणवर्गेण सङ्कल्पितविकल्पिता:।
निश्चिताभिमताश्चैते विद्यया च विवेचिता:।।
कलाकालादिभिर्भावैर्वेद्यत्वेनानुरञ्जिता: ।
विश्राम्यन्ति विमर्शाढ्ये स्वात्मरूपे प्रमातरि।
स च प्रमाता देहेऽस्मिन् प्राणे धीशून्यतोरपि।
बध्नाति यैरहम्भावं ते सद्विद्यादय: क्रमात्।।
एवं परामर्शमयीं प्रतिष्ठां लक्ष्माहुराप्ता: परमस्य शम्भो:।
एतद्विपर्यासवशात् पशु: स्यात् प्रमाणमस्मिन् गुरुशासनं न:।।[३]

---

१. शिवदृष्टि २. परिमल ३. परिमल (महेश्वरानन्द)

शाम्भव शक्ति एवं विश्वोल्लासात्मक व्यापार—
पारस्परिक अन्तःसम्बन्ध

उक्तरूपस्य तत्त्वप्रपञ्चस्य पिण्डीभूतमर्थतत्त्वमाह—

सव्वस्स भुवणविब्भमजन्तुल्लासस्स तन्तुवल्लिव्व ।
विमरिससंरम्भमई उज्जिम्भइ सम्भुणो महासत्ती ॥२६॥

(सर्वस्य भुवनविभ्रमयन्त्रोल्लासस्य तन्तुवल्लीव।
विमर्शसंरम्भमयी उज्जृम्भते शम्भोर्महाशक्तिः।।)

परमशिव (शम्भु) की विमर्श-संरम्भमयी (विमर्शनात्मक संरम्भ वाली अर्थात् स्वान्तः-स्फुरित क्रियाशक्तिस्वरूपा) महाशक्ति (चिदानन्देच्छाज्ञानक्रियारूपा, शक्तिपञ्चकात्मक स्वातन्त्र्य शक्ति) समस्त विश्ववैचित्र्य-विकास (भुवन-विभ्रम) के कार्य में यन्त्रानुस्यूत सूत्र (तहबीज में बँधे सूत) की भाँति परिस्फुरित हो रही है।।२६।।

योऽयं भुवनात्मनां तत्त्वात्मनां विभ्रमो विलासः प्रसरद्रूपता सैव दार्वादि-संघट्टनात्मनः प्रतिमापुत्रकादेर्यन्त्रस्योल्लासो वलनावर्तनादिर्विकारः, तस्य सर्व-स्यापि तत्तदशेषसन्धिबन्धानुस्यूता सूत्रस्त्रगिव शम्भोः परमानन्दप्रकाशघनतया विश्वमयविश्वोत्तीर्णस्यानाश्रितादिकालाग्निरुद्रान्तविश्ववैचित्र्यसंयोजनवियोजनवैदग्ध्य-शालिनः परमशिवभट्टारकस्य शक्तिः स्वातन्त्र्यलक्षणा महती तत्त्वानामन्यो-न्यप्रयोज्यप्रयोजकभावे पर्यन्ततः सामान्यप्रयोजकत्वे च प्रगल्भा भवत्युज्जृम्भते पृथिव्यादि भाववर्गमिवानाश्रितशिवभट्टारकमपि क्रोडीकृत्याभिवर्धते तद्रूपतया परिस्फुरतीत्यर्थः। यथा च पर्यन्तपञ्चाशिकायाम्—

चित्स्वाभाव्यादसौ देवः स्वात्मना विमृशन् प्रभुः ।
अनाश्रितादिभूम्यन्ता भूमिकाः प्रतिपद्यते ।। इति।

सा च विमर्शसंरम्भमयी विमर्शाख्यो यः संरम्भः स्वान्तःस्फुरत्क्रिया-शक्तिस्फाररूपः, तेन प्रकृतेत्यर्थः। सा चिदानन्देच्छाज्ञानक्रियारूपशक्तिपञ्च-कसामरस्यस्वभावेत्याख्यायते। ततश्च परमेश्वरपरामर्शप्रसरपरिपाटीपाटवपर-मार्थमेतदखिलं तत्त्वपरम्परापरिस्फुरणप्राचुर्योज्ज्वलं विश्वविजृम्भावैचित्र्यमिति तात्पर्यार्थः।

यथोक्तं श्रीप्रत्यभिज्ञाहृदये—'चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतुः' इति। सोऽयं स्वात्मसात्कृताशेषषट्त्रिंशत्तत्त्वकलापो महान् परमशिवभट्टारकाह्वयः प्रमाता सप्तत्रिंशतया स्वीक्रियते। तस्य तादृग्रूपतापि पर्यन्ततो विकल्पकक्ष्यामनुप्रविशति। अविकल्पात्मना च भाव्यं विश्वोत्तरेणेत्यतोऽत्राप्यविकल्पवृत्तिरष्टात्रिंशः कश्चिदागमेष्वङ्गीक्रियते। यदुक्तं श्रीतन्त्रवटधानिकायाम्—

षट्त्रिंशत्तत्त्वपर्यायस्तदभिन्नः परः शिवः ।
उपदेश्यतया सोऽपि स्यादवच्छेदभागतः ।।
अष्टात्रिंशं परं धाम यत्रेदं विश्वकं स्फुरेत् । इति।

किञ्च, शम्भुरत्रानुत्तरात्मा तस्य तादृशी शक्तिश्च तदविभिन्नस्वभावा स्वर-समुदायमयी विसर्गापरपर्यायेति वर्णक्रमानुगुण्येन व्याख्या। सा चानुत्तरा-नन्दे(च्छो?च्छेश)नोन्मेषोनताभिरिच्छाया ईशनस्य च क्रमादस्थैर्यभेदाच्च चतु-ष्प्रकारैर्वेद्योल्लासैरिच्छोन्मेषयोरीशनोनतयोश्चानुत्तरानन्दाभ्यामुभाभ्यां सह सन्धानोपारूढौ द्वौ, पुनस्तत्संहितौ च द्वाविति चतुर्भिरुक्ताशेषवेद्यवर्गवासनात्मना बिन्दुना चोन्मिषन्ती तत्रैवानुत्तरतत्त्वान्तर्विश्राम्यति। तत्तश्चानुत्तरहकाराभ्यां तत्पर्यन्त-पठितेन बिन्दुभट्टारकेण च सह प्रत्याहारक्रमात् सर्वसंवित्समावेशलक्षणः कश्चिदह-मिति परामर्श उदेति। यः 'महाह्रदानुसन्धानान्मन्त्रवीर्यानुभवः' इति, 'मातृकाचक्र-सम्बोधः' इति च श्रीशिवसूत्रेषूपदिश्यते। यथोक्तं श्रीकण्ठीयसंहितायाम्—

आदिमान्तविहीनास्तु मन्त्राः स्युः शरदभ्रवत् ।
गुरोर्लक्षणमेतावदादिमान्तं निवेदयेत् ।।

यथा चास्मद्गुरुभिः श्रीसंवित्स्तोत्रे—

आदिमान्तिमगृहीतवर्णराश्यात्मिकाहमिति या स्वतः प्रथा ।
मन्त्रवीर्यमिति साधितागमैस्तन्मयो गुरुरसि त्वमम्बिके ।। इति।

वीरसम्बन्धी हि धर्मो वीर्यमित्युच्यते। तत्र वीरो नाम विविधमीरयति विश्ववै-चित्र्यमिति भगवान् शब्दराशिभट्टारक उच्यते। तदुक्तं श्रीमच्चिद्गगनचन्द्रि-कायाम्—

ईरणेन विविधेन वीरतां योऽयमक्षरगणः प्रपद्यते । इति।

श्रीप्रभाकौले च—

वामे वीराः समाख्याताः । इति।

एतच्च—

सर्वेषामेव मन्त्राणां विद्यानां च यशस्विनि! ।
इयं योनिः समाख्याता सर्वतन्त्रेषु सर्वदा ।।

इति श्रीत्रिंशिकाशास्त्र उन्मीलितम् ।।२६।।

भुवन = लोक, तत्त्व, भुवनात्मक तत्त्व। विभ्रम = विलार, प्रसरद्रूपता। यन्त्र = प्रतिमा, पुत्रक आदि यन्त्र। उल्लास = वलना-वर्तनादि विकास। शक्ति = परमशिव भट्टारक की स्वातन्त्र्यलक्षणा शक्ति। उज्जृंभते = परिस्फुरित हो रही है। जृंभण क्रिया के रूप

में स्वभावत: विना प्रयास के उदित हो रही है, प्रसृत हो रही है या प्रस्फुटित हो रही है। संरम्भ = आरम्भ (उत्तेजना। आन्दोलन। क्षोभ।)। स्वान्त:स्फुरत्क्रियाशक्तिस्फार। उज्जृंभण—प्रस्फुटन। प्रसरण। विमर्शसंरम्भमयी = विमर्श-शक्तिरूप स्वान्त:स्फुरत्क्रिया शक्तिस्फार। शक्ति = शिव से अविनाभूत, अभिन्नस्वरूपा विसर्ग शक्ति।

परमशिव (शम्भु) की महाशक्ति में ही समस्त संयोजन-वियोजनात्मक भुवनतत्त्वविलास ओत-प्रोत है। परमशिव की स्वान्त:स्फुरित विमर्श-संरम्भमयी यह स्वातन्त्र्य नामक शक्ति शुद्ध विद्या है। यह शक्ति शक्तिपञ्चकात्मिका है।

स्वातन्त्र्य शक्ति के रूपान्तर

चिति शक्ति आनन्द शक्ति इच्छा शक्ति ज्ञान शक्ति क्रिया शक्ति

द्वैताद्वैतविवर्जित, अनुत्तरात्मा शम्भु ही परमेश्वर हैं। महाशक्ति उन्हीं का अभिन्न स्वरूप है। यह महाशक्ति ही भुवनों के संयोजन-वियोजन (सृजन-संहार) के व्यापारों की विधायिका है। तन्तुवल्ली के समान स्थित महाशक्ति में ही समस्त भुवन, समस्त ३६ तत्त्व अवस्थित या अनुस्यूत हैं। इस महाशक्ति के अतिरिक्त अन्य किसी की भी सत्ता नहीं है। विश्ववैचित्र्य का विलास (भुवन-विभ्रम) परमशिव का ही अपना स्वरूप है; क्योंकि—

शिव: शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्त: प्रभवितुं,
न चेदेवं देवो न खलु कुशल: स्पन्दितुमपि।[1]
परोऽपि शक्ति-रहित: शक्त्या युक्तो भवेद्यदि।
सृष्टिस्थितिलयान् कर्तुमशक्त: शक्त एव हि।।

भगवान् श्रीकृष्ण ने भी यही बात कही है—

मत्त: परतरं नान्यत्किञ्चदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।।
यथाकाशस्थितो नित्यं वायु: सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय।।

(श्रीमद्भगवद्गीता-७.७)

शिव की स्वान्त:स्फुरित शुद्धविद्यास्वरूपिणी महाशक्ति उनसे अभिन्न है और शिव-स्वरूपिणी है। अतएव शक्ति एवं शक्तिमान में कोई भेद नहीं है। इसी शक्ति का नाम है—स्वातन्त्र्य शक्ति, जो कि सृष्टि-संहार आदि व्यापारों में परनिरपेक्ष स्वतन्त्र शक्ति है—चिति: स्वतन्त्रता विश्वसिद्धिहेतु:।[2] यही शक्ति सृष्टि, संहार, तिरोधान आदि की विधायिका है।

---

१. सौन्दर्यलहरी २. शक्तिसूत्र (२)

शक्तिवाद—शाक्त और स्पन्दविज्ञानी काश्मीरी शैव शक्ति को ही मूल तत्त्व स्वीकार करते हैं। उनकी दृष्टि में—

१. शक्ति ही समस्त सृष्टि-संहारादिक व्यापार का निष्पादन करती है।

२. शक्ति चिति, आनन्द, इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया के रूप में (मुख्यतः पाँच रूपों में) अवस्थित है। इसे ही शक्तिपञ्चक कहा जाता है।

षट्त्रिंशदात्मक जगत् शक्ति का ही अपना स्वरूप है। समस्त छत्तीस तत्त्व भी शक्ति के ही अपने रूप हैं।

पञ्चभूतों के सूक्ष्मतम कण परमाणु सृष्टि के मूल कारण नहीं हैं; क्योंकि इन परमाणुओं का भी कोई कारण है और वह है—शक्ति।

शाक्तों ने परमाणुवाद की इस स्थूल सृष्टि-भूमिका को अस्वीकार कर दिया है; क्योंकि स्थूल तत्त्व किसी सूक्ष्म तत्त्व के ही परिणाम या विवर्त हैं। शाक्त दार्शनिक इन्हें परिणाम कहते हैं और अद्वैत वेदान्ती—विवर्त। दोनों की दृष्टि में जगत् का मूल कारण परमाणु से भी सूक्ष्म है।

शाक्तों ने जगत् के इस सूक्ष्मतम अद्वैत एवं निरपेक्ष-स्वतन्त्र कारण को शक्ति की आख्या प्रदान की है। शाक्त दार्शनिक भास्कर राय की भी यही दृष्टि है।

भास्करराय की दृष्टि—भास्करराय कहते हैं—

नैसर्गिकी स्फुरत्ता विमर्शरूपास्य वर्तते शक्तिः।
तद्योगादेव शिवो जगदुत्पादयति पाति संहरति।।[1]

शिव इसी नैसर्गिकी स्फुरत्तास्वरूपा विमर्श शक्ति की सहायता से—१. उत्पत्ति २. पालन (संरक्षण) ३. संहार की क्रियायें निष्पादित करते हैं।

शक्ति के परिणाम—

१. अर्थमयी सृष्टि   ३. चक्रमयी सृष्टि
२. शब्दमयी सृष्टि   ४. देहमयी सृष्टि

सावश्यं विज्ञेया यत्परिणामादभूदेषा।
अर्थमयी शब्दमयी चक्रमयी देहमय्यपि च सृष्टिः।।[2]

१. अर्थमयी सृष्टि = शिव से लेकर पृथ्वीपर्यन्त समस्त ३६ तत्त्वों की सृष्टि।

२. शब्दमयी सृष्टि = परा, पश्यन्ती, मध्यमा एवं वैखरीमयी सृष्टि।

३. चक्रमयी सृष्टि = बिन्दु से लेकर भूगृहान्त सृष्टि।

४. देहमयी सृष्टि = स्थूल, सूक्ष्म, कारण आदि शरीरों की सृष्टि।

---

१. वरिवस्यारहस्यम् (४)   २.वरिवस्यारहस्यम्

स्वातन्त्र्य शक्ति का विलास
सूक्ष्म से स्थूल के क्रम में शक्ति का अवस्थान
स्वातन्त्र्यशक्ति
चितिशक्ति
आनन्दशक्ति
इच्छाशक्ति
ज्ञानशक्ति
क्रियाशक्ति
विश्व
शक्ति का परिणाम
सूक्ष्म से स्थूल के क्रम में
स्वातन्त्र्यशक्ति
शब्दमयी सृष्टि
अर्थमयी सृष्टि
चक्रमयी सृष्टि
देहमयी सृष्टि
परा-पश्यन्ती आदि
परा-पश्यन्ती-मध्यमा आदि
शब्दमयी सृष्टि
स्वातन्त्र्य शक्ति
शब्दमयी सृष्टि
अर्थमयी सृष्टि
चक्रमयी सृष्टि
देहमयी सृष्टि
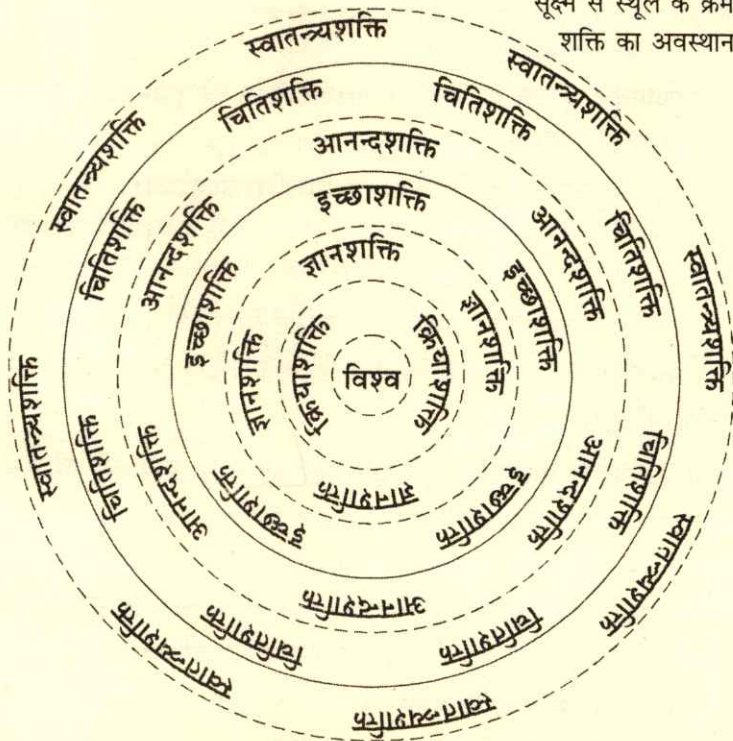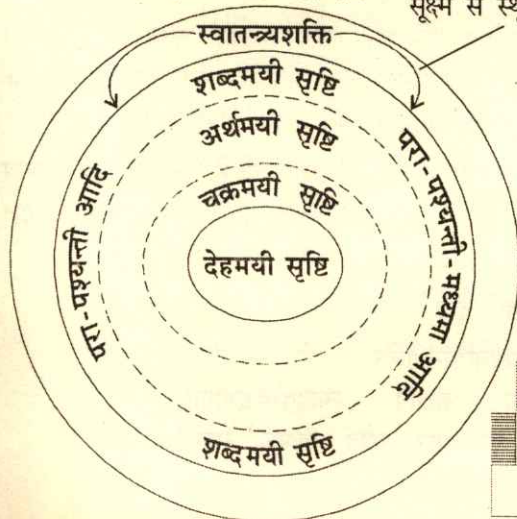
सृष्टि

शब्दात्मिका (शाब्दी सृष्टि) बिन्द्वात्मिका (बैन्दवी सृष्टि)

परिणामवाद—शाक्त दार्शनिक एवं महार्थमञ्जरीकार की दृष्टि—जगत् शक्ति का परिणाम है, न कि विवर्त—

सावश्यं विज्ञेया यत्परिणामादभूदेषा।।

(वरिवस्यारहस्यम्)

त्वयि परिणतायाम् (शंकराचार्य)

तस्यां परिणतायायां तु न कश्चित् पर इष्यते।

उज्जृंभते का अर्थ—पृथिव्यादिभाववर्गमिवानाश्रितशिवभट्टारकमपि क्रोडीकृत्याभिवर्धते तद्रूपतया परिस्फुरति।

पञ्चाशिककार की दृष्टि—यही दृष्टि पञ्चाशिक में भी व्यक्त की गई है—

चित्स्वभाव्यादसौ देव: स्वात्मना विमृशन् प्रभु:।
अनाश्रितादिभूम्यन्ता भूमिका: प्रतिपद्यते।।

यह शक्ति चिदानन्देच्छाज्ञानक्रियारूप शक्तिपञ्चकसामरस्यस्वभावा कहलाती है—सा चिदानन्देच्छाज्ञान-क्रियारूपशक्तिपञ्चकसामरस्यस्वभावेत्याख्यायते।[१]

विश्व शम्भु की शक्ति का विजृम्भणमात्र है; सृजन नहीं है—ततश्च परमेश्वरपरामर्श-प्रसरपरिपाटीपाटवपरमार्थमेतदखिलं तत्त्वपरम्परापरिस्फुरणप्राचुर्योज्ज्वलं विश्वविजृम्भा-वैचित्र्यमिति तात्पर्यार्थ:।[२]

सप्तत्रिंशत्तत्त्व—३७वाँ तत्त्व कौन है? महार्थमञ्जरीकार कहते हैं कि समस्त ३६ तत्त्वों के कलाप (समूह) को स्वात्मसात करके अवस्थित परमशिवभट्टारक नामक प्रमाता सैंतीसवाँ तत्त्व है—परमशिवभट्टारकाह्वय: प्रमाता सप्तत्रिंशतया स्वीक्रियते।

कहीं-कहीं परतत्त्व को अड़तीसवाँ तत्त्व भी कहा गया है; क्योंकि वह (विश्वमय होकर भी) विश्वातीत है—अविकल्पात्मना च भाव्यं विश्वोत्तरेणेत्यतोऽत्राप्यविकल्पवृत्तिरष्टा-त्रिंश कश्चिदागमेष्वङ्गीक्रियते।[३]

तन्त्रवटधानिकाकार की दृष्टि—

षट्त्रिंशत्तत्त्वपर्यायस्तदभिन्न: पर: शिव:।
उपदेश्यतया सोऽपि स्यादवच्छेदभागत:।
अष्टात्रिंशं परं धाम यत्रेदं विश्वकं स्फुरेत्।

---

१. परिमल २. परिमल (३६) ३. परिमल

शम्भु और शक्ति क्या हैं और उनका अन्त:सम्बन्ध क्या है? शम्भु अनुत्तरात्मा हैं और शक्ति शम्भु से अभिन्न है, तदविभिन्नस्वभावा है। वह स्वरसमुदायमयी विसर्ग-पर्याया शैवी ऊर्जा है—शम्भुरत्रानुत्तरात्मा तस्य तादृशी शक्तिश्च तदविभिन्नस्वभावा, स्व-रसमुदायमयी विसर्गापरपर्यायेति।[१]

यह शैवी शक्ति अनुत्तर क्रिया तथा अनुत्तर चिति के रूप में अवस्थित है। उन्मेष (सृष्टि) एवं निमेष (प्रलय) भी इसी शक्ति की उन्मीलन-निमीलन क्रियायें हैं। अशेष वेद्यवर्ग की वासनाओं से उन्मिषित एवं परमशिव (अनुत्तर तत्त्व) में विश्राम ग्रहण करने वाली यह शैवी परा शक्ति ही परमशिव में भी अहं का बोध कराती है—सर्वसंवित्समा-वेशलक्षण: कश्चिदहमिति परामर्श उदेति।[२]

यह परमशिव का अहंबोधात्मक परामर्श-प्रवाह ही सृष्ट्योन्मुखी आद्य धारा है। इसे ही शिवसूत्रकार ने शिवसूत्र (प्रथमोन्मेष-१.२२) में इस प्रकार व्यक्त किया है—महा-ह्रदानुसन्धानान्मन्त्रवीर्यानुभव:[३] (शिवसूत्र)। अर्थात् पराशक्तिस्वरूप महाह्रद (समस्त शक्तिचक्र एवं स्थूल मेयपर्यन्त समस्त जगत् को अपने उदर में रखने वाली स्वातन्त्र्य नाम्नी पराशक्ति) के अनुसन्धान (अन्तर्मुख एवं अनारत रूप से उस शक्ति के साथ तादात्म्य-विमर्शन) द्वारा मन्त्र (शब्दराशिस्फारात्मक एवं पराहन्ता विमर्श से युक्त मन्त्र) के वीर्य (मन्त्र के वीर्यभूत एवं महामन्त्रस्वरूप पूर्णाहन्तारूप आत्मशक्ति) का अनुभव (स्वात्मरूप स्फुरण) होता है। मालिनीविजय में भी 'या सा शक्तिर्जगद्धातु:' कहकर इसी तथ्य की पुष्टि की गई है। 'मातृकाचक्रसम्बोध:' सूत्र द्वारा भी शिवसूत्रकार ने इसी भाव को व्यक्त किया है।

श्रीकण्ठीय संहिताकार की दृष्टि—श्रीकण्ठीसंहिताकार का कथन है कि—

आदिमान्तविहीनास्तु मन्त्रा: स्यु: शरदभ्रवत्।
गुरोर्लक्षणमेतावदादिमान्तं निवेदयेत्।।

श्रीसंवित्स्तोत्रकार की दृष्टि—संवित्स्तोत्र में कहा गया है—

आदिमान्तिमगृहीतवर्णराश्यात्मिकाहमिति या स्वत: प्रथा।
मन्त्रवीर्यमिति साधितागमैस्तन्मयो गुरुरसि त्वमम्बिके।।

वीर्य क्या है?[४] वीरसम्बन्धी धर्म ही वीर्य है। वीर कौन है? तत्र वीरो नाम विविध-मीरयति विश्ववैचित्र्यमिति भगवान् शब्दराशिभट्टारक उच्यते।[५]

श्रीमच्चिद्गगनचन्द्रिकाकार की दृष्टि—ईरणेन विविधेन वीरतां योऽयमक्षरगण: प्रपद्यते।

१-२. परिमल

३. परैव शक्तिर्महाह्रद:, तत: तदनुसन्धानात् (शिवसूत्र-विमर्शिनी : क्षेमराज)

४-५. परिमल

श्रीप्रभाकौलकार की दृष्टि—प्रभाकौलकार कहते हैं—वामे वीरा समाख्याताः।

श्रीत्रिंशिकाकार की दृष्टि—त्रिंशिकाकार कहते हैं—

सर्वेषामेव मन्त्राणां विद्यानां च यशस्विनि।
इयं योनिः समाख्याता सर्वतन्त्रेषु सर्वदा।।

भट्टकल्लट की दृष्टि—भट्टकल्लट स्पन्दकारिका में कहते हैं—

यस्योन्मेषनिषाभ्यां जगतः प्रलयोदयौ।
तं शक्तिचक्रविभव..।।

यह उन्मेष-निमेष शक्ति का ही तो स्वरूप है। शिव अपनी ही शक्ति के प्रसार-रूप विश्व का अहं रूप में विमर्शन करता है। स्पन्दशक्ति उच्छलनात्मक (स्वात्मन्युच्छलनात्मकः—तन्त्रालोक-४.१८३) है। वह युगपत् विकास-संकोच करती रहती है। शंकरात्मक बोधगगन (अनुत्तर तत्त्व परमशिव) का सारभूत तत्त्व हृदय (विमर्शरूपा) या स्पन्द शक्ति है—पस्पन्दे स स्पन्दः। (ष. त. सं.)। स्पन्द ही शक्ति है।[१]

अध्वषट्क का स्वरूप

नन्वध्वानो हि षडिति आगमेषु प्रसिद्धाः। तत्र तत्त्वव्रातात्मा कश्चिदेवांशः। अन्यत्र तु कथमुक्तार्थोपपत्तिरित्याकाङ्क्षां क्षपयन् प्रकृतगाथायास्तात्पर्यार्थमाह—

जं अत्थाण अ छक्कं तत्थ पआसत्थलक्खणं अद्धं।
विमरिससद्दसहावं अद्धं ति सिवस्स जामलुल्लासो ॥२७॥

(यदध्वनां च षट्कं तत्र प्रकाशार्थलक्षणमर्धम्।
विमर्शशब्दस्वभावमर्धमिति शिवस्य यामलोल्लासः।।)

यह जो अध्वों का षडात्मक समूह (वर्ण, पद, मन्त्र, कला, तत्त्व एवं भुवन) है, इसके प्रकाशार्ध लक्षण वाला अर्धभाग एवं विमर्शार्ध स्वरूप वाला शब्दस्वभाव वाला अर्ध भाग—ये ही दो उन्मेष-निमेषात्मक यामलोल्लास (परमशिव के दो चमत्कार) हैं।।२७।।

अध्वानो हि षडित्यागमेषु प्रसिद्धम्। ते च वर्णाः, पदानि, मन्त्राः, कलाः, तत्त्वानि, भुवनानीत्याख्यायन्ते। तत्र वर्णाः पञ्चाशल्लोकप्रसिद्धाः। पदान्यानन्त्येऽपि व्योमव्याप्यादिमन्त्रमर्यादयैकाशीतिः। मन्त्राश्च तद्वदानन्त्येऽपि ब्रह्मपञ्चकमङ्गषट्कं चेति सङ्कोचदृष्ट्या एकादश। कला निवृत्त्यादयः पञ्च। तत्वान्युक्तरूपाणि षट्त्रिंशत्। भुवनानि च कालाग्निरुद्रादीन्यनाश्रितान्तानीति चतुर्विंशत्यधिकं

१. शक्ति का स्वरूप पूर्ण अहंविमर्श है। यह अहंविमर्श ही मौलिक स्फुरत्ता है। स्फुरत्ता ही शक्ति है।

शतद्वयम्। एतदखिलमपि कलापञ्चकेन क्रोडीक्रियते। तथाहि—निवृत्तौ कलायां क्षकार एको वर्णः। अष्टाविंशतिः पदानि। हृदयसद्योजातौ मन्त्रौ। पृथिवी तत्त्व-मेकम्। कालाग्निरुद्रादीनि भद्रकाल्यन्तान्यष्टोत्तरशतं भुवनानि। प्रतिष्ठायां हाद-यष्टान्ता वर्णास्त्रयोविंशतिः। एकविंशतिः पदानि। शिरोवामदेवौ मन्त्रौ। अप्तत्त्वा-दीनि प्रकृत्यन्तानि त्रयोविंशतिस्तत्त्वानि। अमरेशादीनि श्रीकण्ठान्तानि च षट्-पञ्चाशद् भुवनानि। विद्यायां आदिघान्ताः सप्त वर्णाः। विंशतिः पदानि। शिखा-घोरश्चेति मन्त्रद्वयम्। पुरुषप्रभृतीनि मायापर्यन्तानि सप्त तत्त्वानि। भीमादीन्यङ्गुष्ठ-मात्रान्तानि च सप्तविंशतिर्भुवनानि। शान्तौ तु गखकास्त्रयो वर्णाः। पदान्येकादश। कवचतत्पुरुषौ मन्त्रौ। शुद्धविद्येश्वरसदाशिवास्त्रीणि तत्त्वानि। वामादिसदा-शिवान्तमष्टादश भुवनानि। शान्त्यतीतायां च वर्णाः षोडश स्वराः। पदमेकम्। (शिवः?) ईशानो नेत्रमस्त्रमिति मन्त्रत्रयम्। शिवस्तत्त्वमेकं यः शक्तिस्वभाव इत्याम्नायते। निवृत्त्यादीन्यनाश्रितान्तानि पञ्चदश भुवनानीति विवेकः। एतच्च सिद्धान्तादितन्त्रेष्वत्यन्तं वितत्योपपादितमिति संक्षेपेणोक्तम्। एवं च सति यदेत-दध्वनामुक्तरूपाणां षट्कम्, तत्र यदेकमर्धं भुवनतत्त्वकलास्वभावम्। अन्यत् तु मन्त्रपदवर्णात्मकम्। प्रत्येकं च स्थूलसूक्ष्मपरप्रक्रियया त्रैविध्यम्। तत्र प्रथम-मभिधेयभूतं द्वितीयमभिधानकारकमिति विभागः। तथा च सति वाच्यवर्गः सर्वोऽपि प्रकाशपरमार्थः, वाचकोल्लेखस्तु विमर्शवपुरिति शिवस्य प्रकाश-विमर्शात्मनः परमेश्वरस्य यामल उभयविसर्गारणिस्वभाव उल्लासः। उन्मेषनिमेष-शक्तिद्वितययौगपद्यानुभूतिचमत्कार इत्यर्थः। यथा पर्यन्तपञ्चाशिकायाम्—

> तत्र वाचकवाच्यात्मस्पन्दयोरेकशः प्रभोः।
> स्थूलसूक्ष्मपराभासक्रमयोः षड्विधाध्वता ।। इति।

यथा च श्रीविरूपाक्षपञ्चाशिकायाम्—

> यस्य विमर्शस्य कणः पदमन्त्रार्णात्मकस्त्रिधा शब्दः।
> पुरतत्त्वकलात्मार्थो धर्मिण इत्थं प्रकाशस्य ।। इति।

श्रीचिद्गगनचन्द्रिकायां च—

> याऽहमित्युदितवाक् पराभिधा यः प्रकाश उदितार्थविग्रहः।
> द्वौ मिथः समुदिताविहोन्मुखौ तौ षडध्वपितरौ श्रये शिवौ ।। इति।

एवमाशयेनैव ह्यस्मत्परमगुरुभिः श्रीसौभाग्यहृदयस्तोत्रे—

> वर्णः कला पदं तत्त्वं मन्त्रो भुवनमेव च।
> इत्यध्वषट्कं देवेशि! भाति त्वयि चिदात्मनि ।।

इत्यध्वनामुद्देशस्तत्तद्यामलतयोन्मीलितः। एतेन 'वागर्थाविव संपृक्तौ' इत्यादीनि महाकविवाक्यानि व्याख्यातानि। अतश्च शब्दार्थसामरस्यात्मनि साहित्येऽप्यस्मदाग्रहः पारमेश्वरोऽनुग्रह एव। यदनुप्राणनाः कुण्डलाभरणमुकुन्दकेलिपरिमला(गुहा?)कोमलवल्लीस्तवनखप्रलापादयः प्रबन्धाः प्रख्यायन्ते।

तयोर्विमर्शप्रकाशस्वभावतायाः—'चितिः प्रत्यवमर्शात्मा परा वाक् स्वरसोदिता' इति, 'आत्मार्थस्य प्रकाशता' इति च प्रत्यभिज्ञापितत्वात्। एवं च प्राचीनगाथायां शम्भोः प्रकाशस्वरूपस्य शक्तिर्विमर्शमयीत्यपि व्याख्यातम्। स्वपरामर्शोपायभूतत्वाद् वर्णकलादीनामध्वशब्दव्यपदेशः। यथा श्रीस्वच्छन्दे—

मुक्तानां शिवताव्यक्तिकारणं विश्वमेव हि।
शिवताव्यक्तिमार्गत्वात्ते सर्वेऽपि कलादयः।।
अध्वशब्देन कथ्यन्ते ते सर्वे बन्धना अपि। इति।

श्रीविज्ञानभैरवे च—

भुवनाध्वादिरूपेण चिन्तयेत् क्रमशोऽखिलम्।
स्थूलसूक्ष्मपरस्थित्या यावदन्ते मनोलयः।। इति।

वर्ण, पद, मन्त्र, कला, तत्त्व एवं भुवन—ये ही छः अध्व हैं। अ से ज्ञ पर्यन्त समस्त वर्णसमुदाय वर्णाध्व है। पद ८१, मन्त्र ११, कलायें ५ एवं तत्त्व ३६ हैं। समस्त तन्त्राम्नाय में यह प्रसिद्ध है कि अध्व छः हैं।

अध्वषट्क
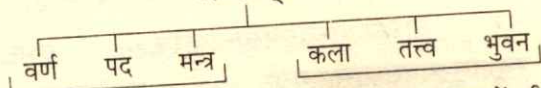
शुद्धाध्वा—शिव तत्त्व से लेकर शुद्धविद्यातत्त्व तक के प्रमाताओं की सृष्टि शुद्ध अध्वा कहलाती है। शुद्ध अध्वा माया से ऊपर की सृष्टि है। इस सृष्टि के कर्ता साक्षात् भगवान् शिव हैं।

तन्त्रसार में कहा गया है कि—तद्यथा—शाम्भवा शाक्ताः मन्त्रमहेश्वराः। मन्त्रेश्वराः मन्त्रा इति शुद्धाध्वा। इयति साक्षात् शिवः कर्ता।[1]

अशुद्धाध्वा[2]—माया तत्त्व से लेकर पृथ्वी तक की सम्पूर्ण सृष्टि अशुद्ध अध्वा या मायीय सृष्टि कही जाती है। इस सृष्टि में माया का प्राधान्य रहता है। इस अध्वा की सृष्टि (मायिक विश्व का सृजन) अघोरेश के द्वारा माया शक्ति से की जाती है।

---

१. तन्त्रसार (आ. ८)
२. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी

अध्व षट्क एवं शुद्धाशुद्ध सृष्टि

शुद्धाध्वा[1] (शुद्ध सृष्टि)—

१. यह शिव तत्त्व से शुद्ध विद्या तत्त्व तक प्रसृत है।

२. यह माया से ऊर्ध्व में है; अत: मायातीत है, मायोपरि है।

३. इसके निर्माता साक्षात् शिव भगवान् हैं।

४. यह सृष्टि आदि सर्ग है और कर्म-सिद्धान्त से निरपेक्ष एवं निर्लिप्त है।

५. यह परमशिव की स्वतन्त्र इच्छामात्र पर स्थित है—इच्छामात्रं प्रभो: सृष्टि:।

६. इस आदि सृष्टि (सर्ग) का प्रमाता-समूह मितात्मक नहीं है; प्रत्युत चिदात्मक एवं विश्वप्रमाता है।

७. यहाँ के प्रमाता अपने-आपको समष्टि प्रमाता (स्वयं को विश्व का प्रमाता) मानते हैं।

८. ये प्रमाता समस्त विश्व को (समस्त पारमित्यों से विमुक्त) 'सर्वं इदम्' के प्रत्यय से वेद्यरूप में अनुभव करते हुये भी चिद्रूप में प्रत्यवमृष्ट करते हैं। इसीलिये ये प्रमाता शुद्धप्रमाता कहे जाते हैं।

९. उनकी दृष्टि शुद्धविद्या कहलाती है।

१०. यहाँ अद्वैत प्रथा का प्राधान्य होता है।

११. यहाँ शुद्ध अध्वा में अहंरूप प्रमाता एवं इदम्रूप प्रमेय एक चिन्मात्ररूपता में विश्रान्त रहते हैं। विश्वप्रमाता सामानाधिकरण्य-सम्बन्ध से इदम् (प्रमेय विश्व) को 'यह विश्व मैं हूँ' के भाव से ही परामृष्ट किया करता है।

प्रमाता (वेदक) स्वयं को शरीर, इन्द्रिय, बुद्धि आदि से परे चैतन्य मानकर एवं वेद्यों को चिन्मयरूप में देखते हुये (जड़ न समझकर चेतन मानते हुये) 'अहमिदमस्ति' भाव रखता है।

चिद्रूप को चिद्रूप में परामृष्ट करना ही शुद्ध विमर्श एवं शुद्ध ज्ञान है। उन्हें उसके विपरीत स्वरूप में देखना ही (प्रत्यवमर्श करना ही) अशुद्धि है। अहमिदम् एवं सर्वचिन्मयवाद का बोध ही विशुद्ध विमर्श है।

१२. चूँकि शुद्ध अध्वा के प्रमाताओं में विशुद्ध विमर्श हुआ करता है; अत: परमशिव का यह आदि सर्ग शुद्धाध्वा कहा जाता है।

१३. यह अध्वा शुद्धविद्या-प्रधान है। शुद्धविद्या क्या है? सामानाधिकरण्येनेदं विश्वमहमिति विश्वात्मनो मति: शुद्धविद्या। (ईश्वरप्रत्यभिज्ञावृत्ति)

विद्या पराद्वय प्रथा है—विद्या पराद्वयप्रथा। (शिवसूत्रविमर्शिनी)

---

१. मायाभिधानात् तत्त्वात् परस्मिन् पूर्ण एव शिवादिविद्यातत्त्वपर्यन्ते शुद्धाध्वनि (परमार्थसार-विवृति)।

अशुद्धाध्वा (अशुद्ध सृष्टि)—

१. माया तत्त्व से पृथ्वी तत्त्वपर्यन्त सृष्टि अशुद्ध अध्वा कहलाती है।

२. अशुद्धाध्वा को ही मायिक सृष्टि भी कहते हैं।

३. इसमें माया तत्त्व का प्राधान्य है।

४. माया की सहायता लेकर अघोरेश ही इस सृष्टि की रचना किया करते हैं।

५. माया क्या है? माया भेदबुद्धि का पर्याय है—मायाविभेदबुद्धिर्निजांशजातेषु निखिलजीवेषु (षट्त्रिंशतत्त्वसन्दोह)।

६. अशुद्धाध्वा में माया शक्ति के कारण प्रमाताओं में स्वरूपतिरोधान होने के कारण स्वरूप-विपर्यास रहता है, अतस्मिंस्तद्बुद्धिः का बोध होता है—ग्राहकग्राह्यविपर्यासद्वयप्ररूढौ तु माया शक्तिः (ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी)।

७. स्वरूप-विपर्यास के कारण इन प्रमाताओं में—जड़ात्मक वेद्यों में अहन्ताभिमान होने लगता है—

भेदे त्वेकरसे भातेऽहंतयानात्मनीक्षते।
शून्ये बुद्धौ शरीरे वा मायाशक्तिर्विजृम्भते।। (ईश्वर प्र.)

८. यहाँ द्वैतप्रथा या भेदबुद्धि की प्रधानता होती है।

९. जड़ात्मक शरीर एवं इन्द्रियों को ही आत्मस्वरूप मानने वाला यह प्रमातावर्ग शरीर के कृश होने पर 'मैं कृश हो गया, मैं दुःखी हो गया' की अनुभूति करने लगता है और जड़बुद्धि के साथ तादात्म्य स्थापित करके बुद्धि के धर्मों को आत्मा के धर्म मानकर 'मैं दुःखी हूँ' आदि दशाओं का अनुभव करने लगता है—कृशोऽहमित्यादिदशासु अहमित्यात्मतया भाति। वेद्यप्रतिबिम्बनवती बुद्धिरभिनिविश्यते अन्तरहं वेद्मि दुःख्यहमिति।
(ईश्वप्रत्यप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी)

१०. इस अध्वा में प्रमाता-वर्ग (स्वरूपविपर्यास के कारण) वेद्यरूप चिन्मय भावों को अपने से पृथक् एवं अचिद्रूप तथा सभी वेद्यों को पृथक्-पृथक् परामृष्ट करने लगता है। (ईश्वर प्र. वि. भाग-२)

११. इन प्रमाताओं का बोध व्यापक (सर्वकर्तृत्व, सर्वज्ञातृत्व, सर्वचिन्मयत्व, सर्वव्यापकत्व, सर्वात्मकत्व) न रहकर मित हो जाता है और भेद-बुद्धि से कलुषित हो जाता है।

१२. चिद्रूपता में अचिद्रूपता एवं अभेद में भेद की प्रतीति ही तो अशुद्ध विमर्श है। ऐसे अशुद्ध विमर्श वाले प्रमाताओं के कारण ही यह अध्वा अशुद्धाध्वा कहा जाता है। इसके निर्माता अघोरेश हैं।[१]

अध्वा के विभिन्न रूप—अध्वानो हि षडित्यागमेषु प्रसिद्धम्। ते च वर्णाः,

---

१. अघोरेश : अशुद्धमध्वानम् इह अस्मद्दर्शने सृजति।

पदानि, मन्त्राः—कलाः, तत्त्वानि भुवनानीत्याख्यायन्ते।[१]

१. वर्ण तो ५० हैं, जो कि अ-आदि क्षान्त हैं।

२. पद—पदान्यानन्त्येऽपि व्योमव्याप्यादिमन्त्रमर्यादयैकाशीतिः।

३. मन्त्र—मन्त्राश्च तद्वदानन्त्येऽपि ब्रह्मपञ्चकमङ्गषट्कं चेति सङ्कोचदृष्ट्या एकादश।

४. कला—कला निवृत्यादयः पञ्च।

५. तत्त्व—तत्त्वान्युक्तरूपाणि षट्त्रिंशत्।

६. भुवन—भुवनानि च कालाग्निरुद्रादीन्यनाश्रितान्तानीति चतुर्विंशत्यधिकं शतद्वयम् (एतदखिलमपि कलापञ्चकेन क्रोडीक्रियते)।

सौभाग्यहृदयस्तोत्रकार की दृष्टि—इस ग्रन्थ में अध्वषट्क को इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—

वर्णः कला पदं तत्त्वं मन्त्रो भुवनमेव च।
इत्यध्वषट्कं देवेशि! भाति त्वयि चिदात्मनि।।

अभिनवगुप्तपादाचार्य की दृष्टि—तन्त्रालोक (प्रथमाह्निक) में आचार्य अभिनवगुप्त कहते हैं कि शिव की शक्तियाँ अनन्त हैं। शिव की शक्ति का आनन्त्य—१. कला २. तत्त्व ३. भुवन ४. वर्ण ५. मन्त्र एवं ६. पद नामक षडध्व में व्याप्त है या षडध्व के रूप में व्यक्तीभूत है—

बहुशक्तित्वमस्योक्तं शिवस्य यदतो महान्।
कला-तत्त्व-पुरार्णाणुपदादिर्भेदविस्तरः ।।

(अणु = मन्त्र) (पुर = भुवन) (अर्ण = वर्ण) अध्व का अर्थ है—मार्ग; यथा—मन्त्राध्व अर्थात् मन्त्र का मार्ग = मन्त्रविज्ञान, मन्त्रविद्या।

मार्ग (अध्वा) **के प्रकार**

- शब्दाध्वा
  - वर्ण
  - पद
  - मन्त्र
- अर्थाध्वा
  - कला
  - तत्त्व
  - भुवन
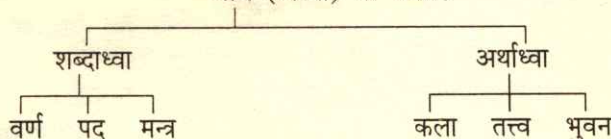
१. इनमें से पिछले दोनों क्रमशः अगले दोनों के अधीनस्थ हैं अर्थात् पद वर्ण के मन्त्र पद के आधीन है।

अर्थाध्व—१. कला-५, २. तत्त्व-३६, ३. भुवन-२२४।

इनमें भी दूसरा और तीसरा क्रमशः प्रथम एवं द्वितीय के अधीनस्थ (आश्रित) है।

वैसे तो षडध्व-विज्ञान शैव एवं शाक्त दोनों सम्प्रदायों की रचनाओं में मिलता

१. षट्त्रिंशत्तत्त्वसन्दोह

है; किन्तु शाम्भव दर्शन में इसका विशेषोल्लेख है।

शैव और शाक्तों में भेद—

१. शाक्त गण शिव एवं शक्ति—दोनों की उपासना करते हुये भी शक्ति तत्त्व को,

२. शैव गण शक्ति एवं शिव—दोनों की उपासना करते हुये भी शिवतत्त्व को विशेष महत्त्व प्रदान करते हैं।

कला के भेद

शान्त्यतीता कला | शान्ति कला | विद्या कला | प्रतिष्ठा कला | निवृत्ति कला

कला क्या है? कला है—परात्पर शक्ति का सामान्य एवं परात्पर रूप।

कला का द्वितीय अर्थ है—शक्ति का अन्यतम विशिष्ट स्वरूप एवं व्यापार।

जिस समय माया तत्त्व के कारण मितात्मा का पूर्ण प्रकाशस्वरूप तिरोहित हो उठता है और उसकी ज्ञान शक्ति एवं क्रिया शक्ति संकुचित हो उठती है और उसका सर्वज्ञातृत्व एवं सर्वकर्तृत्व किञ्चित् ज्ञातृत्व एवं किञ्चित् कर्तृत्व में पर्यवसित हो जाता है (परिमित कर्तृत्व में परिणत हो जाता है) तब उसे 'कला' कहते हैं—

तत्सर्वकर्तृता सा सङ्कुचिता कतिपयार्थमात्रपरा।
किञ्चित्कर्तारममुं कलयन्ती कीर्त्यते कला नाम।।[१]

कला माया की प्रथम सृष्टि है।

अभिनवगुप्त की दृष्टि—आचार्य अभिनवगुप्त तन्त्रालोक में कहते हैं कि कला माया तत्त्व की प्रथमा सृष्टि है; किन्तु वे अन्यत्र कला को प्रथम कञ्चुक भी कहते हैं। कला के विषय में दो दृष्टियाँ हैं—

१. माया की प्रथम सृष्टि   २. प्रथम कञ्चुक

माया परिग्रहवशाद् बोधो मलिनः पुमान् स पशुर्भवति।
कालकलानियतिवशाद् रागाविद्यावशेन सम्बद्धः।।

(परमार्थसार-१६)

कला का जन्म—अभिनवगुप्तपादाचार्य की दृष्टि—

१. अनाश्रित (शक्ति तत्त्व) ही बाह्यावभास में माया,

२. सदाशिव ही कला एवं विद्या,

३. ईश्वर ही काल एवं नियति,

४. सद्विद्या ही राग बनकर उदित होते हैं—

---

१. षट्त्रिंशत्तत्त्वसन्दोह

अनाश्रितं यतो माया कलाविद्ये सदाशिवः।
ईश्वरः कालनियती सद्विद्या राग उच्यते।।[१]

प्रमाता—

१. माया का प्रमाता अनाश्रित (शक्तितत्त्व)।
२. बुद्धि का प्रमाता (सदाशिव)।
३. प्राण का प्रमाता (ईश्वर)।
४. देह का प्रमाता (सद्विद्या)।

अनाश्रितः शून्यमाता बुद्धिमाता सदाशिवः।
ईश्वरः प्राणमाता च विद्या देहप्रमातृता।।[२]

अभिनवगुप्त की दृष्टि—शिव से विद्यापर्यन्त शिव के जो पाँच रूप हैं, वे ही पाशबद्ध पुरुष के लिये माया से राग तत्त्व के पञ्चकञ्चुक होते हैं—

शिवादिशुद्धविद्यान्तं यच्छिवस्य स्वकं वपुः।
तदेव पुंसो मायादिरागान्तं कञ्चुकीर्भवेत्।।[३]
शक्त्यादिस्तत्त्ववर्गस्तु कञ्चुकत्वेन वै पशोः।
शक्तिर्माता कला विद्या कालो नियतिरेव च।
सदाशिवेश्वरौ विद्या रागस्तु वरवर्णिनि।।

आचार्य भट्टवामदेव की दृष्टि—भट्टवामदेव कहते हैं कि सृष्ट्युन्मुख भगवान् शुद्धाध्वा में वर्तमान रहकर अपनी शक्तियों के माध्यम से माया तत्त्व को विक्षुब्ध करके उस कला तत्त्व का सृजन करते हैं, जो कि किञ्चित्कर्तृत्वलक्षणा है—तत्र सृष्ट्युन्मुखो भगवान् शुद्धाध्वनि वर्तमानः स्वशक्तिभिः मायां विक्षोभ्य कलातत्त्वं किञ्चित्कर्तृत्वलक्षणं पुद्गलस्य सृजति।

तन्त्रालोककार की दृष्टि—अभिनवगुप्तपादाचार्य कहते हैं—

कला हि किञ्चित्कर्तृत्वं सूते स्वालिङ्गनादणोः।
तस्याश्चाप्यणुनान्योन्यं ह्यञ्जनं सा प्रसूयते।।

(तन्त्रालोक-६)

सेयं कला न करणं मुख्यं विद्यादिकं यथा।
पुंसि कर्तरि सा कर्त्री प्रयोजकतया यतः।। (तन्त्रालोक)

---

१. तन्त्रालोक (६.४२)
२. तन्त्रालोक (६.४३)
३. तन्त्रालोक—किञ्चित् कर्तृत्व लक्षण उत्पन्न करने वाली शक्ति ही कला है। (ईश्वरप्रत्यभिज्ञा-विमर्शिनी भाग २)

पञ्चकलायें और उनका स्वरूप—१. शान्त्यातीता २. शान्ति ३. विद्या ४. प्रतिष्ठा एवं ५. निवृत्ति नामक पाँच कलायें कतिपय तत्त्वों की शक्तियाँ हैं और विस्तार की प्रक्रिया की दो अवस्थायें हैं।

तत्त्वों = (३६ तत्त्वों) का विभाजन-विधान

१. शुद्ध तत्त्व (अभेद स्तर) **शिवतत्त्व** (प्रथम वर्ग)—१. शिवतत्त्व २. शक्तितत्त्व।

२. शुद्धाशुद्ध तत्त्व (भेदाभेद स्तर) **विद्या तत्त्व** (द्वितीय वर्ग)—१. सदाशिव २. ईश्वरतत्त्व ३. शुद्धविद्या।

३. अशुद्ध तत्त्व (भेद स्तर) **आत्म तत्त्व** (तृतीय वर्ग)—

(माया से पृथ्वी तत्त्वपर्यन्त ३१ तत्त्व)

१. माया	९. बुद्धि	१७. वाक्	२५. रस
२. कला	१०. अहंकार	१८. पाणि	२६. गन्ध
३. विद्या	११. मन	१९. पाद	२७. आकाश
४. राग	१२. श्रोत्र	२०. पायु	२८. वायु
५. काल	१३. त्वक्	२१. उपस्थ	२९. वह्नि
६. नियति	१४. चक्षु	२२. शब्द	३०. सलिल
७. पुरुष	१५. जिह्वा	२३. स्पर्श	३१. पृथिवी
८. प्रकृति	१६. घ्राण	२४. रूप	

भुवन अर्थात् लोक 'अस्माद् भवतीति भुवनम्' अर्थात् इससे जो कुछ उत्पन्न होता है, उसे भुवन कहते हैं।

भुवनों के प्रकार

शुद्ध | शुद्धाशुद्ध | अशुद्ध

कला	शुद्धतत्त्व	भुवन-संख्या	भुवनों के नाम
शान्त्यातीता कला	शिवतत्त्व	१०	अनाश्रित, अनाथ, अनन्त, व्योमरूपिणी, व्यापिनी, ऊर्ध्वगामिनी, मोचिका, रोचिका, दीपिका, इन्धिका। (इनमें से पाँच शाक्त भुवन हैं और शेष पाँच नादोर्ध्व भुवन हैं)।
	शक्तितत्त्व	५	शान्त्यतीता, शान्ति, विद्या, प्रतिष्ठा, निवृत्ति (ये वैन्दवपुर कहलाते हैं)।
	योग—	१५	

कला	शुद्धतत्त्व	भुवन-संख्या	भुवनों के नाम
शान्ति कला	सदाशिव तत्त्व	१	सदाशिव भुवन
	ईश्वर तत्त्व	८	शिखण्डी, श्रीकण्ठ, त्रिमूर्ति, एकनेत्र, एकरुद्र, शिवोत्तम, सूक्ष्म एवं अनन्त।
	शुद्ध विद्या	९	मनोन्मनी, सर्वभूतदमनी, बलप्रमथनी, बल-विकरणी, कलविकरणी, काली, रौद्री, ज्येष्ठा, वामा
	योग—	१८	
कला	**शुद्धाशुद्धतत्त्व**	**भुवन-संख्या**	**भुवनों के नाम**
विद्या कला	माया तत्त्व	८	अङ्गुष्ठमात्र, ईशान, एकेक्षण, एकपिङ्गल, उद्भव, भव, वामदेव, महाद्युति।
	कालतत्त्व	२	विश्वेश। एकवीर
	कलातत्त्व	२	पञ्चान्तक। शूर।
	विद्यातत्त्व	२	पिङ्ग। ज्योति।
	नियतितत्त्व	२	संवर्त। क्रोध।
	रागतत्त्व	५	एकशिव, अनन्त, अज, उमापति, प्रचण्ड।
	पुरुषतत्त्व	६	एकवीर, ईशान, भव, ईश, उग्र, भीम, वाम।
	योग—	२७	
कला	**अशुद्धतत्त्व**	**भुवन संख्या**	**भुवनों के नाम**
प्रतिष्ठा कला	प्रकृति तत्त्व	८	श्रीकण्ठ, औम, कौमार, वैष्णव, ब्रह्म, भैरव, कृत, अकृत।
	बुद्धितत्त्व	८	ब्राह्म, प्रजेश, सौम्य, ऐन्द्र, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, पिशाच।
	अहङ्कार तत्त्व	१	स्थलेश्वर (१ भुवन)
	मनस् तत्त्व श्रोत्र तत्त्व त्वक् तत्त्व		

	चक्षु तत्त्व जिह्वा तत्त्व नासिका तत्त्व	१	स्थूलेश्वर (१ भुवन)
	वाक् तत्त्व पाणि तत्त्व पाद तत्त्व पायु तत्त्व उपस्थ तत्त्व	१	शङ्कुकर्ण (१ भुवन)
	शब्द तत्त्व स्पर्श तत्त्व रूप तत्त्व रस तत्त्व गन्ध तत्त्व	५	कालञ्जर, मण्डलेश्वर, माकोट, द्राविड, छगलाण्ड।
	आकाश तत्त्व	८	स्थाणु, स्वर्णाक्ष, भद्रकर्ण, गोकर्ण, महालय, अविमुक्त, रुद्रकोटि, वस्त्रपाद।
	वायु तत्त्व	८	भीमेश्वर, महेन्द्र, अट्टहास, विमलेश, नल, नाकल, कुरुक्षेत्र, गया।
	तेजस् तत्त्व	८	भैरव, केदार महाकाल, मध्यमेश, अम्रातक, जल्पेश, श्रीशैल, हरिश्चन्द्र।
	जल तत्त्व	८	लकुलीश, पारभूति, डिण्डी मुण्डी, विधि, पुष्कर, नैमिष, प्रभास, अमरेश।
	योग—	५६	
निवृत्ति कला		३६	पृथ्वी तत्त्व
		१०८	भद्रकाली से कालाग्नि तक।
	कुल मिलाकर	२२४	भुवन।

शुद्ध भुवनों में निवास करने वाली आत्मायें सर्वथा शुद्ध हैं। शेष आत्मायें शुद्धाशुद्ध या अशुद्ध हैं।

परसंवित्

पर संवित्
शिव तत्त्व
(उन्मनी शक्ति)
शक्ति तत्त्व
(समनी शक्ति)
शिव तत्त्व
अहं इदम्
मन्त्रेश्वर
सदाख्यतत्त्व
(नादशक्ति)
अहं इदम्
मन्त्रेश्वर
ईश्वरतत्त्व
(बिन्दु शक्ति)
विद्या तत्त्व
शुद्ध तत्त्व
मन्त्र और
विद्येश्वर
अहं इदम्
सद्विद्या तत्त्व
सद्विद्या से नीचे
पर माया से ऊपर
विज्ञानाकल
यहाँ माया और कंचुक सृष्टि
हेतु संलिष्ट होते हैं
अहं
इदम्
पुरुष तत्त्व
प्रकृति तत्त्व
माया
तत्त्व
में प्रलयाकल+
ब्रह्मा से
समस्त
बद्ध
जीव
आत्म तत्त्व
शुद्धाशुद्ध तत्त्व
बुद्धि से पृथ्वी
पर्यन्त तत्त्व
अशुद्ध तत्त्व
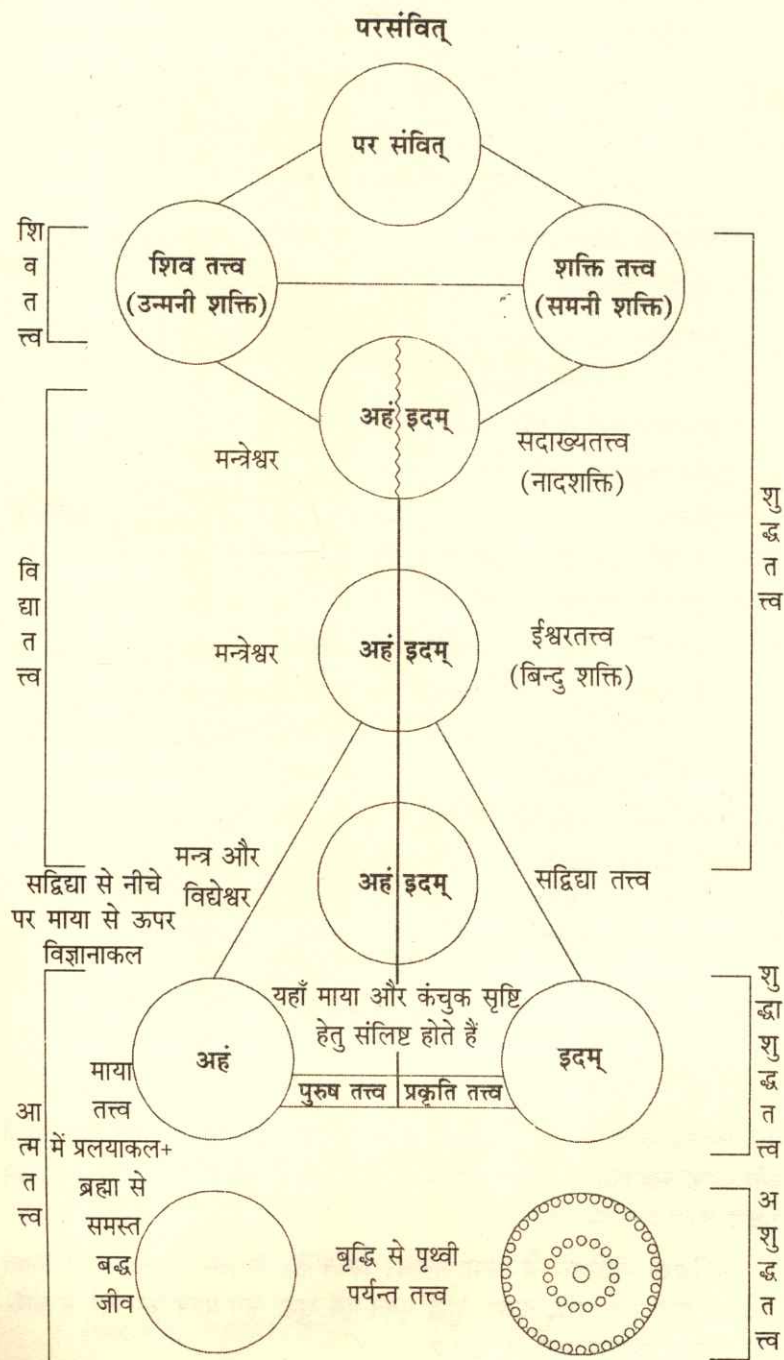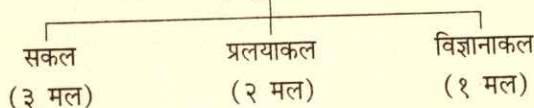
पशु (बद्ध जीव) **के भेद**

- विज्ञानाकल जीव—अज्ञान रूप मल से आच्छादित आणव मल से परिवृत।
- प्रलयाकल जीव—१. मल एवं २. माया दोनों से आबद्ध।
- सकल जीव—१. मल—आणव मल २. माया—मायीय मल ३. कर्म—कार्म मल—तीनों मलों से आबद्ध।

विज्ञानाकल श्रेणी के जीवों से ऊपर की श्रेणी के भी जीव हैं। ये मन्त्र कहलाते हैं।

मन्त्र—विज्ञानाकल से ऊर्ध्ववर्ती जीव।

विद्येश्वर—वे विज्ञानाकल जीव जिनका मलरूप आवरण जीव को त्यागने की अवस्था में पहुँच गया है और इस प्रकार परिपाकावस्थारूढ़ है, वे परिपक्व मल वाले विज्ञानाकल जीव विद्येश्वर कहे जाते हैं।

विद्येश्वरों के भेद

नाम	वर्ण
१. अनन्तेश (सब से ऊपर स्थित)	रुधिरवत्
२. सूक्ष्म	श्वेत
३. शिवोत्तम	नील
४. एकनेत्र	पीत
५. एकरुद्र	कृष्ण
६. त्रिमूर्ति	लोहित
७. श्रीकण्ठ	रक्त
८. शिखण्डी (सबसे नीचे स्थित)	श्याम

इनके वर्ण आदि का वर्णन विभिन्न ग्रन्थों में विभिन्न है, एकरूपता नहीं है।

विद्येश्वर आध्यात्मिक धरातल पर अत्युच्च धामों एवं भूमिकाओं में अवस्थित हैं और इनकी सहायता से निम्नवर्ती जीव भी उच्च आध्यात्मिक भूमिकाओं में प्रवेश कर सकते हैं।

मन्त्रेश्वर—विद्येश्वरों से ऊपर मन्त्रेश्वर स्थित हैं। विद्येश्वरों के ऊर्ध्व में स्थित मन्त्रेश्वर, शुद्ध तनु, शुद्ध करण, शुद्ध भुवन एवं शुद्ध भोग प्राप्त कर लेने से धीरे-धीरे समस्त मलों से मुक्त हो जाते हैं।

महामन्त्रेश्वर—ये मन्त्रेश्वरों से भी ऊर्ध्ववर्ती हैं।
शिवतत्त्व एवं शक्तितत्त्व—महामन्त्रेश्वरों से ऊपर तो मात्र शिव और शक्ति हैं।
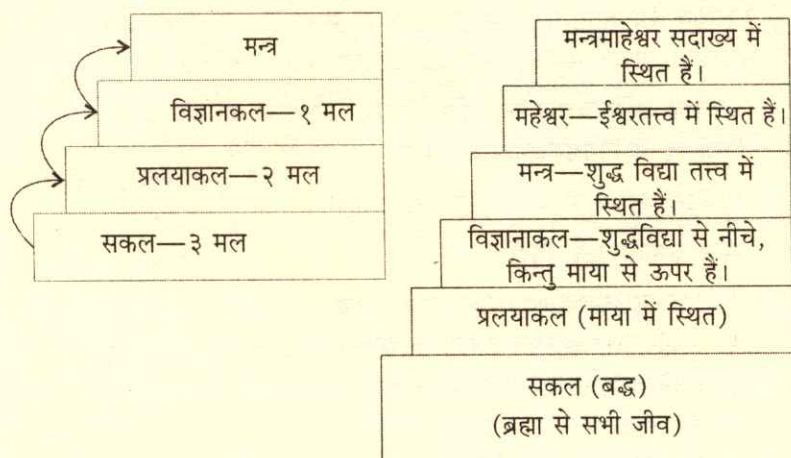
स्वामीगण—

१. पृथ्वी से प्रधान (प्रकृति) तक के स्वामी = ब्रह्मा।

२. पुरुष से कला तक के स्वामी = विष्णु।

३. माया के स्वामी = रुद्र।

४. सदाख्य तक प्रसृत तत्त्वों के स्वामी = ईश।

५. इसके बाद के सर्वोपरि तत्त्व : अनाश्रित शिव, परशिव, अनन्त आदि आठ विद्येश्वर। ये मन्त्रों से भिन्न हैं।

ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनीकार की दृष्टि—

१. सदाशिव तत्त्व : (चिद् विशेषत्व है) इसका स्वरूप है—मन्त्रमाहेश्वर।

२. विद्येश्वर (ई० प्र० वि०-३.१-६)—यद्यपि विद्येश्वरों का अहंभाव शुद्ध रहता है तथापि द्वैतवादियों के ईश्वर की भाँति वे दृश्य पदार्थों को अपने से भिन्न रूप में देखते हैं। उच्चतर स्थिति तो वही मानी जाती है, जिसमें द्रष्टा-दृश्य दोनों एकरूप हों।

ऐसे प्रमाता, जो अपने-आपको बोधरूप तथा कर्तृत्वयुक्त तो समझते हैं; किन्तु सर्वज्ञ एवं सर्वकर्तृत्वयुक्त होते हुये भी वे वेद्य जगत् को कुविन्दपट-दृष्टि से उनसे अपने को भिन्न समझते हैं—ये चिन्मात्रमेवात्मतया पश्यन्ति अहम् इति च चमत्कारोल्लासात् कर्तारस्तत एव सर्वज्ञा: सर्वकर्तारश्च ते विद्येश्वरा:। किन्तु तनुकरणभुवनादि यदेषां वेद्यतया कार्यतया च भाति, तत् कुविन्दपटदृष्ट्या भिन्नमेव सत्।[1]

---

१. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी (भाग-२)

जिस प्रकार कुविन्द (जुलाहा) को स्वनिर्मित पट भी कार्यरूप से अपने से पृथक् प्रतीत होता है और उसी प्रकार विद्येश्वर प्रमाता शुद्धचिन्मात्र में अहन्ताभिमानी होते हुये भी स्वरचित वेद्य जगत् को अपने से पृथक् ही मानते हैं—ते (विद्येश्वराः) हि शुद्ध-चिन्मात्रगृहीता भावाः स्वतस्तु भिन्नं वेद्यं पश्यन्ति यथा द्वैतवादिनामीश्वरः।[1]

आचार्य अभिनवगुप्त की दृष्टि—विद्येश्वर प्रमाताओं का अवस्थान विद्यापाद में है—विद्यापादे च विद्येश्वरादीनाम् अवस्थितिः।

विद्येश्वरों को ही मन्त्रप्रमाता भी कहा गया है।

सप्त प्रमाता एवं विद्येश्वर—

१. परप्रमातृ/सत्यप्रमाता/परप्रमाता = शिव।
२. सदाशिवतत्त्वावस्थित प्रमाता = मन्त्रमहेश्वर।
३. ईश्वरतत्त्वावस्थित प्रमाता = मन्त्रेश्वर।
४. शुद्धविद्यातत्त्वावस्थित प्रमाता = मन्त्र।
५. शुद्ध विद्या से नीचे, किन्तु मायोपरि प्रमाता = विज्ञानाकल।
६. मायातत्त्वावस्थित प्रमाता = प्रलयाकल/ प्रलयकेवली।
७. माया प्रमाता/परिमित प्रमाता/संकुचित प्रमाता/सकल = जीव।

मन्त्रमहेश्वर—ये अणु सदाशिव कहलाते हैं। ये सदा शिवतत्त्व-निवासी हैं। ये मुक्त होकर भी सर्वथा मलहीन न होने के कारण शिवत्व या परा मुक्ति नहीं प्राप्त कर पाते। इनमें आणवमल किञ्चिन्मात्रा में शेष रह ही जाता है। पृथक् होने पर भी इनका अहं बोध सदाशिवात्मक ही होता है।

मन्त्र—मन्त्र सात करोड़ हैं—

सप्तकोट्यो मुख्यमन्त्रा विद्यातत्त्वेऽत्र संस्थिताः।

अनन्त भट्टारक = अनन्त भट्टारक सर्वोच्च विद्येश्वर हैं। ये सात विद्येश्वरों एवं मन्त्रेश्वरों के नायक हैं—

मुख्यमन्त्रेश्वराणां यत् सार्धं कोटित्रयं स्थितम्।
तन्नायका इमे तेन विद्येशाश्चक्रवर्तिनः।।[2]

मन्त्रेश्वर वर्ग—ईश्वरतत्त्व या ऐशपुर में अन्य पुर स्थित हैं।

१. शिखण्डी	३. त्रिमूर्ति	४. एकनेत्र	७. सूक्ष्म
२. श्रीकण्ठ	६. शिवोत्तम	५. एकरुद्र	८. अनन्त

—ये आठ विद्येश्वर हैं। ये अपने-अपने गुणाधिक्य के कारण ऊर्ध्व से ऊर्ध्वतर भुवनों में निवास करते हैं। सर्वोच्च भूमि में अवस्थित विद्येश्वर का नाम है—अनन्त।

१. परात्रिंशिका विवरण (४) २. तन्त्रालोक (८.२४४)

सबसे नीचे की भूमि में अवस्थित विद्येश्वर हैं—शिखण्डी।

स्वच्छन्दतन्त्र की दृष्टि—विद्येश्वरों की स्थिति पूर्व दिशा से लेकर ईशानान्त दिशाओं में हैं। विद्येश्वर ३५० करोड़ मन्त्रेश्वरों के नायक हैं।

आचार्य क्षेमराज की दृष्टि—ग्राह्य-ग्राहकात्मक विश्व में—

१. सदाशिव तत्त्व में अहन्ता से आच्छादित एवं अस्फुट इदन्तामय जैसा परापररूप विश्व ग्राह्य है।

२. सदाशिव भट्टारक से अधिष्ठित मन्त्रमहेश्वर नामक प्रमातृवर्ग भी पारमेश इच्छा-प्रकल्पित है।

३. ईश्वरतत्त्व में स्फुट इदन्ता एवं अहन्ता का सामानाधिकरण्य जैसा विश्व ग्राह्य है।

४. ईश्वरभट्टारक से अधिष्ठित मन्त्रेश्वर वर्ग ही ग्राहक है।

५. विद्यापद में श्रीमदनन्तभट्टारक से अधिष्ठित मन्त्ररूप ग्राहक है, भेदात्मक विश्व ग्राह्य है।[1]

प्रमातृसप्तक—

१. शिव	३. ईश्वर	५. विज्ञानाकल	७. सकल
२. सदाशिव	४. शुद्धविद्या	६. प्रलयाकल	

प्रमाता—

१. देहप्रमाता	३. प्राणप्रमाता	५. विज्ञानकेवली	७. मन्त्रेश्वर
२. बुद्धिप्रमाता	४. शून्यप्रमाता	६. मन्त्र	८. मन्त्रमहेश्वर

पूर्व-पूर्व प्रमाताओं में आत्मा की व्याप्ति या चिद्विकास प्रवृद्ध होता जाता है। परप्रमाता परमशिव का चिद्विकास (आत्मव्याप्ति) शिव से लेकर पृथ्वीपर्यन्त सर्वत्र है।

मन्त्रेश्वर और मन्त्रमहेश्वर—विद्येश्वर नामक प्रमाताओं से भी उत्कृष्टतर वे प्रमाता हैं, जो शुद्धविद्यातत्त्व से सम्बद्ध हैं।

(क) मन्त्रेश्वर प्रमाता वे प्रमाता हैं, जिनमें इदन्ता का अवभास स्फुटतया होता है। ये ईश्वरतत्त्व में अवस्थित रहते हैं।

(ख) मन्त्रमहेश्वर प्रमाता—शुद्ध अहं के चिन्मात्ररूप अधिकरण में जब इदम् अंश का उन्मेष होता है तब जिन प्रमाताओं में इदन्ता का आन्तर अवभास अस्फुट रूप से होता है, वे ही सदाशिवतत्त्वावस्थित प्रमाता मन्त्रमहेश्वर प्रमाता कहलाते हैं। जिनमें इदन्ता का अवभास स्फुटतया होता है, वे मन्त्रेश्वर प्रमाता कहलाते हैं और ईश्वरतत्त्व में स्थित रहते हैं।

---

१. प्रत्यभिज्ञाहृदयम्

मन्त्रेश्वर एवं मन्त्रमहेश्वर प्रमाताओं में भेद—

(क) मन्त्रेश्वरों के शुद्ध विमर्श में इदम् भाव की अध्यामलता (स्फुटता) रहती है।

(ख) मन्त्रमहेश्वरों के शुद्ध विमर्श में उसकी ध्यामलता (अस्फुटता) रहती है।

(ग) मन्त्रमहेश्वरों से श्रेष्ठतर प्रमाता भगवान् शिव हैं; क्योंकि वहाँ प्रमेय-कल्पना का स्पर्श तक भी नहीं है। वहाँ तो सर्वत्र केवल एक शुद्ध अहन्ता (पूर्णाहन्ता) का ही विमर्श होता है। मन्त्रों (विद्येश्वरों), मन्त्रेश्वरों एवं मन्त्रमहेश्वरों में स्वरूपसङ्कोच का भेद है।

क्षीयमाण आणवमल एवं प्रमाता—क्षीयमाण आणवमल के अनुसार प्रमाता-श्रेणी—

१. किञ्चिद् ध्वस्यमान आणव मल → मन्त्रप्रमाता
२. ध्वस्यमान आणव मल → मन्त्रेश्वर प्रमाता
३. किञ्चिद् ध्वस्त आणव मल → मन्त्रमहेश्वर प्रमाता
४. ध्वस्त आणव मल → शिव (प्रमाता) (सर्वथा शुद्ध प्रमाता)

ये ही हैं—सप्त प्रमातृ कोटि।

तन्त्रालोककार की दृष्टि—अभिनवगुप्तपादाचार्य ने मन्त्रमहेश्वरों एवं शिव के मध्य भी एक प्रमाता स्वीकार किया है। इसकी संज्ञा है—शक्तिज (अनाश्रित)—

शाम्भवाः शक्तिजाः मन्त्रमहेशा मन्त्रनायकाः।
मन्त्रा इति विशुद्धाः स्युरमी पञ्च गणाः क्रमात्।।[1]

शक्तिजा इति अनाश्रिताद्याः। (तन्त्रालोक टीका)

प्रमाताओं की संख्या—प्रत्यभिज्ञादर्शन के निरूपण के प्रसंग में अभिनवगुप्त केवल सप्त प्रमाता ही स्वीकार करते हैं—तथा च शास्त्रे शिवादिसकलान्ताश्च शक्तिमन्तः सप्त। मुख्यत्वेन तु सप्तैव मातृभेदाः प्रकीर्तिताः। (मालिनीविजयवार्तिक-१.९६०)

तथापि वे प्रमाताओं का आनन्त्य भी मानते हैं—तत्राप्यवान्तरभेदेन गुणमुख्यताभेदेन विकल्पसमचयनादिभेदेन चानन्तप्रकारत्वमिति।[2]

आठ प्रमाता अभ्यास-प्रक्रियाविशेष के सूचक तो हो सकते हैं; किन्तु वे सिद्धान्त के ज्ञापक नहीं हैं।

उत्पलदेवाचार्य की मन्त्रेश्वर-विद्येश्वरविषयक दृष्टि—आचार्य उत्पलदेव कहते हैं—

भेदधीरेव भावेषु कर्तुर्बोधात्मनोऽपि या।
मायाशक्त्येव सा विद्येत्यन्ये विद्येश्वरा यथा।।

---

१. तन्त्रालोक (भाग ६ आ. ९.५३-५४)
२. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी (भाग २)

अर्थात् बोधकर्तृताभयस्यापि भेदेन विश्लेक्षणं विद्येति केचित्। मायाशक्तिरप्येषा विद्यैव। संसारोत्तीर्णत्वात् तत्रस्था मन्त्रेश्वरविद्येश्वरा:।

(उत्पलदेव—प्रत्यभिज्ञाकारिकावृत्ति)

यदि हम १. वर्ण २. पद ३. मन्त्र ४. कला ५. तत्त्व एवं ६. भुवन अर्थात् अध्व के ६ अङ्गों की ग्रन्थकार की दृष्टि से व्याख्या करें तो इनका स्वरूप निम्नानुसार होगा—

१. अध्व ६ हैं—वर्ण, पद, मन्त्र, कला, तत्त्व, भुवन। इनमें से प्रत्येक का प्रचुर विस्तार है।

२. वर्ण—वर्णमाला के अ से ज्ञ तक ५० वर्ण हैं।

३. पद—पद व्योमव्याप्य मन्त्रमर्यादा के क्रम से ८१ हैं।

४. मन्त्र—ब्रह्मपञ्चकसहित ११ मन्त्र हैं।

५. कला—निवृत्ति आदि ५ कलायें हैं।

६. तत्त्व—तत्त्व ३६ हैं; यथा—

(क) शिव (महार्थमञ्जरी के अनुसार)—

तथा तथा दृश्यमानानां शक्तिसहस्राणामेकसंघट्ट:।
निजहृदयोद्यमरूपो भवति शिवो नाम परमस्वच्छन्द:।।१३।।
स एवं विश्वमेषितुं ज्ञातुं कर्तुं चोन्मुखो भवन्।
शक्तिस्वभाव: कथितो हृदयत्रिकोणमांसलोल्लास:।।१४।।

(ख) सदाशिव एवं ईश्वर (महार्थमञ्जरी के अनुसार)—

ज्ञानं क्रियेति द्वयोरपि प्रथमोन्मेषे सदाशिवो देव:।
द्वितीयाया उल्लेखे द्वितीय: स भवतीश्वरो नाम।।१५।।
ईश्वरो बहिरुन्मेषो निमेषोऽन्त: सदाशिव:।।

(प्र. कारिका)

(ग) विद्या (महार्थमञ्जरी के अनुसार)—

ज्ञाता स आत्मा ज्ञेयस्वभावश्च लोकव्यवहार:।
एकरसां संसृष्टिं यत्र गतौ सा खलु निस्तुषा विद्या।।१६।।

(घ) शक्ति (महार्थमञ्जरी के अनुसार)—

एकरसे स्वभावे उद्भावयन्ती विकल्पशिल्पानि।
मायेति लोकपते: परमस्वतन्त्रस्य मोहनी शक्ति:।।१७।।

(ङ) पञ्चकञ्चुक (महार्थमञ्जरी के अनुसार)—

सर्वकर: सर्वज्ञ: पूर्णो नित्योऽसंकुचंश्च।
विपरीत इव महेशो याभिस्ता भवन्ति पञ्च शक्तय:।।१८।।

(च) शिव की शक्तियाँ (महार्थमञ्जरी के अनुसार)—

ज्ञानक्रियामायानां गुणानां सत्वरजस्तमस्स्वभावानाम्।
अविभागावस्थायां तत्त्वं प्रकृतिरिति शाम्भवी शक्तिः।।२०।।

(छ) अन्तःकरणचतुष्टय (म्हार्थमञ्जरी के अनुसार)—

कल्लोलायमानानि सदा हृदयाम्बुनिधौ त्रीणि करणानि।
आकर्षन्तीदन्तां तत्राहन्तां चात्रार्पयन्ति।।२१।।

(ज) ज्ञानेन्द्रियाँ (महार्थमञ्जरी के अनुसार)—

हृदयस्थितस्य विभोर्विषयालोको विशृंखलो भवति।
ज्ञानेन्द्रियदीपेषु निजनिजगोलाग्रनित्यलग्नेषु।।२२।।

(झ) कर्मेन्द्रियाँ (महार्थमञ्जरी के अनुसार)—

भवन्ति करणानि पञ्च खलु कर्मप्रधानानि लोकनाथस्य।
स्पन्दते स्वैरं यैर्जनो जडाद् विलक्षणोऽभवन्।।२३।।

(ञ) पञ्चमहाभूत (महार्थमञ्जरी के अनुसार)—

स्त्यानस्य क्रमवशादिक्षुरसस्येव शिवप्रकाशस्य।
गुडपिण्डा इव पञ्चापि भूतानि मधुरतां न मुञ्चन्ति।।२५।।

(ट) शाम्भवी शक्ति (महार्थमञ्जरी के अनुसार)—

सर्वस्य भुवनविभ्रमयन्त्रोल्लासस्य तन्तुवल्लीव।
विमर्शसंरम्भमयी उज्जृंभते शम्भोर्महाशक्तिः।।२६।।

(ठ) शिव एवं शक्ति की एकता (महार्थमञ्जरी के अनुसार)—

आलेख्यविशेष इव गजवृषभयोर्द्वयोः प्रतिभासम्।
एकस्मिन्नेवार्थे शिवशक्तिविभागकल्पनां कुर्मः।।२८।।

(ड) शक्ति और जगत् का अन्तःसम्बन्ध (महार्थमञ्जरी के अनुसार)—

विश्वोन्मेषदशायां देशिकनाथस्य यावान् प्रसरः।
कललावस्थया स्थितोऽपि विश्वनिमेषेऽपि तावान् भवति।।३०।।

(ढ) शिव (महार्थमञ्जरी के अनुसार)—

विश्वोद्यानविरूढ़ानि गन्धप्रमुखानि सुगन्धीनि पुष्पाणि।
पञ्चाप्याजिघ्रन् क्रीडति त्रैलोक्यधूर्तो शिवः।।२४।।

भुवन—भुवन २२४ हैं। ये सभी कलापञ्चक में अनुस्यूत हैं।

ये सभी वाच्यवर्ग शिव की उन्मेषरूप शक्ति के कार्य हैं। वर्ण, पद, मन्त्र, कला,

तत्त्व एवं भुवन में प्रकाशस्वरूप शिव की शक्ति का विलास है। यह वाच्यवर्ग प्रकाश-परमार्थस्वरूप में प्रकाश-विमर्शात्मक उन्मेष-निमेष-रूप शक्ति का चमत्कार है।

इस अध्व का एक अर्ध स्वरूप भुवन-तत्त्व कलारूप में स्थित है तथा द्वितीय अर्धस्वरूप मन्त्र-वर्ण-पद के रूप में अवस्थित है। इनमें से प्रत्येक १. स्थूल २. सूक्ष्म एवं ३. पर क्रिया के क्रम से त्रिविधात्मक है। प्रथम अभिधेय है तथा द्वितीय अभिधान है।

इसी प्रकार सभी वाच्यवर्ग प्रकाशपरमार्थ है। वाचक विमर्शवपु है। शिव प्रकाश-विमर्शात्मा है। वर्ण-कला-पद-तत्त्व-मन्त्र-भुवन के रूप में अवस्थित अध्वषट्क चिदात्मा संवित् शक्ति में विभासित है।

स्वच्छन्दतन्त्रकार की दृष्टि—अध्वषट्क बन्धनमात्र हैं—

मुक्तानां शिवता व्यक्ति कारणं विश्वमेव हि।
शिवताव्यक्तिमार्गत्वात् ते सर्वेऽपि कलादयः।
अध्वशब्देन कथ्यन्ते ते सर्वे बन्धना अपि।।

विज्ञानभैरवकार की दृष्टि—विज्ञानभैरव में कहा गया है कि जब तक मन का लय स्वसंवेद्य परमात्मा में नहीं हो जाता तब तक भुवनाध्वादिरूप से क्रमशः स्थूल, सूक्ष्म एवं पर स्थिति में समस्त विश्व का विमर्श करते रहना चाहिये—

भुवनाध्वादिरूपेण चिन्तयेत् क्रमशोऽखिलम्।
स्थूलसूक्ष्मपरस्थित्या यावदन्ते मनो लयः।।
शिवस्य यामलोल्लासः। (महार्थमञ्जरी)

सर्वत्र शिव के उन्मेष-निमेषात्मक यामल (दो स्वभावों वाला) का ही उल्लास व्यक्त हो रहा है। महेश्वरानन्द कहते हैं कि षडध्व परमशिव के उन्मेष-निमेष के चमत्कार हैं। उन्मेष-निमेष शिवशक्तियाँ हैं। ये ही उन्मीलन-निमीलन भी तथा सृजन-संहार भी हैं, ये ही सृष्टि भी हैं और सृष्टि-स्वप्रत्याहरण भी हैं।

स्पन्दशास्त्रकार की दृष्टि—भट्टकल्लट ने स्पन्दशास्त्र का प्रारम्भ ही उन्मेष-निमेष का प्रामुख्य देकर किया है—

यस्योन्मेषनिमेषाभ्यां जगतः प्रलयोदयौ।
तं शक्तिचक्रविभवप्रभवं शङ्करं स्तुमः।।[1]

यामलोल्लास के दो पक्ष—१. उन्मेष (शक्ति) एवं २. निमेष (शिव)।

महेश्वरानन्द की दृष्टि—महेश्वरानन्द कहते हैं कि उन्मेष-निमेष नामक शक्तिद्वय यौगपद्यानुभूति चमत्कार है।[2]

---

१. स्पन्दकारिका (१) २. परिमल

यह उन्मेष-निमेष ही शिव का यामल है। यही यामल उल्लास है—शिवस्य याम-लोल्लास: (महार्थमञ्जरी २७)। उल्लास का स्वरूप क्या है?—प्रकाशविमर्शात्मन: परमेश्वरस्य यामल उभयविसर्गारणिस्वभाव उल्लास:।[१]

१. पञ्चाशिका में कहा गया है—

तत्र वाचकवाच्यात्मस्पन्दयोरेकश: प्रभो:।
स्थूलसूक्ष्मपराभासक्रमयो: षड्विधाध्वता।।

२. विरूपाक्षपञ्चाशिका में कहा गया है—

यस्य विमर्शस्य कण: पदमन्त्रार्णात्मकस्त्रिधा शब्द:।
पुरातत्त्वकलात्मार्थों धर्मिण इत्थं प्रकाशस्य।।

३. श्रीचिद्गगनचन्द्रिका में कहा गया है कि—

याहमित्युत्युदितवाक् पराभिधा य: प्रकाश उदितार्थविग्रह:।
द्वौ मिथ: समुदिताविहोन्मुखौ तौ षडध्वपितरौ श्रये शिवौ।।

४. श्रीसौभाग्यहृदयस्तोत्र में कहा गया है कि—

वर्ण: कला पदं तत्त्वं मन्त्रो भुवनमेव च।
इत्यध्वषट्कं देवेशि भाति त्वयि चिदात्मनि।।

अर्थात् वर्ण, कला, पद, तत्त्व, मन्त्र, भुवन नामक षडध्व चिदात्मा परा शक्ति में विभासित हो रहे हैं।

सारे अध्व (अध्वषट्क) यामल (उन्मेष-निमेष) के द्वारा उन्मीलित होते हैं—इत्यध्वनामुद्देशस्तत्तद्यामलतयोन्मीलित:।[२]

अध्व के दो प्रकार हैं—१. शब्दाध्वा, २. अर्थाध्वा। शब्द-अर्थ का पारस्परिक सम्बन्ध क्या है? अभिन्न स्वभाव है। शिव-शक्ति—'वागर्थाविव संपृक्तौ' अवस्थित हैं।

परतत्त्व प्रकाशविमर्शात्मक है। प्रत्यवमर्शात्मा चिति स्वरसोदिता परा वाक् है—

चिति: प्रत्यवमर्शात्मा परा वाक् स्वरसोदिता।

तथा वह अर्थ का प्रकाश है—आत्मार्थस्य प्रकाशता[३]। प्रकाशात्मक शिव की शक्ति विमर्शमयी है।

स्वपरामर्शोपायभूत होने के कारण वर्ण-कला आदि अध्व शब्द का व्यपदेश है।

स्वच्छन्दशास्त्रकार की दृष्टि—स्वच्छन्दशास्त्र में कहा गया है कि—

१-२. परिमल

३. प्रत्यभिज्ञाहृदयम्

मुक्तानां शिवताव्यक्तिकारणं विश्वमेव हि।
शिवताव्यक्तिमार्गत्वात्ते सर्वेऽपि कलादय:।
अध्वशब्देन कथ्यन्ते ते सर्वे बन्धना अपि।।

अनन्त विश्व अनन्त वैचित्र्यों एवं वैविध्यों से प्रपञ्चित होने पर भी प्रकाश एवं विमर्श नामक अद्वयात्मक सत्ताद्वय में अन्तर्भूत है; अत: सर्वत्र अभेदात्मकता है।

महेश्वरानन्द की जगत् सम्बन्धिनी दृष्टि—वेदान्त तो जगत् को विवर्त मानता है और कहता है कि—यद् दृष्टं तन्नष्टं; किन्तु महेश्वरानन्द (क) सत्कार्यवादी, (ख) परिणामवादी, (ग) सर्वचिन्मयवादी एवं (घ) सर्वात्मवादी हैं। उनकी दृष्टि में जगत् (षडध्वात्मक जगत्) उत्पन्न नहीं होता। यह नष्ट भी नहीं होता। यह विवर्त नहीं है। यह उदय है—यह उन्मेष है—यह कूर्माङ्गानीव अन्दर से बाहर प्रकट होता है—यह उन्मेष-निमेषात्मक (यामलस्वभाव) है; अत: सत्य है। यह केवलाद्वैतवादियों की दृष्टि के अनुरूप मिथ्या नहीं है। केवलाद्वैत ने 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' कहकर संसार को दो कोटियों में (सत्य एवं मिथ्या वर्गों में) विभाजित करके अविभाज्य परम सत्य का विभाजन कर डाला था; किन्तु महेश्वरानन्द इस विभाजन को स्वीकार नहीं करते। उनकी दृष्टि में ब्रह्म एवं उसका विश्व—दोनों सत्य हैं। यदि मूल पिण्ड स्वर्ण है तो उससे निर्मित आभूषण स्वर्णमय क्यों नहीं होगा? यदि शिव-शक्ति सत्य हैं तो उनका अपना ही स्वरूप 'विश्व' सत्य क्यों नहीं होगा?

आनन्दवाद—महेश्वरानन्द ने अध्वात्मक जगत् को 'यामलोल्लास:' कहकर (तथागत के सर्वदु:खवाद के विरुद्ध) सर्वानन्दवाद एवं अप्रत्यक्षत: सर्वचिदानन्दवाद का प्रतिपादन किया है। यही दृष्टि उपनिषदों की भी है।

उन्मेष-निमेषवाद—महेश्वरानन्द ने यामल को उन्मेष-निमेषात्मक कहा है—उन्मेषनिमेषशक्तिद्वितययौगपद्य (परिमल)। प्रश्न उठता है कि उन्होंने उत्पत्ति-विनाश (सृष्टि-संहार) शब्दों का प्रयोग क्यों नहीं किया? सूर्य के उदय एवं अस्त की भाँति जगत् भी कभी उदित होता है और कभी अस्त; किन्तु वह कभी नष्ट नहीं होता—न उत्पन्न होता है और न तो सदा के लिये अस्त (नष्ट) होता है।

उन्मेष क्या है? यस्योन्मेषनिमेषाभ्यां जगत: प्रलयोदयौ (स्पन्दकारिका-१) की व्याख्या करते हुये स्पन्दप्रदीपिका में उत्पलदेवाचार्य कहते हैं कि—यदुन्मेषादौन्मुख्याज्जगतो विश्वस्योदय:। निमेषाद्विश्रामात् प्रलयोऽप्यय:। न ह्येतद्व्यतिरिक्तस्य जगतोऽस्त्युदयोऽप्ययो वा।

किन्त्वीशशक्तिप्रसरविरामौ प्रभवाऽप्ययौ।

कहा भी गया है—

समुदेति जगदशेषं तवोदयविमलसंविदाकारे।
अस्तं याति समस्तं पुनरपि निजरुपरूढायाः।।

तत्त्वविचारकार की दृष्टि—

शक्तिप्रसरसङ्कोचनिबद्धावुदयव्ययौ ।
यस्यात्मा स शिवो ज्ञेयः सर्वभावप्रवर्तकः।।

कक्ष्यास्तोत्रकार की दृष्टि—

त्वदाशयोन्मेषनिमेषमात्रमयौ जगत्सर्गलयावितीदृक्।
स्फुटे स्फुटं त्वन्महिमाऽवभाति विचित्रनिर्माणनिदर्शनेन।।
ज्ञानक्रियादिगर्भेच्छाशक्तिर्यः प्रसरात्मकः।
सङ्कल्पोक्तः स उन्मेषः प्रोक्तं ह्येतत् स्वतन्त्रके।।
यत्र यत्र भवेदिच्छा ज्ञानं तत्र प्रवर्तते।
क्रियाकरणसंयोगात् पदार्थस्योदयो भवेत्।।

उन्मेष औन्मुख्य है—यदुन्मेषादौन्मुख्यात् (स्पन्दप्रदीपिका)। औन्मुख्य क्या है?

स्वात्मानन्द में विश्रान्त परमशिव का स्वातन्त्र्य-स्वभाव (स्वरूपपरामर्शरूप चमत्कार) अपने-आपको विश्वात्मभाव से उल्लसित करने हेतु (अनुन्मुख होते हुये भी) जब सिसृक्षा के लिये उन्मुखवत् होता है तब उसकी वह अतिसूक्ष्म अभिलाषामात्र की उन्मुखता औन्मुख्य कही जाती है—

यदा तु तस्य चिद्धर्मविभवामोदजृम्भया।
विचित्ररचनानानाकार्यसृष्टिप्रवर्तने ।।
भवत्युन्मुखिता चिन्ता सेच्छायाः प्रथमा त्रुटिः।।
(आचार्य सोमानन्द—शिवदृष्टि १.७-८)

षडध्व या अध्वषट्क—अध्वानो हि षट्। ते च वर्णाः, पदानि, मन्त्राः, कलाः तत्त्वानि भुवनानीत्याख्यायन्ते।

१. वर्णाध्व—तत्र पञ्चाशल्लोकप्रसिद्धाः।(५०)

२. पदाध्व—पदान्यानन्त्येऽपि व्योमव्याप्यादिमन्त्रमर्यादादयैकाशीतिः।(८१)

३. मन्त्राध्व—मन्त्राश्च तद्वदानन्त्येऽपि ब्रह्मपञ्चकमङ्गषट्कं चेति सङ्कोचदृष्ट्या एकादश।(११)

४. कलाध्व—कला निवृत्यादयः पञ्च। (०५)

५. तत्त्वाध्व—तत्त्वान्युक्तरूपाणि षट्त्रिंशत्। (३६)

६. भुवनाध्व—भुवनानि च कालाग्निरुद्रादीन्यनाश्रितान्तानीति चतुर्विंशत्यधिकं शतद्वयम्। (२२४)

ये सभी वाच्यवर्ग शिव की उन्मेषरूपा शक्ति के कार्य हैं। वर्ण, पद, मन्त्र, कला, तत्त्व एवं भुवन में प्रकाशस्वरूप शिव की शक्ति का ही विलास उल्लसित है। यह वाच्यवर्ग प्रकाशपरमार्थस्वरूप में प्रकाशविमर्शात्मक उन्मेष-निमेषरूप शक्ति का चमत्कार है। इस अध्व के दो अर्ध हैं—

१. प्रथमार्ध—भुवनतत्त्वकलास्वस्वभावरूप।

२. द्वितीयार्ध—मन्त्रवर्णपदस्वभावरूप।

ये दोनों १. स्थूल २. सूक्ष्म एवं ३. पर क्रियाक्रम से त्रिविधस्वरूपात्मक हैं। वाचक तो विमर्शवपु शिव (प्रकाशविमर्शात्मक) हैं। सौभाग्यहृदयस्तोत्र में कहा गया है—

वर्णः कला पदं तत्त्वं मन्त्रो भुवनमेव च।
इत्यध्वषट्कं देवेशि! भाति त्वयि चिदात्मनि।।

स्वच्छन्दतन्त्र में कहा गया है कि ये षडध्व केवल बन्धनमात्र हैं—

मुक्तानां शिवताव्यक्तिकारणं विश्वमेव हि।
शिवताव्यक्तिमार्गत्वात् ते सर्वेऽपि कलादयः।
अध्वशब्देन कथ्यन्ते ते सर्वे बन्धना अपि।।

विज्ञानभैरव की दृष्टि—विज्ञानभैरव में कहा गया है कि जब तक मन का स्वसंवेद्य परमशिव में लय नहीं हो जाता तब तक स्थूल, सूक्ष्म एवं पर विभाग वाले इस अध्वषट्क का विश्वविमर्श करते रहना चाहिये—

भुवनाध्वादिरूपेण चिन्तयेत् क्रमशोऽखिलम्।
स्थूलसूक्ष्मपरस्थित्या यावदन्ते मनो लयः।।

अध्व को अध्व क्यों कहा गया? स्वपरामर्शोपायभूतत्वाद् वर्णकलादीनामध्वशब्द-व्यपदेशः। इसकी पुष्टि स्वच्छन्दागम में इस प्रकार की गई है—

मुक्तानां शिवताव्यक्तिकारणं विश्वमेव हि।
शिवता व्यक्तिमार्गत्वात् ते सर्वेऽपि कलादयः।
अध्वशब्देन कथ्यन्ते ते सर्वे बन्धना अपि।।

शिव तत्त्व शक्तिस्वभाव है—

शिवस्तत्त्वमेकं यः शक्तिस्वभाव इत्याम्नायते।[1]

अर्ध दो हैं—भुवनतत्त्वकलास्वभावात्मक एवं मन्त्रपदवर्णात्मक। इनके स्थूल-सूक्ष्म-पर तीन भेद हैं। इनमें प्रथम अभिधेयभूत है तथा द्वितीय अभिधानकारक। परमशिव का यामल प्रकाश-विमर्शात्मक है। यहाँ उन्मेष-निमेष शक्तिद्वितय की यौगपद्यानुभूति चमत्कार है। पञ्चाशिका में इसी बात को इस प्रकार कहा गया है—

---

१. परिमल

तत्र वाचकवाच्यात्मस्पन्दयोरेकश: प्रभो:।
स्थूलसूक्ष्मपराभासक्रमयो: षड्विधाध्वता।।[१]

शिव-शक्ति की अभिन्नता

एवमुक्तनीत्या विश्ववैचित्र्यस्य सर्वस्यापि प्रकाशविमर्शद्वयान्तर्भावमुपपाद्य तयोरपि भेदः पर्यन्तत औपचारिक इत्याह—

आलक्खविसेसम्मिअ गअबुसहाणं दुवेण पडिभासं।
एक्कस्सिं चिअ अत्थे सिवसत्तिविहाअकप्पणं कुणिमो ॥२८॥

(आलेख्यविशेष इव गजवृषभयोर्द्वयो: प्रतिभासम्।
एकस्मिन्नेवार्थे शिवशक्तिविभागकल्पनां कुर्म:।।)

(यथा) किसी चित्रविशेष में (पृथक्-पृथक् स्वभाव वाले) हाथी एवं बैल (एक साथ) प्रतिभासित होते हैं, उसी प्रकार (शिव एवं शक्ति के अभिन्न रहने पर भी) हम एक ही पदार्थ में शिव एवं शक्ति को पृथक्-पृथक् रूप में कल्पित करते हैं।।२८।।

चित्रकृतो हि स्ववैदग्ध्यप्रकटनाय गजवृषभादीनां भिन्नस्वभावानामपि भावानामेकतरसन्निवेशयुक्त्यैकावभासोऽन्यतरसन्निवेशयुक्त्याऽन्यस्फुरणं च यथा भवति, तथा विलिखन्तीत्यविसंवादिनीयं मर्यादा। एवं स्थिते यथा गजवृषभोभयाकारसमर्पके चित्रविशेषे गजवृषभयोर्द्वयोरपि पर्यालोचकप्रमातृजनानुसन्धानधाराधिरोहवैशिष्ट्येन कुम्भमण्डलशुण्डाकुण्डलीभावादियोगात् ककुदकूटप्रोथपुटौद्वण्यादिक्रमाच्च प्रतिनियतोऽवभास: प्रकाशनं भवति। तद्वदेकस्मिन्नेवार्थे सर्वेषामध्वनां पर्यन्तत: प्राप्ये तत्त्वे शिव: शक्तिरिति प्रकाशो विमर्श इत्येवंविधो यो यो विभागो विचित्रस्वभावानतिक्रान्तोऽप्यतिक्रान्त इवाऽवभासमानोंऽश:, तस्य यत्कल्पनं स्वतस्तथासमर्थीभवतस्तत्समर्थाचरणेनोन्मीलनम्, तत् कुर्मो जानीमो वदामोऽनुतिष्ठामश्च। यदाहु:—'फलभेदारोपितभेद: पदार्थात्मा शक्ति:' इति। अत्र च गजवृषभयोरिति द्वन्द्वे गजौ च वृषभौ चेतीतरेतरयोगानुगुणो विग्रह:। भाष्यकृताप्येवमेव विगृहीतम्—'धवौ च खदिरौ च' इति। ततश्च गजशब्दो गजवृषभौ द्वावपि वक्ति। तथा वृषभपदमपि वृषभगजावुभावपीत्यापतितम्। तत् तु नान्येषां शोभते। पदार्थानां प्रतिनियतरूपपरित्यागे प्रत्यवायभीरुत्वात्। अस्माकं तु स्वतन्त्राद्वैतसंवित्समयसाम्राज्यशालिनाम्—

घट इति पृथिवीति द्रव्यमित्यङ्ग तद्वत्
भवति ननु विकासो भाव इत्याविघातम्।

---

१. परिमल (गाथा २७)

यदि विलसति युक्तिस्तत्पुरस्थो घटोऽयं
कथय न कथमेको विश्वमूर्तिर्विभाति ।।

इति न्यायादेकस्यापि भावस्य स्वव्यतिरिक्ताशेषभावात्मकत्वमभ्युपगतमित्यलमन्यजनदोषोद्भावनोपक्रमेण। एतेनाभिहितान्वयवादादन्विताभिधानवादस्यौचित्यमस्तीत्युक्तं भवति। तत्र हि स्तम्भं पश्येत्यादौ स्तम्भशब्दार्थान्वितैव दर्शनक्रिया क्रियापदेनाभिधीयते। एवं पश्यत्यर्थान्वितश्च स्तम्भः कर्मकारकेणेत्यनन्तरोपपादितार्थानुगुण्येनान्वय इत्युपपाद्यत इति। एवं च प्राकरणिकयोरपि प्रकाशविमर्शयोः—

स्वर्गो भूरिति सागरः सरिदिति स्वामिन्! द्रुमो वीरुदि-
त्यर्थः शब्द इति स्वरः श्रुतिरिति प्रत्यक् परागित्यपि ।
शुक्लं रक्तमिति प्रभा तम इति ज्ञानं क्रियेत्यादि ते
युग्मं सर्वमयुग्मनेत्र! विततिर्विद्याविमृष्ट्योर्द्वयोः ।।

इत्यादिनीत्या यद्यपि सर्वप्रपञ्चस्फुरणपर्यवसानस्थलतया तत्तद्यामलोल्लासत्वेनोभयथा व्यवहारावश्यम्भावः, तथापि तत्र—

न शिवेन विना शक्तिर्न शक्तिरहितः शिवः।

इत्यादिनीत्या प्रकाशो न कदाचिद् विमर्शक्रियतां विमर्शोऽपि न प्रकाशकर्तृकतां व्यभिचरतीत्यनयोर्वास्तवं वपुरैक्यस्वभावसौभाग्यभव्यमिति तात्पर्यार्थः। यदुक्तं मयैव श्रींकोमलवल्लीस्तवे—

त्वं यथा शिवमयी तथा शिवस्त्वन्मयो हि शिवयोरभेदिनोः ।
तत्त्वमेकमबहिर्मुखास्पदं यत्र भिन्न इव विश्वविक्रिया ।। इति।

विश्व चित्र एवं विश्व चित्रकार—महेश्वरानन्द कहते हैं कि एक कलाकार अपने कला-वैदग्ध्य के द्वारा (हाथी और बैल आदि प्राणियों के विभिन्न स्वभावों का होने पर भी) विभिन्न विपरीत प्रकृतियों के प्राणियों को, अपने चित्र में एकतर सन्निवेश शक्ति के द्वारा, एकावभास उत्पन्न करता है; किन्तु अन्यतर सन्निवेश शक्ति के द्वारा उनको अन्य स्वरूप में स्फुरित करता है। यही विमर्श एवं भावों का वैचित्र्य है। चित्र में गज एवं वृषभ दोनों को एकाकार रूप में समर्पित करने वाला चित्रकार अनेकत्व में एकत्व की स्थापना करता है। ठीक इसी प्रकार एक ही अद्वयात्मा परम पदार्थ (शिव-शक्ति के अद्वय स्वरूप) में सारे अध्वों का विभिन्न रूप में विन्यास पाया जाता है और यही है—एकता में अनेकता। इस अद्वयात्मक शिव-शक्तिरूप अखण्डैकस्वभाव में विश्ववैचित्र्यविलासात्मक अनेक विरोधी स्वभावों की अनुस्यूतता है तथापि उन सारे भेदों की समष्टि जिसमें अवस्थित है, वह अखण्ड संवित् तत्त्व तो एक है। उसमें विभाग-

कल्पना हमारी कल्पना है—विभागकल्पनां कुर्मः। वह तात्त्विक एवं यथार्थ नहीं है।

महेश्वरानन्द कहते हैं कि द्वैतवादियों की दृष्टि भले ही कुछ हो; किन्तु—अस्माकं तु स्वतन्त्राद्वैतसंवित्समयसाम्राज्यशालिनाम्—चिन्तकों की दृष्टि तो इस प्रकार है—

घट इति पृथिवीति द्रव्यमित्यङ्ग तद्वत्
भवति ननु विकासो भाव इत्याविघातम्।
यदि विलसति युक्तिस्तत्पुरस्थो घटोऽयं
कथय न कथमेको विश्वमूर्तिर्विभाति।।

एक ही भाव की स्वव्यतिरिक्त अनेक भावों में अभिव्यक्ति ही विश्व है।

अभिहितान्वयवाद एवं अन्विताभिधानवाद की दृष्टियों की भी पर्यालोचना आवश्यक है। स्तम्भं पश्य (खम्भे को देखो) आदि वाक्यों में स्तम्भ शब्द एवं उसका अर्थ—दोनों परस्पर अन्वित हैं। प्रकाश एवं विमर्श की स्थिति क्या है? कहा गया है कि—

स्वर्गो भूरिति सागरः सरिदिति स्वामिन्! द्रुमो वीरुदि-
त्यर्थः शब्द इति स्वरः श्रुतिरिति प्रत्यक् परागित्यपि।
शुक्लं रक्तमिति प्रभा मतम् इति ज्ञानं क्रियेत्यादि ते
युग्मं सर्वमयुग्मनेत्र! विततिर्विद्याविमृष्ट्योर्द्वयोः।।

इस नीति से तो सारा प्रपञ्चस्फुरण एक ही केन्द्र में है और वह यामलोल्लासमात्र में संकेन्द्रित है तथापि व्यवहारतः यह प्रापञ्चिक वैचित्र्य-विलास भिन्न है; किन्तु शिव एवं शक्ति में भेद नहीं है—यहाँ द्वयात्मक अद्वयवाद है—

न शिवेन विना शक्तिर्न शक्ति-रहितः शिवः।

सारांश यह कि—प्रकाशो न कदाचिद् विमर्शक्रियतां विमर्शोऽपि न प्रकाशकर्तृकतां व्यभिचरति अनयोर्वा स्तवं वपुरैक्यस्वभावसौभाग्यभव्यमिति तात्पर्यार्थः।[१]

कोमलवल्लीस्तवकार की दृष्टि—कोमलवल्लीस्तव में इसी दृष्टि को इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—

त्वं यथा शिवमयी तथा शिवस्त्वन्मयो हि शिवयोरभेदिनोः।
तत्त्वमेकमबहिर्मुखास्पदं यत्र भिन्न इव विश्वविक्रिया।।

पारमात्मिक शक्ति की असीमता

ननु बहवो हि पुराणागमादिप्रसिद्धाः प्रमातारः, बहुतराश्च सम्प्रति प्रत्यक्ष-मवेक्ष्यमाणाः। तेषु न कस्यचिदप्येतादृशी शक्तिरस्ति, यादृक् परमेश्वराभिमते प्रख्याप्यत इत्याशङ्क्याह—

१. परिमल

तिलमत्ते वि सरीरे पेक्खह कीडस्स एत्तिई सत्ती।
सा सच्छन्दअसिरिणो वीससरीरस्स केत्तिई होउ॥२९॥

(तिलमात्रेऽपि शरीरे प्रेक्षध्वं कीटस्यैतावती शक्तिः।
सा स्वच्छन्दश्रियो विश्वशरीरस्य कियती भवतु।।)

(देखो, जबकि) तिलमात्र (छोटे) कीड़े के शरीर में भी इतनी शक्ति है (तब तो) स्वेच्छापूर्वक समस्त ऐश्वर्यों को धारण किये हुये तथा विश्व को अपने शरीर के रूप में धारण करने वाले परमात्मा में कितनी (शक्ति) होगी!!।।२९।।

परमेश्वरो हि विश्वशरीर इत्यागमेष्वाख्यायते। यदुक्तं श्रीशिवसूत्रेषु—'दृश्यं शरीरम्' इति। यथा च श्रीविरूपाक्षपञ्चाशिकायाम्—

विमतिपदमङ्ग! सर्वं मम चैतन्यात्मनः शरीरमिदम्।
शून्यपदान्नीलावधि दृश्यत्वात् पिण्डवत् सिद्धम्।। इति।

तच्च तस्य स्वच्छन्दश्रीकत्वात्। स्वेनात्मीयेन छन्देनेच्छाशक्त्या श्रीर्यथाभिलषितमैश्वर्यं यस्येति कृत्वा। विश्वशरीरतया च तस्य सर्वातिशायिनी सा काचिच्छक्तिरुपकल्प्यते। स्वशरीरानुगुणशक्तिकत्वं चान्यत्रापि दृष्टम्। यथा तिलप्रमाणशरीरो यूकादिः कीटविशेषस्तच्छरीरौचित्येन तदाधिक्येन वा शक्तिमत्तयोपलक्ष्यत इति। ग्रन्थयोजना तु—परमाणुद्व्यणुकादिसन्निवेशास्तावदासतां प्राणिविशेषाः, तेषामप्रत्यक्षत्वाद् दृष्टान्तस्याहृदयङ्गमीभावप्रसङ्गात्। यः पुनर्यूकादिः कीटस्तस्य शरीरं तावत् तिलसदृशसन्निवेशनम्। तावत्यपि तस्य शक्तिः कियतीति प्रेक्षध्वम्। परिस्फुरणपरिभ्रमणादिभेदादनेकरूपा ह्यनुभूयते। लोट्प्रत्ययो बहुवचनं च तत्रार्थे प्रामाण्यं स्पष्टमुद्घाटयितुम्। (तस्मादिति?)। एतद्दृष्टान्ताभ्युपगमे—

त्वद्धाम्नि विश्ववन्द्येऽस्मिन् नियतिक्रीडने सति।
तव नाथ! कियान् भूयानानन्दरससम्प्लवः।।

इति श्रीमत्स्तोत्रावलिस्थित्या तस्य सा शक्तिः कियती भवतु, एतावत्येतादृशी वेति कथं परिच्छेत्तुं पार्यत इति। इत्थं च विप्रतिपन्नजनापेक्षया भगवतो विश्वशरीरत्वमनुमानेन प्रसाध्य ततोऽयं तस्यैश्वर्योत्कर्ष उपपादितः। सम्प्रतिपत्तौ तु प्रत्युत तयैव शक्त्या तद्विश्वशरीरत्वम्। तदुक्तं श्रीशिवसूत्रेषु—'शक्तिसन्धाने शरीरोत्पत्तिः' इति, 'स्वशक्तिप्रचयो विश्वम्' इति च। एवं चात्मनो विश्वशरीरता परामर्शशून्यतामात्रनिबन्धनं बहिर्विभूतिस्पन्दानुभूत्युत्सवस्तैमित्यम्। अन्यथा पिण्ड इवाण्डेऽपि सर्वत्र स्वस्य स्वातन्त्र्यशक्तिरपरोक्षमुपलक्ष्येत। यदुक्तं श्रीविरूपाक्षपञ्चाशिकायाम्—

देहेऽस्मिंस्तया यद्वज्जडयोरास्फालनं मिथो बाह्वोः ।
इच्छमात्रेणेत्थं गिर्योरपि तद्वशाज्जगति ।। इति।

महेश्वरानन्द की जगत् सम्बन्धिनी दृष्टि—शिव अनन्त शक्ति-संयुक्त है। उनकी शक्ति का पारमित्य नहीं है। महेश्वरानन्द कहते हैं कि जिस कीट का शरीर तिलमात्र है, जब उसमें भी गतिशील रहने, चलने-फिरने की इतनी शक्ति है तब जिस परमात्मा का शरीर यह समस्त विश्व है, उस विराट् (अपरिमेय शक्ति-सम्पन्न) परमात्मा में कितनी शक्ति है? इस पर चिन्तन-मनन करना चाहिये।

जगत् परमेश्वर का शरीर है। महेश्वरानन्द कहते हैं—परमेश्वरो हि विश्वशरीर इत्यागमेष्वाख्यायते।[१]

महार्थमञ्जरीकार की दृष्टि—विश्वशरीरस्य कियती भवतु।[२]

आचार्य क्षेमराज की दृष्टि—आचार्य क्षेमराज कहते हैं कि विश्व परमात्मा से एकीभूत और स्वात्मैक्यभूत है अर्थात् उसी में सन्निहित है—

श्रीपरमशिवः स्वात्मैक्येन स्थितं विश्वम्।[३]
चितिसङ्कोचात्मा चेतनोऽपि सङ्कुचितविश्वमयः।[४]

आचार्य क्षेमराज कहते हैं कि श्री परमशिव अपने स्वरूप से अभिन्न रूप में अवस्थित विश्व को सदाशिव आदि रूप से प्रकाशित करने की इच्छा करते हुये पहले चिदैक्य-सङ्कोचमय अनाश्रिक्त शिव या शून्यातिशून्य रूप में प्रकाशात्मक तथा प्रकाशमान रूप से स्फुरित होते हैं। इसके पश्चात् घनीभूत चिद्रसमय सम्पूर्ण तत्त्व भुवन, भाव एवं भिन्न प्रमाताओं के रूप में अपने को विकसित करते हैं। जिस प्रकार भगवान् विश्वशरीरी हैं, उसी प्रकार सङ्कुचित चिद्रूप प्रमाता भी वटबीज के समान सङ्कुचित समस्त विश्वरूप होता है। कहा भी गया है—

विग्रहो विग्रही चैव सर्वविग्रहविग्रही।

अर्थात् वह पृथक् रूप से शरीर भी है और शरीरी भी तथा समष्टि रूप से समस्त शरीरों का शरीरी आत्मा भी है। त्रिशिरोमत की भी यही दृष्टि है—

सर्वदेवमयः कायस्तं चेदानीं शृणु प्रिये।
पृथिवी कठिनत्वेन द्रवत्वेऽम्भः प्रकीर्तितम्।।

ग्राहक (जीव) भी प्रकाश तत्त्व के साथ एकात्म होने के कारण उक्त आगम की दृष्टि से विश्वरूप शरीरधारी शिव से अभिन्न है। सभी जीव विश्वशरीर वाले शिवभट्टारक ही हैं। ऐसी कोई अवस्था नहीं है, जो शिवस्वरूप न हो—

---

१. परिमल
२. महार्थमञ्जरी (२९)
३. प्रत्यभिज्ञाहृदयम् (४)
४. शक्तिसूत्र (४)

१. तेन शब्दार्थचिन्तासु न साऽवस्था न यः शिवः।

२. शिवजीवयोरभेद एव उक्तः।

३. इति सर्वो ग्राहको विश्वशरीरः शिवभट्टारक एव।

४. एवं भगवान् विश्वशरीरः।[1]

५. त्रिशिरो भैरवः साक्षाद् व्याप्य विश्वं व्यवस्थितः।

६. ग्राहकोऽपि अयं प्रकाशैकात्म्येन उक्तागमयुक्त्या च विश्वशरीरशिवैकरूप एव।[2]

आचार्य महेश्वरानन्द ने शिव की विश्वशरीरात्मकता के पक्ष में विश्वसूत्र (वसुगुप्त-कृत) 'दृश्यं शरीरम्' को उद्धृत किया है, जिसका अर्थ यह है कि दृश्य (विश्व) विश्वात्मा परमात्मा का अपना शरीर है—

१. यच्चेदं सर्वस्य दृश्यस्य शरीरतया।

२. यद्यद् दृश्यं बाह्यमाभ्यन्तरं वा तत्तत् सर्वम् अहमिदम् इति सदाशिववन्महासमापत्त्या स्वाङ्गकल्पस्य स्फुरति न भेदेन।[3]

विज्ञानभैरवकार की दृष्टि—उपर्युक्त तथ्य का उपपादन विज्ञानभैरव में भी इस प्रकार किया गया है—

जलस्येवोर्मयो वह्नेर्ज्वालाभङ्गाः प्रभा रवेः।
ममैव भैरवस्यैता विश्वभङ्ग्यो विनिर्गताः।।

इसीलिये **स्पन्दकारिकाकार** ने कहा है—

भोक्तैव भोग्यभावेन सदा सर्वत्र संस्थितिः।

आचार्य महेश्वरानन्द ने इसी विश्वशरीरात्मकता के समर्थन में शिवविरूपाक्षपञ्चाशिका को भी उद्धृत किया है, जो निम्नाङ्कित है—

विमतिपदमङ्ग! सर्वं मम चैतन्यात्मनः शरीरमिदम्।
शून्यश्यपदान्नीलावधि दृश्यत्वात् पिण्डवत् सिद्धम्।।

शिवसूत्रकार की दृष्टि—शिवसूत्रकार ने भी शिव को विश्वशरीरी सिद्ध किया है और विश्व को शक्ति का प्रचय घोषित करते हुये कहा है—

१. शक्तिसन्धांने शरीरोत्पत्तिः।

२. स्वशक्तिप्रचयो विश्वम्।[4]

विश्वशरीररूपता के द्वारा ही परमात्मा की शक्तिमत्ता उपकल्पित की गई है। शक्ति चक्र-संधान करने पर शेष क्या रहेगा?

३. शक्तिचक्रसंधाने विश्वसंहारः। (१.६)

---

१. प्रत्यभिज्ञाहृदयम्

२. क्षेमराज—प्रत्यभिज्ञाहृदयम्

३. प्रत्यभिज्ञाहृदयम्

४. शिवसूत्र

विश्व क्या है? विश्व शिव की क्रिया शक्ति का स्फुरण ही तो है अर्थात् विश्व शक्ति का विकास है—शिवस्य विश्वं स्वशक्तिमयं तथा अस्यापि स्वस्याः संविदात्मनः शक्तेः क्रियाशक्तिस्फुरणरूपो विकासो विश्वम्।[१]

विश्वशरीरी होने से शिव असीम शक्ति के केन्द्र हैं—विश्वशरीरतया च तस्य सर्वातिशायिनी सा काचिच्छक्तिरुपकल्प्यते।

शक्ति के कारण ही शिव का विश्वशरीरत्व है—तयैव शक्त्या तद्विश्वशरीरत्वम्।[२]

'इच्छामात्रं प्रभोः सृष्टिः' के द्वारा तथा विरूपाक्षपञ्चाशिका के निम्न कथन द्वारा भी विश्व शिव की इच्छाशक्ति का परिणाममात्र होने के कारण उसका शरीर ही सिद्ध होता है—

देहेऽस्मिंस्तया यद्वज्जडयोरास्फालनं मिथो बाह्वोः।
इच्छामात्रेणेत्थं गिर्योरपि तद्वशाज्जगति।।[३]

संसार का ऐसा कोई ऐश्वर्य नहीं है, जो भगवान् का न हो। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि सृष्टि के केन्द्रस्वरूप १. प्रकृति एवं २. पुरुष भी मेरे ही रूप हैं—

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।

सारी प्रकृतियाँ एवं विकृतियाँ तथा सारे गुण भी मेरे ही रूप हैं—

विकाराश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान्।

मैं ही समस्त योनियों में उत्पन्न मूर्तियों की योनि में स्थित बीजस्वरूप पिता हूँ—

तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता।

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।।　　(७.७)

अर्थात् हे अर्जुन! मुझसे बढ़कर एवं मुझसे अतिरिक्त जगत् में कुछ भी नहीं है। सारा जगत्, सारी सत्तायें एवं सारे सत्त्व मुझमें ही इस प्रकार अन्तर्निहित हैं यथा धागे में पिरोये हुये मणियों के दाने।

मैं जल में रस हूँ, चन्द्रमा और सूर्य में मैं उनकी प्रभा हूँ, सारे वेदों में मैं ॐकार हूँ, आकाश में मैं शब्द हूँ, मनुष्यों में मैं उनका पुरुषार्थ और शक्ति हूँ, पृथ्वी में मैं गन्ध हूँ, अग्नि में मैं तेज हूँ, सारे प्राणियों में मैं उनका जीवन हूँ तथा तपस्वियों में मैं उनका तप हूँ। मैं समस्त प्राणियों में सनातन बीजतत्त्व हूँ, मैं बुद्धिमानों में बुद्धि हूँ, मैं तेजस्वियों का तेज हूँ, मैं बलवानों का बल हूँ। मैं ही सारे सात्त्विक, राजस एवं तामस भाव हूँ। यह समस्त जगत् मेरी त्रिगुणात्मिका माया एवं गुणत्रय से ही उत्पन्न हुआ है—

---

१. शिवसूत्रविमर्शिनी　२. परिमल　३. विरूपाक्षपञ्चाशिका

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।

मैं समस्त प्राणियों में स्थित आत्मा हूँ—

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।

मैं ही विश्व का आदि हूँ, मैं ही मध्य हूँ और मैं ही विश्व का अन्त हूँ। द्वादश आदित्यों में मैं विष्णु हूँ, मैं प्रकाशक ज्योतियों में सूर्य हूँ, मैं वायुओं में मरीचि हूँ और नक्षत्रों में मैं चन्द्रमा हूँ। एकादश रुद्रों में मैं शङ्कर हूँ, यक्ष और राक्षसों में मैं कुबेर हूँ, मैं अष्ट वसुओं में अग्नि हूँ और पर्वतों में सुमेरु पर्वत हूँ। मैं पुरोहितों में बृहस्पति हूँ, मैं सेनानियों में स्कन्द हूँ और सरोवरों में मैं समुद्र हूँ।

परमशिव की निमेषोन्मेष नामक दोनों दशाओं में समान व्यापकता एवं विराट् प्रसार

ननु विश्वशरीरतया परमेश्वरस्य शक्त्युच्छ्रायोपकल्पनं चेत् क्रियते, तर्हि विश्वसंहारे तस्य शक्तिशून्यताप्रसङ्ग इत्याशङ्क्याह—

वीसुम्मेसदसाए देसिअणाहस्स जत्तियो पसरो।
कललावत्थाए ठिओ वीसणिमेसे वि तत्तिओ होइ ॥३०॥

(विश्वोन्मेषदशायां देशिकनाथस्य यावान् प्रसरः।
कललावस्थया स्थितोऽपि विश्वनिमेषेऽपि तावान् भवति।।)

समस्त गुरुमण्डल के गुरु (परम गुरु) परमात्मा का विश्वोन्मेष की अवस्था में जितना विराट् प्रसार है, उतना ही कललावस्था (सर्वाकारमय अविभक्तावस्थारूप) में अवस्थित विश्व की निमेषावस्था में भी रहता है।।३०।।

देशिकतया सर्वानुग्राहकतया नाथ्यमानस्य परमेश्वरस्य सा काचिदुन्मेषयौगपद्यलक्षणा शक्तिरस्ति। तत्र च स्वरूपोन्मेषे विश्वनिमेषः, विश्वोन्मेषे च स्वरूपनिमेष इति द्वितयमपि तुलाधृतवदुत्पद्यते। ततश्च विश्वात्मको विश्वोत्तीर्णश्च परमेश्वर इत्यवटाटङ्कसङ्केतौचित्यमुपपाद्यते। तयोश्च नित्यमन्योन्यसापेक्षत्वादेकतरव्युदासशङ्कायामन्यतरभङ्गप्रसङ्ग इत्युभयोरपि समप्राधान्येन परिग्रहौचित्यम्। तदुक्तं मयैव श्रीपरास्तोत्रे—

एके भूजलखानिलानलकलारब्धां बहिः प्रक्रिया-
मुत्तीर्णत्विषमन्तरेव कतिचित् चित्काकणीमूचिरे।
अन्ये केचन यामलामृतसरित्संभेदसंभोगिनो
मातस्त्वामपृथक्प्ररोहमुभयोरौचित्यमाचक्षते ।। इति।

तथा च सति विश्वस्योन्मेषलक्षणायामवस्थायामन्तश्चिच्छक्तिनिमेषापर-

पर्यायायां यावान् प्रसरः षडध्वोल्लासप्रथासतत्त्वो भवति, तथा विश्वस्य निमेषे स्वात्मान्तःक्रोडीकारैकपारिशेष्ये सत्यपि तावानुन्मेषदशासमस्वभावो भवति। न तर्हि विश्वनिमेष इति चेत्? स्वैरं निमेष एव। अपि तु कललावस्थयाऽवस्थितिरिति ब्रूमः। यथा शिखण्ड्यण्डे सर्वशिखण्ड्यवयवानुप्रविष्टबर्हपरिबर्हादिवर्णरेखा-वैचित्र्यशिल्पकल्पनाकौशलमखिलमप्यत्यन्तसूक्ष्मेक्षिकयाऽवधार्यमस्तीत्यङ्गी-क्रियते, एवमत्रापि। यदुक्तं श्रीत्रिंशिकाशास्त्रे—

यथा न्यग्रोधबीजस्थः शक्तिरूपो महाद्रुमः ।
तथा हृदयबीजस्थं जगदेतच्चराचरम् ।। इति।

कललता नामावस्थायाः सर्वाकारमविभक्तं रूपम्। यदि च तद् विश्ववैचित्र्यं निमेषदशायां कललावस्थायामपि न स्यात्, तर्ह्युन्मेषदशैव न स्यात्, प्राक् सत एवोत्पत्त्यौचित्यात्। तथा हि विश्वोन्मेषावस्थायामात्मरूपस्य केवलं तिरोधान-मात्रम्, न पुनरत्यन्तोपप्लवः। एवमन्यत्रापीति। एतदर्थपरामर्शपरिहाण्या पाशव-वेदान्तस्य पर्युदासः। तत्र ह्यद्वैतमाग्रहेणोपपाद्यमानमपि द्वैतकक्ष्यामेवाधिरोहति। यदत्र सत्यासत्यव्यवस्थया हेयोपादेयकल्पनायां तेनैवाकारेण द्वैतमर्यादापर्य-वसायित्वमनिवार्यम्। तदुक्तं मयैव संविदुल्लासे—

द्वैतादन्यदसत्यकल्पमपरैरद्वैतमाख्यायते
तद् द्वैते बत पर्यवस्यति कृतं वाचाटदुर्विद्यया ।
एते ते वयेवमभ्युदयिनोः कस्यापि कस्याश्चिद-
प्यालस्योज्झितमैकरस्यमुभयोरद्वैतमाचक्ष्महे ।। इति।

अद्वैतगर्वो महतः प्रमातुः को नाम मिथ्या भवति प्रपञ्चे ।
स्वयंवरे ते परिपन्थिवर्गे किं तज्जिगीषोरसहायशौर्यम् ।। इति च ।

शिव की व्यापकता एवं अध्व-प्रसर—ग्रन्थकार का कथन है कि परमात्मा शिव का विश्व की उन्मेषावस्था में जितना अध्वप्रसर (अध्व-प्रसार) है, उतना ही विश्व की निमेषावस्था में भी है अर्थात् उतना ही प्रसार (विस्तार) समस्त तत्त्वों के आत्म-स्वरूप में लयीभूत होने की अवस्था में (कललावस्था में सर्वाकारमय; किन्तु अविभक्ता-वस्था में मयूराण्डरसवत्) भी है, जितना कि उन्मेषावस्था में।

विश्व के उन्मेष-निमेष दोनों में ही परमात्मा के प्रसार हैं। अनन्त चित् शक्ति का ही उन्मेष एवं निमेष में प्रसार होता है। कललावस्था क्या है? यह जीव की जन्मपूर्व की गर्भस्थित अविभक्त सर्वाकाररूप में स्थिति है।

उन्मेष (विश्व-वैचित्र्य-विलास) एवं निमेष (कूर्म द्वारा अपने अंगों को अपने शरीर के भीतर समेट लेने की क्रिया की भाँति) शक्ति का विश्व को स्वान्तःकृत (कवलीकृत)

कर लेने की क्रिया—दोनों में शक्ति का प्रसार है। यदि निमेष (प्रलयकाल में विश्व की शक्ति की कुक्षि में विद्यमानता) न हो तो उन्मेष (सृजन-काल में प्रतिसंहत विश्व की बाह्याभिव्यक्ति) कैसे सम्भव होगा? यथार्थतः उन्मेष ही निमेष है और निमेष ही उन्मेष है। उन्मेष जगत् की बाह्याभिव्यक्तावस्था है तो निमेष उसकी अनभिव्यक्त शक्ति में प्रतिसंहत अविभक्त एवं कारण में प्रलीन प्रलयकालिक अवस्था है। उन्मेष एवं निमेष—दोनों एक ही सत्ता के दो पक्ष हैं।

त्रिंशिकाशास्त्रकार की दृष्टि—त्रिंशिकाशास्त्र में कहा गया है कि जिस प्रकार वट के बीज में अत्यन्त विशाल वृक्ष अन्तर्निहित रहता है, उसी प्रकार हृदयबीज में चराचर जगत् तिरोहित रहकर विद्यमान रहता है—

यथा न्यग्रोधबीजस्थः शक्तिरूपो महाद्रुमः।
तथा हृदयबीजस्थं जगदेतच्चराचरम्।।

सारे सांसारिक पदार्थ, चराचर जगत् एवं माता-मेय-मान के रूप में स्थित त्रिपुटी परमेश्वर के अंग ही तो हैं—स्वाङ्गरूपेषु भावेषु।

महेश्वरानन्द की दृष्टि—महेश्वरानन्द कहते हैं कि—

१. भगवान् शिव का एक रूप विश्वगुरु (देशिक) का भी है—देशिकनाथस्य यावान् प्रसरः। यह स्वरूप विश्वानुग्राहक स्वरूप है—देशिकतया सर्वानुग्राहकतया (परिमल)।

२. इस देशिकनाथ (गुरुओं के भी गुरु = परम स्वामी, परम गुरु) परमेश्वर शिव की उन्मेष-निमेष यौगपद्यलक्षणा एक अनिर्वचनीय (अवाङ्मनसगोचर परा भट्टारिका) पराशक्ति भी है—देशिकतया सर्वानुग्राहकतया नाथ्यमानस्य परमेश्वरस्य सा काचिदुन्मेष-यौगपद्यलक्षणा शक्तिरस्ति।[१]

इस उन्मेष-निमेष का स्वरूप क्या है? स्वरूपोन्मेष में ही विश्वनिमेष भी है और विश्वोन्मेष में स्वरूपनिमेष भी है। ये दोनों तुलाधृतवत् यौगपद्य के साथ स्थित हैं। इसी कारण परमेश्वर के दो स्वरूप हैं—विश्वात्मक एवं विश्वोत्तीर्ण (ततश्च विश्वात्मको विश्वोत्तीर्णश्च परमेश्वरः—परिमल)।

३. उन्मेष एवं निमेष दोनों अन्योन्यसापेक्ष हैं। अतः समप्रधान हैं।[२]

परास्तोत्र में व्यक्त दृष्टि—परास्तोत्र में कहा गया है—

एके भूज-लखानिलानलकलारब्धां बहिःप्रक्रिया-
मुत्तीर्णत्विषमन्तरेव कतिचित् चित्काकणीमूचिरे।
अन्ये केचन यामलामृतसरित्संभेदसंभोगिनी
मातस्त्वामपृथक्प्ररोहमुभयोरौचित्यमाचक्षते ।।

१-२. परिमल

विश्वोन्मेषलक्षणा अवस्था में अन्तःस्थित चित् शक्ति निमेष नामक अपर पर्याय (अन्य संज्ञा) की अवस्था में भी उतनी ही व्यापकता रखती है (अर्थात् उतनी ही षडध्वोल्लास प्रथा रहती है), जितनी कि उन्मेष दशा में। विश्व-निमेष की अवस्था में विश्व स्वात्मान्तःक्रोडीकृत होते हुये भी उन्मेष उन्मेषदशास्वभाव वाला ही रहता है—विश्वस्य निमेषे स्वात्मान्तःक्रोडीकारैकपारिशेष्ये सत्यपि नावानुन्मेषदशासमस्वभावो भवति।[१]

अन्तर केवल यह रहता है कि विश्व इस निमेषदशा में कललावस्था में रहता है। विश्व की (शक्ति के गर्भ में स्थित) कललावस्था मयूराण्डरसवत् समस्त अंगों से परिपूर्ण होते हुये भी अविभक्तङ्ग, अस्फुट एवं अदृश्यशरीरा रहती है। त्रिंशिकाशास्त्र में इसी स्थिति को 'यथा न्यग्रोधबीजस्थः .... चराचरम्।'

द्वारा प्रदर्शित किया गया है।

कललावस्था क्या है? कलला नामावस्थायाः सर्वाकारमविभक्तं रूपम्।

यदि ये आकार निमेषावस्था में न रहते (कललावस्था में न रहते) तो उन्मेष दशा में भी इनकी विद्यमानता सम्भव न होती।[२]

विश्वोन्मेषावस्था—तथा हि विश्वोन्मेषावस्थायामात्मरूपस्य केवलं तिरोधानमात्रम् न पुनरत्यन्तोपप्लवः।

निमेषावस्था—एवमन्यत्रापीति अर्थात् यही स्थिति निमेषावस्था की भी है।

वेदान्त का खण्डन—आचार्य महेशानन्द की दृष्टि में इस प्रसंग में उपपादित सिद्धान्त असंगत एवं अनौचित्यपूर्ण है—एतदर्थपरामर्शपरिहाण्या पाशववेदान्तस्य पर्युदासः।[३]

उक्त परामर्श के परिहाण (ह्रास) के कारण पाशव दृष्टि रखने वाले वेदान्त दर्शन ने शैव-शाक्त दर्शन के इस सिद्धान्त का निषेध (पर्युदास) किया है। वेदान्त में अद्वैत के प्रति आग्रह होने पर भी वेदान्त द्वैतवादी बन गया है—तत्र ह्यद्वैतमाग्रहेणोपपाद्यमानमपि द्वैतकक्ष्यामेवाधिरोहति।

अद्वैतवादियों के सिद्धान्त में उनके सिद्धान्त के विपरीत, सत्यासत्य व्यवस्था के कारण हेयोपादेय कल्पना में द्वैतमर्यादा के अपर्यवसायित्व (अनिश्चय) की स्थिति बनी हुई है; अतः द्वैत का पर्यवसान (अन्त/समाप्ति) नहीं है—

१. एतदर्थपरामर्शपरिहाण्या पाशववेदान्तस्य पर्युदासः।

२. तत्र ह्यद्वैतमाग्रहेणोपपाद्यमानमपि द्वैतकक्ष्यामेवाधिरोहति।

३. यदत्र सत्यासत्यव्यवस्थाया हेयोपादेयकल्पनायां तेनैवाकारेण द्वैतमर्यादापर्यवसायित्वमनिवार्यम्।[४]

१-३. परिमल ४. परिमल (३०)

संविदुल्लासकार की दृष्टि—

द्वैतादन्यदसत्यकल्पमपरैरद्वैतमाख्यायते ।
तद् द्वैते बत पर्यवस्यति कृतं वाचाटदुर्विद्यया।
एते ते वयमेवमभ्युदयिनो: कस्यापि कस्याश्चिद-
प्यालस्योज्झितमैकरस्यमुभयोरद्वैतमाचक्ष्महे ।।

अत: अद्वैत का मिथ्या गर्व व्यर्थ है—

अद्वैतगर्वो महत: प्रमातु: को नाम मिथ्या भवति प्रपञ्चे।
स्वयंवरे ते परिपन्थिवर्गे किं तज्जिगीषोरसहायशौर्यम्।।

निष्कर्ष—महेश्वरानन्द जी कहते हैं कि निष्कर्ष यह है कि उन्मेष ही निमेष है और निमेष ही उन्मेष है—ननून्मेष एव निमेषो निमेष एवोन्मेषो विश्वस्य विश्वोत्तीर्णस्य चेति।[1]

सर्वानुग्रहकारी परमशिव विश्व की उन्मेषावस्था में जितना भी प्रसर (अध्वपर्यन्त विस्तार) है, उतना ही विश्व के निमेष में समस्त तत्त्वों के आत्मस्वरूप लय में कल-लावस्था—सर्वाकारमय अविभक्त अवस्था में अध्वपर्यन्त विस्तार या प्रसर है।

विश्वोन्मेष-निमेष—दोनों में ही परमात्मा का प्रसरस्वभाव कार्यप्रवृत्त हैं। अनन्त चिच्छक्ति का ही उन्मेष-निमेष में प्रसार होता है। कललावस्था का अभिप्राय है—अविभक्त सर्वाकाररूप स्थिति। यदि विश्ववैचित्र्य विलास निमेष-दशा में नहीं है तो उन्मेषदशा होती ही नहीं। वास्तव में उन्मेष ही निमेष है और निमेष ही उन्मेष है।

श्रीत्रिंशिकाकार की दृष्टि—त्रिंशिका में कहा गया है—

यथा न्यग्रोधबीजस्थ: शक्तिरूपो महाद्रुम:।
तथा हृदयबीजस्थं जगदेतच्चराचरम्।।

जिस प्रकार वटवृक्ष के बीज में अत्यन्त शक्तिशाली विशाल वृक्ष अन्तर्निहित रहता है, उसी भाँति हृदयबीज में चराचर जगत् अन्तर्हित (तिरोहित) रहता है।

ज्ञानकला एवं उसके द्वारा लोकत्रय की अभिव्यक्ति

ननून्मेष एव निमेषो निमेष एवोन्मेषो विश्वस्य विश्वोत्तीर्णस्य चेति महत्येषा व्याहतिरित्याशङ्क्याह—

तिउडिमअं खु समत्थं तत्थ अ णेअम्मि णाउए अ समं।
दिढगण्ठी णाणकला कलेइ तेल्लोक्कमेक्कल्लं ।।३१।।

१. परिमल (३०)

(त्रिपुटीमयं खलु समस्तं तत्र च ज्ञेये ज्ञातरि च समम्।
दृढग्रन्थिर्ज्ञानकला कलयति त्रैलोक्यमेकलम्।।)

परमेश्वर की सुदृढ़ ग्रन्थि वाली ज्ञान कलारूपा चित् शक्ति ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय की त्रिपुटी के रूप में स्थित लोकत्रय को समान रूप में एक स्वरूप से अभिव्यक्त करती है।।३१।।

विश्वव्यवहारे वादिनां सर्वोऽपि वचनपरम्पराप्रपञ्चो ज्ञाता ज्ञानं ज्ञेयमित्येवं-रूपपुटत्रयसमाहारात्मन्यर्थतत्त्वे पर्यवस्यति। यद् गुरुमतानुसारिणः स्पष्टतोत्कर्षा-दन्योन्यनिर्विशेषं साकल्येन प्रत्यक्षतयाचक्षते। पुटत्वं चैषामशेषविश्वक्रोडी-कारसामर्थ्यात्। तत्र च त्रिपुट्यामन्तरालवर्तिनी या ज्ञानकला चिच्छक्तिः, सा खलु—

वेद्यमेतदखिलं स ईश्वरो वेदिता यदनयोः स्वलक्षणम् ।
त्वामृते सुमुखि! वित्तिमन्तरा का नु तद् घटयितुं प्रगल्भते ।।

इति श्रीकोमलवल्लीस्तवस्थित्या विषयतयावरोध्यं वेद्यवर्गं भोक्तृतया स्फुरन्तं वेदितारं च प्रति समं विशेषशङ्काशून्यं यथा भवति तथा दृढग्रन्थिः कोटिद्वया-वगाहेन तादात्म्येनोपश्लेषाद् वज्रलेपवदप्रकम्प्यसम्बन्धा भवन्ती त्रैलोक्यमेक-लमेकस्वभावं कलयति। स च स्वभावो वेद्यं वित्तिर्वेदितेति, स्थूलं सूक्ष्मं परम-मिति, जाग्रत् स्वप्नः सुषुप्तमित्यादिना त्रैविध्येनाप्युपपद्यते। दृढग्रन्थिरित्युक्तत्वात्। सम्बन्धं प्रत्यदार्ढ्यशङ्कायां हि एकमन्यस्माद् भिद्येत। तच्च न सम्भवतीति। त्रैलो-क्यपदेन—

देवानां त्रितयं, त्रयी हुतभुजां, शक्तित्रयं, त्रिस्वरा-
स्त्रैलोक्यं, त्रिपदी, त्रिपुष्करमथ, त्रिब्रह्म, वर्णास्त्रयः ।
यत्किञ्चिज्जगति त्रिधा नियमितं वस्तु त्रिवर्गात्मकं
तत् सर्वं त्रिपुरेति नाम भगवत्यन्वेति ते तत्त्वतः ।।

इति श्रीलघुभट्टारकस्थित्या त्रिवर्गभूतमखिलमपि क्रोडीक्रियते। एवञ्च वेदितैव वेद्यं वेद्यमेव वेदिता वित्तिरेव वेद्यमित्याद्यशेषस्वभावसामरस्याभ्युपगमस्य पर्यन्ततः सिद्धान्तरहस्यत्वादुन्मेष एव निमेष इत्यादिव्याहतिदोषोद्भावनमस्मत्सञ्चारसरणी-सीमसु न कश्चिदपि कण्टकाङ्कुरमुन्मीलयितुमुद्युङ्क्ते इति। तदुक्तं श्रीस्पन्दसन्दोहे—'एवमियमेकैवाविभागरूपा परामर्शभूमिरुन्मेषनिमेषमयी उन्मेषनिमेषशब्दा-भ्यामभिधीयते' इति। एतेन विमर्शः सर्वंसह इत्युक्तं भवति। यदुक्तं श्रीप्रत्यभिज्ञा-विमर्शिन्याम्—'विमर्शो हि सर्वंसह आत्मानमपि परीकरोति, परमप्यात्मीकरोति, द्वयमप्येकीकुरुते, उभयमपि न्यग्भावयति' इति। श्रीपरामते च—

परीकर्तुं निजं तत्त्वं स्वात्मीत्कर्तुं तयोभयम् ।
एकीकर्तुं न किं कर्तुं विमर्शो जगति क्षमः ।। इति।

समस्त जगत्-व्यवहार या विमर्श नि:सन्देह एक ही ज्ञानशक्ति (चिच्छक्ति) के ज्ञाता एवं ज्ञेय के रूप में विराट् विस्तार है। यही शक्ति त्रिपुरा कही जाती है। विमर्श शक्ति अपने तत्त्व को भिन्न रूप में तथा अभिन्न स्वात्मरूप में प्रकट करने में समर्थ है। यह सर्वसमर्थ है। ज्ञाता, ज्ञेय एवं ज्ञानस्वरूप त्रिपुटी से त्रिपुटित विश्व का व्यवहार परमात्मा की निश्चयात्मिका परम स्वतन्त्र चिच्छक्ति से प्रभावित (या सक्रिय) विमर्शरूपात्मक है। परमेश्वर की सुदृढ़ एवं परम स्वतन्त्र ज्ञान कला (चित् शक्ति) ज्ञाता, ज्ञेय एवं ज्ञान में त्रिपुटित इस लोकत्रय के प्रापञ्चिक व्यवहार को समान रूप से तथा एक स्वभाव से अभिव्यक्त करती है।

नि:शेष जागतिक व्यवहार एक ही ज्ञानशक्ति (चिच्छक्ति) का ज्ञाता एवं ज्ञेय के रूप में विस्तार है। ज्ञाता, ज्ञान एवं ज्ञेय की त्रिपुटी में यही चिच्छक्ति (ज्ञानकला) ही अवस्थित है। इसी रूपत्रय के कारण इसे त्रिपुरा भी कहा गया है। विमर्श (जागतिक या पारमात्मिक विमर्श) का मूल भी ज्ञानकलात्मिका चित् शक्ति है।

महेश्वरानन्द की दृष्टि—महेश्वरानन्द कहते हैं कि विश्व के समस्त व्यवहारों (जागतिक क्रियाकलापों एवं प्रापञ्चिक विमर्शों) में समस्त बोलने वालों की वचनपरम्परा का अशेष विस्तार (क) ज्ञाता, (ख) ज्ञान एवं (ग) ज्ञेय के रूप में त्रिपुटित है अर्थात् ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेयसमाहारात्मक है। इसी ने समस्त विश्व को क्रोडीकृत करके रखा है।

ज्ञानकलारूपा चिच्छक्ति त्रिपुरान्तरालवर्तिनी है। कहा भी गया है—

वेद्यमेतदखिलं स ईश्वरो वेदिता यदनयोः स्वलक्षणम्।
त्वामृते सुमुखि! वित्तिमन्तरा का नु तद् घटयितुं प्रगल्भते।।

(कोमलवल्लीस्तव)

वेद्यवर्ग एवं वेदक दोनों में वही ज्ञानकला अवस्थित है। यह ज्ञानकला तो एक है, किन्तु वही प्रसृत होकर १. ज्ञाता, २. ज्ञान एवं ३. ज्ञेय के रूप में अभिव्यक्त होती है।

ज्ञानशक्ति ही त्रैलोक्य को एकस्वभाव बनाती है; क्योंकि सभी वही एक (ज्ञानशक्ति) ही तो है—त्रैलोक्यमेकस्वभावं कलयति।

यह स्वभाव १. वेद्य, २. वित्ति एवं ३. वेदिता के रूप में स्थित है। यही स्थूल, सूक्ष्म एवं पर रूप में भी अवस्थित है। यही जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्ति के रूप में भी अवस्थित है। इसी कारण यह दृढ़ग्रन्थि कहा गया है।

सारे पारस्परिक जागतिक व्यवहार भी इसी त्रिपुटी से त्रिपुटित हैं; अतः सब कुछ त्रितयात्मक है—

देवानां त्रितयं त्रयी हुतभुजां शक्तित्रयं त्रिस्वरा-
स्त्रैलोक्यं त्रिपदी त्रिपुष्करमथ त्रिब्रह्म वर्णास्त्रय:।
यत्किञ्चिज्जगति त्रिधा नियमितं वस्तु त्रिवर्गात्मकं
तत् सर्वं त्रिपुरेति नाम भगवत्यन्वेति ते तत्वत:।।[१]

समस्त विश्व इसी त्रिवर्ग में क्रोडीकृत है—त्रिवर्गभूतमखिलमपि क्रोडीक्रियते।[२]

वेदिता ही वेद्य है और वेद्य ही वेदिता है। वित्ति ही वेद्य है; अत: सभी में स्वभाव-सामरस्य है—वेदितैव वेद्यं, वेद्यमेव वेदिता, वित्तिरेव वेद्यम् इत्याद्यशेषस्वभावसामरस्याभ्युगम:।

इसी सिद्धान्त के आधार पर—उन्मेष एव निमेष:।

स्पन्दसन्दोहकार की दृष्टि—स्पन्दसन्दोह में भी इसी तथ्य की पुष्टि करते हुये कहा गया है कि—एवमियमेकैवाविभागरूपा परामर्शभूमिरुन्मेषनिमेषमयी उन्मेषनिमेष-शब्दाभ्यामभिधीयते। इसलिये विमर्शशक्ति सर्वंसह है—एतेन विमर्श: सर्वंसह इत्युक्तं भवति।

प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनीकार की दृष्टि—आचार्य अभिनवगुप्त करते हैं कि—विमर्शो हि सर्वंसह आत्मानमपि परीकरोति, परमप्यात्मीकरोति, द्वयमप्येकीकुरुते, उभयमपि न्यग्भावयति।

श्रीपरामतकार की दृष्टि—

परीकर्तुं निजं तत्त्वं स्वात्मीकर्तुं तथोभयम्।
एकीकर्तुं न किं कर्तुं विमर्शो जगति क्षम:।।

भावाभाव—दोनों में संवित् का प्रसार

ननु सर्वैकरसवादस्वीकारे कोऽयं सत्यासत्ययोर्भेद इत्याशङ्क्य न कश्चिदित्यु-दाहरणद्वारोपदर्शयति—

को सब्भावविसेसो कुसुमादो होइ गअणकुसुमस्स।
जं फुरणाणुप्पाणो लोओ फुरणं च सव्वसामण्णं ॥३२॥

(क: सद्भावविशेष: कुसुमाद् भवति गगनकुसुमस्य।
यत् स्फुरणानुप्राणो लोक: स्फुरणं च सर्वसामान्यम्।।)

(लोक-व्यवहार में प्रयुक्त) सामान्य पुष्प से आकाशपुष्प के स्वरूप में ऐसी कौन-सी विशिष्टता है, जिसके स्फुरण से सामान्य लोकव्यवहार अनुप्राणित होकर स्फुरित होता है? (वस्तुत: दोनों में कोई विशेष भेद नहीं है)।।३२।।

---

१. लघुभट्टारक २. परिमल

प्रसिद्धकुसुमाद् गगनकुसुमस्य सद्भावे को विशेषः। न कश्चिदिति वाक्योपसंहारः। यदिति हेतौ। लोको हि विश्वव्यवहारस्वभावः। संविदेव भगवती विषयसत्त्वोपगमे शरणमिति गुरुमतमर्यादया स्फुरणं प्रकाशमानत्वमेवानुप्राणनतया जीवभूततया परिगृह्य वर्तत इत्यसकृदवोचाम। तच्च स्फुरणं विप्रतिपन्ने खपुष्पे सम्प्रतिपन्ने चम्पकादौ च सामान्यमपक्षपातेन प्रसरति। यदि च तस्य तत्र पक्षपातेन प्रवृत्तिः, तत् खपुष्पमित्यपि न स्फुरेत्। अत एवोक्तमाचार्याभिनवगुप्तपादैः सा स्फुरत्ता महासत्तेत्यत्र महासत्तेत्येतत्पदव्याख्यानावसरे—'सा हि खपुष्पादिकमपि व्याप्नोति' इति। यथा श्रीशिवदृष्टौ—

शशशृङ्गादिकेनापि स्याद् विभक्त्या समन्वयः । इति।

पदसङ्गतौ च—'तस्मात् तत्रापि विभक्तियोगेन कारकत्वे सति सत्तैव शिवताख्या' इति। एतेन स्तम्भकुम्भादीनां भावानां प्रकाश एव सामान्यात्मनानुप्राणनः प्रवर्तते, न पुनः सामान्यं नाम पदार्थान्तरमित्युक्तं भवति। तत्र च विकल्परूपा व्यक्तयः। अविकल्पात्मा महाप्रकाशः सामान्यम्। ततश्चानुवृत्तिप्रत्ययनिमित्तं सामान्यमित्याचक्षाणा वैशेषिकादयः प्रत्याख्याताः, प्रकाशस्याहेतुकत्वात्। प्रत्युत विश्वविलासं प्रत्यस्यैव हेतुत्वात् सर्वसामान्यमिति। एतादृशस्य सामान्यस्य हि समवायविशेषाद्यविशेषेण विश्वमेव विषयो न पुनर्द्रव्यादिरवच्छिन्नः पदार्थ इत्यर्थः। अथ च प्रष्टव्योऽयमन्यपुष्पात् खपुष्पस्य विशेषः। तुच्छत्वमिति चेत्। किं तत् तुच्छत्वं नाम। न तावच्छून्यत्वम्। गगनस्य पुष्पस्य च पृथक् पृथक् सद्भावात्। अनयोरन्योन्यं कार्यकारणभावसम्बन्धाभावात् तद्द्वारा विशिष्टस्याप्यसत्त्वमिति चेत्? न। अन्योन्यत्वं नामानयोरेकैकपर्यालोचनायां न सम्भवति। सम्भवे चोक्तस्यैव दोषस्यानुषङ्गः। यदि च तन्मेलनांश इत्युच्यते, तर्ह्यसम्बन्धादित्यस्य व्याघातः स्यात्, मेलनस्याभ्युपगतत्वात्। मेलकश्चासौ प्रतीतो वा स्यान्न वा? नान्त्यः, व्यवहारानुपपत्तेः। ततश्च प्रतीतिपक्ष एवावशिष्यते। सा च प्रतीतिरनयोर्मेलनमुपस्थापयन्ती तुच्छत्वमेव तत् तुच्छीकर्तुमुद्यच्छतीति चम्पकपाटलादिप्रसूनप्रक्रियया व्योमकुसुमस्यापि व्यवहारकक्ष्यावैषम्याभावाद् यदसत् तत्र प्रतिभाप्ररोहासम्भवाद् मूकीभाव एव शरणं प्रतिवादिनो जनस्य। अत एव हि योगिनः केचिदाकाशादेरपि प्रसूनान्यानयन्तो दृश्यन्ते। न च तत्र स्वोपादानद्रव्योत्पन्नं तद् योगिभिरभिव्यज्यत इति वक्तुं शक्यम्, तस्य तादृक्सङ्कल्पव्यतिरेकेणोपादानान्तरशून्यत्वात्। यदुक्तं श्रीप्रत्यभिज्ञायाम्—

चिदात्मैव हि देवोऽन्तःस्थितमिच्छावशाद् बहिः ।
योगीव निरुपादानमर्थजातं प्रकाशयेत् ।। इति।

सौजन्यत: कथायां तु संवित्स्वभावायत्तायां सत्तायां न कश्चित् पुष्पान्तरात् खपुष्पस्य भेदः। मायीयसत्तानुरोधे तु विधिनिषेधोभयव्यवहारौचित्यमन्य-पुष्पाणाम्। अन्तरिक्षप्रसूनस्य तु निषेधविषयमात्राभिलापयोग्यत्वमित्यलमितर-जनसुलभपदकपल्लवावखण्डन(?)पाण्डित्यप्रदर्शनेन।।३२।।

भगवती सत्, असत्, भाव, अभाव, भावाभाव आदि सभी हैं। सत् एवं असत्, सत्य एवं मिथ्या, भाव एवं अभाव, विधि एवं निषेध, सत्ता एवं असत्ता—सभी में एक अद्वितीय चित् शक्ति का ही सार्वत्रिक एवं सार्वभौम प्रसार एवं सञ्चार है।

चम्पक, कमल, चमेली आदि सामान्य पुष्पों से खपुष्प (गगन कुसुम) की कोई विशिष्टता नहीं है। संवित् शक्ति (चिच्छक्ति) ही सामान्य रूप से बिना किसी पक्षपात के आकाशकुसुम की विप्रतिपन्नता और सामान्य पुष्पों की सम्प्रतिपन्नता में स्फुरित हो रही है। स्फुरण में कोई भेद नहीं है; अत: चित् शक्ति के स्फुरण-सञ्चार की दृष्टि से खपुष्प (काल्पनिक नाम) एवं चम्पक आदि यथार्थ (सामान्य) पुष्प में कोई भेद नहीं है; क्योंकि सत्ता मात्र (चाहे भाव की सत्ता हो और चाहे अभाव की; व्यावहारिक सत्ता हो या प्रातिभासिक) शक्ति है। यदि कोई पक्षपात होता तो खपुष्प कभी स्फुरित ही नहीं होता अर्थात् उसकी काल्पनिक सत्ता भी नहीं होती। संवित् का स्फुरण भावाभाव सभी में समान रूप से विद्यमान है। संवित् शक्ति में भेदभाव नहीं है। जागतिक (मायिक) लोकव्यवहार में ही विधि-निषेधात्मक व्यवहार की भिन्नता मिलती है, पारमार्थिक सत्ता के सञ्चार में नहीं; वहाँ तो एकरसता है। भाव यह कि चाहे भावात्मक पदार्थ हो और चाहे अभावात्मक, सभी में संविदात्मक चिति शक्ति समान रूप से स्फुरित हो रही है।

परमात्मा एवं योगी तो निरुपादान होकर भी पदार्थों को उत्पन्न कर देते हैं—

चिदात्मैव हि देवोऽन्त:स्थितमिच्छावशाद् बहिः।
योगीव निरुपादानमर्थजातं प्रकाशयेत्।।

जिस तरह से बिना उपादान के ही योगी पदार्थों का आविर्भाव कर दिया करते हैं, उसी प्रकार चिदात्मा देव स्वेच्छा से अन्त:स्थित तत्त्व का प्रकाशन करके पदार्थादि की सृष्टि करता है।

आचार्य महेश्वरानन्द की दृष्टि—महेश्वरानन्द कहते हैं—

१. प्रसिद्धकुसुमाद् गगनकुसुमस्य सद्भावे को विशेष: ? न कुतश्चिदिति वाक्योपसंहार:।

२. जहाँ तक जागतिक सत्ता की बात है या लोकव्यवहार की बात है (या प्रापञ्चिक व्यवहारों का प्रश्न है)—लोको हि विश्वव्यवहारस्वभाव:। (परिमल)

३. जहाँ तक संवित् की बात है वहाँ—संविदेव भगवती .... स्फुरणं प्रकाशमानत्वमेवानुप्राणनतया जीवभूततया परिगृह्य वर्तते।

४. भगवती संवित् का यह प्रस्फुरण भावाभाव दोनों में एकरस है—तच्च स्फुरणं विप्रतिपन्ने खपुष्पे सम्प्रतिपन्ने चम्पकादौ च सामान्यमपक्षपातेन प्रसरति।[१]

यदि भगवती भावाभाव सत्ता में अपने सञ्चार में पक्षपात करती तो?—यदि च तस्य तत्र पक्षपातेन प्रवृत्तिः तत् खपुष्पमित्यपि न स्फुरेत्।[२] अर्थात् तब तो खपुष्प की सत्ता ही न रह जाती।

अभिनवगुप्तपादाचार्य की दृष्टि—आचार्य अभिनवगुप्त कहते हैं कि वह परा सत्ता तो खपुष्प आदि सत्ता में भी व्याप्त है—सा हि खपुष्पादिकमपि व्याप्नोति।

शिवदृष्टिकार की दृष्टि—आचार्य सोमानन्दपाद कहते हैं कि—

शशशृङ्गादिकेनापि स्याद् विभक्त्या समन्वयः।

अर्थात् 'तस्मात् तत्रापि विभक्तियोगेन कारकत्वे सति सत्तैव शिवताख्या'।[३]

जिसे हम सामान्य कहते हैं अर्थात् सामान्यात्मक (जागतिक/व्यावहारिक) सत्ता कहते हैं, उसका स्वरूप क्या है? महेश्वरानन्द कहते हैं—

१. स्तम्भकुम्भादीनां भावानां प्रकाश एव सामान्यात्मनानुप्राणनः प्रवर्तते, न पुनः सामान्यं नाम पदार्थान्तरमित्युक्तं भवति। तत्र च विकल्परूपा व्यक्तयः। अविकल्पात्मा महाप्रकाशः सामान्यम्।

२. ततश्चानुवृत्तिप्रत्ययनिमित्तं सामान्यमित्याचक्षाणा वैशेषिकादयः प्रत्याख्याताः। प्रकाशस्याहेतुकत्वात्। प्रत्युत विश्वविलासं प्रत्यस्यैव हेतुत्वात् सर्वसामान्यमिति।[४]

इस प्रकार ग्रन्थकार को वैशेषिक दर्शन की सामान्यविषयक दृष्टि मान्य नहीं है। उनका कथन है कि—एतादृशस्य सामान्यस्य हि समवायिविशेषाद्यविशेषेण विश्वमेव विषयो न पुनर्द्रव्यादिरवच्छिन्नः पदार्थ इत्यर्थः। .... गगनस्य पुष्पस्य च पृथक्-पृथक् सद्भावात्।[५]

३. यदि यह कहा जाय कि चम्पक-पाटल आदि पुष्प की व्यावहारिक सत्ता है; अतः वे सत्य हैं, किन्तु व्योमकुसुम तो प्रातिभासिक भी नहीं है; अतः तुच्छ कल्पना-मात्र है तो इस सम्बन्ध में यह कहना है कि योगियों के द्वारा तो व्योमकुसुम भी व्याव-हारिक सत्य बन कर दृष्टिगत होने लगते हैं।[६]

और ऐसी स्थिति में तो—प्रतिभाप्ररोहासम्भवाद् मूकीभाव एव शरणं प्रतिवादिनो जनस्य। अतएव हि योगिनः केचिदाकाशादेरपि प्रसूनान्यानयन्तो दृश्यन्ते। न च तत्र स्वोपादानद्रव्योत्पन्नं तद् योगिभिरभिव्यज्यत इति वक्तुं शक्यम्।[७]

निष्कर्ष यह कि संवित् तत्त्व के स्वभाव से आयत्त सत्ता में सामान्य एवं खपुष्प में कोई भी भेद नहीं है—संवित्स्वभावायत्तायां सत्तायां न कश्चित् पुष्पान्तरात् खपुष्पस्य

१-७. परिमल

भेदः। केवल मायिक व्यवहार में ही इस विधि-निषेध का व्यवहार होता है—मायीय-सत्तानुरोधे तु विधिनिषेधोभयव्यवहारौचित्यमन्यपुष्पाणाम्।[१]

ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकार की दृष्टि—आचार्य उत्पलदेव ने ईश्वरप्रत्यभिज्ञा में कहा है कि जिस प्रकार एक योगी बिना बाह्योपादान के ही पदार्थों की सृष्टि करने लगता है, उसी प्रकार चिदात्मा देव ही समस्त जगत् के भीतर भी स्थित है और उसके बाहर भी। वह अन्तःस्थित देवता ही स्वेच्छावश बाह्याभिव्यक्ति के रूप में जगदाकार होकर व्यक्त होता है—

चिदात्मैव हि देवोऽन्तःस्थितमिच्छावशाद् बहिः।
योगीव निरुपादानमर्थजातं प्रकाशयेत्।।

अथर्ववेदोक्त देव्यथर्वशीर्ष की दृष्टि—इसमें भगवती अपने स्वरूप का इस प्रकार उद्घाटन करती है—अहं ब्रह्मस्वरूपिणी, मत्तः प्रकृतिपुरुषात्मकं जगत्। शून्यं चाशून्यं च। अहमानन्दानानन्दौ। अहं विज्ञानाविज्ञाने। अहं ब्रह्माब्रह्मणी वेदितव्ये। अहं पञ्चभूतान्यपञ्चभूतानि। अहमखिलं जगत्। वेदोऽहमवेदोऽहम्। विद्याहमविद्याहम्। अजाहमनजाहम्। अधश्चोर्ध्वं च तिर्यक्चाहम्। अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चरामि। अहमादित्यैरुत विश्वदेवैः। अहं मित्रावरुणावुभौ बिभर्मि। अहमिन्द्राग्नी अहमश्विनावुभौ। अहं सोमं त्वष्टारं पूषणं भगं दधामि। अहं विष्णुमरुक्रमं ब्रह्माणमुत प्रजापतिं दधामि।

अर्थात् मैं ब्रह्मस्वरूप हूँ। मुझसे प्रकृति-पुरुषात्मक सद्रूप एवं असद्रूप जगत् उत्पन्न हुआ है। मैं आनन्द और अनानन्दरूपा हूँ। मैं विज्ञान और अविज्ञानरूपा हूँ। मैं सुविज्ञेय ब्रह्म एवं अब्रह्म भी हूँ। मैं पञ्चीकृत एवं अपञ्चीकृत महाभूत भी हूँ। मैं यह सारा दृश्य जगत् भी हूँ। मैं वेद और अवेद भी हूँ। मैं विद्या, अविद्या, अजा एवं अनजा भी हूँ। मैं नीचे-ऊपर, अगल-बगल भी हूँ। मैं रुद्रों एवं वसुओं में सञ्चार करती हूँ। मैं आदित्यों एवं विश्वदेवों के रूपों में फिरा करती हूँ। मैं मित्र और वरुण दोनों का, इन्द्र एवं अग्नि का और दोनों अश्विनीकुमारों का भरण-पोषण करती हूँ। मैं सोम, त्वष्टा, पूषा एवं भग को धारण करती हूँ। मैं त्रैलोक्य को आक्रान्त करने के लिये विस्तीर्ण पादक्षेप करने वाले विष्णु, ब्रह्मदेव एवं प्रजापति को धारण करती हूँ।

बहुत्व में एकत्व का सूत्र

नन्वासतामेते विगीता व्योमकुसुमादयः, यत्र मूकीभावो दूषणं भूषणं वेति नात्यन्तं निश्चितम्। यौ पुनर्भावाभावौ लोकव्यवहारसिद्धौ, तत्र कथमिदमभेदवादवैदग्ध्यमित्याशङ्क्याह—

माणिक्कमरदआण व भावाभावाण भेदपडिभासं।
एक्करसो अण्णोण्णं दोण्ण वि उप्फुसइ फुरणसम्भेओ ।।३३।।

---

१. परिमल

(माणिक्यमरकतयोरिव भावाभावयोर्भेदप्रतिभासम्।
एकरसोऽन्योन्यं द्वयोरप्युन्मार्ष्टि स्फुरणसम्भेदः।।)

मणि (लाल) एवं मरकत (श्याम) में परस्पर स्थित भाव एवं अनुभवरूप भिन्नता के प्रतिभास को (पारमात्मिक/पारमार्थिक) एकरस प्रकाश-स्फुरण (स्फुरण-सम्बन्ध) विलुप्त कर देता है।।३३।।

विश्वव्यवहारोऽपि हि स्तम्भकुम्भादेर्भावस्य तदभावस्य च द्वयोरन्योन्यं प्रतियोग्यनुयोगिभावाघ्रातो भेदप्रतिभासः परस्परवैलक्षण्येनावधारणं तम्, तयोः स्फुरणसम्भेद एवोन्मार्ष्टि युक्त्या तिरस्करोति। प्रकाशमानता हि स्फुरणम्। सैव सम्भेदः सम्बन्धः। स चैकरसः पदार्थद्वयं प्रत्येकस्वभावः, तयोर्द्वयोरपि प्रकाशत इति प्रतीतिं प्रति वैषम्याभावात्। ततश्च चिदग्निसात्कृतयोरनयोः को नाम वैलक्षण्यावभास इत्यर्थः। यथा माणिक्यमरकतयोररुणश्यामलयोरन्योन्यविरुद्धयोरपि किञ्चित्सन्निकर्षेणावस्थापितयोः परस्परप्रभापटलकर्बुरीभावादेकरसो भवन् प्रकाशमानतासम्भेदो भेदप्रतिभासं प्रतिमार्ष्टि, उभयोरपि स्वस्वरूपपरित्यागपूर्वमेकरूपतानुप्रवेशात्। यतो माणिक्यमप्यरुणश्यामलं मरकतमपि श्यामलारुणमिति वैचित्र्यशालिनी प्रतीतिरत्रोत्पद्यते। दर्शनान्तरमर्यादयाऽप्यभावो नाम स्तम्भकुम्भादिकैवल्यशाली भूतलादिः कश्चिद् भावविशेष एवेत्यूरीकृतम्। यदुक्तम्—

भावान्तरमभावोऽन्यो न कश्चिदनिरूपणात् । इति।

स्तम्भादेर्भावस्य च कुम्भाद्यन्योन्याभावद्वारावतीर्णमभावत्वं चापरिहार्यमिति भावाभावयोर्युक्तिपर्यालोचनायामैकरूप्यमेवेति।।।३३।।

'एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपो-रूपो प्रतिरूपो बभूव, एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' आदि प्रमाण इसी अनेकता में एकता के साक्षी हैं। चूँकि माणिक्य लाल रंग का होता है और मरकत श्याम वर्ण का होता है; अतः दोनों में परस्पर भिन्नता होती है तथापि उनमें प्रवाहित (सञ्चरित, अनुस्यूत, प्रवहमान) एकात्मक प्रकाश-स्फुरण (उसमें भिन्नता के स्थान में) एकात्मता, एकरसता एवं एकता का सञ्चार किए रहता है। यह स्फुरण मणि एवं मरकत में समस्वभाव रहकर सञ्चरित है। दोनों ही दीप्ति में (अरुणिमा एवं नीलेपन की विभिन्न दीप्तियों में विद्यमान रहने पर भी) पृथक् रहकर भी प्रकाशस्फुरण की एकरूपता के कारण एकरूप ही माने जाने चाहिये।

दोनों रत्नों में भेद रंगों का है; किन्तु उनमें जो प्रकाश सञ्चरित है, वह तो रंगीन है नहीं; अतः प्रकाश की अनुस्यूतता या सञ्चरण की दृष्टि से वे दोनों अभिन्न हैं। परमात्मा में भावाभाव का भेद नहीं है, वह तो एकरस है। यह भावाभाव शून्य एवं एकरस परमात्मारूप प्रकाश दोनों में एकरस, एकस्वभाव एवं एकात्म होकर सञ्चरित है। इस प्रकाश-सम्भेद (प्रकाश-सम्बन्ध) की एकरूपता के कारण ही लाल रंग का मणि एवं

नीले रंग का मरकत (रंगों की दृष्टि से पृथक् होकर भी प्रकाश-सञ्चार की अभिन्नता के कारण) दोनों अभिन्न हैं।

स्फुरण क्या है? प्रकाशमानता हि स्फुरणम्।

सम्भेद क्या है? वही सम्भेद (सम्बन्ध) है।

इस प्रकाश का स्वभाव क्या है? स चैकरसः पदार्थद्वयं प्रत्येकस्वभावः, तयोर्द्वयोरपि प्रकाशत इति प्रतीतिं प्रति वैषम्याभावात्।

इन दोनों (मणि एवं मरकत) में चिदग्नि प्रज्वलित है; अतः दोनों में भेदावभास कैसा?

यदि लाल रंग के मणि एवं नीले रंग के मरकत को एक-दूसरे के सन्निकट रख दिया जाय तो मणि मरकत का नीला वर्ण एवं मरकत मणि का रक्तवर्ण धारण करके चितकबरे (कर्बुरीभावापन्न) रंग के हो जाते हैं और इस प्रकार दोनों में रंग की भिन्नता नष्ट होकर रंगसाम्य उत्पन्न हो जाता है अर्थात् प्रकाशमानता का सम्बन्ध दोनों में भेद-प्रतिभास को नष्ट कर देता है और इस प्रकार दोनों अपने पृथक्-पृथक् स्वरूपों को त्याग कर एकरूप हो जाते हैं। इसी प्रकार जगत् में जो भावाभावात्मक एवं भिन्नाभिन्नात्मक आदि अनेकात्मक द्वैत दृष्टियाँ एवं पदार्थ हैं और व्यवहारों में भेदबोध है, उन सभी में एक ही संवित् शक्ति या विमर्श सञ्चरित है; अतः सभी में एकात्मता स्थित है। प्रतीयमान भिन्नता एवं अनेकात्मता तो मायिक दृष्टि के कारण दृष्टिगत होती है अतः—

भावान्तरमभावोऽन्यो न कश्चिदनिरूपणात्।[१]

सम्भेद = सम्बन्ध। उन्मार्ष्टि = तिरस्कृत कर देता है, निराकृत कर देता है। भेद-प्रतिभास = भिन्न होने का आभास। उन्मार्ष्टि = प्रतिमार्ष्टि। एकतानुप्रवेश के द्वारा द्वैतभाव को दूरीकृत कर देता है। भेद = परस्परवैलक्षण्य का अनुभव। स्फुरण = प्रकाशमानता।

एकोऽहं बहु स्याम् की कामना ही तो एक को बहु बना देती है। दोनों में तात्त्विक भेद तो है नहीं, सृष्टि के सार्वत्रिक द्वैतभाव में एकत्व सर्वत्र अनुस्यूत है।

शरीर में परमात्मा की व्यापकता

ननु पौनःपुन्येन प्रसाधितमप्येतदर्थतत्त्वं तडिद्विलसितमेव केवलं परिस्फुरति। न पुनर्हृदयङ्गमो भवति। हृदयङ्गमीभावे च कश्चिदुपायो वक्तव्य इत्याकाङ्क्षां शिथिलयितुं पारमेश्वर्या सपर्यया भाव्यम्, सा च लोकतः पृथग्भूतेत्युद्भावयन्नादौ पीठं देवतां च पर्यालोचयति—

अण्डमए णिअपिण्डे पीठम्मि फुरन्ति कलणदेवीओ।
पप्फुरइ अ परमसिवो णाणणिही ताण मज्झआरम्मि ॥३४॥

१. परिमल

(अण्डमये निजपिण्डे पीठे स्फुरन्ति करणदेव्यः।
प्रस्फुरति च परमशिवो ज्ञाननिधिस्तासां मध्ये।।)

अपने अण्डात्मक शरीररूप पीठ में इन्द्रियों की अधिष्ठात्री देवियाँ स्फुरित होती रहती हैं; (किन्तु) उनके मध्य ज्ञानरत्नागारस्वरूप परमात्मा परमशिव (अपनी शक्तिमत्ता प्रकट करते हुये) स्फुरित (अभिव्यक्त) होता रहता है।।३४।।

स्वशरीरमयो हि पिण्डः पृथिव्यादिभूतपञ्चकारब्धत्वादशेषविश्ववैचित्र्यलक्षणमण्डमित्यध्यवसीयते। अण्डपिण्डयोरैकरूप्यमाम्नायेषु प्रसिद्धम्। यथा त्रिशिरोभैरवे—

सर्वतत्त्वमयः कायस्तच्चेदानीं शृणु प्रिये।
पृथिवी कठिनत्वेन द्रवत्वेऽम्भः प्रकीर्तितम्।। इत्यादि।

यथा च परमार्थसारसंग्रहे—

षट्त्रिंशत्तत्त्वमृतं विचित्ररचनागवाक्षपरिपूर्णम्।
निजमन्यदथ शरीरं घटादि वा तस्य देवगृहम्।। इति।

तत्र च पीठीभूते करणदेव्य इन्द्रियलक्षणाः शक्तयः स्फुरन्ति। आवाहनसन्निधापनतिरोधानादिव्यतिरेकेऽपि स्वयमेव स्फुटं प्रकाशन्ते। तासां मध्ये च परमशिवो महाप्रमातृस्वभावः प्रस्फुरति ताः शक्तीः प्रति स्वस्य शक्तिमत्ता यथा प्रकटीभवति तथा प्रकाशते। यतोऽयं ज्ञाननिधिः, तत्तदिन्द्रियशक्त्युदयोन्मीलितानां संविद्विकल्पानां समुद्र इव सरित्प्रवाहाणां पर्यन्ततः प्रतिष्ठाभूमिरित्याम्नायते। इन्द्रियशक्तीनां च तासां न कदाचिच्छब्दस्पर्शाद्यनुवेधं विनाऽवस्थानम्। शब्दस्पर्शादय एव च पञ्च महान्ति भूतानीति विश्वमय्यस्ता इत्युक्तं भवति। यदुक्तम्—

शक्तिश्च शक्तिमांश्चेति पदार्थद्वयमुच्यते।
शक्तयोऽस्य जगत् कृत्स्नं शक्तिमांश्च महेश्वरः।। इति।

सर्वाः शक्तीश्चेतसा दर्शनाद्याः स्वे स्वे वेद्ये यौगपद्येन विष्वक्।
क्षिप्त्वा मध्ये हाटकस्तम्भभूतस्तिष्ठन् विश्वाकार एको विभाति।।

इति श्रीकक्ष्यास्तोत्रस्थित्या स्वात्मरूपः परेश्वर एवान्तश्चक्रदेवता बाह्यान्तरभिन्नाः। करणशक्तयश्च तदावरणदेवतास्थानीयाः। तदर्चनं च स्वशरीरात्मनि महापीठ एवोपपद्यते। तत्र च यथा प्रतिमापुस्तकादयो भावाः स्वात्मभूतां मुख्यां देवतां प्रति प्रतिनिधिभावेनाध्यवसीयन्ते, तद्वत् स्वदेहस्यैव मुख्यतया पीठत्वम्। अनुकल्पोपकल्पतया तु स्थण्डिमण्डलादीनामङ्गीकार इति तात्पर्यार्थः।।३४।।

परमार्थसारसंग्रहकार का कथन है कि षट्त्रिंशदात्म विश्व में अपना जो शरीर

है, वह भी भगवान् का प्रत्यक्ष मन्दिर है—

षट्त्रिंशत्तत्त्वमृतं विचित्ररचनागवाक्षपरिपूर्णम्।
निजमन्यदथ शरीरं घटादि वा तस्य देवगृहम्।।

षट्त्रिंशदात्म अण्डरूप विश्ववैचित्र्य में परमशिव अपनी शक्ति का सञ्चार करते हुये अपनी शक्तिमत्ता उन्मिषित करता रहता है। परमेश्वर स्वात्मदेवता ही तो है। वही चक्रदेवता है और करणों की शक्तियाँ तदावरण देवता हैं। उस देवता का निवास विश्वरूप शरीर में है। चूँकि पिण्ड एवं अण्ड में एकरूपता है; अत: वह प्रत्येक पिण्ड में भी अवस्थित है। पिण्डाण्ड-सामरस्य नाथ-योग एवं तान्त्रिक दर्शन की एक प्रमुख विशेषता है।

महेश्वरानन्द की दृष्टि—आचार्य महेश्वरानन्द कहते हैं कि स्वशरीरात्मक पिण्ड पृथि-व्यादिभूत पञ्चतत्त्वों से निर्मित विश्ववैचित्र्यमय ब्रह्माण्ड भी है—स्वशरीरमयो हि पिण्ड: पृथिव्यादिभूतपञ्चकारब्धत्वादशेषविश्ववैचित्र्यलक्षण-मण्डमित्यध्ववसीयते। अण्डपिण्डयोरैकरूप्यमाम्नायेषु प्रसिद्धम्।[१] पिण्डब्रह्माण्डैक्यवाद का आगमिक सिद्धान्त योग एवं समस्त तन्त्रों में स्वीकृत है।

त्रिशिरोभैरवकार की दृष्टि—त्रिशिरोभैरवकार का कथन है कि शरीर सर्वतत्त्व-मयात्मक है—

सर्वतत्त्वमय: कायस्तच्चेदानीं शृणु प्रिये।
पृथिवी कठिनत्वेन द्रवत्वेऽम्भ: प्रकीर्तितम्।।

शरीर में विद्यमान काठिन्य पृथ्वी एवं रक्तादिक में द्रवत्व 'जलतत्त्व' की स्थिति का प्रमाण है। शरीर षट्त्रिंशदात्मक है।

परमार्थसारसंग्रहकार की दृष्टि—परमार्थसारसंग्रह में कहा गया है कि शरीर ब्रह्माण्ड की भाँति छत्तीस तत्त्वों से युक्त है।

इस पीठभूत देह में करणों की अधिष्ठात्री देवियाँ (शक्तियाँ) इन्द्रियों के रूप में अधिष्ठित हैं। ये शक्तियाँ देवियों पूजा के अङ्गभूत—आवाहन, सन्निधापन, तिरोधान आदि के विना भी स्वयमेव विद्यमान रहती हैं। उनके मध्य महाप्रमातृस्वभाव परमशिव सदैव स्फुरित होते रहते हैं। उनकी ये शक्तियाँ उन परमशिव की शक्तिमत्ता को प्रतिक्षण व्यक्त करती रहती हैं। इसके कारण ज्ञान-निधि (ज्ञान के अनन्त रत्नागार) परमशिव उन-उन इन्द्रियों में उन्मीलित विभिन्न शक्तियों में शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध नामक अनुभूतियों को प्राप्त करने की शक्ति उसी शक्तिमान परमशिव से ही आती है।

यह भी सत्य है कि समस्त जगत् में केवल दो ही पदार्थ हैं—शक्ति और शक्तिमान।

---

१. परिमल

जगत् क्या है? शक्ति ही जगत् है और शक्तिमान केवल महेश्वर शिव है—

शक्तिश्च शक्तिमांश्चेति पदार्थद्वयमुच्यते।
शक्तयोऽस्य जगत् कृत्स्नं शक्तिमांश्च महेश्वरः।।

कक्ष्यास्तोत्रकार की दृष्टि—

सर्वाः शक्तिश्चेतसा दर्शनाद्याः स्वे स्वे वेद्ये यौगपद्येन विष्वक्।
क्षिप्त्वा मध्ये हारकस्तम्भभूतस्तिष्ठन् विश्वाकार एको विभाति।।

महेश्वरानन्द कहते हैं कि स्वात्मरूप परमेश्वर ही अन्तश्चक्र देवता है—स्वात्मरूपः परमेश्वर एवान्तश्चक्रदेवता बाह्यान्तरभिन्नाः।[1]

अन्तःकरण की शक्तियाँ शिव के आवरणदेवता हैं। उनका अर्चन होते रहने के कारण अपना शरीर ही महापीठ है। प्रतिमा, स्तोत्रपाठ, नीराजना, अर्घ्य, ध्यान आदि सारे पूजा-विधान (तत्त्वतः बाह्य पदार्थ नहीं हैं) आन्तर प्रेम के भाव हैं; क्योंकि ये भाव तो हृदय में ही उठते हैं; अतः बाह्योपादान-सापेक्ष बाह्यवर्तिनी पूजा के पूर्व अन्दर ही भगवत्पूजा हो जाती है (भावात्मक पूजन निष्पन्न हो चुकता है); अतएव अपना शरीर मुख्य पीठ है।

पूजा का तात्त्विक स्वरूप

महेश्वरानन्द की दृष्टि—

१. स्वात्मरूपः परमेश्वर एवान्तश्चक्रदेवता बाह्यान्तरभिन्नाः।

२. करणशक्तयश्च तदावरणदेवतास्थानीयाः।

३. तदर्चनं च स्वशरीरात्मनि महापीठे एवोपपद्यते।

४. तत्र च यथा प्रतिमापुस्तकादयो भावाः स्वात्मभूतां मुख्यां देवतां प्रति प्रतिनिधिभावेनाध्यवसीयन्ते, तद्वत् स्वदेहस्यैव मुख्यतया पीठत्वम्।

५. अनुकल्पोपकल्पतया तु स्थण्डिलमण्डलादीनामङ्गीकार इति तात्पर्यार्थः।[2]

भावनोपनिषद् में व्यक्त दृष्टि—भावनोपनिषद् में भी महेश्वरानन्द की दृष्टि का पहले से प्रतिपादन मिलता है; क्योंकि शक्तिमान वहाँ कहा गया है—

१. कामेश्वरी सदानन्दघना पूर्णा स्वात्मैक्यरूपदेवता।

२. नवरन्ध्ररूपो देहो नवशक्तिमयं श्रीचक्रम्।

३. क्रियाशक्तिः पीठम्।

४. कुण्डलिनी ज्ञानशक्तिर्गृहम्।

५. ज्ञाता होता।

६. ज्ञानमर्घ्यम्।

१-२. परिमल

७. ज्ञेयं हविः। आदि।

पीठतत्त्व और उसका स्वरूप—प्रकाश और विमर्श की मात्राओं का साम्यभाव ही पीठ है। यथा—अम्बिका और शान्ता शक्तियों का साम्यभाव (सामरस्य) कामरूपपीठ है। इसी प्रकार साम्यभावस्थ अनेक पीठ हैं। पीठ आसन एवं वासस्थान को भी कहते हैं। जिस स्थान में जगन्माता अधिष्ठित हैं, उसे देवीपीठ कहते हैं।

प्राणमय कोश की सहायता से दैवी शक्ति को विकसित करने वाले या देवताओं के आसन के उपयोगी जो आवर्त बनते हैं, उन्हें पीठ कहते हैं—

> देव्याः शक्तेर्विकासस्य देवानामासनस्य वा।
> उपयोगी जायतेऽसावावर्त्तः पीठ उच्यते।।

पीठ की उत्पत्ति प्राणमय कोश में होती है। महर्षि अङ्गिरा कहते हैं—पीठस्याविर्भावः प्राणमये। (दैवीमीमांसादर्शन, स्थितिपाद सू०-१६)

पीठ दैवी शक्तियों का आसन है, जो प्राणमय कोश की सहायता से निर्मित होता है।
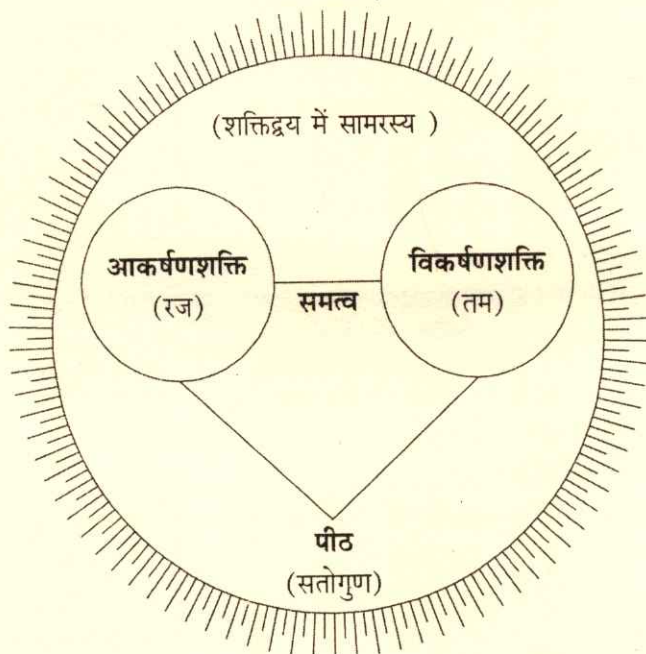
इसी पीठ पर देवता आदि शक्तियों का आविर्भाव होता है। यह देवयोनि का अधिष्ठान है।

जिस प्रकार राग और द्वेष के समन्वय से साधक के अन्तःकरण में सत्त्वगुणमूलक-तत्त्वज्ञान का उदय होता है, उसी प्रकार प्राणमय जगत् में आकर्षण और विकर्षणरूपी

दोनों शक्तियों के समन्वय से सत्त्वगुणमूलक और देवाधिष्ठानरूपी पीठ का आविर्भाव हुआ करता है। जिस प्रकार संसार के अणु-परमाणु में आकर्षण एवं विकर्षण स्थित हैं, उसी प्रकार प्राणमय जगत् में आकर्षण और विकर्षणरूपी शक्तियों के समन्वय से पीठ का आविर्भाव होता है। आकर्षण रजोमूलक है, राग रजोमूलक है। विकर्षण तमोमूलक है, द्वेष तमोमूलक है। राग और द्वेष के समन्वय से अन्तःकरण में तत्त्वज्ञान का उदय होता है।

पीठ के आविर्भाव-हेतु जो स्वाभाविक-अस्वाभाविक कौशलपूर्ण क्रिया निष्पादित की जाती है, उसे ही चक्र कहते हैं। यह मानवपिण्डरूपी पीठ उत्पन्न करने की क्षमता रखता है। मानवपीठ आवागमन-चक्र का आधार है।

ब्रह्माण्ड एवं पिण्ड के प्राणमय विभाग में जहाँ-कहीं भी आकर्षण-विकर्षण शक्तिरूपिणी परस्पर द्वन्द्वशक्तियों का समन्वय स्वतः या कौशलपूर्ण क्रिया से उत्पन्न किया जाता है; वहीं पीठ उत्पन्न हो जाता है।

सूर्यादि ग्रहों का पीठ, तीर्थादिक पीठ, नर-नारी-सम्बन्धरूप पीठ, मूर्ति, यन्त्र, चित्र आदि में स्थित उपासनापीठ आदि सभी पीठों में आकर्षण-विकर्षण शक्तियों के समन्वय से अलौकिक पीठ का आविर्भाव हो जाता है।

पीठ सत्त्वमूलक होने के कारण आनन्दप्रद है—पीठमानन्दप्रदं सत्त्वप्राधान्यात्।
(स्थितिपाद-२०)

पीठ शक्तिद्वय का सामरस्य है। सृष्टि पञ्चधा है। अतः पीठ भी पञ्चधा है। अधिष्ठान का स्थान होने के कारण पीठ उपासना में सहायक है। स्थूल एवं सूक्ष्म का संयोजक होने के कारण यह दैवजगत् का प्रमापक है और सत्त्वगुणविशिष्ट होने के कारण तीर्थ का प्रतिष्ठापक है।

पीठों की श्रेणियाँ—पीठों की अनेक श्रेणियाँ हैं; यथा—

(क) १. स्थावरपीठ, २. सहजपीठचक्र, ३. दैवीपीठ तथा ४. यौगिकपीठ।

(ख) १. उपासना पीठ (१६ भेद), २. पार्थिवपीठ (तीर्थस्थान आदि) ३. जीवयान्त्रिक पीठ (शवसाधन आदि), ४. स्थूलयान्त्रिक पीठ (प्रेतादिक सम्बद्ध), ५. सहजपीठ (ग्रहों का पीठ)।

भगवती स्वयं पीठरूपा हैं। इसीलिये ललितासहस्रनाम में भगवती त्रिपुरसुन्दरी को ५० पीठों के रूप में स्थित कहा गया है—

प्राणेश्वरी प्राणदात्री पञ्चाशत्पीठरूपिणी।

भाष्यकारों ने पञ्चाशत् (५०) पद को एकपञ्चाशत् (५१) में स्थिर किया है। योग की तान्त्रिक प्रक्रिया में पीठों की अत्यन्त रहस्यात्मक व्याख्या की गयी है। चार पीठ मुख्य हैं—

१. कामरूप पीठ　　३. उड्डीयान पीठ
२. पूर्णगिरि पीठ　　४. जालन्धर पीठ

कामरूप पीठ—अम्बिका शक्ति और शान्ता शक्ति का सामरस्य ही काम-रूप पीठ है। जब परा शक्ति अपने गर्भ में स्थित एवं अपने साथ एकीभूत विश्व (प्रकाश) को देखने हेतु उन्मुख होती है, तब मात्रावच्छिन्न शक्ति और शिव साम्यभाव में स्थित होकर एक बिन्दु के रूप में परिणत हो जाते हैं। इसके परिणामस्वरूप चैतन्य ज्योतिर्लिङ्ग के स्वरूप में प्रकट होता है। यह बिन्दु ही कामरूप पीठ है—
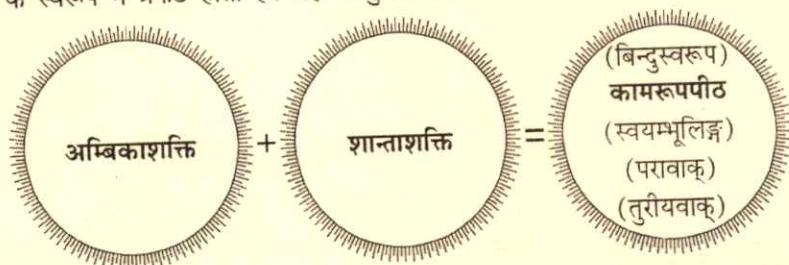
शक्त्यंश (१/२) + शिवांश (१/२) के समन्वय से कामरूप-पीठ का आविर्भाव होता है। शान्ता शक्ति (इच्छाशक्ति) + अम्बिकाशक्ति (वामा शक्ति) के योग से स्वयम्भूलिङ्ग एवं परावाक् से युक्त कामरूप पीठ का प्रादुर्भाव होता है।

पूर्णगिरि पीठ—पूर्णगिरि पीठ इच्छाशक्ति और वामाशक्ति के सामरस्य की परिणति है। इसे वाणी की दृष्टि से पश्यन्ती वाक् की अवस्था कह सकते हैं। शान्ता-शक्ति इच्छाशक्ति के रूप में एवं शिवांश अम्बिकाशक्ति वामाशक्ति के रूप में आविर्भूत होती है। इन दोनों शक्तियों के अद्वयात्मक सामरस्य से एक बिन्दु का आविर्भाव होता है। इस बिन्दु को ही पूर्णगिरि पीठ कहते हैं—

शक्त्यंश—इच्छाशक्ति एवं शिवांश—वामाशक्ति के अद्वैतभावापन्न सामरस्य से जिस बिन्दु का आविर्भाव होता है, उसकी संज्ञा है—पूर्णगिरि पीठ। इससे अभिव्यक्त चैतन्य की संज्ञा है—बाणलिङ्ग।

उड्डीयान पीठ—जब इच्छाशक्ति क्रियाशक्ति के रूप में परिणत हो जाती है और

रौद्री शक्ति के साथ सामरस्य को प्राप्त करती है तो उड्डीयान पीठ का निर्माण करती है—
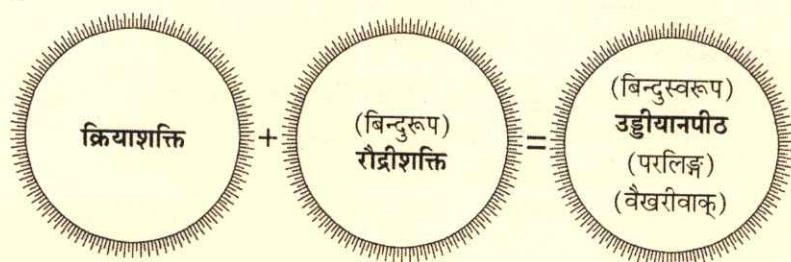
जालन्धर पीठ—ज्ञानशक्ति एवं ज्येष्ठा शक्ति का सामरस्य ही जालन्धर पीठ है। पीठों में जिन पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी का अन्तर्भाव है, वे प्रणव के अकार, उकार एवं मकारमात्र हैं। ये त्रिलोक, त्रिदेव, त्रिकाल, परावाक् के वाक्त्रय हैं।

त्रिकोणगर्भित महात्रिकोण, जिसमें बिन्दु स्थित है, विश्व का मूल है। त्रिकोण की तीनों रेखायें—पश्यन्ती-मध्यमा-वैखरी, सृष्टि-स्थिति-संहार, वामा-ज्येष्ठा-रौद्री, ब्रह्मा-विष्णु-रुद्र और इच्छा-ज्ञान-क्रिया आदि का प्रतीक हैं।

इच्छाशक्ति की परावस्था में ज्ञानशक्ति का उदय होता है। शक्त्यंश—ज्ञानशक्ति और शिवांश—ज्येष्ठाशक्ति का सामरस्य ही जालन्धर पीठरूप बिन्दु के रूप में आविर्भूत होता है।

कामरूप पीठ में दूरान्तिक, अतीतानागत एवं कार्य-कारण का व्यवधान नहीं है। यह आवरण, विक्षोभ, चाञ्चल्यातीत भूमि है। यह प्रशान्तावस्था है।

शब्द की द्वितीय भूमि में इच्छाशक्ति के उन्मेष के साथ नित्यमण्डलात्मक सृष्टि का विकास होता है। यह शक्तिगर्भ में बीजभूत विश्व की अवस्था है।

इसी भूमि से काल का प्रभाव प्रारम्भ होता है। यहाँ अक्रम नहीं, सक्रम सृष्टि है। इसी भूमि से देश और कार्य-कारणभाव का स्फुरण होता है।

इस प्रकार आध्यात्मिक-साधना में चतुष्पीठों का विशेष महत्त्व है।

परमेश्वर की पूजन-प्रक्रिया

ननु सोऽयमलौकिकः परमेश्वरः कीदृश्या प्रक्रिययोपास्य इत्याकाङ्क्षायां सानुग्रहमाह—

सो तत्थ अच्चणिज्जो विमरिसपुप्फाहिवाससुरहीहिं ।
चित्तचसअप्पिएहिं वेज्जसुहावीरपाणवत्थूहिं ॥३५॥

(स तत्रार्चनीयो विशर्मपुष्पाधिवाससुरभिभिः ।
चित्तचषकार्पितैर्वेद्यसुधावीरपाणवस्तुभिः ॥)

वह (शिव) वहाँ (पिण्डरूपात्मक पूजास्थल = पीठ में) प्रत्यभिज्ञारूप परामर्श या स्वात्मविमर्शरूप पुष्प में अवस्थित (अधिवासित) सुगन्धियों से (अभिमन्त्रित) चित्तरूप प्याले द्वारा अर्पित विश्वपदार्थात्मक अमृत से अर्चनीय है।।३५।।

सः वेदागमादिप्रसिद्धस्वभावः परमेश्वरः, तत्र पिण्डात्मनि पीठे पूजनीयः। पूजायां च वेद्यमयी या सुधा सर्वेन्द्रियाह्लादकत्वादत्यन्तस्वीकार्या, सा स्वभावत एकापि सती भयशोकहर्षाद्यवस्थावैचित्र्यादम्लतिक्तमधुरादिप्रायानेकरसविशेषोपश्लेषिणी वीरस्य परभैरवस्य वीरायाश्च स्वातन्त्र्यमय्यास्तत्प्रधानशक्तेः, वीराणां योनितत्सिद्धादिरूपाणां भैरवमिथुनानां च पीयते स्वात्मसात्क्रियत इति व्युत्पन्नानां श्रीमच्चतुस्त्रोतोगोप्यमानानां वस्तूनां विश्वविलासासवोपलक्षितानां द्रव्याणां प्रकृष्टतया पूजाङ्गत्वेनोपयुज्यते। ततश्च यानि तानि वेद्यामृतमयानि कुलद्रव्याणि तान्येव पूजासाधनानीत्यर्थः। तानि च स्वचित्तात्मनि चषके ग्रहणयुक्त्या कयाचिदर्पणीयानि। चित्तस्य चषकत्वं च तत्र तत्र बहुप्रवाहं प्रसर्पतां वेद्यवस्तूनां स्वात्मभैरवस्यैकयैव हेलया तद्ग्रहणसौकर्योपायत्वात्। विश्ववर्तिनो हि भावा बहिर्भिन्नप्रकारं स्फुरन्तस्तत्तदिन्द्रियपरिस्पन्दोपगृह्यमाणस्वभावाः क्षणं चित्ते विश्रम्य पश्चात् तत्प्रणाडिकया भैरवात्मन्यनुप्रविशन्तीत्यतिसुभगेयं सरणिः। यदुक्तं श्रीमहानयप्रकाशे—

भावा वृत्तिषु ताश्चित्ते चित्तं संविदि सा परे ।
व्योम्न्यस्तङ्गमितो यत्र क्रम उल्लङ्घनात्मकः ।। इति।

अथ च तानि वस्तूनि परेश्वरं प्रति स्वात्मतया यो विमर्शः प्रत्यभिज्ञानात्मा परामर्शः, स एव पुष्पम्, स्वभावपोषकत्वात् श्रीगुरुरूपत्वाच्च। तेन मन्त्रशक्त्यात्मना सुरभीकर्तव्यानि, अन्यथा पर्युषितादाविव तत्र शास्त्रार्थभङ्गप्रसङ्गात्। एतदुक्तं भवति—पूर्वं तावत् पीठतया देहमभ्यर्च्य तन्मध्ये हृदयव्योमरूपे स्वात्मरूपमहाप्रकाशलक्षणं परमेश्वरमनुसन्धाय, तमभितः प्रसरन्तीरिन्द्रियशक्तीश्च विचिन्त्य, तदनु सर्वान्तःकरणसमष्टिलक्षणे स्वचित्ते विश्ववेद्यविलासलक्षणमर्घ्यद्रव्यमापूर्य,

तच्च पारमेश्वरपरामर्शमय्या मन्त्रशक्त्या संस्कृत्य, तेनैव कुलामृतेन निजावरण-देवतापरिमण्डलितोऽयं परमेश्वरः पूजनीय इति। अयं च सङ्कोचविकासयोगादे-कारमारभ्याऽसङ्ख्यारपर्यन्तमागमेष्वर्चनीयतया आम्नायते। यदुक्तं श्रीतन्त्रालोके—

> **एकवीरो यामलोत्थस्त्रिशक्तिश्चतुरात्मकः ।**
> **पञ्चमूर्तिः षडात्माऽयं सप्ताष्टकविभूषितः ।।**
> **नवात्मा दशदिक्शक्तिरेकादशनिजात्मकः ।**
> **द्वादशारमहाचक्रनायको भैरवः स्थित ।।**
> **एवं यावत् सहस्रारे निस्संख्यारेऽपि वा विभुः ।**
> **विश्वचक्रे महेशानो विश्वशक्तिर्विजृम्भते ।। इति।**

एतत्तात्पर्येणैव स्रोतश्चतुष्टयोपपादितानां पद्धतीनां प्रवृत्तिरित्येतावन्मात्र-पर्यवसायि पूजारहस्यम्। बाह्यस्तु प्रसूनाक्षतासवधूपदीपघण्टादिस्वभावः प्रपञ्चोऽस्माभिः 'अधिकं नैव दुष्यति' इति न्यायादाद्रियत इति। एतदुपर्यप्या-लोचयिष्यते।।३५।।

परमेश्वर के पूजन की प्रक्रिया—पहले शरीर को पीठ के रूप में पूजकर फिर उसके मध्य हृदय-व्योम में स्वात्मारूप परमेश्वर का संधान करके, उसके चतुर्दिक इन्द्रिय-शक्तियों का चिन्तन करके, फिर (अन्तःकरणात्मक) चित्त में विश्वरूप वेद्य के विलास के अर्घ्य को भरकर और उसे पारमेश्वर परामर्श से युक्त मन्त्रशक्ति से संस्कारित करके उस कुलामृत से अपने आवरण देवताओं से परिमण्डलित परमेश्वर की पूजा करनी चाहिये।

चित्तचषक = चित्तरूप प्याला (अमृत से भरा प्याला)। शरीर = शरीर ही पूजास्थल या पीठ है। अर्घ्य = विश्व वेद्य विलास, अधिवास = महासुगन्ध, इत्र, निवासस्थल। पूजोपकरण = विश्ववैचित्र्य विलास में प्रवाहित भाव। सुधा = वेद्यमयी सुधा। पुष्प = प्रत्यभिज्ञारूप परामर्श। स्वात्म विमर्श रूप पुष्प। वीर = परभैरव। अर्चना = मान्त्री शक्ति से अभिमन्त्रित। अधिवासित = पुष्प की सुगन्धों से की जाने वाली पूजा। सः = परमेश्वर। तत्र = पिण्ड में।

यहाँ विश्वविलास का आसव ही द्रव्य एवं पूजाङ्ग है। पाण = व्यवसाय, व्यापार, इकरारनामा, हाथ, प्रशंसा, खेल, खेल का दाँव।

सुधा = समस्त इन्द्रियों को आह्लाद प्रदान करने वाली तथा पूजा में वेद्यमयी। यद्यपि वह स्वभाव में एकरूपा है तथापि भय-शोक-हर्ष आदि अवस्थावैचित्र्य के कारण अम्ल-तिक्त-मधुर आदि अनेक रस विशेषोपश्लेषिणी सुधा।

वीरस्य = परमभैरव का। वीरायाः = स्वातन्त्र्यमयी शक्ति का। वीराणां = भैरव-मिथुन का।

यहाँ पूजाङ्ग कौन है? विश्वविलासोपलक्षित द्रव्य ही पूजाङ्ग है—विश्वविलासासवोपलक्षितानां द्रव्याणां प्रकृष्टतया पूजाङ्गत्वेनोपयुज्यते।

वेद्य = अमृतमय कुलद्रव्य ही पूजा के साधन हैं—वेद्यामृतमयानि कुलद्रव्याणि तान्येव पूजासाधनानि।

चषक क्या है? चित्त ही चषक है—स्वचित्तात्मनि चषके ग्रहणयुक्त्या कयाचिदर्पणीयानि। चित्तस्य चषकत्वम्।

यही पूजा स्वात्म भैरव ग्रहण करते हैं।

सारे विश्ववर्ती भाव अनेक प्रकार के हैं। ये स्व-स्व सम्बद्ध इन्द्रियों के परिस्पन्द हैं। ये क्षण भर चित्त में विश्राम लेकर फिर भैरवात्मा में प्रविष्ट हो जाते हैं।

महानयप्रकाशकार की दृष्टि—महानयप्रकाश में कहा गया है—

भावा वृत्तिषु ताश्चित्ते चित्तं संविदि सा परे।
व्योम्न्यस्तङ्गमितो यत्र क्रम उल्लङ्घनात्मकः।।

पुष्प क्या है? समस्त वस्तुएँ परमेश्वर के प्रति स्वात्मतया विमर्श (प्रत्यभिज्ञानात्मा परामर्श) के रूप में अर्पित होने पर पुष्प ही की आख्या प्राप्त करती हैं—अथ च तानि वस्तूनि परमेश्वरं प्रति स्वात्मतया यो विमर्शः प्रत्यभिज्ञानात्मा परामर्शः, स एव पुष्पम्।

निष्कर्ष—पीठतया देहमभ्यर्च्य तन्मध्ये हृदयव्योमरूपे स्वात्मरूपमहाप्रकाशलक्षणं परमेश्वरमनुसन्धाय, तमभितः प्रसरन्तीरिन्द्रियशक्तीश्च विचिन्त्य तदनु सर्वान्तःकरणसमष्टिलक्षणे स्वचित्ते विश्ववेद्यविलासलक्षणमर्घ्यद्रव्यमापूर्य, तच्च पारमेश्वरपरामर्शमय्या मन्त्रशक्त्या संस्कृत्य, तेनैव कुलामृतेन निजावरणदेवतापरिमण्डलितोऽयं परमेश्वरः पूजनीय इति।[१]

तन्त्रालोककार की दृष्टि—अभिनवगुप्तपादाचार्य तन्त्रालोक में कहते हैं—

एकवीरो यामलोत्थस्त्रिशक्तिश्चतुरात्मकः।
पञ्चमूर्तिः षडात्माऽयं सप्ताष्टकविभूषितः।।
नवात्मा दशदिक्शक्तिरेकादश निजात्मकः।
द्वादशारमहाचक्रनायको भैरवः स्थितः।।
एवं यावत् सहस्रारे निस्संख्यारेऽपि वा विभुः।
विश्वचक्रे महेशानो विश्वशक्तिर्विजृम्भते।।

यहाँ चतुष्टयोपपादित पद्धतियों को भी पूजा में अन्तर्गृहीत किया गया है।

परिमलकार की दृष्टि—बाह्यपूजा तो प्रसून, अक्षत, आसव, धूप, दीप, घण्टा आदि की अपेक्षा रखती है; किन्तु वास्तविक पूजा तो इत्याकारक ही है—

१. परिमल

स तत्रार्चनीयो विमर्शपुष्पाधिवाससुरभिभिः।
चित्तचषकार्पितैर्वेद्यसुधावीरपाणवस्तुभिः ।।[१]

परमेश्वर शिव इस अण्डरूप निज पिण्डपीठ में अर्चनीय है, अन्यत्र नहीं। इस अर्चना में वेद्यमयी सुधा जो भय-शोक-हर्ष आदि अवस्थाओं के वैचित्र्य से अम्ल, तिक्त एवं मधुरप्राय है, समस्त इन्द्रियों को आह्लादित करने से परमानन्दमयी, एकरसमयी एवं कुलामृतस्वरूपिणी है और जिसे उन-उन आवरणदेवतारूपा शक्तियों के साथ परमभैरव द्वारा आत्मसात् किया जाता है।

चित्त ही इस अमृत पदार्थ के पानार्थ चषक है। विश्ववैचित्र्यात्मक विलास में प्रवाहित भाव ही अन्तःप्रविष्ट होकर शिव की पूजा के द्रव्य में पूजोपकरण है। परमेश्वर के प्रति स्वात्मरूप विमर्श या प्रत्यभिज्ञात्मक परामर्श ही पुष्प है। इसकी अर्चना मान्त्री शक्ति से अभिमन्त्रित एवं अधिवासित सुमन-सौरभों से निष्पन्न की जाती है। पीठ (पूजा स्थल) के रूप में शरीर ही अभ्यर्चनीय है। हृदयाकाश में ही परमेश्वर का सन्धान करना है।[२]

इन्द्रिय शक्तियों का ध्यान करके सर्वान्तःकरण समष्टिरूपात्मक स्वचित्त में विश्ववेद्य-विलासरूप अर्घ्य द्रव्य आपूरित करके उसे पारमेश्वर मान्त्री शक्ति से संस्कारित करके उसी कुलामृत से निजावरण देवता परिमण्डलित परमेश्वर की अर्चना करनी चाहिये।

परमेश्वर की पूजा आङ्गिक-प्रदर्शन, शारीरिक व्यापार, भौतिक वस्तुओं का समर्पण आदि नहीं है; प्रत्युत भाव-समर्पण है; अतः उनकी पूजा-अर्चना का भी वही स्वरूप होना चाहिये। इसीलिये शास्त्रकारों ने भगवान् की पूजा के रहस्यों पर भी गम्भीरतापूर्वक चिन्तन-मनन करते हुये प्रत्येक पूजाङ्ग को प्रतीकात्मक एवं भावनात्मक रूप में स्वीकार किया है। उनके पीछे वैज्ञानिक पृष्ठभूमि प्रस्तुत की है, यथा—जप को ही ले लीजिए।

आचार्य सोमानन्दपाद की दृष्टि—

(क) जप का स्वरूप—

सन्ततं शक्तिसन्तानप्रसरेण सदैव मे।
अनिरुद्धो जपोऽस्त्येव सर्वावस्थास्वसौ जपः।।
नानाकारैः सदा कुर्वन्नुदयन् सर्ववस्तुगः।
अभ्यासेनास्मि सोऽप्यत्र जपः परम उच्यते।।
सो हि नाम जपो ज्ञेयः सत्यादिस्त्रिविधो हि सः।

(ख) ध्यान का स्वरूप—

ध्यानं नामात्र यत्सर्वं सर्वाकारेण लक्ष्यते।
भावनाचक्षुषा साध्वी सा चिन्ता सर्वदर्शिनी।

१. महार्थमञ्जरी २. परिमल

येन येनेन्द्रियेणार्थो गृह्यते तत्र तत्र सा।
शिवता लक्षिता सत्या तद्ध्यानमपि वर्ण्यते।।
यस्यां यस्यां प्रतीतौ तु शिवोऽस्मीति मनोगमः।
तस्यां तथैव चिन्तायां तद् ध्यानमपि जल्पितम्।।

(ग) योग का स्वरूप—

यस्मिन्नर्थे सदा त्यागो गच्छतस्तिष्ठतोऽपि वा।
धावतः खादितो वाऽपि स योगः परमयोगिनः।।

(घ) ध्यान का भावनात्मक समावेशात्मक स्वरूप—सोमानन्दपाद कहते हैं कि शाक्तोपाय एवं शाम्भवोपाय में परमात्मा की पूजा-अर्चना स्वयं परमात्मस्वरूप हो जाती है; क्योंकि उस समय पूजक एवं अर्चक परमात्मा से तादात्म्यभाव प्राप्त करके इस प्रकार ताद्रूप्यभावापन्न हो जाता है और सर्वत्र शिवभावापन्न हो उठता है—

१. स्थितोऽहं परमः शिवः।
२. प्रतिपादितमेतावत् सर्वमेव शिवात्मकम्।
३. भवति शिवमयात्मा सर्वभावेन सर्वः।
४. शिवोऽस्मि साधनाविष्टः शिवोऽहं याजकोऽप्यहम्।
५. शिवं यामि शिवो यामि शिवेन शिवसाधनः।[१]
६. भिन्नोऽप्यभिन्न एवास्मि शिव इत्थं विचेष्टनम्।
७. शिवो भोक्ता शिवो भोज्यं शिवेषु शिवसाधनः।
८. शिवः कर्ता शिवः कर्म शिवोऽस्मि करणात्मकः।
शिव एव कलावस्था व्यापार इति साधुषु।।
९. स्थिते शिवत्वे बद्धास्थो भवेत् सर्वगतः शिवः।[२]

इसी स्थिति में विश्वात्मैक्य की भी अनुभूति होती है और योगी अनुभव करता है कि—

सोऽहं ममायं विभव इत्येवं परिजानतः।
विश्वात्मनो विकल्पानां प्रसरेऽपि महेशता।।

* * * * * * *

स्वात्मैव सर्वजन्तूनामेक एव महेश्वरः।
विश्वरूपोऽहमिदमित्यखण्डामर्शबृंहितः ।।[३]

ऐसे योगियों के लिये जगत् परमात्मा की एक क्रीडा है।

जीवन्मुक्ति का स्वरूप—भट्टकल्लट स्पन्दकारिका में कहते हैं कि जगत् जुगुप्सा,

---

१. सोमानन्द—शिवदृष्टि २. शिवदृष्टि ३. उत्पलदेव—प्रत्यभिज्ञाकारिका

त्याग या अवसाद का विषय नहीं है। यह योगियों के लिये केवल एक क्रीड़ा है और उनकी यही अनुभूति जीवन्मुक्ति है—

इति वा यस्य संवित्तिः क्रीडात्वेनाखिलं जगत्।
स पश्यन् सर्वतो युक्तो जीवन्मुक्तो न संशयः।।[1]

इसी धरातल पर तन्त्रराजतन्त्र में कहा गया था कि देवता किसी बाह्य लोक का निवासी नहीं है, वह तो अत्यासन्न है।

तन्त्रराजतन्त्रकार की दृष्टि—देवता का सन्धान बाहर करना व्यर्थ है; क्योंकि—

स्वात्मैव देवता प्रोक्ता ललिता विश्वविग्रहा।

इसीलिये सनत्कुमारसंहिता में कहा गया है कि बाह्य पूजा यथार्थतः पूजा ही नहीं है; अतः बाह्य पूजा करनी ही नहीं चाहिये।

सनत्कुमारसंहिताकार की दृष्टि—सनत्कुमारसंहिताकार कहते हैं—

बाह्यपूजा न कर्तव्या कर्तव्या बाह्यजातिभिः।
सा क्षुद्रफलदा नृणां ऐहिकार्थैकसाधनम्।।

बाह्य पूजा प्रापञ्चिक लाभमात्र के लिये होने के कारण क्षुद्रफला है।

शंकराचार्य की दृष्टि (यथार्थ पूजा का स्वरूप)—

जपो जल्पः शिल्पं सकलमपि मुद्रा विरचना
गतिः प्रादक्षिण्यक्रमणमशनाद्याहुतिविधिः।
प्रणामः संवेशः सुखमखिलमात्मार्पणदृशा
सपर्यापर्यायस्तव भवतु यन्मे विलसितम्।।[2]

अर्चना का रहस्य

अथार्चनारहस्यस्योन्मीलितत्वात् क्रमेणार्च्यदेवताचक्ररहस्यमप्युद्भावयितु-मादावुद्देशमुपन्यस्यति—

सिरिपीठपञ्चवाहअणेत्तत्तअविन्दचक्कए मरह।
मरह अ गुरुणं पन्तिं पञ्च अ सत्तीओ सिट्ठिपमुहाओ ।।३६।।

(श्रीपीठपञ्चवाहनेत्रत्रयवृन्दचक्राणि स्मरत।
स्मरत च गुरूणां पङ्क्तिं पञ्च च शक्तीः सृष्टिप्रमुखाः।।)

श्रीपीठ, पाँच महाशक्तियाँ (पञ्चवाह), नेत्रत्रय एवं वृन्दचक्र का चिन्तन करना चाहिये तथा गुरुमण्डल एवं पाँच प्रमुख शक्तियों (सृष्टि, स्थिति, संहार, अनाख्या एवं भासा) का चिन्तन करना चाहिये।।३६।।

---

१. स्पन्दकारिका (३०) २. सौन्दर्यलहरी (२७)

श्रीपीठं पञ्चवाहो नेत्रत्रयं वृन्दचक्रमिति यानि चक्राणि तानि स्मरत परामृशत। यत्प्राधान्येनैषामावर्जनीयतया परामर्शः, तां श्रीगुरुनाथानां पङ्क्तिं च स्मरत। गुरुमण्डलप्राधान्यद्योतनाय पुनरपि स्मरतेत्युक्तम्। सृष्टिप्रमुखाः पञ्च शक्तीश्च स्मरत, या सृष्टिः स्थितिः संहारोऽनाख्या भासेति भिद्यन्ते। श्रीपीठेति तस्य पूज्यतोत्कर्षेण महत्त्वं द्योत्यते। महत्त्वं च तदोड्याणादीनामवान्तरपीठत्वेऽपि सर्वप्रतिष्ठाभूमितया प्रधानपीठत्वात्। इयं चाल्पैरेवाक्षरैर्मन्त्रबीजवदनेकार्थोपपादनसमर्था तत्तच्चक्रक्रमानुक्रमणिकारहस्योपदर्शिनी वक्ष्यमाणसर्वदेवताविकल्पसंग्रहप्राधान्यादुद्देशलक्षणा गाथा। यथेयमकृत्रिमा महाम्नायोक्तिः—

यत्पीठचक्रार्चितपञ्चवाहप्रकाशमानन्दखमूर्तिचक्रम् ।
अष्टाष्टचक्रं प्रविराजते तद् गुरुक्रमौघं सचतुष्टयार्थः ।। इति।

स्मरत, स्मरत—गुरुमण्डल का प्राधान्य प्रदर्शित करने हेतु गाथा में स्मरत (स्मरण करो) शब्द की द्विरुक्ति की गई है।

पीठ = पीठों में तो ओड्याण पीठ आदि अनेक पीठ हैं; किन्तु वे सभी पीठ श्रीपीठ की तुलना में उनके समकक्ष (समतुल्य) नहीं हैं।

परमेश्वर की स्फुरणधारायें ही पाँच महाशक्तियाँ हैं और वे ही 'पञ्चवाह' कही गई हैं।

इस गाथा में कहा गया है कि श्रीपीठ, पञ्चवाह, नेत्रत्रय, वृन्दचक्र आदि जो चक्र हैं, उनका सतत परामर्शन करते रहना चाहिये। श्रीगुरुनाथों की भी पंक्ति का स्मरण करते रहना चाहिये। गुरुमण्डल का प्राधान्य प्रदर्शित करने के लिये स्मरत-स्मरत दो बार कहा गया है।

सृष्टि में पाँच शक्तियाँ प्रधान हैं, उनका भी स्मरण करते रहना चाहिये।

पाँच शक्तियाँ—

१. सृष्टि ३. संहार ५. भासा
२. स्थिति ४. अनाख्या

ओड्याण आदि अन्य पीठ श्रीपीठ के समतुल्य महत्त्व नहीं रखते। महाम्नाय में कहा गया है—

यत्पीठचक्रार्चितपञ्चवाहप्रकाशमानन्दखमूर्तिचक्रम् ।
अष्टाष्टचक्रं प्रविराजते तद् गुरुक्रमौघं सचतुष्टयार्थः।।

भासा शक्ति—महेश्वरानन्द जी ने गाथाक्रमाङ्क ४१ में कहा है कि सृष्टि की पाँचवीं कला भासा है। इसमें क्रम का नियम नहीं है। भासा तो सृष्टि का मूल कन्द है। भासा का पल्लव—प्रारम्भिक स्फुरण ही सृष्टि का आरम्भ है—

सृष्टेः पञ्चम कला भासेति जनो गणयति व्यवधानम्।
सृष्टेर्मूलकन्दो भासा भासायाः पल्लवः सृष्टिः।।[१]

एकमात्र एवं कलाओं से अतीत परमेश्वर की सर्वानुग्रहमयी, सर्वोत्तीर्ण एवं सर्वमयी भासा शक्ति में विकल्प स्फुरित नहीं होता। यदि प्रतिबिम्बगत कोई शक्ति स्फुरित होती है तो वह कोई विशिष्ट और षोडश विकारातीत सत्रहवीं शक्तिमात्र है—

भासायां न विकल्पः स्फुरति निष्कलश्रियाम्।
यदि प्रतिबिम्बतया स्फुरति परं षोडशाधिका देवी।।

भासा शक्तिमय भगवान् ही गुरु है। वह गुरुमयी है। वह सर्वव्यापिका है। इसी शक्ति में मातृमेयात्मक जगत् प्रतिबिम्बरूप में भासित होता है। यह शक्ति स्वातन्त्र्यस्वरूपिणी है। इसमें सृष्टि, स्थिति, संहार एवं अनाख्य आदि के विभाग नहीं हैं। यह विकल्पशून्या और सर्वानुग्रहमयी शक्ति है।

अनाख्य शक्ति में सृष्टि, स्थिति, संहार एवं भासा चार कलायें हैं। भासा शक्ति में ये विभाग या विकल्प नहीं हैं। भासा शक्ति निष्कल है। भासा परमेश्वर की परम स्वतन्त्र शक्ति है। यह चिच्छक्ति है। यह क्षोभरहित है।

सृष्टि के बाद स्थिति, संहार, अनाख्य का क्रम है। इसके बाद ही आती है— भासा शक्ति। प्रचलित क्रम निम्नानुसार है—

१. सृष्टि-स्थिति २. सृष्टि-संहार ३. सृष्टि-भासा। भासा शक्ति परमेश्वर की तत्त्वरूपिणी परम स्वतन्त्र चिच्छक्ति है। सृष्टि तो भासा का स्फुरणमात्र है।

सृष्टि की आदिभूमि भासा शक्ति है। भासा कला का सबसे प्रथम स्फुरण होता है; अतः यह सृष्टि का मूल कारण है।

भासा संवित् चिच्छक्ति (ज्ञान कला) के परामर्श (स्फुरण) का परम चमत्कार है। विश्व-प्रतिबिम्ब में अनुप्रविष्ट प्रपञ्चस्वभाव क्रम में पञ्चम है और क्रम में १. सृष्टि २. स्थिति ३. संहार ४. अनाख्य (इसके बाद पाँचवीं शक्ति है) ५. भासा। यही क्रम-विमर्श ही जीवन्मोक्ष है।

श्रीक्रमसद्भावकार की दृष्टि—श्रीक्रमसद्भावकार का कथन है—

ज्ञानं सृष्टिं विजानीयात् स्थितिर्मन्त्रः प्रकीर्तितः।
संहारं तु महाकालमेलापं परमं विदुः।
अनाख्यं शक्तिरूपं तु भासाख्यं शम्भुरूपकम्।
पञ्चप्रकारमेतद्धि विज्ञेयं तत्त्वदर्शिभिः।।

१. महार्थमञ्जरी (४१)
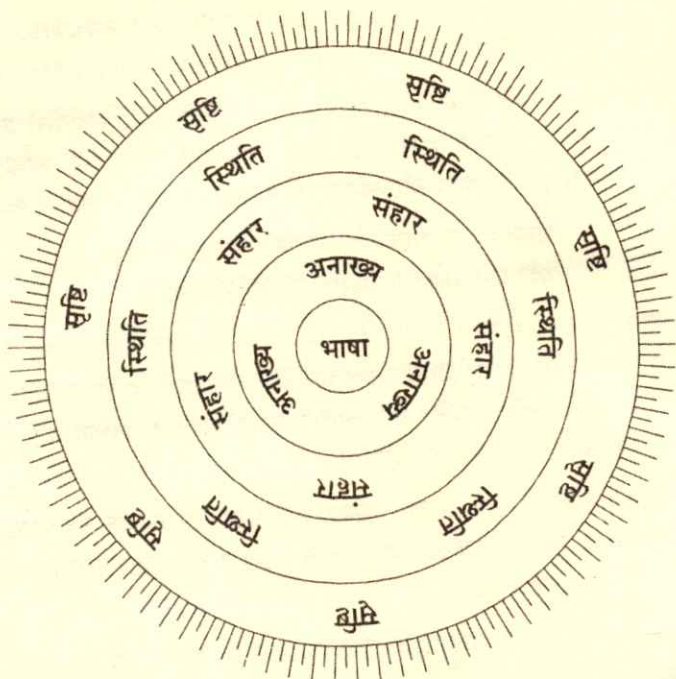
इस गाथा में पीठ क्या है? महेश्वरानन्द कहते हैं—पीठं हि नाम स्वशरीरभट्टार-कात्मकमित्युक्तम्। तत्रैव परमेश्वरस्य पञ्चधा वहनात्।

पीठपरामर्श की प्रधानता को रेखाङ्कित करने के लिये दूतीजन का महत्त्व भी प्रतिपादित किया गया है—

> स्त्रियः सर्वेषु वर्णेषु योगिन्यः स्युर्न संशयः।
> देहवद् योनिशुद्धिस्तु आत्मवल्लिङ्गशोधनम्।।
>
> * * * * * * *
>
> शिवशक्त्यात्मभावेन पुरुषो मन्थकः स्मृतः।
> मन्थयेदात्मनः शक्तिं मधुवच्छुल्कशोणितम्।।

वाह किसे कहते हैं? वाहाः परमेश्वरस्य स्फुरणधाराः।

ये संख्या में पाँच हैं। 'पदवी' इन्हीं पञ्चवाहों से युक्त 'पदवी'—विश्वगमाग-मस्थानभूता प्रवृत्ति। कलायें पाँच हैं।

व्योमवामेश्वरी खेचरी **वाह** दिक्चरी गोचरी भूचरी

व्योमवामेश्वरी संज्ञा नादभूमिश्च खेचरी।

आनन्ददिक्चरी संज्ञा गोचरी मन्त्रभूमिका।
मन्त्राणां द्रव्यरूपत्वादावलिर्भूचरी तथा।।

१. व्योमवामेश्वरी = व्योम्नामोमात्मकप्रणवरूपताविमर्शवैशिष्ट्यानुप्राणनानां वक्ष्यमाण-सर्वपञ्चकात्मानां वामं वमनं प्रतीश्वरी सामर्थ्यशालिनीति व्योमवामेश्वरी।

चिच्छक्ति = सा च परमेश्वरस्य विकल्पभूम्यनुप्रविष्टा चिच्छक्तिः।

२. खेचरी = खे बोधरूपे प्रमातरि चरणात् खेचरी।

३. दिक्चरी = दिक्ष्वन्तःकरणेषु चरतीति दिक्चरी।

४. गोचरी = गोषु बहिरिन्द्रियेषु सञ्चरणाद् गोचरी।

५. भूचरी = भुवि विषयभूमौ चरणाद् भूचरीति।

अन्य शक्तियाँ = चिदानन्देच्छाज्ञानक्रियाख्याः शक्तयः परा सूक्ष्मा पश्यन्ती मध्यमा वैखरीति वाग्रूपाश्चानुभूयन्ते (परिमल)।

शरीररूपात्मक महापीठ

अथ श्रीचक्रं क्रमेणोन्मुद्रयिष्यन्नादौ पीठनिकेतनादि नेत्रत्रितयान्तं विभागद्वारा पर्यालोचयति—

पीठम्मि कलाओ णव पञ्चच्चिअ पञ्चवाहपअवीए।
सत्तदह फालणेत्ते वारह छोलह अ अण्णणेत्तेसुं ॥३७॥

(पीठे कला नव पञ्चैव पञ्चवाहपदव्याम्।
सप्तदश फालनेत्रे द्वादश षोडश चान्यनेत्रयोः।।)

शरीररूप पीठ (पूजास्थान) में नव कलायें (शक्तियाँ) स्थित हैं। विश्वगमागमस्थानमयी प्रवृत्ति ही पदवी है, जिसमें पञ्चवाह शक्तियाँ अधिष्ठित हैं। मस्तकनेत्र में सत्रह कलायें हैं और दक्षिणवर्ती नेत्र में बारह एवं वाम नेत्र में षोडश कलायें या शक्तियाँ स्थित हैं।।३७।।

पीठं हि नाम स्वशरीरभट्टारकात्मकमित्युक्तम्। तत्रैव परमेश्वरस्य पञ्चधा वहनात्। यदेतत्पर्यालोचनायामन्योन्यानन्दसंघट्टनोन्मुखमातापितृस्वभावाभिन्न-शक्तिशिवद्वितयसामरस्योन्मिषत्स्त्रीपुंसवीर्यस्फुरत्तारब्धत्वनैयत्यादुपर्युद्भविष्य-दनेकदेवताचक्रोर्मिपरम्परास्फारौचित्यमत्रैवेत्यध्यवसीयते। तदुक्तं श्रीमहानय-प्रकाशे—

शिवशक्त्युभयोन्मेषसामरस्योद्भवं महत्।
वीर्यं तस्माद् देह एव महापीठः समुद्गतः।। इति।

एवं पीठपरामर्शस्य प्राधान्यं प्रतिपादयितुं ह्यादौ दूतीयजनमारम्भणीयतयो-

द्भाव्यते। यथा श्रीक्रमोदये—

स्त्रियः सर्वेषु वर्णेषु योगिन्यः स्युर्न संशयः।
देहवद् योनिशुद्धिस्तु आत्मवल्लिङ्गशोधनम्।।
योनौ नवाक्षरीं न्यस्य लिङ्गे सप्तदशाक्षरीम्।
गुरुचक्रस्य पूजार्थं कुर्याद् योगिनिमेलनम्।।
नवाक्षर्या तु मन्त्रेण स्थापयेल्लिङ्गपीठवत्।
विश्वशक्त्यात्मभावेन पुरुषो मन्थकः स्मृतः।।
मन्थयेदात्मनः शक्तिं मधुवच्छुल्कशोणितम्।। इति।

यथा चोपनिषदि—'यथैवं विद्वान् मिथुनमुपैत्यग्निहोत्रमेव तस्य हुतं भवति' इति। तत्र च कलाः शक्तयो नव। परमेश्वरस्य स्त्रीपुंसादिभेदव्युदासेन सर्वस्यापि शक्तिमयत्वात् कला इत्युक्तम्। ताश्च पर्यालोच्यमानाः प्रमात्रंशमयः कश्चिदाद्यः स्पन्दः। तदनु तस्यैवोपरि प्रसरणौन्मुख्यरूपा शक्तिः काचित्। अथ तस्य प्रमाण-स्फुरणरूपः कश्चिदिन्द्रियमयः परिस्पन्दः। ततश्च वस्तुव्यवस्थापनात्मिका तत्स्फुरत्ता। पश्चात् प्रमेयोल्लासः। प्रमेयवर्गश्च सूक्ष्मेक्षिकया परीक्ष्यमाणो भूतपञ्चकान्तर्भाव-मेवानुभवति। भूतानि चात्र—आकाशः, पृथिवी, वायुः, तेजः, आप इति क्रमादु-पास्यन्ते। तत्र च प्रारम्भ एव स्वात्मनश्चिद्रूपतापरामर्शः। तदनु तस्य स्थैर्योत्पादनम्। तदुद्योगरूपस्पन्दानुवृत्तिः। ततस्तस्यैवोज्ज्वलीकरणम्। ततश्च स्वविश्रान्तिलक्षण-माप्यायितत्वं चेति क्रमविवक्षा। एवञ्च प्रमाता, प्रमाणम्, पञ्चविधं च प्रमेयं पीठनिकेतनमित्यर्थो भवति। अन्ये पुनरेतत्पीठश्मशानक्षेत्रेशमेलापयजनभेदात् पञ्च प्रकारतयोपासते। नवात्मकत्वेऽप्यस्य प्रमातृप्रमाणोपगृहीतव्योमादिपञ्च-कस्वभावत्वात् पञ्चवाहचक्रतादात्म्यं न किञ्चिदप्यतिक्रम्यते। यद्वा प्रमाता कश्चित्, तच्छक्तिश्च प्रमारूपा, तदुपकरणं च प्रमाणम्, वस्तुव्यवस्थापनात्मिका च तद्वि-जृम्भा, तत्क्रोडीकार्यं पञ्चविधं प्रमेयजातं चेत्यनयापि भङ्ग्या पञ्चप्रकारतैव प्रत्याय्यते। एवञ्च—

आकट्योराकन्धरमादोष्णोरा च नाभिसीमान्तम्।
षट्कोणं यच्छरीरं संवित्पीठं त्रिकोणसाम्यं तत्।।

इति स्थित्या स्वशरीरस्यैव पीठतयोपासनं प्राक् कर्तव्यम्। तदनु वक्ष्यमाणा-नामुपचारः कर्तव्य इत्युक्तं भवति। अत्र च गणपतिवटुकादिदेवतानां नामोपादानं तेषां च तत्तदर्थानुगुण्येन निर्वचनं च क्रियमाणं ग्रन्थगौरवमत्यन्तरहस्योन्मील-नदोषमप्युन्मेषयिष्यतीति संक्षिप्तेनैव पथा प्रस्थीयते। यथा श्रीमहानयप्रकाशे—

धामादित्रितयेनैव वक्त्रभङ्गभयान्मनाक्।
प्रकाश्यते मया सम्यक् वाक्यैरविषमाशयैः।। इति।

यथा श्रीक्रमसद्भावेऽपि—

गोपनीयानि नामानि चोरेभ्यो द्रविणं यथा ।
गोपनात् पालयन्त्येव मूर्तयस्तु महार्थतः ।। इति।

विवेकिनां तु गण्यते संख्यायत इति गणः षडध्वा भोगरूपोल्लासः, तं पाति रक्षतीति गणपतिरित्यादिप्रक्रिययाऽत्यन्तसुखसाध्योऽयं निरुक्तिप्रकारः। यतस्त एवाहुः—'अप्यक्षरवर्णसामान्यन्निर्ब्रूयाद्, न त्वेव न निर्ब्रूयात्' इति। पञ्चैव पञ्चवाह-पदव्यामिति। वाहाः परमेश्वरस्य स्फुरणधाराः। ताश्च पञ्च, अन्यूनानतिरेकित-योपलभ्यमानत्वात्। तन्मयी च या पदवी विश्वगमागमस्थानभूता प्रवृत्तिः। ताः पञ्चैव कला इत्यन्वयः। एवकारेण पञ्चवाहशब्दस्यान्वर्थतोच्यते। ते च वाहा व्योमवामेश्वरी, खेचरी, दिक्चरी, गोचरी, भूचरीति च भवन्ति। अन्ये पुनरासां क्रमं गोदिग्भूरूपं भूदिग्गोरूपं चाचक्षते। तत्र तत्सम्प्रदायानुगुण्यात् तन्निरुक्तिरूह्या। अस्मत्क्रमस्तु निर्दिष्टक्रम एव। यथा श्रीक्रमसिद्धौ—

व्योमवामेश्वरीसंज्ञा नादभूमिश्च खेचरी ।
आनन्ददिक्चरीसंज्ञा गोचरी मन्त्रभूमिका ।
मन्त्राणां द्रव्यरूपत्वादावलिर्भूचरी तथा ।। इति।

मयाऽप्युक्तं श्रीकोमलवल्लीस्तवे—

भूतले किमथ किं गवां कुले दिङ्मुखेषु किमथो किमम्बरे ।
किं ततोऽप्युपरि सर्वतश्च किं दृश्यसे तदपि किं न मृष्यसे ।। इति।

तत्र व्योम्नामोमात्मकप्रणवरूपताविमर्शवैशिष्ट्यानुप्राणनानां वक्ष्यमाणसर्व-पञ्चकात्मनां वामं वमनं प्रतीश्वरी सामर्थ्यशालिनीति व्योमवामेश्वरी। सा च परमेश्वर-स्याविकल्पभूम्यनुप्रविष्टा चिच्छक्तिः। खे बोधरूपे प्रमातरि चरणात् खेचरी। दिक्ष्वन्तःकरणेषु चरतीति दिक्चरी। गोषु बहिरिन्द्रियेषु सञ्चरणाद् गोचरी। भुवि विषयभूमौ चरणाद् भूचरीति। पारमेश्वरी हि संवित्स्वातन्त्र्यस्य शक्तिः प्रकृत्या निर्विकल्पकपदाधिरूढापि क्वचित् परिमिते प्रमातरि स्फुरन्ती तदनु तदन्तः-करणानुप्रविष्टा पश्चात् तस्यैव बाह्येन्द्रियानुबन्धिनी च भूत्वा बहिर्वेद्यलक्षणं विषयो-ल्लासमखिलमुपयुङ्क्ते इति सर्वपथीनोऽयं प्रकारः। एता एव चिदानन्देच्छा-ज्ञानक्रियाख्याः शक्तयः परा सूक्ष्मा पश्यन्ती मध्यमा वैखरीति वाग्रूपाश्चानुभूयन्ते। यतश्चिच्छक्तिस्तावत् परमेश्वरस्य चैतन्यलक्षणा सर्वनिर्वाहकत्वपर्यायपर-मस्वातन्त्र्यमयी व्योमवामेश्वरी। आनन्दश्चावच्छिन्नप्रमातृस्वात्मविश्रान्तिस्वभाव-त्वात् खेचरी। इच्छा चाभ्युपगमरूपत्वादन्तःकरणप्रसाध्येति दिक्चरी। ज्ञानं च बहिर्मुखं चक्षुरादिभिर्बाह्येन्द्रियैरुद्दीप्यत इति गोचरी। क्रियापि पारमेश्वरीषु शक्ति-

ष्वत्यन्तस्थौल्याद् बहिर्वेद्यवर्गवैचित्र्यस्य एवोपलभ्यत इति भूचरी। एवं परादि-वाक्पञ्चकोऽपि।

विमर्शो बिन्दुनादौ च स्फोटः शब्दश्च वाक्क्रमः।

इति श्रीपादुकोदयप्रक्रियया तत्तदुदयानुगुण्यादुक्तशक्तिपञ्चकात्मकत्वं स्वयमूहनीयम्। अन्यच्च सृष्टिस्थितिप्रभृतिपञ्चकीभूतमखिलमत्रैवान्तर्भवति। एताश्च श्रीक्षेमराजादिभिः पुस्तकेषु लिखितपठिता इत्यस्माभिरपि नामोपादानपूर्वकं चाकित्येन व्याख्याता इति। अथैवं पञ्चधा वहतः परमेश्वरस्य प्रमातृप्रमाणप्रमेयतया त्रैविध्येनोपास्तिप्रकारं सूचयन् मूर्तिचक्रं तावदाह—सप्तदशफालनेत्र इति। फालो ललाटम्। तद्गते नेत्रे सप्तदश शक्तयः। तच्च मूर्तिचक्रमित्याम्नायते। मूर्छनान्मोहरूपात् समुच्छ्रयणरूपाद् वा मूर्तित्वम्। तच्चान्तर्बहिरहन्तेदन्ताद्वितयस्फुरणानुगुण्यात् तत्र यदाहन्तायाः समुच्छ्रायः, तदेदन्ताया न्यग्भावरूपो मोहो भवति। यदा पुनरिदन्तायाः समुच्छ्रायः, तदेदन्ताया न्यग्भावरूपो मोहो इति द्वयमप्येकार्थम्। एवञ्च प्रमातृवह्निरूपस्य परमप्रकाशरूपस्य परभैरवसंवित्पर्यन्तमुत्कर्षः पाषाणादिजडसंवित्पर्यन्तं न्यूनीभावश्चेति महती स्वातन्त्र्यशक्तिर्मूर्तिशब्देनोच्यते। तत्र च कलाः सप्तदशोच्यन्ते। अग्नेर्बाह्याभ्यन्तरविभागेन कलादशकं शिखासप्तकं चेत्याम्नायेषु प्रसिद्धम्। यथाहुः—

धूम्रार्चिरूष्मा ज्वलिनी ज्वालिनी विष्फुलिङ्गिनी।
सुश्रीः सुरूपा कपिला हव्यकव्यवहे कलाः ।।
हिरण्या कनका रक्ता कृष्णा चैव तु सुप्रभा।
बहुरूपाऽतिरक्ता च सप्त जिह्वा हविर्भुजः ।। इति।

तत्संख्यया मूर्तिचक्रशक्तयस्तावत्य इति। ताश्च पर्यालोच्यमानाश्चैतन्यं प्राधान्यमभिमानः कर्तृत्वमध्यवसायो वचनमादानं गमनमुत्सर्जनमानन्दितृत्वं ज्ञानं सङ्कल्पनं श्रवणं स्पर्शनं दर्शनमास्वादनमाघ्राणनं चेति प्रमातृस्फुरणप्रकारा एव भवन्ति, येषामन्तःकरणबहिष्करणादीन्युपायतयाऽवतिष्ठन्ते। एताश्च मूर्तिशक्तयः सङ्कुचितस्य प्रमातुस्तद्विषयास्वादनभेदोपश्लेषात् पशुत्वमुपजनयन्ति, असङ्कुचितस्यात्यन्तस्वातन्त्र्यशक्तिविजृम्भासंरम्भारम्भकतया प्रवर्तमानाः परमशिवीभावलक्षणं मङ्गल्यमुन्मीलयन्तीति। अथ च प्रकाशानन्दचक्रद्वितयमाह—द्वादश षोडश चान्यनेत्रयोरिति। अन्ययोर्दक्षिणवामरूपयोर्नेत्रयोर्यथासंख्यं द्वादश षोडश च शक्तय इत्यर्थः। तत्र दक्षिणं नेत्रं प्रकाशचक्रम्। प्रकाश्यतेऽनेन प्रमेयजातमिति व्युत्पत्त्या प्रकाशः प्रमाणमित्यर्थो भवति। तत्र च शक्तयो द्वादश। हंसमत्यादीनां गुरुतया प्रमातृरूपाणामपि महाप्रमात्रपेक्षया प्रमाणीभावयुक्त्या शक्तित्वमेव। ताश्च

तत्त्वदृष्ट्या यथाक्रमं बुद्धिप्रधानानि वाक्पाणिपादपायूपस्थरूपाणि कर्मेन्द्रियाणि मनःश्रेष्ठानि श्रोत्रत्वक्चक्षुरसनाघ्राणात्मकानि ज्ञानेन्द्रियाणि च भवन्ति। अहङ्कारस्य सर्वत्रानुस्यूतत्वान्न पृथग् गणनम्। एवञ्च 'प्रमाणरूपो भगवान् मार्तण्डो द्वादशधा प्रकाशते' इत्युपनिषत्। वामं च नेत्रमानन्दचक्रम्। आनन्दो नाम स्वात्मपरमेश्वरस्येदन्तया स्फुरत आ समन्तात् समृद्धिस्वभावः प्रमेयवर्गोल्लासः। स च सौम्योंऽशः। तत्र कलाः षोडश। वस्तुवृत्त्या तु ताः षोडशविकारस्वभावाः। विकारश्च मनः कर्मेन्द्रियपञ्चकं ज्ञानेन्द्रियपञ्चकमाकाशादिभूतपञ्चकं च। एतेषु शब्दस्पर्शादिः सर्वोऽपि वेद्यविलासोऽन्तर्भवति। शब्दादीनां स्थौल्यावस्थैव महाभूतानि। मनसा च बुद्ध्यहङ्कारद्वयक्रोडीकारः। यदाहुः पौराणिकाः—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
बन्धाय विषयासङ्गि मुक्त्यै निर्विषयं मनः।। इति।

एवमन्यदप्यूहनीयम्। एतानि च मूर्तिप्रकाशानन्दचक्राणि वामेश्वर्यादिशक्तिपञ्चकात्मकान्येव। तत्र प्रमातृवह्निरूपमूर्तिचक्रं सर्वोर्ध्ववर्तिनीं सर्वाविभागस्वभावत्वात् सर्वसाधारण्येन स्फुरन्तीं व्योमवामेश्वरीं प्राधान्यतो निमित्तीकृत्य खेचरीशक्त्या प्रवर्तते। खेचरी च प्रमातृस्फुरणतन्मयीति प्रागप्युक्तम्। प्रमाणार्करूपं तु प्रकाशचक्रं दिक्चरीगोचर्युभयमेलनारब्धम्, तयोर्द्वयोरप्यन्तर्बहिरिन्द्रियोल्लासरूपत्वात्। प्रमेयसोममयमानन्दचक्रं तु भूचर्यनुप्राणनमिति विवेकः। अनेनैव चक्रत्रयेण इच्छा ज्ञानं क्रियेति शक्तयः, ज्वलनस्तपनः शशीति बिन्दवः, भूर्भुवःस्वरिति व्याहृतयः, प्राणोऽपान उदान इति वायवः, पृथिव्यन्तरिक्षं स्वर्ग इति स्थानानि, सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः, इडा पिङ्गला सुषुम्नेति नाड्यः, देवयानं पितृयानं महायानमिति यानानि, स्थूलं सूक्ष्मं परमित्यवस्थाः, कुलं कौलमकुलमिति विभागाः, मन्त्रो मुद्रा निरीहा इति रहस्यानीत्याद्यखिलमपि त्रित्वविशिष्टं क्रोडीक्रियते। यच्छ्रुतिः—'तमेकनेमिं त्रिवृतं षोडशारम्' इत्यादि।।३७।।

शरीर ही महापीठ है; क्योंकि इसमें शिव और शक्ति दोनों स्थित हैं। पीठ किसे कहते हैं? महेश्वरानन्द कहते हैं—पीठं हि नाम स्वशरीरभट्टारकात्मकमित्युक्तम्। तत्रैव परमेश्वरस्य पञ्चधा वहनात्।[1]

यहाँ शिव एवं शक्ति का अवस्थान भी है।

महानयप्रकाशकार की दृष्टि—महानयप्रकाश में कहा गया है—

शिवशक्त्युभयोन्मेषसारमस्योद्भवं महत्।
वीर्यं तस्माद् देह एव महापीठसमुद्गतः।।

---

१. स्वोपज्ञ परिमल

महार्थमञ्जरी की गाथाओं में अनेक स्थलों पर पीठतत्त्व का उल्लेख किया गया है; यथा—

(क) अण्डमये निजपिण्डे पीठे स्फुरन्ति करणदेव्यः।
प्रस्फुरति च परमशिवो ज्ञाननिधिस्तासां मध्ये।।३४।।

(ख) श्रीपीठपञ्चवाहनेत्रत्रयवृन्दचक्राणि स्मरत।
स्मरत च गुरूणां पंक्तिं पञ्च च शक्तीः सृष्टिप्रमुखाः।।३६।।

(ग) पीठे कला नव पञ्चैव पञ्चवाहपदव्याम्।
सप्तदश कालनेत्रे द्वादश षोडश चान्यनेत्रयोः।।३७।।

पीठ-परामर्श का अत्यधिक महत्त्व है।

क्रमोदयकार की दृष्टि—क्रमोदयशास्त्र में कहा गया है—

स्त्रियः सर्वेषु वर्णेषु योगिन्यः स्युर्न संशयः।
देहवद् योनिशुद्धिस्तु आत्मवल्लिङ्गशोधनम्।।
योनौ नवाक्षरीं न्यस्य लिङ्गे सप्तदशाक्षरीम्।
गुरुचक्रस्य पूजार्थं कुर्याद् योगिनिमेलनम्।।
नवाक्षर्या तु मन्त्रेण स्थापयेल्लिङ्गपीठवत्।
विश्वशक्त्यात्मभावेन पुरुषो मन्थकः स्मृतः।।
मन्थयेदात्मनः शक्तिं मधुवच्छुल्कशोणितम्।।

उपनिषदों की दृष्टि—उपनिषदों में भी कहा गया है—यथैवं विद्वान् मिथुनमुपैत्यग्निहोत्रमेव तस्य हुतं भवति।

इस पीठ में कलायें या शक्तियाँ नौ हैं। परमेश्वर में स्त्री-पुरुष (लिंग) का भेद नहीं है। शिव की सर्वशक्तिमयता ही उसकी कला है। ये नौ कलायें प्रमाता (शक्तिमान शिव) पृथ्वी, जल, तेज, अनिल एवं आकाशस्वरूप प्रमेय वर्ग वाली शक्ति की क्रियाओं में व्यक्त हैं। प्रमाता में आद्य स्पन्द उसके ऊपर प्रसरणोन्मुखी शक्ति, उसकी प्रमाणस्फुरण में अभिव्यक्त इन्द्रिय परिस्पन्द, वस्तु-व्यवस्थापनात्मिक स्फुरत्ता एवं प्रमेयोल्लास—प्रमेय-वर्ग, पृथ्वी, जल, तेज, वायु एवं आकाश में रूपायित पीठनिकेत ही महापीठचक्र है। परमेश्वर की स्फुरण-धारा ही पदवी या प्रवृत्ति है। इसकी पञ्चकलायें ही पञ्चवाह हैं।

पञ्चवाह—

१. व्योमवामेश्वरी ३. दिक्चरी ५. भूचरी
२. खेचरी ४. गोचरी

१. तत्र च कलाः शक्तयो नव।
२. ताश्च (कलाः) पर्यालोच्यमानाः प्रमात्रंशमयः कश्चिदाद्यः स्पन्दः।

उपरिप्रसरणौन्मुख्यरूपा शक्तिः काचित्।।

उसका प्रमाणस्फुरणरूप कोई इन्द्रियमय परिस्पन्द है और उसके अनन्तर वस्तु-व्यवस्थापनात्मिका उसकी स्फुरत्ता है। उसके अनन्तर प्रमेयोल्लास है। प्रमेयवर्ग भूत-पञ्चकान्त है। भूत निम्नाङ्कित हैं—

१. आकाश ३. वायु ५. जल
२. पृथ्वी ४. तेज

यहाँ भी प्रारम्भिक रूप में आत्मचिद्रूपता का ही परामर्श होता है। उसके बाद स्थैर्य का आविर्भाव होता है। यह उद्योगरूप स्पन्दानुवृत्ति है। उसके बाद उसी का उज्ज्वलीकरण है। उसके बाद स्ववि-श्रान्तिलक्षणात्मक आप्यायितत्त्व आता है। यही क्रमविवक्षा है। इसी प्रकार प्रमाता, प्रमाण एवं पञ्चविध प्रमेय हैं। ये सभी मिलकर पीठनिकेतन कहलाते हैं। अन्य पीठ, श्मशान, क्षेत्र, ईश, यजन के भेद से पाँच हैं।

प्रमाता, उसकी शक्ति प्रमा, उसके उपकरण प्रमाण, वस्तुव्यवस्थापनात्मिका उसकी विजृंभा, उसका क्रोडीकार्य, पाँच प्रकार का प्रमेयजात आदि पाँच प्रकार का पुनर्विभाग है। कहा भी गया है—

आकट्योराकन्धरमादोष्णोरा च नाभिसीमान्तम्।
षट्कोणं यच्छशरीरं संवित्पीठं त्रिकोणसाम्यं तत्।।

इस प्रकार साधक का प्रथम कर्तव्य है कि वह अपने शरीर की पीठ के रूप में उपासना करे।

उपासनाक्रम—

१. स्वशरीरस्यैव पीठतयोपासनं प्राक् कर्तव्यम्।

२. फिर तदनुरूप उपचारों का निष्पादन भी करना चाहिये।

३. यहाँ गणपति, वटुकभैरव आदि देवताओं के नाम, उनके उपादान, तत्तदर्थ अर्थानुगुण्य द्वारा उनके निर्वचन आदि भी किये जाने चाहिये।

महानयप्रकाश की दृष्टि—महानयप्रकाश में कहा गया है—

धामादित्रितयेनैव वक्त्रभङ्गभयान्मनाक्।
प्रकाश्यते मया सम्यक् वाक्यैरविषमाशयैः।।

क्रमसद्भावकार का कथन—क्रमसद्भाव में भी कहा गया है—

गोपनीयानि नामानि चोरेभ्यो द्रविणं यथा।
गोपनात् पालयन्त्येव मूर्तयस्तु महार्थतः।।

वाह = परमेश्वर का स्फुरण-धारा। पदवी = उस वाह से जो पदवी युक्त हो (तन्मयी हो) अर्थात् विश्वगमागमस्थानभूता प्रवृत्ति। वे हैं—पाँच कलायें।

श्रीक्रमसिद्धि की दृष्टि—श्रीक्रमसिद्धि में कहा गया है—

व्योमवामेश्वरीसंज्ञा नादभूमिश्च खेचरी।
आनन्ददिक्चरीसंज्ञा गोचरी मन्त्रभूमिका।
मन्त्राणां द्रव्यरूपत्वादावलिर्भूचरी तथा।।

परमेश्वर स्फुरण-धारा ही पदवी या प्रवृत्ति है। इसकी पाँच कलायें हैं। ये पाँच कलायें ही पञ्चवाह हैं। इन्हें ही व्यामवामेश्वरी, खेचरी आदि कहते हैं।

(क) व्योमवामेश्वरी शक्ति—यह शक्ति प्रणवरूप विमर्श का प्रतिपादन करने के कारण व्योमवामेश्वरी कही जाती है। यह परमेश्वर की अविकल्प भूमि होने के कारण सर्वोच्च है और परमात्मा की चिच्छक्ति है।

चूँकि यह समस्त पञ्चशक्तियों का वमन करने में समर्थ है; इसीलिये इसका नाम वामेश्वरी है (वामं वमनं—परिमल)।

महेश्वरानन्द उक्त शक्ति को परिभाषित करते हुये कहते हैं—

१. वैशिष्ट्यानुप्राणनानां वक्ष्यमाणसर्वपञ्चकात्मनां वामं वमनं प्रतीश्वरी सामर्थ्यशालिनीति व्योमवामेश्वरी।

२. सा च परमेश्वरस्याविकल्पभूम्यनुप्रविष्टा चिच्छक्तिः।

३. यतश्चिच्छक्तिस्तावत् परमेश्वरस्य चैतन्यलक्षणा सर्वनिर्वाहकत्वपर्यायपरमस्वातन्त्र्यमयी व्योमवामेश्वरी।

(ख) खेचरी शक्ति = यह बोधरूपात्मिका एवं नादात्मिका है।

महेश्वरानन्द कहते हैं—

१. खे बोधरूपे प्रमातरि चरणात् खेचरी।

२. आनन्दश्चावच्छिन्नप्रमातृस्वात्मविश्रान्तिस्वभावत्वात् खेचरी।

(ग) दिक्चरी शक्ति—अन्तःकरणरूपी दिशाओं में सञ्चार करने वाली शक्ति ही दिक्चरी है। यह आनन्दमयी शक्ति है।

महेश्वरानन्द कहते हैं—

१. दिक्ष्वन्तःकरणेषु चरतीति दिक्चरी। यह अन्तःकरणरूपी दिशाओं में सञ्चार करती है।

२. इच्छा चाभ्युपगमरूपत्वादन्तःकरणप्रसाध्येति दिक्चरी। यह इच्छामयी एवं अन्तःकरणप्रसाधिनी है।

(घ) गोचरी शक्ति—यह ज्ञानमयी शक्ति है। यह चक्षु, कर्ण, नासिका आदि इन्द्रियों द्वारा प्रकाशित होती है। इसका करण अन्तःस्थित नहीं; प्रत्युत बाह्येन्द्रियाँ हैं।

महेश्वरानन्द कहते हैं कि यह बहिरिन्द्रियों में सञ्चार करने वाली मन्त्रमयी शक्ति है।

१. गोषु बहिरिन्द्रियेषु सञ्चणाद् गोचरी।

२. ज्ञानं च बहिर्मुखं चक्षुरादिभिर्बाह्येन्द्रियैरुद्दीप्यत इति गोचरी।

(ङ) भूचरी शक्ति—भूचरी शक्ति क्रियात्मिका शक्ति है। यह विश्व-विलास-वैचित्र्य को प्रकट करने वाली शक्ति है। यह विषय-भूमि में सञ्चार करने वाली शक्ति है।

महेश्वरानन्द कहते हैं—

१. भुवि विषयभूमौ चरणाद् भूचरीति।

२. क्रियापि पारमेष्वरीषु शक्तिष्वत्यन्तस्थौल्याद् बहिर्वेद्यवैचित्र्यस्य एवोपलभ्यत इति भूचरी।

संवित् स्वातन्त्र्य वाले शिव की जो पारमेश्वरी शक्ति है, प्रकृति से तो वह निर्विकल्पक है तथापि कभी परिमित प्रमाता में स्फुरित होने पर और फिर अन्त:करण में अनुप्रविष्ट होने पर उसी की बाह्येन्द्रियानुबन्धिनी होकर बहिर्वेद्यलक्षण वाले विषयोल्लास के रूप में भी प्रवाहित होती है। इसी पारमेश्वरी शक्ति के विभिन्न वागात्मक रूप भी हैं।

पारमेश्वरी शक्ति के वागात्मक रूप—

१. (चित् शक्ति) → परा वाक्

२. (आनन्द शक्ति) → सूक्ष्मा वाक्

३. (इच्छा शक्ति) → पश्यन्ती वाक्

४. (ज्ञान शक्ति) → मध्यमा वाक्

५. (क्रिया शक्ति) → वैखरी वाक्

एता एव चिदानन्देच्छाज्ञानक्रियाख्या: शक्तय: परा-सूक्ष्मा-पश्यन्ती-मध्यमा-वैखरीति वाग्रूपाश्चानुभूयन्ते। (महेश्वरानन्द : स्वोपज्ञ परिमल)

स्पन्दकारिका के अनुसार शक्तिचक्र—

१. खेचरी ३. दिक्चरी
२. गोचरी ४. भूचरी

(यस्योन्मेषनिमेषाभ्यां जगत: प्रलयोदयौ।
तं शक्तिचक्रविभवप्रभवं शङ्करं स्तुम:।।)

शक्तिवर्ग के चार भेद हैं—१. खेचरी २. गोचरी ३. दिक्चरी ४. भूचरी। वामेश्वरी शक्ति ही खेचरी आदि चार शक्तियों में रूपान्तरित हो जाती है।

प्रत्यभिज्ञाहृदयसूत्रकार की दृष्टि—प्रत्यभिज्ञाहृदयम् (सूत्र-१२) में कहा गया है—तदपरिज्ञाने स्वशक्तिभिर्व्यामोहितता संसारित्वम्। इसी सूत्र की व्याख्या में आचार्य क्षेमराज कहते हैं कि भगवती चिति शक्ति ही विश्व का वमन (बहि:प्रकाशन) करने

के कारण या संसाररूप 'वाम' विपरीत आचरण करने वाली होने के कारण वामेश्वरी का रूप ग्रहण करती हुई खेचरी, गोचरी, दिक्चरी एवं भूचरी प्रमाता, अन्तःकरण, बाह्यकरण एवं वस्तुस्वभावरूप में स्फुरित होती है।

पशुभूमिका में शून्य पद को ग्रहण करके पारमार्थिक चिद्गगनचरी का स्वरूप छिपा-कर किञ्चित्कर्तृत्वादिरूप कलादि शक्त्यात्मक 'खेचरी' चक्ररूप में प्रकाशित होती है।

अभेदप्रथात्मक पारमार्थिक रूप जिसमें आवृत है तथा भेद का आलोचन आदि जिसमें प्रधान है, ऐसी बाह्य करणों की देवीस्वरूप 'दिक्चरी चक्र' के रूप में भी वही चिति उदित है तथा सर्वात्म रूप को छिपाकर, भेदाभासस्वभाव, प्रमेयरूप 'भूचरीचक्र' के रूप में पशुहृदयों को मूढ़ बनाती हुई शोभित होती है।

पतिभूमिका में अवस्थित शक्तियाँ—

१. चिद्गगनचरी   ३. दिक्चरी
२. गोचरी   ४. भूचरी

क्षेमराज कहते हैं—

(क) किञ्च चितिरेव भगवती विश्ववमनात् संसारवामाचारत्वाच्च वामेश्वर्याख्या, खेचरी-गोचरी-दिक्चरी-भूचरीरूपैः अशेषैः प्रमातृ अन्तःकरणबहिष्करणभावस्वभावैः परिस्फु-रन्ती;

(ख) पशुभूमिकायां शून्यपदविश्रान्ता किञ्चित्कर्तृत्वाद्यात्मककलादिशक्त्यात्मना खेचरी-क्रमेण गोपितपारमार्थिकचिद्गगनचरीस्वरूपेण चकास्ति;

भेदनिश्चयाभिमानविकल्पनप्रधानान्तःकरणदेवीरूपेण गोचरीचक्रेण गोपिताभेदनिश्चया-द्यात्मकपारमार्थिकस्वरूपेण प्रकाशते।

पतिभूमिका में तो—

१. सर्वकर्तृत्वादि शक्तिरूपा चिद्गगनचरी,

२. अभेदनिश्चयादिरूप गोचरी,

३. अभेदालोचनाद्यात्मक दिक्चरी,

४. निजाङ्गस्वरूप अद्वैतप्रथासारभूत, प्रमेयात्मक भूचरी रूप से पतिहृदय को विकसित करती हुई स्फुरित होती है।[१]

५. चिदात्मा परमेश्वर की अविनाशी एवं स्पन्दन जिसमें सार है, ऐसी कर्तृतारूप एक ही निजी ऐश्वर्य शक्ति है।

६. वही शक्ति जब अपने स्वरूप को छिपाकर पशुभूमिका में प्राण, अपान एवं समान शक्ति की दशाओं; जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति भूमियों; देह, प्राण एवं पुर्यष्टकात्मक

१. प्रत्यभिज्ञाहृदयम्

कलाओं द्वारा व्यामोहित करती है तब उसी से जनित व्यामोहितता संसारित्व के नाम से प्रख्यात है।[१]

भट्टदामोदर की दृष्टि—

शक्ति वर्ग की द्विमुखी प्रवृत्ति

- अज्ञानी (संसारी) पुरुषों को (पशुभूमिकारूढ़ जीवों को) अधोगति के मार्ग में ढकेलने का कार्य : बन्धन का कार्य, अध:पतन एवं संसरण-व्यापार।
- शिवभावारूढ़ प्राणियों को शिवत्वभाव एवं मुक्ति-दान।

पूर्णाविच्छिन्नमात्रान्तर्बहिष्करणभावगा: ।
वामेशाद्या: परिज्ञानाज्ञानात् स्युर्भुक्तिबन्धदा:।।

१. खेचरी शक्ति का स्वरूप—ज्ञान के अनन्त आकाश में विचरण करने वाली शक्तियाँ। अपने मूल रूप में इन शक्तियों की आख्या चिद्गगनचरी (चिदाकाश में विचरण करने वाली) है।

जब परमेश्वर की सर्वकर्तृत्व आदि असंकुचित एवं असीम पाँच शक्तियाँ सङ्कोच में पड़कर कला, विद्या एवं नियति आदि पञ्चकञ्चुकों का रूप धारण करती हैं तब पशुभूमिका पर उनका खेचरी चक्र पड़ता है। इस अवस्था में पशुओं के ज्ञान के क्षेत्र पर सङ्कोच का आवरण डालकर अपने यथार्थ स्वरूप चिद्गगनचरी को छिपा लेती हैं, जिससे वे अपने-आपको शक्तिदरिद्र एवं असहाय-जैसा समझते हैं।[२]

दूसरी ओर यही शक्तिवर्ग सर्वकर्तृव, सर्वज्ञत्व आदि पाँच असीम पारमेश्वरी शक्ति-रूपों में स्पन्दायमान होता हुआ अपने यथार्थ—चिद्गगनचरी रूप से पतिप्रमाता के हृदय को विकसित करता रहता है।

२. गोचरी—परा, पश्यन्ती, मध्यमा एवं वैखरी—इन चार वाणियों के और अन्त:-करणों के क्षेत्र में विचरण करने वाला शक्तिवर्ग—एक ओर पशुप्रमाता के हृदय को भेदव्याप्ति में डालकर अपारमार्थिक संकल्प-विकल्पों का शिकार बना लेता है और दूसरी ओर पतिप्रमाता के हृदय में पूर्ण अभेद-व्याप्ति के रूप में स्फुरणशील रहता है।

३. दिक्चरी—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ नामक दस दिशाओं में विचरण करने वाला शक्तिवर्ग एक ओर पशुओं की इन्द्रियों को बाहर संसार की ओर प्रवहमान बनाकर, उनके द्वारा उनको बाह्य विषयों का भेदरूप में ग्रहण करवाता है और दूसरी ओर पतिप्रमाता को अन्तर्मुखीन एवं अतीन्द्रिय संवेदन के द्वारा प्रत्येक पदार्थ

---

१. क्षेमराज—प्रत्यभिज्ञाहृदयम्

२. पशुभूमिकायां शून्यपदविश्रान्ता किञ्चित्कर्तृत्वाद्यात्मककलादिशक्त्यात्मना खेचरी क्रमेण गोपितपारमार्थिकचिद्गगनचरीत्वस्वरूपेण चकास्ति। (प्र.हृ.सू.-१२)

का अभेद अहं रूप में ग्रहण कराता है।

४. भूचरी शक्ति—शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध—इन पाँच प्रमेय भूमिकाओं में विचरण करने वाला शक्तिवर्ग—एक ओर पशुप्रमाता को भिन्न-भिन्न रूपों में अवभासित होने वाले घट-पट आदि अनन्त प्रमेयजालों में फँसा लेता है और दूसरी ओर पतिप्रमाता को उन्हीं अनन्त रूपों वाले प्रमेय पदार्थों का, अपने ही अङ्गों के समान, विशुद्ध चिन्मात्ररूप में ही अनुभव करा लेता है।

समस्त आन्तर शक्तिचक्र स्पन्दमयी संवित् के साथ अभिन्न होने के कारण सतत् स्पन्दमय (नित्य चेतन) है।

महेश्वरानन्द ने वाणियों के मूल स्वरूप पर भी प्रकाश डाला है।

वाणियों का मूल स्वरूप
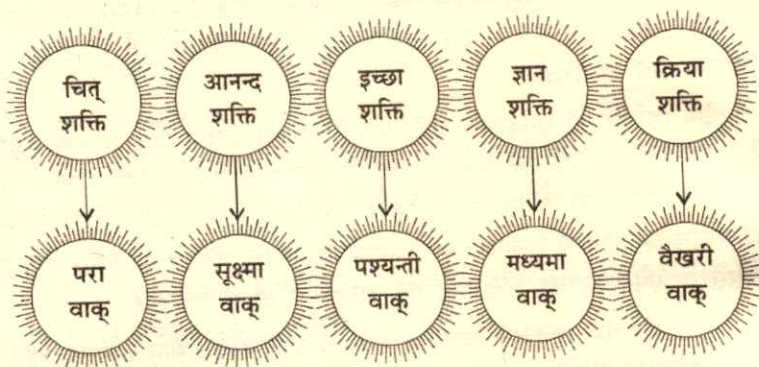
एता एव चिदानन्देच्छाज्ञानक्रियाख्याः शक्तयः परा सूक्ष्मा पश्यन्ती मध्यमा वैखरीति वाग्रूपाश्चानुभूयन्ते।[1]

विमर्शो बिन्दुनादौ च स्फोटः शब्दश्च वाक्क्रमः।[2]

पादुकोदय शास्त्रकार की दृष्टि—पादुकोदय में वाणी का चरणबद्ध (क्रमिक) विकास भी बताया गया है, जो इस प्रकार है—

१. वाणी परमेश्वर की विमर्श शक्ति का ही विविधात्मक रूपान्तरण है।

---

१. स्वोपज्ञ परिमल २. पादुकोदय

२. वाणी सृष्टि का मूलभूत चेतन तत्त्व है।
३. वाणी कुण्डलिनी शक्ति की अभिव्यक्ति है।
४. वाणी शब्दब्रह्म का रूपान्तरण है।
५. वाणी परमेश्वर के शक्तिपञ्चक का ध्वन्यात्मक अवतार है—

शक्तिपञ्चकात्मकत्वं स्वयमूहनीयम्।[1]
सृष्टिस्थितिप्रभृतिपञ्चकीभूतमखिलमत्रैवान्तर्भवति।[2]

शारदातिलककार की दृष्टि—आसीच्छक्तिततो नादः नादाद्बिन्दुसमुद्भवः।

शक्ति → नाद → बिन्दु।

सकल परमेश्वर (सच्चिदानन्द सकल परमेश्वर) → शक्ति → नाद → बिन्दु।

उपनिषदों की शब्दसम्बन्धिनी दृष्टि—शब्दब्रह्मणि निष्णातः परब्रह्माधिगच्छति।

गोरक्षनाथ की दृष्टि—शब्दहिं ताला सब्दहिं कूँची सब्दहिं सबद समाया।

१. भालनेत्र में १७ शक्तियाँ स्थित हैं—सप्तदश फालनेत्र इति (फाल = ललाट)।
२. (फाले) तद्गते नेत्रे सप्तदशशक्तयः। तच्च मूर्तिचक्रमित्याम्नायते (परिमल)।

मूर्च्छनान्मोहरूपात् समुच्छ्रयणरूपाद्वा मूर्तित्वम्।

३. भालनेत्र ही मूर्तिचक्र है। इस मूर्तिचक्र में प्रमाता परमेश्वर का वह्निरूप परम प्रकाश विद्यमान है।

पाँच शक्तियों की ऊर्जा को प्रवाहित करके सृष्टि-सञ्चालन करने में संलग्न शिव की १. प्रमाता २. प्रमाण एवं ३. प्रमेय—तीन प्रकार की उपासनायें हैं। महेश्वरानन्द कहते हैं—प्रमातृप्रमाणप्रमेयतया त्रैविध्येनोपास्तिप्रकारः।

१. जब अहन्ता का समुच्छ्राय होता है तब इदन्ता का न्यग्भाव होता है।
२. जब इदन्ता का समुच्छ्राय होता है तब अहन्ता का न्यग्भाव होता है।

१. मूर्च्छनान्मोहरूपत्वात्—मूर्तित्वम्।
२. समुच्छ्रयणरूपात्—मूर्तित्वम्।

(समुच्छ्राय = ऊँचाई। न्यग्भाव = नीच होने का भाव)

१. जब अहन्ता का समुच्छ्राय होता है तब इदन्ता का न्यग्भावरूप मोह होता है।
२. जब इदन्ता का समुच्छ्राय होता है तब अहन्ता का उक्तरूप मोह होता है।

(क) इसी प्रकार प्रमातृवह्निरूप परमप्रकाश का परभैरवसंवित् पर्यन्त उत्कर्ष होता है।
(ख) इसी तरह पाषाण आदि जड संवित् पर्यन्त न्यूनीभाव होता है। महती स्वातन्त्र्य शक्ति मूर्ति कहलाती है।

---

१. महेश्वरानन्द—स्वोपज्ञ परिमल · २. परिमल (३८)

कलायें संख्या में सत्रह हैं। अग्नि के दो पक्षों—बाह्य एवं आभ्यन्तर पक्षों—की दृष्टि से विचार करने पर १० कलायें एवं ७ शिखायें हैं—

धूम्रार्चिरूष्मा ज्वलिनी ज्वालिनी विष्फुलिङ्गिनी।
सुश्रीः सुरूपा कपिला हव्यकव्यवहे कलाः।।
हिरण्या कनका रक्ता कृष्णा चैव तु सुप्रभा।
बहुरूपाऽतिरक्ता च सप्त जिह्वा हविर्भुजः।।

इसी संख्या में १७ मूर्तिचक्र की शक्तियाँ भी हैं। ये पर्यालोच्यमान होने पर प्रमातृस्फुरणरूप में इस प्रकार हैं—

१. अभिमान	६. गमन	११. श्रवण
२. कर्तृत्व	७. उत्सर्जन	१२. स्पर्शन
३. अध्यवसाय	८. आनन्दितृत्व	१३. दर्शन
४. वचन	९. ज्ञान	१४. आस्वादन
५. आदान	१०. सङ्कल्पन	१५. आघ्राणन आदि।

इनमें अन्तःकरण एवं बहिष्करण उपाय के रूप में स्थित हैं।

ये मूर्तिशक्तियाँ सङ्कुचित प्रमाता में आस्वादन-भेदोपश्लेष द्वारा पशुत्व उत्पन्न करती हैं। ये ही शक्तियाँ असङ्कुचित एवं अत्यन्त स्वातन्त्र्यशक्ति के विजृम्भण के संरम्भारम्भक के रूप में प्रवर्तमान होने पर परमशिवीभाव के लक्षण से समलंकृत माङ्गल्य का उन्मीलन करती हैं।

प्रकाशानन्द चक्र के दो प्रकार हैं—(क) १२ एवं (ख) १६।

(क) वाम नेत्र से सम्बद्ध = १६ शक्तियाँ।

(ख) दक्षिण नेत्र से सम्बद्ध = १२ शक्तियाँ।

दक्षिण नेत्र प्रकाशचक्र है। प्रकाश ही प्रमाण है; क्योंकि 'प्रकाश्यतेऽनेन प्रमेयजातमिति प्रकाशः प्रमाणमित्यर्थो भवति'। यहाँ १२ शक्तियाँ हैं।

हंसमत के अनुसार प्रमाता भी महाप्रमाता की अपेक्षा रखने के कारण शक्ति-स्वरूप हैं। वे तत्त्वदृष्टि से यथाक्रम बुद्धिप्रधान वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ = कर्मेन्द्रियाँ; मनःश्रेष्ठ—श्रोत्र, त्वक्, चक्षुः, रसना, घ्राण = ज्ञानेन्द्रियाँ; अहंकार तो सर्वत्र अनुस्यूत है; अतः उसकी पृथक् रूप में गणना नही की जाती।

प्रमाणरूपो भगवान् मार्त्तण्डो द्वादशधा प्रकाशते। (उपनिषद्)

वामं च नेत्रमानन्दचक्रम्।

आनन्द क्या है? आनन्दो नाम स्वात्मपरमेश्वरस्येदन्तया स्फुरत आ समन्तात् समृद्धि-स्वभावः प्रमेयवर्गोल्लासः।

यह सौम्य अंश है।

कलायें १६ हैं। वे वस्तुवृत्ति की दृष्टि से षोडश विकारस्वभावात्मक हैं। विकार क्या हैं? मन, कर्मेन्द्रियपञ्चक, ज्ञानेन्द्रियपञ्चक, भूतपञ्चक। इनमें शब्द-स्पर्श सभी वेद्य-विलासान्तर्गत हैं। शब्दादिक की स्थौल्यावस्था पञ्चमहाभूत है। मन के द्वारा बुद्धि एवं अहङ्कार में क्रोडीकार भाव है। पौराणिकों ने कहा भी है—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयो:।
बन्धाय विषयासङ्गि मुक्त्यैनिर्विषयं मन:।।

१. मूर्तिप्रकाशानन्द चक्र वामेश्वर्यादि शक्तिपञ्चकात्मक है।

२. प्रमातृवह्निरूप मूर्तिचक्र सर्वोर्ध्ववर्तिनी एवं (सबके अविभागस्वभाव होने के कारण सर्वसाधारण रूप से) स्फुरित होने वाली व्योमवामेश्वरी की प्रधानता के निमित्त से खेचरी शक्ति द्वारा प्रवर्तित होती है।

३. खेचरी शक्ति प्रमातृस्फुरणतन्मयी है।

४. प्रमाणार्क (सूर्यरूप प्रमाण) रूप प्रकाशचक्र दिक्चरी एवं गोचरी—दोनों के मेलन से आरब्ध है; क्योंकि ये दोनों अन्तर्बहिरिन्द्रियोल्लासरूप हैं।

५. प्रमेय सोममय आनन्दचक्र तो भूचरी से अनुप्राणित है।

इसी चक्रत्रय से—इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया से तीन शक्तियाँ हैं, ज्वलन तपन है, शशि बिन्दु हैं, भूर्भुव:स्व: व्याहृतियाँ हैं, प्राणोपान उदान वायु हैं; पृथिव्यन्त अन्तरिक्ष स्वर्ग स्थान हैं; सत्व-रजोगुण, तमोगुण—तीन नाड़ियाँ हैं; देवयान, पितृयान एवं महायान—ये तीन यान हैं; स्थूल सूक्ष्म एवं परम तीन अवस्थायें है; कुल, कौल एवं अकुल तीन विभाग हैं; मन्त्र, मुद्रा, निरीहा—ये तीन रहस्य हैं। इसी त्रित्वसमूह से जगत् क्रोडीकृत है—तमेकनेमिं त्रिवृतं षोडशारम् (श्रुति)।

पीठतत्त्व—महेश्वरानन्द कहते हैं कि शरीर को ही पीठ मानकर उसमें उपासना करनी चाहिये—एवं स्थूलं देहं पीठतयोपास्यमुपपाद्य सूक्ष्ममप्येवं विम्रष्टव्यम्।

इसी दृष्टि को केन्द्र में रखकर वृन्दचक्र की इस प्रकार पर्यालोचना की गई है—

प्रकटितपञ्चस्कन्धे चतुष्षष्टिर्भवन्ति वृन्दचक्रे।

वृन्दचक्र का स्वरूप

एवं स्थूलं देहं पीठतयोपास्यमुपपाद्य सूक्ष्ममप्येवं विम्रष्टव्यमित्युन्मीलयितुं वृन्दचक्रं पर्यालोचयति—

पअडिअपञ्चक्खन्धे चोसट्ठी होन्ति विन्दचक्कम्मि ।

(प्रकटितपञ्चस्कन्धे चतुष्पष्टिर्भवन्ति वृन्दचक्रे।)

इस शरीर के पञ्चस्कन्धात्मक वृन्दचक्र में चौंसठ कलायें हैं।

वृन्दानां चक्रं वृन्दचक्रम्। वृन्दश्च सन्दोहात्मा। तादृक्त्वं च तस्य स्वतः पुर्यष्ट-कमयतया ज्ञानसिद्धादिपञ्चकसमष्टिस्वभावत्वात्। तच्च प्रकटितपञ्चस्कन्धम्। ज्ञानसिद्धाः षोडश, मन्त्रसिद्धाश्चतुर्विंशतिः, मेलापसिद्धा द्वादश, शाक्तसिद्धा अष्टौ, शाम्भवसिद्धश्चतस्र इति भङ्ग्या पञ्चवाहक्रमानुगुण्यादुद्भावितपञ्चप्रकारम्। आहत्य चतुष्षष्टिर्वृन्दचक्रम्। तत्र श्रीकालसङ्कर्षण्यपरपर्याया रुद्ररौद्रेश्वरी पञ्चषष्टितमी सर्वानुवृत्तेति न पृथग् गण्यते। तच्च—

धाममुद्रावर्णकलासंविद्भावस्वभावतः ।
पाताऽनिकेतदृष्ट्या च वृन्दचक्रं प्रकाशितम् ।।

इति न्यायादष्टधा भवति। तत्र धामानि स्थानानि ज्ञानसिद्धादीनां क्रमात् कन्द-नाभिहृत्कण्ठभ्रूमध्यरूपाणि। मुद्राः करङ्किण्यादयः। यदुक्तम्—

करङ्किणी क्रोधनी च भैरवी लेलिहानिका ।
खेचरी चेति मुद्रायाः पञ्चात्मकतया स्थितिः ।। इति।

तथा श्रीविज्ञानभट्टारके—

करङ्किण्या क्रोधनया भैरव्या लेलिहानया ।
खेचर्या दृष्टिकाले च परा व्याप्तिः प्रकाशते ।। इति।

मुद्राणां बन्धप्रकारश्च तत्रैवोपपादितः। यथा—

मृद्वासने स्फिजैकेन हस्तपादं निराश्रयम् ।
विधाय तत्प्रसङ्गेन परा पूर्णा मतिर्भवेत् ।।
उपविश्यासने सम्यग् बाहू कृत्वार्धकुञ्चितौ ।
कक्षव्योम्नि मनः कुर्वन् शममायाति चिल्लयात् ।।
स्थूलरूपस्य भावस्य स्तब्धां दृष्टिं निपात्य च ।
अचिरेण निराधारं मनः कृत्वा शिवं व्रजेत् ।।
मध्यजिह्वे स्फारितास्ये मध्ये निक्षिप्य चेतनाम् ।।
होच्चारं मनसा कुर्वन् ततः शान्ते प्रलीयते ।
आसने शयने स्थित्वा निराधारं विचिन्तयेत् ।।
स्वं देहं मनसि क्षीणे क्षणात् क्षीणाशयो भवेत् ।। इति।

तत्त्ववृत्त्या तु करङ्किणी नाम स्वदेहेन्द्रियाख्यभेदविगलनप्रगल्भा मुद्रा। यथा श्रीचिद्गगनचन्द्रिकायाम्—

अन्तरम्ब! बहिरप्यमी करा ये तवाक्षतनवोऽङ्क एष यः ।
विग्रहो द्वितयमप्यतः परं चिन्नभो नयसि नः करङ्किणी ।। इति।

पृथिव्यादिप्रकृत्यन्तं तत्त्वसन्दोहमन्तःसञ्जिहीर्षालक्षणेन क्रोधेन स्वात्मरूपतां नयति क्रोधनी। यथा—

यत् प्रकृत्यवधि तत्त्वमण्डलं क्ष्मामुखं परिमितग्रहास्पदम् ।
क्रोधनी त्वमसि सञ्जिहीर्षया मन्त्रमूर्तिरिह तस्य जृम्भिका ।। इति।

अन्तर्बहिर्भावयौगपद्येन पूर्णसंवित्स्वभावा भैरवी। यथा—

ग्रन्थयो द्विषडुमे! यया धृता सा निरावरणचिन्नभःपदा ।
स्पन्दमूर्तिमृतभेदडम्बरा भैरवी त्वमसि विश्वमेलिनी ।। इति।

इयं च निमीलनोन्मीलनसमाधिद्वयसामरस्यौचित्यादस्माभिरत्यन्तमुपलाल्यते। यदाहुः—

अन्तर्लक्षो बहिर्दृष्टिर्निमेषोन्मेषवर्जितः ।
इयं सा भैरवी मुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता ।। इति।

यथा श्रीमहानयप्रकाशे—

महामेलापधर्मिण्यः कौण्डल्युन्मेषविग्रहाः ।
निरावरणचिद्व्योमधामस्था भान्ति नित्यशः ।।
आपूर्य स्वबलोद्रेकसमुत्थं भेदडम्बरम् ।
या स्थिता पूर्णविभवा निरावरणविग्रहा ।।
भैरवी सैव विख्याता मुद्रा सदसदुज्झिता ।
निस्तरङ्गविकासात्मसामरस्यैकपालिनी ।।
आसां मेलापसिद्धानां देवीनां मुद्रिता सदा ।
मु(द्रि?द्र)णेयं द्विधा भासमुद्रेयं भैरवात्मिका ।। इति।

यच्चोक्तमस्मद्गुरुभिर्मनोऽनुशासनस्तोत्रे—

स्तब्धदृष्टि बहिरर्थसंश्रयं निर्विकल्पमपि यत् तवासनम् ।
मुक्तपञ्जरशुकानुकारि तद् भैरवं वपुरुदारमाहर ।। इति।

मयाऽप्युक्तं श्रीपरास्तोत्रे—

आनन्दोदयलक्ष्मणोरकलुषैरुत्पक्ष्मणोरूष्मलै-
रक्ष्णोरुन्मिषितैः प्रताप्य पृथिवीमन्तःस्थलैकस्पृशः ।
पूर्णाहम्प्रथनोत्सवाय सुधियो यामूर्ध्वमध्यासते ।
सा काचित् त्वमचिन्त्यसिद्धिरचला मुद्रां महत्युच्यसे ।। इति।

पुर्यष्टकादिवासनासर्वस्वग्रासलालसा लेलिहाना। यथोक्तम्—

अष्टपुर्युदितबीजवासनासंहृतिप्रवणरश्मिपुञ्जया ।
लीढमात्रमुखभेदया त्वया भूयते जननि! लेलिहानया ।। इति।

वाच्यवाचकाद्यशेषविकल्पविक्षोभविलापिनी सौषुम्नसारणिसीमोलङ्घिनी स्वात्मसं-विदविभिन्नाकारा च खेचरी। यथा—

त्वं पराप्रभृतिवैखरान्तिमोल्लेखविस्तरविलापनोन्मुखी ।
देव्यनावरणशम्भुसद्मगा खेचरी भवसि चिद्विकासिनी ।।
वह्निसूर्यशशिधामघस्मरी कुण्डली तिडदिवोत्पतन्त्यसौ ।
शाम्भवं जननि! बिन्दुमध्वना मध्यमेन च मतासि खेचरी ।।

इति मुद्राविभागः

वर्णाः श्रीमच्छब्दराशिभैरवात्मानः। तत्र ज्ञानसिद्धाः षोडश स्वरमय्यः। मन्त्रसिद्धाः ककारादिमकारान्ता वर्गात्मकाः। मेलापकसिद्धाश्च षण्डस्वररूपाः। यकारादिहकारान्तस्वभावाः शाक्तसिद्धाः। अकारकलाकाराश्च शाम्भवसिद्धा इति। अकारकलाश्च बिन्द्वर्धचन्द्रनिरोधनादस्वभावाः। तत्र बिन्दुरशेषवाच्यावि-भिन्नप्रकाशात्मा चन्द्राकृतिरनुस्वारः। किञ्चिद्वाच्यप्राधान्यशान्तावर्धचन्द्रः, मण्डल-स्वभावादत्यन्तकौटिल्यव्यपायात्। ततोऽपि वेद्यकौटिल्यव्यपगमादृजुरेखारूपा निरोधिका। यदनया परिमितयोगिनां नादानुप्रवेशः, तद्वदपरिमितयोगिनां भेद-दशावेशश्च निरुध्यते। नादश्च स्वपरामर्शपरमार्थ इत्यकारकलारहस्यम्। श्रीपञ्च-पिण्डनाथस्था अकारादयश्च वर्णा ज्ञानसिद्धादीनां क्रमाद् भवन्ति। किञ्च, ज्ञान-सिद्धादयः क्रमाद् अकारकलामय्यः। शाम्भव्यस्तु तत्समष्टिरूपाः। यदस्माभिर-कारस्य पञ्चपिण्डस्य च द्वयोरैकात्म्यमेवाङ्गीक्रियते। यदुक्तं श्रीमहानयप्रकाशे—

अवर्णपञ्चपिण्डार्णरूपयोरद्वयी गतिः ।
यतस्तस्मादुच्यतेऽलं देवीनां तद्गतं वपुः ।। इति।

अनेन श्रीमहार्थत्रिकदर्शनयोरन्योन्यं नात्यन्तं भेदप्रथेति व्याख्यातम्। एवमोङ्कारे-ऽप्यनुसन्धेयम्। यदयमोड्याणपीठस्वभावो नादात्मा परमव्योमरूपः सृष्ट्यादि-प्रथात्रयोपसंहारप्रगल्भो जाग्रदाद्यवस्थात्रयाधिष्ठातृभूतब्रह्मविष्णुरुद्रात्माकारो-कारमकारात्मा सर्वाविभागप्रथामयनादलक्षणार्धमात्रानुप्राणनः प्रतिपादिततद्वर्ण-चतुष्टयसामरस्योन्मीलितो महारावबीजपर्यायो भवति। तथा श्रीमहानयप्रकाशे—

विसर्गस्थितिसंहारप्रथाग्रासैकतत्परः ।
निरुपाख्यमहादीप्तिसमुल्लसनतत्परः ।।
योऽध्युष्टकलनोद्रेकस्वभावः प्रणवाभिधः ।
पीठाभिधं तमेवाहं नमाम्यागमसिद्धये ।।

इति वर्णक्रमः

कला रौद्र्यादयः। तत्र रौद्री वामा अम्बिका ज्येष्ठेति क्रमाद् ज्ञानसिद्धादिभिरुपश्लिष्यन्ते। एतत्सामरस्यलक्षणाश्च शाम्भव्यः। यदुक्तं श्रीचिद्गगनचन्द्रिकायाम्—

> ज्ञानदीधितिषु रौद्र्युदेति ते मन्त्रदीधितिषु वामयोदितम् ।
> योगदीधितिषु जृम्भतेऽम्बिका ज्येष्ठयेत्थमधिशक्तिदीधिति ।।
> देव्यभेदितकलाचतुष्टयी शम्भुदीधितिषु दीप्यते स्वरः । इति।

अथ संवित्स्वभावः। तत्र ज्ञानं नाम सामान्यात्मिका प्राथमिकी प्रथा, यामालोनेत्याचक्षते। मन्त्रः पदार्थोदयसंरम्भात्मा परामर्शः। स एव स्वात्मविश्रान्तो मेलापः। तादृग्रूपस्य च वासनाशान्तिरूपः शाक्तः। विलीनसर्ववासनोपलेपस्य चास्य स्वात्मसंविन्मात्रतापारिशेष्यं शाम्भव इति।

अथ भावस्वभावः। पारमेश्वरो हि प्रकाशः प्रकृत्या प्रसन्नगम्भीरमनुत्तरङ्गमम्बुराशिमनुहरन्नविकल्पात्मैवान्तरस्वातन्त्र्यमयीमानन्दशक्तिमनुभवति। तस्य च तादृक्स्वभावानुप्रविष्टाः शक्तयः शाम्भव्यः। स एव यदा किञ्चित् कल्लोलनक्रियौन्मुख्यमवलम्बते, तदा शाक्तोल्लासः। तस्यैव किञ्चित् कल्लोलीभावे मेलापपरिस्फुरणम्। उपर्युपर्युद्रिक्तकल्लोलकल्पनायां मन्त्रोन्मेषः। चन्द्रोदयादेरिव कुतश्चित् प्रवृद्धिहेतोर्वेलोल्लङ्घनादिरुत्कूलः क्षोभकोलाहलो ज्ञानसिद्धोदय इति। ततश्च ज्ञानसिद्धाः प्रमेयांशतया पर्यालोचनीयाः। मन्त्रसिद्धाः प्रमाणमयत्वेन। मेलापसिद्धाः प्रमात्रात्मकतया। शाक्तसिद्धास्तदवच्छेदव्यपोहेन शुद्धप्रमातृतया। शाम्भवसिद्धाश्च पूर्णसंवित्स्वातन्त्र्यमयपरमशिवभट्टारकस्वरूपतयेति। अथ शाम्भव्यादीनां वामेश्यादितादात्म्यद्योतकः शाम्भवसिद्धासु वामेश्याः पात इत्यादिक्रमेण पञ्चवाहवृन्दचक्रयोरैकात्म्यानुसन्धानं पात इति पातप्रकारः। एवं सृष्ट्यादिक्रमेऽपि पातोऽनुसन्धेयः। यथोक्तं श्रीक्रमसिद्धौ—

> संवित्क्रममिमं देव! शृणु वक्ष्यामि सुन्दर ।
> सृष्टिं स्थितिं च संहारानाख्याभासास्वरूपकम् ।।
> ज्ञानं मन्त्रं च मेलापं शाक्तं शाम्भवसंयुतम् । इति।

यथा श्रीक्रमसद्भावे—

> ज्ञानं सृष्टिं विजानीयात् स्थितिर्मन्त्रः प्रकीर्तितः।
> संहारं तु महाकालमेलापं परमं विदुः।।
> अनाख्यं शक्तिरूपं तु भासाख्यं शम्भुरूपकम् ।
> पञ्चप्रकारमेतद्धि विज्ञेयं तत्त्वदर्शिभिः ।। इति।

अनिकेतो नाम ज्ञानसिद्धादीनां भावक्रमप्रातिलोम्यात् तत्तत्प्रमेयत्वादिविकल्प-

विक्षोभव्युदासेन परमप्रतिष्ठाभूमिप्राप्तिपारिशेष्यपरामर्श इत्यष्टधा विभागः। तत्र ज्ञानसिद्धानां षोडशविकारप्रथामय्यः। मन्त्रसिद्धाश्चान्तर्बहिरिन्द्रियपरिस्पन्दवासनास्वभावाः। इन्द्रियाणि च सर्वानुस्यूतमहङ्कारमुपादाय द्वादशोपलभ्यन्ते। तेषां च कदाचिदात्मस्वरूपादवरुह्य विषयावगाहनवैचित्र्यादन्यदा विषयेभ्यः प्रत्यावृत्त्य स्वात्मविश्रान्तिमात्रव्यापृतत्वाच्च प्रकारद्वयोपपत्त्या द्वैविध्यमस्ति। तन्निबन्धनश्च तद्वासनारूपाणामासां चतुर्विंशतितत्त्वोल्लासः। मेलापकसिद्धास्तु प्रमातृपरमार्था इत्युक्तम्। तत्र प्रमातृणामयं स्वभावो यज्ज्ञानसिद्धात्मकं प्रमेयजातं मन्त्रसिद्धात्मकप्रमाणद्वारा स्वात्मनि विश्रमयन्तीति। ततश्च प्रमाणभूतानामिन्द्रियाणामेव तत्र प्रवृत्त्यौल्बण्याद् द्वादशेन्द्रियमयं मेलापसिद्धाचक्रमित्यर्थो भवति। अथ शाक्तसिद्धाः। शक्तिश्च वासनामयी। सा च पुर्यष्टकविषयत्वादष्टधा भवति। पुर्यश्चाष्टौ बुद्धिरहङ्कारो मनः शब्दादिपञ्चकं चेति प्रसिद्धमिति तदनुप्राणनोऽयमेतच्चक्रविष्फारः। शाम्भव्यश्च नाम प्रलीनाशेषविश्ववासनस्य भगवतः शम्भुभट्टारकस्य तत्स्वरूपाविभिन्नाः शक्तयः। ताश्च तत्त्वदृष्टावम्बाज्येष्ठावामारौद्रीमय्य इति।

> इत्येनां गुरुमुखसम्प्रदायलब्ध्वा वाचालः शुक इव वृन्दचक्रचर्याम् ।
> पञ्चार्थक्रमपदवीरहस्यसंवित्सर्वस्वव्यतिकरगर्भिणीमवोचम् ॥

इत्थं स्वदेहमेव पीठनिकेतनतया स्थूलं वृन्दचक्रात्मना सूक्ष्मं पञ्चवाहस्वभावतया परं च पीठतया पर्यालोच्य, तस्य च त्रैविध्यस्य परमार्थं प्रमातृप्रमाणप्रमेयलक्षणैकमूर्तिप्रकाशानन्दचक्रैः परामृश्य तदुपरि वरिवसनीयां श्रीगुरुनाथपरम्परां तद्व्यतिरेकद्वारा प्रकाशयति—

ण हु मण्डले गुरूणं णिअमो णिअमाइलङ्घिणं जुत्तो ॥३८॥

(न खलु मण्डले गुरूणां नियमो नियमातिलङ्घिनां युक्तः ॥)

इसमें गुरुमण्डल- पंक्ति नहीं है; क्योंकि पंक्तिभेद से नियमातिक्रम होता है॥३८॥

अयमेव पीठस्य तत्प्रतिष्ठाप्याया देवतायाश्च भेदो यदन्योन्यमाधाराधेयभावेऽपि प्रथमस्य स्वतः स्फुरत्ताराहित्यमन्यस्याश्च स्वतः स्फुरत्स्वभावतया नित्यमौज्ज्वल्योत्कर्ष इति। तत्र पीठदेवतानां यः स्फुरत्तां प्रत्यौपाधिकत्वलक्षणो नियमः, स तु भगवतीं श्रीमङ्गलादेवीमारभ्य श्रीमहेश्वरानन्दपर्यन्तं पृथक् प्रथमानानां गुरुनाथानां मण्डलं पङ्क्तिस्तत्र न सम्भवति, यत एते प्रस्तुतं नियममतिलङ्घ्य वर्तन्ते। ततश्च पूर्णसंवित्स्वभावा श्रीगुरुपङ्क्तिरिति तात्पर्यार्थः। यत एते देशकालाद्यवच्छेदरूपं नियममतिलङ्घयन्ति, तत एषां बहुत्वम्। एतत् तत्त्ववृत्त्या न सङ्गच्छते, केवलं तत्तदुपाध्युपश्लेषवशादौपचारिकतयैवाङ्गीक्रियते। यथैकमेव वस्तु दर्पणसलिलतैलाद्याधारभेदात् तथा तथा प्रतिबिम्बति। बहुत्ववच्छरीराद्युप-

रागोऽपि न भेदप्रथामुपपादयति। यथोक्तं मयैव श्रीपादुकोदये—

तत्र यत् पूज्यमस्माकं शक्तीनां मण्डलं महत्।
स्वस्वभावात्मके शम्भौ तत् कृत्स्नं पर्यवस्यति ।।
सोऽपि देवे गुरौ स्वात्मन्यैकात्म्यमुपगच्छति।
स च स्वभावादेकः सन्ननेक इव भासते ।।
आरभ्य मङ्गलादीप्तिशिवानन्दादिकं क्रमम्।
अम्बानाथपदाध्यासात् पारम्पर्येण पूज्यते ।।
शक्तिः शिवो देवपाणिर्दक्षिणामूर्तिरित्यपि।
अन्यथा वा समाख्यातो लोके सोऽयमलौकिकः ।।
तत्तत्कालानुगुण्येन देवस्तैस्तैर्बुभुत्सुभिः।
तत्तत्पृथक्त्वमायाति कल्लोलैरवि भानुमान् ।।
वैचित्र्यं च शरीरादेस्तस्यैवेच्छाविजृम्भितम्।
तद्विकल्पेन नानात्वं ज्ञेयं तत्पादुकास्वपि ।। इति।

अतश्च तत्त्ववृत्त्या स्वात्माविभिन्नानुत्तरस्वभावनादशक्त्यात्मा विमर्श एव श्रीगुरुनाथ इत्युक्तं भवति। यथा श्रीमहानयप्रकाशे—

वस्तुतस्त्वस्वरोल्लासप्रथनोच्छूनतात्मकः।
यो विभाति महानादस्तमजं देशिकं श्रये ।। इति।

श्रीचिद्गगनचन्द्रिकायां च—

अस्वरोल्लसनबीजमग्रिमोच्छूनतावपुरपाकृतक्रमः।
नाद एष तव विश्वदेशिकः कोऽपि स स्मृतिविमर्श ईश्वरे ।। इति।

तस्य च तादृक्स्वरूपपरिज्ञानोपायतया श्रीपादुकायाः परिग्राह्यत्वम्, 'शैवीमुखमिहोच्यते' इत्युक्तत्वात्। सा च तादृश्येवाम्नायते। यथोपदिष्टमन्तर्विद्भिः—'परापरात्मनः स्वात्मनः परानन्दमयी स्वव्यतिरेकबलनोद्युक्ता परा शक्तिः पादुकेति गीयते' इति। तस्याश्च—

वागुरामूलवलये सूत्राद्याः कवलीकृताः।
तथा कुलार्णवज्ञानं पादुकायां प्रतिष्ठितम् ।।

इति स्थित्या प्रतिपादितसर्वार्थक्रमगर्भत्वमवर्जनीयम्। यथा श्रीपूर्वे—

क्रमसङ्कोचगुलिका तद्विकासैकमूलिका।
तत्तत्स्वरूपा वीरादिवीरान्ता पातु पादुका ।। इति।

एतच्च तत्प्रतिपादनमात्रोपक्षीणव्यापारे मदीये श्रीपादुकोदये तन्त्रे द्रष्टव्यम्।।३८।।

वृन्दचक्र—वृन्दों का चक्र। वृन्द = सन्दोह (स्वतः पुर्यष्टकमय एवं ज्ञानसिद्धादिपञ्चक समष्टिस्वभाव है)। यह पञ्चस्कन्धात्मक है।

सिद्धों की संख्या—

१. ज्ञानसिद्ध—१६ ३. मेलापसिद्ध—१२ ५. शाम्भवसिद्ध—०४
२. मन्त्रसिद्ध—२४ ४. शाक्तसिद्ध—०८

इस दृष्टि से पञ्चवाहक्रमानुगुण्य से पाँच प्रकार उद्भावित हैं। ६४ वृन्दचक्र हैं। श्रीकालसङ्कर्षिणी या रुद्ररौद्रेश्वरी ६५वीं (पञ्चषष्टितमी) सर्वानुवृत्त होने के कारण पृथक् रूप से उल्लिखित नहीं की जाती। इसी प्रसंग में निम्न कथन उल्लेख्य एवं ध्यातव्य है—

धाम-मुद्रा-वर्ण-कला-संविद्भावस्वभावतः ।
पाताऽनिकेतदृष्ट्या च वृन्दचक्रं प्रकाशितम्।।

इस दृष्टि से इनकी संख्या ८ है।

'धाम' स्थानवाचक है। ज्ञान-सिद्धादिक क्रम से कन्द-नाभि-हृदय-कण्ठ-भ्रूध्यस्वरूप हैं—ज्ञानसिद्धादीनां क्रमात् कन्दनाभिहृत्कण्ठभ्रूमध्यरूपाणि। (महेश्वरानन्द)

करङ्किणी आदि मुद्रायें ही मुद्रायें हैं—

करङ्किणी क्रोधनी च भैरवी लेलिहानिका।
खेचरी चेति मुद्रायाः पञ्चात्मकतया स्थितिः।।

विज्ञानभट्टारककार की दृष्टि—विज्ञानभट्टारक में कहा गया है—

करङ्किण्या क्रोधनया भैरव्या लेलिहानया।
खेचर्या दृष्टिकाले च परा व्याप्तिः प्रकाशते।।

मुद्राविज्ञान और उसका स्वरूप—मुद्रा-बन्ध के मुख्य प्रकार एवं उनका यथार्थ स्वरूप (रहस्य) क्या हैं?

विज्ञानभट्टारककार की दृष्टि—विज्ञानभट्टारक में कहा गया है—

मृद्वासने स्फिजैकेन हस्तपादं निराश्रयम्।
विधाय तत्प्रसङ्गेन परा पूर्णा मतिर्भवेत्।।
उपविश्यासने सम्यग् बाहू कृत्वार्धकुञ्चितौ।
कक्षव्योम्नि मनः कुर्वन् शममायाति चिल्लयात्।।
स्थूलरूपस्य भावस्य स्तब्धां दृष्टिं निपात्य च।

अचिरेण निराधारं मनः कृत्वा शिवं व्रजेत्।
मध्यजिह्वे स्फारितास्ये मध्ये निक्षिप्य चेतनाम्।।
होच्चारं मनसा कुर्वन् ततः शान्ते प्रलीयते।
आसने शयने स्थित्वा निराधारं विचिन्तयेत्।।
स्वं देहं मनसि क्षीणे क्षणात् क्षीणाशयो भवेत्।

तत्त्ववृत्ति से तो करङ्किणी मुद्रा का अर्थ दूसरा ही है—तत्त्ववृत्त्या तु करङ्किणी नाम स्वदेहेन्द्रियाख्यभेदविगलनप्रगल्भा मुद्रा। यह भेद को नष्ट करने वाली मुद्रा है।

चिद्गगनचन्द्रिकाकार की दृष्टि—

अन्तरम्ब! बहिरप्यमी करा ये तवाक्षतनवोऽङ्कः एष यः।
विग्रहो द्वितयमप्यतः परं चिन्नभो नयसि नः करङ्किणी।।

क्रोधनी मुद्रा का स्वरूप—पृथिवी आदि प्रकृत्यन्त तत्त्वसन्दोह को संजिहीर्षा लक्षण वाले क्रोध से स्वात्मरूपता में रूपान्तरित करने वाली मुद्रा ही क्रोधनी मुद्रा है—पृथिव्यादिप्रकृत्यन्तं तत्त्वसन्दोहमन्तःसंजिहीर्षालक्षणेन क्रोधेन स्वात्मरूपतां नयति क्रोधनी। कहा भी गया है—

यत्प्रकृत्यवधि तत्त्वमण्डलं क्ष्मामुखं परिमितग्रहास्पदम्।
क्रोधनी त्वमसि संजिहीर्षया मन्त्रमूर्तिरिह तस्य जृंभिका।।

भैरवी मुद्रा और उसका स्वरूप—अन्दर एवं बाहर दोनों ओर यौगपद्य, (एक साथ) जो पूर्णसंवित्स्वभावा है, वही भैरवी है—अन्तर्बहिर्भावयौगपद्येन पूर्णसंवित्स्व-भावा भैरवी (परिमल)। कहा भी गया है—

ग्रन्थयो द्विषडुमे! यया धृता सा निरावरणचिन्नभःपदा।
स्पन्दमूर्तिमृतभेदडम्बरा भैरवी त्वमसि विश्वमेलिनी।।

महेश्वरानन्द की व्याख्या—परिमल में महेश्वरानन्द भैरवी मुद्रा की स्वरूपव्याख्या करते हुये कहते हैं—इयं च निमीलनोन्मीलनसमाधिद्वयसामरस्यौचित्यादस्माभिरत्यन्त-मुपलाल्यते।

शास्त्रान्तर-दृष्टि—कहा गया है—

अन्तर्लक्षो बहिर्दृष्टिर्निमेषोन्मेषवर्जितः।
इयं सा भैरवी मुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता।।

श्रीमहानयप्रकाशकार की दृष्टि—महानयप्रकाश में कहा गया था—

महामेलापधर्मिण्यः कौण्डल्युन्मेषविग्रहाः।
निरावरणचिद्व्योमधामस्था भान्ति नित्यशः।।

आपूर्य स्वबलोद्रेकसमुत्थं भेदडम्बरम्।
या स्थिता पूर्णविभवा निरावरणविग्रहा।।
भैरवी सैव विख्याता मुद्रा सदसदुज्झिता।
निस्तरङ्गविकासात्मसामरस्यैकपालिनी ।।
आसां मेलापसिद्धानां देवीनां मुद्रिता सदा।
मुद्रिणेयं द्विधा भासमुद्रेयं भैरवात्मिका।।

अनुशासनस्तोत्रकार की दृष्टि—अनुशासनस्तोत्र में कहा गया है—

स्तब्धदृष्टि बहिरर्थसंश्रयं निर्विकल्पमपि यत् तवासनम्।
मुक्तपञ्जरशुकानुकारि तद् भैरवं वपुरुदारमाहर।।

महेश्वरानन्द की दृष्टि—महेश्वरानन्द परास्तोत्र में कहते हैं—

आनन्दोदयलक्ष्मणोरकलुषैरुत्पक्ष्मणोरूष्मलै-
रक्ष्णोरुन्मिषितैः प्रताप्य पृथिवीमन्तःस्थलैकस्पृशः।
पूर्णाहम्प्रथनोत्सवाय सुधियो यामूर्ध्वमध्यासते
सा काचित् त्वमचिन्त्यसिद्धिरचला मुद्रा महत्युच्यसे।।

लेलिहाना मुद्रा और उसका स्वरूप—पुर्यष्टकादिवासनासर्वस्वग्रासलालसा लेलिहाना। कहा भी गया है—

अष्टपुर्युदितबीजवासनासंहतिप्रवणरश्मिपुञ्जया ।
लीढमात्रमुखभेदया त्वया भूयते जननि लेलिहानया।।

खेचरी मुद्रा और उसका स्वरूप—खेचरी मुद्रा का स्वरूप क्या है? महेश्वरानन्द कहते हैं—वाच्यवाचकाद्यशेषविकल्पविक्षोभविलापिनी सौषुम्नसारणिसीमोलङ्घिनी स्वात्मसंविद्विभिन्नाकारा च खेचरी।

शास्त्रान्तरकार की दृष्टि—

त्वं पराप्रभृति वैखरान्तिमोल्लेखविस्तरविलापनोन्मुखी।
देव्यनावरणशम्भुसद्मगा खेचरी भवसि चिद्विकासिनी।।
वह्निसूर्यशशिधामघस्मरी कुण्डली तडिदिवोत्पतन्त्यसौ।
शाम्भवं जननि! बिन्दुमध्वना मध्यमेन च मतासि खेचरी।।

वर्णक्रम—

१. वर्ण—वर्ण तो श्रीमत् शब्दराशि भैरव के ही रूप है—वर्णाः श्रीमच्छब्दराशिभैरवात्मानः। (परिमल)

२. ज्ञानसिद्ध—१६ स्वरात्मक हैं।

३. मन्त्रसिद्ध—ककारादि मकारान्त वर्ण वाले हैं।

४. मेलापक सिद्ध—ये षण्डस्वरूप हैं।

५. शाक्तसिद्ध—ये यकारादि हकारान्तस्वभाव हैं।

६. शाम्भवसिद्ध—ये अकार-लकाररूप हैं।

७. अकार और कला का स्वरूप—अकारकलाश्च बिन्द्वर्धचन्द्रनिरोधनादस्वभावा:।

शाम्भव सिद्ध के लक्षण

अकाराकार | कलाकार

(अकार + कला = अकारकलाश्च बिन्द्वर्धचन्द्रनिरोधनादस्वभावा:।)

(क) बिन्दु—बिन्दुरशेषवाच्या विभिन्नप्रकाशात्मा चन्द्राकृतिरनुस्वार:।

(ख) अर्धचन्द्र—किञ्चिद्वाच्यप्राधान्यशान्तावर्धचन्द्र:।

(ग) निरोधिका—ततोऽपि वेद्यकौटिल्यव्यपगमादृजुरेखारूपा निरोधिका। यदनया परिमितयोगिनां नादानुप्रवेश: तद्वदपरिमितयोगिनां भेददशावेशश्च निरुध्यते।

(घ) नाद—नादश्च स्वपरामर्शपरमार्थ इत्यकारकलारहस्यम्।

पञ्चपिण्डनाथस्थ अकारादि वर्ण ज्ञानसिद्धों में यथाक्रम होते हैं। ज्ञानसिद्ध आदि यथाक्रम अकार कलामय हैं। शाम्भव उनके समष्टिरूप हैं।

महानयप्रकाशकार की दृष्टि—

अवर्णपञ्चपिण्डार्णरूपयोरद्वयी गति:।
यतस्तस्मादुच्यतेऽलं देवीनां तद्गतं वपु:।।

सारांश यह कि महार्थमञ्जरीकार एवं त्रिक दर्शन की पारस्परिक दृष्टियों में अत्यधिक भेदप्रथा नहीं है। प्रणव पर विचार करें तो महानयप्रकाश के इस कथन पर ध्यान देना होगा—

विसर्गस्थितिसंहारप्रथाग्रासैकतत्पर: ।
निरुपाख्यमहादीप्तिसमुल्लसनतत्पर: ।।
योऽध्युष्टकलनोद्रेकस्वभाव: प्रणवाभिध:।
पीठाभिधं तमेवाहं नमाम्यागमसिद्धये।।

कलायें तो रौद्री आदि हैं। इनमें १. रौद्री २. वामा ३. अम्बिका एवं ४. ज्येष्ठा—ये यथाक्रम ज्ञानसिद्ध आदि से उपश्लिष्ट हैं। इनका सामरस्यलक्षण शाम्भव्य है।

चिद्गगनचन्द्रिकाकार की दृष्टि—इसमें कहा गया है—

ज्ञानदीधितिषु रौद्र्युदेति ते मन्त्रदीधितिषु वामयोदितम्।

योगदीधितिषु जृम्भतेऽम्बिका ज्येष्ठयेत्थमधिशक्तिदीधिति।
देव्यभेदितकलाचतुष्टयी शम्भुदीधितिषु दीप्यते स्वर:।।

संवित् स्वभाव—

१. ज्ञान = ज्ञानं नाम सामान्यात्मिका प्राथमिकी प्रथा, यामालोचनेत्याचक्षते।
२. मन्त्र = मन्त्र: पदार्थोदयसंरम्भात्मापरामर्श:।
३. मेलाप = स एव स्वात्मविश्रान्तो मेलाप:।
४. शाक्त = तादृग्रूपस्य च वासनाशान्तिरूप: शाक्त:।
५. शाम्भव = विलीनसर्ववासनोपलेपस्य चास्य स्वात्मसंविन्मात्रतापारिशेष्यं शाम्भव इति।

भावस्वभाव—पारमेश्वर प्रकाश प्रकृत्या प्रसन्न गंभीर, अनुत्तर, विकल्पात्मैव आन्तर स्वातन्त्र्यमयी आनन्दशक्ति का अनुभव करता है। उसकी तादृक् स्वभावानुप्रविष्ट शक्तियाँ शाम्भव्य हैं। वही जब थोड़ा कल्लोलन क्रिया के औन्मुख्य का अवलम्बन ग्रहण करती है तब वह 'शाक्तोल्लास' की आख्या प्राप्त करती है। उसी के थोड़ा कल्लोली-भाव होने पर मेलापपरिस्फुरण होता है। उपर्युक्त उद्रिक्त कल्लोल-कल्पना में मन्त्रोन्मेष है। ज्ञानसिद्ध प्रमेयांशतया पर्यालोचनीय हैं। मन्त्रसिद्ध प्रमाणमयत्वेन पर्यालोचनीय हैं। मेलापसिद्ध प्रमात्रात्मकतया पर्यालोचनीय हैं। शाक्तसिद्ध शुद्धप्रमातृतया पर्यालोचनीय हैं। शांभवसिद्ध पूर्णसंवित्स्वान्त्र्यमय परमशिवभट्टारक के स्वरूप में पर्यालोचनीय हैं।

श्रीक्रमसिद्धिकार की दृष्टि—उक्त ग्रन्थ में कहा गया है—

संवित्क्रममिमं देव! शृणु वक्ष्यामि सुन्दर।
सृष्टिं स्थितिं च संहारानाख्याभासास्वरूपकम्।
ज्ञानं मन्त्रं च मेलापं शाक्तं शाम्भवसंयुतम्।।

श्रीक्रमसद्भावकार की दृष्टि—

ज्ञानं सृष्टिं विजानीयात् स्थितिर्मन्त्र: प्रकीर्तित:।
संहारं तु महाकालमेलापं परमं विदु:।।
अनाख्यं शक्तिरूपं तु भासाख्यं शम्भुरूपकम्।
पञ्चप्रकारमेतद्धि विज्ञेयं तत्त्वदर्शिभि:।।

महेश्वरानन्द की दृष्टि—स्वात्मरूप गुरुनाथ सर्वत्र परिव्याप्त हैं। अत: उनकी कोई पृथक् पंक्ति नहीं है। गुरुपंक्ति ही पूर्ण संवित् स्वरूपा है, अखण्ड ज्ञानरूपिणी है और सर्वत्र व्याप्त है। गुरुपंक्ति पूर्ण संवित्स्वभावरूपा है; अत:—न खलु मण्डले गुरूणां नियमो नियमातिलंघिनां युक्त:। महेश्वरानन्द कहते हैं—

१. अपनी देह को पीठनिकेतन के रूप स्थूल पीठ,
२. वृन्द-चक्र के रूप में स्वीकार करके उसे सूक्ष्म पीठ,
३. एवं पञ्चवाहस्वभावात्मक मानकर उसे परम पीठ के रूप में पर्यालोचित करके

और उसके इस त्रिविधात्मक स्वरूप को (क) प्रमातृ (ख) प्रमाण एवं (ग) प्रमेय लक्षण वाला स्वीकार करके तथा मूर्ति प्रकाशा-नन्द चक्रों के रूप में परामृष्ट करके पीठ-परामर्श के प्राधान्य को स्वीकार किया गया है।

सारांश—

१. वृन्दों का चक्र ही अष्टपुरी वाली काया में वृन्दचक्र है।

२. ज्ञानसिद्ध आदि (ज्ञानसिद्ध, मन्त्रसिद्ध, मेलापसिद्ध, शाक्तसिद्ध, शाम्भव-सिद्ध) के लिये समष्टिरूप पञ्च स्कन्ध ही हैं।

३. ज्ञानसिद्ध १६, मन्त्रसिद्ध २४, मेलापसिद्ध १२, शाक्तसिद्ध ०८, शाम्भव-सिद्ध ०४ = ६४ वृन्दचक्र हैं।

४. ६५वीं रुद्ररौद्रेश्वरी शक्ति सर्वमयी होने के कारण पृथक् मानी जाती है।

५. धाम, मुद्रा, वर्ण, कला, संवित् रूप में वृन्दचक्र ही हैं।

६. वर्ण = शब्दराशिस्वरूप आत्मभैरव हैं।

७. ज्ञानसिद्ध १६ स्वर हैं (१६ स्वर वाले हैं)।

८. मन्त्रसिद्ध = क से म तक के वर्ण वाले हैं।

९. मेलापसिद्ध = खण्डस्वरूप हैं।

१०. शाक्तसिद्ध = यकार से हकारपर्यन्त हैं।

११. शांभव सिद्ध = अकार-कला स्वरूप वाले हैं।

१२. अकार-कला = बिन्दु + अर्धचन्द्र + निरोधिका के स्वरूप वाले हैं।

१३. ज्ञानसिद्ध आदि = अकार कलामय हैं।

१४. शाम्भव सिद्ध = उनका समष्टि रूप है।

१५. ज्ञान = संवित् स्वभाव वाला है।

१६. मन्त्र = पदार्थोदयसंरम्भात्मा परामर्श है।

१७. मेलाप = वही स्वात्मविश्रान्त मेलाप है।

मेलापसिद्धास्तु प्रमातृपरमार्थाः प्रमातॄणामयं स्वभावो यज्ज्ञानसिद्धात्मकं प्रमेयजातं मन्त्रसिद्धात्मकप्रमाणद्वारा स्वात्मनि विश्रमयन्ति।

१८. शाक्तसिद्ध = उसी रूप की वासना-शान्ति के स्वभाव वाला शाक्त सिद्ध है।

१९. शाम्भव सिद्ध = समस्त वासनाओं के विलयरूप स्वात्मसंविन्मात्र ही शांभव सिद्ध हैं।

२०. भावस्वभाव में पारमेश्वर प्रकाश परम स्वतन्त्र एवं पूर्णानन्दमय है।

२१. प्रकाशस्वरूप परम शिव की शक्तियाँ ही शाम्भव हैं।

२२. जब शिव का कल्लोल क्रियोन्मुख होता है तब शाक्तोल्लास होता है।

२३. उसके उद्रिक्त कल्लोल में मेलापसिद्ध का प्रकटीकरण होता है।

२४. कल्लोल-कल्पना में मन्त्रोन्मेष होता है।

२५. ज्ञान सिद्ध प्रमेय, मन्त्रसिद्ध प्रमाण, मेलापसिद्ध प्रमाता, शाक्तसिद्ध शुद्ध-प्रमाता एवं शाम्भव सिद्ध पूर्णसंवित्स्वातन्त्र्यमय के रूप में पर्यालोचनीय हैं।

२६. संवित् क्रम में सृष्टि-स्थिति-संहार-अनाख्य-भासा शक्ति पर्यालोचनीय है।

२७. ज्ञानसिद्ध शक्ति ही सृष्टि, मन्त्रसिद्ध स्थिति, मेलापसिद्ध संहार, शाक्तसिद्ध अनाख्य एवं शाम्भवसिद्ध भासा है।

२८. ज्ञानसिद्ध १६ विकारों से युक्त, मन्त्रसिद्ध बाह्यान्तर इन्द्रियस्पन्दवासना युक्त, मेलापसिद्ध प्रमातृ-परमार्थ स्वभाव का और शाक्तसिद्ध (शक्ति) वासनामय है।

२९. शक्ति (पुर्यष्टकानुरूप) ८ प्रकार की है।

३०. बुद्धि, अहंकार, मन, ५ तन्मात्रायें (विषय) अष्टपुरियाँ हैं।

३१. शाम्भव क्या है? अशेष विश्व वासना निमग्न शिव के स्वरूप से अभिन्न शक्तियाँ ही शाम्भव हैं।

३२. देहरूप पीठनिकेतनरूप में स्थूल, वृन्दचक्र के रूप में सूक्ष्म, पञ्चवाह स्व-भावयुक्त होने पर है। इस पीठ में श्रीमंगलादेवी से श्रीमहेश्वरानन्द-पर्यन्त पृथक् गुरुनाथों की पंक्ति नहीं है।

परमशिव के कृत्यों में शक्तियों की
अनुस्यूतता तथा उनकी संख्या

अथैवमुपपादितस्य स्वात्मरूपपरमशिवभट्टारकाविभिन्नस्य श्रीदेशिकनाथस्य स्वातन्त्र्यसंविच्छक्तिविजृम्भणस्वभावमसाधारणं कृत्यपञ्चकं प्रकटयितुं सर्वोत्तीर्णां भासां पृथग्वक्तव्यतयाऽवस्थाप्य प्रथमं सृष्ट्यादिचतुष्टयं स्पष्टयति—

सिट्ठीए दह कलाओ ठिईए दावीस होन्ति सत्तीओ ।
एक्कादह संहारे तेरह ताओ तुरीअपव्वम्मि ॥३९॥

(सृष्टौ दश कला: स्थितौ द्वाविंशतिर्भवन्ति शक्तय:।
एकादश संहारे त्रयोदश तास्तुरीयपर्वणि।।)

सृष्टि में दस कलायें (शक्तियाँ), स्थिति में बाईस, संहार में एकादश एवं तुरीय में त्रयोदश शक्तियाँ अवस्थित हैं।।३९।।

सृष्टिर्हि नामोद्योगावभासचर्वणात्मविलापननिस्तरङ्गत्वलक्षणप्रथापञ्चक-समष्टिरित्याम्नायते। सर्वेषामस्मदादीनामपि प्रमातॄणामेतत्प्रथापञ्चकाविनाभावः स्वयमूहनीयः। तथाहि—कुलालादयः स्वात्मसंविदैकात्म्यावस्थितं कुम्भादि भावं बहिः पृथक् कर्तुं प्रथममुद्युञ्जते। तमेव बहिर्दण्डचक्रचीवरादिना परिबर्हेणाव-भासयन्ति। अवभासितं च तमापाकाधिरोपणपाकप्रतिष्ठापनादिना पौनःपुन्येन स्वात्मीयतयाऽनुभवन्ति। तदनु तदर्थक्रियामात्रतात्पर्यात् तत्रौदासीन्यमवलम्बन्ते।

औदासीन्यमेव च तस्य विलापनम्। तदर्थक्रियास्मृतिप्रमोषे च तत्र निस्तरङ्गाः सम्पद्यन्ते। यतः कुम्भादिरेव तेषां कल्लोलतयोत्पद्यते। विलीयते च परमेश्वरे। पुनरेतत् प्रथापञ्चकं स्वात्मपरामर्शपावनीभूतमित्येतावानेव भेद इति प्रागप्यवोचाम। तत्र च सृष्टौ कलाः प्रथमप्रवृत्त्यौन्मुख्यशालिन्यः शक्तयो दश। ताश्च योनयस्तत्सिद्धाश्च। तेषां च तत्त्वदृष्टौ उद्योगादिकलापञ्चकात्मकत्वं तत्तत्कलावत्तया तथा तथा कर्तृस्वरूपत्वं च क्रमात् पर्यवस्यति। ताश्च क्रियाज्ञानेच्छोद्योगप्रतिभास्वभावसृष्टिस्थितिसंहारानाख्याभासास्वरूपतया निष्कृष्यन्ते। ततश्च सृष्ट्यादिपञ्चकृत्यान्तर्गतमखिलमपि वैचित्र्यमेकस्यां सृष्टावेव परिस्फुरतीत्युक्तं भवति। यथोक्तं श्रीक्रमसद्भावे—

तया व्याप्तमिदं विश्वं त्रैलोक्यं सचराचरम् । इति।

एवमन्यत्रापि चक्रे तद्व्यतिरिक्तचक्रस्वभावानुप्रवेशस्यावश्यम्भावित्वं केवलं 'प्रधानेन व्यपदेशा भवन्ति' इति नीत्या। तत्तदुद्रिक्तांशोपसंग्रहात् सृष्ट्यादीनां पृथग् व्यवस्था। यथा श्रीक्रमसिद्धौ—

दोहे व्याप्तं गवि क्षीरं स्तनाभ्यां प्रसृतं यथा ।
सर्वगा व्यापिनी सूक्ष्मा एकस्मिन् प्रसृता शिवा ।। इति।

अत एव श्रीमहानयप्रकाशे—

येयं तस्य निरौपम्यशरीरा दीप्तयस्तु ताः ।
नियतग्रहसंस्थानं निधानाय समुत्थिताः ।।
ता एव गदिताः पञ्च योनयः परधामगाः ।
नियतग्रहसंस्थानकल्पनापरिवर्जिताः ।।

इत्यादौ नियतग्रहसंस्थानोद्युक्तत्वं तद्विवर्जितत्वं चोच्यते। श्रीक्रमसद्भावेऽपि—

शृणु मे परमां कालीं विद्यां सृष्टिस्वभावगाम् ।

इत्यादि। एतदुपरिष्टादप्यासूत्रयिष्यते। इत्थमेकैककृत्यविषयेऽपि परमेश्वरस्य पञ्चकृत्यप्रवृत्त्योन्मुख्यमस्तीत्युक्तं भवति। यथा श्रीमहानयप्रकाशे—

इत्थमेकैव पञ्चात्मरूपेण स्फुरति स्वतः ।
स्वभावं प्रकटीकर्तुं या देवी तामहं श्रये ।। इति,

आसां मध्यात्तु देवीनां यदैका स्फुरति स्वतः ।
सर्वास्तदैव सततं सामरस्येन भान्त्यलम् ।। इति च।

श्रीचिद्गगनचन्द्रिकायां च—

पञ्चसु स्फुरति देवि! वृत्तिषु त्वन्मयीषु यदि काचन स्वतः ।
शश्वदाशु निखिलास्तदैव ताः सामरस्यमधिरुह्य भान्त्यमूः ।। इति।

यथा च श्रीशिवदृष्टौ—

यदेकतरनिर्माणे कार्यं जातु न जायते ।
तस्मात् सर्वपदार्थानां सामरस्यं व्यवस्थितम् ।। इति।

अथ स्थितिक्रममाह—स्थितौ द्वाविंशतिर्भवन्ति शक्तय इति। स्थितिर्हि नाम सृष्टानां पदार्थानां यावत्सञ्जिहीर्षोदयमवैयाकुल्येनावस्थानम्। यदुक्तम्—

स्थितिर्नाम स्वरूपस्य तत्तद्रूपतया धृतिः । इति।

शक्तयश्च ताः शिरश्चक्रे युगनाथाश्चत्वारः, तद्देव्यश्चतस्र इत्यष्टौ। हृदयषट्कोणे साधिकारनिरधिकारविभागेन राजपुत्राणां द्विषट्कम्। तन्मध्ये कुलेश्वरः कुलेश्वरीति द्वाविंशतिः। तत्र पीठान्योड्याणजालन्धरपूर्णगिरिकामरूपरूपाणि चत्वार्यधिष्ठाय युगानां कलिद्वापरत्रेताकृतात्मनां क्रमेण नाथभूता जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तितुर्यावस्था-क्रान्तस्य विश्वस्य स्थापनार्थमकारोकारमकारनादात्मकप्रणवकलाचतुष्कमन्त्रो-पबृंहितैश्वर्याः, कर्ता ज्ञाता व्यवसिता चे(ति)ता चेति क्रमेण परमकर्तृस्फुरत्तानु-प्राणनाश्चत्वारः कर्तृविशेषा युगनाथा इत्युच्यन्ते। तद्देव्यश्च—

शृणोति शब्दमोलम्बे प्रेक्षते पुष्करद्वये।
करालम्बेऽभिधत्ते च सह्ये जिघ्रति गन्धवत्।।
मातङ्गे तु महापीठे व्याप्नोत्यखिलमीश्वरी।

इति नीत्या तत्तत्पीठावस्थाद्यैश्वर्यरूपाः क्रिया ज्ञप्तिर्व्यवसितिश्चिच्छक्तिश्चेति तत्त्ववृत्त्योपास्यन्ते। राजपुत्राश्च—

जगतो रञ्जनाद् राजा साक्षाद् देवो महेश्वरः।
तत्पुत्रा राजपुत्राः स्युः.................. ।।

इति श्रीपादुकोदयस्थित्या तानि तानीन्द्रियाण्युच्यन्ते। यथा च श्रीचिद्गगनचन्द्रिकायाम्—

राजनात् प्रकृतिरञ्जनाच्च मां राजसंज्ञमनुबोधकर्मणोः ।
षट् त्वया पृथगमी प्रवर्तकाः पुत्रभावमधिरोपिताः शिवे ।। इति।

तत्र साधिकारत्वं कर्मप्राधान्यात्, 'कर्मण्यैश्वर्यमधिकारः' इत्युक्तत्वात्। निरधिकारत्वं च तद्विपर्ययेण ज्ञानोद्रेकात्। अतश्च बुद्धिर्वागादीनि कर्मेन्द्रियाणि च साधिकाराः। मनःश्रोत्रप्रभृतीनि ज्ञानेन्द्रियाणि निरधिकारा राजपुत्राः। कुलेश्वरो-ऽहङ्कारः। तस्याभिमानशक्तिः कुलेश्वरीति तत्त्वार्थपर्यालोचनम्।

अथ संहारप्रकारमाह—एकादश संहार इति। संहारो नाम बहिरुद्भ्रान्तानां भावानां पारमेश्वरे प्रकाशे पुनःप्रसूत्यौचित्येन वटधानादिनीत्या वासनात्मतयाऽवस्थानम्। तत्र शक्तय एकादश। ताश्च सर्वान्तःकरणसमष्टिभूतमहङ्कारं बाह्येन्द्रियदशकं च भक्षयन्त्यः स्फुरन्तीत्येकादशाऽभूवन्निति तत्त्वनिश्चयः। तत्र तादृगहङ्कार एव प्रमाता, तद्व्यतिरेकेण परिमितस्य तस्यानुपलम्भात्। इन्द्रियाणि प्रमाणानि। तद्ग्राह्यं च प्रमेयमिति प्रमात्रादित्रिकमयं प्रमेयमन्तश्चर्वयन्त्यः कलाः संहर्त्र्य इत्युक्तं भवति। एतच्छक्त्युपश्लेषावच्छेदाच्च परमेश्वरस्यैकादशरुद्रत्व-प्रसिद्धिः।

अथाऽनाख्याक्रमं प्रख्यापयति—त्रयोदश तास्तुरीयपर्वणीति। तुर्यमनाख्या-चक्रम्। तद्रूपे पर्वण्यवस्थाविशेषे। अनाख्यमित्याख्याशून्यत्वमुच्यते। आख्या च पश्यन्त्यादिस्थूलवाक्त्रितयस्वभावा। यथोक्तं श्रीचिद्गगनचन्द्रिकायाम्—

नादबिन्दुलिपिविग्रहा गिरस्तिस्त्र ऊर्ध्वगविमर्शशीकराः ।
संहृतिस्थितिविसृष्टिधामसु व्यापृतास्त्वदध ईशवल्लभे ।। इति।

तच्च तत्त्वदृष्ट्या संहृतानां प्रमात्रादीनां संहर्तृस्वभावसंविदग्निमात्रपारिशेष्य-स्वरूपतया निश्चीयते। तच्च—

उद्योगमयमालस्यं प्रकाशैकात्मकं तमः ।
अशून्यं शून्यकल्पं च तत्त्वं किमपि शाम्भवम् ।।

इति संविदुल्लासन्यायादशून्यमपि शून्यमयी काचित् कक्ष्येवावभासते। अत एव हि तुरीयपर्वणीत्युक्तम्। यत एतत्प्रकाशेऽप्यविक्लवेन योगिना किमप्यन्त-र्विम्रष्टव्यं यदलौकिकस्फुरत्तात्मकभासानुभवसौख्यसम्पद्विजृम्भात्मकतया पर्य-वस्यति। यदुक्तं श्रीस्पन्दे—

तदा तस्मिन् महाव्योम्नि प्रलीनशशिभास्करे ।
सौषुप्तपदवन्मूढः प्रबुद्धः स्यादनावृतः ।। इति।

तत्र च यद्यपि मुख्यया वृत्त्या शक्तिकल्पनमेवमेतावत्तयेति वा नोपपद्यते, तथाप्युपचारादागमेषु तथाम्नायते। यदुक्तं स्तोत्रभट्टारके—

अकथ्यं वा त्रयातीतमुपचारेण गीयते । इति।

तत्र च ताः शक्तयस्त्रयोदश। ता इति। या स्त्रष्ट्र्यः स्थापयित्र्यः संहर्त्र्यश्च तास्तादात्विकावस्थायां संहर्तृमात्रपारिशेष्येऽप्युद्भविष्यद्वेद्यवैचित्र्यापेक्षया किञ्चिदन्तःकन्दवदवतिष्ठमाना द्वादशेन्द्रियतत्समष्ट्यात्मना त्रयोदश सम्भवन्ति। ताश्च 'इहैकैकत्र सृष्ट्यादौ चक्ररूपता विद्यते' इति श्रीक्रमकेलिक्लृप्त्या सृष्टि-सृष्टिः, सृष्टिस्थितिः, सृष्टिसंहारः, सृष्टितुरीयम्; स्थितिसृष्टिः, स्थितिस्थितिः,

स्थितिसंहारः, स्थितितुरीयम्; संहारसृष्टिः, संहारस्थितिः, संहारसंहारः, संहार-तुरीयम् इति द्वादशानामिन्द्रियस्फुरत्तानाम्—

अनाख्याभासयोरत्र नोपदिष्टः पृथङ्मनुः ।

इति स्थित्या सर्वानुस्यूतया तुरीयसम्मिलितया भासाभट्टारिकया त्रयोदशी-भूतानां परिस्पन्दतयाऽध्यवसीयन्ते। यथा श्रीमहानयप्रकाशे—

आसां द्विषट्कदेवीनां वमनग्रासतत्पराम् ।
देवीं त्रयोदशीं वन्दे तादात्म्यप्रतिपत्तये ।। इति।

एताश्च सृष्टिकाल्यादिव्यपदेशेन स्तोत्रभट्टारकावुद्घाट्यन्त इति त्रयोदश-संविधानोपनिषत्।।३९।।

सृष्टि क्या है? महेश्वरानन्द कहते हैं—सृष्टिर्हि नामोद्योगावभासचर्वणात्मविलापन-निस्तरङ्गत्वलक्षणप्रथापञ्चकसमष्टिरित्याम्नायते।

परमेश्वर शिव की स्वतन्त्र संविच्छक्ति के स्वभावगत पाँच कृत्यों में से सृष्टि आदि चार कृत्यों का ही इस गाथा में उल्लेख किया गया है। इसमें भासा कृत्य अनुल्लिखित है। सृष्टि में १० कलायें (शक्तियाँ) हैं तो स्थिति में २२, संहार में ११ एवं तुरीय में १३ शक्तियाँ हैं।

सृष्टिकृत्य में परम कालीविद्या ही सृष्टिस्वभावा है। परमेश्वर के सृष्टिकार्य में प्रथम प्रवृत्ति को उन्मुख करने वाली १० शक्तियाँ हैं। ये उद्योग, अवभास, चर्वण, आत्मविलापन एवं निस्तरङ्गस्वभाव वाली हैं।

प्रथापञ्चक—

१. उद्योग ३. चर्वण ५. निस्तरंगस्वभाव
२. अवभास ४. आत्मविलापन

ये परमेश्वर के कर्तृत्वस्वभाव को प्रकट करती हैं।

१० शक्तियाँ (सृष्टिकृत्य में १० शक्तियाँ)—

१. क्रिया ३. इच्छा ५. प्रतिभा ७. स्थिति ९. अनाख्या
२. ज्ञान ४. उद्योग ६. सृष्टि ८. संहार १०. भासा

स्थितिकृत्य में २२ शक्तियाँ अवस्थित हैं। स्थिति है क्या? सृष्ट पदार्थों का उसी रूप में संहारपर्यन्त अवधारण किये रहना स्थिति है—स्थितिर्नाम स्वरूपस्य तत्तद्रूपतया धृतिः। ताश्च क्रियाज्ञानेच्छोद्योगप्रतिभास्वभावसृष्टिस्थितिसंहारानाख्याभासास्वरूपतया निष्कृ-ष्यन्ते।

इन्हीं के अन्तर्गत जगत् का सम्पूर्ण वैचित्र्य-विलास है।

श्रीक्रमसद्भाव में कहा भी गया है—

तया व्याप्तमिदं विश्वं त्रैलोक्यं सचराचरम्।

श्रीक्रमसिद्धिकार की दृष्टि—श्रीक्रमसिद्धि में कहा गया है—

दोहे व्याप्तं गवि क्षीरं स्तनाभ्यां प्रसृतं यथा।
सर्वगा व्यापिनी सूक्ष्मा एकस्मिन् प्रसृता शिवा।।

श्रीमहानयप्रकाशकार की दृष्टि—श्रीमहानयप्रकाश में कहा गया है—

येयं तस्य निरौपम्यशरीरा दीप्तयस्तु ताः।
नियतग्रहसंस्थानं निधाना समुत्थिताः।।
ता एव गदिताः पञ्च योनयः परधामगाः।
नियतग्रहसंस्थानकल्पनापरिवर्जिताः ।।

श्रीक्रमसद्भाव में कहा गया है कि भगवती काली तो सृष्टिस्वभावा हैं—

शृणु मे परमां कालीं विद्यां सृष्टिस्वभावगाम्।

इस प्रकार प्रत्येक कृत्य के विषय में भी परमेश्वर का पञ्चकृत्यप्रवृत्त्यौन्मुख्य है।

महानयप्रकाश की दृष्टि—महानयप्रकाश में कहा गया है—

इत्थमेकैव पञ्चात्मरूपेण स्फुरति स्वतः।
स्वभावं प्रकटीकर्तुं या देवीं तामहं श्रये।।
आसां मध्यात्तु देवीनां यदैका स्फुरति स्वतः।
सर्वास्तदैव सततं सामरस्येन भान्त्यलम्।

श्रीचिद्गगनचन्द्रिकाकार की दृष्टि—

पञ्चसु स्फुरति देवि! वृत्तिषु त्वन्मयीषु यदि काचन स्वतः।
शश्वदाशु निखिलास्तदैव ताः सामरस्यमधिरुह्य भान्त्यमूः।।

शिवदृष्टिकार की दृष्टि—शिवदृष्टि में आचार्य वसुगुप्त कहते हैं—

यदेकतरनिर्माणे कार्यं जातु न जायते।
तस्मात् सर्वपदार्थानां सामरस्यं व्यवस्थितम्।।

स्थितिक्रम—स्थितिक्रम में १२ शक्तियों की भूमिकायें रहती हैं। स्थिति किसे कहते हैं? महेश्वरानन्द कहते हैं कि स्थितिर्हि नाम सृष्टानां पदार्थानां यावत्संजिहीर्षोदयमयैवाकुल्येनावस्थानम्। कहा भी गया है—

स्थितिर्नाम स्वरूपस्य तत्तद्रूपतया धृतिः।

स्थितिचक्र में युगनाथरूप चार शक्तियाँ हैं अर्थात् चार देवियाँ हैं। साधिकार एवं निरधिकार विभाग से राजपुत्र १२ हैं। हृदय में कुलेश्वर एवं कुलेश्वरी हैं। युगनाथ उड्याण

पीठ, जालन्धर पीठ, पूर्णगिरिपीठ एवं कामरूपपीठ में अधिष्ठित हैं। शक्तियाँ शिरश्चक्र में हैं और युगनाथ एवं उनकी शक्तियों के चार-चार होने से उनकी शक्तियाँ ०८ हैं।

इन्द्रियों की १२ स्फुरत्तायें—

१. सृष्टि-सृष्टि	५. स्थिति-सृष्टि	९. संहार-सृष्टि
२. सृष्टि-स्थिति	६. स्थिति-स्थिति	१०. संहार-स्थिति
३. सृष्टि-संहार	७. स्थिति-संहार	११. संहार-संहार
४. सृष्टिस्तुरीय	८. स्थिति-तुरीय	१२. संहार-तुरीय

सर्वानुस्यूत भासा शक्ति ही त्रयोदशी शक्ति है।

कुलेश्वर ही अहंकार है। उसकी अभिमान शक्ति ही कुलेश्वरी है। संहार की ११ शक्तियाँ हैं। ये शक्तियाँ समस्त अन्तः-करण समष्टिरूप अहंकार एवं बाह्य १० इन्द्रियों को कवलित करती हुई स्फुरित होती हैं। अहंकार ही प्रमाता है। यही एकादश रुद्रत्व की मान्यता है। यही एकादश रूप में तत्त्वनिश्चय है।

अनाख्य क्रम को लें। अनाख्य क्रम में १३ शक्तियाँ हैं। यह अनाख्य चक्र ही तुरीय चक्र है; क्योंकि यह शक्ति आख्याशून्य है। इसीलिये इसे अनाख्या भी कहा गया है। आख्या पश्यन्ती आदि स्थूल वाक्त्रयोपेता है।

तुरीय शून्यमयी कक्षा है। यह अकथ्य शक्ति है।

पीठचतुष्टय में अखिलेश्वरी परमेश्वरी महादेवी ही व्याप्त हैं।

महेश्वर को राजा इसलिये कहा गया है; क्योंकि वे जगत् का रञ्जन करते हैं।

साधिकार क्रम से प्रवृत्त = बुद्धि। ५ कर्मेन्द्रियाँ।	निराधार क्रम से प्रवृत्त = मन। ५ ज्ञानेन्द्रियाँ।

साधिकार-निरधिकार भेद से राजपुत्र १२ हैं।

कुलेश्वर-कुलेश्वरी हृदय में स्थित हैं।

युगनाथ

१. पीठचतुष्टय में युगनाथ अधिष्ठित हैं।

२. युगानुसार (कलियुग आदि के अनुसार) नाथरूप में स्थित हैं।

३. स्वप्नादिक अवस्थाओं से समाक्रान्त विश्व की स्थापना में—अकार-उकार-मकार-नाद-प्रणवकलारूप मन्त्र के द्वारा ऐश्वर्यरूप तथा

४. कर्ता, ज्ञाता, व्यवसिता, चेतिता के क्रम से परम कर्तृस्फुरत्ता से अनुप्राणित रूप से विद्यमान है।

पीठानि = पीठान्योड्याणजालन्धरपूर्णगिरिकामरूपरूपाणि चत्वारि।

उड्याण। जालन्धर। पूर्णगिरि। कामरूप।

युगनाथ—परमकर्तृस्फुरत्तानुप्राणनाश्चत्वारः कर्तृविशेषा युगनाथा इत्युच्यन्ते।

उनकी देवियाँ—

> श्रृणोति शब्दमोलम्बे प्रेक्षते पुष्करद्वये।
> करालम्बेऽभिधत्ते च सह्ये जिघ्रति गन्धवत्।
> मातङ्गे तु महापीठे व्याप्नोत्यखिलमीश्वरी।।

पीठावस्थायें ऐश्वर्यरूपा हैं।

राजपुत्र की सार्थकता क्या है? पादुकोदय के अनुसार—

> जगतो रञ्जनाद् राजा साक्षाद् देवो महेश्वरः।
> तत्पुत्रा राजपुत्राः स्युः...।।

ये इन्द्रियाँ हैं।

श्रीचिद्गगनचन्द्रिकाकार की दृष्टि—ग्रन्थकार का कथन है—

> राजनात् प्रकृतिरञ्जनाच्च मां राजसंज्ञमनुबोधकर्मणोः।
> षट् त्वया पृथगमी प्रवर्तकाः पुत्रभावमधिरोपिताः शिवे।।

साधिकारत्व क्यों? कर्मप्राधान्य के कारण। निरधिकारत्व क्यों? ज्ञानोद्रेक-प्राधान्य के कारण। साधिकार कौन है? बुद्धिर्वागादीनि कर्मेन्द्रियाणि साधिकाराः (परिमल)। निरधिकार कौन है? मनःश्रोत्रप्रभृतीनि ज्ञानेन्द्रियाणि निरधिकारा राजपुत्राः (परिमल)। कुलेश्वर = कुलेश्वरोऽहङ्कारः (परिमल)। कुलेश्वरी = तस्याभिमानशक्तिः कुलेश्वरीति।

संहार किसे कहते हैं? महेश्वरानन्द कहते हैं—संहारो नाम बहिरुद्वान्तानां भावानां परमेश्वरे प्रकाशे पुनःप्रसूत्यौचित्येन वटधानादिनीत्या वासनात्मतयाऽवस्थानम्।

संहार में ११ शक्तियाँ हैं। ये शक्तियाँ अन्तःकरणसमष्टिभूत अहङ्कार, १० बाह्येन्द्रियों को कवलित करके स्फुरित होती हुई ११ हो जाती हैं।

अहङ्कार ही प्रमाता है। तत्र तादृगहङ्कार एव प्रमाता; क्योंकि तद्व्यतिरेकेण परिमितस्य तस्यानुपलम्भात्। प्रमाता = अहङ्कार है। प्रमाण क्या है? इन्द्रियाणि प्रमाणानि। प्रमेय क्या है? इन्द्रियग्राह्य पदार्थ ही प्रमेय हैं—तद् ग्राह्यं च प्रमेयमिति।

संहर्त्री कौन है? प्रमात्रादित्रिकमयं प्रमेयमन्तश्चर्वयन्त्यः कलाः संहर्त्य इत्युक्तं भवति (परिमल)। प्रमात्रादित्रिक (प्रमा, प्रमाण, प्रमेय आदि) को कवलित करने वाली कला या शक्ति को ही संहर्त्री कहा गया है।

अनाख्याक्रम—तुर्यमनाख्याचक्रम्। आख्या च पश्यन्त्यादि स्थूलवाक्त्रितयस्वभावा।

चिद्गगनचन्द्रिकाकार की दृष्टि—चिद्गगनचन्द्रिका में कहा गया है—

नादबिन्दुलिपिविग्रहा गिरस्तिस्र ऊर्ध्वगविमर्शशीकरा:।
संहृति-स्थिति-विसृष्टि-धामसु व्यापृतास्त्वदध ईशवल्लभे।।

संहृति-क्रम—तत्त्वदृष्ट्या संहृतानां प्रमात्रादीनां संहर्तृस्वभावसंविदग्निमात्रपारिशेष्य-स्वरूपतया निश्चीयते।

संविदुल्लासकार की दृष्टि—

उद्योगमयमालस्यं प्रकाशैकात्मकं तम:।
अशून्यं शून्यकल्पं च तत्त्वं किमपि शाम्भवम्।।

शून्यमयी कक्षा में स्थित कोई शून्यतत्त्व भी है क्या?

स्पन्दकारिकाकार की दृष्टि—स्पन्दकारिका में कहा गया है कि कोई अन्तर्विम्रष्टव्य तत्त्व अवश्य है, जो अलौकिक स्फुरत्ता से युक्त है—

तदा तस्मिन् महाव्योम्नि प्रलीनशशिभास्करे।
सौषुप्तपदवन्मूढ: प्रबुद्ध: स्यादनावृत:।।

स्तोत्रभट्टारक में कहा गया है—

अकथ्यं वा त्रयातीतमुपचारेण गीयते।

वहाँ मुख्य वृत्ति से शक्तिकल्पना उचित नहीं है तथापि उपचार से समीचीन है। ये शक्तियाँ १३ हैं। सृष्टि-विधायिका, स्थापयित्री एवं संहर्त्री शक्तियाँ ही १३ हो जाती हैं।

सृष्टि-सृष्टि, सृष्टि-स्थिति, सृष्टि-संहार, सृष्टि-तुरीय, स्थिति-सृष्टि, स्थिति-स्थिति, स्थिति-संहार, स्थिति-तुरीय, संहार-सृष्टि, संहार-स्थिति, संहार-संहार एवं संहार-तुरीय में अनाख्या एवं भासा का नामोल्लेख नहीं किया गया है। उक्त १२ इन्द्रिय-स्फुरत्ताओं में—

अनाख्याभासयोरत्र नोपदिष्ट: पृथङ्मनु:।

कारण क्या है? कारण है—उन शक्तियों की सर्वानुस्यूतता—सर्वानुस्यूतया तुरीय-सम्मिलितया भासाभट्टारिकया त्रयोदशीभूतानां परिस्पन्दतयाऽध्यवसीयन्ते।

महानयप्रकाशकार की दृष्टि—महानयप्रकाश में कहा गया है—

आसां द्विषट्कदेवीनां वमनग्रासतत्परम्।
देवीं त्रयोदशीं वन्दे तादात्म्यप्रतिपत्तये।।

इस समस्त प्रकरण का पूर्ण उद्घाटन स्तोत्रभट्टारक में बहुत अच्छी तरह किया गया है।

भासा है क्या? महेश्वरानन्द कहते हैं—भासा नाम सृष्ट्यादिकृत्याक्रान्तविश्ववैचित्र्य-

व्यवहारगर्भिणी सर्वोत्तीर्णा, सर्वानुग्राहिणी च पारमेश्वरी चिच्छक्तिः, या तदीयं स्वातन्त्र्यं स एवेत्यध्यवसीयते।[1]

पादुकोदय के अनुसार—

१. भासा च नाम प्रतिभा महती सर्वगर्भिणी।

२. स्वस्वभावशिवैकात्मदेशिकात्मकचिन्मयी।

३. यस्यां हि भित्तिभूतायां मातृमेयात्मकं जगत्।
प्रतिबिम्बतया भाति नगरादीव दर्पणे।।

४. स्वातन्त्र्यरूपा सा काचिच्चिच्छक्तिः परमेष्ठिनः।

५. तन्मयो भगवान् देवो गुरुर्गुरुमयी च सा।

स्थितिक्रम क्या है? स्थितिक्रम में २२ शक्तियाँ होती हैं। स्थिति क्या है? स्थितिर्हि नाम सृष्टानां पदार्थानां यावत्संजिहीर्षोदयमवैयाकुल्येनावस्थापनम्। कहा भी गया है—

स्थितिर्नाम स्वरूपस्य तत्तद्रूपतया धृतिः।

शक्तियों की स्थिति—

१. सृष्टि में १० कलायें ३. संहार में ११ कलायें
२. स्थिति में २२ कलायें ४. तुरीय पर्व में १३ कलायें

क्रमकेलि में कहा गया है कि जो निर्विमर्श तुर्यातीत की इच्छा करते हैं, वे निरुपदेश हुआ करते हैं—अतएव ये निर्विमर्शं तुर्यातीतमिच्छन्ति ते निरुपदेशा एव।

षोडशाधिका कौन है? सप्तदशी कला। १६ शक्तियाँ विश्वप्रतिबिम्बस्वभाव हैं। १६ शक्तियों से उत्तीर्ण विश्व विश्वोत्तीर्ण है।

अनाख्यक्रम में १३ शक्तियाँ हैं। अनाख्य चक्र ही तुरीय चक्र है। आख्य-शून्य होने के कारण ही इसे अनाख्य कहा गया है। तुरीय शून्याश्रयी कक्षाविशेष है। यह अवर्णनीय शक्ति है।

सर्वानुस्यूत भासा शक्ति ही तेरहवीं शक्ति है।

अवस्थाचतुष्टय के युग्म—

१. सृष्टि-सृष्टि	१. संहार-सृष्टि	१. स्थिति-स्थिति
२. सृष्टि-स्थिति	२. संहार-स्थिति	२. स्थिति-सृष्टि
३. सृष्टि-संहार	३. संहार-संहार	३. स्थिति-संहार
४. सृष्टि-तुरीय	४. संहार-तुरीय	४. स्थिति-तुरीय

---

१. महेश्वरानन्द—परिमल (गाथा ४०)

विकल्पातीता भासा शक्ति का स्वरूप

अथ सर्वोतीर्णां भासामुद्भासयति—

भासाए ण विअप्पो फुरइ फुरन्तेक्कणिक्कलिसिरीए।
जइ पडिबिम्बंगईए फुरइ परं छोलहाहिआ देवी॥४०॥

(भासायां न विकल्पः स्फुरति स्फुरदेकनिष्कलश्रियाम्।
यदि प्रतिबिम्बगत्या स्फुरति परं षोडशाधिका देवी॥)

विस्फुरणशीला, एकात्मिका (भेदप्रथातिक्रान्ता तथा अद्वितीया), कलाशून्य एवं ऐश्वर्यलक्षणा भासा (पारमेश्वरी चिच्छक्ति) में विकल्प स्फुरित नहीं होता। यदि कोई प्रतिबिम्बगता शक्ति स्फुरित (प्रकट) होती भी है तो वह कोई विलक्षण षोडश शक्तियों से परे (सप्तदशी) शक्ति है॥४०॥

भासा नाम सृष्ट्यादिकृत्याक्रान्तविश्ववैचित्र्यव्यवहारगर्भिणी सर्वोत्तीर्णा सर्वानुग्राहिणी च पारमेश्वरी चिच्छक्तिः, या तदीयं स्वातन्त्र्यं स एवेत्यध्यवसीयते। यथोक्तं श्रीपादुकोदये—

भासा च नाम प्रतिभा महती सर्वगर्भिणी।
स्वस्वभावशिवैकात्मदेशिकात्मकचिन्मयी ॥
यस्यां हि भित्तिभूतायां मातृमेयात्मकं जगत्।
प्रतिबिम्बतया भाति नगरादीव दर्पणे॥
स्वातन्त्र्यरूपा सा काचिच्चिच्छक्तिः परमेष्ठिनः।
तन्मयो भगवान् देवो गुरुर्गुरुमयी च सा॥ इति।

सा च स्फुरदेकनिष्कलश्रीः स्फुरन्ती स्वान्यविभागशून्यमुल्लसन्ती एका भेदप्रथाऽतिक्रान्ता स्वात्मतादात्म्यशालिनी च भवन्ती निष्कला सृष्ट्यादिवद्विभागोद्देशादिविकल्पविक्षोभमसहमाना श्रीरुद्यदनुरूपैश्वर्यलक्षणा यस्यामिति कृत्वा। तस्यां विकल्प एवमियमित्यादिरूपा विरुद्धा कल्पना न प्रकाशते। यदि किमपि स्फुरति, तत् षोडशाधिकैव। सा च प्रतिबिम्बनीत्यैवेत्यक्षरार्थः। एतदुक्तं भवति—परमेश्वरस्य परमसंवित्स्वातन्त्र्यस्फारस्फुरत्तास्वरूपायामस्यां भासायां वैश्वात्म्यप्रथापारिशेष्यात् स्वतो न काचिद् विकल्पोदयशङ्का सम्भवति। अपि तु, स्वच्छतोत्कर्षशालितया प्रागुपन्यस्तानि सृष्ट्यादीन्येव चक्राण्यस्यां प्रतिबिम्बयुक्त्या परिस्फुरन्तीत्यनया भङ्ग्या तत्तच्छक्तीनां विकल्पेनोपासनमपि किञ्चित् संगच्छते। यदुक्तं श्रीक्रमकेलौ—'अत एव ये निर्विमर्शं तुर्यातीतमिच्छन्ति, ते निरुपदेशा एव' इति। षोडशाधिकेति, सप्तदशी कला। तत्र षोडश शक्तयो विश्वप्रतिबिम्बस्वभावाः। अन्त्या तु—

विश्ववैचित्र्यचित्रस्य समभित्तितलोपमा ।

इति श्रीप्रत्यभिज्ञाप्रक्रियया तत्समष्ट्यात्मकतया तदधिष्ठानभूतेति षोडशाधिकया विश्वं तदुत्तीर्णः परमेश्वरश्च द्वितयमपि संगृह्यते। प्रतिबिम्बप्रक्रिया च स्फटिकमुकुरादिव्यतिरेकादलौकिकी काचिदङ्गीकर्तव्या। यतः स्फटिकादेः प्रतिबिम्बनं प्रति बिम्बापेक्षावश्यम्भावः। अस्यास्तु समस्तस्यापि प्रपञ्चस्य प्रतिबिम्बनं प्रति भित्तिभूतत्वादेतद्विपर्ययः। इदं चोपर्यपि भविष्यति। एतच्चक्रानुप्रविष्टा चेयं षोडशाधिका, षोडशविकारप्रतिबिम्बतत्समष्टिरूपत्वात् प्रथमं सप्तदशस्फुरणप्रकारा भवन्ती पश्चात् प्रकाशविमर्शद्वयभेदोपश्लेषवशाद् भैरवभैरवीविभागयुक्त्या चतुस्त्रिंशदंशतयाऽनुभूयते। सा च विकासयुक्त्या पञ्चाशद्वर्णात्मकविश्वप्रसरपरामर्शपरमार्थतया परिस्फुरन्ती संक्षेपमुद्रया पर्यालोच्यमाना, पीठनिकेतनं प्रति पञ्चधा वहतो गुरुभट्टारकाविभिन्नस्य परमेश्वरस्य यानि मूर्तिप्रकाशानन्दवृन्दचक्ररूपाणि सृष्ट्यादिपञ्चकात्मकानि च नव चक्राणि, तन्मयी श्रीनवाक्षरी सम्पद्यते। ततोऽपि संक्षेपे सर्वस्यापि प्रपञ्चस्य पञ्चवाहपारिशेष्यात् पञ्चपिण्डत्वेन, तस्य च वाग्भवे बीजे, तस्याप्यनुत्तरकलायाम्, अमुष्या अपि स्वात्मपरामर्शमात्रे पर्यवसानमिति। एषा च सिद्धान्तेषु तत्तदधिकाराधिरोहक्रमतारतम्यादन्यथाऽन्यथा व्यवह्रियते। यदाहुः—

येन येन स्वरूपेण भाव्यते तस्य तन्मयी ।
माहेश्वराणां शक्तिः सा सांख्यानां प्रकृतिः परा ।।
महाराज्ञी च सौराणां तारा सुगतवन्दिनाम् ।
लोकायतिकमुख्यानां तदात्वा सा प्रकीर्तिता ।।
शान्ता पाशुपतादीनामर्हतां श्रीश्च तद्विदाम् ।
श्रद्धा हैरण्यगर्भाणां गायत्री वेदवादिनाम् ।
अज्ञानतिमिरान्धानां सर्वेषां मोहनी स्मृता ।। इति।

इत्थमाशयेन लघुभट्टारकैरप्युक्तम्—

लक्ष्मीं राजकुले जयां रणमुखे क्षेमङ्करीमध्वनि
क्रव्यादद्विपसर्पभाजि शबरीं कान्तारदुर्गे गिरौ ।
भूतप्रेतपिशाचजम्भकभये स्मृत्वा महाभैरवीं
व्यामोहे त्रिपुरां तरन्ति विपदं तारां च तोयप्लवे ।। इति।

एवमम्बास्तवेऽपि—

त्वं चन्द्रिका शशिनि तिग्मरुचौ रुचिस्त्वं
त्वं चेतनासि पुरुषे, पवने बलं त्वम् ।
त्वं स्वादुतासि सलिले, शिखिनि त्वमूष्मा
निस्सारमेव निखिलं त्वदृते यदि स्यात् ।। इति।

इत्थं मदीयश्रीपरास्तोत्रेऽपि—

दातॄणां करपल्लवेषु करिणां गण्डेषु पृथ्वीरुहां
पुष्पेषु स्तनमण्डलेषु सुदृशामंसेषु भूमीभुजाम्।
कण्ठाग्रेषु च गायतां कवयतां जिह्वासु चेतस्विनां,
सङ्कल्पेषु च कल्पयन्ति कतिचिद्धन्यास्तवैवोद्यमम्।। इति।

आगमेऽपि—

सैव काली महादेवी गीयते लोकवेदयोः।
इतिहासेषु तन्त्रेषु सिद्धान्तेषु कुलेषु च।। इति।

तथा च श्रीभगवद्गीतासु—

यद्यद् विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्।। इति।

एवम्—

जन्मकाले भवेन्माता, पूजाकाले च देवता।
रतिकाले भवेद् दूती मृत्युकाले च कालिका।।

इत्याद्यूह्यम्। तत्रोद्दिष्टभङ्ग्या सृष्ट्यादिभासान्तं चक्रं श्रीदेवपाणिसम्प्रदायानुप्रविष्टैरस्माभिरनुसन्धीयते, न पुनरेतद्विपर्ययेण। यथा श्रीक्रमसद्भावे—

तेषां मध्यात् क्रमेणैव आदौ पूज्यस्तु कः क्रमः।
तन्मे कथय सुश्रोणि! विस्तरेण यथाविधि।।

इति प्रश्नानन्तरम्—

पुरा यत् कथितं देव! पञ्चवाहमहाक्रमम्।
तेषां तु क्रमराजानां सृष्टिरूपोऽग्रतः सदा।।
ततस्तु स्थितिसंहारमनाख्यं च ततः परम्।
भासाख्यं च ततः पश्चात् पूजयेदक्रमक्रमम्।। इति।

एतत्पञ्चकप्रणेतृत्वमेव परमेश्वरस्य तत्पारमैश्वर्यमित्यसकृदवोचाम। यत्रष्टार्थचतुष्कावभासनम्, लीनमेयत्रयवासनानुवृत्तित्वम्, मेयमानघस्मरवेत्तृत्वम्, सविकल्पकमेयविमर्शः, निर्विकल्पकमेयावभास इति क्रमादागमेषु संक्षेपेणोपपाद्यते। अत्र च तत्तद्देवतामन्त्रोद्धारो मदीये महार्थोदये पर्यालोचनीयः।।४०।।

भासा शक्ति का स्वरूप

महेश्वरानन्द की दृष्टि—महेश्वरानन्द परिमल में कहते हैं—भासा नाम सृष्ट्यादि-

कृत्याक्रान्तविश्ववैचित्र्यव्यवहारगर्भिणी सर्वोत्तीर्णा सर्वानुग्राहिणी च पारमेश्वरी चिच्छक्तिः या तदीयं स्वातन्त्र्यं स एवेत्यध्यवसीयते।

श्रीपादुकोदयकार की दृष्टि—श्रीपादुकोदय में कहा गया है—

भासा च नाम प्रतिभा महती सर्वगर्भिणी।
स्वस्वभावशिवैकात्मदेशिकात्मकचिन्मयी ।।
यस्यां हि भित्तिभूतायां मातृमेयात्मकं जगत्।
प्रतिबिम्बतया भाति नगरादीव दर्पणे।।
स्वातन्त्र्यरूपा सा काचिच्छिच्चक्तिः परमेष्ठिनः।
तन्मयो भगवान् देवो गुरुर्गुरुमयी च सा।।

महेश्वरानन्द की दृष्टि—महेश्वरानन्द उसका स्वरूप इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं—

१. सा च स्फुरदेकनिष्कलश्रीः स्फुरन्ती स्वान्यविभागशून्यमुल्लसन्ती **एका**।

२. भेदप्रथाऽतिक्रान्ता स्वात्पतादात्म्यशालिनी च भवन्ती **निष्कला**।

३. सृष्ट्यादिवद्विभागोद्देशादिविकल्पविक्षोभमसहमाना **श्री**रुद्यदनुरूपैश्वर्यलक्षणा यस्यामिति।

४. तस्यां **विकल्प** एवमियमित्यादिरूपा विरुद्धा कल्पना न प्रकाशते।

५. यदि किमपि स्फुरति तत् **षोडशाधिकैव**।[1]

परमेश्वरस्य परमसंवित्स्वातन्त्र्यस्फारस्फुरत्तास्वरूपायामस्यां **भासायां वैश्वात्म्य-प्रथा**पारिशेष्यात् स्वतो न काचिद् विकल्पोदयशङ्का सम्भवति।

६. अपितु स्वच्छतोत्कर्षशालितया प्रागुपन्यस्तानि सृष्ट्यादीन्येव चक्राण्यस्यां प्रति-बिम्बयुक्त्या परिस्फुरन्तीत्यनया भङ्ग्या तत्तच्छक्तीनां विकल्पेनोपासनमपि किञ्चित् संगच्छते।[2]

क्रमकेलिकार की दृष्टि—श्रीक्रमकेलि में कहा गया है—अतएव ये निर्विमर्शं तुर्यातीतमिच्छन्ति ते निरुपदेशा एव।

श्रीक्रमसद्भावकार की दृष्टि—श्रीदेवपाणि सम्प्रदायानुप्रविष्ट महेश्वरानन्द इसी सम्प्रदाय के सिद्धान्तानुसार सृष्ट्यादिभासान्त चक्रों की व्याख्या करते हैं।

श्रीक्रमसद्भाव में प्रश्नोत्तर-पद्धति द्वारा इस विषय पर इस प्रकार प्रकाश डाला गया है—

तेषां मध्यात् क्रमेणैव आदौ पूज्यस्तु कः क्रमः?
तन्मे कथय सुश्रोणि! विस्तरेण यथाविधि।।

* * * * * * *

१-२. महेश्वरानन्द : परिमल (४०)

पुरा यत् कथितं देव! पञ्चवाहमहाक्रमम्।
तेषां तु क्रमराजानां सृष्टिरूपोऽग्रतः सदा।।
ततस्तु स्थितिसंहारमनाख्यं च ततः परम्।
भासाख्यं च ततः पश्चात् पूजयेदक्रमक्रमम्।।

षोडशाधिका = सप्तदशी कला। १६ कलायें क्या हैं? षोडश शक्तयो विश्वप्रतिबिम्बस्वभावाः। अन्तिम का स्वरूप क्या है? अन्त्या तु—

विश्ववैचित्र्यचित्रस्य समभित्तित-लोपमा।

प्रतिबिम्बवाद का खण्डन—महेश्वरानन्द कहते हैं कि यदि जगत् एवं शक्ति में बिम्ब-प्रतिबिम्बवाद के सिद्धान्त को (सम्बन्ध की दृष्टि से) कल्पित करें तो यह दृष्टि अनुपयुक्त होगी; क्योंकि बाह्य जगत् में बिम्ब, प्रतिबिम्ब एवं मुकुर—तीन पदार्थ होते हैं; किन्तु शैवागम के अनुसार तो 'स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति' (शक्तिसूत्र) के अनुसार शक्ति अपनी ही आत्मभित्ति पर (किसी बाह्य दर्पण पर नहीं) अपने ही स्वरूप को जगत् के रूप में उन्मीलित करती है। अतः यहाँ एक को छोड़कर अन्य (दर्पण, बिम्ब एवं प्रतिबिम्ब आदि की अनेकता) की अपेक्षा होती ही नहीं। यहाँ बिम्ब, प्रतिबिम्ब एवं दर्पण—तीनों शक्ति ही है।

महेश्वरानन्द कहते हैं—प्रतिबिम्बप्रक्रिया च स्फटिकमुकुरादिव्यतिरेकादलौकिकी काचिदङ्गीकर्तव्या। यतः स्फटिकादेः प्रतिबिम्बनं प्रति बिम्बापेक्षावश्यम्भावः। अस्यास्तु समस्तस्यापि प्रपञ्चस्य प्रतिबिम्बनं प्रति भित्तिभूतत्वादेतद्विपर्ययः।[1]

षोडशाधिका = १६ तत्त्वों से अतीत कोई अन्य १७वीं शक्ति—सप्तदशी शक्ति। चूँकि १६ तत्त्वों की तो वह स्वयं उद्भाविका है और उसमें अनुप्रविष्ट भी है; अतः वह १७वीं शक्ति है; अतः षोडशाधिका है—

१. एतच्चक्रानुप्रविष्टा चेयं षोडशाधिका।

२. षोडशविकारप्रतिबिम्बतत्समष्टिरूपत्वात् प्रथमं सप्तदशस्फुरणप्रकारा भवन्ती।

३. (तत्पश्चात्) प्रकाशविमर्शद्वयभेदोपश्लेषवशाद् भैरव-भैरवीविभागयुक्त्या चतुस्त्रिंशदंशतयाऽनुभूयते।

४. वही विश्व विकास की दिशा में ५० वर्णों के परिणामस्वरूप विश्व-प्रसार का परामर्शन करती है। वही पीठनिकेतन के प्रति पञ्चधा प्रवहमान होती है। गुरुभट्टारक परमेश्वर से अभिन्न मूर्तिप्रकाशानन्दवृन्दचक्र के रूपों में परिस्फुरित होती हुई एवं सृष्ट्यादि पञ्चकात्मक नव चक्रों का रूप धारण करती हुई नवाक्षरी के रूप में भी अवतरित होती है। वह स्वात्मपरामर्शात्मा है—स्वात्मपरामर्शमात्रे पर्यवसानम् इति।

ग्रन्थान्तरकार की दृष्टि—ग्रन्थान्तर में कहा गया है—

---

१. महेश्वरानन्द (गाथा-४० परिमल)

येन येन स्वरूपेण भाव्यते तस्य तन्मयी।
माहेश्वराणां शक्तिः सा सांख्यानां प्रकृतिः परा।।
महाराज्ञी च सौराणां तारा सुगतवन्दिनाम्।
लोकायतिकमुख्यानां तदात्वा सा प्रकीर्तिता।।
शान्ता पाशुपतादीनामर्हतां श्रीश्च तद्विदाम्।
श्रद्धा हैरण्यगर्भाणां गायत्री वेदवादिनाम्।
अज्ञानतिमिरान्धानां सर्वेषां मोहनी स्मृता।।

अर्थात् उस परा शक्ति को माहेश्वरों ने शक्ति, सांख्यवादियों ने प्रकृति, सौरों ने महाराज्ञी, सौगतों ने तारा, पाशुपतों ने शान्ता, आर्हतों ने श्री, हैरण्यगर्भों ने श्रद्धा, वेदज्ञों ने गायत्री एवं अज्ञानियों ने मोहनी आख्या दी है।

लघुभट्टारककार की दृष्टि—(शक्ति की अनेक संज्ञायें) लघुभट्टारककार का कथन है—

लक्ष्मीं राजकुले जयां रणमुखे क्षेमङ्करीमध्वनि
क्रव्यादद्विपसर्पभाजि शबरीं कान्तारदुर्गे गिरौ।
भूतप्रेतपिशाचजम्भकभये स्मृत्वा महाभैरवीं
व्यामोहे त्रिपुरां तरन्ति विपदं तारां च तोयप्लवे।।

अम्बास्तवकार की दृष्टि—भगवती के अनेक रूप, अनेक धर्म, अनेक स्वभाव एवं अनेक लक्षण होने के कारण उनका स्वरूप विविधात्मक है; यथा—

त्वं चन्द्रिका शशिनि तिग्मरुचौ रुचिस्त्वं,
त्वं चेतनासि पुरुषे पवने बलं च।
त्वं स्वादुतासि सलिले शिखिनि त्वमूष्मा
निस्सारमेव निखिलं त्वदृते यदि स्यात्।।

श्रीपरास्तोत्रकार की दृष्टि—श्रीपरास्तोत्रकार महेश्वरानन्द कहते हैं कि पराम्बा के अनन्त रूप, अनन्त नाम एवं अनन्त धर्म हैं—

दातॄणां करपल्लवेषु करिणां गण्डेषु पृथ्वीरुहां
पुष्पेषु स्तनमण्डलेषु सुदृशामंसेषु भूमीभुजाम्।
कण्ठाग्रेषु च गायतां कवयतां जिह्वासु चेतस्विनां
सङ्कल्पेषु च कल्पयन्ति कतिचिद्धन्यास्तवैवोद्यमम्।।

आगमों की दृष्टि—बहुदेवत्ववाद का खण्डन करते हुये यह कहा गया है कि एक की ही अनन्त अभिव्यक्तियाँ हैं। उन अभिव्यक्तियों को परा सत्ता की विविधता के रूप में ग्रहण करना समीचीन नहीं है; क्योंकि—

(क) एको ब्रह्म द्वितीयो नास्ति।

(ख) एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति।

(ग) एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं-रूपं प्रतिरूपो बभूव आदि।

भगवती के विषय में भी यही बात कही गई है—

सैव काली महादेवी गीयते लोकवेदयोः।
इतिहासेषु तन्त्रेषु सिद्धान्तेषु कुलेषु च।।

भगवद्गीताकार की दृष्टि—भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि जगत् में जो-जो विभूतियाँ हैं, वे सभी मेरी हैं—मेरे तेज का ही अंश हैं—

यद्यद् विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्ज्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्।।

एक ही शक्ति विभिन्न अवस्थाओं में विभिन्न रूप वाली हो जाती है—

जन्मकाले भवेन्माता पूजाकाले च देवता।
रतिकाले भवेद् दूती मृत्युकाले च कालिका।।

भासा शक्ति और उसका स्वरूप

अथेत्थमुपदिष्टस्य सृष्ट्यादिपञ्चकस्य प्रत्येकं स्फुरणप्रकारे किञ्चिद् यौगपद्यं विम्रष्टव्यमित्याह—

सिट्ठीए पञ्चमकला भासेत्ति जणो गणइ ववहाणं।
सिट्ठीए मूलकन्दो भासा भासाए पल्लवो सिट्ठी ।।४१।।

(सृष्टेः पञ्चमकला भासेति जनो गणयति व्यवधानम्।
सृष्टेर्मूलकन्दो भासा भासायाः पल्लवः सृष्टिः।।)

सृष्टि की पाँचवी कला (शक्ति) भासा है। लोग इसमें क्रम का अतिक्रमण मानते हैं। सृष्टि का मूल कन्द (केन्द्र) भासा शक्ति है। भासा (शक्ति) का पल्लव (प्रारम्भिक स्फुरण) ही सृष्टि है।।४१।।

परमेश्वरो ह्यलातचक्रच्छायया सृष्ट्यादीनि पञ्चकृत्यान्यविच्छिन्नमुद्भावयन् स्रष्टृत्वस्थपयितृत्वाद्यशेषानुवृत्तमात्मनः कर्तृत्वोत्कर्षमनुभवन्नास्ते, येनायं विम्रष्टृत्वापरपर्यायेण जडब्रह्मवादिसिद्धान्तपङ्कपल्वलोत्तीर्णः कौलागममहामृतार्णवकर्णधारतयाऽवधार्यते। तथा च सति योऽयं जनो वस्तुतत्त्वपरिज्ञानाभावाज्जननमरणादिपीडितः प्रमातृलोकः, स सृष्टिमारभ्य भासापर्यन्तचक्रपञ्चकक्रमगणनया सृष्टेः सकाशात् स्थित्यादिचक्रत्रितयान्तरिता पञ्चमी शक्तिर्भासेत्यनयोर्विच्छेदमवबुध्यते। तत्त्ववृत्त्या तु सृष्टेरधिष्ठानभूमिर्भासा। तस्याश्च प्रथमपरिस्पन्दस्वभावतया प्रसरद्रूपतया सृष्टिरिति विम्रष्टव्यम्। उपलक्षणं चैतत्। तेन स्थितेर्मूलकन्दः

सृष्टिः, सृष्टेः पल्लवः स्थितिरित्यादिक्रमोऽपि स्वयमूहनीयः। अत्रायं भावः— सृष्ट्यादिषु चतुर्षु कृत्येषु सृष्टिसृष्टिः, सृष्टिस्थितिरित्यादिक्रमेण प्रत्येकं चातुर्विध्यम्, पर्यन्ततो भासापर्यवसायित्वं च। भासा च स्वरूपनिष्कर्षावलोकने संविदैक्य-परामर्शचमत्कारसारापि विश्वप्रतिबिम्बयुक्त्यनुप्रविष्टप्रपञ्चस्वभावानुकारितया पञ्चकस्वरूपैवेति। पञ्चापि कृत्यानि प्रम्येक पञ्चकात्मकतां नातिक्रामन्ति। तेषु च पूर्वपूर्वपञ्चकस्य पञ्चमीं कलामवलम्ब्योत्तरोत्तरस्य पञ्चकस्य प्राथमिकी परिस्फुरति। एवमुत्तरोत्तरपञ्चकप्रथमस्फुरत्तानामधोधःपञ्चकपर्यन्तशक्तिषु विश्रा-न्त्यनुभव इत्युत्पलदलदशशतविदलनलाघवोल्लासवत् क्रमसद्भावेऽप्यसंलक्ष्य-क्रमा पारमेश्वरी पञ्चकृत्यचक्रनिर्व्यूढिरत्यन्तगाढाभ्यासैः प्रौढैः कैश्चिद् विम्रष्टव्य-तयाऽवतिष्ठत इति। इत्थमेतत्क्रमपरामर्श एव स्वात्मविमर्शरूपो जीवन्मोक्षः। यत आज्ञाधरत्वादयो बाह्यविभूतिपरिस्पन्दाः स्वयमवर्जनीयतयोन्मिषन्ति। स च गुरुकटाक्षसम्पर्कादृते न सम्पद्यते। यथा श्रीक्रमसिद्धौ—

क्रकारः क्रोधरूपस्तु मकारो मङ्गलो भवेत्।
क्रोधे तु मङ्गलं कुर्यात् क्रमः कालक्रमो भवेत्।।
गुर्वायत्तं क्रमज्ञानमाज्ञासिद्धिकरं परम्।
क्रमज्ञानान्महादेवि! त्रैलोक्यं कवलीकृतम्।। इति।

शाक्तों के मतानुसार प्रकाशात्मा पूर्ण सत्ता ही भासा शक्ति है। इस शक्ति से युक्त अवस्था ही अनाख्या है।

(क) भासा से अनाख्या में अवतरण निग्रह या तिरोधान है।
(ख) अनाख्या से भासा में आरोहण अनुग्रह है।

तिरोधान—तिरोधान के फलस्वरूप चतुर्दल कमल का आविर्भाव होता है। इसके विकास से षोडशदल तक विकास होता है।

अनुग्रह—अनुग्रह के फलस्वरूप षोडश दल से चतुर्दल तक की गति होती है एवं उसके बाद अनाख्या के आश्रय से भासा में स्थिति होती है।

भासा में आत्मा अविभक्त और अविभाज्य एवं अव्ययस्वरूप होती है। यही पुरुष है। अनाख्या में चतुर्दल प्रकृति में स्थिति होती है। अविभक्त होते हुये भी यह विभाज्य है।

अनुग्रह शक्ति के प्रभाव से क्रमशः—१. प्रमेय से प्रमाण २. प्रमाण से प्रमाता ३. प्रमाता से अनाख्या ४. अनाख्या से पूर्ण (भासा) में प्रवेश होता है। पूर्ण और भासा अभेद रूप में विद्यमान है। तिरोधान काल में वह पृथक् भाव से स्फुरित होता है। इसी की संज्ञा है—शक्तिचक्र (प्रकृति)।

१. भासा शक्ति—सृष्टि की पाँचवीं कला (शक्ति) भासा शक्ति है। इसमें क्रमाति-

क्रम पाया जाता है। सृष्टि का तो मूल कन्द ही भासा शक्ति है। भासा शक्ति का पल्लव (प्रारम्भिक स्फुरण) सृष्टि का आरम्भ है।

सृष्टि से भासा पर्यन्त सृजन—१. सृष्टि २. स्थिति ३. संहार ४. अनाख्य एवं ५. भासा शक्ति। इस क्रम में तो व्यवधान आता है। मान्य प्रचलित क्रम निम्नाङ्कित है—

१. सृष्टि-स्थिति २. सृष्टि-संहार ३. सृष्टि-भासा। इसमें भासा शक्ति तो परमेश्वर की तत्त्वरूपा, परम स्वतन्त्र चिच्छक्ति है। सृष्टि तो भासा शक्ति का स्फुरणमात्र है। भासा शक्ति तो सृष्टि का आदि कन्द है। तात्त्विक दृष्टि से भी सृष्टि का आदि स्रोत—आदि भूमि भासा शक्ति है।

१. भासा कला का सबसे पहले स्फुरण होता है।

२. भासा शक्ति एकमात्र संवित् (चिच्छक्ति = ज्ञान कला) के परामर्श (स्फुरण) का परम चमत्कार है।

३. सृष्टि, स्थिति आदि में जो पाँचवीं शक्ति भासा शक्ति है, वही सभी में प्रधान है।

क्रमविमर्श ही जीवन्मोक्ष है।

४. सृष्टेर्मूलकन्दो भासा भासाया: पल्लव: सृष्टि:। सृष्टे: पञ्चम कला भासेति।

५. तत्त्वदृष्ट्या तु सृष्टेरधिष्ठानभूमिर्भासा।

सृष्टि परमेश्वर के अलात चक्र की छायामात्र है—परमेश्वरो ह्यालाताचक्रच्छायया सृष्ट्यादीनि पञ्चकृत्यान्यविच्छिन्नमुद्भावयन्।

जड़ब्रह्मवादियों का सिद्धान्त—शांकर केवलाद्वैत या जड़ब्रह्मवाद में परमात्मा स्रष्टृत्व से शून्य है; अत: स्थापयितृत्व आदि से भी अतीत है; किन्तु शैवागमिकों की दृष्टि में परमेश्वर पञ्चकृत्यकारी है। महेश्वरानन्द जड़ब्रह्मवाद का प्रत्याख्यान एवं आगमिक शैव दृष्टि तथा कौलागम का प्रतिपादन करते हुये कहते हैं—जड़ब्रह्मवादिसिद्धान्त-पङ्कपल्लवोत्तीर्ण: कौलागममहामृतार्णवकर्णधारतयाऽवधार्यते।[१]

जो व्यक्ति वस्तुतत्त्व के परिज्ञानाभाव के कारण जन्म-मरणादि (आवागमन चक्र) से संत्रस्त प्रमातृलोक है, वह सृष्टि का आरम्भ करके भासापर्यन्त चक्रपञ्चक की क्रम-गणना द्वारा सृष्टि के साथ स्थिति आदि चक्रत्रितयन्तरिता पञ्चमी शक्ति भासा को इनसे अधिक महत्त्व का जानता है।

तत्त्ववृत्ति के अनुसार तो सृष्टि की अधिष्ठान भूमि भासा शक्ति है। इस भासा शक्ति का प्रथम परिस्पन्द स्वभाव एवं प्रसृत रूप के अनुसार सृष्टि के रूप में विम्रष्टव्य है।

१. अत: स्थिति का मूल कन्द सृष्टि है।

२. सृष्टि का पल्लव स्थिति है। यही ऊहनीय है। भाव यह है कि—सृष्ट्यादिक

१. महेश्वरानन्द : स्वोपज्ञपरिमल

चारो कार्यों में सृष्टि-सृष्टि, सृष्टि-स्थिति इत्यादि क्रम प्रत्येक को चार प्रकारों में विभाजित करता है और इसका अन्तिम रूप भासा शक्ति है।

३. भासा शक्ति के स्वरूप के विषय में महेश्वरानन्द कहते हैं—भासा च स्वरूप-निष्कर्षावलोकने संविदैक्यपरामर्शचमत्कारसारापि विश्वप्रतिबिम्बयुक्त्यनुप्रविष्टप्रपञ्चस्व-भावानुकारितया पञ्चकस्वरूपैवेति।

पाँचों कार्यों में प्रत्येक पञ्चकात्मक है। पाँचों भेद पञ्चमी कला (भासा शक्ति) पर आश्रित हैं। यह क्रम-परामर्श ही स्वात्मविमर्शात्मक जीवन्मोक्ष है—इत्थमेतत्क्रमपरामर्श एव स्वात्मविमर्शरूपो जीवन्मोक्षः।

श्रीक्रमसिद्धिकार की दृष्टि—श्रीक्रमसिद्धि में कहा गया है—

ककारः क्रोधरूपस्तु मकारो मङ्गलो भवेत्।
क्रोधे तु मङ्गलं कुर्यात् क्रमः कालक्रमो भवेत्।।
गुर्वायत्तं क्रमज्ञानभासासिद्धिकरं परम्।
क्रमज्ञानान् महादेवि! त्रैलोक्यं कवलीकृतम्।।

तिरोधान काल से सम्बद्ध शक्तिचक्र (प्रकृति) पुरुष से प्रकृति का आविर्भाव है या यह ब्रह्म से माया का उदय है। तिरोधान, आत्मसंकोच या कालचक्र का आविर्भाव है। इसमें प्रतिपद से अमावस्या तक कृष्णपक्ष है। अमावस्या पूर्ण सङ्कोच का प्रतीक है। इस अवस्था में चित्कला का सम्पूर्ण आकुञ्चन होता है। मात्र एक ही कला शेष रहती है और इसी की आख्या है—अमा।

पूर्ण से ही अनाख्या का आविर्भाव होता है। यह आविर्भाव तो विवर्तरूप है; किन्तु अनाख्या से जिस त्रिपुटी का आविर्भाव होता है, वह परिणामरूप है। अनाख्या से पूर्ण (भासा) में प्रवेश परमानुग्रहस्वरूप है।

आरोहक्रम में प्रथमतः रहती है—अपनी चेष्टा। यही है—आणव उपाय। इसके बाद आता है—शाक्त स्रोत। शाक्त स्रोत साधक को स्वयमेव बहा ले जाता है। लक्ष्य क्या है? अनाख्या। अनाख्या में जाकर प्रतीक्षा करनी पड़ती है; क्योंकि उसके आगे भासा में प्रवेश अपनी शक्ति से सम्भव नहीं रह जाता। भासा साधक को स्वयमेव अपनी ओर खींचती है।

अनाख्या से भासा में पदार्पण तभी सम्भव हो पाता है जब आत्मा 'विवृणुते तनुं स्वाम्'। अनाख्या तक अनुग्रह शक्ति स्वयमेव (साधक को) ऊपर खींचती है; किन्तु इसके आगे महाशक्ति खींचती है। अनुग्रह की धारा ही आरोहक्रम में अनाख्या है।

(क) अवरोह काल = शिव का शक्तिरूप में अवतरण।

(ख) आरोह काल = शक्ति की शिवरूप में स्थिति।

अनाख्या के बाद आती है—भासा शक्ति। इसमें हैं—अनन्त व्यवधान। व्यवधान

का कारण है—तिरोधान। शक्ति की दो अवस्थायें है—१. कुल २. अकुल। शक्ति की निरुत्थान दशा को ही कुलाकुलस्वरूप आत्मलीनावस्था, सामरस्य भूमि, सत्ता, अहन्ता, परा, स्फुरत्ता एवं भासा आदि कहा गया है। शिव भी शक्ति की ही एक नित्य-सिद्ध अवस्था है।

कुलशक्ति पिण्ड की आधारभूता कुण्डलिनी शक्ति है; किन्तु अकुलशक्ति साक्षात् शक्ति है।

भासा शक्ति के विषय में स्वयं महार्थमञ्जरीकार भी कहते हैं कि—विस्फुरणधर्मा, एकात्मिका, कलाशून्या एवं ऐश्वर्यलक्षणा पारमेश्वरी चिच्छक्ति के स्वरूप वाली शक्ति ही भासा शक्ति है। इसमें विकल्पों का स्फुरण नहीं होता और वह षोडशाधिका देवी है—

भासायां न विकल्पः स्फुरति निष्कलश्रियाम्।
यदि प्रतिबिम्बगत्या स्फुरति परं षोडशाधिका देवी।।

पूजा एवं पूजा के सारभूत तत्त्व

एवमियता प्रपञ्चेन पूज्यदेवताचक्रस्वरूपं परमार्थतः परामृश्येदानीमस्याः पूजायाः पूर्वप्रस्तुताया अपि निष्कृष्टं वपुरुपपादयितुमाह—

णिअबलणिभालणच्चिअ वरिवस्सा सा अ दुल्लहा लोए।
सुलहाइ वीसपइणो आसवतम्बुल्लगन्धपुप्फाइं ।।४२।।

(निजबलनिभालनमेव वरिवस्या सा च दुर्लभा लोके।
सुलभानि विश्वपतेरासवताम्बूलगन्धपुष्पाणि।।)

आत्मशक्ति का निभालन (साक्षात्कार, अभिज्ञा या परामर्श) ही पूजा (वरिवस्या) है। यह संसार में अत्यन्त दुर्लभ है। विश्व के स्वामी की पूजा हेतु आसव, ताम्बूल, गन्ध एवं पुष्पादिक द्रव्य तो सुगमता से प्राप्त हो जाते हैं।।४२।।

पूजा हि चारो रावश्चरुर्मुद्रेति चतुर्विधतयाम्नायते। यथा श्रीचिद्गगनचन्द्रिकायाम्—

चाररावचरुभिर्विभेदितैर्मुद्रया च यदुपासनं तव।
तद्वशेन भजते परम्परा तावकक्रमगता स्फुटीकृतम् ।। इति।

तत्र चारः समयाचारः। रावो विमर्शः। चरुः प्रथमद्वितीयादिद्रव्यम्। मुद्रा स्वात्मनः परमेश्वरत्वोपपादनाय स्वशरीरं प्रति कल्प्यमानः करचरणादिसन्निवेशविशेषो वेषधारणविशेषश्च। महती तु मुद्रा पर्यन्ततो राव एवान्तर्भवति। तत्र चतुर्ष्वपि पूजाक्रमेषु प्राधान्येन राव एवोपयुज्यते। अन्येषां तु पर्यन्ततस्तत्प्रयोजकतया परिग्रहणम्। तस्मात् स्वस्वरूपपरामर्श एव परमा पूजा। अन्यत्तु गन्ध-

पुष्पधूपदीपादि आडम्बरमात्रमिति तात्पर्यार्थः। अक्षरार्थस्तु—स्वहृदयस्फुरत्तारूपः परमेश्वर एव देवतेत्युक्तं वक्ष्यते च। तत्र यन्निजं स्वात्मतादात्म्यानुप्रविष्टं बलं विश्वविक्षोभसहिष्णुत्वलक्षणं विम्रष्टृत्वम्, तत्पर्यालोचनमेव वरिवस्या। तच्च बलमित्येव व्यपदिश्यते। यदुक्तं श्रीस्पन्दे—'अपि त्वात्मबलं मन्त्राः' इति, तदाक्रम्य बलं मन्त्राः इति च। श्रीप्रत्यभिज्ञाहृदये च—'बललाभे विश्वमात्मसात्करोति' इति। यथा च श्रुतिः—'न वा ओजीयो रुद्र! त्वदस्ति' इति। सा च सपर्या लोके सामान्येन पूजकतयाऽवस्थिते प्रमातृवर्गे निरूप्यमाणे स्वात्मदेवतया तेन परमेश्वरेण दुष्प्रापा, लोकस्य तथा निभालकत्वाभावात्। कतिचन महायोगिन एव हि तथा पर्यालोचयितुं प्रगल्भन्त इत्येतादृश्यैवार्चनया भाव्यम्। अन्या पुनरासवाद्यर्पणरूपा—

दीपार्पणं दवाग्ने पर्जन्यस्य प्रपाजलोद्धारः।
वात्यायाश्च पटाञ्चलवीजनमेतत् तवाद्य नैवेद्यम्॥

इत्यादिनीत्या तस्यात्यन्तसुलभतयाऽध्यवसीयते, यतोऽयं विश्वपतिर्विश्वस्य पूजाद्रव्याणां तदन्येषां च भावानां स्वात्मरूपतादात्म्योपपादकतयाऽधिष्ठाता भवति। तत् स्वत एवाशेषविश्वविलासव्यापकस्य भगवतः किमन्यकर्तृकासवताम्बूलाद्यर्पणडम्भविडम्बनेनेत्यर्थः। यदुक्तं श्रीविज्ञानभट्टारके—

येरैव पूज्यते द्रव्यैस्तर्प्यते वा परावरः।
यश्चैकः पूजकः सर्वः स एवैकः क्व पूजनम्॥ इति।

यथा च श्रीप्रभाकौले—

यावत् वत् परमं शान्तं न विजानन्ति सुन्दरि।
तावत् पूजाजपध्यानहोमलिङ्गार्चनादिकम्॥
विदिते तु परे तत्त्वे सर्वाकारे निरामये।
क्व पूजा क्व जपो होमः क्व च लिङ्गपरिग्रहः॥ इति।

यदि पुनस्तान्येव द्रव्याणि तादृग्विमर्शशक्त्या पवित्रीक्रियन्ते, तत् स्वैरमासतां पूजोपकरणत्वेन। यदुक्तं श्रीभगवद्गीतासु—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥ इति।

मयाप्युक्तं संविदुल्लासे—

स्वविभवविमर्शसुरभीण्याददते देवताः प्रसूनानि।
ननु काननेषु सुलभं यदि तत् सामान्यसौरभात् तृप्तिः॥ इति।

तादृग्विमर्शाभावे तु—

मुहुः कराग्रेण निरुध्य नासां मुहुश्च पार्श्वस्थमवेक्षमाणाः ।
देवान् यजन्ते कतिचिद् वयं तु स्वानन्दमुद्रैकमहासपर्याः ।।

इत्यादिनीत्या बाह्याडम्बरः केवलं विडम्बनामात्रफलकतया पर्यवस्यति। यदुक्तमर्चनात्रिंशिकायाम्—

बालिकारचितवस्त्रपुत्रिकाक्रीडितेन सदृशं तदर्चनम् ।
यत्र शाम्यति मनो न निर्मस्फीतचिज्जलधिमध्यमाश्रितम् ।। इति।

यथा च श्रीपश्चिमे—

पूजा होमः क्रमश्चर्या व्रतं शास्त्रनिषेवणम् ।
तपो ध्यानं जप शौचं तत्त्वहीनस्य निष्फलम् ।। इति।

यथा च श्रीगीतानिष्यन्दे—

न पादपतनं भक्तिर्व्यापिनः परमात्मनः ।
भक्तिर्भावस्वभावानां तदेकीभावभावनम् ।। इति।

यथा च श्रीमत्स्तोत्रावल्याम्—

न योगो न तपो नार्चा क्रमः कोऽपि प्रणीयते ।
अमाये शिवमार्गेऽस्मिन् भक्तिरेका प्रशस्यते ।। इति।

तथा च श्रीमहानयपद्धतौ—

परमनिरावरणात्मनि रूपे यो दृढतरः परामर्शः ।
पूजनमेतदितीत्थं प्रभुणा निरणायि यद्यपि प्रकृतम् ।। इति।

यथा च श्रीपादुकोदये—

पूजा च स्वात्मभावेन देशिकेन्द्रविमर्शनम् । इति।।

एतेन—'पूजा विश्वस्य वेद्यस्य चिद्भूमिविश्रान्तिः' इति श्रीमदृजुविमर्शिनी-स्थित्या—

पूजा नाम न पुष्पाद्यैर्या मतिः क्रियते दृढा ।
निर्विकल्पे महाव्योम्नि सा पूजा ह्यादराल्लयः ।।

इत्यादिराम्नायोक्तिरपि व्याख्याता। यतः स्वात्मविलयो नाम स्वविश्रान्ति-लक्षणे स्वपरामर्शे पर्यवस्यति। यदाहुः—

यत्रेन्धनं द्वैतवनं मृत्युरेव महापशुः ।
अलौकिकेन यज्ञेन तेन नित्यं यजामहे ।। इति।

एतदाशयेनैव हि—

कर्पूरशकलोन्मिश्रताम्बूलापूरिताननाम् ।

इत्यादिना स्वात्मदेवतातृप्तिः पूर्वमागमेष्वनुष्ठेयतयाऽऽख्यायते। यथा च श्रीपूर्वे—

द्रवद्रव्यसमायोगाद् स्नपनं तस्य जायते ।
गन्धपुष्पादिगन्धस्य ग्रहणं यजनं स्मृतम् ।
षड्रसास्वादनं तस्य नैवेद्याय प्रजायते ।
यमेवोच्चारयेद् वर्णं स जपः परिकीर्तितः ।। इति।

उक्तरूपा चेयं सपर्या धन्यजन्मनः कस्यचिदेव पुंसः प्रतीतिपथमवतरति। यदुक्तं श्रीतन्त्रालोके—

एष यागविधिः कोऽपि कस्यापि हृदि वर्तते ।
यस्य प्रसीदेच्चिच्चक्रं द्रागपश्चिमजन्मनः ।। इति।

तत्रासवस्यान्तःकरणप्रसाधकत्वम्। ताम्बूलस्य शरीरं प्रति बाह्यान्तरोभय-शोधकत्वम्। गन्धस्य चन्दनादेः प्राचुर्येण बहिरङ्गोपसंस्कारकत्वम्। पुष्पाणां च तत्रैव केशादिमात्राधिवासप्रयोजकतेति पूर्वपूर्वप्राधान्यात् क्रमविवक्षा। विश्वपतेरिति सम्बन्धमात्रे षष्ठी, न माषाणामश्नीयादितिवत्। तेन खल्योगेऽप्येवं प्रयोगो न दुष्यति। यदुक्तम्—

इदं हि शास्त्रमाहात्म्यदर्शनालसचेतसाम् ।
अपभाषणवद् भाति न च सौभाग्यमुज्झति ।। इति।

पूजा चार विधियों से निष्पन्न की जाती है। उनका स्वरूप इस प्रकार है—

१. चार (समयाचार) ३. चरु (द्रव्य)
२. राव (आत्मपरामर्श) ४. मुद्रा (अंगन्यासादि मुद्रायें)

पूजा हि चारो रावश्चरुर्मुद्रैते चतुर्विधतयाम्नायते।[१]

१. चिद्गगनचन्द्रिका की दृष्टि—चिद्गगनचन्द्रिका में कहा गया है—

चाररावचरुभिर्विभेदितैर्मुद्रया च यदुपासनं तव।
तद्वशेन भजते परम्परा तावकक्रमगता स्फुटीकृतम्।।

इसमें चार समयाचार है। राव विमर्श है। चरु प्रथम-द्वितीयादि द्रव्य हैं। मुद्रा 'स्वात्मनः परमेश्वरत्वोपपादनाय स्वशरीरं प्रति कल्प्यमानः करचरणादिसन्निवेषविशेषो वेषधारणविशेषश्च' के रूप में स्थित है।[२]

---

१. परिमल (४२) २. परिमल (४२)

यथार्थ पूजा में केवल राव का प्राधान्य है। अन्य पूजोपकरण, पूजा-विधियाँ एवं पूजाङ्ग इसी राव के सहायकमात्र हैं; क्योंकि 'अन्येषां तु पर्यन्ततस्तत्प्रयोजकतया परिग्रहणम्।'[१]

यथार्थ पूजा का स्वरूप—यथार्थ पूजा तो स्वस्वरूपपरामर्शमात्र है—तस्मात् स्वस्वरूपपरामर्श एव परमा पूजा।

पूजा के अन्य उपकरण तो आडम्बरमात्र हैं—अन्यत्तु गन्धपुष्पधूपदीपादि आडम्बरमात्रमिति तात्पर्यार्थः।

पूजा के दो स्वरूप (महेश्वरानन्द की दृष्टि)—

१. यथार्थ पूजा (राव—स्वस्वरूपपरामर्श एव परमा पूजा)।

२. आडम्बरात्मक अयथार्थ पूजा (धूप, दीप, मुद्रा, न्यास आदि—गन्धपुष्पधूपदीपादि आडम्बरमात्रमिति)।

प्रश्न—जिसकी पूजा की जाती है, उस पूज्य देवता का स्वरूप क्या है? उसके स्वरूपानुकूल ही पूजा की जानी चाहिये।

देवता का स्वरूप—अपने हृदय की स्फुरत्ता के स्वरूप में अवस्थित परमेश्वरात्मक सत्ता ही देवता है—स्वहृदयस्फुरत्तारूपः परमेश्वर एव देवतेत्युक्तं वक्ष्यते।[२]

इस दृष्टि से यदि पूजा के स्वरूप का निर्धारण किया जाय तो कहा जायेगा कि जो स्वात्म-तादात्म्यानुप्रविष्ट निज (आत्म) बल है, जो कि विश्वविक्षोभसहिष्णु है, उसका पर्यालोचन ही पूजा है। उसका विमर्शन ही पूजा है—तत्र यन्निजं स्वात्मतादात्म्यानुप्रविष्टं बलं विश्वविक्षोभसहिष्णुत्वलक्षणं विम्रष्टृत्वम्, तत्पर्यालोचनमेव वरिवस्या।[३]

स्पन्दकारिकाकार की दृष्टि—आचार्य महेश्वरानन्द कहते हैं कि इस सम्बन्ध में स्पन्दशास्त्र की दृष्टि उपपन्न एवं ग्राह्य है। स्पन्दकारिका में कहा गया है—

तदाक्रम्य बलं मन्त्राः सर्वज्ञबलशालिनः।
प्रवर्ततेऽधिकाराय करणानीव देहिनः।। (१.२६)

* * * * * * *

भूयः स्फुटतरो भाति स्वबलोद्योगभावितः।।३६।।
तत्तथा बलमाक्रम्य नाचिरात् सम्प्रवर्तते।।३७।।
दुर्बलोऽपि तदाक्रम्य यतः कार्ये प्रवर्तते।।३८।।

अपि त्वात्मबलं मन्त्राः (महार्थमञ्जरी में उद्धृत)

अपि त्वात्मबलस्पर्शात् पुरुषस्तत्समो भवेत्।।८।।

१-३. परिमल (महेश्वरानन्द)

अनेनाधिष्ठिते देहे यथा सर्वज्ञतादयः।
तथा स्वात्मन्यधिष्ठानात् सर्वत्रैव भविष्यति।।

प्रत्यभिज्ञाहृदयकार की दृष्टि—प्रत्यभिज्ञाहृदयम् में आचार्य क्षेमराज कहते हैं—बललाभे विश्वमात्मसात्करोति।

श्रुतियों में भी इसी तथ्य का प्रतिपादन किया है—न वा ओजीयो रुद्र! त्वदस्ति।[१]

सामान्य जनों की अपरा पूजा का स्वरूप—सामान्य पूजक पुष्प-नीराजना-गन्ध-मुद्रा आदि उपकरणों एवं विधियों से सामान्य पूजा किया करते हैं; क्योंकि निभालन के अभाव में स्वात्मदेवता की पूजा सम्भव नहीं है—स्वात्मदेवतया तेन परमेश्वरेण दुष्प्रापा, लोकस्य तथा निभालकत्वाभावात्।[२]

यह यथार्थ पूजा तो कोई अपवाद रूप में स्थित महायोगी ही कर पाता है—कतिचन महायोगिन एव हि तथा पर्यालोचयितुं प्रगल्भन्त।[३]

आसवाद्यर्पणरूपा पूजा का दूसरा ही स्वरूप है।

पूजा-विधि—

दीपार्पणं दवाग्नेः पर्जन्यस्य प्रपाजलोद्धारः।
वात्यायाश्च पटाञ्चलवीजनमेतत् तवाद्य नैवेद्यम्।।

स्वस्वरूप विमर्श ही परा पूजा है।[४]

गन्ध, पुष्प, नीराजना, अर्घ्य आदि तो बाह्य पूजा के उपकरण हैं। तादात्म्यानुप्रवेशभाव से चिन्तन ही पूजा है। हृदयस्थित परमात्मा को प्राप्त करने के लिये आत्मबल (आत्मशक्ति) के परामर्श को ही मन्त्र कहा जाता है। आत्मस्थ परमसत्ता के अभिज्ञान के बिना समस्त पूजा, जप, तप, लिंगपरिग्रह, हवन आदि समस्त पूजन-विधान व्यर्थ हैं। गीता में भी कहा गया है कि बाह्य द्रव्य नहीं, प्रत्युत उनमें सञ्चरित प्रेम एवं श्रद्धा वरेण्य है—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः।। (गीता ९.२६)

स्वात्मविमर्शात्मिका श्रद्धा ही पूजा का प्राण है। परमशिव का स्वात्मभावपूर्वक चिन्तन ही यथार्थ पूजा है।

विश्वपति की यथार्थ पूजा से स्वात्मरूप के साथ तादात्म्य होने के कारण साधक स्वयमेव विश्वपति बन जाता है; अतः जो स्वयं विश्व का विलास है और अशेष सृष्टि में व्याप्त है, उसे कृत्रिम पूजा की पद्धति से आसव-ताम्बूल आदि का अर्पण करना

१-४. महेश्वरानन्द : परिमल

तो डम्भविडम्बनामात्र है—अशेषविश्वविलासव्यापकस्य भगवत: किमन्यकर्तृकासव-ताम्बूलाद्यर्पणडम्भविडम्बनेनेत्यर्थ:।[१]

श्रीविज्ञानभट्टारक की दृष्टि—विज्ञानभैरव में कहा गया है कि यदि हम तात्त्विक या यथार्थ पूजा की दृष्टि से पर्यालोचना करें तो जो पूजक जिन द्रव्यों से पूजा करता है या परापर को तर्पित करता है, वे सारे पूजा-द्रव्य और जो पूजक—सभी एक ही तत्त्व तो हैं; अत: किसकी, किसके द्वारा क्या पूजा?

यैरेव पूज्यते द्रव्यैस्तर्प्यते वा परापर:।
यश्चैक: पूजक: सर्व: स एवैक: क्व पूजनम्।। (१५०)

प्रभाकौलकार की दृष्टि—प्रभाकौल में कहा गया है कि हे सुन्दरि! जब-कब उस परम शान्त परमार्थ पद को नहीं जान पाते, तभी तक पूजा, जप, ध्यान, होम, लिंग-पूजा आदि कर्मकाण्ड निष्पन्न किये जाते हैं; किन्तु जब उस सर्वाकार निर्विकार परम तत्त्व का बोध हो जाता है तब पूजा, जप, होम, वेष-परिवर्तन आदि की कोई उपयोगिता नहीं रह जाती। इस स्थिति में तो पूजा, जप आदि की अद्वय भैरवनय में उपर्युक्त नियम ही चरितार्थ होते हैं। अद्वय नय में प्रदर्शित पूजा के अतिरिक्त स्थूल दृष्टि से सम्पन्न पूज्य, पूजन-साधन, पूजा, पूजक आदि की परमार्थ दृष्टि से कोई सत्ता ही नहीं रह जाती। प्रभाकौल में इसी बात को इन शब्दों में कहा गया है—

यावत् तत् परमं शान्तं न विजानन्ति सुन्दरि।
तावत् पूजाजपध्यानहोमलिङ्गार्चनादिकम्।।
विदिते तु परे तत्त्वे सर्वाकारे निरामये।
क्व पूजा क्व जपो होम: क्व च लिङ्गपरिग्रह:।।

यदि ये ही द्रव्य विमर्श शक्ति से पवित्रीकृत करके समर्पित किये जायँ तब तो मणि-काञ्चन योग होगा।

श्रीमद्भगवद्गीताकार की दृष्टि—भगवान् श्रीकृष्ण गीता में पूजोपकरणों के विषय में कहते हैं कि—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मन:।।

संविदुल्लास में महेश्वरानन्द की दृष्टि—संविदुल्लास में कहा गया है कि—

स्वविभवविमर्शसुरभीण्याददते देवता: प्रसूनानि।
ननु काननेषु सुलभं यदि तत् सामान्यसौरभात् तृप्ति:।।

देवता-गण स्वविभव (आत्मोत्कर्ष/आत्मैश्वर्य) के परिमल से तृप्त होते हैं। यदि

१. परिमल (महेश्वरानन्द)

वे सामान्य पुष्पों से तृप्त हुआ करते तो जंगलों में क्या पुष्पों की कमी है?

औपचारिक एवं यथार्थ पूजा में अन्तर—यथार्थ पूजा तो अपनी आत्माजन्य (आत्मैश्वर्यजन्य) एवं आनन्दोत्कर्षपूर्ण मुद्रा से निष्पादित होती है, जब कि बाह्याडम्बरों में विश्वास करने वाले साधकों की बाह्योपास्ति प्राणायाम आदि द्वारा निष्पादित होती है—

मुहुः कराग्रेण निरुध्य नासां मुहुश्च पार्श्वस्थमवेक्षमाणाः।
देवान् यजन्ते कतिचिद् वयं तु स्वानन्दमुद्रैकमहासपर्याः।।[१]

बाह्याडम्बरात्मक सपर्या केवल विडम्बनामात्र है—बाह्याडम्बरः केवलं विडम्बनामात्रफलकतया पर्यवस्यति।

अर्चनात्रिंशिका की दृष्टि—बाह्याडम्बरपूर्ण पूजा ठीक उसी प्रकार की पूजा है, यथा कोई छोटी बालिका पुतली से खेलती हुई उसे यथार्थ बालिका मानती है। जहाँ मन का शमन न हो और जहाँ निर्मल, सुस्निग्ध, चैतन्यान्तक समुद्र में अपनी चेतना निमज्जित होकर विश्राम न कर रही हो, वह सपर्या केवल विडम्बनामात्र है या वस्त्र-पुत्रिका (कठपुतली) से बालिकाओं द्वारा किया जाने वाला मनोरञ्जनमात्र है; पूजा नहीं है—

बालिकारचितवस्त्रपुत्रिकाक्रीडितेन सदृशं तदर्चनम्।
यत्र शाम्यति मनो न निर्मलस्फीतचिज्जलधिमध्यमाश्रितम्।।

श्रीपश्चिम में व्यक्त दृष्टि—जो व्यक्ति तत्त्वज्ञ न हो, उसके द्वारा की गई पूजा, होम, क्रमचर्या, व्रत, शास्त्रानुशीलन, तप, ध्यान, जप, शौच (पावित्र्य) आदि सभी कुछ व्यर्थ हैं—

पूजा होमः क्रमश्चर्या व्रतं शास्त्रनिषेवणम्।
तपो ध्यानं जपं शौचं तत्त्वहीनस्य निष्फलम्।।[२]

फिर यह तत्त्वकथा (तत्त्वज्ञान) है क्या? यह कब प्राप्त होती है? इसका स्वरूप क्या है?

कुलार्णवतन्त्रकार की दृष्टि—

यावत् कामादि दीप्येत यावत् संसारवासना।
यावदिन्द्रियचापल्यं तावत्तत्त्वकथा कुतः?।।

* * * * * * *

यावत् प्रयत्नवेगोऽस्ति यावत् सङ्कल्पकल्पना।
यावन्न मनसः स्थैर्यं तावत्तत्त्वकथा कुतः?।।

* * * * * * *

---

१. परिमल २. महेश्वरानन्दोद्धृत (परिमल)

यावद्देहाभिमानश्च ममता यावदस्ति हि।
यावन्न गुरुकारुण्यं तावत्तत्त्वकथा कुतः?।।

* * * * * * *

यावत्तपो व्रतं तीर्थं जपहोमार्चनादिकम्।
वेदशास्त्रागमकथा यावत्तत्त्वं न विन्दते।।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन सर्वावस्थासु सर्वदा।
तत्त्वनिष्ठो भवेद्देवि! यदीच्छेन्मोक्षमात्मनः।।[१]

महायानपद्धतिकार की दृष्टि—महायानपद्धति में कहा गया है कि सारे आवरणों से विमुक्त जो परम आत्मा है, उसमें जो दृढ़तर परामर्श होता है, उसे ही पूजन का अभिधान दिया गया है; अन्य को नहीं। यही पूजन यथार्थ पूजन है—

परमनिरावरणात्मनि रूपे यो दृढ़तरः परामर्शः।
पूजनमेतदितीत्थं प्रभुणा निरणायि यद्यपि प्रकृतम्।।

श्रीपादुकोदय की दृष्टि—श्रीपादुकोदय में कहा गया है कि स्वात्मभाव द्वारा देशिकेन्द्र का विमर्शन करते रहना ही पूजा है—

पूजा च स्वात्मभावेन देशिकेन्द्रविमर्शनम्।

ऋजुविमर्शिनीकार की दृष्टि—ऋजुविमर्शिनी में पूजाविषयक दृष्टि को इस प्रकार प्रोन्मीलित किया गया है—

पूजा नाम न पुष्पाद्यैर्या मतिः क्रियते दृढ़ा।
निर्विकल्पे महाव्योम्नि सा पूजा ह्यादराल्लयः।।

अर्थात् पुष्पादिक के समर्पण के माध्यम से जिस पूजा का स्वरूप निर्धारित किया जाता है, वह स्वकल्पित पूजा-दृष्टि 'पूजा' नहीं है। पूजा का यथार्थ स्वरूप तो निर्वि-कल्पात्मक महाव्योम में सादर लय है।

चिद्भूमि में विश्रान्ति ही पूजा—वेद्य विश्व की चिद्भूमि में विश्रान्ति ही पूजा है—पूजा च विश्वस्य वेद्यस्य चिद्भूमिविश्रान्तिः।

उत्पलदेवाचार्य की दृष्टि—आचार्य उत्पलदेव का कथन है कि योग-साधना, तपस्या, अर्चा-क्रम आदि में से कोई भी साधन-विधान शिवमार्ग में ग्राह्य नहीं है; क्योंकि यहाँ तो पूजा, साधना, अर्चा, वरिवस्या आदि सब कुछ भक्तिमात्र है—

न योगो न तपो नार्चा क्रमः कोऽपि प्रणीयते।
अमाये शिवमार्गेऽस्मिन् भक्तिरेका प्रशस्यते।।[२]

---

१. कुलार्णवतन्त्र (प्रथमोल्लास) २. शिवस्तोत्रावली

महेश्वरानन्द की दृष्टि—निर्विकल्प महाव्योम में पूर्ण श्रद्धा के साथ आत्मविलय ही पूजा है अर्थात् स्वविश्रान्तिलक्षणात्मक स्वपरामर्श में जो पर्यवसान है, वही स्वात्मविलय है और निर्विकल्प महाव्योम में यही स्वात्मविलय पूजा है—यतः स्वात्मविलयो नाम स्वविश्रान्तिलक्षणे स्वपरामर्शे पर्यवस्यति।[१]

अन्य आचार्यों की दृष्टि—उपर्युक्तदृष्टि को केन्द्र में रखकर कहा गया है कि मेरे यज्ञ में द्वैतदृष्टि ही इन्धन है और मृत्यु ही महापशु है, जिसकी बलि दी जानी है। इस अलौकिक यज्ञ में ही मैं नित्य हवन किया करता हूँ—

यत्रेन्धनं द्वैतवनं मृत्युरेव महापशुः।
अलौकिकेन यज्ञेन तेन नित्यं यजामहे।।

श्रीपूर्वशास्त्रकार की दृष्टि—श्रीपूर्वशास्त्र में स्नान, यजन, नैवेद्य एवं जप आदि के विषय में इस प्रकार दृष्टि प्रस्तुत की गई है—

द्रवद्रव्यसमायोगाद् स्नपनं तस्य जायते।
गन्धपुष्पादिगन्धस्य ग्रहणं यजनं स्मृतम्।
षड्रसास्वादनं तस्य नैवेद्याय प्रजायते।
यमेवोच्चारयेद् वर्णं स जपः परिकीर्तितः।।

तन्त्रालोककार की दृष्टि—आचार्य अभिनवगुप्तपाद का कथन है कि यह तत्त्व-दृष्टि-सम्पन्न याग-विधि तो किसी अपवादस्वरूप महान् साधक के हृदय में उन्मीलित हो पाती है—

एष यागविधिः कोऽपि कस्यापि हृदि वर्तते।
यस्य प्रसीदेच्चिच्चक्रं द्रागपश्चिमजन्मनः।।

महेश्वरानन्द की दृष्टि—महेश्वरानन्द ने पूजोपकरणों की सार्थकता एवं सोद्देश्यता पर प्रकाश डालते हुये उसके स्वरूप का निर्वचन इस प्रकार किया है—

१. तत्रासवस्यान्तःकरणप्रसाधकत्वम्।

२. ताम्बूलस्य शरीरं प्रति बाह्यान्तरोभयशोधकत्वम्।

३. गन्धस्य चन्दनादेः प्राचुर्येण बहिरङ्गोपसंस्कारकत्वम्।

४. पुष्पाणां च तत्रैव केशादिमात्राधिवासप्रयोजकतेति पूर्वपूर्वप्राधान्यात् क्रमविवक्षा।

५. इस पूजा-विधान में प्रथमतः प्राणायाम के पारमार्थ्य को प्रख्यापित किया गया है—एवं सपर्यास्वभावं सामान्यतः परामृश्य तद्विशेषानपि तथा योजयिष्यमाणः प्रथमं प्राणायामस्य पारमार्थ्यं प्रख्यापयति।[२]

१-२. परिमल (महेश्वरानन्द)

विम्रष्टुं निजसत्त्वं विभवे कार्योन्मुखे स्तिमितेऽपि।
बाह्यवृत्तान्तानां भङ्गः प्राणस्य संयमो ज्ञेयः।।[१]

संकेतपद्धतिकार की दृष्टि—संकेतपद्धति में कहा गया है कि यथार्थ पूजा बाह्यवर्ती पुष्पादिक द्रव्यों से अनुष्ठित नहीं हुआ करती। पूजा तो साधना की परास्थिति है; अतः अपने अतिमहिमास्पद अद्वय धाम में जो की जाती है, वही यथार्थ पूजा कहलाती है—

न पूजा बाह्यपुष्पादिद्रव्यैर्या प्रथिताऽनिशम्।
स्वे महिम्न्यद्वये धाम्नि सा पूजा या परा स्थितिः।।

तन्त्रालोककार की दृष्टि—आचार्य अभिनवगुप्त कहते हैं कि रूप, रस आदि विभिन्न बाह्य भाव पदार्थों की देश, काल आदि से अपरिच्छिन्न, निरुपाधिक, स्वतन्त्र, स्वच्छ एवं भैरवाकार परसंवित् से अर्थात् बोधभैरव से अभेद रूप में प्रतिष्ठा होना ही यथार्थ पूजा है—

पूजा नाम विभिन्नस्य भावौघस्यापि सङ्गतिः।
स्वतन्त्रविमलानन्तभैरवीयचिदात्मना ।।[२]

भट्ट उत्पलदेवाचार्य की दृष्टि—आचार्य उत्पल कहते हैं कि उच्चार, करण, ध्यानप्रभृति प्रयत्न-साध्य आणवप्रभृति उपायों के सहारे सम्पन्न होने वाली विविध बाह्य विधियों का त्याग करके अनुपाय प्रक्रिया से सहज विधि-सम्पन्न होने वाला स्वात्मस्वरूप बोधभैरव का साक्षात्कार ही भक्तजनों की यथार्थ पूजा-विधि है—

ध्यानायास-तिरस्कार-सिद्धस्त्वत्स्पर्शनोत्सवः ।
पूजाविधिरिति ख्यातो भक्तानां स सदाऽस्तु मे।।[३]

भट्टनारायण की दृष्टि—स्तवचिन्तामणि (११३) में भगवान् से प्रार्थना की गई है कि—हे भगवन्! मैं पुष्पादिक से तो नित्य ही आपकी पूजा करता हूँ; किन्तु आप मेरे लिये वह स्थिति उपस्थित कीजिये कि जिससे मैं आपके समक्ष उस ज्ञानरूपी दीपक को लेकर उपस्थित हो सकूँ, जो कि मन से अज्ञानरूपी तैल से सिञ्चित वासना-रूपी वर्तिका को, धर्माधर्म-प्रभृति जागतिक परम्परा को आगे बढ़ाने वाले समस्त संस्कारों को भस्म कर देने वाला हो। भाव यह कि भेद-बुद्धि का त्याग करके अद्वय स्वात्मस्वरूप में प्रतिष्ठित होना ही यथार्थ पूजा है—

मलतैलाक्तसंसारवासनावर्तिदाहिना ।
ज्ञानदीपेन देव त्वां कदा नु स्यामुपस्थितः।।

१. परिमल (४३)
२. तन्त्रालोक (४.१२१)
३. शिवस्तोत्रावली (१७.४)

विज्ञानभैरवकार की दृष्टि—विज्ञानभैरव में पूजा, होम, जप, हवन, स्नान, याग आदि के तात्त्विक स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। तदनुसार—

(क) जप—

भूयोभूयः परे भावे भावना भाव्यते हिया।
जपः सोऽत्र स्वयं नादो मन्त्रात्मा जप्य ईदृशः।।

(ख) ध्यान—

ध्यानं हि निश्चला बुद्धिर्निराकारा निराश्रया।
न तु ध्यानं शरीराक्षिमुखहस्तादिकल्पना।।

(ग) पूजा—

पूजा नाम न पुष्पाद्यैर्या मतिः क्रियते दृढ़ा।
निर्विकल्पे परे व्योम्नि सा पूजा ह्यादराल्लयः।।

(घ) होम—

महाशून्यालये वह्नौ भूताक्षविषयादिकम्।
हूयते मनसा सार्धं स होमश्चेतनास्रुचा।।[१]

(ङ) याग—

यागोऽत्र परमेशानि तुष्टिरानन्दलक्षणा।
क्षपणात् सर्वपापानां त्राणात् सर्वस्य पार्वति।।
रुद्रशक्तिसमावेशस्तत्क्षेत्रं भावना परा।
अन्यथा तस्य तत्त्वस्य का पूजा कश्च तृप्यति।।[२]

(च) स्नान—

स्वतन्त्रानन्दचिन्मात्रसारः स्वात्मा हि सर्वतः।
आवेशनं तत्स्वरूपे स्वात्मनः स्नानमीरितम्।।[३]

(छ) जप—

सकारेण बहिर्याति हकारेण विशेत् पुनः।
हंसहंसेत्यमुं मन्त्रं जीवो जपति नित्यशः।।
षट्शतानि दिवारात्रौ सहस्राण्येकविंशतिः।
जपो देव्याः समुद्दिष्टः प्राणस्यान्ते सुदुर्लभः।।[४]

---

१. विज्ञानभैरव (१४६)
२. विज्ञानभैरव (१४७-१४८)
३. विज्ञानभैरव (१४९)
४. विज्ञानभैरव (१५५३-५४)

यथार्थ हवन में तो चेतना में समस्त जागतिक पदार्थों को रखकर उनको बोध-भैरवरूप अग्नि में लयीभूत कर दिया जाता है।

(ज) हवन (योगिनीहृदयदीपिका के अनुसार)—

धर्माधर्महविर्दीप्ते आत्माग्नौ मनसा स्रुचा।
सुषुम्णावर्त्मना नित्यमक्षवृत्तीर्जुहोम्यहम्।।[१]
नैदानैस्तर्पणैः सम्यग् विशुद्धैरमृतात्मभिः।
मदहन्तां करोमीदं विश्वं हव्यपुरस्सरम्।।[२]

भगवद्गीता की दृष्टि—

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्मणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते।।
ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना।।

कुलार्णवतन्त्रकार की दृष्टि—

१. पूजा—

पूर्वजन्मानुशमनाज्जन्ममृत्युनिवारणात् ।
सम्पूर्णफलदानाच्च पूजेति कथिता प्रिये।।

२. तर्पण—

तत्त्वात्मकस्य देवस्य परिवारवृतस्य च।
नवानन्दप्रजननात्तर्पणं समुदाहृतम्।।

३. पुष्प—

पुण्यसंवर्द्धनाच्चापि पापौघपरिहारतः।
पुष्कलार्थप्रदानाच्च पुष्पमित्यभिधीयते।।

४. दीप—

दीर्घाज्ञानमहाध्वान्ताहङ्कारपरिवर्जनात् ।
परतत्त्वप्रकाशाच्च दीप इत्यभिधीयते।। आदि।

आचार्य शंकर की दृष्टि—आचार्य शंकर की दृष्टि में आदर्श पूजा का स्वरूप इस प्रकार है—

---

१. ज्ञानार्णवतन्त्र (२१.२९)
२. सुभगोदयवासना (३९)

जपो जल्पः शिल्पं सकलमपि मुद्राविरचना
गतिः प्रादक्षिण्यक्रमणमशनाद्याहुतिविधिः।
प्रणामः संवेशः सुखमखिलमात्मार्पणदृशा
सपर्यापर्यायस्तव भवतु यन्मे विलसितम्।।

(सौन्दर्यलहरी-२७)

१. जप	३. प्रदक्षिणा	५. प्रणाम
२. मुद्रा	४. आहुति	६. सपर्या

इसी बात को आचार्य प्रवर ने शब्दान्तर में इस प्रकार कहा है—

आत्मा त्वं गिरिजामतिः सहचराः प्राणाः शरीरं गृहं
पूजा ते विविधोपभोगरचना निद्रा समाधिस्थितिः।
सञ्चारः पदयोः प्रदक्षिणविधिः स्तोत्राणि सर्वा गिरोः
यद्यत् कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भो तवाराधनम्।।

समयाचारियों का पूजा-विधान—समयाचारियों ने भी बाह्य पूजा का निषेध करते हुये आन्तर पूजा का प्रतिपादन किया है।

(क) सनत्कुमारसंहिता में प्रतिपादित दृष्टि—इसमें स्पष्टतः बाह्य पूजा का खण्डन करते हुये कहा गया है कि—

बाह्यपूजा न कर्तव्या कर्तव्या बाह्यजातिभिः।
सा क्षुद्रफला नृणां ऐहिकार्थैकसाधनात्।।
बाह्यपूजारताः कौलाः क्षपणाश्च कपालिकाः।
दिगम्बराश्चेतिहासा वामकास्तन्त्रवादिनः।।
आन्तराराधनपरा वैदिका ब्रह्मवादिनः।
जीवन्मुक्ताश्चरन्त्येते त्रिषु लोकेषु सर्वदा।।

(ख) आचार्य लक्ष्मीधर की दृष्टि—बाह्य पूजाविधान में ही ऋषि, छन्द आदि का प्रयोग है; आन्तरपूजा में नहीं—बाह्यपूजां न कुर्यादिति निषेधविधिः। बाह्यपूजायामेव ऋषिच्छन्दःप्रभृतिज्ञानपूर्वकम्। आन्तरपूजायां तादात्म्यानुसन्धानात्मिकायां ऋष्यादिज्ञानं नास्त्येव। उपयोगस्तु दूरत एव।[1]

समयाचार में—

१. पुरश्चरण अग्राह्य है।
२. जप अग्राह्य है।
३. बाह्य होम अग्राह्य है।
४. बाह्य पूजा अग्राह्य है।
५. सारी पूजाओं का स्थान हृदय है।

---

१. लक्ष्मीधरी (टीका)

समयिनां मन्त्रस्य पुरश्चरणं नास्ति। जपो नास्ति। बाह्यहोमो नास्ति। बाह्यपूजाविधयो न सन्त्येव। हृत्कमल एव सर्वं यावत् अनुष्ठेयम्। लक्ष्मीधरा (सौ. ल.-३३)

(क) यहाँ समयाचार में पूजा का स्थान बाह्य पीठ नहीं है—समयिनां मते समयस्य सादाख्यतत्त्वस्य सपर्या सहस्रदलकमल एव, न तु बाह्ये पीठादौ।[1]

पूजा का स्थान = सहस्रदल कमल।

(ख) यहाँ सपर्या (पूजा) चतुर्विध-षड्विध देव्यानुसन्धान है—ये तु समयिनो योगश्वराः विजने गुहान्तरे वा बद्धपद्मासनाः निगृहीतेन्द्रियाः सादाख्यतत्त्वध्यानैकनिष्ठाः वर्तन्ते तेषां वक्ष्यमाणचतुर्विधषड्विधैक्यानुसन्धानमेव भगवत्याः सपर्येति अर्थादुक्तं भवति।[2]

(ग) अतः समयपूजकाः समयिनः। तेषां षट्चक्रपूजा न नियता, अपितु सहस्रकमल एव पूजा।

सहस्रकमलपूजा नाम सहस्रकमलस्य बैन्दवस्थानत्वेन तन्मध्यगतचन्द्रमण्डलस्य चतुरश्रात्मना, तन्मध्यबिन्दोः पञ्चविंशतितत्त्वातीतषड्विंशात्मकशिवशक्तिमेलनरूपसादाख्यात्मना च अनुसन्धानम्। अतएव समयिमते बाह्याराधनं दूरत एव निरस्तम्। षोडशोपचाररूपपूजाङ्गकलापाश्च ततोऽपि दूरत एव।

(घ) समयिनां चतुर्विधैक्यानुसन्धानमेव भगवत्याः समाराधनमित्येतत्। केचित्तु षोढा ऐक्यमाहुः।[3]

पञ्चविध साम्य

अधिष्ठानसाम्य | अवस्थानसाम्य | अनुष्ठानसाम्य | रूपसाम्य | नामसाम्य

वामकेश्वरतन्त्र की दृष्टि—वामकेश्वर तन्त्र में भगवती के आयुधों आदि की भी पूजा एवं उनके स्वरूप का चिन्तन बाह्य नहीं; आन्तरिक है—

पाशाङ्कुशौ तदीयौ तु रागद्वेषात्मकौ स्मृतौ।
शब्दस्पर्शादयो बाणाः मनस्तस्याभवद्धनुः।।
करणेन्द्रियचक्रस्थां देवीं संवित्स्वरूपिणीम्।
विश्वाहङ्कारपुष्पेण पूजयेत् सर्वसिद्धिभाक्।।

यही उपासना है (लक्ष्मीधर)।

योगिनीहृदयोक्त पूजा के प्रकार—योगिनीहृदय के तृतीय पटल (पूजासङ्केत) में पूजातत्त्व पर व्यापक दृष्टि से विचार किया गया है—

परा पूजा—

१. परमशिवाद्वैतप्रथात्मकत्वादितरपूजाभ्यामुत्तमत्वम्।

१-३. लक्ष्मीधर

२. न पूजा बाह्यपुष्पादिद्रव्यैर्या प्रथिताऽनिशम्।
स्वे महिम्न्यद्वये धाम्नि सा पूजा या परा स्थिरा।।[१]

परापरा पूजा—

बाह्यस्यान्तरे धाम्न्यद्वये चिल्लयभावनामयी मध्यमा परापरात्मकत्वात्।[२]

तव नित्योदिता पूजा त्रिभिर्भेदैर्व्यवस्थिता।
परा चाप्यपरा गौरि तृतीया च परापरा।।

अपरा पूजा—

पूजा भेदप्रथामात्रसारा ब्रह्मचक्रावरणार्चनरूपा अधमा।[३]

१. परा २. अपरा ३. परापरा—पूजा के तीन प्रकार।

आचार्य अमृतानन्द की दृष्टि—विमर्शरूपिणी शक्ति की पूजा के ये ही तीन प्रकार हैं।

१. परा पूजा—यह अद्वैतप्रथात्मिका पूजा है—

प्रथमाद्वैतभावस्था सर्वप्रसरगोचरा।

२. अपरा पूजा—यह चक्रपूजनगर्भा पूजा है—

द्वितीया चक्रपूजा च सदा निष्पाद्यते मया।

३. परापरापूजा—यह ज्ञानप्रधान पूजा है—

एवं ज्ञानमये देवि तृतीया तु परापरा।

परा पूजा—चिल्लयलक्षणाद्वैतप्रथा परा पूजा है। विज्ञानभैरव में इसी स्वरूप वाली पूजा को उत्तमा पूजा के रूप में परा पूजा स्वीकार किया गया है। इस परा पूजा का सर्वत्र इस प्रकार है—

यत्र यत्र मनो याति बाह्ये वाभ्यन्तरे प्रिये।
तत्र तत्र परावस्था व्यापकत्वात् क्व यास्यति?।।
तत्र तत्राक्षमार्गेण चैतन्यं व्यज्यते प्रभोः।
तस्य तन्मात्रधर्मित्वाच्चिल्लयाद्भरिता स्थिता।।[४]

चिल्लयलक्षणाद्वैतप्रथा परापूजेत्यर्थः।

अपरा पूजा—द्वितीया पूजा अपरा पूजा है। उसका स्वरूप इत्याकारक है—द्वितीया चक्रपूजा अपरा पूजा चतुरस्रादिवैन्दवान्तश्रीचक्रसदनावरणदेवतार्चनमपरा पूजेत्यर्थः।

---

१. दीपिका (अमृतानन्द)
२. अमृतानन्द
३. दीपिका (३.१)
४. विज्ञानभैरव

परापरा पूजा—यह तृतीया पूजा है, उसका स्वरूप इत्याकारक है—एवं ज्ञानमये पूर्वोक्ताद्वैतभवनामये धाम्नि बाह्यस्य पृथगात्मकावरणार्चनारूपस्य कर्मणो ज्ञानमयता विश्रान्तिस्तृतीया परापरा पूजा—

प्रकाशैकघने धाम्नि विकल्पप्रसरादिकान्।
निक्षिपेत् स्वार्चनद्वारा वह्नाविव घृताहुती:।।
सा ज्ञेया ज्ञानगम्या परापूजा.............।[१]

भास्करराय की दृष्टि—आचार्य भास्करराय अपने प्रख्यात ग्रन्थ 'सेतुबन्ध' में कहते हैं—

(क) परा पूजा—द्वैतभानसामान्याभावे परा।

(ख) अपरा पूजा—अद्वैतभानसामान्याभावे त्वपरा।

(ग) परापरा पूजा—द्वैतविलयाभ्यासदशायां परापरेति। पूजात्रयलक्षलक्षणानि।

१. परा पूजा—उत्तमा सा परा ज्ञेया विधानं शृणु साम्प्रतम्। (योगिनीहृदय -४)

जिसमें द्वैतभाव न हो, वही परा पूजा है—न विद्यते द्वैतं यस्मिन्नेतादृशो भावोऽन्तः-करणवृत्तिविशेषस्तत्र तिष्ठति विषयीभवति। प्रकर्षेण चरन्ति विषयाभिमुखीभवन्तीति प्रचराणीन्द्रियाणि, तेषां गोचरो विषय:। सर्वेन्द्रियजन्येषु ज्ञानेषु ये विषयास्तेषु सच्चिदानन्दानुगतस्य भानम्। तदिदम् 'ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा' इति योगसूत्रसिद्धं ज्ञानम्। सा प्रथमा पूजा परा नाम्नी—

यत्र यत्र मनो याति बाह्ये वाभ्यन्तरे प्रिये।
तत्र तत्राक्षमार्गेण चैतन्यं व्यज्यते प्रभो।।

२. अपरा पूजा—या पूर्वतन्त्रे भूगृहादिबिन्द्वन्तपूजा वर्णिता या मया प्रत्यहं क्रियते सा द्वितीया। सेयं परपूजाधिकारिणापि कार्येति द्योतनायेत्थमुक्तम्।

३. परापरा पूजा—ज्ञानमये चिदेकस्वभावे ब्रह्मणि स्वस्यात्मन: प्रथा अभेदेन प्रस्फुरणम् उभयाभेदाभ्यास इति यावत्। सा तृतीया—

प्रकाशैकघने धाम्नि विकल्पान् प्रसवादिकान्।
निक्षिपाभ्यर्चनद्वारा वह्नाविव घृताहुती:।।

निष्कर्ष—

१. एतासु परैवोत्तमा ज्ञेया।

२. परापरा तु मध्यमा।

३. अपरा त्वधमेत्यर्थादुक्तं भवति।

---

१. अमृतानन्द : दीपिका

योगिनीहृदयकार की दृष्टि—

(क) पूजासङ्केत के प्रबोधमात्र से जीवन्मुक्ति की प्राप्ति होती है—

पूजासङ्केतमधुना कथयामि तवानघे।
यस्य प्रबोधमात्रेण जीवन्मुक्तः प्रमोदते।।

(ख) पूजा के भेद—

तव नित्योदिता पूजा त्रिभिर्भेदैर्व्यवस्थिता।
परा चाप्यपरा गौरि! तृतीया च परापरा।।
प्रथमाद्वैतभावस्था सर्वप्रसरगोचरा।
द्वितीया चक्रपूजा च सदा निष्पद्यते मया।।
एवं ज्ञानमये देवि तृतीया तु परापरा।
उत्तमा सा परा ज्ञेया विधानं शृणु साम्प्रतम्।।

आचार्य भास्कर की दृष्टि—व्यापिका और समना के मध्य सहस्रदल कमल है, जो कि बहुदलावृत होने के कारण महापद्मवन कहा गया है। उसके मध्य स्थित कर्णिका के मध्यभाग में वाग्भव नामक त्रिकोण स्थित है। वहाँ गुरुपादुका है। यह परमशिव से अभिन्न स्वनाथात्मिका अकुलामृत कुण्डलिनी है। इसने चराचर को अनुप्राणित (आप्यायित) कर रक्खा है। यह निरन्तर चिद्रस की वर्षा करती रहती है। इसी भगवती कुण्डलिनी का परामर्श अपनी आत्मा के रूप में करते हुये गुरुपादुका-परामर्श करते रहना चाहिये। यही गुरु-प्रसाद है। यही परमाद्वैत है। परमशिव के साथ अद्वैत भाव रखकर सैवाऽहं के स्वरूप वाले समावेश की स्थिति में लयीभूत होना ही अमृत है। साधक को उसी अमृत से घूर्णित (मुदित) रहना चाहिये। कहा भी गया है—

स्वप्रकाशवपुषा गुरुः शिवो यः प्रसीदति पदार्थमस्तके।
तत्प्रसादमिह तत्त्वशोधनं प्राप्य मोदमुपयाति भावुकः।।

इस परमशिवाद्वैतभावनात्मक गुरुप्रसाद की प्राप्ति से ही परमानन्द का समुल्लास हुआ करता है। प्रसादस्वीकारानन्तर आन्तर जप करना चाहिये—

दहरं विपाप्मं परवेश्मभूतं हृत्पुण्डरीकं पुरमध्यसंस्थम्।

सहस्रदल कमल की स्थिति—महापद्मवन ही पूजा का सर्वोत्तम स्थान है। ब्रह्मरन्ध्र में अधोमुख श्वेत सहस्रदल वाला अकुल कमल स्थित है, जो कि वन के समान प्रतीत होता है—महापद्मवनं ब्रह्मरन्ध्राधोमुखसितसहस्रदलाकुलकमलं पद्मदलैराकुलत्वाद् वनमिव वनम्। (अमृतानन्द—दीपिका)

स्वच्छन्दतन्त्र में कहा गया है—

यावदूर्ध्वाकुलं पद्मं सहस्रारमधोमुखम्।
श्वेतं च निष्कला शक्तिमध्यं चासंख्यशक्तिकम्।
व्यापिनी केवलं शश्वदमृतौघप्रहर्षिणम्।
महापद्मवनं चैव समना तस्य चोपरि।
तस्यान्तःकर्णिकामध्ये तत्स्थे वाग्भवरूपिणी।।

योगिनीहृदयकार की दृष्टि—इसी परा पूजा की दिशा में योगिनीहृदय में कहा गया है—

महापद्मवनान्तस्थे वाग्भवे गुरुपादुकाम्।
आप्यायितजगद्रूपां परमामृतवर्षिणीम्।।
सञ्चिन्त्य परमाद्वैतभावनामृतघूर्णितः।
दहरान्तरसंसर्पन्नादालोकनतत्परः।
विकल्परूपसञ्जल्पविमुखोऽन्तर्मुखः सदा।
चित्कलोल्लास-दलित-सङ्कोचस्त्वतिसुन्दरः।
इन्द्रियप्रीणनद्रव्यैर्विहितः स्वात्मपूजनः।।

इसमें जिस 'दहर' शब्द का प्रयोग आया है, यह हृदयाब्जमध्यगत आकाश है—हृदयाब्जमध्यगतमाकाशं दहरमित्युच्यते।[1]

इसी दहर के अन्तर में नाद संसर्पित (सञ्चरित) हो रहा है। वहाँ उसी का आलोकन (विभावन) करना चाहिये—दहरान्तरसंसर्पन्नादालोकनतत्परः। शास्त्रों में भी कहा गया है कि—

आनन्दलक्षणमनाहतनाम्नि देशे
नादात्मना परिणतं तव रूपमीशे।
प्रत्यङ्मुखेन मनसा परिचीयमानं
शंसन्ति नेत्रसलिलैः पुलकैश्च धन्याः।

अर्थात् आन्तर नादानुसन्धानात्मक जप किया जाना चाहिये—आन्तरं नादानुसन्धानलक्षणं जपं कुर्यात्।[2]

इसके बाद विजातीय प्रत्ययान्तरित सजातीय प्रत्यय-प्रवाह लक्षण वाले ध्यान (प्रत्ययैकतानता ध्यानम्) में लयीभूत होकर परमशिवाद्वैतभावना में निमज्जित हो जाना चाहिये। यहाँ ध्यान का स्वरूप इत्याकाराकारित है—

ध्यानं या निष्कला चिन्ता निराकारा निराश्रया।
न तु ध्यानं शरीरस्य मुखहस्तादिकल्पना।।

---

१. अमृतानन्द (योगिनी-दीपिका)
२. अमृतानन्द—योगिनीहृदयदीपिका पू. सं. (५-६-७)

चित्कलोल्लासदलितसङ्कोचस्त्वतिसुन्दरः ।
चिदम्बुधिमहाभङ्गभिन्नसङ्कोचसुन्दरः ।।

यहाँ इत्याकारक परिपूर्णाऽहंभाव ही स्वीकार्य एवं लक्ष्य है। इस स्थिति में महात्रिपुरसुन्दरी नामधेय परचित्कलोल्लासास्पद परमसुन्दर परमप्रेमास्पद परमशिव से अभिन्न है।

यहाँ 'इन्द्रियप्रीणनद्रव्यैर्विहितस्वात्मपूजनः' वाक्य में अन्तर्निविष्ट आत्मपूजा ही काम्य है। इसका स्वरूप इत्याकारक है—

इन्द्रियद्वारसंग्राह्यैर्गन्धाद्यैरात्मदेवताम् ।
स्वभावेन समाराध्य ज्ञातुः सोऽयं महामखः।।

विज्ञानभैरवोक्त रीति से श्रोत्र आदि इन्द्रियों के विषय शब्दादि के अनुभव से उत्पन्न आनन्द के द्वारा समरसीकरण ही परापूजा है—श्रोत्रादीन्द्रियविषयशब्दाद्यानुभवजनितेन सहानन्देन समरसीकरणं परापूजा इत्यर्थः।[१]

यहाँ न्यास की दृष्टि से षोढ़ा न्यास ही काम्य है—

न्यासं निर्वर्तयेद्देहे षोढान्यासपुरःसरम्।[२]

यहाँ अर्चन एवं यजन का स्वरूप इत्याकारक है—

१. नादेवो देवमर्चयेत्।
२. शिवो भूत्वा शिवं यजेत्।[३]

त्रिपुरोपासना (साम्प्रदायिक धरातल पर)

- कौलमत (६४ आगमों में प्रतिपादित मत)[४] (बाह्यपूजा)
- मिश्रमत (चन्द्रकला, ज्योत्स्नाप्रभृति आठ आगमों में प्रतिपादित मत) (मिश्रित पूजा)
- समयि मत (शुभागमपञ्चक में प्रपञ्चित मत) (आन्तर पूजा) वैदिकमतानुवर्ती।

मिश्रकं कौलमार्गं च परित्याज्यं हि शाङ्करि।

निष्कर्ष—महेश्वरानन्द ने महार्थमञ्जरी में निष्कर्ष के रूप में अपनी वरिवस्या (सपर्या) का स्वरूप इस प्रकार प्रस्तुत किया है—निजबलनिभालनमेव वरिवस्या, सा च दुर्लभा लोके।[५]

आचार्य क्षेमराज की दृष्टि—आचार्य क्षेमराज ने प्रत्यभिज्ञाहृदय में 'बललाभे विश्वमात्मसात् करोति (शक्तिसूत्र १५) की व्याख्या में कहा है कि चिति शक्ति ही बल

१. अमृतानन्द (दीपिका)
२. योगिनीहृदय
३. सेतुबन्ध
४. नित्याषोडशिकार्णव
५. महार्थमञ्जरी

है। चिति शक्ति देह-प्राण आदि आवरणों को निमज्जित करके स्वरूप को उन्मिषित करती हुई बल कहलाती है और चित् रूप बल को अधिष्ठित करके मन्त्र सर्वज्ञत्व आदि बल से अपने अधिकार में प्रवृत्त होते हैं—

१. चितिरेव देहप्राणाद्याच्छादननिमज्जनेन स्वरूपं उन्मग्नत्वेन स्फारयन्ती बलम्।[१]

२. तदाक्रम्य बलं मन्त्राः .... ।।

३. बल-प्राप्ति अर्थात् उदित स्वरूप का आश्रय ग्रहण करने पर योगी पृथ्वी से लेकर सदाशिव-पर्यन्त विश्व को आत्मसात् कर लेता है—अपने स्वरूप से अभिन्न रूप में प्रकाशित करता है—एवं बललाभे उन्मग्नस्वरूपाश्रयणे क्षित्यादिसदाशिवान्तं विश्वम् आत्मसात् करोति स्वस्वरूपाभेदेन निर्भासयति।[२]

क्रमसूत्र की दृष्टि—क्रमसूत्र में कहा गया है कि जिस प्रकार अग्नि उद्बोधित होकर जलाने योग्य को जलाती है, वैसे ही विषयरूपी पाशों को आत्मसात् करना चाहिये—यथा वह्निरुद्बोधितो दाह्यं दहति तथा विषयपाशान् भक्षयेत्।

चिदानन्द की प्राप्ति के पश्चात् देहादिक के अनुभूत होने पर भी चित् शक्ति के साथ एकात्मता-प्रतिपत्ति की दृढ़ता जीवन्मुक्ति है—चिदानन्दलाभे देहादिषु चेत्यमानेष्वपि चिदैकात्म्यप्रतिपत्तिदार्ढ्यं जीवन्मुक्तिः।[३]

'मध्य-विकासाच्चिदानन्दलाभः' (१७) अर्थात् सुषुम्णा के विकास से ही चिदानन्द की प्राप्ति होती है। मध्यविकास के उपाय क्या हैं? आद्यन्तकोटिनिभालन ही मुख्योपाय हैं—विकल्पक्षयशक्तिसङ्कोचविकासवाह्यच्छेदाद्यन्तकोटिनिभालनादय इहोपायाः।[४]

प्राणायाम का यथार्थ स्वरूप

एवं सपर्यास्वभावं सामान्यतः परामृश्य तद्विशेषानपि तथा योजयिष्यमाणः प्रथमं प्राणायामस्य पारमार्थ्यं प्रख्यापयति—

विमरिसिउं णिअसत्तं विहवे कज्जम्मुहम्मि थिमिए वि।
वाहिरवुत्तन्ताणं भंगो पाणस्स संजमो णेओ ।।४३।।

(विम्रष्टुं निजसत्त्वं विभवे कार्योन्मुखे स्तिमितेऽपि।
बाह्यवृत्तान्तानां भङ्गः प्राणस्य संयमो ज्ञेयः।।)

अपने सत्त्व का पर्यालोचन (चिन्तन) करने एवं स्वसामर्थ्यरूप विभव में कार्योन्मुख होने या स्तिमित होने पर (वेद्योल्लासरूप) बाह्यवृत्तियों का उच्छेद हो जाने को प्राण का संयम (प्राणायाम) समझना चाहिये।।४३।।

---

१. प्रत्यभिज्ञाहृदयम्
२. प्रत्यभिज्ञाहृदयम् (१५)
३. शक्तिसूत्र (१६)
४. प्रत्यभिज्ञाहृदयम् (१८)

पारमेश्वरोपास्त्युन्मुखानां हि प्रमातॄणामयं स्वभावो यत् स्वात्मस्फुरत्ताविष्फारोपरागमहिम्ना तत्तत्प्रसरणप्रकारवैचित्र्याक्रान्तं प्रपञ्चोच्छ्रायं प्रवर्तयन्तो बहिरन्तर्विभागशून्यामलौकिकीमात्मभूमिमारुह्य महाचिदाह्लादचर्वणचातुर्यमात्रसाराः स्वच्छन्दमासत इति। तत्र तैरुपास्त्युपक्रमे प्रकल्प्यमानः प्राणसंयमो नाम बुभुत्सुभिरित्थमवबोद्धव्यो यन्निजं सत्त्वम् उक्तरूपबलस्वभावः सद्भावः, तस्य विकल्पविक्षोभोपश्लिष्टतयैव सर्वदाऽनुभूयमानत्वादन्वयमात्रादेव तन्निबन्धनं किञ्चिदलौकिकमन्तस्तत्त्वमस्तीत्यध्यवसीयते, न पुनर्व्यतिरेकद्वारापि। व्यतिरेकश्च नात्यन्तं व्यपोहकल्पनयोपपद्यते। केवलं सङ्कोचमात्रादुपचर्यते। अतश्च—

कार्योन्मुखः प्रयत्नो यः केवलं सोऽत्र लुप्यते।
तस्मिन् लुप्ते विलुप्तोऽस्मीत्यबुधः प्रतिपद्यते।।
न तु योऽन्तर्मुखो भावः सर्वज्ञत्वगुणास्पदम्।
तस्य लोपः कदाचित् स्यादन्यस्यानुपलम्भनात्।

इति श्रीस्पन्दप्रक्रियया वेद्यावरोहौन्मुख्यशालिनि स्वसामर्थ्यरूपे विभवे कललावस्थयाऽवस्थानात्मकं स्तैमित्यमनुभवत्यपि विश्वोत्तीर्णस्य स्वात्मपरिस्पन्दमयो विमर्शः—

विश्वस्यैव विलासं मे शरीरं चाश्नुते शिवः।
शालामिव विशालां स्वामादर्शं च यथा द्विपः।।

इत्यादिनीत्या दर्पणमण्डलान्तःप्रविष्टगन्धगजेन्द्राद्यनुसन्धानस्थानीयं पर्यालोचनम्। तदुपपादकतया बहिष्ठानां वेद्योल्लासस्वलक्षणानां वृत्तान्तानां भङ्गो भञ्जनं स्तम्भनं प्राणायाम इति। तत्तद्विकल्पविक्षोभव्यतिरेकेऽपि स्वात्मस्फुरत्तानुसन्धानोपायः प्राणायाम इति यावत्। यथा श्रीस्वच्छन्दे—

अपसव्येन रेच्येत सव्येनैव तु पूरयेत्।
नाडीनां शोधनं ह्येतन्मोक्षमार्गपथस्य तु।।
रेचनात् पूरणाद रोधात् प्राणायामस्त्रिधा स्मृतः।
सामान्याद् बहिरेते तु पुनश्चाभ्यन्तरे त्रयः।।
अभ्यन्तरेण रेच्येत पूर्येताभ्यन्तरेण तु।
निष्कम्पं कुम्भकं कृत्वा कार्याश्चाभ्यन्तरास्त्रयः।। इति।

यथा—

नाभ्यां हृदयसञ्चारान्मनश्चेन्द्रियगोचरात्।
प्राणायामश्चतुर्थस्तु सुप्रशान्तपदे स्थितः।। इति।

'प्राक् संवित् प्राणे परिणता' इति स्थित्या सर्वस्यापि रेचनपूरकादिप्रपञ्चोपग्राह्यस्य वायुचक्रस्य प्राणमात्रानुप्राणनत्वात् प्राणस्येत्येकवचनोपन्यासः।।४३।।

महेश्वरानन्द की प्राणायामविषयक दृष्टि—स्वात्मस्फुरत्तानुसन्धान का उपाय प्राणायाम है—स्वात्मस्फुरत्तानुसन्धानोपायः प्राणायामः।

बाह्यवृत्तान्तानां = बंहिष्ठ वेद्योल्लास लक्षण वाले वृत्तान्तों का भंग (भञ्जन या स्तंभन) ही प्राणायाम है—बंहिष्ठानां वेद्योल्लासस्वलक्षणानां वृत्तान्तानां भङ्गो भञ्जनं स्तंभनं प्राणायाम इति।

उन-उन विकल्पों से होने वाले विक्षोभों के व्यतिरेक की स्थिति में भी स्वात्मस्फुरत्तानुसन्धान का जो उपाय है, वह भी प्राणायाम है।

महर्षि पतञ्जलि की दृष्टि—महर्षि पतञ्जलि के अनुसार प्राणायाम का स्वरूप इस प्रकार है—तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः।[१] अर्थात् उस आसन की सिद्धि होने के अनन्तर श्वास और प्रश्वास की गति का रुक जाना ही प्राणायाम है।

१. श्वास—प्राणवायु का शरीर में प्रवेश होना ही श्वास है।

२. प्रश्वास—प्राण वायु के गमनागमन का अवष्टंभ ही प्राणायाम है।

४. आसन की स्थिरता के बाद ही प्राणायाम करने का विधान है; क्योंकि इस स्थिरता के विना साधित प्राणायाम रोगोत्पत्ति आदि अनेक व्युत्सर्ग उत्पन्न कर सकता है।

प्राणायाम के भेद—महर्षि पतञ्जलि के अनुसार प्राणायाम के तीन प्रकार हैं—
१. बाह्यवृत्ति २. आभ्यन्तरवृत्ति ३. स्तम्भ वृत्ति अर्थात्—

(क) रेचक　(ख) कुम्भक　(ग) पूरक

बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः।[२]

कुम्भक के भी दो प्रकार हैं—१. आन्तर कुम्भक २. बाह्य कुम्भक।

चतुर्थ प्राणायाम—बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः। बाहर और भीतर के विषयों का त्याग कर देने से अपने-आप होने वाला प्राणायाम चतुर्थ प्राणायाम कहलाता है। यह अनायास सम्पन्न होने वाला राजयोग का प्राणायाम है। इसमें मन की चंचलता एवं प्राणों की गति—दोनों स्वयमेव रुकती है।

प्राणायाम का फल—ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्[३]—उस प्राणायाम के अभ्यास से ज्ञान का आवरण क्षीण हो जाता है।

प्राणायामाभ्यास करने पर शनैः शनैः संचित कर्म संस्कार एवं अविद्या आदि क्लेश क्षीण होते जाते हैं।

---

१. योगसूत्र (२.४९)　२. योगसूत्र (२.५०)　३. योगसूत्र (२.५२)

कर्म-संस्कार एवं अविद्या आदि क्लेश ही ज्ञान के (प्रकाश के) प्रतिबन्धक या आवरण हैं; अत: इनके हटने पर संस्कार एवं क्लेश दोनों हट जाते हैं और परिणामत: ज्ञान के ऊपर टँगा हुआ आवरण हट जाता है अर्थात् आवृत ज्ञान अनावृत हो उठता है।

३. 'धारणासु च योग्यता मनस:' अर्थात् प्राणायाम की निरन्तर साधना करते-करते साधक में धारणा की क्षमता का भी विकास हो उठता है।

प्राणायाम-साधना के फल[१]

प्रकाशावरण की निवृत्ति (ज्ञानोदय) | मन में धारणा की शक्ति का विकास

महर्षि व्यास कहते हैं—

१. श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेद: प्राणायाम:। सत्यासनजये बाह्यस्य वायोराचमनं श्वास:। कौष्ठ्यस्य वायोर्नि:सारणं प्रश्वास:। तयोर्गतिविच्छेदे उभयाभाव: प्राणायाम:।

२. बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभि: परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्म:।[२]

३. यह प्राणायाम तब दीर्घ एवं सूक्ष्म कहलाता है, जब उसकी बाह्य एवं आभ्यन्तर तथा स्तम्भ वृत्तियाँ देश, काल एवं संख्या से नियमित हों।[३]

४. प्रश्वास के पश्चात् जो गति का अभाव है, वह बाह्य है और श्वास के पश्चात् जो गति का अभाव है, वह आभ्यन्तर है। तृतीय स्तम्भवृत्ति है, जहाँ एक ही प्रयत्न से दोनों का अभाव हो जाता है।

५. ऊष्णीकृत पाषाण पर डाला हुआ जल जिस प्रकार संकुचित हो जाता है, उसी प्रकार इन दोनों की गति का एक ही साथ अभाव हो जाता है।

६. ये तीनों प्राणायाम की वृत्तियाँ देश द्वारा ही नियमित हैं। इतना ही इसका क्षेत्र है—यह प्राण का देश सूचित करता है।

७. ये काल द्वारा भी नियमित (क्षणों की अवधि से निर्धारित) हैं।

८. ये संख्या द्वारा भी नियमित हैं अर्थात् प्रथम आरम्भ इतने श्वास-प्रश्वासों से किया जा सकता है—इसी प्रकार नियमित किए हुये प्राणायाम का द्वितीयारम्भ इतनों से और इसी प्रकार तृतीय प्राणायाम का आरम्भ इतनी संख्या से किया जा सकता है।

९. इस प्रकार मृदु, मध्य एवं तीव्र तीन प्रकार की संख्यानियमित प्राणायाम है।[४]

१०. चतुर्थ प्राणायाम बाह्य एवं आभ्यन्तर क्षेत्रों को अतिक्रान्त करता है (बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थ:)।[५]

११. बाह्य एवं आभ्यन्तर (दीर्घ एवं सूक्ष्म प्राणायाम) चतुर्थ प्राणायाम के पूर्ववर्ती प्राणायाम हैं। उन दोनों की गति का अभाव है।

---

१. योगसूत्र
२. योगसूत्र (२.५०)
३. योगसूत्र (४.५१)
४. व्यासभाष्य
५. योगसूत्र

तृतीय प्राणायाम गति का अभाव है। यहाँ क्षेत्रों पर ध्यान नहीं दिया जाता और जो केवल एक ही बार आरम्भ होता है तथा जो देश, काल और संख्या से नियमित होकर दीर्घ और सूक्ष्म होता है।

चतुर्थ प्राणायाम श्वास-प्रश्वास के क्षेत्रों के निर्धारण से भूमियों पर क्रमिक विषय-प्राप्ति द्वारा उन दोनों (बाह्य एवं आभ्यन्तर) के पार जाने के पश्चात् जो गति का अभाव है, वही चतुर्थ प्राणायाम है। यही विशिष्ट प्राणायाम है।[१]

प्राणायाम-साधना का फल

प्राणायामाभ्यास करने वाले योगी के विवेक ज्ञान को आच्छादित करने वाला कर्म नष्ट हो जाता है। कहा भी गया है—महामोहमयेनेन्द्रियजालेन प्रकाशशीलं सत्त्व-मावृत्य तदेवाकार्ये नियुक्तमिति अर्थात् महामोह से परिपूर्ण इन्द्रियजाल द्वारा प्रकाशस्वभाव वाला सत्व ढका जाकर उसी कर्म से पाप में नियुक्त होता है—प्रकाश को ढकने वाला तथा पुनर्जन्म का कारणरूपी योगी का यह कर्म प्राणायाम के अभ्यास से क्षीण होता जाता है।[२] इसीलिये यह भी कहा गया है—तपो न परं प्राणायामात्ततो विशुद्धिर्मलानां दीप्तिश्च ज्ञानस्येति अर्थात् प्राणायाम से परे कोई तप नहीं है। इससे मलों की शुद्धि होती है तथा ज्ञान की ज्योति में वृद्धि होती है।[३]

प्राणायामाभ्यास से निःसन्देह धारणा के लिये मन को क्षमता या शक्ति प्राप्त होती है।

महेश्वरानन्द की दृष्टि में प्राणायाम का स्वरूप—

१. निजसत्त्व का विमर्शन (विम्रष्टुं निजसत्त्वं)।

२. स्वसामर्थ्यस्वरूप वैभव में कार्योन्मुख (प्रवृत्त) होने पर आत्मा के स्तिमित (शान्त) होने पर (विभवे कार्योन्मुखे स्तिमितेऽपि)।

३. बाह्यवृत्तियों का उच्छेद हो जाना (बाह्यवृत्तान्तानां भंगः। प्राणस्य संयमो ज्ञेयः)।

निजसत्त्व = चिद्रूप सत्त्व। आनन्द की अवस्था ही चित्सत्त्व है—

यत्रानन्दो भवेद् भावे तत्र चित्सत्त्वयोः स्थितिः।

बाह्यवृत्तान्तानाम् = इन्द्रियों द्वारा विषयों का ग्रहण न होना (शब्द-स्पर्श-रूप-रस गन्धादि विषयों की ग्रहण-निवृत्ति) अर्थात् प्रत्याहार (बाह्य वृत्तान्तों का भंग) होने पर आत्मस्वरूप का पर्यालोचन प्राणायाम है।

कच्छप द्वारा अपने समस्त अंगों को अपने भीतर समेट लेने की भाँति इन्द्रियों को उनके ग्राह्य विषयों से हटा लेने पर बुद्धि में स्थैर्य आ जाता है। यही आत्मशान्ति की अवस्था है। यह स्वसामर्थ्यस्वरूप विभव के अनुरूप निज सत्त्व के चिन्तनकार्य में प्रवृत्त

---

१. व्यासभाष्य २. योगसूत्र—व्यासभाष्य ३. व्यासभाष्य

होने पर प्रकाशित होती है। आत्मशान्ति की यही अवस्था मोक्ष प्राप्त करने में प्राण-संयम-रूप बाह्यविषयोन्मुखी वृत्तियों के उच्छेद में निहित है।

गीता में प्रतिष्ठिता प्रज्ञा के स्वरूप-निर्धारण में प्राणायाम को कूर्मोऽङ्गानीव विषयों को इन्द्रियों में समेट कर लीन कर लेने की पद्धति के रूप में प्रस्तुत किया गया है—

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।[1]

स्वच्छन्दतन्त्र में प्राणायाम का विवेचित स्वरूप—स्वच्छन्दतन्त्र में नाड़ी-शोधन एवं प्राणायाम के स्वरूप को इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—

अपसव्येन रेच्येत सव्येनैव तु पूरयेत्।
नाडीनां शोधनं ह्येतन्मोक्षमार्गपथस्य तु।
रेचनात् पूरणाद् रोधात् प्राणायामस्त्रिधा स्मृतः।।

महेश्वरानन्द का कथन है कि अपने सत्त्व का चिन्तन (पर्यालोचन) करने में स्वसामर्थ्यरूप वैभव में आत्मा के प्रशान्त होने पर बाह्यवृत्तियों का उच्छिन्न हो जाना ही प्राणों का संयम या प्राणायाम है।

योगी भोजदेव की दृष्टि—योगी भोजदेव ने प्राणायाम की व्याख्या करते हुये कहा है कि—स तु बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिदेशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घः सूक्ष्मः। (योगसूत्र-५०) अर्थात् 'तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः' (सा. पाद ४९) कहकर जिस प्राणायाम को परिभाषित किया गया है, उसके अनेक भेद हैं—

१. बाह्यवृति श्वास—इसे ही रेचक कहा जाता है।

२. आभ्यन्तर या अन्तवृत्ति नामक प्रश्वास = इसे ही पूरक कहा जाता है।

३. आन्तर स्तम्भ वृत्ति—इसे ही कुंभक कहा जाता है—'बाह्यवृत्तिः श्वासो रेचकः, अन्तर्वृति प्रश्वासः पूरकः आन्तरस्तम्भवृत्ति कुंभकः' है। कुम्भक उस कुम्भ की भाँति है, जिसमें जल भर दिया जाता है और वह कुम्भ में निश्चलतापूर्वक स्थित हो जाता है—तस्मिन् जलमिव कुम्भे निश्चलतया प्राणा अवस्थाप्यन्ते इति कुम्भकः (भोजवृत्ति)। इसी प्रकार जब भीतर श्वास भर कर उसे वहीं रोक दिया जाता है तब उसे कुम्भक प्राणायाम कहा जाता है।

भोजवृत्ति के अनुसार प्राणायाम त्रिविधात्मक है—

१. देशोपलक्षित (यथा-नासाप्रदेशान्त आदि)।

२. कालोपलक्षित (षट्त्रिंशन्मात्रादि प्रमाण वाला)।

३. संख्योपलक्षित (इयतो वारान् कृत एतावद्भिः श्वासप्रश्वासैः प्रथम उद्घातो भवति।

---

१. गीता (२.५८)

'उद्घात' क्या है—उद्घातो नाम नाभिमूलात् प्रेरितस्य वायोः शिरस्यभिहननम् (भोजवृत्ति)।

चतुर्थ प्राणायाम—बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः।

१. प्राणस्य बाह्यो विषयो नासादेशान्तादिः।

२. आभ्यन्तरो विषयो हृदयनाभिचक्रादिः।

३. तौ द्वौ विषयौ आक्षिप्य पर्यालोच्य यः स्तम्भरूपी गतिविच्छेदः स चतुर्थः प्राणायामः।[१]

इससे (प्राणायाम से) क्लेशरूप आवरण नष्ट होता है। प्रकाशावरण = चित्तसत्वगत क्लेशरूप आवरण। निजसत्त्व = चिद्रूप सत्त्व। यह आनन्दस्वरूप है। भाव में आनन्द की स्थिति ही चित्सत्त्व है—

यत्रानन्दो भवेद् भावे तत्र चित्सत्त्वयोः स्थितिः।

बाह्यवृत्तान्त = समस्त इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य विषय।

भंग = उपर्युक्त विषयों से निवृत्ति। यही है—महेश्वरानन्दोक्त बाह्य वृत्तान्तों का अन्त। यही आत्मस्वरूप के पर्यालोचन में प्राणायाम कहा गया है।

प्राणायाम = ऐन्द्रिय विषयों से निवृत्ति जब आत्मपर्यालोचन में प्रवृत्त हो जाय तब उसे प्राणायाम कहते हैं। गीता में कहा गया है—

यदा सहरते चापं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।

आत्मशान्ति की स्थिति ही स्वसामर्थ्यरूप विभव के अनुरूप निजसत्त्व के पर्यालोचन में प्रवृत्त होने पर प्रस्फुटित होती है। आत्मशान्ति मोक्षाप्ति के मार्ग में प्राणसंयमरूप बाह्य विषयोन्मुखी वृत्तियों के उच्छेद में अवस्थित है।

स्वच्छन्दतन्त्र की दृष्टि—

अपसव्येन रेच्येत सव्येनैव तु पूरयेत्।
नाडीनां शोधनं ह्येतन्मोक्षमार्गपथस्य तु।।
रेचनात् पूरणाद् रोधात् प्राणायामस्त्रिधा स्मृतः।
सामान्याद् बहिरेते तु पुनश्चाभ्यन्तरे त्रयः।।
अभ्यन्तरेण रेच्येत पूर्येताभ्यन्तरेण तु।
निष्कम्पं कुम्भकं कृत्वा कार्याश्चाभ्यन्तरास्त्रयः।।

चतुर्थ प्राणायाम—

नाभ्यां हृदयसञ्चारान्मनश्चेन्द्रियगोचरात्।
प्राणायामश्चतुर्थस्तु सुप्रशान्तपदे स्थितः।।

---

१. भोजवृत्ति

विम्रष्टुं = विमर्शन करने हेतु। वेद्यावरोहौन्मुख्यशालिनि स्वसामर्थ्यरूपे विभवे कलला-वस्थयाऽवस्थानात्मकं स्तैमित्यमनुभवत्यपि विश्वोत्तीर्णस्य स्वात्मपरिस्पन्दमयो विमर्शः।

विश्वस्यैव विलासं मे शरीरं चाश्नुते शिवः।
शालामिव विशालां स्वामादर्शं च यथा द्विपः।।

उपास्ति (उपासना) के उपक्रम में प्रकल्प्यमान प्राणसंयम क्या है? जो निज सत्त्व (आत्मबल) है, विकल्पविक्षोभोपश्लिष्टतया सदैव अनुभूयमान होने के कारण उसका जो निबन्धन है, वह अलौकिक अन्तस्तत्त्व है। प्राणायाम उपासना में अत्यन्त सहयोगी है—उपास्त्युपक्रमे प्रकल्प्यमानः प्राणायामे। (परिमल—महेश्वरानन्द)

शुद्धि के उपाय

प्राणायामप्रसङ्गात् तदनन्तरोपकल्प्यमानानां शोषदाहाप्लावनानां तत्त्वमुत्ते-जयति—

सोसो मलस्स णासो दाहो एअस्स वासणुच्छेओ।
अब्बालणं तणूणं णाणसुहासेअणिम्मिआ सुद्धी ॥४४॥

(शोषो मलस्य नाशे दाह एतस्य वासनोच्छेदः।
आप्लावनं तनूनां ज्ञानसुधासेकनिर्मिता शुद्धिः।।)

(प्राणियों के संसारांकुरकारणभूत अज्ञानरूप) मलों के कर्शन (शोषण), ध्वंस एवं विदग्धीकरण, वासनाओं के उन्मूलन, तनूकृत वासनाओं के आप्लावन एवं ज्ञानरूप अमृत के छिड़काव से (यथार्थ) शुद्धि का उदय होता है।।४४।।

अर्चकानां ह्यर्चनोपक्रम एव काचिदलौकिकता सम्पाद्या। सा च मलोप-लेपप्रक्षयादौ पर्यवस्यति। तत्र तदीयानां शरीराणां शोषो नाम तदायत्तस्य मलस्य संसाराङ्कुरकारणभूतस्याज्ञानस्य कर्शनमेवाख्यायते। दाहश्च नाम तेषां प्रस्तुतस्यैव मलस्य या वासना संस्कारसारतयावस्थानम्, तद्व्युदासस्वभावो भवति। एव-माप्लावनमप्यज्ञानव्यपोहाविनाभावोद्भूतं स्वरूपलाभलक्षणाह्लाददायित्वादमृता-यमानं यद् ज्ञानं स्वात्मावबोधस्तत्प्रसरधारावाहिकोपकल्पिता शुद्धिः पवित्री-करणमिति। यदुक्तमस्मत्परमगुरुभिः श्रीक्रमवासनायाम्—

संवित्सतत्त्वनैर्मल्यसिद्धये शोषणादिकम्।
विकल्पसार्वभौमस्य शरीरस्याश्रयाम्यहम्।। इति।

अयं भावः—पूजकानां हि प्रथमं प्राणपरिस्पन्दतया प्राणीभूतवायुतत्त्वता-दात्म्यानुसन्धानादुपरि करिष्यमाणयोर्दाहप्लावनयोरुभयोरपि योग्यत्वमुत्पद्यते। अनन्तरं परमप्रमातृतापरामर्शद्वारा तेषामवच्छिन्नप्रमातृताविगलनात्मनो दाहस्योप-

योगः। यदुक्तं श्रीविज्ञानभट्टारके—

कालाग्निना कालपदादुत्थितेन स्वकं पुरम्।
प्लुष्टं विचिन्तयेदन्दे शान्ताभासः प्रजायते ।। इति।

तदनु तमेव भावं द्रढयितुमलौकिकाहन्तानन्दचन्द्रिकामयमहाप्रमेयामृतप्रवाहाभिषेकानुभूतिराप्लावनलक्षणा सम्पद्यते। यथा चोक्तं तत्रैव—

सर्वं जगत् स्वदेहं वा स्वानन्दभरितं स्मरेत्।
युगपत् स्वामृतेनैव परानन्दमयो भवेत् ।। इति।

'पर्यन्ततः प्रामाण्येन प्रकाशानन्दसामरस्यानुभवो भूतशुद्धिः' इत्युपनिषत्। सा खल्वलौकिकी सृष्टिरित्युच्यते। यथोक्तं श्रीमत्स्तोत्रावल्याम्—

अस्मिन्नेव जगत्यन्तर्भवद् भक्तिमतामपि।
हर्षप्रकाशबहलमन्यदेव जगत् स्थितम् ।। इति।

यथा च स्तोत्रभट्टारके—

प्रकाशानन्दयोरन्तर्लोलीभूता परा स्थितिः। इति।

यच्चोक्तं मयैव श्रीकोमलवल्लीस्तवे—

संप्लुता समरसं सुधाप्लवैर्वह्निवृष्टिरिव विश्वतोमुखी।
चण्डि! चेतसि विभासि कस्यचिच्चिन्मयी समयिनश्चमत्क्रिया ।। इति।

शुद्धि का स्वरूप और उसके भेद—प्रस्तुत गाथा में अर्चकों के अर्चन-व्यापार के उपयोगी तत्त्वों पर प्रकाश डाला गया है। इससे अलौकिकता का उदय होता है।

शुद्धि के उपाय (महेश्वरानन्द : महार्थमञ्जरी)

- मल का शोष
  - आणव मल का नाश
  - कार्ममल का नाश
  - मायीय मल का नाश
- वासनोच्छेद रूप दाह
- शरीर का आप्लावन
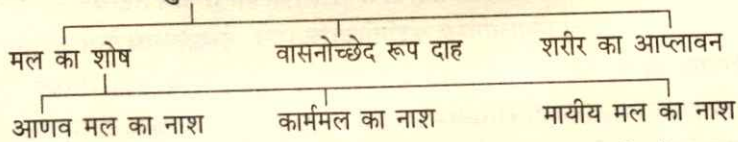
अर्चकानां ह्यर्चनोपक्रम एव काचिदलौकिकता सम्पाद्या। सा च मलोपलेपप्रक्षयादौ पर्यवस्यति। (परिमल)

मलत्रय का उन्मूलन

१. शोष का स्वरूप—शरीर के द्वारा आयत्त संसाराङ्कुरस्वरूप अज्ञान के कर्मों का ध्वंस ही शोष है—तत्र तदीयानां शरीराणां शोषो नाम तदायत्तस्य मलस्य संसाराङ्कुरकारणभूतस्याज्ञानस्य कर्शनमेवाख्यायते।[१]

---

१. परिमल

२. दाह का स्वरूप—उपर्युक्त मलत्रय की जो वासनायें संस्कार के रूप में अवस्थित हैं, उनके उस अवस्थान का व्युदास (ध्वंस) ही दाह है—दाहश्च नाम तेषां प्रस्तुतस्यैव मलस्य या वासनासंस्कारसारतयावस्थानम् तद्व्युदासस्वभावो भवति।[१]

३. आप्लावन का स्वरूप—अज्ञान के व्यपोह के अविनाभाव से उत्पन्न एवं आह्लाददायी होने के कारण अमृतायमान कहा जाने वाला जो स्वात्मावबोधस्वरूप ज्ञान है, उसके धारावाहिक प्रसार से उपकल्पित शुद्धि या पवित्रीकरण ही शरीर का आप्लावन है—एवमाप्लावनमप्यज्ञानव्यपोहाविनाभावोद्भूतं स्वरूपलाभलक्षणाह्लाददायित्वादमृतायमानं यद् ज्ञानं स्वात्मावबोधस्तत्प्रसरधारावाहिकोपकल्पिता शुद्धिः पवित्रीकरणमिति।[२]

श्रीक्रमवासना में कहा भी गया है—

संवित्सतत्त्वनैर्मल्यसिद्धये शोषणादिकम्।
विकल्पसार्वभौमस्य शरीरस्याश्रयाम्यहम्।।

इसका भाव यह है कि अर्चकों में प्राणपरिस्पन्द के रूप में प्राणभूत वायुतत्त्व के साथ तादात्म्यानुसंधान के अनन्तर करिष्यमाण दाह एवं आप्लावन—दोनों की योग्यता (क्षमता) उत्पन्न हो जाती है।[३]

श्रीविज्ञानभट्टारक में कहा गया है—

कालाग्निना कालपदादुत्थितेन स्वकं पुरम्।
प्लुष्टं विचिन्तयेदन्ते शान्ताभासः प्रजायते।।

इस भाव को सुदृढ़ करने के लिये अलौकिक अहन्तानन्दस्वरूप एवं चन्द्रिका से युक्त महाप्रमेयामृत की प्रवाहाभिषेकानुभूति ही आप्लावन है।

दाह एवं आप्लावन की क्षमता के उत्पन्न हो जाने के अनन्तर परमप्रमातृतापरामर्श के द्वारा उसकी अवच्छिन्नप्रमातृता के विगलनस्वरूप दाह की उपयोगिता या सार्थकता हुआ करती है। विज्ञानभैरव में कहा गया है कि—

सर्वं जगत् स्वदेहं वा स्वानन्दभरितं स्मरेत्।
युगपत् स्वामृतेनैव परानन्दमयो भवेत्।।

उपनिषद में भी कहा गया है—पर्यन्ततः प्रामाण्येन प्रकाशानन्दसामरस्यानुभवो भूतशुद्धिः। वह अलौकिकी सृष्टि है।

श्रीमत् स्तोत्रावली में भी कहा गया है—

अस्मिन्नेव जगत्यन्तर्भवद्भक्तिमतामपि।
हर्षप्रकाशबहलमन्यदेव जगत्स्थितम्।।

१-३. परिमल

स्तोत्रभट्टारक में भी कहा गया है—

संप्लुता समरसं सुधाप्लवैर्वह्निवृष्टिरिव विश्वतोमुखी।
चण्डि! चेतसि विभासि कस्यचिच्चिन्मयी समयिनश्चमत्क्रिया।।

मल का शोष और शुद्धि की आवश्यकता

साधना का चरमोद्देश्य आत्मा-भिज्ञान है। आत्माभिज्ञान के लिये प्रपञ्च-प्रशम आवश्यक है। इसके लिये प्रत्यभिज्ञा दर्शन में अनेक उपाय बताये गये हैं। प्रश्न यह उठता है कि उपनिषदों में जब अहं ब्रह्मास्मि, तत्त्वमसि और सर्वं खल्विदं ब्रह्म कहकर सर्वत्र (अस्मत् प्रत्यय एवं इदम् प्रत्यय दोनों में) ब्रह्म की ही व्यापकता उद्घोषित की गई है तब बन्धन कैसा? यदि बन्धन नहीं तो साधना की आवश्यकता क्या है? यदि साधना की आवश्यकता नहीं है तो बन्धनों से मुक्ति के उपायों की उपयोगिता ही क्या है? विज्ञानभैरव में कहा गया है कि जहाँ भी देखा, सुना एवं सोचा जाय, सर्वत्र शिवावस्था ही विद्यमान है—

यत्र यत्र मनो याति बाह्ये वाऽभ्यन्तरे प्रिये।
तत्र तत्र शिवावस्था व्यापकत्वात् क्व यास्यति?।।
(वि. भै.-११३)

और प्रत्येक प्राणी सर्वज्ञ, सर्वकर्ता एवं व्यापक परमेश्वर है—

सर्वज्ञः सर्वकर्ता च व्यापकः परमशेवरः।
स एवाहं शैवधर्मा इति दार्ढ्याच्छिवो भवेत्।।
(वि. भै.-१०७)

और इसी कारण बन्धन एवं मोक्ष की कल्पना भी मिथ्या है—

न मे बन्धो न मोक्षो मे भीतस्यैता विभीषिकाः।
प्रतिबिम्बमिदं बुद्धेर्जलेष्विव विवस्वतः।।
(वि. भै.-१३२)

यदि यह कहा जाय कि अविकल्प आत्मा विकल्पों के जगत् में आकर (मूलतः विकल्पातीत होते हुये भी) विकल्पों से प्रभावित हुये बिना रह ही नहीं सकती; अतः जब तक विकल्प रहेंगे, आत्मा इन बन्धनात्मक विकल्पों से प्रभावित हुये बिना रह ही नहीं सकती। किन्तु विकल्पों के रहते हुये आत्मा का शिवत्व या ब्रह्मत्व नष्ट होना आवश्यक नहीं है—

सोऽहं ममायं विभव इति प्रत्यभिजानतः।
विश्वात्मनो विकल्पानां प्रसरेऽपि महेशता। (४.१.१२)

जीवात्मा का अपना एक अभिन्न अंग अन्तःकरण है। जीवात्मा के सत्रह अवयवों

में यह भी एक अवयव है। अन्तःकरण (मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार) के समक्ष जो भी ऐन्द्रिय विषय उसकी प्रत्यासत्ति में आता है, वह (अन्तःकरण) उसी का रूप धारण कर लेता है अर्थात् जिस प्रकार स्फटिक रंगरहित तो है; किन्तु उसकी आसत्ति (समीपता) में जो भी पदार्थ आता है, वह उसी का स्वरूप धारण कर लेता है, इसी प्रकार अन्तःकरण अपने प्रत्यासन्न समस्त पदार्थों को अपने में धारण करके तदाकाराकारा चित्तवृत्ति द्वारा तद्रूप बन जाता है। यह तद्रूपता ही जीवात्मा को बन्धन में डाल देती है; क्योंकि यह ताद्रूप्य ही तो अविद्या है। आचार्य शंकर ने इसका स्वरूप इस प्रकार बताया है—

'त्वं परमात्मानं सन्तं संसारिणं संसार्यहमस्मीति विपरीतं प्रतिपद्यसे। अकर्तारं सन्तं कर्तेति अभोक्तारं सन्तं भोक्तेति विद्यमानं च अविद्यमानमिति इयमविद्या' अर्थात् प्राणी का असंसारी होकर भी अपने को संसारी मानने लगना, अकर्ता होते हुये भी अपने को कर्ता मानने लगना, अभोक्ता होकर भी अपने को भोक्ता तथा विद्यमान होते हुये भी अपने को अविद्यमान मानने लगना ही अविद्या है।

पञ्चदशीकार स्वामी विद्यारण्य ने इसे अन्य में अन्य के धर्म की अध्यारोपणा को ही अविद्या की संज्ञा दी है—अविद्या नाम अन्यस्मिन् अन्यधर्माध्यारोपणा।

वात्स्यायन ने न्यायसूत्र की टीका में भी इसी अध्यास एवं अध्यारोपणा को अज्ञान एवं अविद्या का स्वरूप माना है।
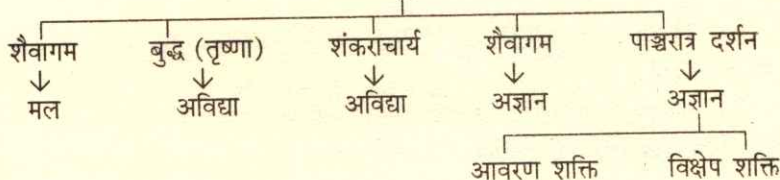
मालिनीविजयोत्तरतन्त्र में कहा गया है कि संसारांकुर का कारण (बंधन का मूल-भूत कारण) तो मल है—

मलमज्ञानमिच्छन्ति संसारांकुरकारणम्।

मल—मल संसाररूपी वृक्ष के अंकुर का कारण है। मल के दो लक्षण बताए गये हैं—अज्ञान एवं संसारांकुरकारणता।

मल के विभिन्न स्वरूप एवं पक्ष—मल के कितने स्वरूप हैं? यह इसके पर्याय-वाची शब्दों से ज्ञात हो जाता है, जो निम्नाङ्कित हैं—

मलोऽभिलाषश्चाज्ञानमविद्यालोलिका प्रथा।
भवदोषोऽनुप्लवश्च ग्लानिः शोषो विमूढ़ता।।

अहं ममात्मतातङ्को मायाशक्तिरथावृत्तिः।।
दोषबीजं पशुत्वं च संसाराङ्कुरकारणम्।।

स्पन्दकारिका में इस अविद्याबद्ध प्राणी को ही पशु कहा गया है; क्योंकि अज्ञान पशुत्व ही तो है; अतः इससे परिबद्ध प्राणी पशु ही है—

शब्दराशिसमुत्थस्य शक्तिवर्गस्य भोग्यताम्।
कलाविलुप्तविभवो गतः सन् स पशुः स्मृतः।। (४५)

(ब्राह्म्यादीनां कलाभिः ककाराद्यक्षरैर्विलुप्तविभवः स्वस्वभावात् प्रच्यावितः पशुरुच्यते—भट्टकल्लट)

मलों के प्रकार

आणव मल　　मायीय मल　　कार्ममल

काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार बन्धन का कारण अज्ञान है। शैवशास्त्रों में अज्ञान के लिये एक पारिभाषिक शब्द प्रयुक्त किया गया है और वह है—मल। मल शब्द का अज्ञान के अर्थ में शांकर अद्वैतवाद में कहीं भी प्रयोग नहीं किया गया है।

सारांश यह कि अज्ञान की पारिभाषिक संज्ञा है—मल। मल का कारण है—परमशिव की स्वातन्त्र्य शक्ति, इसी स्वातन्त्र्य शक्ति के द्वारा परमशिव अपने भीतर ही अवरोहण एवं आरोहण का व्यापार निष्पन्न किया करता है। परमशिव के मुख्यतः दो व्यापार हुये—अवरोहरण क्रीड़ा एवं आरोहण क्रीड़ा।

१. अवरोहण की उसकी आत्मकल्पना स्वात्मप्रच्छादन की इच्छास्वरूपा क्रीड़ा (या लीला) है।

२. परमशिव (परमेश्वर) की इसी स्वात्मप्रच्छादन (स्वरूपगोपन) की क्रिया को काश्मीरीय शैव दर्शन में आणव मल कहा गया है।

३. यह आणव मल भी पारमार्थिक सत्य या नित्य पदार्थ नहीं है; प्रत्युत अवरोहण लीला के लिये परमेश्वर के द्वारा अपने स्वातन्त्र्यवश की गई मल की कल्पनामात्र है—

देवः स्वतन्त्रश्चिद्रूपः प्रकाशात्मास्वभावतः।
रूपप्रच्छादनक्रीडायोगादणुरनेककः ।।
(तन्त्रालोक-८.१३.१०३)

इह ईश्वरस्य स्वरूपतिरोधित्सैव तावदाणवस्य मलस्य कारणम्।
(तन्त्रालोक-८)

४. मल को अज्ञान भी कहा गया है—यह बन्धन का कारण 'अज्ञान' ज्ञान के अभाव का सूचक नहीं है; प्रत्युत परिमित ज्ञान का द्योतक है। यह परिमित ज्ञान ही बन्धन है—ज्ञानं बन्धः (शिवसूत्र-१.२)।

५. (क) जब शिव अपने स्वातन्त्र्य स्वभाव की लीलावश जीवभाव ग्रहण करके स्वरूपगोपन की क्रिया निष्पादित करता है तो अपनी स्वतन्त्र इच्छावश स्वपरिगृहीत पारिमित्य को ही अपना यथार्थभूत पारिमित्य (ज्ञान का संकुचन) मान बैठता है। यही संकुचित ज्ञानस्वरूप पारिमित्य उसका बन्धन बन जाता है।

(ख) वस्तुतः बन्धन नाम की कोई वास्तविक वस्तु नहीं है। यह केवल शिव की कल्पनामात्र है—

न मे बन्धो न मोक्षो मे भीतस्यैता विभीषिकाः।
प्रतिबिम्बमिदं बुद्धेर्जलेष्विव विवस्वतः।।

(वि. भै.-१३२)

केवलं एताः बन्धमोक्षादिकल्पना मायाशक्तिवशात् अपरामृष्टस्वरूपस्यैव न तु चिदद्वैतपरामर्शशीलस्य (विज्ञानभैरवविवृति)।

इसी पारिमित्य (ज्ञान-संकुचन) के कारण यह शिव अणु (संकुचित संवित्स्वरूप, संकुचित ज्ञातृ-कर्तृस्वरूप चैतन्यात्मक शिव) बन जाता है—संकोच एव हि पुंसामाणवमलमित्युक्तप्रायम्। (स्वच्छन्दतन्त्र टीका)

उसका सर्वज्ञातृत्व अल्प ज्ञातृत्व में, सर्वकतृत्व अल्पकर्तृत्व में, सर्वव्यापकत्व संकुचितदेशत्व में एवं सर्वतृप्तित्व अल्पतृप्ति आदि में रूपान्तरित हो जाता है।

(ग) इत्थं सर्वशक्तियोगेऽपि आभिर्मुख्याभिः शक्तिभिरुपचर्यते। स च भगवान् स्वातन्त्र्यशक्तिमहिम्ना स्वात्मानं संकुचितमिव आभासयन् अणुः इति उच्यते। यथोक्तम्—

व्यापको हि शिवः स्वेच्छाक्लृप्तसंकोचमुद्रणात्।
विचित्रफलकर्मौघवशात्तत्तच्छरीरभाक् ।।

इति निजस्वरूपगोपनकेलिलोलम् एवं माहेशशक्तिपरिस्पन्दं प्रवरगुरवः प्रतिपेदिरे।

इसीलिये कहा गया है कि परमेश्वर छिपने की क्रिया में बड़ा पण्डित है—

अतिदुर्घटकारित्वात्स्वाच्छन्द्यान्निर्मलादसौ ।
स्वात्मप्रच्छादनक्रीड़ापण्डितः परमेश्वरः।।

यही तो अविद्या है—

अनावृते स्वरूपेऽपि यदात्माच्छादनं विभोः।
सैवाविद्या... ।

(श्रीमद्भट्टवामदेव—जन्म-मरणविचार)

परमशिव की दो अवस्थायें—आरोहण एवं अवरोहण।

१. आरोहण—विश्वोत्तीर्ण, अवस्था (प्रलयावस्था) (मायातीत अवस्था) स्वविश्रान्त

की परम अवस्था। शक्ति का प्रतिक्षण स्वस्वरूप पर किसी न किसी प्रकार का आवरण डालकर अपना आच्छादन करना (शक्ति का अपना) स्वभाव है; किन्तु शिवभूमिका जहाँ पर शक्ति अहंविमर्शमयी स्पन्दना (पूर्ण स्वातन्त्र्य) से ओतप्रोत है, वहाँ स्व-रूपगोपन का प्रश्न ही नहीं उठता। इस स्तर पर तो बन्धन-मोक्ष का सवाल ही नहीं उठता।

२. अवरोहण—विश्वमय (सृष्टि की अवस्था) मायोपहित शक्ति की भूमिका—स्वरूप-गोपन की भूमिका।

सृष्टि की भूमिका—स्वस्वरूप को तिरोहित करके उपस्थित होने की भूमिका। शक्ति का—मायाशक्ति का स्वरूप धारण करके विद्यमान होने की अवस्था।

> सेयं क्रियात्मिका शक्तिः शिवस्य पशुवर्तिनी।
> बन्धयित्री .... ।।
> (स्पन्दकारिका-४८)

सा चेयं क्रियास्वभावा भगवतः पशुवर्तिनी शक्तिः। (कल्लट—स्पन्दवृत्ति)
स्वरूपावरणे चास्य शक्तयः सततोत्थिताः। (४७) (स्पन्दकारिका-४७)

आत्मा की तीन अवस्थायें—

१. केवलावस्था २. सकलावस्था ३. शुद्धावस्था

सकलावस्था—यदा सूक्ष्मदेहेनान्नमय-प्राणमय-मनोमय-विज्ञानमयानन्दमयकोशैश्चाव-च्छिन्नस्तदा सकलावस्था।[१]

पञ्चकोशावच्छिन्न चेतना ही सकल है। मल से युक्त ही पशु है।

पशु (मलोपेत प्राणी)
सकल | प्रलयाकल | विज्ञानाकल

पशुरुपाधिभेदेन त्रिविधः सकलः प्रलयाकलो विज्ञानाकलश्चेति।[२]

> पशवस्त्रिविधा ज्ञेयाः सकलः प्रलयाकलः।
> विज्ञानाकल इत्येषां शृणुध्वं लक्षणं क्रमात्।।
> मलोपरुद्धदृक्छक्तिस्तत्प्रसृत्यै कलादिमान्।
> भोगाय कर्मसम्बन्धः सकलः परिपठ्यते।।
> प्राग्वन्निरुद्धदृक्छक्तिः कर्मपाकात्कलोज्झितः।
> कर्मणैष्यत्कलायोग्यो यस्य च प्रलयाकलः।।

---

१. शैव परिभाषा (शिवाग्र योगीन्द्र ज्ञानशिवाचार्य)
२. पौ. पशु. प. (श्लोक २-५)

मलोपरुद्धशक्तित्वाच्छून्यकल्पस्वदृक्क्रियः ।
तृतीयः पठ्यते तन्त्रे नाम्ना विज्ञानकेवलः ।।[१]

आणव मल के दो पक्ष—१. स्वतन्त्र ज्ञातृत्व की हानि, २. स्वतन्त्र कर्तृत्व का अबोध।
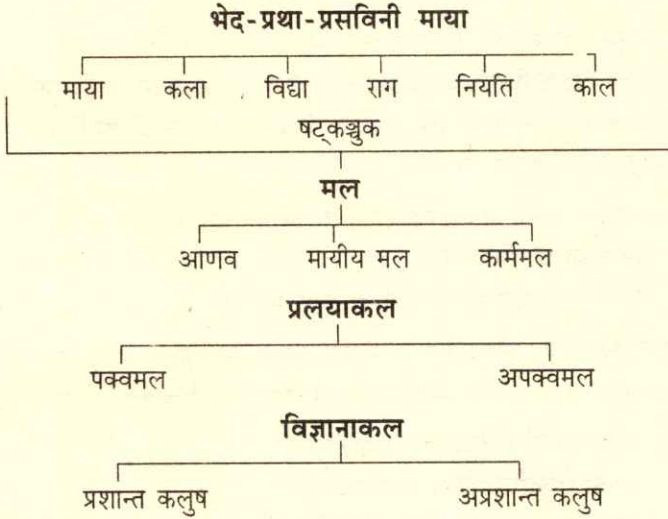
शैव परिभाषा में बन्धन (अशुद्धावस्था-नियामक मूल कारण) को 'पाश' कहा गया है।

पाश (शैव परिभाषा)

आणव तिरोधायक शक्ति बिन्दु माया कर्म
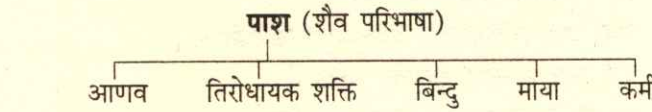
आणवत्व क्या है? तत्राणवत्वं नाम आत्मनो दृक्क्रियारोधकत्वम्।[२]

आणव मल (काश्मीरीय शैव दर्शन के अनुसार)

स्वातन्त्र्यहानिर्बोधस्य स्वातन्त्र्यस्याप्यबोधता[३]
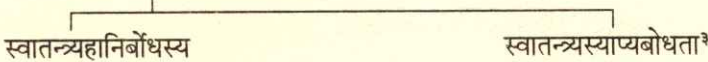
१. माया = तन्मलत्रयनिर्माणो प्रभोरिच्छा मायाशक्तिरुच्यते।

२. अत्रैव द्विधाणवे वेद्यमभिन्नमपि भेदेन यदाभाति तदातोऽपि विपर्यासनाम्ना मायीयमलम्।

---

१. पौ. पशु. प. (श्लोक २-५)

२. शैवपरिभाषा (परिच्छेद : ४)

३. प्रत्यभिज्ञाकारिका

३. अहेतूनामपि कर्मणां जन्मादिहेतुभावेन विपर्यासादबोधात्मककर्तृगतं कार्मं (मलम्)।[१]

अज्ञान की पारिभाषिक संज्ञा मल है—

अज्ञानं किल बन्धहेतुरुदितः शास्त्रे मलं तत्स्मृतम्।[२]

अणुरूप आत्मा की भिन्नवेद्य प्रथा या भेदधी ही मायीय मल है।

इस भिन्न वेद्य प्रथा के परिणामस्वरूप मितात्मा (पुरुष) वेद्यों (पदार्थों) में शुभत्व एवं अशुभत्व देखता है और अपने द्वारा शुभत्वाशुभत्व के अपने आरोपयुक्त विकल्पों से परिबद्ध होकर कर्म करता है। शुभाशुभ विकल्परूप मल ही कार्म मल है। यह जन्म-मृत्युचक्र का कारण भी है।

१. अणुत्व चेतना में अहन्ताभिमान ही आणव मल है।
२. भिन्नवेद्यप्रथा मायीय मल है।
३. शुभाशुभ वासनास्वरूप मल ही कार्म मल है।

मायाशक्ति → १. आणव मल २. मायीय मल ३. कार्म मल—माया शक्त्यैव तत्त्रयम् (प्र. का. उत्पल देव)। तन्मलत्रयनिर्माणे प्रभोरिच्छा मायाशक्तिरुच्यते।[३]

१. बोधानामपि कर्तृत्वजुषां कार्ममलक्षतौ।
२. भिन्नवेद्यजुषां मायामलं विद्येश्वराश्च ते।। (२०)
३. देवादीनां च सर्वेषां भविनां त्रिविधं मलम्।
४. तत्रापि कार्ममेवैकं मुख्यं संसारकारणम्।। (२१)
५. शून्याद्यबोधरूपास्तु कर्तारः प्रलयाकलाः।
तेषां कार्ममलोऽप्यस्ति मायीयस्तु विकल्पितः।। (२०)[४]
६. वृत्ते स्वरूपसंकोच आणवेन मलेन वै।
भिन्नस्य प्रथनं यत्तत् मायीयमिति संज्ञितम्।। (४७३)
७. अबोधरूपदेहादेः कर्तुर्भिन्नप्रथावतः।
धर्माधर्मस्वरूपं च मलं कार्मं प्रकीर्तितम्।। (४७४)
८. सुखदुःखादिजनकधर्माधर्मोभयोरपि।
वासनैवोच्यते कार्मं मलं संसारकारणम्।। (४७५)
९. शरीरभुवनाद्यात्मभिन्नताभासकारणम्।
मायिकं मलमित्युक्तं संसारोऽप्ययमुच्यते।। (४७६)
१०. अस्य कार्ममलस्यापि मायान्ताध्वविसारिणः।
प्रधानं कारणं प्रोक्तमज्ञानात्माणवो मलः।।

---

१. प्र. का. वृ. (उत्पल.)
२. तन्त्रसार-५
३. प्रत्यभिज्ञाकारिका वृत्ति
४. प्रत्यभिज्ञाकारिका-४

मल के कारणभूत षट्कञ्चुकों का स्वरूप

१. कलातत्त्व—सृष्ट्युन्मुख भगवान्, जो शुद्धाध्वा में अवस्थित हैं वे, अपनी शक्तियों से माया को विक्षुब्ध करके किञ्चित्कर्तृत्व लक्षणों वाली कलातत्त्व को मितात्मा अणुओं के लिये उत्पन्न करते हैं।

कलातत्त्व—किञ्चित्कर्तृत्व।

२. विद्यातत्त्व—किञ्चिदवबोधस्वरूप या अल्पज्ञत्वस्वरूप विद्यातत्त्व है।

३. रागतत्त्व—किञ्चिदभिलाषस्वरूप रागतत्त्व है।

४. कालतत्त्व—भूत-भविष्य-वर्तमान के रूप में जिसका अवच्छेद है, वही काल-तत्त्व है।

५. नियति तत्त्व—जिसके द्वारा तुल्यत्व होने पर भी कर्तृत्व का अवच्छेद किया जाता है, उसे ही कहते हैं—नियतितत्त्व।

ये ही षट्कंचुक अन्तर्मलावृत पुद्गलों के बाह्याच्छादक हैं। चिल्लाचक्रेश्वर में कहा भी गया है—

> मायाकलाशुद्धविद्यारागकालौ नियन्त्रणा।
> षडेतान्यावृतिवशात्कंचुकानि मितात्मनः।।
> एवं च पुद्गलस्यान्तर्मलः कंचुकवत्स्थितः।
> तुषवत्कंचुकानि स्युस्तस्माज्ज्ञानक्रियोज्झितः।।

कला → पुरुष का परिमित कर्तृत्व, सुख-दुःख-मोहरूप भोग्य अष्टगुणात्मक बुद्धितत्त्व—सात्त्विक, राजस, त्रिस्कन्ध अहंकार तत्त्व—अहंकार → मन, इन्द्रिय, तन्मात्रायें, पञ्चभूत आदि।[1]

१. कला—

> तत्सर्वकर्तृता सा सङ्कुचिता कतिपयार्थमात्रपरा।
> किञ्चित्कर्तारमनु कलयन्ती कीर्त्यते कला नाम।। (८)

२. विद्या—

> सर्वज्ञताऽस्य शक्तिः परिमिततनुरल्पवेद्यमात्रपरा।
> ज्ञानमुत्पादयन्ती विद्येति निगद्यते बुधैराद्यैः।। (९)

३. राग—

> नित्यपरिपूर्णतृप्तिः शक्तिस्तस्यैव परिमिता तु सती।
> भोगेषु रञ्जयन्ती सततममुं रागतत्त्वतां याता।।

---

१. वामदेव भट्टाचार्य : जन्ममरणविचार

४. काल—

सा नित्यताऽस्य शक्तिर्निकृष्य निधनोदयप्रदानेन।
नियतपरिच्छेदकरी क्लृप्ता स्यात्कालतत्त्वरूपेण।।

५. नियति—

याऽस्य स्वतन्त्रताख्या शक्तिः संकोचशालिनी सैव।
कृत्याकृत्येष्ववशं नियतममुं नियमयन्त्यभून्नियतिः।।

६. प्रकृति—

इच्छादित्रिसमष्टिः शक्तिः शान्ताऽस्य सङ्कुचद्रूपा।
संकलितेच्छाद्यात्मकसत्त्वादिकसाम्यरूपिणी तु सती।।
बुद्ध्यादिसामरस्यस्वरूपचित्तात्मिका मता प्रकृतिः।

मलत्रय—आचार्य क्षेमराज शक्तिसूत्र (प्रत्यभिज्ञाहृदयम्) में कहते हैं—[१]

(क) आणव मल—जब चिदात्मा परमेश्वर अपने स्वातन्त्र्य से अभेदव्याप्ति को सङ्कुचित करके भेदव्याप्ति का अवलम्बन ग्रहण करते हैं तब उनकी इच्छादि शक्तियाँ असङ्कुचित होने पर भी संकुचित प्रतीत होती हैं, तभी यह मलों से आवृत होकर संसारी हो जाता है और अप्रतिहत स्वातन्त्र्यरूप इच्छाशक्ति सङ्कुचित होकर अपूर्णंमन्यतात्मक आणव मल के नाम से कही जाती है।

(ख) मायीय मल—जब ज्ञानशक्ति क्रमशः सङ्कुचित होकर भेददशा में सर्वज्ञता से अल्पज्ञता को प्राप्त करती है और अन्तःकरण तथा ज्ञानेन्द्रियता की प्राप्तिपूर्वक अत्यन्त सङ्कोच ग्रहण करती है तब उसको देह आदि भिन्न-भिन्न वेद्यों का विकासरूप मायीय मल कहते हैं।

(ग) कार्ममल—भेददशा में जब क्रमशः क्रियाशक्ति की सर्वकर्तृता शक्ति अल्प-कर्तृत्व प्राप्त करती है तब कर्मेन्द्रियरूप सङ्कोच करके अत्यन्त परिमित हो जाती है तब उसे ही शुभ और अशुभ कर्ममय कार्ममल कहा जाता है।

कञ्चुक—सर्वकर्तृत्व, सर्वज्ञत्व, पूर्णत्व, नित्यत्व और व्यापकत्व शक्तियाँ जब संकुचित होकर सर्वकर्तृत्व से कला, सर्वज्ञत्व से विद्या, पूर्णत्व से राग, नित्यत्व से काल एवं व्यापकत्व से नियति के रूप में भासित होती हैं तब इस प्रकार का आत्मा शक्तियों से दरिद्र होकर संसारी कहा जाता है। अपनी शक्ति की विकास की दशा में तो वह शिव ही है।

१. आणवमल—अपने को अपूर्ण मानना अपूर्णंमन्यता या पूर्णज्ञानात्मक स्वरूप का अज्ञान संकोच या अणुता ही आणव मल है।

---

१. षट्त्रिंशत्तत्त्वसन्दोह

आणव मल के प्रकार—

१. चिन्मात्र बोध के स्वातन्त्र्य का संकोच (ज्ञातृत्व का अज्ञान)।

२. स्वातन्त्र्य या कर्तृत्व का अज्ञान।

स्वातन्त्र्यहानिर्बोधिस्य स्वातन्त्र्यस्याप्यबोधता।
द्विधाणवमलमिदं स्वस्वरूपापहानितः।।४।।

२. मायीय मल—स्वरूप के अज्ञान के अनन्तर सांसारिक पदार्थों को भिन्न-भिन्न समझना अर्थात् भेदप्रथा ही मायीय मल है—

भिन्नवेद्यप्रथात्रैव मायाख्यं..।

३. कार्ममल—जन्म एवं भोग देने वाले शुभाशुभ कर्मों की पराधीनता कार्ममल कहा जाता है। माया शक्ति इन तीनों मलों को जन्म देती है।[1]

१. आणव मल—

गोपितस्वमहिम्नोऽस्य सम्मोहाद्विस्मृतात्मनः।
यः संकोचः स एवास्य आणवो मल उच्यते।।

२. मायीय मल—

ततः षट्कंचुकव्याप्तिविलोपितनिजस्थितेः।
भूतदेहे स्थितिर्यासौ मायीयो मल उच्यते।।

३. कार्ममल—

यदन्तःकरणाधीनबुद्धिकर्मेन्द्रियादिभिः ।
बहिर्व्याप्रियते कार्मं मलमेतस्य तन्मतम्।।

स्वातन्त्र्यात्मा चिति शक्ति

ज्ञानशक्ति होकर पशुदशा में सङ्कोच-प्रकर्ष के कारण	क्रियाशक्ति होकर पशुदशा में सङ्कोच-प्रकर्ष के कारण	माया शक्ति होकर पशुदशा में सङ्कोच-प्रकर्ष के कारण
↓	↓	↓
सतोगुण	रजोगुण	तमोगुण[2]

---
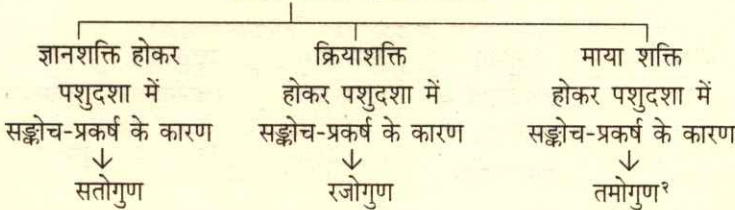
१. ....जन्मभोगदम्।
कर्तर्यबोधे कार्मं तु मायाशक्त्यैव तत्त्रयम्।।

२. श्रीप्रत्यभिज्ञा—
स्वांगरूपेषु भावेषु पत्युर्ज्ञानं क्रिया च या।
माया तृतीये त एव पशोः सत्त्वं रजस्तमः।।

स्वातन्त्र्यात्मा चितिशक्तिरेव ज्ञानक्रियामायाशक्तिरूपा पशुदशायां संकोचप्रकर्षात् सत्वरजस्तम:स्वभावचित्तात्मतया स्फुरति।[१]

भगवती संवित् का आत्मगोपन व्यापार

मध्य नाड़ी (सुषम्णा) के रूप में अवतरण	माया भूमिका में अवतरण	संवित् → प्राणशक्ति (प्राणशक्ति की भूमिका में अवतरण)	बुद्धि-देहादि की भूमिका में अवतरण	नाड़ी मार्ग	ब्रह्मरन्ध्र से मूलाधारपर्यन्त उदान-प्राण शक्तिरूप ब्रह्म की आश्रयभूता सुषुम्ना नाड़ी → सर्व वृत्तियों का उदय एवं लय

एषा पशूनां निमीलितस्वरूपैव स्थिता।

(यह भगवती संवित् शक्ति पशुओं में प्रच्छन्न रूप में निवास करती है—प्रत्य.)।

संवित् शक्ति का अवरोहण क्रम—

वामादिपञ्चभेद: स एव सङ्कुचितविग्रहो देव:।।
ज्ञानक्रियोपरागप्राधान्याद्विविधविषयरूपोऽभूत् ।।
श्रोत्रं चक्षु: स्पर्शनजिह्वाघ्राणानि बोधकरणानि।
शब्दस्पर्शौ रूपं रसगन्धौ चेति भूतसूक्ष्माणि।।
अयमेवातिनिकृष्टो जातो भूतात्मनापि भूतेश:।
गगनमनिलश्च तेज: सलिलं भूमिश्च पञ्चभूतानि।।
श्रोत्रादिकरणवेद्या: शब्दाद्यास्तानि वेदकान्येषाम्।
वचनकरी वागासीत् पाणि: स्यात्करणभूत आदाने।। आदि[२]

आरोहण के उपाय (मलापसारण के विभिन्न सोपान)

जीवन्मुक्ति	←	अनुपाय (आनन्दोपाय = शाम्भवोपाय की चरम काष्ठ)	←	शाम्भवोपाय (इच्छोपाय)	←	शाक्तोपाय (ज्ञानोपाय)	←	आणवोपाय (क्रियोपाय)
				पशुपति की भूमि		←		पशु भूमिका
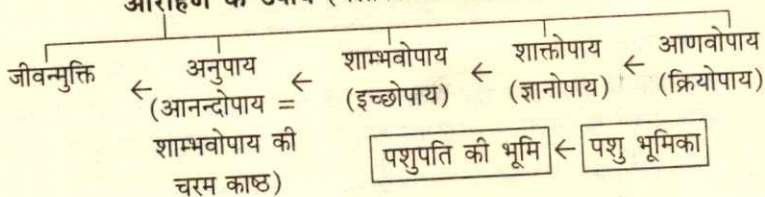
जीवन्मुक्ति ← अनुपाय ← शाम्भबोपाय ← शाक्तोपाय ← आणवोपाय।

अनुपायतत्त्व (आनन्दोपाय)

तन्त्रसार नामक ग्रन्थ में अनुपाय का विवेचन इस प्रकार किया गया है—
तीव्र शक्तिपात होने पर साधक गुरु के एक बार के उपदेश से ही नित्योदित

१-२. क्षेमराज : प्रत्यभिज्ञाहृदयम्।

समावेश अवस्था में संलीन हो जाता है। उपाय की दृष्टि से वह षडंग योग में प्रतिपादित तर्क का आश्रय ग्रहण करता है। वह ऐसा सोचता है कि स्वप्रकाशस्वात्मस्वरूप ही तो परमेश्वर है। अब इसके लिये किसी भी उपाय की क्या आवश्यकता है।

यह आत्मचैतन्य तो नित्य स्वयंप्रकाश, स्वप्रमाण एवं निरावरण तत्त्व है; अत: किसी उपाय द्वारा इसके स्वरूप की प्राप्ति होगी या इसके प्राप्त्यर्थ किसी की अपसारणा करनी होगी—ये विचार निरर्थक हैं। स्वात्मस्वरूप में लय होने की भी आवश्यकता नहीं है; क्योंकि शुद्ध आत्मस्वरूप के अतिरिक्त उसमें प्रविष्ट होने वाले की पृथक् से कोई सत्ता ही नहीं है। फिर उपाय भी तो उससे पृथक् नहीं हैं। अत: यह समस्त जगत् चिन्मात्रसार है। काल इसकी कलना नहीं कर सकता। देश इसको परिच्छिन्न नहीं कर सकता। उपाधि इसकी कोई क्षति नहीं कर सकती। इसकी कोई आकृति नहीं है। शब्दों की सहायता से इसका बोध नहीं कराया जा सकता और स्वयंप्रमाण को प्रमाणान्तर से प्रमाणित करने की आवश्यकता नहीं; क्योंकि दीपक को देखने के लिये किसी अन्य दीपक की आवश्यकता नहीं है। आनन्दघन, स्वतन्त्र एवं स्वात्मस्वरूप ही काल से लेकर प्रमाण तक सभी तत्त्वों को स्वरूप प्रदांन करने वाला है। मैं इस स्वात्मस्वरूप से भिन्न नहीं हूँ और इस अहमात्मक स्वात्मस्वरूप में ही अहमात्मक और इदमात्मक समस्त विश्व प्रतिबिम्बित हो रहा है। इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा जाग्रत हो जाने पर नित्योदित पारमेश्वर स्वरूप में समावेश प्राप्त हो जाता है। इसके लिये मन्त्र, पूजा, ध्यान एवं चर्या आदि की आवश्यकता नहीं रहा करती।[1] विज्ञानभैरव (१०९) में कहा गया है—

आत्मनो निर्विकारस्य क्व ज्ञानं क्व च वा क्रिया।
ज्ञानायत्ता बहिर्भावा अत: शून्यमिदं जगत्।। (१३१)

सर्वज्ञ, सर्वकर्ता एवं व्यापक परमेश्वर तो मैं ही हूँ—इसकी अत्यन्त दृढ़ भावना करनी चाहिये—

सर्वज्ञ: सर्वकर्ता च व्यापक: परमेश्वर:।
स एवाहं शैवधर्मा इति दार्ढ्याच्छिवो भवेत्।। (१०७)

ये सभी बन्धन एवं मोक्ष भी यथार्थ नहीं हैं। ये केवल डराने की वस्तुयें मात्र हैं और ये जल में संक्रान्त सूर्य के प्रतिबिम्बमात्र हैं, जिन्हें हम यथार्थ सूर्य मान बैठे हैं—

न मे बन्धो न मोक्षो मे भीतस्यैता विभीषिका:।
प्रतिबिम्बमिदं बुद्धेर्जलेष्विव विवस्वत:।। (१३२)

भला पलाल पुरुष हाथियों का क्या बिगाड़ सकता है? अत: बन्धन और मोक्ष का भय भी आवश्यक नहीं है; क्योंकि मैं तो मुक्त हूँ—शुद्ध हूँ—चेतन हूँ; फिर मोक्ष की आवश्यकता ही क्या है? बन्धन है ही नहीं तो उससे मुक्त होने की कल्पना ही कैसी?

---

१. तन्त्रसार

सारी बन्धन-मोक्ष की कल्पनायें पलाल पुरुष की मिथ्या विभीषिकायें हैं—

शालीन् पलालपुरुषोऽस्ति च यः कृशानु-
र्दग्धाननश्चटकपेटकभीतिदानैः ।
त्रातुं स एव विहितो विपिने विदध्यात्
किं तत्र भञ्जनकृतां वनकुञ्जराणाम्।।

अतः उपायों की भी आवश्यकता नहीं; क्योंकि—

उपायजालं न शिवं प्रकाशयेद् घटेन किं भाति सहस्रदीधितिः।
विवेचयन्नित्थमुदारदर्शनः स्वयंप्रकाशं शिवमाविशेत् क्षणात्।।[१]

जब पूजक और पूज्य दोनों एक हैं, पूजा-द्रव्य और पूज्य—ये दोनों भी एक हैं, तब किसके द्वारा किसकी और क्या पूजा?

यैरेव पूज्यते द्रव्यैस्तर्प्यते वा परापरः।
यश्चैव पूजकः सर्वः स एवैकः क्व पूजनम्।।[२]

अनुपाय तीव्र ज्ञान एवं अनुग्रह मार्ग पर अवलम्बित है। गुरु की अनुग्रह शक्ति के सकृत उपदेश द्वारा स्वप्रकाश का उन्मलीन हो जाता है और इस उन्मीलनार्थ पुनः पुनः भावनात्मक अनुसंधान नहीं करना पड़ता। आणव-शैव-शाक्त उपायों में बार-बार भावना करनी पड़ती है और तभी कहीं उपेय की प्राप्ति हो पाती है; अन्यथा नहीं। जयरथ ने अनुपाय को अनुदरा कन्या के समतुल्य अल्पोपाय कहा है। सकृद्देशना ही अल्पोपाय है। शांभवोपाय में तीव्र शक्तिपात की आवश्यकता होती है; किन्तु अनुपाय में तीव्रतीव्र शक्तिपात की आवश्यकता होती है; क्योंकि इसके बिना निरुपाय समावेश सम्भव नहीं है। यथा दीपक से दीपक जल उठता है उसी प्रकार की प्रक्रिया अनुपाय में भी घटित होती है। किसी सिद्ध या योगिनी के दर्शनमात्र से संवित् संक्रमण भाग्य-शालियों को ही सम्भव हो पाता है। अनुपाय आनन्दोपाय के अभिधान से भी प्रसिद्ध है। वैसे तो समावेशत्रय का ही उल्लेख मिलता है—

विभुशक्त्युभयसम्बन्धात् समावेशस्त्रिधा मतः।
इच्छा-ज्ञान-क्रियायोगादुत्तरोत्तरसम्भृतः ।। (जयरथ)

इन तीनों से भी श्रेष्ठतर अनुत्तर ज्ञान है। यह आनन्द शक्ति में विश्रान्त रहता है—

तपोऽपि परमं ज्ञानमुपायादिविवर्जितम्।
आनन्दशक्तिविश्रान्तमनुत्तरमिहोच्यते ।। (२४२)

मलों के प्रक्षालन के जो उपाय हैं, वे ही मुक्ति के भी उपाय हैं; क्योंकि प्रमाता के स्वस्वभाव = स्वरूप (शिवत्व) की अनुभूति में जो मल हैं, यदि वे हट जायँ तो

१. अभिनवगुप्तपाद २. विज्ञानभैरव (१५०)

शिवभाव मेघावरणरहित सूर्य की भाँति स्वयमेव उसके परामर्श से चमकने लगता है। अत: मलों के प्रक्षालन के उपाय ही मुक्ति के भी उपाय हैं।

सर्वोच्च उपाय शांभवोपाय है; किन्तु अभिनवगुप्त ने तन्त्रालोक में उससे भी बड़ा उपाय अनुपाय के नाम से उल्लिखित किया है। यह शांभव उपाय की पराकाष्ठा है— साक्षादुपायेन इति शांभवेन। तदेव अव्यवहितं परज्ञानावाप्तौ निमित्तं स एव परां काष्ठां प्राप्तश्चानुपाय इत्युच्यते।

चूँकि अस्वतन्त्र जीवात्मा की पररूपता में समावेशात्मक ज्ञानदशा के ही तीन सोपान हैं; इसीलिये इन उपायों को भी शैव दार्शनिकों ने मुख्यत: तीन वर्गों में विभक्त किया है—

वस्तुतो हि त्रिधैवेयं ज्ञानसत्ता विजृम्भते।
भेदेन भेदाभेदेन तथैवाभेदभागिना।।[१]

अभिनवगुप्तपाद और अनुपाय—अनुपाय तत्त्वत: उपाय नहीं है; प्रत्युत् यह शांभ-वोपाय का उपेय है। अनुपाय शांभव विज्ञान से भी उत्कृष्टतर है। अनुपाय का जो रूप है, वह इतना विलक्षण है कि यहाँ उसकी देशना निरर्थक है। उपेय के प्राप्त्यर्थ तो उपाय सार्थक हैं—उनकी आवश्यकता है; किन्तु अनुपाय तो स्वयमेव उपेय है; अत: अनुपाय-विज्ञान में उपाय की आवश्यकता ही नहीं है। आचार्य अभिनवगुप्त इसी भाव की पुष्टि करते हुये कहते हैं—

अनुपायं हि यद्रूपं कोऽर्थो देशनयात्र वै।

इस भूमि पर तो एक बार की देशना ही अनुपायत्व को चरितार्थ कर देती है—

सकृत्स्याद् देशना पश्चादनुपायत्वमुच्यते।।[२]

जयरथ विवेक में कहते हैं कि आणवादिक उपायों में तो बार-बार उपदेश देना पड़ता है—बार-बार अभ्यास कराया जाता है—बार-बार मार्गदर्शन करना पड़ता है; किन्तु अनुपाय में ऐसा नहीं है—आणवादौ असकृद् भाव्यमानो हि देशनादि उपेयप्राप्तिं विदधाति इति……इह तु न तथा इत्यनुपायत्वम्। न पुनरुपायानुभव: पौन:पौन्येनेत्यर्थ:। अतएवाह—पश्चादनुपायत्वमुच्यते।[३]

अनुपाय का दूसरा अर्थ है—अल्पोपायत्व 'अल्पोपायत्वमित्यर्थ:।'[४] जयरथ कहते हैं कि प्राप्तव्य की प्राप्ति का यदि निश्चय हो तो उपाय का निरर्थक प्रयोग कोई भी नहीं करता; अत: अनुपाय श्रेष्ठतम है और अल्पोपाय है।

अभिनवगुप्तपादाचार्य तन्त्रालोक (२.७) में कहते हैं कि शैव समावेश के उच्च

---

१. तन्त्रालोक टीका (१.२)
२. तन्त्रालोक (द्वि. आ. १)
३. जयरथ—विवेक
४. विवेक

स्तर पर तीव्र-तीव्र शक्तिपात से पवित्रित जो निर्मल आत्मा वाले साधक अपनी भैरवीय स्वात्मसंवित् की निरुपाय उपासना में संलग्न हैं, वे धन्य हैं। वे समस्त विकल्प-कालुष्य से निर्मुक्त हैं और निरपेक्ष उपासक हैं। उस परमोपेय स्वात्म संविदावेश की समस्त विधियाँ यहाँ विवेचित हैं—

तत्र ये निर्मलात्मानो भैरवीयां स्वसंविदम्।
निरुपायामुपासीनास्तद्विधिः प्रणिगद्यते।।

अपने अहमात्मक स्वात्मसत्ता के संज्ञान के अतिरिक्त कोई उपाय नहीं है। उसी का सतत् स्मरण करता हुआ योगी स्व में स्थित एवं सुखी हो जाता है—

उपायो नापरः कश्चित्स्वसत्तावगमादृते।
तामेवानुसरन्योगी स्वस्थो यः स सुखी भवेत्।।

ऐसे अनुपाय-समावेश विश्रान्त योगी को यह प्रतीत होने लगता है कि यह समस्त समक्षोल्लसित भावमण्डल सम्पूर्णतः संवित्तिरूपी भैरवी भाव के प्रकाश में समाहित हो रहा है—

तेषामिदं समाभाति सर्वतो भावमण्डलम्।
पुरःस्थमेव संवित्तिः भैरवाग्निविलापितम्।।

ऐसा अनुभूत होता है कि यह निःशेष स्फुरण मुझसे ही प्रकट हो रहा है। यह मुझमें ही प्रतिबिम्बित है। यह सब कुछ मुझसे भिन्न नहीं है; अपितु आत्ममय ही है—

मत्त एवोदितमिदं मय्येव प्रतिबिम्बितम्।
मदभिन्नमिदं च ....।।

ऐसे साधकों के लिये क्या विधि? क्या निषेध? क्या साधना? क्या अभ्यास? क्या मन्त्र? क्या ध्यान? क्या पूजा?—

एषां न मन्त्रो न ध्यानं न पूजा नापि कल्पना।
न समय्यादिकाचार्यपर्यन्तः कोऽपि विभ्रमः।। (३७)

उपाययोग का एक क्रम निर्धारित है। उसे क्रमिक रूप से अतिक्रान्त करते हुये निरुपाय में प्रवेश करने पर जो रूप प्रत्यक्षीकृत होता है, वही परतत्त्व है—

उपाययोगक्रमतो निरुपाययथाक्रमम्।
यद्रूपं तत्परं तत्त्वं तत्र तत्र सुनिश्चितम्।।

उपायों का क्रम—

१. आणवोपाय, आणवोपाय की विश्रान्ति शाक्तोपाय में।
२. शाक्तोपाय, शाक्तोपाय की आत्मविश्रान्ति शाम्भवोपाय में।
३. शांभवोपाय, शांभवोपाय की विश्रान्ति अनुपाय में।

उपायानामाणवादीनां योगे परस्परस्य सम्बन्धे य आणवः शाक्ते, शाक्तः शांभव इत्यादिरूपः क्रमः तमवलम्ब्य निरुपायम्, अतएव अक्रमं यत्प्रतिभात्मकं रूपमुदेति, तदेव परं तत्त्वं तत्र तत्र शर्वशास्त्रेषु सुनिश्चितम्।[१]

अनुपाय = अक्रमभूमि। कृपाप्राप्य एवं प्रतिभात्मक है।[२]

उपायों के अन्य प्रकार—शिव सूत्र का विभाजन इस प्रकार किया गय है—

ग्रन्थ	क्रम सं०	अध्याय का नाम	अध्याय	उपाय/अध्यायों का नामकरण/विषय	प्रथमसूत्र
शिवसूत्र	१.	उन्मेष	प्रथमोन्मेष	शांभवोपाय (चैतन्य/आत्मा)	चैतन्यमात्मा-१.१
शिवसूत्र	२.	उन्मेष	द्वितीयोन्मेष	शाक्तोपाय (मन्त्र)	चित्तं मन्त्रः-२.१
शिवसूत्र	३.	उन्मेष	तृतीयोन्मेष	आणवोपाय (अणु = जीवात्मा)	आत्मा चित्तम् (३.१)

बन्धन और मल—ये तीनों मल ही बन्धन हैं—त्रिविधस्य मलस्य बन्धकत्वम्।[३]

आणवमल—संकुचित विशिष्ट ज्ञान (आणवमलभित्तिकं संकुचितविशिष्टज्ञानतयैवोक्तम्-१.३)।[४]

शिवसूत्र में बन्धन, ज्ञान, अज्ञान एवं मल—शिवसूत्र में मल से दूषित ज्ञान को बन्धन कहा गया है—

ज्ञानं बन्धः (१.२) ज्ञानं बन्धः (२.२), ज्ञानं अन्नम् (२.९), दानमात्मज्ञानम् (३.२९), ज्ञानं जाग्रत् (१.८), ज्ञानाधिष्ठानं मातृका (१.४)।[५]

शिवसूत्रविमर्शिनीकार कहते हैं कि चित् शक्ति से व्यतिरिक्त अन्य किसी की कोई सत्ता है ही नहीं; फिर भला मल की क्या बात?—मलस्यापि का सत्ता? और जब मल है ही नहीं तो फिर उनके निवारण का प्रसंग कैसे आ सकता है?—कीदृग् वा तन्निरोधकत्वं स्यात्। इसी के उत्तर में क्षेमराज कहते हैं कि कहा गया कि—

१. अज्ञानाद् बध्यते लोकस्ततः सृष्टिश्च संहृतिः।
२. मलमज्ञानमिच्छन्ति संसारांकुरकारणम्।।[६]

बन्धन का स्वरूप—आत्मा में अनात्मतारूप अख्याति के लक्षण वाला जो ज्ञान है, वही ज्ञान बन्धन है। अर्थात्—[७]

---

१. तन्त्रालोक की टीका : विवेक (१२.१५७)
२. तन्त्रालोक टीका
३. क्षेमराज : शिवसूत्रविमर्शिनी (सूत्र १.३)
४. शिवसूत्रविमर्शिनी
५. शिवसूत्र (वसुगुप्त)
६. मालिनीविजय
७. शिवसूत्रविमर्शिनी

१. आत्मा में अनात्म पदार्थों का आरोप करके उसमें जो आत्मबुद्धि स्वरूप अभिमान का उदय होता है, वह अज्ञान है (अर्थात् अनात्म पदार्थों में अहंता, ममता, अहंबुद्धिरूप अनुभूति या अहमात्मक ज्ञान अज्ञान है)।

२. यह जो अज्ञानात्मक ज्ञान है, वही बन्धन है।

३. शरीरादिक अनात्म पदार्थों में जो अहंबुद्ध्यात्मक ज्ञान है, वह भी अज्ञान है।[1]

अज्ञान के दो रूप—

१. आत्मा में अनात्म पदार्थों के प्रति अहंबुद्धिस्वरूप अज्ञान।

२. अनात्म (शरीरादिक) पदार्थों में आत्मबुद्धिविषयक अज्ञान।

ये दोनों अज्ञानात्मक ज्ञान ही बन्धन हैं।

१. आत्मनि अनात्मताभिमानरूपाख्यातिलक्षणात्मकं ज्ञानं केवलं बन्धोः।

२. यावद् अनात्मनि शरीरादौ आत्मताभिमानात्मकम् अज्ञानमूलं ज्ञानमपि बन्ध एव।[2]

३. भगवान् शिव से अपने को भिन्न मानने के कारण अपूर्णम्मन्यतात्मक आणवमलसतत्त्वसंकुचितज्ञानात्मा ज्ञान भी बन्धन है—शिवाभेदाख्यात्यात्मका ज्ञानस्वभावोऽपूर्णम्मन्यतात्मकाणवमलसतत्त्वसंकुचितज्ञानात्मा बन्धः।[3]

४. अज्ञान एवं मल के तीन रूप हैं—१. अपूर्णम्मन्यता, २. भिन्नवेद्यप्रथा एवं ३. शुभाशुभ वासनात्मक।[4] ये ही तीन लक्षण आणव मल, मायीयमल एवं कार्ममल के भी हैं।[5]

५. ज्ञान क्या है? मैं विश्वात्मा शिव हूँ—इत्याकारक वितर्क या विचार ही आत्मज्ञान हैं—वितर्क आत्माज्ञानम् (१.१७)। स्वरूपविमर्शात्मक ज्ञान ही अन्न है और इसे खाकर योगी परितृप्तिपूर्वक स्वात्मविश्रान्त रहते हैं। यह स्वरूपविमर्शात्मक ज्ञान (अन्न) ही यथार्थ ज्ञान है—ज्ञानमन्नम् (२.९)।[6]

मालिनीविजयोत्तर तन्त्र और समावेश—मालिनीविजयोत्तर तन्त्र (द्वितीयोऽधिकार) में उपायों को समावेश के नाम से इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—

उपाय एवं समावेश

१. आणव समावेश—

उच्चारकरणध्यानवर्णस्थानप्रकल्पनैः ।
यो भवेत्स समावेशः सम्यगाणव उच्चते।।

२. शाक्त समावेश—

उच्चाररहितं वस्तु चेतसैव विचिन्तयन्।
यं समावेशमाप्नोति शाक्तः सोऽत्राभिधीयते।।

---

१. शिवसूत्रविमर्शिनी २-५. शिवसूत्रविमर्शिनी ६. शिवसूत्र

३. शांभव समावेश—

अकिञ्चिच्चिन्तकस्यैव गुरुणा प्रतिबोधतः।
जायते यः समावेशः शांभवोऽसावुदाहृतः।।

इन्हें ही उपाय भी कहा गया है—

१. इच्छोपाय (शाम्भवोपाय)—

एवं परेच्छाशक्त्यंशं सदुपायमिमं विदुः।
शांभवाख्यं समावेशं सुमत्यन्तेनिवासिनः।।२१३।।
तत्राद्ये स्वपरामर्शे निर्विकल्पैकधामनि।
यत्स्फुरेत् प्रकटं साक्षात् तदिच्छाख्यं प्रकीर्तितम्।।१४६।।
मत्त एवोदितमिदं मय्येव प्रतिविम्बितम्।
मदभिन्नमिदं चेति त्रिधोपायः स शाम्भवः।।

२. ज्ञानोपाय (शाक्तोपाय)--

भूयो भूयो विकल्पांशनिश्चयक्रमचर्चनात्।
यत्परामर्शमभ्येति ज्ञानोपायं तु तद्विदुः।।१४८।।

३. क्रियोपाय (आणवोपाय)—

यत्तु तत्कल्पनाक्लृप्तबहिर्भूतार्थसाधनम्।
क्रियोपायं तदाम्नातं भेदेनात्रापवर्गः।।१४९।।

उपाय

आनन्दोपाय	इच्छोपाय	ज्ञानोपाय	क्रियोपाय
(अनुपाय)	(शांभवोपाय)	(शाक्तोपाय)	(आणवोपाय)
(अभेद भूमि की चरमावस्था)	(अभेद भूमि)	(भेदाभेद भूमि)	(भेदभूमि)

समावेश तीन ही नहीं है। समावेश ५० प्रकार के हैं।[१]

उपायचतुष्टय—

१. अनुपाय = आनन्दोपाय ३. ज्ञानोपाय = शाक्तोपाय
२. इच्छोपाय = शांभवोपाय ४. क्रियोपाय = आणवोपाय

शांभवोपाय का स्वरूप—शांभवोपाय या शांभव समावेश में चिन्तन का भी त्याग कर देना पड़ता है। इस स्तर पर विकल्प की कोई उपयोगिता नहीं रह जाती।

---

१. समावेश के भेद ५० प्रकार के हैं—
पञ्चाशद्विधता चास्य समावेशस्य वर्णिता। (तन्त्रालोक : प्रथमाह्निक-१८६)

निर्विचार अवस्था में तीव्र बोध का प्रत्यभिज्ञान होने के परिणामस्वरूप जो आवेग उत्पन्न होता है, उसे शांभव समावेश कहते है—

अकिञ्चिच्चिन्तकस्यैव गुरुणा प्रतिबोधतः।
उत्पद्यते य आवेशः शांभवोऽसावुदीरितः।
(तन्त्रालोक-१.१६८)

समावेश क्या है? जब चिदात्मक बोध और स्वात्म कर्तृत्व की मुख्यता हो जाय एवं संकुचित जडत्व गौण हो जाय तथा ज्ञानात्मक प्रकाश का उल्लास हो जाय तो इसे समावेश कहते हैं।

आवेश क्या है? अस्वतन्त्र जड़ बुद्धि आदि मित प्रमाताओं का जो अपना सङ्कुचित रूप है, उसके निमज्जित हो जाने (उसकी प्रमुखता के समाप्त हो जाने) पर स्वतन्त्र बोध का तादूप्य प्राप्त होता है। इसी तादूप्य को आवेश कहते हैं—

आवेशश्चास्वतन्त्रस्य स्वतद्रूपनिमज्जनात्।
परतद्रूपता शंभोराद्याच्छक्त्यविभागिनः।।
(तन्त्रालोक-१.१७३)

मुख्यत्त्वं कर्तृतायास्तु बोधस्य च चिदात्मनः।
शून्यादौ तद्गुणे ज्ञानं तत्समावेशलक्षणम्।।

यह समावेश शम्भु से ही प्राप्त होता है, शक्ति या अणु से नहीं। आद्या शक्ति उसकी इच्छा है, ज्ञान और क्रिया नहीं। ज्ञान शक्ति और क्रिया शक्ति समावेश में ही अंतर्भुक्त हैं। समावेश का उपाय मात्र शिव-प्रसाद है—

उपायैर्न शिवो भाति भान्ति ते तत्प्रसादतः।[1]

समावेश का सामान्य स्वरूप क्या है? अविकल्पावस्था में उत्तरोत्तर प्रवेश करते जाना। समावेश का सामान्य स्वरूप निम्नलिखित चिन्तन-मनन है—

नाहं देहात्मको नाहं कर्माधीनो न मे मलः।
नान्येन प्रेरितोऽस्मीति किं त्वेतद्विपरीतकम्।।६।।
इत्थं विकल्पं संस्कृत्य स्पष्टविद्यात्मतां नयन्।
कश्चिद्याति समावेशं धन्यो श्रीगुरुवाक्यतः।।७।।
भूयोभूयोऽनुसंधानात्कोऽपि याति शिवात्मताम्।।५।।
स एवाहं स्वप्रकाशो भासे विश्वस्वरूपकः।[2]

परमा सत्ता के प्रबोध के तीन उपाय हैं। उनमें साक्षात् उपाय शांभव उपाय है—

---

१. तन्त्रवटधानिका (२.१)

२. तन्त्रवटधानिका

साक्षादुपायेन इति शांभवेन।[1]

१. शांभव उपाय का उपाय—शाक्तोपाय है (शांभवस्य उपायः शाक्तः)।

२. शाक्त उपाय का उपाय—आणवोपाय है (शाक्तस्य उपायः आणवः)।

३. शांभवोपाय की चरमावस्था ही अनुपाय है (स एव परां काष्ठां प्राप्तश्चानुपाय इत्युच्यते)।[2]

४. शाम्भव उपाय की अखण्ड जागृति → परात्पर ज्ञान—तदेव हि अव्यहितं परज्ञानावाप्तौ निमित्तम्।[3]

५. अनुपाय—उपायहीनता की स्थिति = अतएव अनुपाय इति नोपायनिषेधमात्रम्।[4] समस्त मल वैकल्पिक ज्ञानों पर ही आधृत हैं।

ज्ञान और मल : अन्तःसम्बन्ध—संसार में नीले-पीले, सुख-दुःख, जय-पराजय, मान-अपमान, प्रेम-घृणा, दया-क्रूरता, शान्ति-अशान्ति आदि समस्त जागतिक एवं क्षोभात्मक ऐन्द्रिय ज्ञान विकल्पात्मक हैं। अनन्त विकल्प है। परम ज्ञान विकल्पातीत ज्ञान होता है।

शक्तिपात मल और उपाय : अन्तःसम्बन्ध—उपाय तो अनन्त हो सकते हैं; क्योंकि उपायों की कल्पना या उसका विधान प्राणियों के मल की मात्रा एवं मलों की संख्या पर आधृत है। मलों की मात्रा विभिन्न प्राणियों में विभिन्न है और शक्तिपात के द्वारा मल-क्षय का जो विधान है, उसमें भी अनेकता है; यथा—शक्तिपातजन्य विभिन्नता।

शक्तिपात
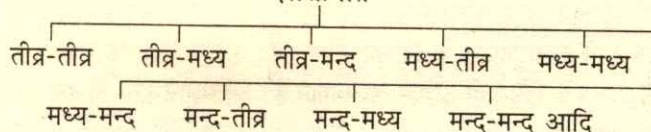
इसके साधकभेद से अनेक अन्य भेद भी हो सकते हैं। परमेश्वर किसी प्रमाता के प्रति त्वरित रूप से प्रथित हो जाते हैं और अपने पूर्णतम चिन्मय बोधात्मक स्वरूप को शीघ्र ही प्रकट कर देते हैं तो अन्य साधकों को अंशांशिक भाव से। तीव्र-तीव्र शक्तिपात द्वारा प्रत्यक्षीकरण तत्काल हो जाता है। शक्तिपात के अन्य प्रकारों में ऐसा नहीं हो पाता। इसी कारण उपायों या समावेशों के मुख्य भेद तीन होने पर भी तन्त्रालोक में उनकी संख्या ५० भी बताई गयी है।

ज्ञान-श्रेणी और मल-कल्पना—ज्ञान-स्तर के आधार पर ही मल भी कल्पित हैं और उपाय भी। विश्वभावों का एक निर्विकल्प भावमय स्वरूप प्राणियों का परज्ञान है; यह पूर्ण पारमेश्वर ज्ञान है—

---

१. जयरथ (विवेक)

२. विवेक (१.१९४)

३. विवेक

४. विवेक (१९४)

विश्वभावैकभावात्मस्वरूपप्रथनं हि यत्।
अणूनां तत्परं ज्ञानं तदन्यदपरं बहु।।
(तन्त्रालोक-१.१४)

इसी परज्ञान से शाक्तादि समस्त ज्ञान उत्पन्न होते हैं। ये सभी परवर्ती ज्ञान विकल्पात्मक ज्ञान हैं। इन्हें शाक्त ज्ञान या आणव ज्ञान कहते हैं। ये अपूर्ण होते हैं; क्योंकि उनमें चित् के स्वात्मस्वरूप का प्रथन नहीं हो सकता—पूर्णाद् ज्ञानाद् अन्यद् विकल्पात्मकं शाक्तादि ज्ञानं, अपरं चित्स्वरूपप्रथाविरहादपूर्णम्।[1]
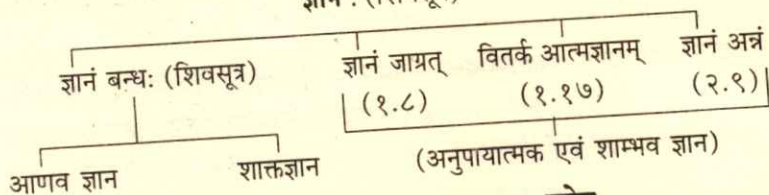
उपाय और ज्ञानतत्त्व तथा मल-शोष

आत्मप्रत्यभिज्ञा (स्वस्वरूप-साक्षात्कार) ही सर्वोच्च उपलब्धि, सर्वोच्च पुरुषार्थ और समस्त साधनों की परम सिद्धि है। यही साधना की पराकाष्ठा है। प्रत्यभिज्ञा का उपाय ज्ञान है। शांभव, शाक्त एवं आणव आदि सारे उपाय इसी आत्मज्ञान के उद्घाटन के साधन हैं।

अज्ञानी जीव को स्वरूपज्ञानरूप परम पुरुषार्थ की प्राप्ति मात्र ज्ञान द्वारा ही सम्भव है। उपाय इसी ज्ञानोद्घाटन के विभिन्न सोपान हैं। अज्ञान शिव के स्वरूप-गोपन का कारण है। स्वरूप-गोपन ही अज्ञान का सोपान है। आत्मज्ञान द्वारा ही इस आत्मगोपन का ध्वंस होता है।

उपाय ज्ञानोद्घाटन के साधन हैं। साध्य है—स्वात्मा का स्वरूपोद्घाटन। शिव और शक्ति की मिथुनावस्था से ही जगत् की उत्पत्ति होती है। शक्ति शिव को नाना पाशों से बाँधती है। कंचुक भी पाश हैं। शिव ही जीवरूप में स्थित होकर (अल्पज्ञता के कारण) कष्टापन्न है। ज्ञान होने पर इसी शक्ति की सहायता से जीव पुनः अपने स्वरूप को पहचान लेता है। यही प्रत्यभिज्ञा है। ज्ञान ही प्रत्यभिज्ञा का साधन है। अज्ञान से विकल्प जन्म लेते हैं। पुनः-पुनः विकल्पांशों का साक्षात्कार होते-होते ये संस्कार में उदित हो जाते हैं। इससे विकल्पात्मक परामर्श प्रारम्भ होने लगता है।

शाक्तोपाय में ज्ञान-शक्ति का स्फार विकल्पात्मक ज्ञान स्थिर रहता है। शांभवोपाय से निर्विकल्पात्मक साक्षात्कार निष्पन्न होता है।

---

१. विवेक (जयरथ)

क्रियोपाय या आणवोपाय में क्रियाशक्तिजन्य विकल्पों का प्राधान्य है। आत्मपरामर्श से समस्त विकल्पों का विनाश → स्वात्मसाक्षात्कार इच्छा का स्फार एवं स्फुरत्ता का उन्मीलन घटित होता है।

परामर्श—परामर्श के दो प्रकार हैं—आत्मपरामर्श (इच्छोपाय = शाम्भवोपाय से सम्बद्ध) एवं वैकल्पिक परामर्श (शाक्त एवं आणवोपाय से सम्बद्ध)।

ज्ञानों, मलों तथा उपायों का अन्त:सम्बन्ध है—

१. ज्ञान उपेय है और उपेय के लिये उपाय आवश्यक है। ज्ञान स्वयं उपेय है तो उपाय कैसे बन सकता है? अज्ञान भी उपाय नहीं बन सकता।

२. परम सूक्ष्म ज्ञान का उपाय स्थूल ज्ञान हो सकता है।

३. परज्ञान सूक्ष्म एवं अवैकल्पिक होता है।

४. आणव ज्ञान एवं शाक्त ज्ञान वैकल्पिक ज्ञान है।

५. शांभव ज्ञान में इच्छाशक्ति का प्राधान्य होता है।

शाक्त एवं आणव ज्ञान में ज्ञान एवं क्रियाशक्ति का प्राधान्य होता है।
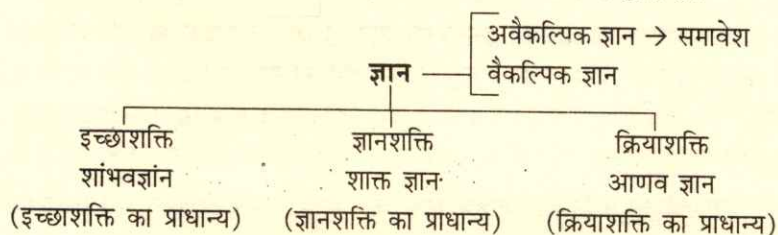
परम प्रबोध के तीन ही उपाय हैं—शांभव उपाय, शाक्त उपाय एवं आणव उपाय।

ज्ञान का सर्वाधिक महत्त्व—शिवसूत्रकार ने आत्मा के बाद सर्वाधिक महत्त्व ज्ञान को दिया; क्योंकि शिवसूत्र के प्रथम उन्मेष के प्रथम सूत्र के बाद द्वितीय सूत्र ज्ञान-सम्बन्धी है—ज्ञानं बन्धः (१.२)। फिर उन्होंने ज्ञान से सम्बन्धी द्वितीय सूत्र भी लिखा—ज्ञानं जाग्रत् (१.८)। उन्होंने तीसरा सूत्र लिखा—वितर्क आत्मज्ञानम् (१.१७)। उन्होंने चौथा सूत्र लिखा—ज्ञानम् अन्नम् (२.९) और उन्होंने ज्ञानविषयक पाँचवाँ सूत्र भी लिखा—ज्ञानं बन्धः (३.२)।

१. प्रथमोन्मेष में ज्ञानविषयक सूत्र = ४ सूत्र।[1]

२. द्वितीयोन्मेष में ज्ञानविषयक सूत्र = १ सूत्र।

३. तृतीयोन्मेष में ज्ञानविषयक सूत्र = १ सूत्र।

ज्ञान को छोड़कर अन्य किसी भी विषय पर सूत्रकार ने इतने सूत्र नहीं लिखे।

---

१. ज्ञानाधिष्ठानं मातृका (१.४) सूत्र को लेकर शिवसूत्रों में उपायों को सर्वोच्च महत्त्व दिया गया है; इसीलिये इसके सारे अध्यायों का नामकरण उपायों के नाम पर किया गया है।

ज्ञानविषयक सूत्र शांभवोपाय, शाक्तोपाय एवं आणवोपाय तीनों में लिखे गये।

इच्छात्मक उपाय (इच्छोपाय = शाम्भवोपाय)—जहाँ सारे वैकल्पिक परामर्श समाप्त हो जाते हैं और एक स्फुरत्ता मात्र अवस्था शेष रहती है, उसमें साक्षात् स्फुरण की आद्य अनुभूति होती है। यह इच्छा नामक उपाय है और इसे ही शाम्भवोपाय कहते हैं; क्योंकि इस समय शैव महाभाव प्रकाशित होता है। तन्त्रालोक में कहा भी गया है—

तत्राद्ये स्वपरामर्शे निर्विकल्पैकधामनि।
यत्स्फुरेत्प्रकटं साक्षात्तदिच्छाख्यं प्रकीर्तितम्।।
(प्र. आ.-१.१४६)

जब बारंबार विकल्पात्मक परामर्श ही साक्षात्कार का विषय बनने लगता है; क्योंकि विकल्पांश संस्कार में बार-बार उदित होने लगता है तब इसे ज्ञानशक्ति का स्फार समझना चाहिये। इसीलिये इसे ज्ञानोपाय या शाक्तोपाय कहते हैं—

भूयो भूयो विकल्पांशनिश्चयक्रमचर्चनात्।
यत्परामर्शमभ्येति ज्ञानोपायं तु तद्विदुः।। (१.१४८)

शाम्भवोपाय की अवस्था इस प्रकार होती है जैसे जागरूक भाव से पर्यवेक्षण में तत्पर पुरुष को बिना किसी अवलम्बन के पदार्थ का स्पष्ट प्रत्यक्षीकरण हो जाता है, उसी प्रकार जब कोई साधक सचेत रहता हुआ विकल्पों के क्षयोपरान्त निर्विकल्प धाम में पहुँच जाता है तब उसे स्वात्मपरामर्शरूप शिवात्मक महाभाव स्फुरित हो जाता है।

शाम्भवोपाय में निर्विकल्पात्मक साक्षात्कार होता है और ज्ञानोपाय एवं क्रियोपाय में विकल्पात्मक।

जो भेदमयी कल्पनाओं से कल्पित है और ब्राह्य विकल्पमय उच्चार करण आदि अर्थों का साधक है, वही क्रियोपाय है। इसे आणवोपाय भी कहते हैं—

यत्तु तत्कल्पनाक्लृप्तबहिर्भूतार्थसाधनम्।
क्रियोपायं तदाम्नातं भेदो नात्रापवर्गगः।।
(तन्त्रालोक-१.१४९)

स्वरूप का प्रथन ही अपवर्ग है। भेदबुद्धि रहते हुये स्वरूप का प्रथन (निर्विकल्पक साक्षात्कार) नहीं हो सकता।

क्रिया भी योग हो जाती है; किन्तु कब? इसका उत्तर निम्नांकित है—

योगो नान्यः क्रिया नान्या तत्त्वारूढा हि या मतिः।
स्वचित्तवासनाशान्तौ सा क्रियेत्यभिधीयते। (१.१५१)

निर्विचारावस्था में तीव्र बोध का प्रत्यभिज्ञान होने से जो आवेश उत्पन्न होता है, वह शाम्भव समावेश कहलाता है—

अकिञ्चिच्चिन्तकस्यैव गुरुणा प्रतिबोधतः।
उत्पद्यते य आवेशः शाम्भवोऽसावुदीरितः।। (१.१६८)

उच्चाररहित वस्तुतत्त्व का मनन-चिन्तन करते हुये जो समावेश होता है, वह शाक्त समावेश कहलाता है। उच्चार, करण, ध्यान, वर्ण एवं स्थान-प्रकल्पन आदि के द्वारा जो समावेश होता है, उसे आणव समावेश कहते हैं—

उच्चारकरणध्यानवर्णस्थानप्रकल्पनैः ।
यो भवेत्स समावेशः सम्यगाणव उच्यते।। (१.१७०)

चिन्तन की अवस्था को अतिक्रान्त करके निर्विचारावस्था में अवस्थित साधक के लिये विकल्पों की अनुपयोगिता के कारण शीघ्र ही जानकारी निश्चित हो जाती है—

अकिञ्चिच्चिन्तकस्येति विकल्पानुपयोगिता।
तया च झटिति ज्ञेयसमापत्तिर्निरूप्यते।। (१.१७१)

साधक की साधना दो अवस्थाओं में चलती है—विकल्पों के उपयोग के साथ एवं विकल्प के अनुपयोगी होने पर। जब चिन्तन ही नहीं रहा तब विकल्पों की उपयोगिता क्या? विकल्प → (साधना) स्वतुल्य शुद्धविकल्पों का उदय → शुद्ध विकल्पों की परम्परा → अविकल्पात्मक संवित् का उदय। विकल्पों का संस्कार आवश्यक है → साधक की संवित् शक्ति की अविकल्पक स्थिति-प्राप्ति।

शाक्तोपाय—तन्त्रालोक में कहा गया है कि—भेदाभेदौ हि शक्तिता (प्र. आ. श्लोक-२२०)। शाक्तोपाय में क्रियोपाय के बाह्य उच्चार, करण, ध्यान, वर्ण, स्थान आदि की कल्पना न होने के कारण अभेदावस्था है। चूँकि चित्त से इनका चिन्तन होता रहता है; अतः यहाँ विकल्पात्मकता भी विद्यमान है। अतः यहाँ उभयत्व स्वीकार किया जाता है। इसे ज्ञानोपाय इसलिये कहा जाता है, क्योंकि जब योगी 'आत्मैवेदं सर्वं'—इत्याकारक चिन्तन करता है तो इसमें आत्मा और अनात्मारूप दो विकल्पांश वर्तमान रहते हैं और यह आत्मा ही अनात्मारूप से प्रकाशित हो रहा है—इत्याकारक विचार की निरन्तरता बनी रहती है और इसी का अभ्यास करने पर अभेद परामर्श की प्राप्ति हो पाती है। पूर्वोक्त विकल्प का निर्विकल्पता के रूप में परिणमन ही ज्ञान है।

जब साधक सत्तर्क, सदागम एवं सद्गुरु की सहायता से उच्चार, करण आदि विकल्प-व्यापारों का शोधन कर लेता है अर्थात् इन सबमें स्वात्मस्वरूप का साक्षात्कार होने लगता है तब उसके चित्त में विश्वाहन्ता का विकास हो जाता है। वह जान जाता है कि यह समस्त विश्व मेरा ही स्वरूप है और मेरा शुद्ध स्वात्मस्वरूप तो इससे भी अतीत है। इस प्रकार की सार्वात्म्य भावना के आश्रय से साधक के चित्त में शुद्ध विकल्पों का सृजन होने लगता है और उन सबमें अपने शुद्ध स्वरूप की ही भावना करता है। शाम्भवोपाय में तो साधक ज्ञान के द्वारा निर्विकल्पावस्था में विश्रान्ति ग्रहण करता है;

किन्तु शाक्त स्थिति में चित्त, बुद्धि, अहंकार आदि स्पष्ट रहते हैं। अत: इसमें विकल्प रहते हैं। यहाँ मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार का विनाश नहीं हो जाता। इस स्थिति में साधक मन, चित्त, बुद्धि आदि विकल्पों की सहायता से सिद्धि प्राप्त करने का प्रयास करता है। संन्यासप्रधान (शंकराचार्य आदि) आचार्यों के संन्यासी संप्रदायों एवं तान्त्रिक सम्प्रदायों में यही मौलिक भेद है।

शाक्तावस्था में जगत् के मायात्मक (विकल्पात्मक) होने के कारण भेदासूत्रण तो हो ही जाता है। इस दशा में कर्तृत्वाभिमान रहता है। 'मैं ही सर्वत्र स्थित हूँ—मेरे द्वारा ही सभी स्थित हैं'—ऐसी भावना शाक्तावस्था में रहती है। इन मायात्मक विकल्पों के रहने पर भी साधक समावेश की दिशा में अग्रपद रहता है। भेदों से अभेद की दिशा में की गई उसकी यात्रा लगातार चलती रहती है और साधक समावेश के मार्ग में बढ़ता जाता है। चूँकि इस अवस्था में भेदों से अभेद के मार्ग में बढ़ता जाता है; अत: कहा गया है—भेदाभेदौ हि शक्तिता (तन्त्रालोक)।

शाम्भवावस्था में तो ध्यान की भी आवश्यकता नहीं रहती; किन्तु शाक्तावस्था में रहती है। शाक्ती पद्धति में संस्कार भी महत्त्व रखते हैं। संस्कार हैं—श्रुति, चित्त आदि के द्वारा अस्फुट रूप में विद्यमान तत्त्व को स्फुटता प्राप्त कराना। संस्कारों से निर्विकल्प में प्रवेश होता है। विसर्ग का संस्कार ही निर्विकल्प का साधन है। विसर्ग का संस्कार न होने पर विरुद्ध विकल्प रहता है। विरुद्ध विकल्पों के नष्ट होते रहने से आत्मशुद्धि होती रहती है और इसके द्वारा अविकल्पावस्था का उदय होता है। चूँकि विकल्प भी संवित् का ही एक रूप है; अत: विकल्प से आच्छादित संवित् अन्तत: अपने मूल स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाती है। विकल्पों के रहने पर भी संवित् निरन्तर स्फुरित होती रहती है। अन्त में भैरवी तेज की प्राप्ति के मार्ग में शाक्तोपाय भी एक साधन के रूप में स्वीकार किया जाता है। अनवरत संवित्-विमर्श के कारण भैरवी तेज (चैतन्य) स्फुरित हो उठता है। तन्त्रालोक में अभिनवगुप्त कहते हैं—

अतश्च भैरवीयं यत् तेज: संवित्स्वभावकम्।
भूयो भूयो विमृशतां जायते स्फुटात्मता।।

शाक्तोपाय में सत्तर्क सहायक है। सत्तर्क का अर्थ है—आत्मप्रत्यभिज्ञा। शुद्धविद्या के स्पर्श से पवित्र बुद्धि से उत्पन्न 'मैं शिव हूँ'—ऐसी भावना उत्पन्न करने वाली वृत्ति तर्क है। अद्वैतभावना ही तर्क है। यह भेद को काटने वाला कुठार है—

दुर्भेदपादपस्यास्य मूलं कृन्तति कोविदा:।
धारारूढ़ेन सत्तर्ककुठारेणेति निश्चय:।। (तन्त्रालोक)

तर्क ही पराकाष्ठा प्राप्त करके भावना बन जाता है—तर्कं एव हि परां काष्ठाम् उपगतो भावना इति (तन्त्रालोक आ.-४)। सत्तर्क ही योग का उत्तमांग है। यही योग

का अन्तरंग है। षडंग का अंगरूप जो तर्क है, उसका अर्थ है—अपने सिद्धान्त के विरुद्ध जाते हुये तर्क करना।

यह तर्क (ज्ञान) जिसे अकस्मात प्राप्त होता है, वह सांसिद्धिक कहलाता है। उन्हें गुरु, शास्त्र और साधना की आवश्यकता नहीं होती।

आणवोपाय—उच्चार, करण, ध्यान, वर्ण एवं स्थान-कल्पना का अभ्यास आणव उपाय है। इनमें से किसी एक के अभ्यास से प्राप्त होने वाली एकाग्रता को आणव समावेश दशा कहते हैं। अणु अर्थात् परिमित प्रमाता परिमित स्वरूप वाले बुद्धि, प्राण, देह, देश आदि को उपाय के रूप में स्वीकार करता है। इसीलिये इसे आणव उपाय कहा जाता है। इनमें से ध्यान बुद्धि का व्यापार है। प्राण स्थूल एवं सूक्ष्म के भेद से दो प्रकार का होता है।

स्थूल प्राण का व्यापार **उच्चार** है। उच्चार प्राण आदि की वृत्तियों के रूप में प्रकट होता है। सूक्ष्म प्राण को **वर्ण** कहा जाता है। शरीर के अंगों को किसी विशेष प्रकार की स्थिति में रखने का नाम **करण** है। **स्थान-कल्पना** में घट-स्थापन, मण्डल-निर्माण, मन्दिर, मूर्ति, चित्र आदि की रचना अन्तर्भुक्त है। **ध्यान** है—सगुण स्वरूप में चित्त की एकाग्रता। स्वच्छन्दतन्त्र की टीका में कहा गया है कि प्राण, अपान आदि वायु की श्वास-प्रश्वास, छींक आदि वृत्तियाँ उच्चार कहलाती हैं। प्राणोच्चार के साथ स्वाभाविक रूप से उच्चरित होने वाले सकार एवं हकार **वर्ण** कहे जाते हैं। ये सभी वर्णों एवं मन्त्रों का बोध कराते हैं। वर्ण रंगों का भी बोधक है।

त्रिशिरोभैरव को प्रमाण मानकर तन्त्रालोक (भा.-३ आ.-५) में करण के सात भेद बताए गये हैं—ग्राह्य, ग्राहक, संवित्ति, संनिवेश, व्याप्ति, आक्षेप एवं त्याग।

प्राण शक्ति अर्थात् हृदय में स्पन्दात्मक सामान्य व्यापार में शरीरस्थ नाड़ी मण्डल एवं चक्रों में बाह्य लिंग, चत्वर, प्रतिमा आदि में स्थान-कल्पना निष्पादित की जाती है।

क्रियाशक्ति का प्रथमोन्मेष प्राण-व्यापार है। 'प्राक् संवित् प्राणे परिणता'। प्राण-शक्ति अपने प्राण, अपान आदि पाँच रूपों में जीव को आप्यायित किये रहती है। इस क्रियाशक्ति के पूर्व भाग में कालाध्वा और उत्तर भाग में देशाध्वा की स्थिति है। कालाध्वा में पर, सूक्ष्म एवं स्थूलरूप वर्ण, मन्त्र एवं पद की तथा देशाध्वा में कालतत्त्व एवं भुवन की स्थिति है। समस्त षडध्वात्मक जगत् इस क्रियाशक्ति का ही उन्मेष है। समस्त षडध्वात्मक जगत् में बाहर-भीतर सब जगह प्राणशक्ति का स्पन्दन सतत प्रवृत्त है। प्राणशक्ति के स्फुरण में ईश्वर की शक्ति, जीव की शक्ति और उसका प्रयत्न—इन तीनों की उपयोगिता है। हृदयप्रभृति स्थानों में स्पन्दमान इस प्राणशक्ति में चित्त को विलीन कर देना भी स्थान-कल्पना नामक आणव उपाय का अंग है। इसी प्रकार से शरीर के भीतर विद्यमान नाड़ी, चक्रप्रभृति स्थानों में और लिंग, चत्वर, प्रतिमा

आदि में चित्त को नियोजित करना भी स्थान-कल्पना के अंतर्गत है। इन विकल्पात्मक स्थूल उपायों को यहाँ आणव उपाय कहा गया है।

भुवन, तत्त्व, कला, मन्त्र, पद एवं वर्ण—ये षडध्व कहलाते हैं। शब्द से वर्ण, पद और मन्त्र की एवं अर्थ से कला, तत्त्व एवं भुवन की उत्पत्ति होती है। शैवागमों में षडध्व का क्रम इस प्रकार दिया गया है—१. वर्ण २. पद ३. मन्त्र ४. कला ५. तत्त्व और ६. भुवन। स्थूल, सूक्ष्म एवं पररूप में विद्यमान इन षडध्वों से सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है। योगी को इस भावना की साधना तब तक करती रहनी चाहिये, जब तक कि अन्ततः उसका मन इसी में लीन नहीं हो जाता। तान्त्रिक दीक्षा में षडध्व की शुद्धि अनिवार्य मानी जाती है। शब्दब्रह्म ही षडध्व के रूप में परिणत होता है। वर्ण का जगत् के साथ अभेदात्मक-भेदाभेदात्मक एवं पद का भेदात्मक सम्बन्ध है।

स्पन्दकारिका की दृष्टि—स्पन्दकारिका को शिवसूत्र की व्याख्या माना जाता है। शिवसूत्र तो अज्ञानात्मक ज्ञान को ही बन्धन मानता है—

अज्ञानमिति तत्राद्यं चैतन्यस्फाररूपिणि।
आत्मन्यनात्मताज्ञानं ज्ञानं पुनरनात्मनि।।
देहादावात्ममानित्वं द्वयमप्येतदाणवम्।
मलं स्वकल्पितं स्वस्मिन्बन्धः स्वेच्छाविभावितः।।[१]

स्पन्दकारिका (१.९) में क्षोभ को बन्धन का कारण कहा गया है और क्षोभ के स्वरूप में लय को परम पद कहा गया है—

निजशुद्धासमर्थस्य कर्तव्येष्वभिलाषिणः।
यदा क्षोभः प्रलीयेत तदा स्यात्परमं पदम्।।

बन्धन का कारण (स्पन्दकारिका)

↓

→ **क्रियाशक्ति**—
१. बन्धन का कारण (अज्ञात रहने पर)
२. मोक्ष का भी कारण (ज्ञात हो जाने पर)

सेयं क्रियात्मिका शक्तिः शिवस्य पशुवर्तिनी।
बन्धयित्री स्वमार्गस्था ज्ञाता सिद्ध्युपपादिका।। (तृ.-४८)

→ १. शक्तिवर्ग की वश्यता (शब्दराशि की शक्तियों की दासता) (स्पन्दः४५)
२. निर्विकल्प स्वरूप में विकल्पात्मक ज्ञान का उदय → परामृत रस (शिवशक्ति सामरस्य) से पृथकता → अस्वतन्त्रता

---
१. शिवसूत्रवार्तिक (वरदराज) २. स्पन्दकारिका

(परामृतरसापायस्तस्य यः प्रत्ययोद्भवः।
तेनास्वतन्त्रतामेति स च तन्मात्रगोचरः। (तृ.-४६)[१]

→ स्वरूपावरण (ब्राह्मी आदि शक्तियों द्वारा जीव के स्वस्वरूप पर आवरण डालना)—
स्वरूपावरणे चास्य शक्तयः सततोत्थिताः। (तृ.-४७)

→ पुर्यष्टक का बन्धन (स्पं. का.-४९/तृ.-५०) भोग एवं संसरण चक्र।

भुक्ते परवशो भोगं तद्भावात् संसरत्यतः।
संसृतिप्रलयस्यास्य कारणं सम्प्रचक्ष्महे।।५०।।

→ क्षोभ (९)

मुक्ति : योग दर्शन की दृष्टि में → तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्। द्रष्टा का स्वस्वरूप में अवस्थान।

मुक्ति और बन्धन (जैन दर्शन)

जैन दर्शन में मोक्ष है—जीव से पुद्गल के संयोग का अन्त (जीव-पुद्गल-संयोग का आत्यन्तिक ध्वंस ही मोक्ष है)।

कषाय → अज्ञान → बन्धन।

सकषायत्वात् जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलान् आदत्ते स बन्धः।
(तत्त्वार्थाधिगम सूत्र—उमास्वामी)

मुक्ति के साधन—जैनमार्ग

सम्यक् दर्शन | सम्यक् ज्ञान | सम्यक् चारित्र

सम्यग्दर्शनज्ञानचरित्राणि मोक्षमार्गः।
(तत्त्वार्थाधिगम सूत्र—उमा स्वामी)

मुक्ति के उपाय (स्पन्दकारिका की दृष्टि)

→ योगसाधना (स्पन्द का. ३३,३५,४३,४४,२३,२४,२५)

→ स्थूल या सूक्ष्म पुर्यष्टकों में से किसी भी एक में अवस्थित होकर चित्त को स्पन्द तत्त्व में लीन करना—

१. अन्तः बहिः एकाकार स्पन्द तत्त्व की अनुभूति करके उसके प्रत्ययोद्भव के सृष्टि-संहार व्यापारों को निष्पादित करते हुये भोक्ता भाव की पदवी प्राप्त करना।
२. फिर शक्तिचक्र का स्वामी (चक्रेश्वर) बन जाना—चक्रेश्वरत्व की प्राप्ति।

---

१. स्पन्दकारिका

यदा त्वेकत्र संरूढस्तदा तस्य लयोदयौ।
नियच्छन् भोक्तृतामेति ततश्चक्रेश्वरो भवेत्।।[१]

३. स्वस्वरूप में अवस्थित होकर स्वातन्त्र्य, प्राप्ति करना—अन्यथा तु स्वतन्त्रा स्यात् सृष्टिस्तर्द्धकत्वतः।।[२]

→ १. न सावस्था न यः शिवः (स्पन्द का०-२.२९) की अनुभूति।
२. जगत् की अपनी क्रीडा समझना—

इति वा यस्य संवित्तिः क्रीडात्वेनाखिलं जगत्।
स पश्यन् सर्वतो युक्तो जीवन्मुक्तो न संशयः।। (स्पन्द का.-३.३०)

→ तदात्मता समापत्ति → अमृत-प्राप्ति, आत्मग्रह, निर्वाण, दीक्षा, शिवसद्भाव

अयमेवोदयस्तस्य ध्येयस्य ध्यायिचेतसि।
तदात्मतासमापत्तिरिच्छतः साधकस्य या।।
(स्पन्द का.-३१)

इयमेवामृतप्राप्तिरयमेवात्मनो ग्रहः।
इयं निर्वाणदीक्षा च शिवसद्भावदायिनी।।
(स्पन्द का.-३२)

→ क्षोभ का लय (स्पन्दकारिका-१.९)

१. त्रिक दर्शन प्रत्यभिज्ञा को ही मुक्ति मानता है।
२. योगशास्त्र द्रष्टा के स्वस्वरूप में अवस्थान को ही मुक्ति मानता है।
३. वेदान्त 'अहं ब्रह्मास्मि, सोऽहमस्मि' की नित्य अनुभूति को ही मुक्ति मानता है।

स्पन्दात्मक आत्मबल की प्राप्ति—

१. भूयः स्फुटतरो भाति स्वबलोद्योगभावितः।।३६।।
२. तत्तथा बलमाक्रम्य न चिरात् सम्प्रवर्तते।।३७।।
३. अनेनाधिष्ठिते देहे यथा सर्वज्ञतादयः।
तथा स्वात्मन्यधिष्ठानात् सर्वत्रैवं भविष्यति।।
४. वृत्तिप्रत्यस्तमित अवस्था (स्पन्द का. २३,२४,२५)।

शुद्धि के उपाय (योगसूत्र)

यम | नियम | आसन | प्राणायाम | प्रत्याहार | धारणा | ध्यान | समाधि

---

१. स्पन्दकारिका (३.५१)
२. स्पन्दकारिका (३.३५)

शुद्धि के उपाय : महार्थमञ्जरी

१. कर्मयोग
२. भक्तियोग
३. ज्ञानयोग
४. अष्टाङ्ग योग
—ये सभी मन की शुद्धि के उपाय हैं।

शुद्धि के उपाय : त्रिक दर्शन

श्रुतियों में आध्यात्मिक ज्ञान के साधनार्थ ३ उपाय बताए गये हैं, जो निम्नाङ्कित हैं—

१. श्रवण, २. मनन, ३. निदिध्यासन।
—ये मनःशुद्धि के भी उपाय हैं।

शुद्धि के उपाय : दीघनिकाय (मं. नि.) (बौद्धदर्शन)

सम्यक् दृष्टि | सम्यक् संकल्प | सम्यक् वाक् | सम्यक् कर्मान्त | सम्यक् आजीव | सम्यक् व्यायाम | सम्यक् स्मृति | सम्यक् समाधि

शुद्धि के उपाय : जैन दर्शन

सम्यक् दर्शन | सम्यक् ज्ञान | सम्यक् चारित्र्य

शुद्धि के उपाय : शांकर दर्शन

नित्यानित्य वस्तुविवेक	इहामुत्रार्थ फलभोग-विराग (लौकिकालौकिक सभी भोगों का त्याग)	शम-दमादि षट् सम्पत्ति	मुमुक्षुत्व

पूजा-सामग्रियों के प्रतीकार्थ

अथाङ्गन्यासार्घ्यशुद्धिपुष्पादिस्वभावमुपन्यस्यति—

अविअप्पदाए मरसो विअप्पवग्गस्स अङ्गसण्णाहो।
अग्घं वेज्जविलासो पुप्फाइ सहावपोसआ भावा॥४५॥

(अविकल्पतया मर्शो विकल्पवर्गस्याङ्गसन्नाहः।
अर्घ्यं वेद्यविलासः पुष्पाणि स्वभावपोषका भावाः।।)

निर्विकल्प आत्मस्वरूप का विमर्श (परामर्श/चिन्तन) ही विकल्पवर्ग का अङ्गकवच है। वेद्यतत्त्व का विलास ही (यथार्थ) अर्घ्य है। स्वभाव को पुष्ट करने वाले भाव ही पुष्प हैं।।४५।।)

अङ्गानां हि करचरणाद्यवयवात्मनां पृथक्-पृथक् कार्यतयाऽवभासमानानामेकेन केनचिच्छरीरानुप्रविष्टेनात्मना कारणभूतेन सर्वविकल्पोत्त्रोटनयुक्त्या मर्शः परामर्शो भवन्नङ्गन्यास इत्युच्यते। तदेवमेतत् पर्यवस्यति यत् करचरणाद्युपलक्षितस्य विकल्पविक्षोभप्रपञ्चस्य पूर्णाहम्भावभावनास्वभावया कयाचिदविकल्पतया विमर्शनमिति। यदुक्तमस्मत्परमगुरुभिः श्रीक्रमवासनायाम्—

कारणात्मपरामृष्टकार्यभूताङ्गुलिस्थितिम् ।
करोमि चिन्मयीं शुद्धिं करयोः परिशोधनीम् ।।
सर्वज्ञत्वादिशक्तीनां सतीनामात्मनि प्रभौ ।
उन्मज्जनं भावयामि षडङ्गविधियोगतः ।। इति।

तच्चाङ्गानां सन्नाह इत्युच्यते, येन भेदप्रथाशस्त्रप्रहारः परिह्रियत इति। अथ स्वसिद्धान्तैकयोग्यामर्घ्यशुद्धिमाह—अर्घ्यं वेद्यविलास इति। प्रागुपपादिता पूजा खल्वर्घ इत्युच्यते। तदर्हमलौकिकं किञ्चिद् द्रवद्रव्यमर्घ्यम्।

यन्मुग्धानां प्रणयवचसि प्रौढिमानं विधत्ते
यन्निर्विघ्नं निधुवनविधौ साध्वसं सन्धुनोति ।
यस्मिन् विश्वाः कलितरुचयो देवताश्चक्रचर्य-
स्तन्माध्वीकं सपदि कुरुते यत्र भोगापवर्गौ ।।

इति श्रीतन्त्रालोकस्थित्या बाह्याभ्यन्तरोभयभेदात् स्वहृदयदेवतातृप्त्येक-प्रयोजनतया प्रतिष्ठाप्यते। तच्च तत्त्वदृष्ट्या वेद्यविलास इत्यवगन्तव्यम्। वेद्यस्य विश्वविकल्पप्रसरलक्षणस्य यो विलासः सङ्कोचावस्थायामपि तत्तत्स्वभावसर्व-स्वानतिक्रान्तिरित्यौपचारिको व्यवहारः। अर्थतस्तु तादृग्विलासवद्वेद्यमेवार्घ्य-द्रव्यमिति पर्यवस्यति। तस्य शब्दस्पर्शरूपरसगन्धलक्षणगुणपञ्चकाविनाभावात् पृथिव्यादिमहाभूतपञ्चकस्यैतद्गुणस्थूलावस्थानुप्रवेशमात्रानुप्राणनत्वात् सर्वोऽपि विश्वविक्षोभस्तत्रैव परिस्फुरतीत्यापतितम्। किञ्चैतत् स्वहृदयप्रतिष्ठास्पदत्वात् पृथिवी, तस्यैवान्तराप्यायकत्वादापः, प्राचीनवासनापाशप्लोषप्रगल्भतया तेजः, स्वसंवित्तत्त्वपरिस्पन्दनप्रदायित्वेन वायुः, शुद्धचैतन्यमात्रपर्यवसायितया व्योमेति पृथिव्यादिभूतपञ्चकसमष्टिस्वभावतया विश्वविलास एवेत्यवधार्यते। तत्संस्कारा-स्तदुपयोगश्चानन्तरमासूत्रयिष्यते। एवं बाह्यद्रव्येषु स्वात्मतृप्त्यर्पणप्रवीणं द्रव्यविशेषं प्रतिपाद्य तदङ्गत्वेनाङ्गीकार्याणां पुष्पादीनां स्वरूपमाह—पुष्पाणि स्वभावपोषका भावा इति। स्वस्य यो भावः पूज्यदेवतास्वभावतया निरूपितश्चमत्कारः, तस्य तादृक्परामर्शप्रतिष्ठापनलक्षणपोषणप्रयोजनानि पुष्पाणि। स्वभावं पोषयन्तीति व्युत्पत्त्या पुष्पाणीति तात्पर्यार्थः। उपलक्षणं चैतत्। ततश्च पुष्पशब्देन स्वभाव-पोषकाणां बाह्याभ्यन्तराणां सर्वेषामपि द्रव्याणां स्वीकारः। यदुक्तं श्रीत्रिंशि-काशास्त्रविमर्शिन्यामाचार्याभिनवगुप्तपादैः—'पुष्पैर्हृदयान्तःस्वरूपसमर्पणादेव हृदयस्य पोषकैर्बाह्याभ्यन्तरैः सर्वैर्द्रव्यैः' इति। गन्धो हि गुणः सर्वप्रपञ्चस्फुरतात्मक इत्याख्यायते। यदुक्तं मयैव श्रीपादुकोदये—

स्वस्वकार्येषु सर्वेषां कारणानामवस्थितिः।
अजहद्रूपतायोगादविनाशेन वर्तते॥
हेतुहैतुकभावश्च शिवशक्त्यादिगोचरः।
पारम्पर्यक्रमात् प्राप्तः सर्वो विश्राम्यति क्षितौ॥
अतो विश्वमयी पृथ्वी तस्या गन्धोऽपि तन्मयः।
तद्ग्राहकं च करणं विश्वस्य ग्राहकं भवेत्॥ इति।

तादृग्गन्धगुणानुप्राणनतया च पुष्पपदेन सर्वोपकरणस्वीकार इति सुष्ठूक्तम्। तथा श्रीत्रिंशिकाशास्त्रे—

ततः सुगन्धिपुष्पैश्च यथाशक्ति समर्चयेत्॥ इति।

समस्त शरीरांगों में एक ही परमात्म सत्ता है। इसका अविरत चिन्तन ही विकल्प-विक्षोभात्मक विश्व का अंगन्यास है। महेश्वरानन्द कहते हैं—अङ्गानां हि करचरणा-द्यवयवात्मनां पृथक्-पृथक् कार्यतयाऽवभासमानानामेकेन केनचिच्छरीरानुप्रविष्टेनात्मना कारणभूतेन सर्वविकल्पोत्त्रोटनयुक्त्या मर्शः परामर्शो भवन्नङ्गन्यास इत्युच्यते (परिमल)।

विमर्शन—तदेवमेतत् पर्यवस्यति यत् करचरणाद्युपलक्षितस्य विकल्पविक्षोभप्रपञ्चस्य पूर्णाहम्भावनास्वभावया कयाचिदविकल्पतया विमर्शनमिति (परिमल)।

क्रमवासना की दृष्टि—

कारणात्मपरामृष्टकार्यभूताङ्गुलिस्थितिम् ।
करोमि चिन्मयीं शुद्धिं करयोः परिशोधनीम्।।

भगवान् की पूजा के जो अंग हैं एवं उसमें प्रयुक्त होने वाली जो सामग्रियाँ हैं, उन्हें मात्र भौतिक पदार्थ या बाह्य तत्त्व के रूप में ही गृहीत नहीं करना चाहिये; प्रत्युत उन्हें किसी प्रच्छन्न निहितार्थ के प्रतीक के रूप में ग्रहण करना चाहिये; क्योंकि साधना का सम्बन्ध बाह्य से नहीं, प्रत्युत अन्तर से है—स्थूल जगत् से नहीं; प्रत्युत सूक्ष्म जगत् से है तथा भौतिक पदार्थों से नहीं; प्रत्युत हृदय के प्रेमपूर्ण भावों से है। इसी दृष्टि को उपन्यस्त करते हुये महेश्वरानन्द कहते हैं कि कवच या अंगन्यास तथा अर्घ्य एवं पुष्प का अर्थ अभिधेय अर्थ नहीं है—

१. अंगकवच : विकल्पवर्गस्य अविकल्पतया मर्शो हि अंगसन्नाहः।
२. अर्घ्य : अर्घ्यं वेद्यविलासः।
३. पुष्प : पुष्पाणि स्वभावपोषका भावाः।

विकल्प—विश्व-वैचित्य। जगत् का अनेकरूपात्मक भेद-विस्तार। एकता में अनेकात्मक भेद-प्रसार।

सन्नाह—कवच और अस्त्र-शस्त्र से सज्जित होने की क्रिया। युद्ध करने जैसी सजावट। कवच। (सम् + नह + घञ्)।

पूर्णाहन्ता या पूर्णाहम्भाव से युक्त भावना वाली अविकल्पता का विमर्श (मर्श) ही विश्वविमोक्षप्रपञ्च का अंगरक्षक कवच है। समस्त पूजांगों में परमात्मा की अनुस्यूतता का चिन्तन ही विकल्पजन्य विक्षोभ वाले प्रपञ्च का अंगन्यास है या रक्षाकवच है—तदेवमेतत् पर्यवस्यति यत् करचरणाद्युपलक्षितस्य विकल्पविक्षोभप्रपञ्चस्य पूर्णाहिम्भावनास्वभावया कयाचिदविकल्पतया विमर्शमिति।[1]

श्रीक्रमवासना की दृष्टि—क्रमवासना में भी इसी प्रतीकार्थ को ग्रहण करने का उपदेश दिया गया है और कहा गया है—

कारणात्मपरामृष्टकार्यभूताङ्गुलिस्थितिम् ।
करोमि चिन्मयीं शुद्धिं करयोः परिशोधनीम्।।
सर्वज्ञत्वादिशक्तीनां सतीनामात्मनि प्रभौ।
उन्मज्जनं भावयामि षडंगविधियोगतः।।

१. स्वोपज्ञ परिमल

ग्रन्थकार ने जिस वेद्यविलास की बात कही है वह क्या है? ग्रन्थकार कहता है कि बाह्यान्तर-भेद से स्वहृदयस्थ देवता की संतृप्ति का प्रयोजन ही वेद्यविलास है। यही अर्घ्य-पदार्थ भी है। अंगों का कवच या अंगन्यास भेद-प्रथारूप शस्त्र-प्रहार से अपनी रक्षा करने का साधन है—भेदप्रथाशस्त्रप्रहार: परिह्रियत इति।[1] परिमलकार कहते हैं कि इस प्रसंग में 'अर्घ्यं वेद्यविलास:' वाक्य द्वारा स्वसिद्धान्तानुरूप अर्घ्य-शुद्धि की बात कही गई है। वेद्यविलास अर्घ्य एवं स्वभावपोषक भाव-पुष्प द्वारा ही पूजा करना श्रेष्ठतर है।

स्वहृदयस्थ आत्मदेवता की अविकल्पात्मक पूजा ही यथार्थ पूजा है, जिसमें कि—

१. पूर्णहंभावभावनासिक्त अविकल्पता का परामर्श (चिन्तन) ही अंगरक्षक कवच है।
२. वेद्य-विलास ही अर्घ्य है।
३. स्वभाव को पुष्ट करने वाले भाव ही पुष्प हैं।
४. स्वहृदयस्थ आत्मदेवता का पूजन ही पूजा है।

वेद्य क्या है? विश्वविकल्पप्रसरलक्षणस्य यो विलास:' वेद्य (विकल्प प्रसार) का विलास अर्थात् संकोचावस्था में स्वभाव-अतिक्रान्त व्यवहार ही अर्घ्य है—वेद्यस्य विश्व-विकल्पप्रसरलक्षणस्य यो विलास: संकोचावस्थायामपि तत्तत्स्वभावसर्वस्वानतिक्रान्ति-रित्यौपचारिको व्यवहार:।[2]

शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध नामक गुणों से अनुप्राणित पञ्चभूतों की भेद-प्रथात्मक अनन्त सृष्टि ही विक्षोभात्मक है। यह विक्षोभ ही जगत् में परिस्फुरित हो रहा है।[3] परिमलकार कहते हैं—

१. स्वहृदयप्रतिष्ठास्पद होने के कारण पृथ्वी,
२. उसके अन्तर को आप्यायित करने के कारण जल,
३. प्राचीन वासनाजन्य पाश-प्लोष से प्रगल्भ होने के कारण तेज,
४. स्वसंवित्तत्त्व के परिस्पन्दन का प्रदाता होने के कारण वायु,
५. शुद्ध चैतन्यमात्र में पर्यवसित होने के कारण व्योम

अर्थात् भूतपञ्चक की समष्टि स्वभाव से ही विश्वविलास है।[4]

परिमलकार की दृष्टि—परिमलकार ने अंगन्यास को इस प्रकार परिभाषित किया है—अंगानां हि करचरणाद्यवयवात्मनां पृथक्-पृथक् कार्यतयाऽवभासमानानामेकेन केन-चिच्छरीरानुप्रविष्टेनात्मना कारणभूतेन सर्वविकल्पोत्त्रोटनयुक्त्या मर्श: परामर्शो भवन्नङ्ग-न्यास इत्युच्यते।[5]

१-५. स्वोपज्ञ परिमल

इस प्रसंग में बाह्य पूजा-द्रव्यों में स्वात्मतृप्ति-हेतु विशेष (अर्थात् भावनात्मक) द्रव्यों का प्रतिपादन करके पुष्पादि को प्रतीकात्मक रूप में ग्रहण किया गया है। यहाँ पुष्प उसे कहा गया है, जो भावों को पुष्ट करता हो—स्वभावं पोषयन्तीति व्युत्त्या पुष्पाणीति तात्पर्यार्थ:। ततश्च पुष्पशब्देन स्वभावपोषकाणां बाह्याभ्यन्तराणां सर्वेषामपि द्रव्याणां स्वीकार:।[१] पुष्पाणि स्वभावपोषका भावा:।

अभिनवगुप्तपादाचार्य की दृष्टि—अभिनवगुप्तपाद भी पूजा-द्रव्यों को प्रतीकार्थ में ही ग्रहण करते हैं—पुष्पैर्हृदयान्त:स्वरूपसमर्पणादेव हृदयस्य पोषकैर्बाह्याभ्यन्तरै: सर्वैर्द्रव्यै:[२]। गन्ध क्या है? गन्धो हि गुण: सर्वप्रपञ्चस्फुरत्तात्मक इत्याख्यायते।[३]

पादुकोदय का मत—

स्वस्वकार्येषु सर्वेषां कारणानामवस्थिति:।
अजहद्रूपतायोगादविनाशेन वर्तते।।
हेतुहैतुकभावश्च शिवशक्त्यादिगोचर:।
पारम्पर्यक्रमात् प्राप्त: सर्वो विश्राम्यति क्षितौ।।
अतो विश्वमयी पृथ्वी तस्या गन्धोऽपि तन्मय:।
तद् ग्राहकं च करणं विश्वस्य ग्राहकं भवेत्।।

उस प्रकार के गन्ध से अनुप्राणित होने के द्वारा पुष्प समस्त उपकरणों का प्रतीक है।

त्रिंशिकाशास्त्रकार की दृष्टि—त्रिंशिकाशास्त्र में कहा गया है—

तत: सुगन्धिपुष्पैश्च यथाशक्ति समर्चयेत्।

पुष्प क्या है? पुष्पाणि स्वभावपोषका भावा इति।[४] स्वस्य यो भाव: पूज्यदेवतास्वभावतया निरूपितश्चमत्कार:, तस्य तादृक् परामर्शप्रतिष्ठापनलक्षणपोषणप्रयोजनानि पुष्पाणि।[५]

शिवसूत्रकार की दृष्टि—शिवसूत्र में यथार्थ साधना, साधनोपकरणों के यथार्थ स्वरूप एवं साधना के वैज्ञानिक पक्षों की सूक्ष्मतापूर्वक विवेचना की गई है और इसी दृष्टिकोण से कहा गया है कि—

१. कथा ही जप है—कथा जप: (३.२७)।
२. चित्त ही मन्त्र है—चित्तं मन्त्र: (२.१)।
३. ज्ञान जागृतावस्था है—ज्ञानं जाग्रत् (१.८)।
४. ज्ञान अन्न है—ज्ञानं अन्नम् (२.९)।

---

१. महेश्वरानन्द—परिमल
२. अभिनवगुप्त—त्रिंशिकाशास्त्रविमर्शिनी
३-५. स्वोपज्ञपरिमल

५. दान ही आत्मज्ञान है—दानमात्मज्ञानम् (३.२८)।

६. प्रयत्न ही साधक है—प्रयत्नः साधकः (२.२)।

७. आत्मा ही रंगमञ्च है—रंगोऽन्तरात्मा (३.१०)।

८. वितर्क ही आत्मज्ञान है—वितर्क आत्मज्ञानम् (१.१७)।

९. शरीर हवि है—शरीरं हविः (२.८)।

१०. शरीरवृत्ति ही व्रत है—शरीरवृत्तिव्रतम् (३.२६)।

११. स्वशक्ति का प्रचय ही विश्व है—स्वशक्तिप्रचयोऽस्य विश्वम् (३.३०)।

१२. दृश्य ही शरीर है—दृश्यं शरीरम् (१.१४)।

आचार्य शङ्कर की दृष्टि—आचार्य शङ्कर जप, मुद्रा, प्रदक्षिणा, आहुति, प्रणाम, सुखोपभोग एवं विलास के रहस्यों पर प्रकाश डालते हुये उसके प्रतीकार्थों को इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं—

जपो जल्पः शिल्पं सकलमपि मुद्राविरचनं
गतिः प्रादक्षिण्यं भ्रमणमशनाद्याहुतिविधिः।
प्रणामः संवेशः सुखमखिलमात्पार्पणदृशा
सपर्यापर्यायस्तव भवतु यन्मे विलसितम्।।[1]

अङ्गसन्नाह का यथार्थ स्वरूप क्या है? भेदप्रथा का अन्त ही अंगसन्नाह है—तच्चाङ्गानां सन्नाह इत्युच्यते, येन भेदप्रथा शस्त्रप्रहारः परिह्रियत इति।

श्रीक्रमवासनाकार ने भी इसी दृष्टि को उपन्यस्त करते हुये—'कारणात्मपरामृष्ट....... विधियोगतः' कहा गया है।

अर्घ्य किसी अलौकिक द्रव्य का पर्याय है—

१. अर्घ्यं वेद्यविलासः।[2]

२. तदर्हमलौकिकं किञ्चिद् द्रवद्रव्यमर्घ्यम्।[3]

तन्त्रालोककार की दृष्टि—आचार्य अभिनवगुप्तपाद तन्त्रालोक में कहते हैं—

यन्मुग्धानां प्रणयवचसि प्रौढिमानं विधत्ते
यन्निर्विघ्नं निधुवनविधौ साध्वसं सन्धुनोति।
यस्मिन् विश्वाः कलितरुचयो देवताश्चक्रचर्य-
स्तन्माध्वीकं सपदि कुरुते यत्र भोगापवर्गौ।।

सारांश यह है कि स्वहृदयस्थ देवता की तृप्ति बाह्य पूजा एवं आभ्यन्तर पूजा दोनों द्वारा एक ही तात्त्विक भाव से की जानी चाहिये—बाह्याभ्यन्तरोभयभेदात् स्वहृदय-देवतातृप्त्येकप्रयोजनतया प्रतिष्ठाप्यते।[4]

---

१. सौन्दर्यलहरी २-४. परिमल (४५)

तत्वदृष्टि से तो यही वेद्यविलास है और यही अर्घ्य है। वेद्यविलास = वेद्यस्य विश्व-विकल्पप्रसरलक्षणस्य यो विलासः सङ्कोचावस्थायामपि तत्तत्स्वभावसर्वस्वानतिक्रान्तिरित्यौपचारिको व्यवहारः। अर्थतस्तु तादृग्विलासवद्वेद्यमेवार्घ्यद्रव्यमिति पर्यवस्यति।[१]

परिमलकार कहते हैं कि वेद्यविलास का तात्त्विक अर्थ और गंभीर है क्योंकि—

१. तस्य शब्द-स्पर्श-रूप-रसगन्धलक्षणगुणपञ्चका विनाभावात् पृथिव्यादिमहाभूतपञ्चकस्यैतद्गुणस्थूलावस्थानुप्रवेशमात्रानुप्राणनत्वात् सर्वोऽपि **विश्वविक्षोभ**स्तत्रैव परिस्फुरतीत्यापतितम्।

२. किञ्चैतत् स्वहृदयप्रतिष्ठास्पदत्वात् **पृथिवी**।

३. तस्यैवान्तराप्यायकत्वा**दापः**।

४. प्राचीनवासनापाशप्लोषप्रगल्भतया **तेजः**।

५. स्वसंवित्तत्त्वपरिस्पन्दप्रदायित्वेन **वायुः**।

६. शुद्धचैतन्यमात्रपर्यवसायितया **व्योमेति** पृथिव्यादिभूतपञ्चकसमष्टिस्वभावतया विश्वविलास एवेत्यवधार्यते।

इसी दृष्टि से महेश्वरानन्द ने पुष्प का अर्थ कोई भौतिक वस्तु नहीं स्वीकार किया। उन्होंने इसका प्रतीकात्मक अर्थ ग्रहण करते हुये कहा—

१. स्वस्य यो भावः पूज्यदेवतास्वभावतया निरूपितश्चमत्कारः तस्य तादृक्परामर्शप्रतिष्ठापनलक्षणपोषणप्रयोजनानि **पुष्पाणि**।

२. ततश्च **पुष्प**शब्देन स्वभावपोषकाणां बाह्याभ्यन्तराणां सर्वेषामपि द्रव्याणां स्वीकारः।

३. पुष्पाणि स्वभावपोषका भावा इति।

गन्ध की भी एक प्रतीकात्मक व्याख्या है— गन्धो हि गुणः सर्वप्रपञ्चस्फुरत्तात्मक इत्याख्यायते।

भावनोपनिषद् की दृष्टि—भावनोपनिषद् में भी सपर्या को भावनाप्राण स्वीकार करते हुये बाह्योपचारों को प्रतीकात्मक अर्थ प्रदान किए गये हैं; यथा—

१. उपचार—अस्ति नास्तीति कर्तव्यता **उपचारः**।

२. आवाहन—बाह्याभ्यन्तःकरणानां रूपग्रहणयोग्यताऽस्त्वित्**यावाहनम्**।

३. आसन—तस्य बाह्याभ्यन्तःकरणानां एकरूपविषयग्रहण**मासनम्**।

४. पाद्य—रक्तशुक्लपदैकीकरणं **पाद्यम्**।

५. अर्घ्य—उज्वलदामोदानन्दासनं दान**मर्घ्यम्**।

६. आचमनीय—स्वच्छं स्वतःसिद्धमि**त्याचमनीयम्**।

७. स्नान—चिच्चन्द्रमयीसर्वाङ्गस्रवणं **स्नानम्**।

१-२. परिमल (४५)

८. वस्त्र—चिदग्निस्वरूपपरमानन्दशक्तिस्फुरणं **वस्त्रम्**।

९. गन्ध—स्वच्छस्वपरिपूरणानुस्मरणं **गन्धः**।

१०. कुसुम—समस्तविषयाणां मनसः स्थैर्येणानुसंधानं **कुसुमम्**।

११. धूप—तेषामेव सर्वदा स्वीकरणं **धूपः**।

१२. दीप—पवनावच्छिन्नोर्ध्वज्वलनसच्चिदुल्काऽकाशदेहो **दीपः**।

१३. नैवेद्य—समस्तयातायातवर्ज्यं **नैवेद्यम्**।

१४. ताम्बूल—अवस्थात्रयैकीकरणं **ताम्बूलम्**।

१५. प्रादक्षिण्य—मूलाधारादाब्रह्मरन्ध्रपर्यन्तं ब्रह्मरन्ध्रादामूलाधारपर्यन्तं गतागतरूपेण **प्रादक्षिण्यम्**।

१६. नमस्कार—तुर्यावस्था **नमस्कारः**।

पूर्णाहन्ता के मुख में विश्वविकल्प का निक्षेप

एवं लौकिकालौकिकसाधारण्येनोपात्तेषु द्रव्येषु द्वितीयपक्षपरिगृहीतं सर्वेन्द्रियपक्षपातविषयं द्रव्यविशेषं पृथक्कृत्य संस्कारोपयोगाभ्यां परीक्षितुमाह—

पुण्णाहन्ताए मुहे वीसविअप्पङ्कुराण विक्खेवं।
मन्तुल्लेहविसुद्धं पुण्णं कुलबिन्दुतप्पणं भणिमो ॥४६॥

(पूर्णाहन्ताया मुखे विश्वविकल्पाङ्कुराणां विक्षेपम्।
मन्त्रोल्लेखविशुद्धं पूर्णं कुलबिन्दुतर्पणं भणामः॥)

हम पूर्णाहन्ता (अनुत्तर स्वातन्त्र्यात्मक शुद्धविद्या) के मुख में विश्वविकल्पात्मक अङ्कुरों के निक्षेप के साथ मन्त्रों के उल्लेख (स्वात्मानुप्रवेशात्मक उज्ज्वलीकरण या शुद्धीकरण) से पूर्ण कुलविन्दु-तर्पण का वर्णन करते हैं॥४६॥

कुलं हि नाम वेद्यवर्गोल्लासस्वभावतया भगवानर्घ्यभट्टारक एवेत्याख्यायते। तत्र तदीया ये बिन्दवः क्रमात् क्रममंशांशितया परिस्फुरन्तः शक्तिपरिस्पन्दाः। तैः क्रियमाणं देवताप्रीणनमित्थं भणामः परामृशाम इति यावत्। बहुवचनमेवं विम्रष्टॄणामलौकिकाहङ्कारोत्कर्षप्रख्यापनाय। भणनप्रकारश्च—

उत्तमः पुरुषोऽन्योऽस्ति युष्मच्छेषविशेषितः।
त्वं महापुरुषस्त्वेको निश्शेषपुरुषाश्रयः॥

इति श्रीमत्स्तोत्रावलीस्थित्या प्रमेयप्रपञ्चपदावच्छिन्नान् प्रमातॄनपि वेद्यवर्गान्तर्भावेनावस्थाप्य स्वयमशेषसङ्कोचोत्तीर्णमहमिति यत् तत्त्वम्, यच्च—

अहं प्राणो मनश्चाहमहङ्कारोऽप्यहं मतः।
अहं बुद्धिरहं शक्तिरहं स भगवान् शिवः॥

किं वा बहुप्रलापेन जगत्यस्मिंश्चराचरे ।
योऽर्थः प्रमाणोपारूढः सोऽहं सर्वात्मकः स्थितः ।।

इति श्रीहंसभेदस्थित्या सर्वप्रपञ्चपरिस्फुरणाकारतया परामृश्यते, तस्य या 'चैतन्यमात्मा' इति, 'उद्यमो भैरवः' इति च श्रीशिवसूत्रस्थित्या तादृक्स्वरूप-निष्कर्षैकमात्रफलतया तत्प्रत्ययेन प्रतिपाद्यमाना महास्फुरत्ता, तस्याः स्वात्मदेव-तापर्यायाया यन्मुखं प्राणाद्यवष्टम्भद्वारा संवित्प्रसरणोपक्रमस्थानं स्वं शरीरम्, तस्मिन्नधिकरणतया परामृश्यमाने 'न ह वा एवंविदि किञ्चनानन्नम्' इत्यु-पनिषत्प्रक्रियया विश्ववर्त्तिनां सर्वेषामेव विकल्पानामङ्कुरतया कार्यवर्गं प्रति कारणभावेन सूक्ष्मतया समुन्मिषन्तो ये कलाविशेषाः, तेषाम्—'चिन्मयस्वात्म-परमेश्वराराधनेन तदीयस्पन्दविलासात्मषट्त्रिंशत्तत्त्वमयं जगत् पोषयेदित्यर्थः' इति श्रीशाम्भवदीपिकान्यायादन्तर्होमात्मा विक्षेपलक्षणोऽर्थ एवेति। अन्वयस्तु तादृक्तर्पणमेतादृशं विक्षेपं भणाम इति भवति। तच्च तर्पणं मन्त्रोल्लेखविशुद्धम्। मन्त्रो हि वक्ष्यमाणस्वभावः कश्चित् परामर्शविशेषः। तेन य उल्लेखः स्वात्मता-दात्म्यानुप्रवेशलक्षणमुज्ज्वलीकरणम्, तेन संवित्स्वातन्त्र्यसंस्कारात्मना विशुद्धं सर्वपूर्ववासनाव्युदासोपरूढालौकिकानुभावोत्कर्षमिति यावत्। अत एव ह्येतत् पूर्णं पुण्यमित्युच्यते। सा हि पावनतायाः परा कोटिः, यद्भेदकलङ्काशौचशालिभिः पशुभिः स्प्रष्टुमपि न पार्यते, प्रत्युत—

अशक्तास्तत्पदं गन्तुं ततो निन्दां प्रकुर्वते ।

इति नीत्या निन्द्यते च, यत्किलान्यदपवित्रमपि पवित्रयितुं प्रगल्भते, तस्य स्वतः पवित्रतायां कः सन्देहः। यथा श्रीत्रिंशिकाशास्त्रे-

शिवासंख्याभिजप्तेन तोयेनाभ्युक्षयेत्ततः ।
पुष्पादिकं क्रमात् सर्वं लिङ्गं वा स्थण्डिलं च वा ।। इति।

श्रीतन्त्रालोकेऽपि—

अर्घ्यपात्राम्बुविप्रुड्भिः स्पृष्टं सर्वं विशुद्ध्यति ।
शिवार्ककरसंस्पर्शात् कान्या शुद्धिर्भविष्यति ।। इति।

ततश्च—

यद्यथोपनतमेव पूर्णतामादधाति हृदयङ्गमत्वतः ।
तत्तथैव परमेशपूजने योग्यमन्यदिह नास्ति लक्षणम् ।।

इति श्रीज्ञानेन्दुकौमुदीन्यायादेतदेव पराहन्तायाः परमं प्रीणनं यदलिपिशिता-ङ्गनाद्युपयोगः यश्च जीवन्मोक्ष इत्याम्नायत इति तात्पर्यार्थः। यदुक्तं श्रीमहानय-प्रकाशे—

प्रायो हि मैथुने मद्ये मांसे च परिदृश्यते।
आसक्तिः सर्वजन्तूनां विशेषात् कस्यचित् क्वचित्।
यदि तत् त्यागसंरम्भपूर्वं तेषां विधीयते।
उपदेशो न स मनागपि चित्ते प्ररोहति।।

इत्यारभ्य—

अनेनैवाशयेनात्र परब्रह्मोपलब्धये।
ललनामद्यमांसानि पूजाग्र्याणि विशेषतः।।

इत्यन्तम्।।४६।।

पूर्णाहन्ता क्या है? यह विश्वोत्तीर्ण एवं विश्वमय आत्मविमर्श का पर्याय है। विश्वोत्तीर्णता एवं विश्वमयता का वह मणि-काञ्चन योग जिसमें, ब्रह्मरूपता एवं अशेष विश्व-सत्ता के साथ अपनी अभिन्नता की अनुभूति होती है तथा विश्वात्मैक्य-ब्रह्मैक्य के साथ विश्वातीतत्व की अपनी परावस्था भी अनुभूति का विषय बनती है, वही पूर्णाहन्ता है। पूर्ण अहन्ता ही पूर्णाहन्ता है। पूर्ण कौन है?

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।
सोऽहं सर्वात्मकः स्थितः।

आचार्य महेश्वरानन्द पूर्णाहन्ता में विकल्पों की आहुति प्रदान करने का उपदेश देते हुये कहते हैं कि पूर्णाहन्ता के मुख में विश्वविकल्पात्मक अंकुररूप कार्यवर्ग के निक्षेपपूर्वक मन्त्रों के उल्लेख से पूर्ण कुलबिन्दुतर्पण करना चाहिये। वे स्वतः यह साधना करते रहने की बात स्वीकार करते हैं—

पूर्णाहन्ता आगमिकों की निर्वाणावस्था या महामुक्ति की चरम अवस्था है, जिसमें वह एक ओर तो परमात्मा के साथ सामरस्य या अद्वैतभाव स्थापित करता है और दूसरी ओर वह विश्व के साथ भी सामरस्य स्थापित करता है। इस प्रकार पूर्णाहन्ता के दो पक्ष हैं—ब्रह्म के साथ तादात्म्यभाव एवं विश्व के साथ तादात्म्यभाव अर्थात् आगमिकों का अद्वैतवाद। अहन्ता के दो रूप हैं—

१. खण्डित अहन्ता—सामान्य जीवों का क्षुद्र, सङ्कुचित, सीमित, व्यष्टिमूलक अहंभाव।

२. अखण्डित अहन्ता—योगियों का वह विराट्, व्यापक, असीम एवं अनन्त अहंभाव, जिसकी क्रोड में परमात्मा एवं जगत् दोनों योगी से एकाकार होकर स्थित रहते हैं।

वेद्यवर्गोल्लासस्वभाव कुल परमशिव में परिस्फुरित शक्तिपरिस्पन्द ही बिन्दु है।

जगद्रूप कार्यवर्ग का विक्षेप (निपेक्ष) पूर्णाहन्ता के मुख में वेद्यविलास का तर्पण है। यह तर्पण स्वात्मानुप्रवेशरूप शुद्धीकरण से (मन्त्रोल्लेख द्वारा) निर्मल किया गया है। मन्त्र भी परामर्शविशेष (चिन्तनस्वरूप) है। कुलबिन्दुतर्पण ही महामुक्ति के प्राप्त करने का पूजा-क्रम है। यही मुक्ति का भी अमोघ साधन है।

कुलबिन्दुतर्पण पदावली में 'कुल' क्या है? कुल तो वेद्यवर्गस्वभावात्मक अर्घ्य-भट्टारक ही हैं—कुलं कि नाम वेद्यवर्गोल्लासस्वभावतया भगवानर्घ्यभट्टारक एवेत्या-ख्यायते। वहाँ उनके जो बिन्दु हैं, वे क्रम से अंशाशिभाव से परिस्फुरित होते हुये शक्ति-परिस्पन्द के रूप में अवतरित होते हैं। उनके द्वारा देवता-प्रीणन के उद्देश्य को चरितार्थ किया जाता है।[१]

कुल या परमशिव ही वेद्यवर्गोल्लासस्वभावरूप है। इसमें परिस्फुरित शक्तिपरिस्पन्द ही बिन्दु है। उक्त प्रसंग में प्रयुक्त तर्पण का अर्थ है—पूर्णाहन्ता के मुख में वेद्यविलास (विश्वप्रपञ्चरूप विलास या कार्यवर्ग का) निक्षेप। यह तर्पण मन्त्रोल्लेख द्वारा निर्मलीकृत है।[२]

वेद्यवर्ग के अन्तर्गत केवल प्रमेय पदार्थ ही नहीं; प्रत्युत प्रमाता भी अन्तर्भुक्त है। परमतत्त्व अशेष संकोचों से उत्तीर्ण पूर्णतम अहं है। हंसभेद में कहा भी गया है—

अहं प्राणो मनश्चाहमहंकारोऽप्यहं मतः।
अहं बुद्धिरहं शक्तिरहं स भगवान् शिवः।।
किं वा बहुप्रलापेन जगत्यस्मिंश्चराचरे।
योऽर्थः प्रमाणोपारूढः सोऽहं सर्वात्मकः स्थितः।।

शिवसूत्र में जो 'चैतन्यमात्मा' (अर्थात् चैतन्य ही आत्मा है) एवं 'उद्यमो भैरव' आदि सूत्र आये हैं, वे भी उपर्युक्त भाव का ही प्रतिपादन करते हैं। तत्त्व सर्वप्रपञ्च-परिस्फुरणाकार है। चैतन्यमात्मा का आत्मतत्त्व महास्फुरत्तास्वरूप है।[३] स्वात्मदेवता उसी चैतन्य तत्त्व का पर्याय है। यही आत्मदेवता उपर्युक्त गाथा में प्रयुक्त शब्द 'मुख' है। विश्ववर्ती समस्त विकल्प अंकुर है और इस अंकुररूप कार्यवर्ग के प्रति कला विशेष 'कारण' हैं।

शाम्भवदीपिकान्याय के अनुसार चिन्मय स्वात्मपरमेश्वर की आराधना के द्वारा उसके स्पन्द विलास से ३६ तत्त्वों से युक्त जगत् का पोषण करना चाहिये—चिन्मय-स्वात्मपरमेश्वराराधनेन तदीयस्पन्दविलासात्मषट्त्रिंशत्तत्त्वमयं जगत् पोषयेदित्यर्थः। अतः उक्त शब्द 'विक्षेप' (गाथा में प्रयुक्त शब्द) अन्तर्होमात्मक है।[४] यह विक्षेप ही तर्पण है। तर्पण मन्त्रोल्लेख द्वारा विशुद्ध किया गया है। मन्त्र क्या है? वक्ष्यमाणस्वभाव कोई परामर्शविशेष ही मन्त्र है—मन्त्रो हि वक्ष्यमाणस्वभावः कश्चित् परामर्शविशेषः। उसी उल्लेख (स्वात्मतादात्म्यानुप्रवेशलक्षणात्मक उज्ज्वलीकरण) के द्वारा संवित्स्वातंत्र्य-

---

१-४. परिमल

संस्कारात्मना निर्मल एवं समस्त पूर्ववर्ती वासनाओं के व्युदासोपरूढ़ अलौकिक अनुभावों का उत्कर्ष; अत: पूर्ण पुण्यस्वरूप या पावनता की पराकोटि ही यहाँ अभिप्रेत है। इसे भेदबुद्धि वाले पशुप्रमाता स्पर्श नहीं कर सकते—

अशक्तास्तत्पदं गन्तुं ततो निन्दां प्रकुर्वते।

श्रीत्रिंशिकाशास्त्र में इसी प्रसंग में कहा भी गया है—

शिवासंख्याभिजप्तेन तोयेनाभ्युक्षयेत् ततः।
पुष्पादिकं क्रमात् सर्वं लिङ्गं वा स्थण्डिलं च वा।।

अभिनवगुप्तपाद ने भी तन्त्रालोक में कहा है—

अर्घ्यपात्राम्बुविप्रुड्भिः स्पृष्टं सर्वं विशुद्ध्यति।
शिवार्ककरसंस्पर्शात् कान्या शुद्धिर्भविष्यति।।

तथा—

यद्यथोपनतमेव पूर्णतामादधाति हृदयङ्गमत्वतः।
तत्तथैव परमेशपूजने योग्यमन्यदिह नास्ति लक्षणम्।।

इस प्रकार ज्ञानेन्दुकौमुदीन्याय द्वारा पराहन्ता का परम प्रीणन या जीवन्मोक्ष ही साधना का तात्पर्य है—जीवन्मोक्षः इत्याम्नायत इति तात्पर्यार्थः।[१] ठीक भी है। **श्री-महानयप्रकाश** में कहा गया है—

प्रायो हि मैथुने मद्ये मांसे च परिदृश्यते।
आसक्तिः सर्वजन्तूनां विशेषात् कस्यचित् क्वचित्।।
यदि यत् त्यागसंरम्भपूर्वं तेषां विधीयते।
उपदेशो न स मनागपि चित्ते प्ररोहति।।

इस प्रकार आरम्भ करके फिर इस प्रकार अन्त किया गया है कि—

अनेनैवाशयेनात्र परब्रह्मोपलब्धये।
ललनामद्यमांसानि पूजाग्र्याणि विशेषतः।।[२]

उपर्युक्त गाथा में सपर्या के स्वरूप को इसी प्रकार समस्त शास्त्रों से निचोड़कर प्रस्तुत किया गया है—ननु प्रस्तुताया अपि सपर्यायाः स्वरूपं यथानिकृष्योक्तम्।[३]

शुद्ध कुलबिन्दुतर्पण ही परममोक्ष-प्राप्ति का पूजन-क्रम है। यही कैवल्याप्ति का मार्ग या क्रम है।

कुल = वेद्यवर्गोल्लास। चूँकि अशेष वेद्यवर्गोल्लास तत्त्वतः एवं स्वभावतः

१. महार्थमञ्जरी—परिमल
२-३. स्वोपज्ञ परिमल

भगवान् भट्टारक ही हैं; अतः कुल भी भगवत्स्वरूप है।[१]

बिन्दु = उस कुल (वेद्यवर्ग) में जो बिन्दु (परिस्फुरित शक्तिपरिस्पन्द) हैं; उनके द्वारा ही देवता का प्रीणन-व्यापार निष्पन्न किया जाता है। यहाँ साधक सर्वप्रपञ्च-परिस्फुणाकाराकारित रूप में ही अपनी सत्ता की अनुभूति करता है—

१. सर्वप्रपञ्चपरिस्फुरणाकारतया परामृश्यते।

२. सोऽहं सर्वात्मकः स्थितः। (हंसभेद)

यहाँ अन्तर्होमात्मक विक्षेप का प्रतिपादन किया गया है।

तर्पण = मन्त्रोल्लेखविशुद्धम्।

मन्त्र = परामर्शविशेष।

उल्लेख = स्वात्मतादात्म्यानुप्रवेशलक्षणमुज्जीकरणम्।

इसके द्वारा संवित्स्वातन्त्र्य संस्कारात्मना विशुद्ध (सर्वपूर्ववासना व्युदासोपरूढा लौकिकानुभावोत्कर्ष) अवस्था प्राप्त होती है। पशुगण तो इस अवस्था का स्पर्श भी नहीं कर सकते—पशुभिः स्प्रष्टुमपि न पार्यते; प्रत्युत—

अशक्तास्तत्पदं गन्तुं ततो निन्दां प्रकुर्वते।

किन्तु इसकी पवित्रता अनन्त है; क्योंकि—

यत्किलान्यदपवित्रमपि पवित्रयितुं प्रगल्भते। (परिमल)

पराहन्ता का परम प्रीणन ही जीवन्मोक्ष भी है—पराहन्तायाः परमं प्रीणनं यद-लिपिशिताङ्गनाद्युपयोगः यश्च जीवन्मोक्ष इत्याम्नायत।[२]

देवता का स्वस्वरूप

ननु प्रस्तुताया अपि सपर्यायाः स्वरूपं यथा निष्कृष्योक्तम्, एवं देवताया अपि वपुरुपपादनीयमित्याकाङ्क्षायां तत्स्वरूपमेवाभिव्यङ्क्तुमाह—

जो जस्स भावजोओ तस्स हु सोच्चेअ देवदा होइ।
तब्भावभाविआओ अहिलसिहं तह फलन्ति पडिमाओ ॥४७॥

(यो यस्य भावयोगस्तस्य खलु स एव देवता भवति।
तद्भावभाविता अभिलषितं तथा फलन्ति प्रतिमाः।।)

जिसका जो भावयोग है, वही उसका (इष्ट) देवता होता है। उसी भाव से भावापन्न होकर ध्यात विग्रह (चैतन्यमूर्ति) उपासक को यथाकांक्षित फल प्रदान करता है।।४७।।

अर्चकानां हि प्रमातृणामर्च्यभूता देवता नाम नान्या काचिदुपपद्यते। अपि तु, तेषां मध्ये यस्य यस्य स्वहृदयस्फुरत्तालक्षणो भावः, तस्य तस्य स एव

१. परिमल २. परिमल (४६)

देवता भवितुमर्हति, न पुनर्मृदुपललोहपट्टकाष्ठादिप्रतिमादिस्वभावा। यतो जडाजड-योर्जडं स्तम्भकुम्भादिं प्रत्यजडस्यैवात्मनो हानोपादानाद्यर्थक्रियाप्रयोजकत्वलक्षणं स्वातन्त्र्यमालोक्यते।

ईप्सितप्रसाधकत्वमनीप्सितनिषेधकत्वं चेत्येतावान् ननु देवतानां स्वभावः। तच्च तासां यदि स्वतो न संभवति, तत् किन्निबन्धनमिदं प्रतिमानां देवताशब्द-वाच्यत्वपट्टबन्धाभिषेकगर्वदौर्लालित्यम्।

उक्तरूपं च तत् स्वातन्त्र्यं संवित्स्वभावतां नातिक्रामति। तत्स्वभावता च—

महताममरेश! पूज्यमानोऽप्यनिशं तिष्ठति पूजकैकरूपः ।

इति श्रीमत्स्तोत्रावलीस्थित्या तेषां प्रमातृणामेव संगच्छत इति श्रीस्वात्म-प्रकाश एव देवतेत्यस्मन्निश्चय इत्यसकृदवोचाम। यदुक्तं श्रीज्ञानेन्दुकौमुद्याम्—

स्वात्मानं हि विहाय चेतनममुं किं पूजयेयुर्जडम् । इति।

यच्चोक्तं नयसङ्गतौ—

नास्ति नादात् परो मन्त्रो न देवः स्वात्मनः परः ।
नानुसन्धेः परो पूजा नहि तृप्तेः परं फलम् ।। इति।

यथ च गीतानिःष्यन्दे—

उज्झित्वात्मसमाधानं ये ध्यायन्त्यन्यदेवताः ।
भिक्षन्ते भूरिवित्तास्ते भिक्षित्वापि बुभुक्षिताः ।। इति।

अर्चकत्वरूपेणोपाधिना प्रमातृणां पृथक् पृथग् भेदप्रभाभिमन्तृत्वाद् यो यस्येत्यादिना भावानां बाहुल्योपपादनद्वारा देवतात्वमुन्मीलितम्।

यदाहुः—'यद् यद् रूपं कामयते तत् तद् देवतारूपं भवति' इति। अत एव हि—'रूपं रूपं मघवान् बोभवीति' इति बह्वृचा आचक्षते।

मुख्यया तु वृत्त्या तत्तद्भावभेदस्य प्रकाशैकात्म्यपारिशेष्यात् सर्वस्यापि प्रपञ्चस्य एक एव हृदयस्फुरणस्वभावो देवतात्वेनाराध्यः। न पुनः प्रतिमापुस्तका-दिर्जडः पदार्थ इति तात्पर्यार्थः।

अनेन भावयोग इत्यत्र योगशब्दो व्याख्यातः। योगो हि तादृशी शक्तिः। यदुक्तं श्रीशचीमते—

योगस्त्वमसि देवेशि! योगी चाहं सनातनः ।
योगेनेदं त्वया विश्वमाविष्टं शम्भुना मया ।। इति।

श्रीभगवद्गीतास्वपि—'पश्य मे योगमैश्वरम्' इति। तत् 'णमि ऊण' इत्यादि-वाक्योपक्रान्तो महाप्रकाश एव देवता, नान्यः कश्चित्।

एतत्स्वातन्त्र्यसंरम्भाधीनस्वस्फुरणविजृम्भणो जडः प्रपञ्च इत्युक्तं भवति। तथा श्रीपूर्वे—

सर्वमन्यत् परित्यज्य चित्तमत्र निवेशयेत् ।
मृद्धातुशैलरत्नादिभवं लिङ्गं न पूजयेत् ।।
अर्चयेच्चिन्मयं लिङ्गं यत्र लीनं चराचरम् ।। इति।

यथा च श्रीप्रभाकौले—

पश्य मोहस्य माहात्म्यं स्वहृदिस्थेऽपि शङ्करे ।
लिङ्गस्थण्डिलवह्न्यप्सु वीक्षयन्ति यथा शिवम् ।। इति।

अतश्च—

स्त्रीपराङ्मुखमनाः किल क्रुधा पुष्पकेतुमदहन्महेश्वरः ।
त्वं तदापि ननु तस्य सैव धीः सत्यमम्ब! सुभगाऽभिधीयसे ।।

इति श्रीकोमलवल्लीस्तवस्थित्या विश्वप्रकाशात् स्वहृदयप्रकाशस्यैवात्यन्त-श्लाघ्यत्वात् स्वात्मरूपा सौभाग्यसंविन्मय्येव देवतेत्यत्र न किञ्चिद् वैमत्यम्। यदुक्तम्—

स्वात्मैव देवता प्रोक्ता ललिता विश्वविग्रहा । इति।

एतच्चास्मत्परमगुरुकर्तृके श्रीमदृजुविमर्शिन्यादौ विमर्शनीयम्। एवं च परा-मर्शप्ररूढौ सत्यां तस्य देवतात्वेनोपपादितस्य भावस्य यो भावः स्फुरत्तापरपर्याया सत्ता, तया भाविताः स्वहृदयप्राकट्यपर्यन्तं रूषिता याः प्रतिमाः स्कन्दगणपति-वटुकाद्याकारवन्तो मृदुपलादिसन्निवेशविशेषाः, तास्तेषामर्चकानां पुत्रवित्तप्रमुखं तं तमभिवाञ्छितमर्थं प्रसुवते। यथोक्तं श्रीपूर्वे—

बहिर्लिङ्गस्य लिङ्गत्वमनेनाधिष्ठितं यतः ।
अतः प्रपूजयेदेतत् परमाद्वैतमाश्रितः ।। इति।

तथा सिद्धान्तेऽपि—

अन्तर्लिङ्गं दृढं बद्ध्वा बहिर्लिङ्गं ततोऽर्चयेत् । इति।

एतदभिप्रेत्य हि श्रीमत्स्तोत्रावल्याम्—

अन्तर्भक्तिचमत्कारचर्वणामीलितेक्षणः ।
नमो मह्यं शिवायेति पूजयन् स्यत्तृणान्यपि ।।

इत्युक्तम्। तत्र च मुख्यायाः स्वहृदयदेवतायाः सकाशादासां प्रतिमानां न किञ्चिद्वैलक्षण्यम्, येन सिद्धरसविद्धधातुन्यायादत्र तद्भावापत्तिदार्ढ्यं नोत्पद्यते।

यथा च श्रीविरूपाक्षपञ्चाशिकायाम्—

या देवता यमर्थं करोति तेनार्थिनो दृढं तस्याम्।
विधृताङ्कारस्य क्षणेन सोऽर्थः समायाति।। इति।

भावनायाश्च मुख्यवत् फलप्रदत्वमुक्तं श्रीचिद्गगनचन्द्रिकायाम्—

कल्पनापि न मृषा फलं शिवे यत् स्थितं गरुडभावनादिजम्। इति।

देवतातत्त्व और भावनायोग—जो अर्च्यभूत देवता होता है, वह उपासक से पृथक् कोई अन्य सत्ता नहीं है; प्रत्युत उपासक की भावना से भावित एक भावसत्ता है—अर्चकानां हि प्रमातृणामर्च्यभूता देवता नाम नान्या काचिदुपपद्यते अपितु तेषां मध्ये यस्य-यस्य स्वहृदयस्फुरत्तालक्षणो भावः तस्य तस्य स देवता भवितुमर्हति।[1]

उपासक के हृदय में स्वहृदयस्फुरत्तास्वरूप भाव उदित होता है। उस हृदयस्फुरत्तात्मक भावोदय का मूर्तिमान स्वरूप ही देवता है।

धातु, पाषाण, मृत्तिका, काष्ठ आदि से निर्मित प्रतिमा आदि देवता का यथार्थ स्वरूप नहीं है;[2] क्योंकि ये तो देवता के अधिष्ठान हैं, न कि अधिष्ठेय।

भावित—'लब्धं प्राप्तं वित्रं भावितमासादितं च भूतं च' (अमरकोष)। भू प्राप्तौ (चु आ. से.)। आधृषाद्वा (चु. ग. सू.) णिजन्त। क्तः (३.२.१०२) भावितं वासिते प्राप्ते (विश्वः, मेदिनी कोष)। भावितं वासिते प्राप्ते (हैम कोष)।

भुवोऽवकल्कने (चु.ग.सू.) इति ण्यन्तात् क्तः (३.२.१०२)। भू + घञ् = भावयति चिन्तयति वा ज्ञापयति पदार्थान् इति भावः। भू + णिच् + अच्। (भाव = विद्यमानता। अस्तित्व।) भावित-रूषित (स्वोपज्ञ व्याख्या—रुष् + क्त = सजा हुआ। सजाया हुआ। भावाच्छादित शृंगार किया हुआ। सुसज्जित किया हुआ—महेश्वरानन्द)।

प्रतिमा = प्रतिमानं प्रतिबिम्बं प्रतिमा, प्रतियातना प्रतिच्छाया (प्रतिकृत्य मीयते अनेन प्रतिमा)। प्रतिमा गजदन्तस्य बन्धे चानुकृतावपि (मेदिनी कोष)। प्रतिमीयतेऽनया प्रतिमा। आतश्चोपसर्गे (३.३.१०६) इत्यङ्। प्रतिकृतिर्बिम्बं यस्य सा प्रतिमा।

देवता या भगवान् का यथार्थ स्वरूप—महेश्वरानन्द का कथन है कि प्रस्तर, धातु एवं काष्ठादि से निर्मित और प्राणप्रतिष्ठित जिन प्रतिमाओं की मन्दिरों में उपासना या पूजा होती है, वे बाह्यस्वरूपात्मक पार्थिव एवं स्थूल पदार्थों से निर्मित विग्रह देवता के यथार्थ स्वरूप नहीं होते; प्रत्युत साधक के हृदय में जो भाव-प्राणित चिन्तन होते

१-२. स्वोपज्ञ परिमल

हैं, उसी की अभिव्यक्तियाँ ही देवता होते हैं।

देवता के लक्षण

(क) देवता के प्राथमिक लक्षण—

१. **विध्यात्मक लक्षण**—स्वहृदयस्फुरत्तालक्षणो भावः।

२. **निषेधात्मक लक्षण**—न पुनर्मृदुपललोहपट्टकाष्ठादिप्रतिमादिस्वभावा[१]।

(ख) देवता के अन्य लक्षण—

१. **विध्यात्मक लक्षण**—ईप्सितप्रसाधकत्वम्।

२. **अनीप्सित-निषेध**—अनीप्सितनिषेधकत्वम्[२]।

देवता का स्वभाव—ईप्सितप्रसाधकत्वमनीप्सितनिषेधकत्वं चेत्येतावान् ननु देवतानां स्वभावः।[३] उपर्युक्त 'ख' का लक्षण देवता का स्वभाव है।

यदि यह कहा जाय कि यदि ये प्रतिमादिक देवता की बाह्य रचनायें विना भावयोग के किसी को कोई भी फल देने में स्वतन्त्र नहीं हैं तो फिर उनकी आवश्यकता ही क्या है? समाधान यह है कि वे फल प्रदान करने में स्वतन्त्र तो हैं; किन्तु जिस देवता से प्रार्थना की जाती है, उसका स्वरूप हृदयपटल पर जब तक अंकित नहीं हो जाता तब तक उस प्रार्थना के साथ देवता का तादात्म्य स्थापित होता ही नहीं और इस तादात्म्य-स्थापना के लिये भावना-योग के अतिरिक्त अन्य कोई साधन ही नहीं है। देवता का स्वरूप अपनी संवित्स्वभावता का अतिक्रमण कर नहीं सकता। उसकी संवित्स्वभावता निम्नाङ्कित है—

महताममरेशः पूज्यमानोऽप्यनिशं तिष्ठसि पूजकैकरूपः।

श्रीमत्स्तोत्रावली का यह कथन सिद्ध करता है कि पूज्यमान देवता (पूजन-अर्चन के समय) प्रारम्भ से अन्त तक मात्र पूजक के भावस्वरूप में ही अवस्थित रहता है अर्थात् देवता अपने पूजक के सामने उसी रूप, धर्म, आकार, गुण, शक्ति, स्वभाव एवं चेतना के साथ (प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप में) अवतीर्ण होता है, जैसी उपासक की भावना, कल्पना आस्था, विश्वास एवं निष्ठा होती है।

(ग) देवता का यथार्थ लक्षण—महेश्वरानन्द कहते हैं कि देवता का यथार्थ लक्षण तो निम्नाङ्कित है—श्रीस्वात्मप्रकाश एव देवतेत्यस्मिन्निश्चय इति।

श्रीज्ञानेन्दुकौमुदी में भी कह गया है कि—

स्वात्मानं हि विहाय चेतनममुं किं पूजये-युर्जडम्।

१-३. परिमल

कहने का तात्पर्य यह कि प्रतिमा का जो अचेतन, पार्थिव तथा जड़ बाह्याकार दृष्टि-गोचर होता है, वह जड़त्व उपास्य नहीं है, उसकी मूर्तिगत बाह्य जड़ात्मकता उपास्य नहीं है; प्रत्युत उसके भीतर अवस्थित देवता का चैतन्य स्वरूप ही उपास्य है।

चूँकि यह आन्तरिक देवचैतन्य विना भावयोग के साक्षात्कृत हो नहीं सकता, इसीलिये ग्रन्थकार का कथन है कि—यो यस्य भावयोगस्तस्य खलु स एव देवता भवति।[१]

'स्वात्मानं हि विहाय चेतनममुं' का अभिधेयार्थ यह है कि अपनी इस चेतन आत्मा का त्याग करके क्या जड़ की पूजा की जाय (किं पूजयेयुर्जडम्)?

देवता और उपासक की आत्मा में सामरस्य—भारतीय उपासना-पद्धति का एक सिद्धान्त है—शिवो भूत्वा शिवं यजेत्। महेश्वरानन्द उपर्युक्त आर्ष वचन उद्धृत करके अपने इस सिद्धान्त को प्रतिष्ठापित करना चाहते हैं कि—

१. भले ही प्रतिमा की पूजा क्यों न की जाय; किन्तु पूजक अपने भावयोग द्वारा प्रतिमावस्थित देवता के चेतन स्वरूप को ही लक्ष्य में रखकर और उसका ज्ञानचक्षु से साक्षात्कार करते हुये पूजन करे।[२]

२. पूजक देवता को अपने से पृथक् मानकर नहीं; प्रत्युत देवता को आत्मस्वरूप मानकर और अपने को देवस्वरूप मानकर (अपने एवं देवता में सामरस्य एवं तादात्म्यभाव स्थापित करके) पूजा करे।

३. अपनी आत्मा से बढ़कर अन्य कोई देवता नहीं होता। अपने इसी सिद्धान्त की स्थापना में वे एक आर्ष उद्धरण देते हुये कहते हैं—

नास्ति नादात् परो मन्त्रो न देवः स्वात्मनः परः।
नानुसन्धेः परो पूजा न हि तृप्तेः परं फलम्।।

अर्थात्—

१. नाद से बढ़कर कोई मन्त्र नहीं है।
२. स्वात्मा से बढ़कर कोई देवता नहीं है।
३. आन्तर मन्त्रणा से बढ़कर कोई परा पूजा नहीं है।
४. तृप्ति से बढ़कर कोई फल नहीं है।

आत्मोपासना पर बल—गीतानिष्यन्द में कहा भी गया है—

उज्झित्वात्मसमाधानं ये ध्यायन्त्यन्यदेवताः।
भिक्षन्ते भूरिवित्तास्ते भिक्षित्वापि बुभुक्षिताः।।

अर्थात् जो उपासक आत्मसमाधान का त्याग करके अन्य देवताओं की उपासना

१-२. परिमल

करते हैं, वे मानों धनाढ्य होते हुये भी भिक्षा-याचना कर रहे हैं और भिक्षा माँगकर भी भूखे के भूखे ही हैं।

देवोपासना में उपासक के भावों का प्रामुख्य—'यो यस्य भावयोगः' वाक्य की व्याख्या करता हुआ ग्रन्थकार कहता है कि जिस-जिस के जो-जो भाव हैं—इस कथन के द्वारा यह संकेतित किया गया है कि उपासकों की भेदप्रथात्मक अहन्ता के कारण उपासना के प्रयोजनों में भी वैभिन्न्य है।

इसीलिये यह कहा गया कि भिन्न-भिन्न उपासकों की जो अपनी भिन्न-भिन्न अभिलाषायें हैं, उन सभी अभिलाषाओं की पूर्ति देवता द्वारा की जाती है और उसी प्रयोजन एवं भाव द्वारा तद्भावभावित उन्मीलित होता है—यो यस्येत्यादिना भावानां बाहुल्योपपादनद्वारा देवतात्वमुन्मीलितम्[१]।

कहा भी कहा गया है कि—

१. यद् यद् रूपं कामयते तद् तद् देवतारूपं भवति।

२. रूपं रूपं मघवान् बोभवीति।

महेश्वरानन्द कहते हैं कि यदि अज्ञानमूलक व्यष्टि दृष्टि का त्याग करके समष्टिदृष्टि से और मुख्य वृत्ति के आलोक में चिन्तन करें तो यह समस्त भावभेद प्रकाशैकात्म्य प्राप्त कर लेने पर समस्त विश्व के समस्त प्राणियों के हृदय में एक ही हृदय-स्फुरण उदित हो जाता है और देवता उसी एकात्मक एवं अद्वैत हृदयस्फुरणस्वभाव वाला है—तद्भावभेदस्य प्रकाशैकात्म्यपारिशेष्यात् सर्वस्यापि प्रपञ्चस्य एक एव हृदयस्फुरणस्वभावो देवता देवतात्वेनाराध्यः।

इसी एकात्मक हृदयस्फुरणस्वभाव की देवता के रूप में आराधना की जानी चाहिये—एक एव हृदयस्फुरणस्वभावो देवतात्वेनाराध्यः।

निष्कर्ष यह कि देवता उपासक से पृथक् कोई अन्य सत्ता नहीं है; प्रत्युत उपासक के हृदय में उदित भावस्फुरण का रूपायन है।

महेश्वरानन्द बार-बार जोर देकर कहते हैं कि देवता, प्रतिमा, पुस्तक आदि जड़ पदार्थ एवं उसमें आकारित कोई रूप-विन्यास नहीं है—न तु प्रतिमापुस्तकादिर्जडः पदार्थ इति तात्पर्यार्थः।

योग का स्वरूप—ग्रन्थकार 'यो यस्य भावयोगः' वाक्य में प्रयुक्त 'भाव' शब्द की व्याख्या करने के उपरान्त आगे 'योग' शब्द की व्याख्या करता हुआ कहता है कि—

१. योगो ही तादृशी शक्तिः (योग उसी प्रकार की शक्ति है)।

२. शचीमत ने योग की व्याख्या करते हुये कहा गया है कि—

---

१. परिमल

योगस्त्वमसि देवेशि! योगी चाहं सनातनः।
योगेनेदं त्वया विश्वमाविष्टं शम्भुना मया।।

विश्व : परमात्मा का योगैश्वर्य—स्वयं भगवती आद्या शक्ति ही योग है। भगवान् ही योगी हैं। भगवान् एवं आद्याशक्ति के योगीत्व एवं योग से समस्त विश्व आविष्ट है।

सारांश यह कि महेश्वरानन्द की दृष्टि में समस्त जगत् परमात्मा का योगैश्वर्य-मात्र है। इसीलिये महेश्वरानन्द अपने पक्ष की पुष्टि में श्रीकृष्ण के इस वाक्य को उद्धृत करते हैं—पश्य मे योगमैश्वरम्।

महाप्रकाश ही देवता—महेश्वरानन्द के अनुसार 'महाप्रकाश (शिव) ही देवता है—महाप्रकाश एव देवता नान्यः कश्चित्।[१] जगत् तो स्वातन्त्र्यसंरम्भाधीनस्वस्फुरण-विजृंभणमात्र है।[२] श्रीपूर्वशास्त्र में भी कहा गया है—

सर्वमन्यत् परित्यज्य चित्तमत्र निवेशयेत्।
मृद्धातुशैलरत्नादिभवं लिङ्गं न पूजयेत्।
अर्चयेच्चिन्मयं लिङ्गं यत्र लीनं चराचरम्।।[३]

अर्थात् अन्य सभी का परित्याग करके मात्र यहीं चित्त को निविष्ट करना चाहिये। मृत्तिका, धातु, पर्वत एवं रत्न आदि से उत्पन्न लिंगों की पूजा नहीं करनी चाहिये। जहाँ समस्त जड़-चेतन विश्व लयीभूत हो जाता है, उसी चिन्मय लिंग की अर्चना की जानी चाहिये। प्रभाकौल में भी कहा गया है—

पश्य मोहस्य माहात्म्यं स्वहृदिस्थेऽपि शंकरे।
लिङ्गस्थण्डिलवह्न्यप्सु वीक्षयन्ति यथा शिवम्।।

और यह भी कहा गया है कि—

स्त्रीपराङ्मुखमनाः किल क्रुधा पुष्पकेतुमदहन्महेश्वरः।
त्वं तदापि ननु तस्य सैव धीः सत्यमम्ब! सुभगाऽभिधीयसे।।

स्वात्मारूप संवित् तत्त्व ही देवता—उपर्युक्त श्रीकोमलवल्लीस्तव के आर्ष वचन का निष्कर्ष यही है कि—स्वात्मारूप संवित् तत्त्व ही देवता है।[४]

विश्वप्रकाशात् स्वहृदयप्रकाशस्यैवात्यन्तश्लाघ्यत्वात् स्वात्मरूपा सौभाग्यसंविन्मय्येव देवतेत्यत्र न किञ्चिद् वैमत्यम्।

इसीलिये कहा गया है कि 'स्वात्मैव देवता प्रोक्ता ललिता विश्वविग्रहा' अर्थात् विश्वमूर्ति भगवती ललितास्वरूपा अपनी आत्मा ही देवतातत्त्व है।

महेश्वरानन्द कहते हैं कि उपर्युक्त उपासक उपास्य-सामरस्य के परामर्श के दृढ़

१-४. परिमल

हो जाने पर उस उपास्य को देवता के रूप में भावित करने सम्बन्धी जो (उपासक के) हृदय में भावोदय या स्फुरत्ता है, उसी के आकार में आकारित स्कन्द, गणपति, वटुकभैरव आदि की जो प्रतिमायें होती हैं, वे उपासक के हृदय का प्रकटीकरणमात्र हैं—एवं च परामर्शप्ररूढौ सत्यां तस्य देवतात्वेनोपपादितस्य भावस्य यो भाव: स्फुरत्ता-परपर्याया सत्ता तया भाविता: स्वहृदयप्राकट्यम्।[१]

इन अर्चकों द्वारा पुत्र, वित्त आदि की प्राप्ति की जो प्रार्थनायें की जाती हैं, उन्हें देवता प्रदान कर देते हैं।[२]

श्रीपूर्वशास्त्रकार की दृष्टि—समस्त अभीष्टों की प्राप्ति होने पर भी उपासकों को चाहिये कि वे ऐहिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिये नहीं; प्रत्युत परमाद्वैत के प्राप्त्यर्थ साधना करें और द्वैतप्रथा के स्थान पर अद्वैत भाव में अवस्थित होकर उपासना करें—

बहिर्लिङ्गस्य लिङ्गत्वमनेनाधिष्ठितं यत:।
अत: प्रपूजयेदेतत् परमाद्वैतमाश्रित:।।[३]

सिद्धान्त में भी कहा गया है—

अन्तर्लिङ्गं दृढं बद्ध्वा बहिर्लिङ्गं ततोऽर्चयेत्।

इसी अभिप्राय से **स्तोत्रावली** में कहा गया है—

अन्तर्भक्तिचमत्कारचर्वणामीलितेक्षण: ।
नमो मह्यं शिवायेति पूजयन् स्यात् तृणान्यपि।।

देवता एवं प्रतिमा में ऐकात्म्य—उपासक के हृदय में उदित देवस्वरूप एवं प्रतिमा में तादात्म्य भाव की पुष्टि करते हुये महेश्वरानन्द कहते हैं—मुख्याया: स्वहृदय-देवताया: सकाशादासां प्रतिमानां न किंचिद्वैलक्षण्यम्।

श्रीविरूपाक्षपञ्चाशिका में कहा गया है—

या देवता यमर्थं करोति तेनार्थिनो दृढं तस्याम्।
विधृताहंकारस्य क्षणेन सोऽर्थ: समायाति।।

चिद्गगनकारिका में भी उपासकों के द्वारा प्रार्थित फलों की प्राप्ति का मुख्योपाय भावना को बताया गया है—

कल्पनापि न मृषा फलं शिवे यत् स्थितं गरुड-भावनादिजम्।।

इसीलिये महेश्वरानन्द कहते हैं—'भावनायाश्च मुख्यवत् फलप्रदत्वमुक्तम्'[४]।

सारांश—उपासक के हृदयस्थ भावानुरूप ही उसके देवता का भी स्वरूप होता

१-४. परिमल

है। भाव का अर्थ है—स्वहृदयोदित भाव (अपने हृदय में प्रस्फुटित भावना)।

अनात्मभूत जड़ पदार्थ (मृत्तिका, उपल, लोहपट्ट, काष्ठा आदि) से निर्मित विग्रह आदि में भावों का प्रस्फुटन स्वत: नहीं हुआ करता; प्रत्युत उनमें भावों के प्रस्फुटन के रूप में अपना चैतन्य ही संचरित होकर और जीवात्मा के भाव का अधिग्राहक होकर इष्ट फल प्रदान करता है। प्रतिमोपासना का उद्देश्य यही है। स्वात्मदेवता की ही उपासना करनी चाहिये। भगवती ललिता ही स्वात्म देवता हैं। स्वात्मचैतन्य ही विश्व के विविधाकारों में रूपायित है। जिसकी जैसी भावना होती है, उसी के अनुरूप उसे शाश्वतिक चैतन्य सत्ता में समावेश प्राप्त होता है। उपासक के हृदय में प्रस्फुटित भाव ही देवता का यथार्थ स्वरूप है।

गन्धर्वतन्त्र में कहा गया है कि देवता अपने से भिन्न किसी उपास्य परा सत्ता का अभिधान नहीं है; प्रत्युत वह उपासक से अभिन्न उसकी स्वयं की आत्मा है; अत: देवता की पूजा देवता बनकर ही करनी चाहिये, दास बनकर नहीं—

देव एव यजेद् देवं नादेवो देवमर्चयेत्।
न देव: पूजयेद् देवं न पूजाफलभाग् भवेत्।।

वाशिष्ठ रामायण भो इसी सिद्धान्त की पुष्टि करता है—

अविष्णु: पूजयेद्विष्णुं न पूजाफलभाग् भवेत्।
विष्णुर्भूत्वाऽर्चयेद् विष्णुं महाविष्णुरिति स्मृत:।।

अन्यत्र भी कहा गया है—

नाविष्णु: कीर्तयेद् विष्णुं नाविष्णुर्विष्णुमर्चयेत्।
नाविष्णु: संस्मरेद् विष्णुं नाविष्णुर्विष्णुमाप्नुयात्।।[१]

भविष्यपुराण में भी कहा गया है कि—

नारुद्र: संस्मरेद्रुद्रं नारुद्रो रुद्रमाप्नुयात्।
नादेवी कीर्तयेद् देवीं नादेवी तां समर्चयेत्।।

तादात्म्यभावापन्न पूजा का फल—इस प्रकार की दिव्य पूजा का फल इस प्रकार प्राप्त है—

रुद्रस्य पूजनाद्रुद्रो विष्णु: स्याद् विष्णुपूजनात्।
सूर्य: स्यात् सूर्यपूजनाच्छक्त्यादि: शक्तिपूजनात्।
येनैव न्यासमात्रेण देववज्जायते नर:।।[२]

---

१. भारत

२. अग्निपुराण

देवता की उत्पत्ति—यामल में देवता की उत्पत्ति बीज से बताई गई है। बीजात्मक मन्त्र के जप से उपासक के ब्रह्म हो जाने का प्रतिपादन किया गया है—

देवतायाः शरीरं तु बीजाद्युत्पद्यते ध्रुवम्।
तत्तद्बीजात्मकं मन्त्रं जप्त्वा ब्रह्ममयो भवेत्।।

श्रीक्रम में भी इसी सिद्धान्त की पुष्टि की गई है और साथ ही यह भी कहा गया है कि भगवती आद्या शक्ति को अपनी आत्मा ही मानना चाहिये। वही देवता है और वही उपासक की आत्मा भी है—

आत्मानं चिन्तयेद् देवीं शक्तिमाद्यास्वरूपिणीम्।
मनसा वचसा चैव कायिकेन च चिन्तयेत्।।
ध्यायेच्च परमेशानि यथोक्तं ध्यानयोगतः।
देव्यात्मकं स्वमात्मानं भावयेद् यतमानसः।।[१]

आचार्य भास्करराय की दृष्टि—महेश्वरानन्द ने तो इतना ही मात्र कहा कि देवता एवं स्वात्मा में अभेद है; किन्तु आचार्य भास्कर की दृष्टि और अधिक व्यापक है—

१. कौलिकार्थ—देवता, मन्त्र, चक्र, स्वगुरु एवं उपासक सभी मूलतः अभिन्न हैं—

इत्थं माता विद्या चक्रं स्वगुरुः स्वयं चेति।
पञ्चानामपि भेदाभावो मन्त्रस्य कौलिकार्थोऽयम्।।[२]

२. रहस्यार्थ—

साक्षाद्विद्यैवैषा न ततो भिन्ना जगन्माता।
अस्याः स्वाभिन्नत्वं श्रीविद्याया रहस्यार्थः।। (२.१०७)

३. मन्त्र, देवता गणेश, ग्रह, नक्षत्र, योगिनी एवं राशि आदि सभी में ऐकात्म्य है—

देव्या रूपान्तरत्वेन विद्यायास्तदभेदतः।
गणेशग्रहनक्षत्रयोगिनीराशिपीठता ।।[३]

४. अभेद की भावना की दृढ़ता के कारण गुरु, देवता, विद्या, चक्र एवं गणेश तद्रूप हैं; सभी में ऐकात्म्य है—

एतत्त्रितयाभिन्नः स्वगुरुस्तदभेदभावनादार्ढ्यात्।
तेन गणेशादिमयस्तद्द्वयथा च स्वयं तथारूपः।।[४]

---

१. शाक्तानन्दतरङ्गिणी (१-३९)
२. वरिवस्यारहस्याम् (२.१०२)
३. वरिवस्यारहस्यम् (२.९१)
४. वरिवस्यारहस्यम् (२.१०१)

१. गुरु-जीवात्मा-प्राण-मन-देवता का ध्यान-मन्त्र-वाक्-नाद-हृदय की स्फुरत्ता (भाव-तत्त्व) की एकता
२. सर्व-सामरस्य→ देवोदय— देव-साक्षा-त्कार
देवता तत्त्व
देवता का उदय (देवता में सभी का लय→देवता का उदय)
लय
जीव-प्राण-मन-नाद-शुक्र-बिन्दु-मन्त्र-वाक्तत्त्व एवं गुरुतत्त्व में सामरस्य से सभी का एक बिन्दु में लय → देवता का उदय
साधक
(आत्मा)
प्राणतत्त्व
मनस्तत्त्व
वाक्तत्त्व
बिन्दुतत्त्व
ध्यान
गुरु
देवता
(सर्वलयात्मक देवता तत्त्व)
गुरु तत्त्व
शुक्र/बिन्दु तत्त्व
देवता का ध्यान
प्राण तत्त्व
मन्त्र तत्त्व
नाद
वाक्तत्त्व
(साधक) जीवात्मा
मनस्तत्त्व
हृदय की स्फुरत्ता
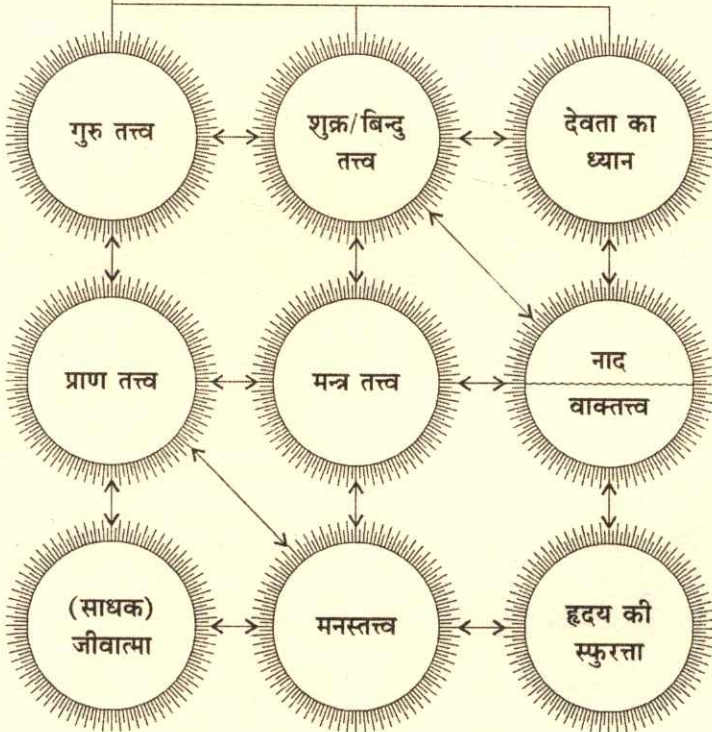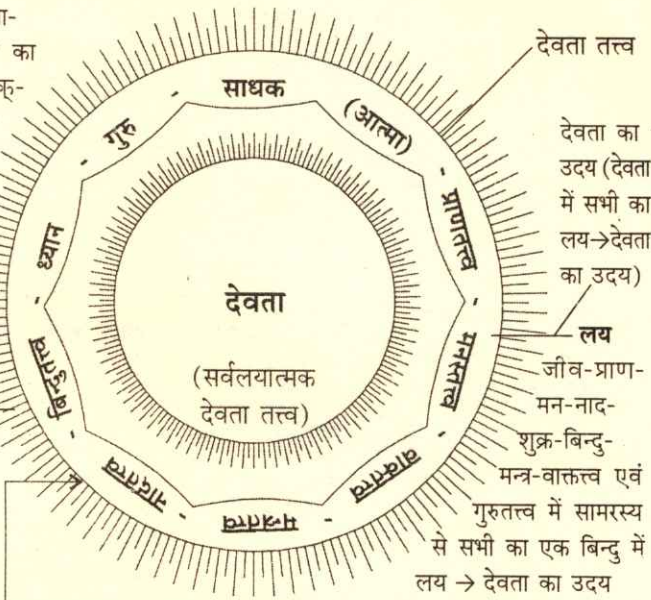
मन्त्र और देवता का तादात्म्य
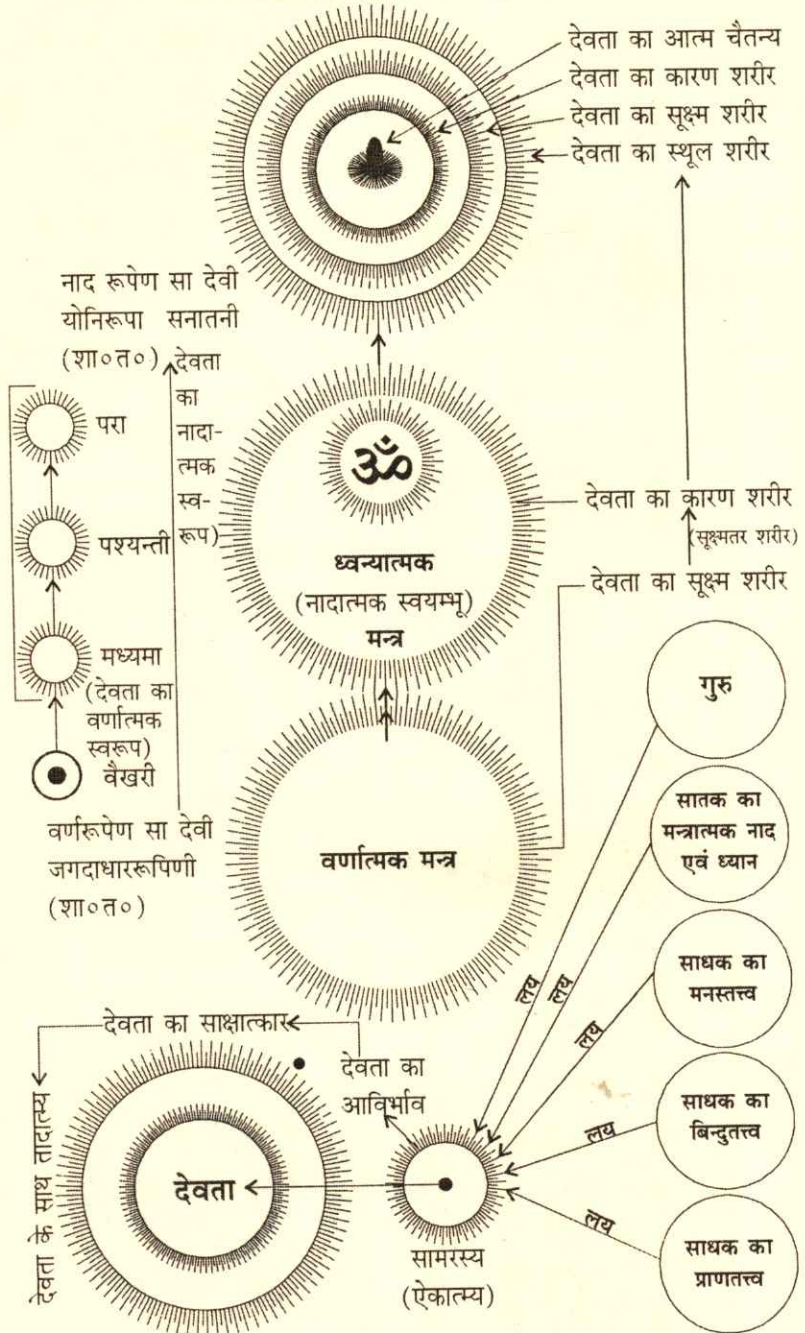
देवता का आविर्भाव—

देवतायाः शरीरं तु बीजाद्युत्पद्यते ध्रुवम्।

बौद्ध मत—बीज से ही देवता की उत्पत्ति होती है।

• प्राण-साधना—बिन्दु-साधना-मनस्तत्त्व की साधना-ध्यान की साधना, नाद की साधना, गुरु एवं देवता में ऐकात्म्य की साधना → देवता का आविर्भाव।

देवताविषयक बौद्ध मत—बौद्ध अनात्मवादी एवं अनीश्वरवादी हैं। वे 'आत्माध्वंसो हि मोक्षः' के सिद्धान्त में विश्वास रखते हुये भी देवमण्डल में विश्वास रखते हैं। उनकी दृष्टि में बीजमन्त्रों से ही देवताओं का आविर्भाव होता है। उनके मन्त्र भी हैं—

		एकाक्षर मन्त्र
१. बुद्ध का मन्त्र	= ॐ मुनि मुनि महामुनये स्वाहा	— मुं
२. अवलोकितेश्वर का मन्त्र	= ॐ मणिपद्मे हूं	— ह्रीः
३. मंजुश्री का मन्त्र	= ॐ वागीश्वरी मुं	— धीः
४. वज्रपाणि का मन्त्र	= ॐ वज्रपाणि हूं	— हूं
५. आर्या तारा का मन्त्र	= ॐ तारे तुत्तारे तुरे स्वाहा	— तं

बुद्ध एवं भावित देव-समुदाय पर ध्यान करने से ध्यान के समय बुद्ध एवं देव-मण्डल का चित्र आँखों के सामने आ जाने पर प्रत्येक देवप्रतिमा के केन्द्र में एक प्रकाश-चक्र की भावना की जाती है। उस चक्र में प्रत्येक देवता के बीजमन्त्र (देवता के प्रतीक) की ध्वनि उठेगी। यथा—

१. बुद्ध की प्रतिमा से	— मुं
२. अवलोकितेश्वर की प्रतिमा से	— ह्रीः
३. मंजुश्री की प्रतिमा से	— धीः
४. वज्रपाणि की प्रतिमा से	— हूं
५. आर्या तारा की प्रतिमा से	— तं

बौद्धों की दृष्टि में व्यक्तिगत चेतना से अभिन्न शून्य तत्त्व का रूपान्तरण ही देवता है।

१. अवलोकितेश्वर का लय—प्रकाश एवं बुद्ध के मस्तिष्क में लयीभूत होते है।

२. मंजुश्री प्रकाश में लय होकर बुद्ध के कण्ठ में लयीभूत हो जाती है।

३. वज्रपाणि प्रकाश में लय होकर बुद्ध के वक्ष में लयीभूत हो जाते हैं।

४. भगवती तारा प्रकाश में लय होकर बुद्ध की नाभि में लयीभूत हो जाती हैं।

५. बुद्ध के दोनों शिष्य—सारिपुत्र एवं मौद्गल्यायन बुद्ध के दोनों पार्श्वों में लयीभूत हो जाते हैं।

लयक्रम—बुद्ध का प्रभावरता में विलय, बौद्ध प्रतिमा का अदृश्यीकरण—बौद्ध हृदय में प्रकाशमान चक्रमात्र का शेष रह जाना—प्रकाश चक्र का मन्त्र में लय हो जाना—

मन्त्र का बीजाक्षर में लय हो जाना—बीजाक्षर का बिन्दु में लय हो जाना—बिन्दु का आकार-हीन प्रभामात्र शेष रह जाना।

बुद्ध को चार बोधिसत्वों (देवताओं) से घिरा हुआ मानकर ध्यान किया जाता है। ये बोधिसत्व निम्नांकित हैं—

१. अवलोकितेश्वर ३. वज्रपाणि
२. मंजुश्री ४. तारा

शिष्य सारिपुत्र एवं मौद्गल्यायन भी उनके दोनों पार्श्व में खड़े रूप में ध्यान में लाये जाते हैं।

मन्त्र के बीजाक्षरों से देवताओं का आविर्भाव—देवताओं के बीजाक्षर में देवी-देवताओं की भावना की जाती है। यथा—मुं (स्वर्णिम)। ह्री: (श्वेत)। धी: (पीत)। हूं (नील) एवं तं (हरित)। चित्त की एकाग्रता बाह्योपादान, मन्त्र, बीजाक्षर, शक्तिकेन्द्र एवं बुद्धादि की प्रतिमा पर किया जा सकता है। अनुत्तर योगतन्त्र में इसका विस्तृत विवेचन किया गया है। स्वयं अपने चित्त पर या श्वास पर (विपश्यना, आनापानसति) भी ध्यान केन्द्रित किया जाता है। शून्यता पर भी चित्त एकाग्र किया जाता है। ध्यान-साधनार्थ देवमण्डल एवं दो शिष्यों से घिरे बुद्ध पर भी ध्यान किया जाता है। ध्यानार्थ देवयोग को भी प्रयुक्त किया जाता है।

बीजाक्षरों का जप करते रहने पर इनसे देवता का उदय होता है। साधक सर्वप्रथम बीजमन्त्रों का जप करता है और साथ ही साथ किसी देवता का (बौद्ध तन्त्रों में विवेचित) वाहन, शक्ति, अस्त्र, वर्ण आदि के साथ देवता के स्वरूप पर ध्यान केन्द्रित किया जाता है। इस कल्पित रूप के साथ तादात्म्य प्राप्त कर लेने पर बीजमन्त्र से देवता की मूर्ति और मूर्ति से देवता का बाह्य रूप उदित हो जाता है। यही देवतातत्त्व है। द्वितीय रूप कल्पित नहीं है; प्रत्युत साधक की चेतना का ही स्वरूप है। देवोत्पत्ति का क्रम है—बीजमन्त्र → देवमूर्ति → देवता का बाह्य शरीर।

बौद्ध कालचक्रयान और देवमण्डल

ध्यान का नाम	मन्त्र	कुल, शक्ति	देवता
ज्ञानप्रदीप वज्र	वज्रधृक	द्वेष, द्वेषरति	बोधिचित्त वज्र (भगवान् या आदिसत्ता। हिन्दु के परमशिव या परब्रह्म)।
समयसम्भव वज्र	जिनजित	महो, मोहरति	वैरोचन
रत्नसम्भव वज्र	रत्नधृक	चिन्तामणि, ईर्ष्यारति	रत्नकेतु
महारागसम्भव वज्र	आरोलिक	वज्रराग, रागरति	अमिताभ
अमोघसमयसम्भव वज्र	प्रज्ञाधृक	समयाकर्षण वज्ररति	अमोघ वज्र (गुह्यसमाज)

भगवान् के द्वारा अभिव्यक्त देवियाँ → लोचना, मामकी, तारा, पाण्ड्रा, आर्यतारा आदि। भगवान् तथागत द्वारा अपने को चार प्रहरियों के रूप में रूपान्तरित किया गया, जो निम्न है—

पूर्व दिशा	**दक्षिण दिशा**	**पश्चिम दिशा**	**उत्तर दिशा**
प्रहरी-यमनान्तक	प्रज्ञान्तक	पद्मान्तक	विघ्नान्तक
मन्त्र-यमनान्तकृत	प्रज्ञान्तकृत	पद्मान्तकृत	विघ्नान्तकृत

प्रहरी + मन्त्र + कुल + देवता + शक्ति + ध्यान—इनके योग से → समाधि। पञ्च-ध्यानी बुद्ध एक ही सत्ता के पञ्चस्वरूप हैं।[1]

आदि बुद्ध और देवमण्डल—आदि बुद्ध अनादि तत्त्व हैं। सर्वातीत, सर्वव्याप्त शून्यत्व ही आदिबुद्धतत्त्व है। ये काल हैं और इनकी शक्ति संविद्रूपिणी है। यह कालचक्र है। आदि बुद्ध अपने को पञ्चध्यानी बुद्धों के रूप में व्यक्त करते हैं—

स्कन्धों के अधिष्ठाता आदि बुद्ध (वज्रसत्व : छठवें बुद्ध)
↓
ध्यानी बुद्ध (इन्हीं के मानवी रूप : बोधिसत्व)

स्कन्ध	रूपस्कन्ध ↓	वेदनास्कन्ध ↓	संज्ञास्कन्ध ↓	संस्कारस्कन्ध ↓	विज्ञान ↓
ध्यानी बुद्ध	वैरोचन	रत्नसम्भव	अमिताभ	अमोघसिद्धि	अक्षोभ

ध्यानी बुद्ध → बोधिसत्त्वों की सृष्टि।

प्रत्येक ध्यानी बुद्ध एवं बोधिसत्व अनेक देवताओं को जन्म देते हैं। प्रत्येक ध्यानी बुद्ध एवं बोधिसत्व एक देवकुल का जन्मदाता है। समस्त देवी-देवता किसी न किसी कुल से सम्बद्ध हैं।

देवों के कुल—

१. वैरोचन कुल
२. अक्षोभ कुल
३. रत्नसंभव कुल
४. अमिताभ कुल
५. अमोघसिद्धि कुल
६. वज्रसत्व कुल
७. बोधिसत्व कुल

पञ्चरक्षामण्डल

महासहस्रप्रमर्दिनी | महामन्त्रानुसारिणी | महामायूरी | महासितवती आदि

गणपति, विघ्नान्तक, वज्रहुंकार, भूतडामर, परमाश्व, नामसंगीति, त्रैलोक्यविजय आदि देवता। सरस्वती, महासरस्वती, वज्रशारदा, वज्रवीणासरस्वती, आर्यसरस्वती,

१. तथागत गुह्यक

वज्रसरस्वती, अपराजिता, वज्रगांधारी, वज्रयोगिनी, गृहमातृका, गणपतिहृदया आदि देवियाँ भी हैं।

जैन-परम्परा में भी देवमण्डल स्वीकृत है। उसमें सरस्वती, अम्बिका, कुबेरा, पद्मावती, सिद्धायिका, इन्द्राणी, त्रिधिप्रभा, अक्षुप्ता, चक्रेश्वरी मन्त्रों से सम्बद्ध देवियाँ हैं। जैन मुख्यत: मन्त्रयोगी एवं ध्यानयोगी थे। सरस्वतीकल्प का एक मन्त्र देखें— ॐ ह्रीं क्रौं क्लीं जंभे मोहे अमुकं वशं कुरु कुरु वषट् ॐ ओं क्रीं ह्रीं अम्बे अंम्बाले अम्बिके यक्षिदेवि यम्लवर्य्ब्लें ह्सीब्लें ह्सौं र र र र रां नित्यक्लिन्ने मदद्रवे मदनातुरे अमुकं आकर्षय आकर्षय घे घे सं वौषट्।

जगच्चित्र और देवत्वबुद्धि

अथैवमुद्भावितस्य देवतावपुर्निष्कर्षस्य प्रतिपत्तृजनप्रतीतिसौकर्याय दृष्टान्तं कमप्युपदर्शयितुमाह—

चित्तं ण लिहइ चित्तं चित्तअरो उवह लिहइ तं चित्तं।
ता भणह कुत्थ जोग्गा काउं दोण्णं वि देवदाबुद्धी ॥४८॥

(चित्रं न लिखति चित्रं चित्रकर: पश्यत लिखति तच्चित्रम्।
तद् भणत कुत्र योग्या कर्तुं द्वयोरपि देवताबुद्धि:।।)

चित्रकार चित्रों का निर्माण नहीं करता; प्रत्युत वह निर्मित चित्र को (विश्वात्मक चित्र को) देखकर उसे चित्रित (अनुकृति के रूप में चित्रित) करता है। तब बताओ कि दोनों में (जड़ और चेतन में सामान्य रूप से) देवबुद्धि (चैतन्य) कहाँ प्रतिष्ठित की जा सकती है?।।४८।।

जडमजडं वा वस्तु देवतेति सन्दिहानो जन एवं प्रतिबोधयितव्य:, यदुत आलेख्यार्पितवपुषं पुरुषमहिलाप्रभृतिमचेतनं भावं प्रति तज्जातीयस्यान्यस्य न कस्यचिदपि तादृग्विलेखनक्रियायां सामर्थ्यमालोक्यते। प्रत्युत तद्विजातीयस्य तच्छिल्पनिर्माणकौशलोत्कर्षशालिनश्चेतनस्यैव तत् संभवतीत्यविप्रतिपन्नेयं प्रक्रिया। उक्तमर्थं हृदयङ्गमीकर्तुं पश्यतेत्युक्तम्। चेतनाचेतनयो: सामर्थ्यमसामर्थ्यं च स्पष्टतया प्रख्यापयितुं तद्वृत्तादिपरामर्शव्यतिरेकेण पुन: पुनश्चित्रशब्दप्रयोग:। तस्मादिति। यतोऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां चेतनस्यैवोक्तक्रियाकर्तृत्वं न पुनस्तद्व्यतिरिक्तस्य कस्यचित्। ततो हेतो:। भणत परामृशत, तयोश्चित्रस्य चित्रकरस्य चोभयोर्मध्ये कतरस्मिन्नर्थे देवतेति प्रत्येतुमुचितमिति। शिशवोऽप्येनमंशमसंशयमवबुध्यन्ते यच्चित्रादे: कार्यप्रपञ्चाच्चित्रकृदादिषु कर्तृषु 'स्वतन्त्र: कर्ता' इति नीत्या स्वातन्त्र्यलक्षण: कश्चिदुत्कर्षोऽस्तीति। अस्यार्थस्यात्यन्तस्पष्टतया निश्चितस्यापि पक्षस्य निष्कर्षेणानुपन्यास:। एतेन चेतनस्यैव मुख्यया वृत्त्या

देवतात्वम्, चेत्यानां तु तदावेशास्पदतया तदुपचारेणेत्युक्तं भवति। अत एव तान्यन्या देवता इत्युच्यन्ते। यदुक्तं श्रीगीतासु—

येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयाऽन्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय! यजन्त्यविधिपूर्वकम् ।। इति।

देवतात्वेन प्रसाध्यमानं परमेश्वरं प्रति विश्ववैचित्र्यस्य चित्रप्रायतया चित्रपदेनैवार्थोपपादनम्। यथोक्तं श्रीप्रत्यभिज्ञायाम्—

विश्ववैचित्र्यचित्रस्य समभित्तितलोपमे । इति।।

यथा चोक्तं पदसंगतौ—

चिदाकाशमये स्वाङ्गे विश्वालेख्यविधायिने ।
सर्वाद्भुतोद्भवभुवे नमो विषमचक्षुषे ।। इति।

तथा चाभियुक्तोक्तिः—

जगच्चित्रं समालिख्य स्वात्मतूलिकयात्मनि ।
स्वयमेव तदालोक्य प्रीणाति परमेश्वरः ।। इति।

चित्रं न लिखति चित्रमित्याद्युक्तया भङ्ग्या प्रमेयपदव्यामिव चित्तमन्तःकरणं न लिखति, चित्रमुक्तरूपं चित्तमन्तःकरणान्तरं वेति प्रमाणपथाऽनुगुण्येनाप्यवगन्तव्यम्। अथ च चित् चेतनः। तस्य भावश्चित्त्वं चैतन्यम्। तच्चित्त्वं चित्रं प्रमेयरूपं चित्तम्, प्रमाणात्मकं चित्त्वं वा सजातीयं ज्ञप्तिस्वभावमर्थान्तरं न लिखति नोन्मीलयतीत्यादिप्रमारूपधर्मकक्ष्यानुकूलोऽर्थः। इत्थमर्थत्रयेऽप्यवेक्ष्यमाणे सर्वथा चेतनस्यैव श्लाघ्यत्वकाष्ठाप्राप्तिरित्याश्चर्यचमत्कारानुभूत्यर्थतयापि पार्यन्तिकश्चित्रशब्दोऽनुसन्धेयः, तदभिधेयस्य सर्वनाम्नैवोक्तत्वात्। लिखतिश्चोत्पादन इवोपसंहारेऽप्यस्ति, पार्थिवं लोहलेख्यमित्यादिवत्। तदनुगुणोऽप्यर्थस्त्रिविधमवतार्यः। त्रैविध्यं च तदालेख्यान्तःकरणसंवित्त्वपर्यायाणां चत्रचित्तचित्त्वानां तन्त्रेणोच्चारणादिति।।४८।।

विश्वरूप चित्र का प्रथम चित्रकार तो परमात्मा है और विश्व परमात्मा-प्रणीत चित्र है। अत: मानव चित्र नहीं निर्मित करता; प्रत्युत चित्रकार (परमात्मा के) चित्र (प्रकृति एवं विश्व) की अनृकृति-मात्र करता है। जगत् परमात्मा की प्रतिकृति है। इसमें परमेश्वर ही विभासित हो रहा है।

मानव चित्रकार परमात्मप्रणीत चित्र को देखकर जड़-चेतन को (चित्र में) चित्रित करता है। जड़-अजड़ दोनों में समान रूप से देवत्व बुद्धि (चैतन्य) प्रतिष्ठित हो पाना किस प्रकार सम्भव है?

विश्ववैचित्र्य को चित्र के रूप में बार-बार प्रस्तुत किया गया है; यथा—

१. विश्ववैचित्र्यचित्रस्य समभित्तितलोपमे।[1]

२. चिदाकाशमये स्वाङ्गे विश्वालेख्यविधायिने।
सर्वाद्भुतोद्भभुवे नमो विषमचक्षुषे।।

३. जगच्चित्रं समालिख्य स्वात्मतूलिकयात्मनि।
स्वयमेव तदालोक्य प्रीणाति परमेश्वरः।।

देवताबुद्धि—देवत्व बुद्धि का यथार्थतम अधिष्ठान या आस्पद क्या है?

स्वात्मैव देवता तत्र ललिता विश्वविग्रहा।

जगत् एक चित्र है; आगमिकों ने जगत् को चित्र के रूप में भी चित्रित किया है—

चिदाकाशमये स्वाङ्गे विश्वालेख्यविधायिने
सर्वाद्भुतोद्भवभुवे नमो विषमचक्षुषे।।
जगच्चित्रं .... परमेश्वरः।।

विश्वरूप चित्र का प्रथम चित्रकार तो परमात्मा है। विश्व परमात्मचित्रित चित्र है। विश्व के मूल चित्र की अनुकृति ही चित्रकारों का चित्र है।

देवत्वबुद्धि (देवताबुद्धि) ही देवत्व प्रकाशित करती है। परमात्मा को छोड़कर अन्य किसी की भी सत्ता में देवत्वाधान अनुचित है। उनमें देवत्व बुद्धि होने पर भी उनकी की गई पूजा भगवान् को ही प्राप्त होती है—

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय! यजन्त्यविधिपूर्वकम्।। (गीता-९.२३)

मन्त्र के लक्षण एवं उनका यथार्थ स्वरूप

ननु यदि स्वात्मैव देवतेति निर्बन्धः, तत् किमस्य मन्त्रतन्त्रादिना प्रपञ्चेनोपक्रियते। स खलु स्वव्यतिरिक्तदेवताभिमुख्यप्रयोजनतया स्वीक्रियत इत्याशङ्क्य मन्त्रस्तावदुक्तरूपदेवतानुगुण्येनैव निर्णीयत इत्याह—

मणणमयी णिअविहवे णिअसङ्कोए भअम्मि ताणमई।
कवलिअवीसविअप्पा अणुभूई कावि मन्तसद्दत्थो ।।४९।।

(मननमयी निजविभवे निजसङ्कोचे भये त्राणमयी।
कवलितविश्वविकल्पा अनुभूतिः कापि मन्त्रशब्दार्थः।।)

आत्मवैभव में मननमयी तथा आत्मसङ्कोच एवं भय में रक्षामयी और विश्वविकल्पों को कवलित करने वाली कोई (अनिर्वचनीया) अनुभूति ही 'मन्त्र' शब्द का अर्थ है।।४९।।

---

१. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा

'मननत्राणधर्माणो मन्त्राः' इति ह्याम्नायः। तत्र मन्त्रानुसन्धातुः स्वेच्छामात्रेणोपाधिना विभवः सङ्कोच इत्यवस्थाद्वयमस्ति। तयोर्विभवो नाम विश्वतदुत्तरोभयसामरस्ययुक्त्या पूर्णाहम्भावभावनात्मा विकासः, यत् पारमैश्वर्यमित्युच्यते। सङ्कोचश्च तद्विपर्ययादपूर्णत्वाभिमानः, यत् पाशवमित्याख्यायते। अत्र च पूर्वस्य स्वाभाविकत्वमुत्तरस्यारोपितता चेति विवेकः। एवं स्थिते तादृश्यात्मनो विकासे समुल्लसति तस्य यन्मननमुपर्युपरि तथा परामर्शानुस्यूतिस्वभावश्चमत्कारः, तत् प्रकृत्या। तद्वदुक्तरूपे स्वस्य सङ्कोचे प्रस्तुते ततो यत् त्राणम्—'सङ्कोचो विचार्यमाणश्चिदैकात्म्येन प्रथमानत्वाच्चिन्मय एव। अन्यथा तु न किञ्चित्' इति श्रीप्रत्यभिज्ञाहृदयमर्यादया तस्यापि सङ्कोचस्य वैश्वात्म्यप्रथानुप्रविष्टतानुसन्धानोत्पादनद्वारा स्वस्वभावभङ्गप्रसङ्गरूपचाकित्यव्यापोहलक्षणम्, तन्मयी च भवन्ती तेनैव हेतुद्वयेन वेद्यविक्षोभसर्वस्वग्रासविशृङ्खलोल्लासा याऽनुभूतिः स्वहृदयैकसंवेद्या विमर्शशक्तिः, सैव मन्त्र इत्यस्य शब्दस्याभिधेयतयाऽनुभूयत इति। यथा श्रीराजराजभट्टारके—

वर्णात्मको न मन्त्रो दशभुजदेहो न पञ्चवदनोऽपि।
सङ्कल्पपूर्वकोटौ नादोल्लासो भवेन्मन्त्रः ।। इति।

यथा च श्रीविज्ञानभट्टारके—

भूयो भूयः परे भावे भावना भाव्यते हि या।
जपस्तोत्रं स्वयं नादो मन्त्रात्मा जप्य ईदृशः ।। इति।

यथा च श्रीशिवसूत्रेषु—'चित्तं मन्त्रः' इति। श्रीस्तोत्रभट्टारकेऽपि—

चिदग्निसंहारमरीचिमन्त्रः संविद्विकल्पान् ग्लपयन्नुदेति । इति।

श्रीक्रमकेलौ च—'सेयमेवंविधा भवगती संविद्देव्येव मन्त्रः' इति। भट्टश्रीभूतिराजेनाप्युक्तम्—'सर्वक्रोडीकारेण स्थितत्वाद् देव्येव मन्त्रः' इति। एवञ्च—

पृथङ्मन्त्रः पृथङ्मन्त्री न सिध्यति कदाचन।
ज्ञानमूलमिदं सर्वमन्यथा न प्रसिध्यति ।।

इति नीत्या स्वात्मसंवित्स्वरूपस्यैव मन्त्रशब्दार्थत्वं मुख्यम्। अक्षरसन्निवेशेषु पुनरुपचारेणोच्यत इत्युक्तं भवति। यदाहुः—

उच्चार्यमाणा ये मन्त्रा न मन्त्राश्चापि तान् विदुः।
मोहिता देवगन्धर्वा मिथ्याज्ञानेन गर्विताः ।। इति।

यच्चोक्तं मयैव संविदुल्लासे—

पुण्ड्रेक्षोरिव मन्त्रस्य माधुर्ये हृदयस्पृशि।
ऋजीषमानने तिष्ठत्यक्षरोच्चारलक्षणम् ।। इति।

एतदाशयेनैव हि—

गुरुदेवतामनूनामैक्यं सम्भावयन् धिया शिष्यः।

इत्यभियुक्ता आचक्षते। एतेन जपो व्याख्यातः। जननपालनस्वभावतया हि जप इत्युच्यते। यदुक्तमस्मत्परमगुरुभिः—

जनिपालनधर्मेण जपेनान्तर्मुखात्मना । इति।

तच्च स्वविभवमनने स्वसङ्कोचमात्रे च पर्यवस्यति। केवलमुपपादितमन्त्र-स्वरूपपरामर्शो जप इत्युच्यते। मन्त्रस्य च वैश्वात्म्यानुभूतिरूपत्वात् सर्वोऽपि वाग्व्यवहारस्तत्परामर्शात्मतयैवोत्पद्यते। यदुक्तं श्रीभट्टनारायणेन—'का च वाङ् नोच्यसे यया' इति। अत एव श्रीशिवसूत्रेषु—'कथा जपः' इत्युक्तम्।।४९।।

मन्त्र का स्वरूप—महेश्वरानन्द कहते हैं कि मन्त्र का स्वरूप क्या है?

१. जो आत्मवैभव में मननात्मिका है।

२. जो आत्मसङ्कोच एवं भय की अवस्था में त्राणात्मिका है।

३. जो विश्ववैचित्र्यात्मक विकल्पों को कवलित करके अवस्थित है, वह (मनन-त्राणमयी एवं विकल्प-विनाशिनी) लोकोत्तरा अनुभूति ही मन्त्र है। 'मननत्राणधर्माणो मन्त्राः' भी कहा गया है।

आत्मसत्ता के दो पक्ष एवं मन्त्रानुसन्धान की दो अवस्थायें

आत्मविकासात्मक	आत्मसङ्कोचात्मक
१. वैभव पक्ष (पूर्ण आत्मभाव का विकास) ऐश्वर्य पक्ष २. विभव—आत्मा के परमैश्वर्य की अवस्था/आत्मा की भुक्तावस्था/भावचमत्कारात्मक पूर्णत्व/पूर्णाहन्ता की अवस्था। (आत्म-विकास की अवस्था) १. मननमयी निजविभवे। २. कवलित विश्वविकल्पा। ३. विकल्पातीतावस्था पूर्णाहम्भावनात्मक विकास (परमात्मैश्वर्य)।	१. सङ्कोचात्मक पक्ष जीवभाव की अवस्था (पशुस्वभाव आत्मा) २. आत्म-सङ्कोच। आत्मा की विकल्पात्मक, औपाधिक, सङ्कुचित अवस्था। (विपर्ययात्मक अवस्था)। आत्मा की पशुस्वरूप की अवस्था। (आत्मसङ्कुचन की अवस्था) १. निजसङ्कोचे भये त्राणमयी। २. विकल्पानुस्यूतावस्था। ३. भये त्राणमयी दशा। ४. अपूर्णत्व की अवस्था।

मन्त्रानुसन्धातुः स्वेच्छामात्रेणेपाधिना विभवः सङ्कोच इत्यवस्थाद्वयमस्ति। तयोर्विभवो

नाम विश्वतदुत्तरोभयसामरस्ययुक्त्या पूर्णाहम्भावभावनात्मा विकासः। यत् पारमैश्वर्य-मित्युच्यते। (परिमल)

मन्त्र के व्यापार—मन्त्र के दो मुख्य व्यापार हैं—मनन एवं त्राण। मन्त्रानु-सन्धान की भी दो अवस्थायें हैं—विभव एवं सङ्कोच। विभव क्या है? आत्मभाव का पूर्ण विकास ही आत्म-विभव है। यही परमैश्वर्य है। विभव आत्मविकास की अवस्था है। यह पूर्णत्व का सन्धान है। यह 'सर्वं ह्येतद् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पात्।'[१] की अनुभूति है। यह नान्तःप्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञं नोभयतः प्रज्ञं न प्रज्ञानघनं नाप्रज्ञम्। अदृष्टम-व्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः।[२] की अनुभूति है।

ॐ आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् नान्यत्किञ्चनमिषत्।[३]—ऐसे सर्वाकार, सर्वाधिष्ठान, सर्वरूप, सर्वशक्तिमान, ब्रह्मस्वरूप, नित्य, सर्वव्यापक आत्मा के साथ तादात्म्यभाव प्राप्त करके एवं वैश्वात्म्य भाव से परिपूर्ण होकर अपनी पूर्णता की अनु-भूति करना ही आत्मा का विभवपक्ष है।

'शिवोऽहं शिवोऽहं, शिवोऽहं शिवोऽहं' की शाङ्कर अनुभूति, 'अहं ब्रह्मास्मि' की औपनिषदिक आनुभूति एवं 'अहं देवी न चान्योऽस्मि' की शाक्तदर्शनानुभूति भी आत्मा की विभवावस्था है।

त्रिकदर्शन में विभव का स्वरूप

आत्मा या शिव के साथ तादात्म्य	विभव के साथ तदात्म्य
१. 'स्वात्मैव सर्वजन्तूनामेक एव महेश्वरः' की अनुभूति। २. या 'स्वरूपे विश्रान्तिर्विमर्शः सोऽहमि-त्ययम्'[४] की अनुभूति। ३. 'प्रकाशस्यात्मविश्रान्तिरहंभावो हि कीर्तितः' की अनुभूति। (अजडप्रमातृसिद्धि) ४. प्रत्यभिज्ञा—'मैं वही शिव हूँ'—इत्या-कारक प्रत्यभिज्ञा ही विभव है। ५. स्पन्दकारिकोक्त अनुभूति— यदा त्वेकत्र संरूढ़स्तदा तस्य लयोदयौ। नियच्छन् भोक्तृतामेति ततश्चक्रेश्वरो भवेत्।। ६. 'तेन शब्दार्थचिन्तासु न सावस्था न यः शिवः' की अनुभूति (स्पन्दकारिका-२८)	१. (स्वाङ्गरूपेषु भावेषु) विश्व की स्वाङ्गरूप में अनुभूति। (प्रत्यभिज्ञाकारिका) २. 'विश्वरूपोऽहमिदमित्यखण्डामर्शबृंहितः'। (प्रत्यभिज्ञाकारिका) ३. सोऽहं ममायं विभव इत्येव परिजानतः। (प्रत्यभिज्ञाकारिकावृत्ति-१.४२) ४. विश्वं शरीरतया पश्यन् पतिः। ५. 'विश्वरूपो महेश्वरः की अनुभूति। (प्रत्यभिज्ञाकारिका) ६. स्पन्दकारिका-प्रोक्त अनुभूति— इति वा यस्य संवित्तिः क्रीडात्वेनाखिलं जगत्। स पश्यन् सततं युक्तो जीवन्मुक्तो न संशयः।।

१-२. माण्डूक्योपनिषद् ३. ऐतरेयोपनिषद् ४. अजडप्रमातृसिद्धि (उत्पलदेव)

आत्मवैभव की अवस्था में मननमयी स्वरूप में एवं आत्म-सङ्कोच (जीवभाव की औपाधिक एवं बन्धनग्रस्त अवस्था में) तथा भय की अवस्था में त्राणमयी (रक्षामयी) स्थिति में विद्यमान जो शक्ति सारे (विश्ववैचित्र्यात्मक) विकल्पों को कवलित करके उदित होती है, उसी की संज्ञा 'मन्त्र' है—

मननमयी निजविभवे निजसङ्कोचे भये त्राणमयी।
कवलितविश्वकविकल्पा अनुभूतिः कापि मन्त्रशब्दार्थः।।

विमर्श शक्ति ही 'मन्त्र' है। परमात्मभाव में निमज्जन तथा तद्रूपता की अनुभूति ही मन्त्र का फलितार्थ है। सर्वात्ममयी भगवती संवित् ही मन्त्रस्वरूपा हैं। मन्त्र विमर्श-स्वरूप है। विमर्श आत्मपरामर्शस्वरूप है। आत्मस्वरूप में विश्रान्ति—स्वस्वरूप में अवस्थान ही विमर्श है और यही अहंकार का रहस्यार्थ भी है—या स्वस्वरूपे विश्रान्ति-र्विमर्शः सोऽहममित्ययम्।[1]

प्रकाश (परमशिव) की मुख्य आत्मा प्रत्यवमर्श ही तो है। यह स्वभाव है—

स्वभावमवभासस्य विमर्शं विदुरन्यथा।[2]

प्रकाशस्य मुख्य आत्मा प्रत्यवमर्शः।[3]

वसुगुप्ताचार्य की दृष्टि—वसुगुप्त ने चित्त को भी मन्त्र कहा है—चित्तं मन्त्रः (शिवसूत्र-१.२)।

मन्त्र के दो पक्ष (शिवसूत्रकार की दृष्टि)—

१. परस्फुरत्तात्मकमननधर्मात्मता।

२. भेदमय संसारप्रशमनात्मक त्राणधर्मता।

आचार्य क्षेमराज की मन्त्रसम्बन्धिनी दृष्टि—

१. मन्त्र शाक्तोपाय है[4]।

२. शक्ति मन्त्रवीर्यस्फाररूपा है। तत्र शक्तिः मन्त्रवीर्यस्फाररूपा।[5]

३. चित्त ही मन्त्र का विमर्शन करता है; अतः मन्त्रतादात्म्य (मननतादात्म्य) के कारण चित्त ही मन्त्र है। चित्त परतत्त्व का विमर्शन करता है; इसीलिये इसे चित्त कहते हैं—चेत्यते विमृश्यते अनेन परं तत्त्वम् इति चित्तं।[6]

४. विमर्शन का स्वरूप क्या है?—'पूर्णस्फुरत्तासतत्त्वप्रासादप्रणवादिविमर्शरूपं संवेदनम् तदेव मन्त्र्यते।[7]

---

१. अजडप्रमातृसिद्धि (उत्पलदेव)
२. प्रत्यभिभिज्ञाकारिका
३. प्रत्यभिज्ञाकारिकावृत्ति (१-४२)
४. इदानीं शाक्तोपायः प्रदर्श्यते (शि. सू. वि. २.१)
५. शिवसूत्रविमर्शिनी (२.१)
६. शिवसूत्रविमर्शिनी (२.१)
७. शिवसूत्रविमर्शिनी

५. स्फुरत्ता क्या है? स्फुरत्ता चिति शक्ति है—

सा स्फुरत्ता महासत्ता देशकालाविशेषिणी।
सैषा सारतया प्रोक्ता हृदयं परमेष्ठिनः।।
(उत्पलदेव : प्रत्यभिज्ञाकारिका-१.४५)

स्फुरत्ता स्फुरणकर्तृता अभावाप्रतियोगिनी अभावव्यापिनी सत्ता भवत्ता भवनकर्तृता नित्या देशकालास्पर्शात्सैव प्रत्यवमर्शात्मा चितिक्रिया शक्तिः। सा विश्वात्मनः परमेश्वरस्य स्वात्मप्रतिष्ठारूपा हृदयमिति। (उत्पलदेव : प्रत्यभिज्ञाकारिकावृत्ति-१.४५)

६. मन्त्र पूर्णस्फुरत्तात्मिका चिति शक्ति का विमर्शस्वरूप संवेदन है—पूर्णस्फुरत्ता...... विमर्शरूपं संवेदनम् तदेव मन्त्यते।[१]

मन्त्र स्फुरत्ता-तादात्म्य का विमर्शन है।

मन्त्र आत्मैक्य का विमर्श है।

मन्त्र संवित् शक्ति के साथ तादात्म्यभाव का परामर्श है।

विमर्श का यथार्थ स्वरूप—आचार्य क्षेमराज कहते हैं कि विमर्श तो द्वैतात्मक, अद्वैतात्मक, द्वैताद्वैतात्मक, भावात्मक, अभावात्मक आदि अनेक स्वरूपों वाला हो सकता है; किन्तु मन्त्र के क्षेत्र में विमर्श होता है, उसका स्वरूप परमात्मा के साथ अभेदात्मकता है—अभेदेन विमृश्यते परमेश्वररूपम् अनेन इति कृत्वा मन्त्रः।[२]

मन्त्र के लक्षण (आचार्य क्षेमराज की दृष्टि)—

१. मांत्रिक द्वारा परमेश्वर के स्वरूप का अभेदात्मक विमर्श हो।

२. विमर्श के द्वारा परिस्फुरत्तात्मक मननधर्मात्मता का उदय हो।

३. विमर्श के द्वारा भेदमय संसार के शमन द्वारा त्राणधर्मता का उदय हो।

अभेदेन विमृश्यते परमेश्वररूपम् अनेन इति कृत्वा मन्त्रः। अतएव च परिस्फुरत्तात्मक-मननधर्मात्मता, भेदमयसंसारप्रशमनात्मकत्राणधर्मता च अस्य निरुच्यते।[३]

सारांश यह कि मन्त्र के देवता का विमर्शन (परामर्श) करते हुये उससे सामरस्य प्राप्त करने वाला चित्त ही मन्त्र है। अभेदात्मक विमर्शन के द्वारा चित्त का देवता के साथ जो तादात्म्यभाव है या देवता के साथ उसकी जो अभेदापत्ति है, वही मन्त्र है। इसी बात को शिवसूत्रकार ने अपने शब्दों में कहा है कि चित्त ही मन्त्र है—

चित्तं मन्त्रः (शिवसूत्र-२.१) को आचार्य क्षेमराज ने व्याख्यायित करते हुये इस प्रकार कहा है—अथ च मन्त्रदेवताविमर्शपरत्वेन प्राप्ततत्सामरस्यम् आराधकचित्तमेव मन्त्रः।

---

१. क्षेमराज (शि. सू. वि.)

२. शिवसूत्रविमर्शिनी (२.१)

३. शिवसूत्रविमर्शिनी (२.१)

प्रश्न उठता है कि मन्त्र तो वर्णों का संयोजन है; विभिन्न वर्णों की संघटना है; फिर उसे ही मन्त्र की संज्ञा क्यों नहीं दी गई? आचार्य क्षेमराज उसका निषेध करते हुये कहते हैं कि वर्णों की समष्टि या विचित्रवर्णसंघट्टनामात्र मन्त्र नहीं है—न तु विचित्र-वर्णसंघट्टनामात्रकम्।[१]

सर्वज्ञज्ञानोत्तरकार की दृष्टि—सर्वज्ञज्ञानोत्तर में कहा गया है कि उच्चार्यमाण जो भी सारे मन्त्र हैं, वे मन्त्र हैं ही नहीं। देवता-गन्धर्व आदि उन्हें ही मन्त्र मानकर मिथ्या ज्ञान से गर्वित हैं—

उच्चार्यमाणा ये मन्त्रा न मन्त्राश्चापि तान्विदुः।
मोहिता देवगन्धर्वा मिथ्याज्ञानेन गर्विताः।।

श्रीतन्त्रसद्भावकार की दृष्टि—श्रीतन्त्रसद्भाव में कहा गया है कि मन्त्रों में अन्तर्निहिता जो अव्यया शक्ति मन्त्रों का प्राण होती है, उसके बिना प्रत्येक मन्त्र उसी प्रकार निष्फल होता है, यथा शरत्कालीन बादल जल-हीन होने के कारण निष्फल एवं निरर्थक होते हैं—

मन्त्राणां जीवभूता तु या स्मृता शक्तिरव्यया।
तया हीना वरारोहे निष्फलाः शरदभ्रवत्।।

श्रीकण्ठीसंहिताकार की दृष्टि—श्रीकण्ठीसंहिता में कहा गया है कि—

१. अकेले मन्त्र-जप से मन्त्र फल प्रदान नहीं करता।

२. मन्त्र ज्ञानमूलक है; अतः मन्त्र के साथ ज्ञानोन्मेष (भावनोदय) भी आवश्यक है।

३. जब तक मान्त्रिक अपनी भावना या तादात्म्यक ज्ञान से युक्त होकर मन्त्र से ऐकात्म्य नहीं प्राप्त कर लेता तब तक मन्त्र का मन्त्रत्व सिद्ध नहीं होता; अतः ऐसा मन्त्र सिद्धि भी प्रदान नहीं करता—

पृथङ्मन्त्रः पृथङ्मन्त्री न सिद्ध्यति कदाचन।
ज्ञानमूलमिदं सर्वमन्यथा नैव सिद्ध्यति।।

स्पन्दकारिकाकार की दृष्टि—आचार्य कल्लट स्पन्दकारिका में कहते हैं कि—

१. सहाराधकचित्तेन तेनैते शिवधर्मिणः।[२]

२. तत्रैव सम्प्रलीयन्ते शान्तरूपा निरञ्जनाः।[३]

एते मन्त्राः साधकचित्तेन तत्प्रवृत्तिनिमित्तेन तदाधारभूतयेच्छया सह सम्यक् प्रलीयन्ते अस्तं गच्छन्ति। यतस्ते तदनुगास्तच्छक्तिरुपाश्च।[४]

---

१. शिवसूत्रविमर्शिनी (२.१)

२-३. स्पन्दकारिका (२७)

४. स्पन्दप्रदीपिका (उत्पलाचार्य)

मन्त्र शक्तिस्वरूप हैं; अत: वे शक्ति का अनुगमन करते हैं। अत: शक्ति न होने पर मन्त्र भी अपनी मन्त्रात्मकता खो देते हैं। ये सारे मन्त्र कृतकृत्य होने के कारण शान्तस्वभाव भी हैं—शान्तरूपा: निरञ्जना:। ये कालुष्यमुक्त होने से निरञ्जन भी हैं। ये निरञ्जन तत्त्व से अनुप्राणित होने के कारण भी निरञ्जन कहे जाते हैं। ये सभी निरञ्जन स्वरूप होने के कारण शिवधर्मी भी हैं—तेनैते शिवधर्मिण:। अत: ये सर्वज्ञ एवं सर्वकर्ता भी हैं—सर्वज्ञा: सर्वकर्तार इत्यर्थ:।[१]

ये मन्त्र शान्तरूप (शुद्ध संविद्रूप) एवं निरञ्जन (मायीय उपराग से रहित) होकर आराधक के चित्त के साथ-साथ चिदाकाश में ही लीन हो जाते हैं। ये शिवधर्मा अर्थात् शिवस्वरूप ही हैं।

प्रत्येक प्रकार के मन्त्र उस स्पन्दरूप आत्मबल के साथ तादात्म्य प्राप्त करने के कारण ही सर्वज्ञता आदि छ: प्रकार के माहेश्वर बलों (सर्वज्ञता। पूर्ण तृप्ति। अनादि बोध। अप्रतिहत स्वातन्त्र्य। शक्ति का निर्बाध प्रसार। विश्वरूप में विकसित अनन्त शक्तियों का ऐश्वर्य—इन छ: प्रकार के माहेश्वर बल) को प्राप्त करके शोभित होने लगते हैं। इस स्थिति में ये मन्त्र किसी भी आकांक्षित कार्य को साधिकार सिद्ध कर डालते हैं; जैसे कि इन्द्रियाँ संकल्पमात्र से ही अपने कार्यों को सिद्ध कर डालती हैं—

तदाक्रम्य बलं मन्त्रा: सर्वज्ञबलशालिन:।
प्रवर्तन्तेऽधिकाराय करणानीव देहिनाम्।।[२]

स्पन्दसर्वस्वकार की दृष्टि—स्पन्दसर्वस्व में कहा गया है कि—तत् बलं निरावरण-चिद्रूपमधिष्ठाय मन्त्रा: सर्वज्ञत्वादिना बलेन श्लाघायुक्ता: प्रवर्तन्ते अनुग्रहादौ स्वाधिकारे। करणानि यथा देहिनाम् नान्येन आकारादिविशेषेण। तत्रैव स्वस्वभावव्योम्नि निवृत्ताधिकारा: प्रलीयन्ते, शान्तरूपा:, मायाकालुष्यरहिता:। सह साधकचित्तेन, अनेन कारणेन शिवसंयोजन-स्वभावेन इति शिवात्मका उच्यन्ते।

रामकण्ठाचार्य की दृष्टि—स्पन्दकारिकाविवृति में आचार्य रामकण्ठ कहते हैं कि शंकर भगवान् की जो भी शक्तियाँ हैं, उनका जो भी सामर्थ्य है, वह सब मन्त्र में उसकी शक्ति के रूप में अन्तर्निहित है—शंकरस्य यत्सामर्थ्यं तदेव अवश्यकरणीय-शास्त्रचोदितक्रियासाधनभूतानां मन्त्राणां वीर्यम्।

रामकण्ठ कहते हैं कि ये सारे मन्त्र आराध्य देवता के वाचक एवं वर्णादिसन्निवेशात्मक हैं। ये परमेश्वर के अनन्य साधारण सर्वज्ञत्व आदि धर्म से युक्त हैं। ये शिव आदि से अभिन्न स्वरूप वाले हैं। यदि ये मन्त्र परमेश्वर के साथ अभेदात्मकता न प्राप्त कर लें तो ये उत्पादक एवं विनाशक अनन्त शक्तियों से सम्पन्न मन्त्र तृण को भी टेढ़ा नहीं

---

१. स्पन्दप्रदीपिका (२७) २. स्पन्दकारिका (२.२६)

कर सकते—एते हि अनासादितपरमेश्वराभेददशा उत्पादविनाशधर्मकवर्णमात्रात्मका: तृणमपि कुब्जयितुमशक्ता:।

मन्त्रों की शक्ति साधकों के अनुसार भिन्न-भिन्न भी होती है। यद्यपि मन्त्र अनन्त शक्तिमान हैं; किन्तु चूँकि प्रत्येक साधक में सारी मान्त्री शक्तियाँ उन्मिषित नहीं होतीं; अत: साधक के अधिकार के अनुसार ही मान्त्री शक्तियों का कम और अधिक विकास होने के कारण उनकी अभिव्यक्ति भी कम और अधिक हुआ करती है—मन्त्रा: साधकानां स्वीकृतपरस्वभावाहंभावप्रतिपत्तीनां यथानियमिताधिकाराय प्रवर्तन्ते तस्मात् करणवत् सर्वज्ञबलशालिनोऽपि मन्त्रा यत्कृताधिकारा:।

मन्त्र एवं शिव के साथ अभेदापत्ति—मन्त्र के उदय एवं अस्त (परम कारण शिव के साथ एकीभूत) के साथ साधक का चित्त भी शिव में सम्प्रलीन हो जाता है; अत: मन्त्रों के उदयास्तकाल में मांत्रिक की शिव के साथ अभेदापत्ति अवश्य हो जाती है—मन्त्रचेतसो: उदयास्तमयदशयो: परमकारणात् शिवादभेद:।

मन्त्र शिवशक्ति ही है—मन्त्रात्मकतया साधकचित्तात्मकतया च शिवशक्तिरेव वर्णसंकल्पादिरूपधारिणी उदिता।[१]

मन्त्रों की स्वनिहित शक्ति की अपरिमेयता—रामकण्ठाचार्य कहते हैं कि स्वस्वभाव में सुदृढ़ रूप से अवस्थित साधक के लिये ये मन्त्र अनन्त शक्तिमत्ता के साथ उदित होकर साधक की समस्त आकांक्षाओं को पूर्ण करते हैं; अन्यथा (हीन-सामर्थ्य वाले साधकों के लिये) नहीं—यस्तु यथा प्रतिपादिते स्वस्वभावे एव सुदृढात्म-प्रतिपत्ति: तस्य उदयास्तमयज्ञस्य सर्वमन्त्रा: सर्वार्थसाधनाधिकारिणो भवन्ति।

आगे वे यह भी कहते हैं कि—न केवलं मन्त्रा एव शिवधर्मिणो परतत्त्वाभेदापत्ति-लब्धात्मकं सत् शिवात्मकमेव अर्थात् मन्त्र-जप एवं परतत्त्वाभेदापत्ति—इन दोनों का सामञ्जस्य ही मन्त्र को मन्त्र बनाता है।[२]

मन्त्र को जो निरञ्जन कहा गया है, वह इसके उच्चतम फल को लक्ष्य में रखकर कहा गया है; क्योंकि मन्त्र के दो प्रकार हैं—

१. साञ्जन मन्त्र—भोगप्रदायक मन्त्र।

२. निरञ्जन मन्त्र—मुक्तिप्रदायक मन्त्र।

निरञ्जन मन्त्र ही शुद्ध एवं पूर्ण शिवधर्मी हैं (इनके द्वारा शिवत्व की अभिव्यक्ति होती है)।

शैव दार्शनिकों की दृष्टि—(सारांश) विमर्शात्मक आत्मस्फुरण ही परमन्त्र है और इस मन्त्र का यथार्थ स्वरूप अहंविमर्श है—मन्त्रश्च विमर्शनात्मा।[३]

१. रामकण्ठाचार्य

२. स्पन्दविवृत्ति (व्यतिरिक्तस्वभावोपलब्धि-२.११)

३. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी (१.५.१४)

प्रश्न—मन्त्र शिवशक्त्यात्मक हैं; फिर उन्हें निष्फल क्यों कहा गया है?

उत्तर—मन्त्र में निहित आत्मबल के विस्मरण से वे निर्वीर्य हो जाते हैं; इसीलिये ऐसा कहा गया है।

सारे वर्ण पररूप (शिवरूप) एवं सारे मन्त्र शक्तिरूप हैं—

सर्वे वर्णात्मका मन्त्रास्ते च शक्त्यात्मका: प्रिये।

मन्त्रों का जीवभूत तत्त्व शक्ति है—

मन्त्राणां जीवभूता तु या स्मृता शक्तिरव्यया।

मन्त्रों में स्पन्दात्मक बल स्वभावत: अवस्थित है। चूँकि पशुसाधकों की निर्मलता पर कुत्सित विकल्पों का कर्दम जमा है; अत: आत्मबल की विस्मृति की अवस्था में मन्त्र वीर्यहीन हो जाते हैं—

मन्त्राणां जीवभूता तु या स्मृता शक्तिरव्यया।
तया हीना वरारोहे! निष्फला: शरदभ्रवत्।।

स्वरूप का विकास ही मन्त्र शक्ति का विकास है—शक्ति: मन्त्रवीर्यस्फाररूपा।[1]

इसी आत्मशक्ति का (मन्त्र में) आन्तर अनुसंधान होना चाहिये। मन्त्रसिद्धि की अवस्था में मन्त्रशक्ति स्वात्मरूप में ही स्फुरित होती है—स्वात्मरूपतया स्फुरणं भवति।[2]

शिवसूत्रवार्तिककार की दृष्टि—

१. शक्ति और मन्त्र = तत्र शक्तिर्ममहामन्त्रवीर्यस्फाररूपिणी।

२. पूर्णाहन्ता + मनन + संसारक्षय + त्राण + मन्त्र एवं देवतामर्शसामरस्य एवं मन्त्र—

पूर्णाहन्तानुसंध्यात्मस्फूर्जन्मननधर्मता ।
संसारक्षयकृत्त्राणधर्मता च निरुच्यते।।
तन्मन्त्रदेवतामर्शप्राप्तवत्सामरस्यकम् ।
आराधकस्य चित्तं च मन्त्रस्तद्धर्मयोगत:।।
अस्य चोक्तस्य मन्त्रस्य मननत्राणधर्मिण:।।[3]

राजराजभट्टारककार की दृष्टि—राजराजभट्टारक नामक ग्रन्थ में कहा गया है कि वर्णों की विशिष्ट समष्टि ही मन्त्र नहीं है। इसी प्रकार विभिन्नाकाराकारित (दश भुजा वाले शरीर को धारण करने वाले, पाँच मुखों को धारण करने वाले) सत्तायें भी यथार्थत: देवता नहीं हैं। संकल्पपूर्वक जो नादाभ्यास किया जाता है, उससे उदित नाद का समुल्लास ही मन्त्र है—

१. शिवसूत्र (२.१ उपक्रमणिका)
२. शिवसूत्रविमर्शिनी (१.२२)
३. शिवसूत्रवार्तिक (वरदराज)

वर्णात्मको न मन्त्रो दशभुजदेहो न पञ्चवदनोऽपि।
संकल्पपूर्वकोटौ नादोल्लासो भवेन्मन्त्रः।।

नादोल्लास ही मन्त्र है।

श्रीविज्ञानभट्टारककार की दृष्टि—विज्ञानभैरव में कहा गया है—

भूयो भूयः परे भावे भावना भाव्यते हि या।
जपस्तोत्रं स्वयं नादो मन्त्रात्मा जप्य ईदृशः।।

जपनीय (जप्य) मन्त्र भी नादात्मक ब्रह्म ही है, जिसमें कि अपने अकृत्रिम अहमात्मक स्वरूप का निरन्तर परामर्श होता रहता है।

अहमेव परो हंसः शिवः परमकारणम् (स्व. ४.३९९) की बार-बार भावना (सोऽहं सोऽहंरूप एवं अनाहत नादात्मक अजपा मन्त्र) ही जप है। यह अनाहत नादात्मक, सोऽह-मात्मक एवं अजपाजपात्मक आत्मविमर्शना ही जप है। यही जपनीय मन्त्र है।

स्तोत्रभट्टारककार की दृष्टि—स्तोत्रभट्टारक में कहा गया है—

चिदग्निसंहारमरीचिमन्त्रः संविद्विकल्पान् ग्लपयन्नुदेति।

श्रीक्रमकेलिकार की दृष्टि—श्रीक्रमकेलि में कहा गया है कि भगवती संवित् ही मन्त्र हैं—सेयमेवंविधा भगवती संविद्व्येव मन्त्रः।

भट्टभूतिराज की दृष्टि—सबको क्रोडीकृत करके स्थित रहने के कारण ही वह सर्वाधिष्ठान परासत्ता मन्त्र कहलाती है अर्थात् देवी ही मन्त्र है—सर्वक्रोडीकारेण स्थितत्वाद्देव्येव मन्त्रः।

मन्त्र चित्तत्व की किरणें हैं—मन्त्राश्चिन्मरीचयः।

सामान्यतया तो 'मननत्राणधर्माणो मन्त्राः' नामक परिभाषा ही मन्त्र का स्वरूप मानी जाती रही है; किन्तु देवी ही मन्त्र है, संवित् शक्ति ही मन्त्र है, चित्तत्त्व की रश्मियाँ ही मन्त्र हैं एवं नादोल्लास ही मन्त्र हैं—ये परिभाषायें अधिक तात्त्विक हैं।

महेश्वरानन्द की दृष्टि—वैश्वात्म्यप्रथानुप्रविष्टतानुसन्धानोत्पादन के द्वारा एवं वेद्यविक्षोभसर्वस्वग्रासविशृङ्खलोल्लासानुभूति के द्वारा जो स्वहृदयैकसंवेद्या विमर्शशक्ति है, वही मन्त्र है—संकोचस्य वैश्वात्म्यप्रथानुप्रविष्टतानुसन्धानोत्पादनद्वारा स्वस्वभावभङ्गप्रसङ्ग-रूपचाकित्यव्यपोहलक्षणम्, तन्मयी च भवन्ती तेनैव हेतुद्वयेन वेद्यविक्षोभसर्वस्वग्रास-विश्रृंखलोल्लासा याऽनुभूतिः स्वहृदयैकसंवेद्या विमर्शशक्तिः सैव मन्त्रा।

परिमल (महेश्वरानन्द)

मन्त्र वैश्वात्म्यानुभूति है और उसका निरन्तर मनन करना ही जप है। इससे सारे व्यवहार आत्मपरामर्शरूप में ही निष्पादित किए जाते हैं—सर्वोऽपि वाग्व्यवहारस्तत्परामर्शा-त्मतयैवोत्पद्यते—परिमल।

महेश्वरानन्द कहते हैं कि मन्त्रानुसन्धान करने वाले साधक स्वेच्छावश गृहीत उपाधियों के कारण दो अवस्थाओं में अवस्थित रहते हैं—विभव एवं सङ्कोच—तन्त्र मन्त्रानुसन्धातु: स्वेच्छामात्रेणोपाधिना विभव: सङ्कोच इत्यवस्थाद्वयमस्ति।

मन्त्रानुसन्धाताओं की दो अवस्थायें

१. **विभव**—विभव का स्वरूप—

१. पूर्णाहम्भावभावनात्माविकास: यत् पारमैश्वर्यमित्युच्यते।

२. विश्व+तदुत्तरोभयसामरस्य—परिमल

३. परामर्शानुस्यूतिस्वभावश्चमत्कार:—परिमल।

४. गुरुदेवतामनूनामैक्यं संभावयन् धिया शिष्य:।

विशेष—इसी गाथा में महेश्वरानन्द ने जप को भी परिभाषित किया है।

(क) शिवसूत्रकार की दृष्टि—कथा जप:।

(ख) महेश्वरानन्द की दृष्टि—तच्च स्वविभवमनने स्वसंकोचमात्रे च पर्यवस्यति, केवलमुपपादितमन्त्रस्वरूपपरामर्शो जप इत्युच्यते।

(ग) मन्त्रस्य च वैश्वात्म्यानुभूतिरूपत्वात् (मन्त्र वैश्वात्म्यानुभूति है)।

२. **सङ्कोच**—सङ्कोच का स्वरूप—

सङ्कोचश्च तद्विपर्ययात्पूर्णत्वाभिमान: यत् पाशवमित्याख्यायते।

(क) पाशवभाव की स्थिति।

(ख) अपूर्णत्वाभिमान की स्थिति।

(ग) पाशवभाव—

शब्दराशिसमुत्थस्य शक्तिवर्गस्य भोग्यताम्।
कलाविलुप्तविभवो गत: सन् स पशु: स्मृत:।। (स्पन्दकारिका)
मायातो भेदिषु क्लेशकर्मादिकलुष: पशु:।
(प्रत्यभिज्ञाकारिका-३.१४)

पुंस्त्वावस्थायां तु रागादिक्लेशकर्मविपाकाशयै: परीत: पशु:। (उत्पलदेव)

श्रीराजराजभट्टारक के प्रणेता की दृष्टि—श्रीराजराजभट्टारक में कहा गया है कि मन्त्र न तो वर्णों की समष्टि ही है और न तो यह दशभुजात्मक या पञ्चवदनात्मक देवता की मूर्ति ही है; प्रत्युत यह संकल्पगर्भित नादोल्लास है—

वर्णात्मको न मन्त्रो दशभुजदेहो न पञ्चवदनोऽपि।
संकल्पपूर्वकोटौ नादोल्लासो भवेन्मन्त्र:।।

स्तोत्रभट्टारककार के अनुसार चिदग्नि की संहारात्मक रश्मियाँ ही मन्त्र हैं। विकल्पों को गलाने वाली शक्तियाँ ही मन्त्र हैं—

चिदग्निसंहारमरीचिमन्त्रः संविद्विकल्पान् ग्लपयन्नुदेति।

क्रमकेलि में कहा गया है कि संविद् देवी ही मन्त्र हैं—सेयमेवंविधा भगवती संविद्देव्येय मन्त्रः।

मन्त्र और मान्त्रिक—मन्त्र और मान्त्रिक साधना या जप की स्थिति में दो सत्तायें नहीं रह जातीं; प्रत्युत ये दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू की भाँति अभिन्न हो जाते हैं; अन्यथा मन्त्र-साधना सफल नहीं हो पाती—

पृथङ्मन्त्रः पृथङ्मन्त्री न सिद्ध्यति कदाचन।
ज्ञानमूलमिदं सर्वमन्यथा न प्रसिद्ध्यति।।

संविदुल्लास में कहा गया है कि—

पुण्ड्रेक्षोरिव मन्त्रस्य माधुर्यें हृदयस्पृशि।
ऋजीषमानने तिष्ठत्यक्षरोच्चारलक्षणम्।।

यथार्थ तो यह है कि साधना में गुरु, देवता, मन्त्र, शिष्य सभी में एकात्म्य होना चाहिये—गुरुदेवतामनूनामैक्यं सम्भावयन् धिया शिष्यः।

जप को जप क्यों कहा जाता है?

१. जननपालनस्वभावतया हि जप इत्युच्यते (परिमल)।
२. जनिपालनधर्मेण जपेनान्तर्मुखात्मना।
तच्च स्वविभवमनने स्वसंकोचमात्रे च पर्यवस्यति।

शिवसूत्रकार के अनुसार तो मन्त्र का जप मात्र कथा है—कथा जपः (शिवसूत्र)।

वाक्चतुष्टय का स्वरूप

ननु मन्त्राणामेवमलौकिकानुभूत्यात्मकत्वप्रसाधने तत्सामान्यरूपस्य सर्वनिर्विवादं श्रोत्रेन्द्रियग्राह्यस्य शब्दराशेः कीदृशी रीतिरित्याशङ्क्य वाक्तत्त्वस्यैव तत्त्वमुन्मुद्रयितुमाह—

वेहरिआ णाम किआ णाणमई होइ मज्झमा वाआ।
इच्छा उण दक्खन्ती सण्णा सव्वाण समरसा वुत्ती ।।५०।।

(वैखरिका नाम क्रिया ज्ञानमयी भवति मध्यमा वाक्।
इच्छा पुनः पश्यन्ती सूक्ष्मा सर्वासां समरसा वृत्तिः।।)

क्रियात्मिक वाक् वैखरी वाक् है, ज्ञानात्मक वाक् मध्यमा वाक् है। इच्छाशक्ति ही पश्यन्ती वाक् है और सर्वसमरसप्रवृत्ति ही सूक्ष्म वाक् है।।५०।।

वाक्तत्त्वं तावत् क्रमात् सूक्ष्मा पश्यन्ती मध्यमा वैखरीति चतुर्धा भिद्यते। यथोक्तं साम्बपञ्चाशति—

या सा मित्रावरुणसदनादुच्चरन्ती त्रिषष्टिं
वर्णानत्र प्रकटकरणैः प्राणसङ्गात् प्रसूते ।
तां पश्यन्तीं प्रथममुदितां मध्यमां बुद्धिसंस्थां
वाचं वक्त्रे करणविशदां वैखरीं च प्रपद्ये ।। इति।

तत्र वैखरीति प्रसिद्धा वाक् ताल्वादिकरणव्यापारोपारूढस्फुरणतया क्रियाशक्तिरित्यध्यवसीयते। मध्यमा च बुद्धिवृत्तिमात्रप्रवर्त्यमानत्वाद् ज्ञानशक्तिः। पश्यन्ती पुनरिच्छा, बहिःप्रसरणाभ्युपगमरूपत्वात् तस्याः, यतः परा वाक् पश्यन्तीति पश्यन्त्या व्युत्पत्तिः। सूक्ष्मा तु शिखण्ड्यण्डरसन्यायादुक्तवाक्त्रयशबलीभावस्वभावा प्रत्यग्द्रष्टुः परमेश्वरस्योद्योगलक्षणा वृत्तिरित्याख्यायते। परा वाक् पुनस्तस्यैव परमेश्वरस्य स्वरूपमनुप्रविशन्ती परिस्फुरति। यदुक्तमस्मत्परमगुरुभिः श्रीमदृजुविमर्शिन्याम्—'मातृकां परवागात्माऽनाहतभट्टारकपरमशिवस्वरूपां षट्त्रिंशत्तत्त्वप्रसरणहेतुभूतां संविदमित्यर्थः' इति। तस्य च वक्तीति कर्तृव्युत्पत्त्या वाक्त्वम्, न पुनरुच्यत इति कर्मानुगुण्यात्। यदुक्तमस्मत्परमगुरुभिः श्रीसंवित्स्तोत्रे—

त्वामुपासितगुरूत्तमाः परां वाचमाहुरविभक्तविश्वकाम् ।
स्वप्रकाशनविमर्शनात्मिकां वक्ति वागिति निरुक्तिमास्थिताः ।। इति।

तस्मादिच्छादिशक्तित्रितयविस्तारात्मा सर्वोऽपि वाग्विलास इत्युक्तं भवति। यथा योगिनीहृदये—

इच्छाशक्तिस्तथा सेयं पश्यन्तीवपुषा स्थिता ।
ज्ञानशक्तिस्त्रिधा प्रोक्ता मध्यमा वागुदीरिता ।
क्रियाशक्तिस्तु रौद्रीयं वैखरी विश्वविग्रहा । इति।

तथा च श्रीतन्त्रालोके—

प्राक् पश्यन्त्यथ मध्याऽन्या वैखरी चेति ता इमाः ।।
परापरा परा देवी चरमा त्वपरात्मिका ।।
इच्छादिशक्तित्रितयमिदमेव निगद्यते ।
एतत्प्राणित एवायं व्यवहारः प्रतायते ।। इति।

इच्छादिस्वभावैव च स्वात्मस्फुरत्ता। तन्मयी च काचिदनुभूतिर्मन्त्रशब्दार्थ इति सर्वं संगच्छते। इच्छा पुनः पश्यन्तीत्युद्देश्योपादेययोर्व्यत्यासेनार्थान्तरमपि द्योत्यते।

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते ।

इति नीत्या सर्वोऽपि प्रमातृस्वभावः पर्यन्ततो वाङ्मयतां नोल्लङ्घयति। ततश्च प्रकाशरूपस्यात्मनो विमर्शशक्तिरेवानुप्राणनम्। सा च मन्त्रजपपूजाद्यनेकशब्द-व्यपदेश्या भवति। केवलं तत्तद्द्वारमात्रमेव भेद इति।।५०।।

भगवान् शिव की पाँच शक्तियाँ हैं—

१. चित् शक्ति	३. इच्छा शक्ति	५. क्रिया-शक्ति
२. आनन्द शक्ति	४. ज्ञान-शक्ति	

इन्हीं शक्तियों से वाक्-प्रसार भी हुआ है। वाणी के सारे भेद (प्रकार) भी इन्हीं शक्तियों के प्रस्फुरण हैं।

१. भगवान् की क्रिया शक्ति — वैखरी वाक्
२. भगवान् की ज्ञान शक्ति — मध्यमा वाक्
३. भगवान् की इच्छा शक्ति — पश्यन्ती वाक्

महार्थमञ्जरीकार ने वाक् तत्त्व के चार भेद किये हैं, जो निम्नांकित हैं—

१. वैखरिका (क्रिया शक्ति)
२. मध्यमा (ज्ञान शक्ति)
३. पश्यन्ती (इच्छा शक्ति)
४. सूक्ष्मा (सभी वाणियों की समरसात्मिका वृत्ति)

वाक्तत्त्वं तावत् क्रमात्—सूक्ष्मा पश्यन्ती मध्यमा वैखरीति चतुर्धा भिद्यते।[1]

साम्बपञ्चाशति नामक ग्रन्थ में कहा गया है—

> या सा मित्रावरुणसदनादुच्चरन्ती त्रिषष्टिं
> वर्णानत्र प्रकटकरणैः प्राणसङ्गात् प्रसूते।
> तां पश्यन्तीं प्रथममुदितां मध्यमां बुद्धिसंस्थं
> वाचं वक्त्रे करणविशदां वैखरीं च प्रपद्ये।।

वैखरी वाक् का स्वरूप क्या है? महेश्वरानन्द कहते हैं कि—तालु आदि उच्चारणस्थानों से होने वाले शब्दोच्चारणरूप व्यापारों पर आरूढ़ होकर अवस्थित एवं स्फुरित होने वाली क्रिया शक्ति का अभिधान ही वैखरी वाक् है। इस परिभाषा के अनुसार वैखरी के निम्न लक्षण हैं[2]—

(क) वैखरी वाक् क्रिया शक्ति की अभिव्यक्ति है।
(ख) यह तालु आदि उच्चारण के करणों का व्यापार है।

---

१. स्वोपज्ञ परिमल

२. तत्र वैखरीति प्रसिद्धा वाक् ताल्वादिकरणव्यापारोपारूढस्फुरणतया क्रियाक्तिरित्यध्यवसीयते। (परिमल)

(ग) ताल्वादिक करणों के व्यापारों पर आरूढ़ क्रियाशक्ति द्वारा व्यक्त होता है।

(घ) यह क्रिया शक्ति का स्फुरण है (स्फुरणतया क्रियाशक्तिः)।

मध्यमा वाक् का स्वरूप क्या है? मध्यमा वाक् वह सूक्ष्मस्तरीय वाग्वृत्ति है, जो कि बुद्धिवृत्तिमात्र में प्रवर्त्यमान है—मध्यमा च बुद्धिवृत्तिमात्रप्रवर्त्यमानत्वाद् ज्ञान-शक्तिः। मध्यमा वाक् के लक्षण निम्नवत् हैं—

(क) मध्यमा वाग्वृत्ति ज्ञानशक्ति की अभिव्यक्ति है।

(ख) यह बुद्धिवृत्तिमात्र में प्रवर्त्यमान है।

(ग) यह वैखरी वाक् से अधिक सूक्ष्म है।

पश्यन्ती वाक् का स्वरूप क्या है? 'यह बहिःप्रसरणाभ्युपगमरूपा वाक् है। यह बाहर प्रसारित होने वाली इच्छात्मिका वाक् है—पश्यन्ती पुनरिच्छा, बहिःप्रसरणाभ्यु-गमरूपत्वात् तस्याः यतः परावाक् पश्यन्तीति पश्यन्त्या व्युत्पत्तिः।[१]

यह परावाक् का आलोकन करती है और परा वाक् उसका आलोचन (अवलोकन) करती है; इसीलिये यह पश्यन्ती (देखती हुई) कहलाती है। पश्यन्ती वाक् के लक्षण निम्नवत् हैं—

(क) यह मध्यमा वाक् से भी अधिक सूक्ष्म है।

(ख) यह वाक् बाह्य प्रसरण की दिशा में प्रथम वाक् है (क्योंकि इससे पूर्व स्थित परा वाक् बाह्य प्रसरणोन्मुखी नहीं है)।

(ग) यह परा वाक् को देखती है और परावाक् इसे देखती है। इसीलिये यह पश्यन्ती कहलाती है।

(घ) यह इच्छा शक्ति के स्वरूप वाली है।

सूक्ष्मा वाक् का स्वरूप क्या है? सूक्ष्मा वाक् वाणी का वह स्तर है, जिसमें समस्त वाणियों का सामरस्य या समरसता है। यह परमेश्वर की उद्योगलक्षणा वृत्ति है। यह परमेश्वर के स्वरूप में अनुप्रविष्ट रहकर स्फुरित होती है। यह परावाक्रूपा-त्मिका स्वात्मस्फुरत्ता की अनुभूति है। इसे ही 'मन्त्र' भी कहा गया है। प्रकाशस्वरूप आत्मशक्ति का विमर्श ही इस अनुभूतिस्वरूप मन्त्र को अनुप्राणित करता है। यह आत्म-विमर्शस्वरूप परा वाक् सर्वसमरसात्मक है।

यथा मयूराण्ड-रस में मयूर के बच्चे के पैर, चोंच, पेट, आँख, हृदय एवं पंख आदि दृष्टिगोचर तो नहीं होते; किन्तु सूक्ष्म रूप से रहते सभी हैं, उसी प्रकार सूक्ष्मा वाक् में भी इन तीनों वाणियों का सूक्ष्मावस्थान है। यद्यपि ये उनमें दृष्टिगोचर नहीं होतीं—सूक्ष्मा तु शिखण्डयरसन्यायादुक्तवाक्त्रयशबलीभावस्वभावा प्रत्यग्द्रष्टुः परमेश्वरस्योद्योग-

१. परिमल

लक्षणावृत्तिरित्याख्यायते[१]। इसे परमेश्वर की उद्योगलक्षणावृत्ति भी कहते हैं।

परावाक् क्या है? यह परमेश्वर के स्वस्वरूप में प्रविष्ट रहकर परिस्फुरित होती है—परावाक् पुनस्तस्यैव परमेश्वरस्य स्वरूपमनुप्रवशिन्ती परिस्फुरति।[२]

ऋजुविमर्शिनी में भी कहा गया है—मातृका परवागात्माऽनाहतभट्टारकपरमशिव-स्वरूपां षट्त्रिंशत्तत्त्वप्रसरणहेतुभूतां संविदमित्यर्थः।[३]

सारांश यह कि मातृका परवाक् अनाहत नादात्मक है, परमशिवस्वरूप है। छत्तीस तत्त्वों के प्रसार की हेतु संवित् शक्ति के रूप में अवस्थित है। परा वाक् (सूक्ष्मा वाक्) का स्वरूप निम्नवत् है—

(क) यह वाक् अपने गर्भ में समस्त वाणियों को मयूराण्डरसन्यायवत् धारण करके सूक्ष्मतम अवस्था में स्थित है।

(ख) यह पश्यन्ती वाक् से अधिक सूक्ष्म है।

(ग) यह प्रत्यग्द्रष्टा परमेश्वर की उद्योगलक्षणा वृत्ति है।

(घ) यह परमेश्वर के स्वस्वरूप में प्रविष्ट होकर स्फुरित हो रही है।

(ङ) यह अनाहत भट्टारक परमशिव के स्वरूप वाली एवं छत्तीस तत्त्वों की जन्मदात्री संवित् शक्ति है।

संवित्स्तोत्र में भी कहा गया है—

त्वामुपासितगुरूत्तमाः परां वाचमाहुरविभक्तविश्वकाम्।
स्वप्रकाशनविमर्शनात्मिकां वक्ति वागिति निरुक्तिमास्थिताः।।

भगवान् की मुख्यतया पाँच शक्तियाँ हैं—चित् शक्ति, आनन्द शक्ति, इच्छा शक्ति, ज्ञान शक्ति एवं क्रिया शक्ति। इन पाँचों शक्तियों में इच्छादिक शक्तित्रय का विलास ही वाणियाँ हैं—तस्मादिच्छादिशक्तित्रितयविस्तारात्मा सर्वोऽपि वाग्विलास इत्युक्तं भवति।[४]

चूँकि वाणी से बोलने-सम्बन्धी कर्तृत्व-व्यापार निष्पादित किया जाता है; अतः इसे वाक्तत्त्व कहते हैं।

योगिनीहृदय में कहा गया है कि आद्या शक्ति अपने इच्छाशक्ति स्वरूप में पश्यन्ती नामक शरीर धारण करके, ज्ञान शक्तिस्वरूप में मध्यमा नामक शरीर धारण करके एवं क्रिया शक्तिस्वरूप में विश्वविग्रहा रौद्री के स्वरूपाभिव्यक्ति में वैखरी नामक शरीर धारण करके स्थित है।

(क) इच्छाशक्तिस्तथा सेयं पश्यन्तीवपुषा स्थिता।

---

१. महेश्वरानन्द
२. महेश्वरानन्द—परिमल
३. परिमल
४. परिमल (महेश्वरानन्द)

(ख) ज्ञानं शक्तिस्त्रिधा प्रोक्ता मध्यमा वागुदीरिता।
(ग) क्रियाशक्तिस्तु रौद्रीयं वैखरी विश्वविग्रहा।।

श्रीतन्त्रालोक में कहा गया है—

वाक् पश्यन्त्यथ मध्याऽन्या वैखरी चेति ता इमाः।
परापरा परा देवी चरमा त्वपरात्मिका।।
इच्छाशक्तित्रितयमिदमेव निगद्यते।
एतत् प्राणित एवायं व्यवहारः प्रतायते।।

स्वात्मस्फुरत्ता इच्छाशक्तिस्वरूपा है। उससे युक्त कोई विलक्षण अनुभूति ही मन्त्र है—तन्मयी च काचिदनुभूतिर्मन्त्रशब्दार्थ इति सर्वं सङ्गच्छते।

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।

इस नीति से तो प्रमाता-पर्यन्त कोई भी ऐसी सत्ता है ही नहीं, जो कि वाणी की सीमा से परे हो—सर्वोऽपि प्रमातृस्वभावः वाङ्मयतां नोल्लंघ-यति।

प्रकाशस्वरूप परमात्मा की अनुप्राणनात्मिका शक्ति विमर्शशक्ति है। वह मन्त्र, जप एवं पूजा आदि अनेक शब्दों से पुकारी जाती है—सा च मन्त्रजपपूजाद्यनेकशब्द-व्यपदेश्या भवति।[१]

श्रुति की दृष्टि—वेदों में कहा गया है कि वाणी के चार रूप हैं। उनमें तीन रूप तो गुहा में अवस्थित हैं; अतः वे अविज्ञात, अविज्ञेय एवं अप्रयुक्त हैं। वाणी का चतुर्थ रूप ही ऐसा रूप है, जो कि मनुष्य बोला करते हैं—

चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति।।

कामकलाविलास में वाक्तत्व-सम्बधिनी दृष्टि—परावाक् अवाङ्मन-सगोचरा, सर्वकारणभूता, सर्ववेदान्तैरपरिच्छेद्या, शिवादिधरण्यन्ततत्त्वसंघाताविर्भाव की भूमि महेश्वरी शक्ति है—अवाङ्मनसगोचरा सर्ववेदान्तैरपरिच्छेद्या सर्वकारणभूता शिवादि-धरण्यन्ततत्त्वसंघाताविर्भावभूमिः महेश्वरी परा सर्वोत्कृष्टा इत्युच्यते।[२]

कामकलाविलास में कहा गया है कि चक्र एवं वाणी के रूप में परा शक्ति ही अभिव्यक्त हुआ करती है—

यासान्तरोहरूपा परा महेशी त्रिभाविताकारा।
स्पष्टा पश्यन्त्यादि त्रिमातृकात्मा च चक्रतां याता।।२०।।

१. पश्यन्ती—

इच्छा ज्ञान क्रिया शान्ताश्चैताश्चोत्तरावयवाः।
व्यस्ताव्यस्ततदर्पणद्वयमिदमेकादशात्म पश्यन्ती।।२४।।

---

१. परिमल २. नटनानन्दनाथ (चिद्वल्ली)

२. मध्यमा—

द्विविधा हि मध्यमा सा सूक्ष्मा स्थूलाकृतिस्थिता सूक्ष्मा।
नवनादमयी स्थूला नववर्गात्मा च भूतलिप्याख्या।।[१]

३. वैखरी—

परया पश्यन्त्यापि च मध्यमया स्थूलवर्णरूपिण्या।
एताभिरेकपञ्चादशाक्षरात्मिका वैखरी जाता।।३२।।[२]

वाक्चतुष्टय का मूल स्वरूप क्या है? वाणियाँ वर्णरूप हैं, वर्ण ध्वनिरूप हैं, ध्वनियाँ नादरूपा हैं, नाद प्रणवरूप है तथा प्रणव शब्दब्रह्मस्वरूप है—

तस्य वाचको हि प्रणवः (योगसूत्र)।

वाणियाँ त्रिपुरसुन्दरीस्वरूपा हैं—वाणी की समस्त वाग्वृत्तियाँ शब्दब्रह्म में अवस्थित शक्तिस्वरूपा हैं। इसीलिये ललितासहस्रनाम में भगवती के नामों का उल्लेख करते हुये इन वाणियों को भी उनके नामों में अन्तर्भुक्त किया गया है और कहा गया है—

परा प्रत्यक् चितीरूपा पश्यन्ती परदेवता।
मध्यमा वैखरीरूपा भक्तमानसहंसिका।।
(ललितासहस्रनाम)

आचार्य भास्करराय की दृष्टि—आचार्य भास्कर सौभाग्यभास्कर में कहते हैं कि वाक्चतुष्टय का स्वरूप इस प्रकार है—

१. कारणबिन्द्वात्मकमभिव्यक्तं शब्दब्रह्म स्वप्रतिष्ठतया निष्पन्दं तदेव च परावागित्युच्यते (परावाक् का स्वरूप)।

२. अथ तदेव नाभिपर्यन्तमागच्छता तेन पवनेनाभिव्यक्तं विमर्शरूपेण मनसा युक्तं सामान्यस्पन्दप्रकाशरूपकार्यबिन्दुमयं सत्पश्यन्तीवागुच्यते (पश्यन्ती वाक् का स्वरूप)।

३. अथ तदेव शब्दब्रह्म तेनैव वायुना हृदयपर्यन्तमभिव्यज्यमानं निश्चयात्मिकया बुद्ध्या युक्तं विशेषस्पन्दप्रकाशरूपनादमयं सन्मध्यमा वागित्युच्यते (मध्यमा वाक् का स्वरूप)।

४. अथ तदेव वदनपर्यन्तं तेनैव वायुना कण्ठादिस्थानेष्वभिव्यज्यमानमकारादि-वर्णरूपपरं श्रोत्रग्रहणयोग्यस्पष्टतरप्रकाशरूपबीजात्मकं सद्वैखरीवागुच्यते (वैखरी वाक् स्वरूप)।

आचार्य शंकर की दृष्टि—आचार्य शंकर ने प्रपञ्चसार तन्त्र में इन वाणियों के

१. काम-कलाविलास।
२. कामकला विलास।
पराभूजन्म पश्यन्ती वल्लीगुच्छसमुद्भवा।
मध्यमा सौरभा वैखर्यक्षमाला जयत्यसौ।। (सु. वा.)

स्वरूप का निर्वचन करते हुये कहा है—

> मूलाधारात् प्रथममुदितो यश्च भावः पराख्यः
> पश्चात्पश्यन्त्यथ हृदयगो बुद्धियुङ्मध्यमाख्यः।
> व्यक्ते वैखर्यथ रुरुदिषोरस्य जन्तोः सुषुम्णा-
> बद्धस्तस्माद् भवति पवने प्रेरिता वर्णसंज्ञा।।

नित्यातन्त्र की दृष्टि—

> मूलाधारे समुत्पन्नः पराख्यो नादसम्भवः।
> स एवोर्ध्वतयानीतः स्वाधिष्ठाने विजृंभितः।।
> पश्यन्त्याख्यामवाप्नोति तथैवोर्ध्वं शनैः शनैः।
> अनाहते बुद्धितत्त्वसमेतो मध्यमाभिधः।।

आचार्य भास्कर ठीक ही कहते हैं कि चारों उपर्युक्त मातृकाओं में परा आदि तीन मातृकाओं का ज्ञान न होने से स्थूलदृक् मनुष्य वैखरी वाक् मात्र का प्रयोग करते हैं। श्रुति भी कहती है—

> तस्माद्यद्वाचोऽनाप्तं तन्मनुष्या उपजीवन्ति।

(अनाप्त = अपूर्ण। तीन वाणियों से विरहित—वेदभाष्य)।

स्कन्दपुराण की दृष्टि—स्कन्दपुराण के यज्ञवैभव खण्ड में कहा गया है—

> अपदं पदमापन्नं पदं चाप्यपदं भवेत्।
> पदापदविभागं च यः पश्यति स पश्यति।।

(अपदं = गतिरहित निःस्पन्द शब्दब्रह्म)। अपदस्वरूप शब्दब्रह्म परा, पश्यन्ती, मध्यमा एवं वैखरी नामक चतुर्विध रूपों में व्यक्त हो जाता है। जो इन्हें जानता है, वह अपद (ब्रह्म) हो जाता है। (पदापदविभाग = पदचतुष्टय)।

त्रिपुरासिद्धान्त की दृष्टि—त्रिपुरासिद्धान्त में कहा गया है कि परा का स्वरूप निम्नाङ्कित है—

> श्रीपरानन्दनाथस्य प्रसन्नत्वात्परेति सा।
> परानन्दाभिधे तन्त्रे प्रसिद्धत्वाच्च सा परा।
> प्रासादरूपिणी चेति परा सा शाम्भवी परे।

वाणियों के नामकरण का आधार—इस वाक् का नाम पश्यन्ती क्यों है? इसपर भास्करराय कहते हैं—पश्यतीति पश्यन्ती। इसे उत्तीर्ण भी कहा गया है। सौभाग्य-सुधोदय में कहा गया है—

> पश्यति सर्वं स्वात्मनि करणानां यदुत्तीर्णा।
> तेनेयं पश्यन्तीत्युत्तीर्णेत्यप्युदीर्यते माते।।

'परा' नाम क्यों है? परा अर्थात् उत्कृष्ट। उत्कृष्ट देवता = परदेवता—परा उत्कृष्टा चासौ देवता च परदेवता। उपास्येश्वरस्वरूपेत्यर्थः।[१]

'मध्यमा' नामकरण क्यों है? इसपर कहते हैं कि मध्ये स्थिता मध्यमा[२]। इसी दिशा में कहा भी गया है—

पश्यन्तीव न केवलमुत्तीर्णा नापि वैखरीव बहिः।
स्फुटतरनिखिलावयवा वाग्रूपा मध्यमा तयोरस्मा।।

अर्थात् न तो यह पश्यन्ती की भाँति अतिसूक्ष्म एवं अवाच्य है और न तो वैखरी वाक् की भाँति स्फुटतर है; अतः दोनों वाणियों के मध्य में स्थित रहने के कारण मध्यमा कही जाती है।

'वैखरी' नाम क्यों? वैखरी—विशेषेण खरः कठिनस्तस्येयं वैखरी सैव रूपं यस्याः। घनभावमापन्नेति यावत्। वै निश्चयेन खं कर्णविवरं राति गच्छतीति व्युत्पत्तिः।

(वै = विशेष रूप से, खर = कठिन। निश्चित रूप से कठिन स्वरूप है जिसका, वह है—वैखरी। सा = निश्चित रूप से जो कर्णरन्ध्र में प्रवेश करता है अर्थात् जो घन-भावापन्ना हो, वही है—वैखरी।[३] सौभाग्यसुधोदय में भी कहा गया है—प्राणेन विवराख्येन प्रेरिता वैखरी पुनः।)

वाणी और त्रिपुरभैरवी (महेशी) **में ऐकात्म्यभाव**—कामकलाविलास में कहा गया है कि वितर्कातीत परा महेशी देवी पश्यन्ती आदि मातृकाओं के रूप में एवं चक्रों के रूप में रूपान्तरित हो गई है। महेशी एवं चक्रों में कोई भेद नहीं है—

यासान्तरोहरूपा परा महेशी त्रिभाविताकारा।
स्पष्टा पश्न्त्यादि त्रिमातृकात्मा च चक्रतां याता।।२०।।

परा शक्ति का रूपान्तरण (परिणति)

पश्यन्ती आदि वाणी के रूप में | चक्रों के रूप में

पश्यन्ती वह है, जो परा के अव्यवहित उत्तरवर्ती है, सृष्टिरूपात्मिका है और वामा से शान्तापर्यन्त व्यष्टिभूता शक्तियों की जन्मदात्री है इसके कारण वह नवरूपात्मिका बन गई है। वह माता 'मध्यमा' दो प्रकार के नामों से द्विभेदा है और उसके भेद हैं—स्थूल एवं सूक्ष्म। सूक्ष्म रूप में वह नौ नादों वाली है और स्थूल रूप में अक्षरों के नौ वर्गों वाली है—

एका परा तदन्या वामादिव्यष्टिमातृसृष्ट्यात्मा।
तेन नवात्मा जाता माता सा मध्यमाभिधानाभ्याम्।।२६।।

१-३. सौभाग्यभास्कर

द्विविधा हि मध्यमा सा सूक्ष्मा स्थूलाकृतिस्थिता सूक्ष्मा।
नवनादमयी स्थूला नववर्गात्मा च भूतलिप्याख्या।।२७।।[१]

पश्यन्ती—

इच्छाज्ञानक्रियाशान्ताश्चैताश्चोत्तरावयवाः ।
व्यस्ताव्यस्ततदर्णद्वयमिदमेकादशात्म पश्यन्ती।।[२]

सोमानन्द शिवदृष्टि में कहते हैं कि पश्यन्ती इच्छाशक्ति नहीं, ज्ञान शक्ति का रूप है। शिवदृष्टि में पश्यन्ती को ज्ञानशक्त्यात्मक सदाशिव कहा गया है—

अथास्माकं ज्ञानशक्तिर्या सदाशिवरूपता।
वैयाकरणसाधूनां पश्यन्ती सा परा स्थितिः।।[३]

सामान्यतः पश्यन्ती को इच्छाशक्तिस्वरूपात्मिका कहा गया है और मध्यमा को ज्ञानशक्ति माना गया है—

(क) ऋजुरेखामयी अत्र शृंगाटग्ररेखाकारा मध्यमा वागुदीरिता।[४]
(ख) ज्ञानशक्तिस्तथा ज्येष्ठा मध्यमा वागुदीरिता।[५]

शिवदृष्टि में पश्यन्ती को ही परंब्रह्म भी कहा गया है—

इत्याहुस्ते परं ब्रह्म यदनादि तथाक्षयम्।
तदक्षरं शब्दरूपं सा पश्यन्ती परा हि वाक्।।

परावाक् का स्वरूप क्या है—

आत्मनः स्फुरणं पश्येद्यदा सा परमा कला।
अम्बिका रूपमापन्ना परावाक् समुदीरिता।।[६]

जब परमा कला परमशिव की दिदृक्षावश उत्सुक होती है तब वह अम्बिका का स्वरूप धारण कर लेती है और परावाक् कहलाती है—

शक्ति और वाक्तत्त्व

१. प्रकाशांश (अम्बिका) + विमर्शांश (शान्ता) → परा वाक्
२. प्रकाशांश (वामा) + विमर्शांश (इच्छाशक्ति) → पश्यन्ती वाक्
३. प्रकाशांश (ज्येष्ठा) + विमर्शांश (ज्ञानशक्ति) → मध्यमा वाक्
४. प्रकाशांश (रौद्री) + विमर्शांश (क्रियाशक्ति) → वैखरी वाक्

---

१. कामकलाविलास
२. कामकलाविलास
३. शिवदृष्टि (२.१)
४. दीपिका
५. योगिनीहृदय
६. योगिनीहृदय

१. इच्छाशक्तिस्तथा वामा पश्यन्ती वपुषा स्थिता।
२. ज्ञानशक्तिस्तथा ज्येष्ठा मध्यमा वागुदीरिता।।
३. ॠजुरेखामयी विश्वस्थितौ प्रथितविग्रहा।
तत्संहृतिदशायां तु बैन्दवं रूपमास्थिता।।
प्रत्यावृत्तिक्रमेणैव शृंगाटवपुरुज्ज्वला।
क्रियाशक्तिस्तु रौद्रीयं वैखरी विश्वविग्रहा।।

नटनानन्दनाथ ने (चिद्वल्ली में) ठीक ही कहा है कि इच्छा-ज्ञान-क्रिया शक्तियाँ ही पश्यन्ती आदि शक्तित्रय से आपन्न हैं—इच्छाज्ञानक्रियाशक्तय एव पश्यन्त्यादिशक्तित्रितयतामापन्नाः।

समस्त विश्व मातृका के परतेज से ही प्रकाशित है—

या सा तु मातृका लोके परतेजस्समन्विता।
तया व्याप्तमिदं सर्वमाब्रह्मभुवनान्तकम्।।[1]

पश्यन्ती नव रूपात्मिका है। मध्यमा स्थूल एवं सूक्ष्म दो भेद वाली है। सूक्ष्म मध्यमा के ९ प्रकार हैं।

पश्यन्ती

११ भेद	९ भेद
एकादशात्म पश्यन्ती	तेन नवात्मा जाता (काम०-२६)
(काम०-२४)	नव चक्र योनि के कारण यह नवात्मा है।

मध्यमा

स्थूल (अक्षरों के ९ वर्गों से युक्त)	सूक्ष्म (९ नादों से युक्त)
(नववर्गात्मा)	(कामकला०-२७) (नवनादमयी)

मध्यमा—

द्विविधा हि मध्यमा सा सूक्ष्मास्थूला कृतिस्थिता सूक्ष्मा।
नवनादमयी स्थूला नवर्गात्मा च भूतलिप्याख्या।।(काम०-२७)

वैखरी—सैव वैखरी अभिलपनरूपिणी पञ्चदशाक्षरराशिमयी सर्ववैदिकतान्त्रिकशब्दजालात्मिका शक्तिरुच्यते।[2]

मध्यमा—

नववर्ग—अ क च ट त प य श ल।

---

१. तन्त्रसद्भाव २. चिद्वल्ली

नवनादमयी (नादों का नाम तथा उनका क्रम)—

१. चिणी	५. तन्त्रीनाद	९. मृदंगनाद
२. चिणिचिणी	६. तालनाद	१०. मेघनाद[१]
३. घण्टानाद	७. वेणुनाद	
४. शंखनाद	८. भेदीनाद	

इन नादों में नवम मृदंगनाद का त्याग करके दशम नाद (मेघनाद) का अभ्यास करना चाहिये। उसके मन में विलीन हो जाने पर और संकल्प-विकल्प के दग्ध हो जाने पर 'सदाशिवोऽहं' की अनुभूति होती है।[२]

नाद (त्रिपुरसारसमुच्चय)—

१. आदि में उन्मत्त भ्रमरों के समूह का नाद।
२. फिर वायु से भरे हुये वंश के समान नाद।
३. फिर घण्टानाद के समान नाद।
४. फिर समुद्र के नाद के समान नाद।
५. फिर पर्जन्य घोष।

सर्वोच्च नाद ॐकार का उच्चारण—

१. ह्रस्वोच्चारण (बिन्दु से सम्बद्ध)।
२. दीर्घोच्चारण (ब्रह्मरन्ध्र से सम्बद्ध)।
३. प्लुतोच्चारण (द्वादशान्त मन्त्र से सम्बद्ध)। (वराहोपनिषद्)

नाद (घेरण्डसंहिता)—

१. झिञ्झी नाद	५. भ्रमरी नाद	९. भेरी नाद
२. वशी नाद	६. घण्टा नाद	१०. मृदंग नाद
३. मेघ नाद	७. कांस्य नाद	११. नगाड़ा का नाद
४. झर्झर नाद	८. तुरी नाद	

नाद (शिवसंहिता)—

१. मत्त भृंगनाद	४. घण्टा नाद
२. वेणु नाद	५. मेघ नाद
३. वीणा नाद	

(लययोग की प्राप्ति)

ओंकार का उच्चारण—

१. ह्रस्व → समस्त पापों का नाश।

---

१. नटनानन्द (चिद्वल्ली) २. परमहंसोपनिषत् (चिद्वल्ली)

२. दीर्घ → मोक्ष।

३. प्लुत → रक्षा।

(वराहोपनिषद्)

नादबिन्दूपनिषद् के अनुसार द्वादश कलात्मक ॐ की मात्रायें—

१. प्रथम मात्रा—अकार, आग्नेयी मात्रा। रूप = अग्निसदृश। देवता = अग्नि। प्रथम मात्रा = तीन कलायें। (ब्रह्मा)

२. द्वितीय मात्रा—उकार, वायव्य। रूप = वायुमण्डल के सदृश। देवता = वायु। द्वितीय मात्रा = तीन कलायें। (विष्णु)

३. तृतीय मात्रा = (उत्तर मात्रा) मकार, रूप = सूर्यवत्। देवता = सूर्य। तृतीय मात्रा = तीन कलायें। (महेश)

४. चतुर्थ मात्रा = (अर्द्धमात्रा) वारुणी, देवता = वरुण। चतुर्थ मात्रा = तीन कलायें।

द्वादश कलाओं में मात्रायें—

१. घोषिणी	५. नामधेया	९. महती
२. विद्युन्माला	६. ऐन्द्री	१०. ध्रुवा
३. पंतगी	७. वैष्णवी	११. मौनी
४. वायुवेगिनी	८. शांकरी	१२. ब्राह्मी

(नादबिन्दूपनिषद्)
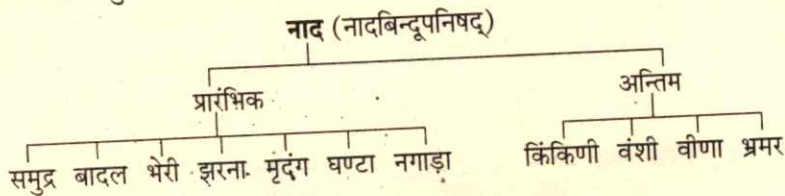
नाद की चार अवस्थायें[1]—

१. आरम्भावस्था (ब्रह्मग्रन्थभेद—क्वणक नाद)।

२. घटावस्था (विमर्द, भेरीनाद)।

३. परिचयावस्था (मर्दल ध्वनि)।

४. निष्पत्त्यवस्था (वेणु-ध्वनि)।

नादनवक के स्थान (वरिवस्यारहस्य : प्रकाश)—

१. मूलाधार आदि षट् चक्रों में।

२. नाद में।

३. नादान्त में।

४. ब्रह्मरन्ध्र में।

वाणियों के नादात्मक रूप—मध्यमा और पश्यन्ती नादात्मिका हैं। उसका स्वरूप इस प्रकार है—

१. हठयोगप्रदीपिका

१. पश्यन्ती—ईक्षणमेव प्रवृत्तिनिमित्तीकृत्य तस्यां पश्यन्तीति पदं प्रवर्तते सैव च पश्यन्त्याख्या मातृका करणसरणित उत्तीर्णत्वादुत्तीर्णेत्युच्यते। तदवयवाश्च वामादयोऽष्टौ शक्तयोऽन्यत्र प्रपञ्चिताः। वही व्यष्टि एवं समष्टि के भेद से नौ प्रकार का है।[1]

वर्णेषु नादो अनुस्यूतः (भास्करराय : वरिवस्यारहस्यम्)।

२. मध्यमा—

ज्ञानशक्तिस्तथा ज्येष्ठा मध्यमा वागुदीरिता।
इच्छाशक्तिस्तथा वामा पश्यन्ती वपुषा स्थिता।।

वैखरी वाक् वर्णात्मक है; अतः उसमें नाद प्रच्छन्न है, गुप्त है; अभिव्यक्त नहीं है। परा तो नादब्रह्म है, शब्दब्रह्म है, महानाद है। इसी परब्रह्मस्वरूप नाद से सारे नाद समुत्पन्न हुये हैं; किन्तु पश्यन्ती एवं मध्यमा नादात्मक होते हुये भी यत्किंचित् सृष्ट्युन्मुखी हैं; किन्तु परा विश्वातीता परमा अवस्था है।

वाक्तत्त्व का वंशवृक्ष

परावाक्	पश्यन्ती वाक्	मध्यमा वाक्	वैखरी वाक्
(भूमि)	(गुच्छसमुद्भवा वल्ली)	(सौरभ)	(अक्षमाला)

सुभगोदयवासना में कहा गया है कि परा वाक् भूमि है, जिसमें नादरूपी वृक्ष अवस्थित है। पश्यन्ती वाक् इस नादरूपी वृक्ष की गुच्छसमुद्भवा वल्ली है। मध्यमा वाक् पुष्प या मंजरी का परिमल है तथा वैखरी वाक् अक्षमालारूपी फल है। (अक्षमाला—अ से क्ष पर्यन्त वर्णसंघात, वर्णमाला, मालिनी)।

वाणियों का (नादात्मिका, वर्णात्मिका शक्तियों का) **यथार्थ मूल स्वरूप**— परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी वाणियों का मूल स्वरूप शक्त्यात्मक है, विमर्शात्मक है, संविदात्मक है और प्रकाश-विमर्श के यामल की परिणति है। इसमें निम्नांकित शक्तियाँ अन्तर्गर्भित हैं—

परा वाक्	प्रकाशांश—अम्बिका	विमर्शांश—शान्ता	(वाक्चतुष्टय का जन्म)
पश्यन्ती वाक्	प्रकाशांश—वामा	विमर्शांश—इच्छाशक्ति	
मध्यमा वाक्	प्रकाशांश—ज्येष्ठा	विमर्शांश—ज्ञानशक्ति	
वैखरी वाक्	प्रकाशांश—रौद्री	विमर्शांश—क्रियाशक्ति	

चिदानन्दवासना में कहा गया है—

विवक्षाव्यवसायोक्तिरूपा एतास्त्रिमातरः।
पश्यन्त्यादि महादेव्या स्वरूपा नात्र संशयः।।

१. वरिवस्यारहस्यम्

इच्छाशक्तिस्तथा वामा पश्यन्ती वपुषा स्थिता।
ज्ञानशक्तिस्तथा ज्येष्ठा मध्यमा वागुदीरिता।।
प्रत्यावृत्तिक्रमेणैव शृङ्गाटवपुरुज्ज्वला।
क्रियाशक्तिस्तु रौद्रीयं वैखरी विश्वविग्रहा।।
या सा तु मातृका लोके परतेजस्समन्विता।
तया व्याप्तमिदं सर्वमाब्रह्मभुवनान्तरम्।।

वैखरी वाक् और उसका स्वरूप—वैखरी वाक् के निम्न लक्षण हैं—

१. वैखरी वाक् मुख के उच्चारणस्थानों से उच्चरित होती है और ध्वनि के स्थूलतम स्वरूप को धारण किये हुये है। इसका आत्मस्वरूप नादतत्त्व इसमें प्रच्छन्न या सुषुप्त है।

२. यह अभिलापात्मक वाक् है—वैखरी नाम अभिलापरूपिणी पञ्चदशाक्षरराशिमयी सर्ववैदिकलौकिकशब्दनात्मिका शक्तिरित्युच्यते।

यह पञ्चदशाक्षरराशिमयी एवं सम्पूर्ण वैदिक-लौकिक शब्दों की आत्मा है।

३. सुभगोदयवासना के अनुसार परा भूमि = बीजों के अंकुरित होने की भूमि है, पश्यन्ती लतागुच्छ है, मध्यमा सौरभ है और वैखरी अक्षमाला है।

४. नटनानन्दनाथ ने चिद्वल्ली टीका में वैखरी को पञ्चदशाक्षरमयी कहा है; जब कि वर्णमाला पञ्चाशत् या एकपञ्चाशन्मयी (५० या ५१ वर्णों वाली) है।

५. भास्करराय ने सौभाग्यभास्कर में भगवती ललिता (त्रिपुरसुन्दरी) के जो तीन स्वरूप स्वीकार किये हैं, उनमें ये रूप निम्नांकित हैं—

भगवती त्रिपुरसुन्दरी के विभिन्न रूप
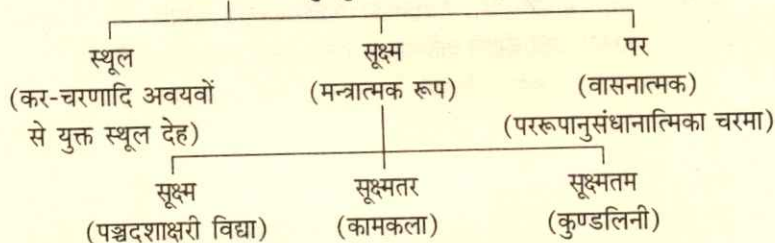
पञ्चदशाक्षरी विद्या—ललिता देवी का मन्त्र 'पञ्चदशी' पञ्चाशत् वर्णमाला का प्रतीक है। कामकलाविलास (श्लोक-३२) में कहा गया है—

परया पश्यन्त्यापि च मध्यमया स्थूलवर्णरूपिण्या।
एताभिरेकपञ्चादशाक्षरात्मिका वैखरी जाता।।

अर्थात् परा, पश्यन्ती एवं स्थूल मध्यमा—इनके द्वारा ५१ अक्षरों वाली वैखरी उत्पन्न हुई। वैखरी = ५१ वर्णा।

इन १५ वर्णों से ५१ वर्णों का ग्रहण हो जाता है।

मन्त्र (वर्ण-संघातस्वरूप मन्त्र) युक्त चक्र भगवती का स्वशरीर है—

इत्थं मन्त्रात्मकं चक्रं देवतायाः परं वपुः।

(मन्त्रसंकेत : यो. हृ.)

पञ्चदशाक्षरी मन्त्र में ५० मातृकावर्णात्मक कलायें अंतर्गर्भित हैं—

षोडशेन्दोः कला भानोः द्विर्द्वादशदशनले।
सा पञ्चाशत्कला ज्ञेया मातृकाचक्ररूपिणी।।

वैखरी को जो अभिलापरूपिणी कहा गया है, वहाँ अभिलाप शब्द वर्णात्मक शब्दों का ही द्योतक है। अभिनवगुप्त ने आन्तर शब्दात्मक सञ्जल्प को ही अभिलाप कहा है।

वैखरी के भेद—तन्त्रालोक के अनुसार वैखरी के तीन भेद हैं—

१. स्थूल वैखरी → स्फुट वर्णों की उत्पादिका → १. पद, २. वाक्य आदि।
२. सूक्ष्म वैखरी → विवक्षात्मक अनुसंधान।
३. परवैखरी—अनुपाधिमान चिदात्मक स्वरूप ही वैखरी का पररूप है।

या तु स्फुटानां वर्णानामुत्पत्तौ कारणं भवेत्।
सा स्थूला वैखरी यस्याः कार्यं वाक्यादिभूयसा।

(तन्त्रालोक-३.२४४)

क्रियाशक्ति और वैखरी—वैखरी शक्ति के रूप में परमशिव की क्रिया शक्ति है। अस्फुट क्रिया शक्ति तो बीजावस्था (परमा कला) में अवस्थित रहती है; किन्तु वर्णों के धरातल पर स्फुट रूप में रहती है। यह क्रिया शक्ति एक ओर विश्व का सृजन करती है, वहीं यह वैखरी वाक् की जन्मदात्री भी है। यह विमर्शात्मिका भी है।

सा हि क्रिया मूलभूमौ संवेदनमेव अवलम्बते विमर्शरूपत्वात् (ई. प्र. वि. अ.-१ वि.-१)।

वैखरी रौद्री शक्ति भी कहलाती है और संहार का बोध कराती है। वैखरी को शृंगाटवपु (सिंघाड़े के आकार वाली) भी कहा गया है। योगिनीहृदय में कहा गया है—

तत्संहृतिदशायां तु बैन्दवं रूपमास्थिता। (३९)
प्रत्यावृत्तिक्रमेणैव शृंगाटवपुरुज्ज्वला।
क्रियाशक्तिस्तु रौद्रीयं वैखरी विश्वविग्रहा।। (४०)

वैखरी रूप स्थूल वाक् कारणबिन्दु से कार्यबिन्दु एवं नादात्मा मूल, अंकुर एवं प्रसरस्वरूपों को अतिक्रान्त करके बिन्दुरूप में पुनः परावर्तनात्मक संहार दशा का बोध कराती है। अतः इसे रौद्री शक्ति भी कहा गया है—सैव शक्तिबिन्द्वात्मकरूपात् सृष्ट्या-

त्मना निर्गत्य स्थित्यात्मना कञ्चित्कालं स्थित्वा पुनर्बैन्दवं रूपमस्थातुमुद्युक्ता यदा परावर्तते तदा विश्वसंहारदशां निमित्तीकृत्य पूर्ववत् रौद्री क्रिया वैखरीति पदानि तस्यां प्रवर्तते (सेतुबन्ध)।

परावाक् ही वैखरी बनकर प्रकट होता है। बिन्दु, नाद एवं बीज में से बीज को वैखरी वाक् कहा गया है। परा वाक् (शब्दब्रह्म) ही हृदय से मुखपर्यन्त वायु की सहायता से कण्ठ, तालु, दन्त, जिह्वा आदि उच्चारणस्थानों से व्यक्त होकर अकारादि वर्णों का स्वरूप ग्रहण करके श्रोत्रग्राह्य बनकर तथा स्पष्टतर एवं प्रकाशात्मक स्थूल भाव ग्रहण करके वैखरी स्वरूप में प्रकट होता है—अथ तदेव वदनपर्यन्तं तेनैव वायुना कण्ठादिस्थानेष्वभिव्यज्यमानमकारादिवर्णरूपमपरं श्रोत्रग्रहणयोग्यस्पष्टतरप्रकाशरूपबीजात्मकं सद्वैखरी वागुच्यते (सौभाग्यभास्कर)।

विराट् पुरुष एवं वैखरी वाक् का तादात्म्य—जो विराट् पुरुष है, उसका और स्थूल वाक् का तादात्म्य सम्बन्ध भी है। पद्मपादाचार्य ने प्रपञ्चसारतन्त्र की अपनी टीका में लिखा है—अथ विराड्रूपिणीं बीजात्मिकां हृदयादास्यान्तं अभिव्यज्यमानां शब्दसामान्यात्मिकां वैखरीमाह वक्त्र इति। विशेषेण खरत्वात् वैखरी।

(क) सौभाग्यभास्कर में भास्करराय ने भी इस तथ्य की पुष्टि की है—वैखर्यात्मकपदानां विराट्पुरुषेणैव सह तादात्म्येन शुद्धब्रह्मतादात्म्यम्।

(ख) आचार्य लक्ष्मीधर लक्ष्मीधरा टीका में कहते हैं कि पञ्चदशी मन्त्र के १५ वर्ण वर्णमाला के ५० वर्णों के द्योतक हैं; क्योंकि मन्त्र के प्रथमाक्षर 'क' से लेकर अंतिम अक्षर 'ल' को अल् प्रत्याहार मानकर देखा जाय तो तन्मध्यवर्ती समस्त वर्ण उसमें गृहीत हो जायेंगे; अत:—एता: पञ्चाशत्कला: पञ्चाशद्वर्णात्मिका पञ्चदशाक्षरी मन्त्रे अन्तर्भूता:।

मध्यमा वाक्—आचार्य शंकर प्रपञ्चसारतन्त्र के द्वितीय पटल में कहते हैं कि मूलाधार से प्रकट होकर परा नामक भाव आगे अपनी निष्पन्दावस्था त्याग कर सस्पन्द स्वरूप में पश्यन्ती स्वरूप में तथा आगे हृदय में पहुँकर तथा बुद्धि से युक्त होकर मध्यमा वाक् के रूप में अवतरित होता है—

मूलाधारात् प्रथममुदितो यस्तु भाव: पराख्य:।
पश्चात् पश्यन्त्यथ हृदयगो बुद्धियुङ्मध्यमाख्य:।।

वाक्तत्त्व (पद्मपादाचार्य प्र. सा. तं.)—

१. निष्पन्दावस्थावस्थित = परावाक्। परावाक् (परा नामक भाव)—मूलाधार। भाव = य: जगद् भावयति मायाशक्तिर्भाव: स पराख्य:। मूल = मूलं जगन्मूलभूता परिणामिनी मायाशक्ति:।

चैतन्याभासविशिष्टतया प्रकाशिका माया निष्पन्दा परा वागित्यर्थः।

२. सस्पन्दावस्थावस्थित = पश्यन्ती वाक्। (तत्र सामान्यस्पन्दप्रकाशरूपिणी नाद-तत्त्वात्मिका अध्यात्ममूलाधारा दिनाभ्यन्तरभिव्यज्यमाना)। पश्यन्ती नाम क्यों? सामान्य-ज्ञानात्मकत्वात् पश्यन्ती सा।

३. सस्पन्दावस्थावस्थित = मध्यमा वाक्। विशेषस्पन्द रूपिणी।

१. बाह्यान्तःकरणाद्यात्मिका, हिरण्यगर्भरूपिणी, बिन्दुतत्त्वमयी। नाभ्यादिहृद-यान्ताभिव्यक्तिस्थाना, विशेषस्पन्दसंकल्पादिसतत्त्वा, मध्ये मा बुद्धिर्यस्याः सा मध्यमा।

वाणी के अन्य विभाजन

१. निस्पन्दावस्था में स्थित वाणी = परा भाव।
२. सामान्यस्पन्दावस्था में स्थित वाणी = पश्यन्ती।
३. विशेषस्पन्दावस्था में स्थित वाणी = मध्यमा। (पद्मपादाचार्य)

पश्यन्ती = नादात्मक। मध्यमा = बिन्दुरूप।

सामान्यतः मध्यमा को नाद ही कहा जाता है; किन्तु पद्मपाद ने इसे बिन्दुरूपा कहा है। मध्यमा नादात्मिका है या कि बिन्द्वात्मिका? राघवभट्ट ने कहा है कि नाद-बिन्दु के दो रूप हैं—कारणात्मक नादबिन्दु → कार्यरूप नादबिन्दु। नादबिन्दु : पश्यन्ती मध्यमा—एतौ नादबिन्दू प्रथमोक्तनादबिन्दुभ्यामन्यौ तत्कार्यरूपौ ज्ञेयौ। तदुक्तं स बिन्दुर्भवति त्रिधा। (राघवभट्ट)

कामकलाविलास में मध्यमा वाक् को नवनादमयी कहा गया है—

> द्विविधा मध्यमा सा सूक्ष्मस्थूलाकृतिः स्थिता सूक्ष्मा।
> नवनादमयी स्थूला नववर्गात्मा च भूतलिप्यात्मा।।२७।।
> आद्या कारणमन्या कार्यं त्वनयोर्यतस्ततो हेतोः।

सृष्टि के आदि में प्रकट शब्द—मध्यमा वाक् सृष्टि के आदि में प्रकट होता है। उस काल में उसका कोई बाह्य अर्थ नहीं होता। मध्यमा शब्द वह मानसिक स्थिति है, जो किसी वस्तु की धारणा-मात्र निर्मित करती है। मध्यमा अर्थ स्थूल बाह्य वस्तु की मानसिक छाप है। मध्यमा शब्द एवं मध्यमा अर्थ (ज्ञाता और ज्ञेय : ग्राहक एवं

ग्राह्य) सूक्ष्म शरीर के विषय हैं। मध्यमा वाणी एवं उसका अर्थ—दोनों सूक्ष्म हैं और सूक्ष्म या लिंगशरीर में स्थित हैं।

अर्थ-ग्रहण की दो दिशायें हैं। यहाँ मन दो कार्य संपादित करता है—१. ग्राहक २. ग्राह्य। अर्थात् मन का एक अंश तो सूक्ष्म शब्द के साथ एकाकार हो जाता है और उसका द्वितीयांश बाह्य वस्तु के रूप में आकार ग्रहण करता है। इसे ही सूक्ष्म अर्थ कहते हैं। इस प्रकार १. सूक्ष्म शब्द एवं २. सूक्ष्म अर्थ—मन के ही दो रूप हैं। सूक्ष्म शब्द और सूक्ष्म अर्थ—ग्राहक एवं ग्राह्यरूप में मन की ही अभिव्यक्ति हैं। सूक्ष्म शब्द ग्राहक है और सूक्ष्म अर्थ ग्राह्य है। दोनों ही सूक्ष्म शरीर के अधीनस्थ हैं।

मध्यमा नाम परापश्यन्त्योः उच्चानुच्चावस्थात्मिका। सा द्विविधा वामादिव्यष्टिरूपा वामादिसमष्टिरूपा चेति। वामादिसमष्टिरूपा सूक्ष्मा, वामादिव्यष्टिरूपा स्थूला। वामादयः शक्तयः वामा, ज्येष्ठा, रौद्री, अम्बिका। एताश्चतस्रः शक्तयः श्रीचक्रान्तर्गताधोमुखचतुर्योन्यात्मिकाः। इच्छा, ज्ञानं, क्रिया, शान्ता, परा चेति पञ्च शक्तयः श्रीचक्रान्तर्गतोर्ध्वमुखशक्तियोन्यात्मिकाः। एताभिः शक्तिभिः नवव्यूहात्मिकाभिः भगवत्याः नवात्मकत्वं उच्यते। (लक्ष्मीधरा)

मध्यमा

सूक्ष्म (नवनादमय) → → → स्थूल (नव वर्गात्मक)

सूक्ष्म: चिणि चिणिचिणी घण्टानाद शंखनाद आदि

स्थूल: अ। क। च। ट। त। प। य। श। ल। = ९ वर्ग
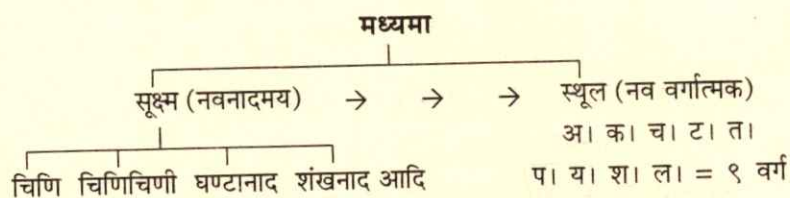
(सूक्ष्म श्रोत्रग्राह्य नहीं हैं; समाधिगम्य हैं—तत्र सूक्ष्मा समाधिबलेन अनुभूयमाना (का. कला.)।

भास्कर = नव नादों की समष्टि ही मध्यमा है। वरिवस्यारहस्यम् में भास्कर कहते हैं—मध्यमाख्या मातृका मध्यमावयवरूपमविकृतशून्यस्पर्शनादध्वनिबिन्दुशक्तिबीजाक्षराख्यं नादनवकं मूलाधारादिषट्के नादे नादान्ते ब्रह्मरन्ध्रे च स्थितम्।

महानाद (मध्यमा नाद : अव्यक्त ध्वनि) **के भेद**—

१. घोष	३. स्वन	५. स्फोट	७. झांकार
२. राव	४. शब्द	६. ध्वनि	८. ध्वंकृति

१. घोष = कान और ऊंगुली के संयोग से, प्रदीप्त अग्नि से संजात ध्वनि के समान श्रुत शब्द 'घोष' कहलाता है।

२. राव = घोष के बाद काँसे के टूटने के तुल्य जो कठोर शब्द श्रुतिगोचर होता है, उसे 'राव' कहते हैं।

३. स्वन = बाँस की ध्वनि के समान तथा निर्वात प्रदेश में सौम्य वर्षा के अनुरूप नाद ही 'स्वन' कहलाता है।

४. शब्द = आकाश में भ्रमरी के गुञ्जार के समान शब्दों की जन्मस्थली स्वरूप नाद 'शब्द' कहलाता है।

५. स्फोट = वाक्य को स्फुट रूप से अवगत कराने वाला वर्णभेद का अवभासक नाद ही 'स्फोट' है।

६. ध्वनि = वीणा के पञ्चम तार के आघात से उत्पन्न होने वाले शब्द के समान शब्द ही 'ध्वनि' कहलाता है।

७. झांकार = वीणा के समस्त तारों के आहत होने पर उत्पन्न होने वाली ध्वनि ही 'झांकार' कहलाता है।

८. ध्वंकृत = मेघों की ध्वनि के समान एवं घण्टानाद के समतुल्य ध्वनि। ये आठ नाद सर्वव्यापक महानाद के भेदमात्र हैं।[१]

१. स्वच्छन्दतन्त्र—नाद

अष्टधा स तु देवेशि व्यक्तः शब्दप्रभेदतः।
घोषो रावः स्वनः शब्दः स्फोटाख्यो ध्वनिरेव च।।
झांकारो ध्वंकृतश्चैव अष्टौ शब्दाः प्रकीर्तिता।
नवमस्तु महाशब्दः सर्वेषां व्यापकः स्मृतः।।
श्रवणाङ्गुलिसंयोगाद्यः शब्दः सम्प्रवर्तते।
दीप्तवह्निस्वनाभासः स शब्दो घोष उच्यते।।
तदन्तेऽनुभवो यस्य ईषन्मर्मविसर्पिणः।
भिन्नकांस्यनिभो रूक्षः स रावः स्यात्तदन्तगः।।
ततो वंशध्वनिप्रख्यो निवाते सौम्यवर्षवत्।
स नादः स्वन इत्युक्तस्तत्परः कथितो ह्यसौ।।
चतुर्थः स तु वै शब्दः सर्वशब्दभवारणिः।
आत्मानं रावयन्नादः खे यथा भ्रमरीरवः।।
वाक्यस्य स्फुटतां धत्ते वर्णभेदावभासकः।
स्फोट इत्युदितो नादः पञ्चमः शास्तृभिस्ततः।। (स्व. उद्योत, ११ पटल)
ततोऽतितानधर्मित्वान्नादः श्रोत्रसुखावहः।
विपञ्च्याः पञ्चमीं तन्त्रीं हत्वा तीव्रप्रयत्नतः।।
यथा व्यज्यत आकाशे स षष्ठो ध्वनि संज्ञितः
सर्वतन्त्री समाघाताद्वीणायामिव साधु यः।।
मृदुस्तब्धं निनदति झांकारः सप्तमस्त्वसौ।
घण्टानिनादानुकृतिः कदाचिद्व्यज्यतेऽन्यथा।।
तुंगमेघध्वनिनिभः सौष्टमो ध्वंकृतः स्मृतः।। (स्व. तन्त्र, पटल-११)
यत्तु चर्मावनद्धादि किञ्चित्तत्रैष यो ध्वनिः।
स स्फुटास्फुटरूपत्वान्मध्यमा स्थूलरूपिणी। (तन्त्रालोक तृ. आ.)

मध्यमा वाक् के भेद—

स्थूल मध्यमा—चमड़े से मढ़े हुये मृदंग आदि वाद्यों पर कराघात द्वारा उत्पन्न ध्वनि 'स्थूल मध्यमा' कहलाता है।

यह ध्वनि पश्यन्ती नाद की सूक्ष्मता की अपेक्षा अधिक स्फुट होती है और वर्णों के विभाजित न होने के कारण वह अस्फुट भी है। इसके मध्यमा नाम का यही कारण है।

अविभक्त एवं स्वरमय होने के कारण ध्वन्यात्मकता अधिक मधुर होती है। तालात्मक अविभागरूप वादन में लोगों को सन्तुष्ट करने की क्षमता होती है। यह सन्तुष्टि स्थूल मध्यमा के द्वारा अनुभव में आती है।

सूक्ष्म मध्यमा—वादन की आकांक्षा के अनुसंधान को 'सूक्ष्म मध्यमा' कहा जाता है। यह वाणी संवेदनात्मक होती है।

पर मध्यमा—उपाधि (वादनेच्छा) से रहित चिदात्मक स्वरूप ही 'पर मध्यमा' वाक् है।

जो अर्थ-प्रतिपादनेच्छा से अक्रम शब्दब्रह्म विवक्षा के द्वारा उपलक्षित मनोविज्ञान का रूप ग्रहण करता है, वही बिन्दु नादसंज्ञक प्राणापानात्मक वायु के क्रम से उल्लसित होने पर मध्यमा वाक् कहा जाता है। शिवदृष्टि में कहते हैं—

आस्ते विज्ञानरूपत्वे स शब्दोऽर्थविवक्षया।
मध्यमा कथ्यते सैव बिन्दुनादमरुत्क्रमात्।।६२।।

अन्तःसन्निवेशसमायुक्त, क्रम न होने पर भी क्रम को ग्रहण किए हुये के सदृश, बुद्धिमात्र उपादान वाली, सूक्ष्म प्राणवृत्ति के पीछे रहने वाली वाणी ही मध्यमा वाक् है—मध्यमा त्वन्तःसन्निवेशिनी परिगृहीतक्रमेव बुद्धिमात्रोपादाना सूक्ष्मप्राणवृत्त्यनुगता।

पुर्यष्टकात्मक, प्राणशक्ति की आधारभूता मध्या नाड़ी (सुषुम्णा) में विश्रान्त मन-बुद्धि एवं अहंकार वाले अन्तःकरण को जो विमर्श शक्ति प्रेरित करती है, वही मध्यमा वाणी है।

मध्यमा वाक् से प्रेरित होकर अन्तःकरण संकल्प की क्रिया, निश्चय, मनन एवं विकल्प की क्रियारूप कार्यों में प्रवृत्त होता है। उस समय वह विमर्शात्मिका वाणी, संकल्पस्वरूप ग्राह्य एवं संकल्प करने वाले ग्राहक तथा मैं देवदत्त, मैं चैत्र घट की कल्पना कर रहा हूँ—आदि शब्दों के साथ भेदात्मक स्फुट क्रम से उपरक्त होती है तब चिन्तन ज्ञानशक्ति एवं मध्यमा वाक् कहलाता है।

ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी (१ अ. ५ विमर्श) में इसी भाव को इस प्रकार व्यक्त किया गया है—अन्तःकरणं मनोबुद्ध्यहंकारलक्षणं मध्यभूमौ पुर्यष्टकात्मनि प्राणाधारे

विश्रान्तं या विमर्शशक्तिः प्रेरयति सा मध्यमा वाक्। तत्प्रेरितश्च तदन्तःकरणं सङ्कल्पने, निश्चये, अभिमनने च स्वस्मिन् व्यापारे विकल्पनलक्षणे प्रवर्तते। तत्काले सा विमर्शमयी वाक् सङ्कल्प्यादिकं ग्राह्यं सङ्कल्पयित्रादिरूपं च ग्राहकं स्वेन अभिध्यानस्य इमं घटमहं चैत्रः सङ्कल्पयामि इत्यादेर्वाचकस्य शब्दस्य भेदेन स्फुटेन क्रमेण आभुंक्ते गाढं परामृशति यतस्ततश्चिनशब्दवाच्या मध्यभवत्वात् मध्यमा ज्ञानशक्तिरूपा।

आश्वमेधिक पर्व में मध्यमा को परिभाषित करते हुये कहा गया है कि बुद्धिस्वरूप उपादानक्रम के स्वरूप की अनुपातिनी वाणी वृत्ति प्राणवृत्ति को अतिक्रान्त करके मध्यमा वाक् का अभिधान प्राप्त करती है—

केवलं बुद्ध्युपादानक्रमरूपानुपातिनी।
प्राणवृत्तिमतिक्रम्य मध्यमा वाक् प्रवर्तते।।

मध्यमा का तात्त्विक मूल स्वरूप—अपने मूल एवं तात्त्विक स्वरूप में मध्यमा पराशक्ति का परिणमन है, पराशक्ति का रूपान्तरण है—

परा पश्यन्ती मध्यमा च वैखरीति प्रभेदतः।
चतुर्द्धैव पराशक्तिर्विज्ञेया योगिभिः सदा।।१०।।
परा वाङ्मूलचक्रस्था पश्यन्ती नाभिमध्यगा।
मध्यमा हृदयस्था च कण्ठस्था वैखरी मता।।११।।

(चक्रकौमुदी)

चक्रकौमुदी के अनुसार मध्यमा वैखरी आदि वाक्त्रय परा के विभिन्न रूप हैं। इसके अनुसार परावाक् के रूप हैं—पश्यन्ती, मध्यमा एवं वैखरी।

परावाक् और परबोध—अतीन्द्रिय सूक्ष्म वाक् की ही अपर संज्ञा है—परा-वाक्। वेद इसी अतीन्द्रिय नित्य वाक् का अवतीर्ण स्वरूप है। मन्त्रद्रष्टा ऋषि के अतिरिक्त अन्य किसी भी व्यक्ति के समक्ष वेद का यह गुप्त स्वरूप उद्घाटित नहीं होता।

१. शब्दब्रह्मवादी मानते हैं कि सूक्ष्म वाक् पुरुषसमवायिनी और पुरुष की अमृत-कलास्वरूप है।

२. सिद्धान्तशैवागम के मतानुसार सूक्ष्म वाक् पुरुषसमवेता शक्ति नहीं है। वह अविभक्त रूप में आत्मा में रहती है। परावाक् कारण एवं नित्य है; प्रत्युत कार्यरूप एवं अनित्य है। इसी का नाम शब्दब्रह्मरूप रवि या सूर्य है। इसके भेदन से विवेक-ज्ञान का उदय होता है। जब शब्दब्रह्म का भेदन होता है तब मुक्ति का उदय होता है।

३. शब्दब्रह्मवादी की दृष्टि में सूक्ष्म वाक् एवं पश्यन्ती भिन्न नहीं हैं। शाक्त मत यह है कि वह आत्मा या परमशिव की पराशक्ति है। जब आत्मा में स्वस्वरूप-दिदृक्षा होती है तब प्रकाशांश एवं विमर्शांश (शान्ता एवं अम्बिका शक्ति) दोनों में सामरस्य

स्थापित हो जाता है। इसी का अभिधान है—परावाक्। इसे ही परामातृका भी कहते हैं। इसमें छत्तीस तत्त्व अव्यक्त रूप में अन्तर्गर्भित रहते हैं, जो कि सृष्टि की वेला में प्रकट हो जाते हैं। वह विश्वबीजस्वरूप षट्त्रिंशत् तत्त्वों का भी बीज है।

परावाक् ज्ञानावतरण का मूल है—यह बोधस्वरूप है। इस सोपान में सारे भाव पूर्णतम स्थिति में विद्यमान रहते हैं। परावाक् में ही नि:शेष शास्त्र अवस्थित हैं। सृष्टि के आदि में इसी बोधस्वरूपा परावाक् के भीतर से समस्त शास्त्र निम्न स्तर पर अवतरित होते हैं। ये अन्तर्मुख स्वरूप से बहिर्मुखी हो जाते हैं। इनके अवतरण की भूमिका अनेक सोपानों पर से होती हुई पूर्ण हो पाती है; यथा—

(क) सर्वप्रथम हृदय में परमबोधस्वरूप अहंभाव प्रकट होता है, जिसमें कि परमबोध अस्फुटाकार होता है। यहाँ स्थित विमर्शभाव में ज्ञाता-ज्ञेयभाव का पार्थक्य नहीं होता। यह वाच्य-वाचकभावातीतावस्था है।

(ख) द्वितीय स्तर पर अर्थात् पश्यन्ती भूमि में असामान्य आभ्यन्तर भाव उन्मा-लित होता है। इस अवस्था में प्रत्यवमर्शात्मा प्रत्यगात्मा वाच्यार्थ के परामर्श की दिशा में अर्थ को अहंभाव से आच्छादित करके (अहमिदम् इत्याकारक रूप में) प्रकट करता है।

(ग) तृतीय स्तर पर अर्थात् मध्यमा के सोपान पर परमेश्वर स्वयं को गुरु एवं शिष्य दो स्वरूपों में विभक्त करके उदित होता है। इसी कल्पित गुरु-शिष्यभाव के सहकार से गुह्य ज्ञान उदित होता है। यहाँ संविद ही प्रश्नकर्ता एवं उत्तरदाता दोनों है—गुरु एवं शिष्य दोनों एक ही स्वरूप में अवस्थित रहकर भी पृथक् जैसे रहते हैं। इसी अवस्था में सदाशिव गुरु के रूप में एवं ईश्वर शिष्य के रूप में अवतरित होते हैं, जो निम्नांकित हैं—

१. चित् शक्ति   ३. इच्छा शक्ति   ५. क्रियाशक्ति
२. आनन्द शक्ति   ४. ज्ञान शक्ति

सदाशिव के पञ्चमुखों से—१. अभेद, २. भेदाभेद एवं ३. भेद से युक्त समस्त शास्त्र व्यक्त होते हैं; किन्तु मध्यमा के स्तर तक ये रहते अस्फुट ही हैं। परमज्ञानस्वरूप परा वाक् में समस्त शास्त्र अन्तर्गर्भित रहते हैं; भले ही वे लुप्त भी क्यों न हो गये हों।

ज्ञानावतरण और वाक्तत्व

१. ज्ञान की पूर्ण अव्यक्तावस्था। अभेदावस्था = परावाक् (अभेद स्तर)। मयूराण्ड-रसवत् स्थिति।

२. ज्ञान की व्यक्तोन्मुखी आन्तर अवस्था = वाच्य वाचक-सामरस्य की दशा। (पश्यन्ती) (अभेद की अवस्था)।

३. ज्ञान की व्यक्तोन्मुखी आन्तर अवस्था; किन्तु वाच्य-वाचकभाव, वेद्य-वेदकभाव का अन्तर में उदय, बाहर नहीं।

यही है मध्यमा का स्तर = भेदात्मक। शास्त्रों के आन्तर अवतरण की अवस्था।

४. ज्ञान की वाच्य-वाचकात्मक भेददशा = वैखरी अवस्था का स्थूल ज्ञान।

देवाराधनोपयोगी सर्वोच्च मुद्रा का स्वरूप

अथ मन्त्रसाहचर्यान्मुद्राप्यलौकिकी काचिदनुसन्धेयेत्याह—

आणन्दुल्लाससिरी छुल्लइदट्ठमहसिद्धिसोहग्गा।
दीसइ जत्थ दसाए सोच्चिअ देवस्स सव्वमुद्दाओ ॥५१॥

(आनन्दोल्लासश्रीः क्षुल्लकिताष्टमहासिद्धिसौभाग्या।
दृश्यते यत्र दशायां सैव देवस्य सर्वमुद्राः॥)

जिस अवस्था में अष्ट महासिद्धियों के सौभाग्य को तिरकृत करने वाली ऐश्वर्य-रूपिणी एवं (परमात्म विमर्शरूप) आनन्दोत्कर्ष की श्री (परमाह्लादिनी शक्ति) दृष्टिगोचर अनुभूत होती है, वही देवता की (सर्वमुद्रात्मिका एवं स्वात्मविमर्शमयी) सर्वमुद्रागर्भित 'मुद्रा' है॥५१॥

यस्यामवस्थायां देवस्य क्रीडाविजिगीषाद्यनेकप्रकारस्वातन्त्र्यसारत्वात् पूज्य-पूजकत्वोभयस्वभावसामरस्यशालिनः परमेश्वरस्य स्वविश्रान्तिलक्षणमानन्दं प्रति य उल्लासः, तथा परामृश्यमानतया स्फुरत्ता, तस्याः श्रीः तद्वदुपर्युपर्यनुस्यूतिलक्षणा प्ररूढिर्दृश्यते निर्विवादमपरोक्षीक्रियते, सैव सर्वाः करङ्किण्यादयः संक्षोभिण्या-दयोऽन्यथा वा प्रसिद्धास्तास्ता मुद्रा इत्यवगन्तव्यम्। तया चानन्दोल्लासश्रिया क्षुल्लकिताष्टमहासिद्धिसौभाग्यया भाव्यम्। लोके कि खड्गगोरोचनोद्दिष्टपाताल-प्रभृतयोऽपि विभूतिस्पन्दाः सिद्धय इत्युच्यन्ते। तदपेक्षया किञ्चित् सङ्कोचशून्य-त्वादणिमादिशक्तीनां महासिद्धित्वम्। तासां चाष्टकत्वं तत्तत्साधकजनहृदयो-ल्लासरूपाणां चिदानन्देच्छाज्ञानक्रियानुभवस्मृत्यपोहनानां धर्माणां ब्राह्म्यादि-मात्रष्टकाधिष्ठानद्वारा बहिर्विभूतिरूपत्वात्। यदुक्तमागमे—

वर्गानुक्रमयोगेन यस्यां मात्रष्टकं स्थितम्।
वन्दे तामष्टवर्गोत्थमहासिद्ध्यष्टकेश्वरीम्॥ इति।

यद्यपि सर्वत्र सामरस्यादेतदष्टकानुप्रवेशः, तथापि क्वचित् कस्यचिदौल्बण्या-वश्यम्भावादष्टमहासिद्धय इति प्रसिद्धिः। तत्र स्वशरीरं प्रत्यणूकरणसामर्थ्य-मणिमा। गगनादिव्यापकत्वकौशलं महिमा। समुद्रसलिलादावपि पद्भ्यां प्रयाणे तदस्पर्शो लघिमा। यथाभिलषितपदार्थलाभः प्राप्तिः। संकल्पमात्रात् सर्वत्राप्रति-हतगतित्वं प्राकाम्यम्। सार्वत्रिकं प्रभुत्वमीशितृत्वम्। इन्द्रियार्थोपभोगे स्वेच्छा-मात्राधीनहानोपादानत्वं वशित्वम्। स्वाभिलाषमात्रात् सद्यः स्वर्गनरकाद्यनुभूतिर्यत्र

कामावसायित्वमिति विवेकः। तासां च साधकजनहृदयहारित्वोत्कर्षलक्षणं यत् सौभाग्यम्, तदुपपादितयाऽऽनन्दसंपदा क्षुल्लकीक्रियते क्षुद्रीक्रियत इत्यक्षरार्थः। अयं भावः—करचरणाद्याकुञ्चनादिसङ्कोचोल्लङ्घनेन निस्तरङ्गसमुद्रावस्थानस्था-नीया तत एव स्वान्तर्विलीनफेनबुद्बुदबिन्द्वादिप्रायाऽशेषबाह्यानन्दपरिस्पन्दा स्वविश्रान्तिचमत्काराऽपरपर्यायपरामर्शक्रियारूपा काचिदलौकिकानुभूति-रानन्दसंपद् मुदं रातीति व्युत्पत्त्या करङ्किण्याद्यन्यमुद्राप्रपञ्चोदयविलयभूमि-र्मुद्रात्वेनानुसन्धेयेति। यथा श्रीपश्चिमे—

सा सिद्धिः सर्वसिद्धीनां सिद्धित्वे परिकीर्तिता।
ज्ञानं ह्यकलितं चैकं मुद्रा चैका ग्रहात्मिका।।
द्वावेतौ यस्य जायेते सोऽन्वयी सिद्धशासने। इति।

आनन्दं प्रति परानन्दनिरानन्दमहानन्दानन्दविषयानन्दस्वभावाऽशेषानन्द-सामरस्यमुन्मीलयितुमुल्लासः श्रीरिति चोभयोपन्यासः। यथोक्तं श्रीस्तोत्रभट्टारके—'कौलार्णवानन्दमयोर्मिरूपाम्' इति। यथा श्रीचिद्गगनचन्द्रिकायाम्—

यत् परो निरुपसर्गतः परः स्यान्महानपि च केवलः शिवे।
उत्तरश्च विषयात् स च त्वदानन्द उल्लससि तद्घनासि यत्।। इति।

तत्र च ताः सिद्धयो यदा प्रकाशरूपतया सर्वपदार्थान्तर्भावसामर्थ्यमणिमा, तथैव व्यापकत्वं महिमा, भेदरूपगौरवव्युदासो लघिमा, स्वात्मविश्रान्तिलाभः प्राप्तिः, वेद्यविलासोपलालनं प्राकाम्यम्, अनवच्छिन्नैश्वर्यशालित्वमीशितृत्वम्, विप्रष्टृतया सर्वंसहता वशित्वम्, पूर्णाहम्भावभावना यत्र कामावसायित्वमिति संविन्मयत्वौचित्येन परामृश्यते, तदानीमस्मदुक्तमुद्रापर्वानुप्रवेश इति न किञ्चिदासां क्षुल्लकीकरणम्, प्रयोजनाभावात्। मन्त्रमुद्रादिवद् ध्यानहोमादयोऽन्येऽपि साध-कव्यापाराः संविदद्वैतानुगुण्येन स्वयमूहनीयाः। यथा श्रीविज्ञानभैरवे—

ध्यानं या निश्चला चिन्ता निराकारा निराश्रया।
न तु ध्यानं शरीरादिमुखहस्तादिकल्पनम्।
महाशून्यालये वह्नौ भूताक्षविषयादिकम्।
हूयते मनसा सार्द्धं स होमश्चेतनास्रुचा।। इति।

कुलार्घ्यस्वीकरणं चान्तरहोमप्रायमेवेत्यवगन्तव्यम्। यदुक्तमस्मत्परमगुरुभिः श्रीसुभगोदये—

पराहन्तामये संविदग्नौ संवेद्यतर्पणे।
इदन्तालक्षणं हव्यं जुहुयादबहिर्मुखः।। इति।

यच्चोक्तं मयैव महार्थोदये—

अथ हव्यमिदन्ताख्यं हावं हावं स्वचिन्मुखे।
उल्लङ्घ्य मायामालिन्यं स्वैरमासीत मेरुवत्।।

इत्यलमतिरहस्योन्मीलनप्रपञ्चेन।।५१।।

उक्त गाथा में देवाराधन में प्रयोज्य मुद्रा पर प्रकाश डाला गया है। स्वात्मविमर्श-स्वरूपिणी शक्ति ही सर्वमुद्रात्मिका महामुद्रा है।

प्रकाशात्मक परमात्मा की सपर्या के लिये न्यासपूर्वक मुद्राओं (योनिमुद्रा, ध्यान-मुद्रा, ज्ञानमुद्रा आदि मुद्राओं) की अपेक्षा नहीं हुआ करती। जिस अवस्था में समस्त योगप्रचलित अष्ट महासिद्धियों के सौभाग्य को तिरस्कृत करने वाली ऐश्वर्यरूपिणी परमात्म विमर्श के आनन्दोत्कर्ष की श्री (परमाह्लादिनी शक्ति) अभिव्यक्त होती है, वही परमात्म-पूजन में गृहीत मुद्रा है।

पारमेश्वर सपर्या में—

१. आनन्दोल्लासश्री में प्रकाशरूप से सर्वपदार्थान्तर्भाव का सामर्थ्य ही **अणिमा** है।
२. तदवत् व्याप्त सार्वत्रिक सञ्चार ही **महिमा** है।
३. भेद-दृष्टि के प्रति औदासीन्य रखना ही **लघिमा** है।
४. स्वात्मविश्रान्ति की प्राप्ति ही **प्राप्ति** है।
५. वेद्यविलास में अभिरुचि या प्रीति ही **प्राकाम्य** है।
६. सम्पूर्ण प्रभुसत्ता ही **ईशित्व** है।
७. विमर्शरूप भूमि ही **वशित्व** है।
८. पूर्णाहंभावभावना ही **कामावसायित्व** है।

ये सभी अद्वैत एवं सर्वव्यापक प्ररमात्मा की पूजा में स्वात्मविमर्शस्वरूप मुद्रा में अन्तर्भुक्त हो जाती हैं। परमात्मा की स्वात्मविमर्शस्वरूपिणी शक्ति ही सर्वमुद्रामयी है। परमात्म-पूजा सर्वमुद्राओं में अन्तर्गृहीत है। मुद्रायें तो अनेक हैं; यथा—

१. त्रिखण्डा	५. सर्वावेशकरी	९. आकर्षणी
२. सर्वसंक्षोभकारिणी	६. उन्मादिनी	१०. खेचरी
३. सर्वविद्रावणी	७. महांकुशा	११. समय
४. संहार	८. बीज	१२. योनिमुद्रा आदि[1]

किन्तु महेश्वरानन्द कहते हैं कि ये सारी मुद्रायें गौण हैं। आदर्श मुद्रा तो वह जिसमें सारी मुद्रायें अन्तर्गर्भित हों—सैव देवस्य सर्वमुद्राः।

सर्वमुद्रात्मिका मुद्रा—सर्वमुद्रागर्भिता मुद्रा इस प्रकार की है—'आनन्दोल्लास-

१. षोडशिकार्णव

श्रीः क्षुल्लकिताष्टमहासिद्धिसौभाग्या।' जिस अवस्था में देवता (परमेश्वर) क्रीडाविजिगीषा आदि अनेक प्रकार के स्वातन्त्र्य के सारस्वरूप तथा पूज्य-पूजक दोनों भावों से सामरस्य रखने वाले अर्थात् परमेश्वर के स्वविश्रान्तिलक्षण वाले महानन्द के प्रति उल्लास है—परामृश्यमान स्फुरत्ता है—उसकी 'श्री' अर्थात् तद्वत् अनुस्यूति जहाँ अपरोक्षीकृत होती है, वही मुद्रा है। इस उपर्युक्त उल्लास की श्री के सामने महान् अष्टसिद्धियाँ भी तिरस्कृत हैं।[१]

सामान्य जन में तो खड्गगोरोचनोद्दिष्टपाताल आदि विभूतिस्पन्द भी सिद्धियाँ ही हैं; किन्तु उनकी तुलना में—अणिमा, गरिमा, महिमा, लघिमा, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व आदि अष्टसिद्धियाँ हैं—

१. अणिमा—स्वशरीरं प्रत्यणूकरणसामर्थ्य**मणिमा**।

२. महिमा—गगनादिव्यापकत्वकौशलं **महिमा**।

३. लघिमा—समुद्रसलिलादावपि पद्भ्यां प्रयाणे तदस्पर्शो **लघिमा**।

४. प्राप्ति—यथाभिलषितपदार्थलाभः **प्राप्तिः**।

५. प्राकाम्य—संकल्पमात्रात् सर्वत्राप्रतिहतगतित्वं **प्राकाम्यम्**।

६. ईशित्व—सार्वत्रिकं प्रभुत्व**मीशितृत्वम्**।

७. वशित्व—इन्द्रियार्थोपभोगे स्वेच्छामात्राधीनहानोपादानत्वं **वशित्वम्**।

८. कामावसायित्व—स्वाभिलाषमात्रात् सद्यः स्वर्गनरकाद्यनुभूतिर्यत्र **कामावसायित्वमिति**।[२]

इन महान् अष्टसिद्धियों के प्रति लोगों के में जो आकर्षण होता है, उस आकर्षणात्मक सौभाग्य के द्वारा जो आनन्द प्राप्त होता है, वह भी परमात्म विमर्श 'आनन्दोल्लासश्री' (आनन्दोत्कर्ष के विकास के वैभव) के समक्ष क्षुद्र एवं तुच्छ है।

इन्हें मुद्रा क्यों कहते हैं? महेश्वरानन्द कहते हैं—करचरणाद्याकुञ्चनावकुञ्चनादिसङ्कोचोल्लङ्घनेन निस्तरङ्गसमुद्रावस्थानस्थानीया तत एव स्वान्तर्विलीनफेनबुद्बुदबिन्द्वादिप्रायाऽशेषबाह्यानन्दपरिस्पन्दा स्वविश्रान्तिचमत्काराऽपरपर्यायपरामर्शक्रियारूपा काचिदलौकिकानुभूतिरानन्दसम्पद् मुदं रातीति व्युत्पत्त्या करङ्किण्याद्यन्यमुद्राप्रपञ्चोदयविलयभूमिर्मुद्रात्वेनानुसन्धेयेति।

श्रीपश्चिमकार की दृष्टि—

सा सिद्धिः सर्वसिद्धीनां सिद्धित्वे परिकीर्तिता।
ज्ञानं ह्यकलितं चैकं मुद्रा चैका ग्रहात्मिका।
द्वावेतौ यस्य जायेते सोऽन्वयी सिद्धशासने।।

१-२. परिमल

आनन्द के प्रति अर्थात् परानन्द निरानन्द, महानन्द एवं आनन्द के प्रति। अशेष स्वभावानन्दों के सामरस्य को उन्मीलित करने हेतु होने वाला उल्लास ही 'श्री' है—

कौलार्णवानन्दमयोर्मिरूपाम्। (स्तोत्रभट्टारक)

चिद्गगनचन्द्रिकाकार की दृष्टि—चिद्गगनचन्द्रिका में कहा गया है कि—

यत् परो निरुपसर्गतः परः स्यान्महानपि च केवलः शिवे।
उत्तरश्च विषयात् स च त्वदानन्द उल्लसति तद्घनास्ति यत्।।

इस तात्त्विक धरातल पर—

१. अणिमा—तत्र च ताः सिद्धयो यदा प्रकाशरूपतया सर्वपदार्थान्तर्भावसामर्थ्य-**मणिमा**।

२. महिमा—तथैव व्यापकत्वं **महिमा**।

३. लघिमा—भेदरूपगौरवव्युदासो **लघिमा**।

४. प्राप्ति—स्वात्मविश्रान्तिलाभः **प्राप्तिः**।

५. प्राकाम्य—वेद्यविलासोपलालनं **प्राकाम्यम्**।

६. ईशितृत्व—अनवच्छिन्नैश्वर्यशालित्व**मीशितृत्वम्**।

७. वशित्वम्—विम्रष्टृमया सर्वंसहता **वशित्वम्**।

८. कामावसायित्वम्—पूर्णाहम्भावभावना यत्र **कामावसायित्वमि**ति संविन्मयत्वौ-चित्येन परामृश्यते।

अतः अन्य बाह्य मुद्रायें इनकी तुलना में तुच्छ हैं।

विज्ञानभैरवकार की दृष्टि—विज्ञानभैरव में भी इसी तात्त्विक दृष्टि के धरातल पर ध्यान एवं होम की इस प्रकार व्याख्या की गई है—

ध्यानं या निश्चला चिन्ता निराकारा निराश्रया।
न तु ध्यानं शरीरादिमुखहस्तादिकल्पनम्।।
महाशून्यालये वह्नौ भूताक्षविषयादिकम्।
हूयते मनसा सार्द्धं स होमश्चेतना स्रुचा।।

सुभगोदयकार की दृष्टि—उक्त तात्त्विक दृष्टि से ही सुभगोदय में पराहन्तामय संवित्तत्त्व को अग्नि एवं इदन्ता को हव्य कहा गया है—

पराहन्तामये संविदग्नौ संवेद्यतर्पणे।
इदन्तालक्षणं हव्यं जुहुयादबहिर्मुखः।।

महार्थोदयकार की दृष्टि—महार्थोदय में कहा गया है कि—इदन्ता ही हव्य है एवं स्व चित् तत्त्व ही अग्नि है—

अथ हव्यमिदन्ताख्यं हावं हावं स्वचिन्मुखे।
उल्लंघ्य मायामालिन्यं स्वैरमासीत मेरुवत्।।

आत्मविमर्शरूप कल्पद्रुम का परिचय

इत्थं महता प्रपञ्चेनोपपादितस्य विमर्शस्वरूपस्य प्रयोजनमुपपादयितुमाह—

हिअअट्ठाणपरूढो विमरिसकप्पदुमो महासाहो।
पुप्फइ भोगसिरीए फलइ अ णिक्कलसुहोसवालोअं ॥५२॥

(हृदयस्थानप्ररूढो विमर्शकल्पद्रुमो महाशाखः।
पुष्यति भोगश्रिया फलति च निष्कलसुखोत्सवालोकम्।।)

(विश्वप्रतिष्ठाभूमिस्वरूप) हृद्देश में समुत्पन्न एवं बड़ी-बड़ी शाखाओं वाला आत्म-विमर्शरूप कल्पद्रुम (स्ववेत्ता तत्त्वदर्शी को) भोग-विभूति (अपवर्ग आदि ऐश्वर्य) से पुष्पित (समृद्ध) करता है और निष्कल (मायोत्तीर्ण) आनन्दोत्सवरूप प्रकाश का फल प्रदान करता है।।५२।।

हृदयं हि नाम विश्वप्रतिष्ठाभूमित्वादतिमहत् स्थानम्। यदुक्तमाचार्याभिनवगुप्तपादैः—'हृदयं हि नाम प्रतिष्ठास्थानमुच्यते' इति। यथा चोपनिषत्—

हृदयं तद् विजानीयाद् विश्वस्यायतनं महत्। इति।

तत्र प्रकर्षेण रूढश्चर्व्यमाणतामापन्नस्तत एव हेतोर्भेदप्रथाद्यनन्तवैचित्र्ययोगी। प्रकर्षश्चास्य मध्ये प्रसव इत्युक्तनीत्युल्लङ्घनेन सकृद्विभातत्वरूपमौज्ज्वल्यम्। तथाभावे हि तादृग्विमर्शशालिनां स्वर्गाद्युपयोगयोगेऽपि—

वासनामात्रलाभेऽपि योऽप्रमत्तो न जायते।
तमनित्येषु भोगेषु योजयन्ति विनायकाः।
तस्मान्न तेषु संसक्तिं कुर्वीतोत्तमवाञ्छया।।

इत्यादिबिभीषिकापर्युदासेन सर्वत्र नैश्चिन्त्यमुत्पद्यते। यतः प्रकृत्या चिदानन्दसामरस्यचमत्कारात्मकमात्मनश्चैतन्यम्। तदुच्छूनतायां क्रमादिच्छा ज्ञानं क्रियेति शक्तयः। क्रिया च—

क्रियात्मको ह्ययं कालः क्रिया कारकमाश्रिता।
षोढा च कारकग्रामः शक्त्यात्मनि हि तिष्ठति।।

इत्यादियुक्त्या करणाधिकरणादिकारकस्वभावा सती क्रमात् कार्यतया परिस्फुरति। यदुक्तं श्रीतन्त्रवटधानिकायाम्—

क्रिया स्वात्मपरिस्पन्दस्ततः प्राणोऽथ तत्कृतम्।
कालवैचित्र्यमित्येतत् संवित्स्पन्दाधिकं न हि।। इति।

कार्यं च विधिनिषेधविषयतया बहुप्रकारं भवत् तत्तदवान्तरभेदभिन्नद्रव्य-गुणाद्यनेकसहस्रविकल्पविक्षोभविचित्राशेषविश्वव्यवहारतया पर्यवस्यतीति विमर्श-शक्तेरेवायमेतावान् विजृम्भणोल्लासः। तादृशश्च योऽयं बाह्याभ्यन्तरप्रतीतिपथ-सहस्रसर्वस्वनिर्वाहकतया तत्तदशेषाभिलषितप्रदानपाण्डित्यशाली कल्पशाखी-त्यध्यवसीयमानो विमर्शो विप्रष्टृलक्षणस्वात्मपरामर्शात्मा चमत्कारः, स च स्व-स्वरूपवेदिनां पुंसां भोगश्रिया पुष्यति पुष्पस्थानीयां भोगलक्ष्मीमुद्भावयति। भोगो ह्यभिमताङ्गनालिङ्गनादिबहिर्विभूत्यनुभवः। तस्य चेयमेव श्रीर्यद्विधिनिषेधोल्लङ्घिना संविदद्वैतास्वादसौभाग्येन ग्राह्यग्रहणकौतूहलोपलम्भज एव स्वात्मविजृम्भावबोध-साधनप्रगल्भ इत्यपवर्गसम्पत्स्वभावत्वेनायमनुभूयते। किञ्च, स विमर्शाख्यः कल्पशाखी निष्कलङ्कमहन्तेदन्ताविभागविच्छेदावच्छेदलक्षणकलाकलङ्कशून्यं यत् सुखं स्वविश्रान्तिस्वभावः स्वहृदयाह्लादः, स एवोत्सवः,

> शचीकुचतटे शक्रो नरके विलुठन् कृमिः।
> उभौ समसमाधानौ विचित्रौ वासनाभ्रमः।।

इत्यादिन्यायाद् (यद्) अन्यदनुभवितृजनविशेषहृदयसङ्कल्पमात्रोपकल्पितं सौख्यारोपणम्, तद्व्युदासेन बहुभिः श्रीशिवानन्दमहाप्रकाशमहेश्वरानन्दप्रभृति-भिर्योगीन्द्रैः संभूयसंवादेनोपभुज्यमानत्वात् तादृगुत्सवरूपमालोकं प्रत्यक्प्रकाशं च प्रसूते। अथ च निष्कलमित्यत्र कलाशब्दः कलयति पारिमित्येन बहिः परिच्छि-नत्तीति व्युत्पत्त्या मायाशक्तिर्वा, किञ्चित्कर्तृत्वोपोद्बलनोपलक्षिता पञ्चकञ्चुकी वा, ब्राह्म्यादीनां वर्गाधिष्ठात्रीणां समष्टिर्वा, तदधिष्ठेया मातृका वा, स्वात्मा-पूर्णाख्यातिलक्षणः स्वस्य सङ्कोचो वेति बहुप्रकारं व्याख्येयः।

एतदुक्तं भवति—विश्ववैचित्र्यविप्रष्टृत्वस्वभावः परमस्वातन्त्र्यशाली परमे-श्वरोऽहमिति हृदयङ्गमीभावपर्यन्तमनुशील्यमानः सर्वप्रपञ्चविकल्पपरिस्फुरण-क्रोडीकारविचक्षणश्चायं विमर्शः प्रतिपादितात्मरूपावबोधयोगिनां भोगमोक्षलक्षणं पुरुषार्थद्वितयमप्युपपादयति। तत्र च—

> तस्या भोक्त्र्याः स्वतन्त्राया भोग्यैकीकार एष यः।
> रा एव भोगः सा मुक्तिः स एव परमं पदम्।।

इति श्रीप्रबोधपञ्चदशिकाप्रक्रियया भोगोऽपि मोक्षात्मा, मोक्षोऽपि भोग-स्वभाव इत्यनयोरन्योन्यमेलकरूपा श्रीमदनुत्तरसंविदद्वैतसिद्धान्तैकसाध्या जीवन्मुक्ति-रस्य फलम्। यदुक्तं श्रीमतदेवे—

> यस्येच्छातः सतां देवि! जीवन्मुक्तिः क्षणाद् भवेत्।
> तस्याहं वच्मि दिव्यौघं जीवन्मुक्तिप्रवृद्धये ।। इति।

वृक्षोऽपि हि कुतश्चित् सुक्षेत्रादुत्पन्नो बहुशाखश्च प्रवर्धमानः पुष्पं फलं च प्रसूते। तत्रापि पुष्पे सत्कार्यवादभङ्ग्या फलसद्भावः फलेऽप्यजहत्कारणरूपतया पुष्पानुषङ्ग इति पुष्पमपि फलं फलमपि पुष्पमित्येव विवेचकजनपर्यालोचनप्रकार इति। अस्य च द्रुमत्वमागमप्रसिद्ध्योक्तम्। यथा च श्रीमत्स्तोत्रावल्याम्—

प्रार्थनाभूमिकातीतविचित्रफलदायकः ।
जयत्यपूर्ववृत्तान्तः शिवः सङ्कल्पपादपः ।। इति।

उक्तरूपं चैनं विमर्शमवधीरयन् बाह्याद्वैतसिद्धान्तः पाशवशास्त्रशय्याम-धिशेते। तथाहि—

अद्वैतवादनिर्वाहो वेदान्तेष्वपि विद्यते ।
तत्रात्मा कश्चिदुत्तीर्णः सच्चिदानन्दलक्षणः ।।
एकः सत्यतया स्फूर्जन्निर्मलो निरहङ्क्रियः ।
अनादिनिधनः शान्तो विश्वोत्पत्तिविपत्तिभूः ।।
संविन्मयस्वभावेन भावाभावदशोज्झितः ।
स्वयम्प्रकाशतां बिभ्रन्नित्यमुक्तो निरूपितः ।।
समञ्जसमिदं सर्वं किन्तु तस्यात्मनः प्रभोः ।
अविमृष्टृत्वपर्यायमकर्तृत्वं न युज्यते ।।
सा चास्य कर्तृताशक्तिः स्वभावानतिलङ्घिनी ।
जानातेश्च करोतेश्च साधारण्येन वर्तते ।।
तत्क्रियापि भवेज्ज्ञानं ज्ञातुर्धर्मो यदुच्यते ।
एवं कर्तृस्वभावत्वात् तस्य ज्ञानमपि क्रिया ।।
औन्मुख्यमनयोरिच्छा विश्वमेतद्विजृम्भितम् ।
तस्माद् विमर्शो देवस्य स्वभावोऽस्माभिरुच्यते ।।
भवन्त्यस्यैव पर्यायाः शक्तिरैश्वर्यमुद्यमः ।
स्पन्दः स्वतन्त्रता स्फूर्तिरूर्मिरोजः कलेत्यपि ।।

इत्यलं चर्वितचर्वणोपलालनचापलेन ।।५२।।

प्रस्तुत गाथा में जो रूपक प्रस्तुत किया गया है, वह इस प्रकार है—

१. हृदय एक भूमि है—वृक्ष के उत्पन्न होने का भूखण्ड है।

२. उस हृदयरूपी भूखण्ड में बड़ी-बड़ी शाखाओं से अलंकृत एक आत्मपरामर्शात्मक कल्पवृक्ष है—आत्मविमर्शरूप कल्पवृक्ष स्थित है।

३. उसमें अपवर्ग आदि विभूतियों के फूल लगे हुये हैं।

४. वह विमर्शाख्य वृक्ष निष्कलंक (अहन्ता एवं इदन्ता के विभागरूप अवच्छेद

के कला-कलंक से मुक्त है) सुख (स्वविश्रान्तिस्वभाव स्वहृदयाह्लादरूप) उत्सव के प्रकाशरूप फल से लदा हुआ है।

सारांश यह कि आत्मविमर्शरूप कल्पद्रुम में दिव्य विभूतियों के पुष्प खिले हैं और मायोत्तीर्ण आत्मानन्द के फल लगे हुये हैं।

आत्मविमर्शरूप कल्पद्रुम का स्वरूप

दिव्य विभूतियों के पुष्प | आत्मानन्द के फल

हृदयप्रदेश में समुत्पन्न आत्मपरामर्शरूप कल्पवृक्ष दिव्य भोगरूप विभूतियों के पुष्पों से तथा मायोत्तीर्ण आत्मानन्दरूप प्रकाश के फलों से समलंकृत है।

अर्थ—हृदय-भूमि में उत्पन्न आत्मविमर्शरूप कल्पवृक्ष दिव्य भोगों की विभूतियों से पुष्पित है और उसमें मायोत्तीर्ण आत्मानन्दरूप प्रकाश का फल फलता है।

हृदय का अर्थ अभिधागृहीत मांसपिण्ड का हृदय नहीं है। 'हृदय' शब्द भावना-विभूषित प्रतिष्ठान स्थान है। 'हृदय' शब्द का प्रयोग भगवती संवित् शक्ति के लिये भी किया गया है—

१. महेश्वरानन्द—हृदयं हि नाम विश्वप्रतिष्ठाभूमित्वादतिमहत् स्थानम्।
२. अभिनवगुप्तपादाचार्य—हृदयं हि नाम प्रतिष्ठास्थानमुच्यते।
३. उपनिषद्—हृदयं तद् विजानीयाद् विश्वस्यायतनं महत्।
४. उत्पलदेवाचार्य—

चितिः प्रत्यवमर्शात्मा परावाक् स्वरसोदिता।
स्वातन्त्र्यमेतन्मुख्यं तदैश्वर्यं परमात्मनः।।
सा स्फुरत्ता महासत्ता देशकालाविशेषिणी।
सैषा सारतया प्रोक्ता हृदयं परमेष्ठिनः।।[१]

सा विश्वात्मनः परमेश्वरस्य स्वात्मप्रतिष्ठारूपा हृदयमिति तत्र तत्रागमे निगद्यते।[२]

विमर्श कल्पद्रुम का स्वस्वरूप—

१. पुष्प—(विमर्श कल्पद्रुम के पुष्प = विभूतियाँ)।
२. फल—(विमर्श कल्पद्रुम के फल = आनन्दोत्सवरूप प्रकाश के फल)।

वृक्ष = विमर्श का वृक्ष—

१. स्थिति का स्थान = हृदय।
२. वृक्ष के पुष्प = विभूतियाँ।

---

१. प्रत्यभिज्ञाकारिका २. परिमल

३. वृक्ष के फल = आनन्दोत्सवस्वरूप प्रकाश।

विमर्श क्या है? विमर्शो विम्रष्टृलक्षणस्वात्मपरामर्शात्मा चमत्कार:।[१] यही विमर्श तत्त्व स्वरूपवेदी पुरुषों को भोगश्री से पुष्पित करता है—भोगलक्ष्मी प्रदान करता है। भोग क्या है? ह्यभिमताङ्गनालिङ्गनादिबहिर्विभूत्यनुभव: (सुन्दर नारियों के आलिंगन आदि बाह्यवर्ती विभूतियाँ)।[२]

श्री एवं सुखोत्सव का स्वरूप—श्रिया = विधि-निषेध से परे अद्वैतास्वादनरूप सौभाग्य द्वारा स्वात्मविजृम्भा-वबोधसाधन प्रगल्भ-अपवर्गरूप सम्पत्ति के द्वारा विमर्श नामक वृक्ष कल्पवृक्ष है अर्थात् सर्वाभीप्सितप्रद है।

निष्कलङ्क अहन्ता एवं इदन्ता का अविभाग (पार्थक्याभाव, एकीकरण) ही सुख है—वही स्वविश्रान्ति है—वही स्वहृदयाह्लाद है—उत्सव है—'कलकलङ्कशून्यं यत् सुखं स्वविश्रान्तिस्वभाव: स्वहृदयाह्लाद: स एवोत्स:।' वासनायें तो नरक के द्वार हैं—

शचीकुचतटे शक्रो नरके विलुठन् कृमि:।
उभौ समसमाधानौ विचित्रो वासनाभ्रम:।।

यद्यपि विमर्शशाली लोग, जिन्हें भेदप्रथा से मुक्ति मिल चुकी है, को स्वर्गादिक भोग प्रदान किया जाता है और विनायक उन्हें विषयमार्ग में घसीट कर पतित करने का प्रयास भी करते रहते हैं तथापि वे उनमें रमते नहीं—

वासनामात्रलाभेऽपि योऽप्रमत्तो न जायते।
तमनित्येषु भोगेषु योजयन्ति विनायका:।
तस्मान्न तेषु संसक्तिं कुर्वीतोत्तमवाञ्छया।।

वासना-पङ्क से विमुक्त रहने पर सर्वत्र नैश्चिन्त्य प्राप्त होता है, जिससे कि स्वभावत: ही 'चिदानन्दसामरस्यचमत्कारात्मकमात्मनश्चैतन्यम्' की प्राप्ति होती है। उसकी उच्छूनता की अवस्था में यथाक्रम इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया शक्तियाँ उदित होती हैं—

क्रियात्मको ह्ययं काल: क्रिया कारकमाश्रिता।
षोढा च कारकग्राम: शक्त्यात्मनि हि तिष्ठति।।

तन्त्रवटधानिका में भी कहा गया है—

क्रिया स्वात्मपरिस्पन्दस्तत: प्राणोऽथ तत्कृतम्।
कालवैचित्र्यमित्येतत् संवित्स्पन्दाधिकं न हि।।[३]

यह स्वहृदयाह्लादात्मक आनन्दोत्सव शिवानन्दमहाप्रकाश महेश्वरानन्द आदि योगियों के द्वारा उपभुज्य है और वही यथार्थ उत्सव है।[४]

१-४. परिमल

निष्कल = कलारहित। कला क्या है? 'कलयति पारमित्येन बहिः परिच्छिनत्तीति व्युत्पत्त्या मायाशक्ति किञ्चित्कर्तृत्वोपोद्बलनोपलक्षिता पञ्चक कञ्चुकी वा; ब्राह्म्यादीनां वर्गाधिष्ठात्रीणां समष्टिर्वा, तदधिष्ठेया मातृका वा स्वात्मपूर्णाख्याति, स्वस्य सङ्कोचः।

कला के अर्थ—

१. जो पारिमित्य के द्वारा किसी को परिच्छिन्न कर दे।
२. माया शक्ति।
३. किञ्चित्कर्तृत्व आदि लक्षणों वाले पञ्चकञ्चुक।
४. ब्राह्मी आदि वर्गाधिष्ठात्री देवियाँ (शक्तियाँ)।
५. उक्त शक्तियों से अधिष्ठित मातृकायें।
६. आत्माविषयक अपूर्णता या तद्विषयक अख्याति।
७. स्वसङ्कोच।

विमर्शकल्पद्रुम में विमर्श का स्वरूप—

१. 'मैं विश्ववैचित्र्यविप्रष्टृत्वस्वभाव एवं परमस्वातन्त्र्यशाली परमेश्वर हूँ' की अनुभूति।
२. सर्वप्रपञ्चविकल्प परिस्फुरण का क्रोडीकरणात्मक चिन्तन ही विमर्श है।
३. विमर्श का फल है—भोगमोक्षलक्षणात्मक पुरुषार्थद्वितय।[१]

श्रीबोधपञ्चदशिकाकार की दृष्टि—

तस्या भोक्त्र्याः स्वतन्त्राया भोग्यैकीकार एष यः।
स एव भोगः सा मुक्तिः स एव परमं पदम्।

भोगोऽपि मोक्षात्मा मोक्षोऽपि भोगस्वभावः। (परिमल)

श्रीमतदेवकार की दृष्टि—इसमें कहा गया है—

यस्येच्छातः सतां देवि! जीवन्मुक्तिः क्षणाद् भवेत्।
तस्याहं वच्मि दिव्यौघं जीवन्मुक्तिप्रवृद्धये।।

पुष्प ही फल है और फल ही पुष्प है—'पुष्पे सत्कार्यवादभङ्ग्या फलसद्भावः, फलेऽप्यजहत्कारणरूपतया पुष्पानुषङ्ग इति पुष्पमपि फलं फलमपि पुष्पमित्येव।' अतः विमर्श कल्पद्रुम का पुष्प एवं फल भी तत्त्वतः उभयोत्पादक है।

श्रीमत्स्तोत्रावलीकार की दृष्टि—शिवस्तोत्रावली में कहा गया है—

प्रार्थनाभूमिकातीतविचित्रफलदायकः।
जयत्यपूर्ववृत्तान्तः शिवः सङ्कल्पपादपः।।

---

१. विश्ववैचित्र्यविप्रष्टृत्वस्वभावः परमस्वातन्त्र्यशाली परमेश्वरोऽहमिति हृदङ्गमीभावपर्यन्तमनुशील्यमानः सर्वप्रपञ्चविकल्पपरिस्फुरणक्रोडीकारविचक्षणश्चायं विमर्शः प्रतिपादितात्मरूपावबोधयोगिनां भोगमोक्षलक्षणं पुरुषार्थद्वितयमप्युपपादयति। (परिमल)

ब्रह्माद्वैतवाद का प्रत्याख्यान—महेश्वरानन्द कहते हैं कि विमर्श के उक्त स्वरूप को आत्मसात् करने वाले योगियों के लिये तो यह बाह्याद्वैत सिद्धान्त पाशवशास्त्रमात्र है—विमर्शमवधीरयन् बाह्याद्वैतसिद्धान्तः पाशवशास्त्रशय्यामधिशीते।[१]

इस दिशा में यह भी कहा गया है—

अद्वैतवादनिर्वाहो वेदान्तेष्वपि विद्यते।
तत्रात्मा कश्चिदुत्तीर्णः सच्चिदानन्दलक्षणः।।
एकः सत्यतया स्फूर्जन्निर्मलो निरहङ्क्रियः।
अनादिनिधनः शान्तो विश्वोत्पत्तिविपत्तिभूः।।
संविन्मयस्वभावेन भावाभावदशोज्झितः।
स्वयम्प्रकाशतां बिभ्रन्नित्यमुक्तो निरूपितः।।
समञ्जसमिदं सर्वं किन्तु तस्यात्मनः प्रभोः।
अविम्रष्टृत्वपर्यायमकर्तृत्वं न युज्यते।।
सा चास्य कर्तृताशक्तिः स्वभावानतिलङ्घिनी।
जानातेश्च करोतेश्च साधारण्येन वर्तते।।
तत्क्रियापि भवेज्ज्ञानं ज्ञातुर्धर्मो यदुच्यते।
एवं कर्तृस्वभावत्वात् तस्य ज्ञानमपि क्रिया।।
औन्मुख्यमनयोरिच्छा विश्वमेतद्विजृम्भितम्।
तस्माद् विमर्शो देवस्य स्वभावोऽस्माभिरुच्यते।।
भवन्त्यस्यैव पर्यायाः शक्तिरैश्वर्यमुद्यमः।
स्पन्दः स्वतन्त्रता स्फूर्तिरूर्मिरोजः कलेत्यपि।।

आत्मविमर्श में विधि-निषेधगत भिन्न-भिन्न द्रव्य-गुणात्मक विकल्पों वाले विश्व-व्यवहार का पर्यवसान हो जाता है। यह परमात्मा का चिन्तन आत्मस्वरूप यज्ञ को भोगैश्वर्य आदि से युक्त करता है। यह परमात्म विमर्श अहन्ता-इदन्तारूप माया से सर्वथा शून्य होता है। यह योगी को निजानन्द प्रकाश से आत्मस्वरूपज्ञ को जीवन्मुक्ति की दशा में सुप्रतिष्ठित कर देता है। इस विमर्श के हुताशन में इन्द्रियग्राह्य समस्त विषयप्रपञ्च लयीभूत हो जाते हैं। जीवन्मुक्तिरूप विभूति (ऐश्वर्य) ही इस हृदयस्थ आत्मविमर्श कल्पद्रुम का अमृतफल है।

परमात्मा का कालातीत एवं मोक्षातीत स्वरूप

ननु जीवन्मुक्तिलक्षणं माहेश्वर्यं खल्वस्य फलतया प्रत्यपादि। तच्च न संभवति, यतो देहावच्छेदव्यतिरिक्त एव काले पुंसामपवर्गोत्पत्तिरित्यन्येषामाग्रह इत्याशङ्क्याह—

---

१. परिमल

कमिओ होइ ण देवो तस्स कहं कालकम्मसप्फंसो।
णिच्चणिरावरणस्स वि को जीवन्तस्स मोक्खपच्चूहो ॥५३॥

(क्रमिको भवति न देवस्तस्य कथं कालकल्मषस्पर्शः।
नित्यनिरावरणस्यापि को जीवतो मोक्षप्रत्यूहः।।)

देवता कभी क्रमिक नहीं हुआ करता; अतः उसके साथ काल के कालुष्य का स्पर्श कैसे हो सकता है? जो नित्य निरावरण रहकर जीवन्मुक्त है, उसके लिये मोक्ष विघ्न कैसे बन सकता है।।५३।।

देवो हि नाम देशकालादिविश्वविलासं प्रति स्वस्वभावसंविदर्पणोपकल्पनया द्योतनाद्यनेकार्थोपपादनवैशारद्याद् विश्वात्मकः परमेश्वर इत्यवधार्यते। अतश्चायं क्रमिको न भवति। पौर्वापर्यादिविकल्पकल्पनामयेन क्रमेण नाक्रम्यते। यतो वैश्वात्म्यैक-विजृम्भासंरम्भोत्तरे भगवति—

चलित्वा यास्यते कुत्र सर्वं शिवमयं यतः ।

इति स्थित्या कस्य कस्मात् पृथक्त्वं तद्धेतुकः क्रमश्चेति युक्तिपर्यालोचनायां मूकीभाव एवोत्तरं प्रत्यर्थिनो जनस्य। तदेवम्—

अक्रमता मे क्रमिकं ज्ञात्राद्यं सक्रमाक्रमा तु चितिः।

इति श्रीविरूपाक्षपञ्चाशिकाप्रक्रियया क्रमवार्तानभिज्ञस्यास्य कालाख्येन कलङ्केन सम्पर्को न केनचिदपि प्रकारेण सम्भवति, कालस्य तत्त्ववृत्त्या क्रमतयैव पर्यवसानात्। यदुक्तं श्रीप्रत्यभिज्ञायाम्—

कालः सूर्यादिसञ्चारस्तत्तत्पुष्पादिजन्म वा ।
शीतोष्णे वाथ तल्लक्ष्यः क्रम एव स तत्त्वतः ।। इति।

कल्मषशब्देनैतदुन्मील्यते यत् कालोऽपि पारमेश्वरी काचिच्छक्तिरेव, ययासौ स्वयं न व्यवच्छिद्यते; प्रत्युत विश्वं व्यवच्छिन्नत्तीत्येनं प्रति न कालस्य सङ्कोच-कत्वलक्षणं कल्मषत्वम्। तं च कालं स्वात्मना क्रोडीकुर्वाणोऽयं नित्य इत्याम्नायते। एवमस्य देशावच्छेदकत्वाद् व्यापकत्वमप्यूह्यम्। इत्थं स्वात्मनः सर्वावारकत्व-युक्त्या सर्वकालमन्याऽनावृतस्यापि प्राणशरीराद्युपश्लेषरूपं विशेषं दोषतया-ऽवस्थाप्य यो मोक्षस्य स्वपरामर्शाख्यचिदानन्दलाभरूपस्य प्रत्यूहः प्रतिकूल-तर्करूपो विघ्नः कश्चिदसम्भावितस्वभावोऽन्यैरुद्भाव्यते, स कः? न कश्चिद-प्युपपद्येत, यदि युक्तितत्त्वमन्विष्येत। यदि तु जीवत्वं नामात्मनो विकल्पविशेषः, निर्विकल्पानुभूतिश्च मोक्षशब्दार्थ इतीत्यन्योन्याविरुद्धमेतद्द्वितयमित्युच्यते, तर्हि प्राणशरीरविश्लेषादप्येवमिति समः समाधिः। एतदुक्तं भवति—'चिदानन्दलाभे

देहादिषु वेद्यमानेष्वपि चिदैकात्म्यप्रतिपत्तिदार्ढ्यं जीवन्मुक्तिः इति, श्रीप्रत्यभिज्ञा-हृदयमर्यादया भोगमोक्षसामरस्यसाक्षात्कारलक्षणो जीवन्मोक्षः 'सर्वो ममायं विभवः' इति स्ववैश्वात्म्यानुसन्धानसन्धुक्षितैश्वर्याणां प्रमातृणां स्वभाव एव, न त्वाहार्यः कश्चिदतिशयः। यदुक्तं मयैव संविदुल्लासे—

विश्वं मूर्त्तिर्वैखरी नाममाला यस्यैश्वर्यं देशकालतिलङ्घि।
तद्भक्तानां स्वैरचारः सपर्या स्वेच्छा शास्त्रं स्वस्वभावश्च मोक्षः ।। इति।

तत् किन्निबन्धनोऽयमेनं प्रति कालनियमनिर्बन्धाक्रोशक्लेशः। एतदेव ह्यस्य दर्शनान्तरेभ्यो वैशिष्ट्यं यद् भोगमोक्षद्वितयानुभूतिसामरस्यं नाम। यथा श्रीरत्नदेवे—

भुक्तिर्वाप्यथ मुक्तिश्च नान्यत्रैकपदार्थतः।
भुक्तिमुक्ती उभे देवि! विशेषे परिकीर्तिते।। इति।

यथा च श्रीसिद्धामते—

अध्वषट्कं च दीक्षा च शिवशास्त्रमिति स्मृतम्।
दीक्षाध्वा निर्भयो भोगः शास्त्रे भैरवसंज्ञके ।। इति।

देवता कौन है? देवता तो वह विश्वात्मक परमेश्वर है, जो कि देश एवं काल आदि विश्व-विलास के प्रति (स्वस्वभावरूप संविदात्मक दर्पण की उपकल्पना के द्वारा) द्योतकस्वभाव होकर (अनेकरूपात्मक पदार्थों के उपपादन के वैशारद्य के द्वारा) विश्वरूप परमात्मा कहा जाता है—देवो हि नाम देशकालादिविश्वविलासं प्रति स्वस्व-भावसंविद्दर्पणोपकल्पनया द्योतनाद्यनेकार्थोपपादनवैशारद्याद् विश्वात्मकः परमेश्वर इत्य-वधार्यते।[१]

यह परमात्मा पौर्वापर्यादि विकल्पकल्पनास्वरूप क्रम से आक्रान्त नहीं है।[२] पौर्वापर्य क्रम ही तो काल है; किन्तु परमात्मा कालातीत है। अतः वह काल की सीमा-रेखा (आवरण) को अतिक्रान्त करके अवस्थित है। पारमात्मिक वैश्वात्म्य की अवस्था में पौर्वापर्य (आगे-पीछे का भाव) कैसे सम्भव है? पौर्वापर्य का भाव ही तो काल है। जब पूर्व एवं अपर (उत्तरवर्ती स्थिति) दोनों परमात्मा ही है तो उस परमात्मा को पूर्व एवं अपर में चलने (पीछे आगे चलने) के लिये शेष स्थान ही कहाँ है? वह तो पीछे भी है और आगे भी है। कोई भी वस्तु आगे-पीछे तभी चल सकती है, जब उस वस्तु से अतिरिक्त आगे-पीछे के रिक्त स्थान की सत्ता हो। जब परमात्मा को छोड़कर कोई रिक्त स्थान है ही नहीं तब पौर्वापर्यक्रम की सम्भावना ही कहाँ है? चूँकि पौर्वापर्यक्रम ही काल है और परमात्मा के लिये पौर्वापर्य की सत्ता है ही नहीं तब उसके लिये काल की सत्ता कहाँ है? इसीलिये तो कहा गया है कि परमात्मा कालातीत है—यतो वैश्वात्म्यैक-

---

१-२. परिमल

विजृम्भासंरम्भोत्तरे भगवती—

चलित्वा यास्यते कुत्र सर्वं शिवमयं यतः।

इति स्थित्या कस्य कस्मात् पृथक्त्वं तद्धेतुकः क्रमश्चेति?[१]

श्रीविरूपाक्षपञ्चाशिकाकार की दृष्टि—अक्रमता में 'क्रमिकं ज्ञात्राद्यं सक्रमाक्रमा तु चितिः।'

प्रत्यभिज्ञाकार की दृष्टि—

कालः सूर्यादिसञ्चारस्तत्तत्पुष्पादि जन्म वा।
शीतोष्णे वाथ तल्लक्ष्यः क्रम एव स तत्त्वतः।।

काल क्रमानुवर्ती है—कालस्य तत्त्ववृत्त्या क्रमतयैव पर्यवसानात्।

प्रश्न—जब श्रीकृष्ण यह कहते हैं कि—'कालोऽस्मि भरतर्षभ' तो फिर परमात्मा कालातीत कैसे है?

उत्तर सुस्पष्ट है। वस्तुतः काल परमात्मा में समाया हुआ है? वह परमात्मा को अतिक्रान्त करके स्थित नहीं है।[२]

कालकल्मष—समय का कालुष्य।

महेश्वरानन्द की कालसम्बन्धिनी दृष्टि—महेश्वरानन्द कहते हैं कि—

१. काल भी कोई (अनिर्वचनीय) पारमेश्वरी शक्ति है—कालोऽपि पारमेश्वरी काचिच्छक्तिरेव।

२. काल कभी व्यवच्छिन्न नहीं होता। यह इसके विपरीत स्वयं ही विश्व को व्यवच्छिन्न कर देता है—ययासौ स्वयं न व्यवच्छिद्यते, प्रत्युत विश्वं व्यवच्छिनत्ति।

३. शक्ति एवं शक्तिमान काल से परिच्छिन्न नहीं हैं; क्योंकि वे कालातीत हैं।

४. विश्व को व्यवच्छिन्न करके रखने वाले इस काल को क्रोडीकृत रखने के कारण परा सत्ता नित्य कही जाती है—तं च कालं स्वात्मना कोडीकुर्वाणोऽयं नित्य इत्याम्नायते।

कालावच्छिन्न व्यक्ति नित्य नहीं हो सकता; अतः परमात्मा क्रम (कालकृत क्रम = पौर्वापर्य भाव) से मुक्त है—पौर्वापर्यादिविकल्पकल्पनाभयेन क्रमेण नाक्रंम्यते।

जो सत्ता जिस समय पूर्व में रहेगी, वह उसी समय अपर (काल) में नहीं रहेगी और जो सत्ता अपर (काल) में रहेगी, वह पूर्व (काल) में नहीं रहेगी; किन्तु परमात्मा

---

१. परिमल

२. परमात्मा काल को अतिक्रान्त करके अवस्थित है। वह काल की सीमा से परे है; किन्तु काल परमात्मा की सीमा में है। उसकी खींची लक्ष्मणरेखा में है।

के लिये यह नियम लागू नहीं होता; क्योंकि—न सावस्था न यः शिवः।

व्यापक एवं नित्य परमात्मा तो यौगपद्यभाव से (एक साथ) सर्वत्र, सर्वरूप में तथा सर्वात्मना स्थित है। वह पूर्ववर्ती एवं अपरवर्ती स्थितियों में विभाजित होकर स्थित नहीं है।

(पूर्ववर्ती एवं उत्तरवर्ती होने का भाव ही काल का प्रधान लक्षण है) कालातीत परमात्मा तो पूर्व एवं अपर दोनों स्थितियों (अवस्थाओं) में (पूर्वापर बनकर) विद्यमान रहता है; अतः उसे क्रम (कालात्मक पूर्वापर भाव) स्पर्श भी नहीं कर सकता। इसीलिये कहा गया है कि—

क्रमिको भवति न देवस्तस्य कथं कालकल्मषस्पर्शः?

५. जहाँ परमात्मा है, वहाँ काल पहुँच ही नहीं सकता; क्योंकि काल के लिये पौर्वापर्य (अर्थात् अतीत एवं भविष्य की वर्तमानता का पृथक्-पृथक् रूप से अवस्थान) आवश्यक है; अन्यथा (पौर्वापर्य के अभाव में) काल नष्ट हो जाएगा; किन्तु परमात्मा के लिये (नित्य एवं सर्वव्यापक होने के कारण) पूर्वापर की सत्ता ही सम्भव नहीं है; क्योंकि वह पूर्व को छोड़कर अपर (काल) में यात्रा नहीं करता। वह एक साथ पूर्वापर दोनों है।[१] जब वह सर्वत्र है तो किसी को छोड़कर कहीं अन्यत्र जा कहाँ सकता है?

आचार्य शंकर और उनकी कालसम्बन्धिनी दृष्टि—आचार्य शंकर प्रपञ्चसार-तन्त्र में काल तत्त्व को विशिष्ट महत्व देते हुये कहते हैं कि—

१. प्रकृति को स्वयं प्रकृति ही जानती है, अन्य कोई नहीं; तथापि मैं 'काल के स्वरूप में अवस्थित नारायण' उसे जानता हूँ।

२. प्रकृति (अविभक्त रहने के कारण), जो कि तत्त्व है, ज्योति के सम्पर्क के कारण चिन्मात्रा है। वह सिसृक्षा के कारण घनीभूत हो जाती है और काल के द्वारा भिद्यमान (विभज्यमान) होकर बिन्दु बन जाती है, परम बिन्दु का आकार ग्रहण कर लेती है—

कालेन भिद्यमानस्तु स बिन्दुर्भवति त्रिधा।
स्थूलसूक्ष्मपरत्वेन तस्य त्रैविध्यमिष्यते।।
स बिन्दुनादबीजत्वभेदेन च निगद्यते।।

---

१. यदि 'अक्रमिक' का अर्थ क्रम-शून्य अर्थात् कालातीत है तो कालातीत क्यों नहीं कहा गया? अधिकांश दार्शनिकों ने तो परमात्मा को कालातीत ही कहा है, न कि अक्रमिक। क्रमिक सत्ता सर्वव्यापक नहीं हो सकती। वह सर्वरूपेण सर्वत्र व्याप्त नहीं रह सकती; किन्तु मयूराण्डरस की भाँति अक्रमिक सत्ता अपने सम्पूर्ण स्वरूप के साथ समस्त वस्तुओं में रह सकती है।

काल द्वारा परमबिन्दु का आत्मविभाजन

अव्यक्त रव शब्दब्रह्म

१. बीज
२. नाद
३. बिन्दु

ज्योति की सन्निधि के कारण चिन्मात्रात्मक प्रकृति (तत्त्व) **में सिसृक्षा**

प्रकृति की घनीभूतता

महाबिन्दु
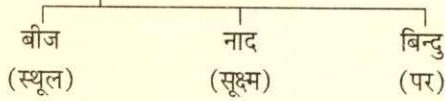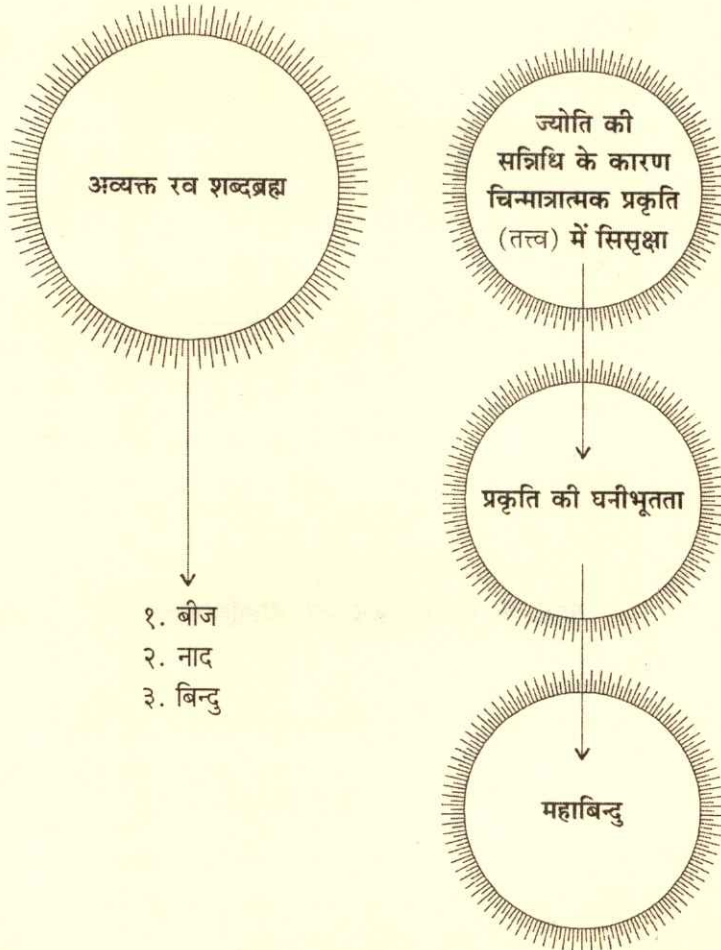
बिन्दोस्तस्माद्भिद्यमानाद्रवोऽव्यक्तात्मको भवेत्।
स रवः श्रुतिसम्पन्नैः शब्दब्रह्मेति कथ्यते।।

(प्रपञ्चसारतन्त्र-१.४४)

इस सृजनात्मक घटना-क्रम को हम इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं—

२. शब्दब्रह्म 'अव्यक्त रव' (स्वसंवेद्य एवं अवाच्य रव) → महत्तत्त्व (बुद्धि) → १. वैकारिक २. तैजसिक ३. भौतिक—त्रिरूपात्मक अहंकार तत्त्व → पञ्चतन्मात्रायें पञ्चमहाभूत।
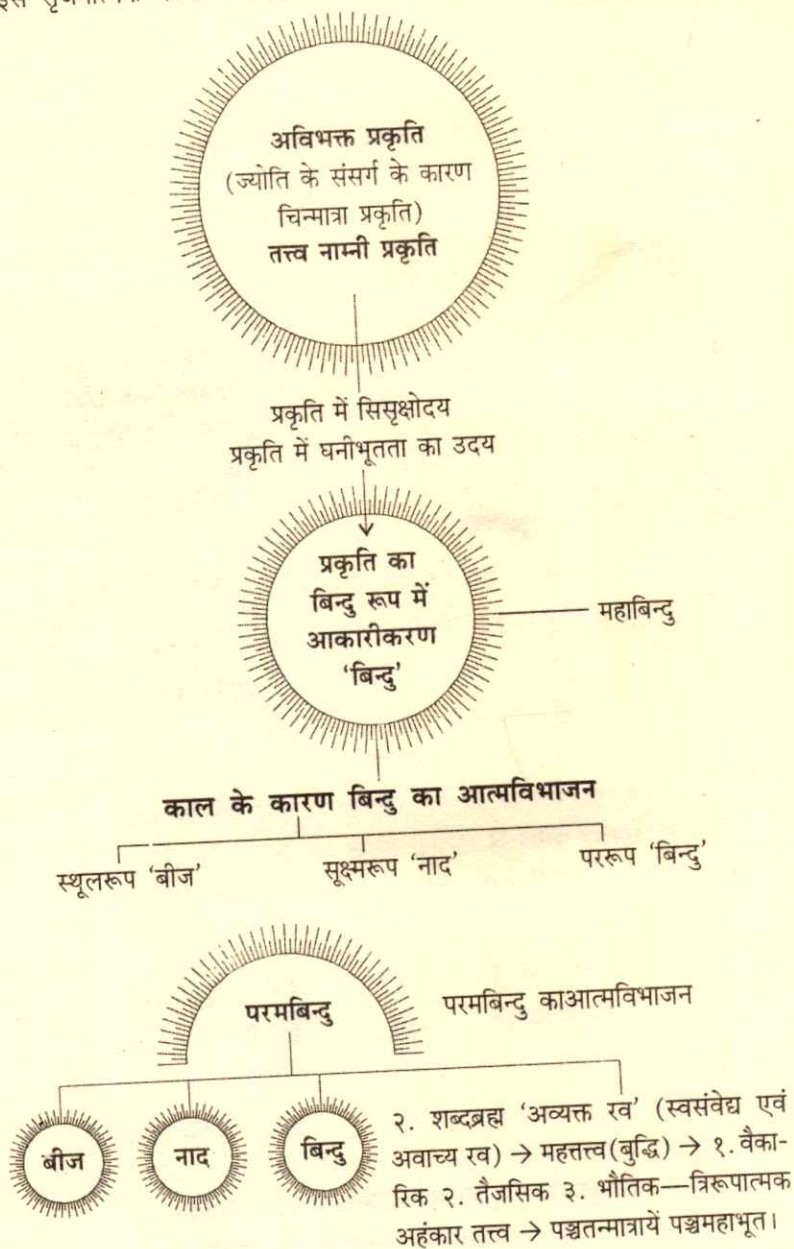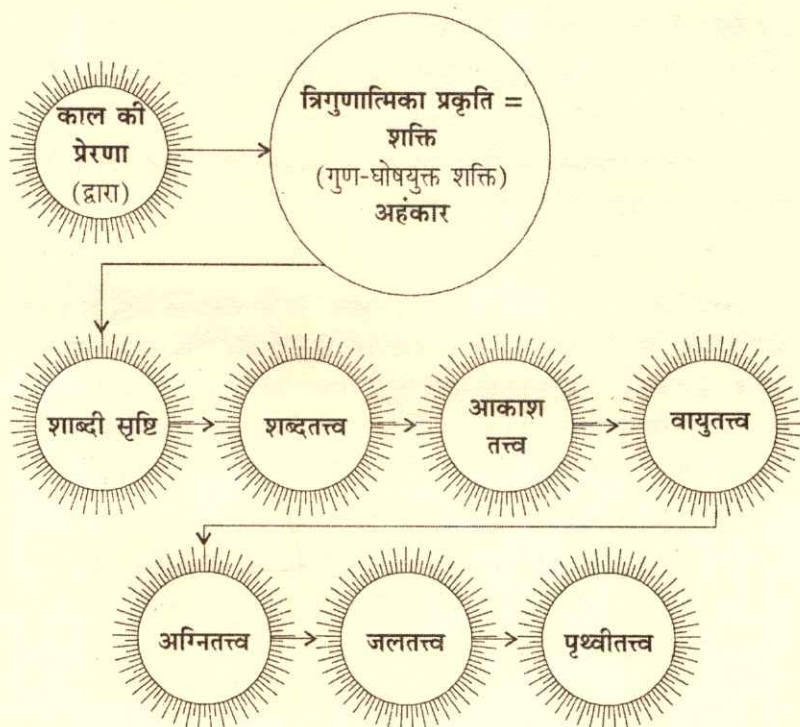
१. भूतादि वैकारिकतैजसभेदक्रमादहंकारात्।
कालप्रेरितया गुणघोषयुजा शब्दसृष्टिरथ शक्त्या। (१.४६)

२. शब्दाद् व्योमस्पर्शस्तेन वायुस्ताभ्यां रूपाद्वह्निरेतै रसाच्च।
अम्भांस्येतैर्गन्धतो भूर्धराद्या भूताः पञ्च स्युर्गुणोनाः क्रमेण।।
(प्रपञ्चसारतन्त्र-१.४७)

बिन्दु नाद बीज—पद्मपादाचार्य के अनुसार—

१. बिन्दु ही ईश्वर है।
२. बीज अचिदंश है।
३. नाद चिन्मिश्ररूप पुरुष है।

(क) बिन्दुरीश्वरः।
(ख) बीजमचिदंशः।
(ग) नादस्तस्याः चिन्मिश्रं रूपं पुरुषाख्यम्। (प्रपञ्चसारविवरण)

बिन्दु परमपरुष है—बिन्दुरुक्तः परमपुरुष एव।

अगला क्रम—तस्माद् बीजरूपयोक्त्या प्रकृत्या सम्बध्यमानात् उभयाभेदलक्षणो देदीप्यमानः परापश्यन्त्यात्मको रवोऽभवत्। स एव च कुण्डल्यादिशब्दैरभिलप्यते।

कल्मषत्व = संकोच नामक कालुष्य।

को जीवतो मोक्षप्रत्यूहः? मोक्ष स्वपरामर्श नामक चिदानन्द की प्राप्ति है—मोक्षस्य स्वपरामर्शाख्यचिदानन्दलाभरूपस्य।

प्रत्यूह = प्रतिकूल तर्करूप विघ्न।

आत्मा सर्वाकार, सार्वकालिक, अनावृत होकर भी जगन्नाट्य के लिये प्राणशरीर आदि से युक्त होकर बन्धन का अभिनय तो अवश्य करती है; क्योंकि नर्तक आत्मा (शिवसूत्र) विश्व के रङ्गमञ्च पर आत्माभिनय के समय तद्रूप आकार ग्रहण करके तदनुकूल पात्राभिनय करती है; किन्तु तत्त्वतः तो वह मुक्त ही है। जीवत्व विकल्प है और निर्विकल्पानुभूति मोक्ष है—जीवत्वं नामात्मनो विकल्पविशेषः निर्विकल्पानुभूतिश्च मोक्षशब्दार्थः।

यदि विकल्पात्मकता की स्थिति में भी (स्वेच्छा से नाट्यार्थ गृहीत विकल्पावरण की स्थिति में भी) अपने अविकल्पात्मक शिवस्वरूप का बोध रह जाये तब तो बन्धन एवं मोक्ष दोनों अपर पर्याय सिद्ध होंगे; क्योंकि जीवन्मुक्ति इसी का नाम है।

शक्तिसूत्रकार की दृष्टि—आचार्य क्षेमराज कहते हैं—चिदानन्दलाभे देहादिषु वेद्यमानेष्वपि चिदैकात्म्यप्रतिपत्तिदार्ढ्यं जीवन्मुक्तिः।[1]

महेश्वरानन्द की दृष्टि—आचार्य महेश्वरानन्द कहते हैं कि जीवन्मोक्ष तो भोगमोक्ष-सामरस्य-साक्षात्कार की संज्ञा है—

१. भोगमोक्षसामरस्यसाक्षात्कारलक्षणो जीवन्मोक्षः।

२. मोक्ष स्ववैश्वात्म्यानुसन्धान-सन्धुक्षित ऐश्वर्य वाले प्रमाताओं का स्वभाव ही है, न कि कोई परवर्ती आहार्य वस्तु—स्ववैश्वात्म्यानुसन्धानसन्धुक्षितैश्वर्याणां प्रमातृणां स्वभाव एव न त्वाहार्यः कश्चिदतिशयः।

३. मोक्ष विश्वात्मैक्यानुभूति है; अतः इस अवस्था में अनुभूति का स्वरूप इत्याकारकारित होता है—सर्वो ममायं विभवः।[2]

संविदुल्लासकार की दृष्टि—महेश्वरानन्द कहते हैं कि मैंने उक्त तथ्य का प्रतिपादन संविदुल्लास में भी किया है—'यदुक्तं मया संविदुल्लासे' और उसमें मैंने इस तथ्य को इन शब्दों में अभिव्यक्ति दी है—

विश्वं मूर्तिर्वैखरी नाममाला यस्यैश्वर्यं देशकालातिलङ्घि।
तद्भक्तानां स्वैरचारः सपर्या स्वेच्छा शास्त्रं स्वस्वभावश्च मोक्षः।।

मोक्ष तो अपना स्वभाव ही है।

---

१. प्रत्यभिज्ञाहृदयम् २. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा

इस स्वैराचार में सारे व्यापार ही अर्चना, उपासना, आराधना एवं मोक्ष बन जाते हैं—

आत्मा त्वं गिरिजा मतिः सहचराः प्राणाः शरीरं गृहम्
पूजा ते विविधोपभोगरचना निद्रा समाधिस्थितिः।
सञ्चारः पदयोः प्रदक्षिणविधिः स्तोत्राणि सर्वा गिरो
यद्यत् कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भो तवाराधनम्।।

(आचार्य शङ्कर)

भोगमोक्षसाहचर्यवाद—महेश्वरानन्द भोग के साथ मोक्ष के साहचर्य के प्रतिपादक हैं; अतः कहते हैं कि—एतदेव ह्यस्य दर्शनान्तरेभ्यो वैशिष्ट्यं यद् भोगमोक्षद्वितयानुभूतिसामरस्यं नाम।

रत्नदेव की दृष्टि—

भुक्तिर्वाप्यथ मुक्तिश्च नान्यत्रैकपदार्थतः।
भुक्तिमुक्ती उभे देवि! विशेषे परिकीर्तिते।।

श्रीसिद्धामतकार की दृष्टि—सिद्धामत में कहा गया है कि—

अध्वषट्कं च दीक्षा शिवशास्त्रमिति स्मृतम्।
दीक्षाध्वा निर्भयो भोगः शास्त्रे भैरवसंज्ञके।।

जीवन्मुक्ति का स्वरूप क्या है? महेश्वरानन्द कहते हैं कि जन्म-मृत्यु आदि अवस्थाओं से अनुस्यूत व्यक्ति की सर्वावस्था निर्विशेष स्वानन्दोत्सवानुभूति ही जीवन्मुक्ति है—जीवन्मुक्तिर्नामात्मनो जननमरणाद्यनुस्यूतस्य सर्वावस्थानिर्विशेषं स्वानन्दोत्सवानुभूतिः।[१]

विज्ञानभैरवकार की दृष्टि—विज्ञानभैरव में कहा गया है कि जो सांसारिक जीवन व्यतीत करते हुये भी मुक्त हो, वही जीवन्मुक्त है—

जीवन्नपि विमुक्तोऽसौ कुर्वन्नपि न लिप्यते।

ऐसा व्यक्ति सारे व्यापारों का निष्पादन करते हुये भी अपने किसी भी व्यापार के फल से प्रभावित नहीं हुआ करता—निर्लिप्त रहा करता है।

विज्ञानभैरवकार का कथन है कि बन्धन एवं मोक्ष केवल भयभीत लोगों के लिये ही भयात्मक दृश्य हैं, मुक्त पुरुषों के लिये नहीं; क्योंकि मुझ मुक्त पुरुष के लिये बन्धन एवं मोक्ष दोनों की सत्ता ही नहीं है—

न मे बन्धो न मोक्षो मे भीतस्यैता विभीषिका।

जल में प्रतीपाकारित सूर्यबिम्बवत् बुद्धि परिमितविषया होकर बन्धन-मुक्ति की कल्पना करती है, जो कि मिथ्या है—

१. परिमल (५३)

प्रतिबिम्बमिदं बुद्धेर्जलेष्विव विवस्वतः।[१]

गीताकार की दृष्टि—ऐसा विमुक्त पुरुष—

पश्यञ्छृण्वन्स्पृशन् जिघ्रन्नश्नन्गच्छन् स्वपन्श्वसन्।
प्रलपन् विसृजन् गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।।
ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं व्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा।।

महाकवि कल्हण की दृष्टि—कल्हण कहते हैं कि फूस का बनाया हुआ मुझौसा व्यक्ति (जिसका मुँह आग लगाकर जलाने से काला हो गया है) यदि खेत में खड़ा कर दिया जाय तो वह पक्षियों को तो डराकर उनसे अनाज की रक्षा कर सकता है; किन्तु जंगलों में तोड़-फोड़ मचा देने वाले मदमत्त हाथियों का वह क्या बिगाड़ लेगा? इसी प्रकार बद्ध जीवों के लिये बन्धन एवं मोक्ष दुःख-सुख की कल्पनायें, दुःख-सुख का कारण बन सकती हैं; किन्तु जीवन्मुक्तों के लिये बन्धन एवं मोक्ष का कोई महत्त्व नहीं है—

शालीन् पलालपुरुषोऽवति यः कृशानु,
दग्धाननश्चटकपेटकभीतिदानैः ।
त्रातुं स एव विहितो विपिने विदध्यात्,
किं तत्र भञ्जनकृतां वनकुञ्जराणाम्।।

शिवमार्ग में मोक्ष की दृष्टि—शिवसूत्रकार ने मोक्ष के स्वरूप को 'दृश्यं शरीरम्' (१.१४) कहकर व्यक्त किया है। इस दृष्टि के अनुसार—यद्यद् दृश्यं बाह्यमाभ्यन्तरं वा, तत्तत् सर्वम् अहमिदम् इति सदाशिववन्महासमापत्त्या स्वाङ्गकल्पमस्य स्फुरति न भेदेन।[२]

सारांश यह कि वैश्वात्म्य की नित्य एवं सार्वकालिक अनुभूति ही मोक्ष है। विश्व के साथ अहं का अभेद ही मोक्ष है। 'विश्वात्मा शिव एवास्मि'[३] की अनुभूति ही आत्मज्ञान है।

जगत् एवं वस्तुसत्य की अज्ञेयता

ननु जीवन्मुक्तिर्नामात्मनो जननमरणाद्यनुस्यूतस्य सर्वावस्थानिर्विशेषं स्वानन्दोत्सवानुभूतिः। सा च तस्य स्थैर्याभावपक्षे कथं सङ्गच्छेतेत्याशङ्क्य क्षणभङ्गमेव भङ्क्तुमाह—

---

१. विज्ञानभैरव (१३२)—निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतां को विधिः को निषेधः।

२. शिवसूत्रविमर्शिनी (क्षेमराज)

३. शिवसूत्रविमर्शिनी (१.१७)

जं किं वि जेण केण वि रूवेण जहिं कहिं वि किं णत्थि ।
ता अप्पा णिच्चठिरो खणभङ्गो च्चेअ अट्ठिरो होइ ॥५४॥

(यत् किमपि येन केनापि रूपेण यत्र कुत्रापि किं नास्ति।
तस्मादात्मा नित्यस्थिरः क्षणभङ्ग एवास्थिरो भवति।।)

जो कुछ भी, जिस किसी भी रूप में, जहाँ-कहीं भी तथा कौन-क्या के रूप में स्थित है, वह वैसा नहीं है। आत्मा नित्य स्थिर है और जो अस्थिर है, वह (नित्य नहीं) क्षणीभङ्गुर है।।५४।।

इह खलु विश्वं प्रकाश्यं प्रकाशकश्चात्मेत्यभिहितेयं मर्यादा। तत्र प्रकाशोपश्लेषमहिम्नैवास्य प्रकाश्यत्वम्। स चोपश्लेषः—

तेनानेकस्य रूपस्य श्लेष ऐकात्म्यमेव सः ।

इति सम्बन्धसिद्धिस्थित्या प्रकाश्यप्रकाशकयोरैकात्म्यपर्यन्तमुज्जृम्भते। प्रकाशस्य चार्थधर्मत्वमात्राङ्गीकारे ग्राहकसव्यपेक्षं ग्राह्यग्रहणमित्येतद् व्याहन्येत। ततश्च सर्वं सर्वस्य प्रकाशेत, न कस्यचिद्वेत्युत्सन्नः स्याद् विश्वव्यवहारः। अतोऽर्थः प्रकाशत इत्यस्य प्रकाशकतामसावनुभवतीत्यर्थो भवति। यदुक्तमजडप्रमातृसिद्धिविमर्शिन्याम्—'इदं मम ज्ञानमिति नाञ्जसा ज्ञानप्रकाशः। अपि तु जानाम्यहमिति ज्ञानस्यास्मदर्थविश्रान्ततैव' इति। तथात्वे चास्य प्रकाशान्तर्गतत्वमवश्यम्भावीति विश्वस्य तत्प्रकाशकस्यात्मनश्चैकात्म्यमवर्जनीयम्। एवमङ्गीकारे हि परमेश्वरस्यानन्यमुखप्रेक्षित्वलक्षणं स्वातन्त्र्यमौचित्यमनुभवति, अन्यथा सजातीयेश्वरान्तरानपेक्षत्वलक्षणमिति तत्र सङ्कोचकलङ्कस्पर्शः प्रसज्येत। तत्रैतत् प्रष्टव्यं यत् किमपि भावरूपमभावरूपं वा वस्तु यस्मिन् कस्मिंश्चिद् वर्तमाने भविष्यदादौ वा काले तथा पुरोवर्तिन्यनासन्ने वा देशे येन केनापि सभागात्मना सविभागस्वभावेन वा वपुषा विद्यते वा न वेति। नेति तावन्न शक्यते वक्तुम्, शून्यत्वप्रसङ्गात्। प्रपञ्चस्य शून्यत्वपक्षश्च पूर्वमेवाधिक्षिप्तः। तद् यत्किञ्चिद्वस्तु विद्यत एवेति वक्तव्यम्। तदा च तत्स्वभावतयाऽयमात्मा परिस्फुरतीति कथमस्थैर्यमस्योच्यते। अयं भावः—आत्मनो विश्वाकारत्वाङ्गीकारे विश्ववर्तिनां भावानां क्षणभङ्गाभ्युपगमेऽपि योऽयं क्षणभङ्गो नाम कश्चिदर्थः, तस्य तावदनपह्नव एवेति तावन्मात्रेणापि तन्मयस्यात्मनः स्थैर्यमव्याकुलम्, किमुत विश्वस्यैव स्थैर्ये समर्थ्यमान इति। किञ्च, अनुभवतद्विकल्पस्मरणलक्षणानेकसंविदनुसन्धानसाध्या हि लोकयात्रा। स्तम्भं पश्य कुम्भमानय इत्यादौ तत्तच्छब्दार्थसंकेतानुभूत्यनुस्मरणादेरवश्यम्भावात्। यदुक्तमपोहवादे—

शब्दस्य व्यवहारार्थमर्थचिन्ताऽवतार्यते ।
तदर्थमेव सङ्केतस्तद्व्युत्पत्तिरपीष्यते ।। इति।

संविदां च तासामन्योन्यानुसन्धानसामर्थ्यं न सम्भवति, सर्वासां स्वयंप्रकाशत्वात्। तथाभावे चान्यपरामर्शानौचित्यात्। तदन्योन्यवार्तानभिज्ञानामासामनुसन्धानक्षमः कश्चित् स्थैर्यशाली विद्यत इत्यनिवार्येयं मर्यादा।

नित्यश्चात्माऽवगन्तव्यः कालक्रमविलङ्घनात्।
सर्वलोकप्रसिद्धेयं तत्र युक्तिरुदीर्यते।।
प्रसवानन्तरं बालो जनन्याः स्तनमापिबन्।
स्तन्यादर्थक्रियां स्वस्य स्मरत्येवेति कल्प्यते।।
स्मृतिश्चानुभवायत्ता स च नात्रास्ति जन्मनि।
अतः प्राचीनया भाव्यमनुभूत्या कदाचन।
सामानाधिकरण्यं च तयोर्विद्वद्भिरिष्यते।
अत आत्मा सदा स्थैर्यान्नित्योऽसाविति बुध्यताम्।।

तदुक्तं मयैव श्रीपरास्तोत्रे—

मातुर्गर्भसमुद्गकादवतरन्नुर्वीमिमामर्भक-
स्तत्पूर्वं स्तनचूचुकप्रणयिना मुग्धेन वक्त्रेण ते।
आचष्टे तदनश्वरं पदमहंकुर्वन् परे! किं पुनः
क्रीडाकञ्चुलिका कलेवरमयी कुत्रापि न त्यज्यते।। इति।

आत्मा नित्यः स्थिर इति तस्य सार्वकालिकस्थैर्योपन्यासेन स्तम्भादीनामपि यावत्प्रध्वंसं स्थैर्यमेवेत्यासूत्र्यते।

तथाहि क्षणतो भङ्गे दृश्यमानस्य वस्तुनः।
अत्रैवास्य क्षणे सत्त्वं नीलादेर्नोपरि क्षणे।।
इति गृह्णाति या संवित्तस्यास्तत्र क्षणद्वये।
अवस्थानाभ्यनुज्ञायां क्षणभङ्गः प्रणश्यति।।
सापि संवित्क्षणाद्भग्नेत्युक्तौ तत्तत्पृथक्क्षणाः।
परस्परानभिज्ञास्ता भिन्नकालतया धियः।।
जानीयुः कथमन्येषां क्षणमात्रव्यवस्थितिम्।
लोकयात्राप्रवृत्तिर्वा न क्षीयेत कथं नृणाम्।।
सन्ततिस्तत्क्रियां कुर्यादिति तैर्यदुदीर्यते।
असन्ततिवदेव स्याददृढा सन्ततिर्यदि।।
दार्ढ्ये तस्या जगत्स्थैर्यं पर्यायेणानुमन्यते।
शिवदृष्टाविदं प्राह श्रीसोमानन्ददेशिकः।।
इतश्चास्ति जगत्यैक्यमित्यादौ ग्रन्थविस्तरे।

अतश्चोक्तयुक्त्या क्षणभङ्ग एवास्थिरो निर्वोढुमशक्यः। तदस्थैर्ये विश्वस्य स्थैर्यमर्थतः सिद्धम्। एतेन परमेश्वरस्य ज्ञानस्मृत्यपोहनशक्तित्रितयवत्त्वेन विश्व-व्यवहर्तृत्वं व्याख्यातम्। यदुक्तं श्रीप्रत्यभिज्ञायाम्—

स्यादेकश्चिद्वपुर्ज्ञानस्मृत्यपोहनशक्तिमान् । इति।

यच्चोक्तं श्रीभगवद्गीतासु—'मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च' इति। तत्र च—

स्वान्तः क्रोडीकृताशेषवेद्यवर्गो महेश्वरः ।
लोकयात्रामुपस्कर्तुं तत्तद्वैचित्र्यशालिनीम् ।।
नियतानेव निर्भिद्य कांश्चिदर्थान् निजेच्छया ।
उन्मज्जयति यत्स्वस्माद्दृहक्शक्तिः सा निगद्यते ।।
बहिरौन्मुख्ययोगेऽपि स्वात्मचिद्रूपमुज्ज्वलम् ।
स्वच्छायामजहत् स्वच्छां भवेज्ज्ञानं नवं नवम् ।।
अस्मिन् नवनवोल्लासे विद्युत्प्राये स्फुरत्यपि ।
यथाभिलाषं लोकेन व्यवहर्तुं न पार्यते ।।
तत्संविदो बहिर्मुख्या यदन्तर्मुखतास्पदम् ।
चित्स्वरूपमवस्थासु कालभेदे महत्यपि ।।
तस्य बाह्यपरामर्शप्रागल्भ्यं स्मृतिरुच्यते ।
अथापि तन्नवाभासं स्मृतं वा वस्तु वस्तुतः ।।
विश्वमय्या स्वचिच्छक्त्या तादात्म्यं न परित्यजेत् ।
अतो बोधः स्मृतिश्च द्वौ वर्ज्यौ स्यातां महेशितुः ।।
तद्वेद्यं वित्तितस्तस्या वित्तिर्वित्त्यन्तरादपि ।
वेद्यं च वेद्यादन्यस्माद्यथा विच्छेदमश्नुयात् ।।
तथा भगवतः काचित् स्वातन्त्र्यश्रीरपोहनम् ।
इत्याख्याता स्फुटं ज्ञानस्मृत्यपोहनशक्तयः ।।

तिसृभिः शक्तिभिराभिः शिवः कुविन्दो भवन् कुलालो वा ।
अनुभवति सुखं स्मरति च बहु च विकल्पयति विश्ववैचित्र्यम् ।। इति।

विश्वविकल्प के रूप में भी आत्मा का ही चतुर्दिक सर्वत्र प्रसार एवं विस्तार है; किन्तु विश्वविकल्प प्रकाश्य है और आत्मा प्रकाशक या प्रकाशस्वरूप। यदि यह प्रकाश्य भी क्षुण्य न होता तो यह भी परमात्मस्वरूप दृष्टिगत होता। परमात्मा ही जिस-किसी रूप में स्फुरित हो रहा है। नित्य, स्थिर, शाश्वत एवं अनित्य, अस्थिर एवं क्षणभंगुर के रूप में तथा प्रकाशक ही प्रकाश्य के रूप में भी अभिव्यक्त हो रहा है—उससे भिन्न नहीं है। नित्यता एवं अनित्यता, स्थिरता एवं अस्थिरता सब उस स्थिर एवं नित्य परमात्मा के ही रूप हैं; यथा—आकाश का स्थिर चन्द्रमा तथा जल में संक्रान्त

उसकी अस्थिर प्रतिच्छाया। काल से प्रभावित वस्तु ही अस्थिर होती है, कालातीत परमात्मा नहीं।

महेश्वरानन्द की दृष्टि—समस्त विश्व प्रकाश्य है और आत्मा प्रकाशक। प्रकाश्यत्व क्या है? प्रकाशोपश्लेष की महिमा से ही प्रकाश्य की प्रकाश्यता है और वह उपश्लेष इत्याकारक है—

तेनानेकस्य रूपस्य श्लेष ऐकात्म्यमेव सः।

प्रकाश्य एवं प्रकाशक में ऐकात्म्य है—ग्राह्य एवं ग्राहक तत्त्वतः एक ही हैं; अतः नियम (सिद्धान्त) यह है कि—सर्वं सर्वस्य प्रकाशेत् न कस्यचिद्वेत्युत्सन्नः स्याद् विश्वव्यवहारः।

अजडप्रमातृकाकार की दृष्टि—आचार्य उत्पलदेव कहते हैं—इदं मम ज्ञानमिति नाञ्जसा ज्ञानप्रकाशः; अपितु जानाम्यहमिति ज्ञानस्यास्मदर्थविश्रान्ततैव।

संसार में केवल दो पदार्थ हैं—

१. प्रकाशक (आत्मा या परमात्मा)।

२. प्रकाश्य (पदार्थ या जगत्)।

परमशिव का प्रकाशक स्वरूप—चिदात्मा की प्रकाशरूपता को उसकी चित् शक्ति कहा गया है—प्रकाशरूपता चिच्छक्तिः।

यह प्रकाशरूपता परमशिव की संविद्रूपता है। अपने इस प्रकाशस्वरूप से ही वह सर्वत्र प्रकाशित होता है और इसी प्रकाशरूप आश्रय में विश्व के समस्त तत्त्व प्रकाशित होते हैं।

ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकार की दृष्टि—ईश्वरप्रत्यभिज्ञा में कहा गया है कि आत्मा की प्रकाशरूपता सर्वव्याप्त है। प्रकाशरूप आत्मा का इच्छास्फुरण जगत् भी प्रकाश-रूप है—प्रकाशात्मा प्रकाश्योऽर्थो।[१] क्योंकि आत्मा (परमशिव) के अप्रकाशरूप होने पर तो किसी को किसी प्रकार का प्रकाश (ज्ञान) नहीं होगा और सर्वत्र अन्धता (आन्ध्य) छा जायेगी—प्रकाशमानता स्वात्मन्यपि वा न स्याद् इति अन्धता जगतः।

अतः तात्त्विक दृष्टि से देखने पर तो आत्मा की प्रकाशरूपता ही सर्वत्र अभेदरूप से अनुस्यूत है और अप्रकाशरूपता का कहीं भी अस्तित्व नहीं है—नाप्रकाशश्च सिद्ध्यति।

परमेश्वर की यह प्रकाशरूपता उसकी विमर्शरूपता से ही अनुप्राणित है। अग्नि एवं उसके धर्म (स्वभाव/गुण) दाहकत्व की भाँति प्रकाशरूपता एवं विमर्शरूपता में भेद सम्भव नहीं है। विमर्शतत्त्व चिदात्मा के प्रकाशस्वरूप की प्रतीति है। यह विमर्श

---

१. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा (१-१.५.३)

ही परमशिव का स्वातन्त्र्य है। इससे आत्मा परनिरपेक्ष होकर अपनी आत्मा की पूर्णता में विश्रान्त रहता है। यह पर-निरपेक्ष आत्मपूर्णता की प्रतीति ही परमशिव का आनन्द है—स एव परानपेक्षः पूर्णत्वादानन्दरूपोः।

प्रकाशस्वरूप परमशिव और उसका आनन्द—आचार्य अभिनवगुप्त ने भी इसे ही आनन्द स्वीकार किया है और अन्य-निरपेक्षता को ही आनन्द माना है—अन्य-निरपेक्षतैव परमार्थत आनन्दः।[१]

सांसारिक भोक्ताओं को अपने से पृथक् अन्य भोग्य पदार्थों की अपेक्षा होती है और वह उसी में आनन्द खोजता है; क्योंकि वह अपूर्ण है और इसीलिये उसे पर की अपेक्षा है। उसका आनन्द अपने-आप में विश्रान्त न होकर पर (दूसरे) की अपेक्षा पर आश्रित है—भोग्योन्मुख आनन्द है। चूँकि परमशिव से भिन्न तो कुछ है ही नहीं; अतः वह अपने से भिन्न किसी पराये भोग्य की अपेक्षा नहीं रखता और इसीलिये स्वतन्त्र कहा जाता है। स्वतन्त्र का पूर्ण विमर्श ही उसका स्वातन्त्र्य है। यह स्वातन्त्र्य ही परमशिव का आनन्द या उसकी आनन्दशक्ति है—स्वातन्त्र्यम् आनन्दशक्तिः।[२]

इसमें (क) चिदंश शिवभाव है, (ख) आनन्दांश शक्तिभाव है एवं (ग) चिदंश (प्रकाश/परमशिव) एवं आनन्दांश (विमर्श/शक्ति) का सामरस्य ही परमभाव है। चिदानन्द (प्रकाश-विमर्श) के सामरस्य में इच्छा, ज्ञान और क्रिया पूर्णतः समरसी-भूत है और इस शक्ति-सामरस्य में पूर्ण निर्विभागता रहती है—

सुसूक्ष्मशक्तित्रितयसामरस्येन वर्तते।
चिद्रूपाह्लादपरमो निर्विभागः परस्तदा।।[३]

संवित्प्रकाशकार की (प्रकाशक एवं प्रकाश्य-विषयक) **दृष्टि**—आचार्य वामनदत्त कहते हैं कि प्रकाशक एवं प्रकाश्य में अभिन्नता में राहु का सिरमात्र दृष्टिगोचर होता है, धड़ नहीं; अतः जब हम राहु का सिर कहते हैं तो क्या राहु पृथक् है और उसका सिर पृथक्? नहीं। इसी प्रकार प्रकाश्य प्रकाश (प्रकाशक) से भिन्न नहीं है—

यथा राहोः शिर इति शब्दे भेदो न वास्तवः।
तथा स्वात्मनि वेद्यत्वभेदशब्दो न वास्तवः।।[४]

प्रकाश्य प्रकाशक के बिना कैसे प्रकाशित हो सकता है?

त्वदात्मकत्वं भावानां विवदन्ते न केचन।
यत्प्रकाश्यदशां यातो नाप्रकाशः प्रकाशते।।[५]

---

१. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी (भाग १)
२. तन्त्रसार
३. शिवदृष्टि
४. संवित्प्रकाश (८)
५. संवित्प्रकाश (१२)
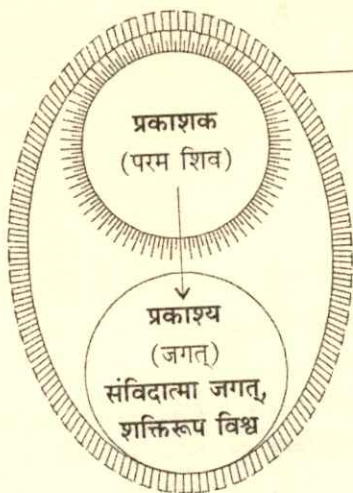
इह खलु विश्वं प्रकाश्यं प्रकाशकश्चात्मेत्यभिहितेयं मर्यादा। (परिमल)

प्रकाश्यप्रकाशकयोरैकात्म्यम्। (परिमल)

प्रकाशान्तर्गतत्वमवश्यम्भावीति विश्वस्य तत्प्रकाशकस्यात्मनश्चैकात्म्यमवर्जनीयम्—परिमल।

> प्रकाशकानां स्वे रूपे प्रकाश्यत्वं न दुर्लभम्।
> यदनिर्भक्तरूपास्ते स्वरूपस्य प्रकाशकाः।।[१]
> अविच्छिन्नापि रवि भा भावैस्तेभ्यः पृथग् यथा।
> तथा प्रकाश्य सर्वार्थांस्त्वं तेभ्योऽप्यतिरिच्यते।।
> सृजन् विदन् ज्ञापयंश्च त्रिधैकस्त्वं प्रकाशकः।
> व्यतिरिक्तः प्रकाशेभ्यो न यथाऽन्ये प्रकाशकाः।।
> न प्रकाशाः प्रकाशन्ते त्वत्प्रकाशोदयं विना।
> प्रकाशाख्यस्त्वमेकोऽतः सर्वेऽन्ये तमसा समाः।।[२]

महेश्वरानन्द की दृष्टि—महेश्वरानन्द कहते हैं कि परमेश्वर (परमशिव) में जो अनन्यमुखप्रेक्षित्व है, वही उसका स्वातन्त्र्य है—परमेश्वरस्यानन्यमुखप्रेक्षित्वलक्षणं स्वातन्त्र्यम्।[३]

आचार्य महेश्वरानन्द इसी प्रसंग में शून्यवाद का भी खण्डन करते हुये कहते हैं कि—प्रपञ्चस्य शून्यत्वपक्षश्च पूर्वमेवाधिक्षिप्तः।

इस शून्य (अभाव/निषेध द्वैत/पृथक् सत्ता) के रूप में भी आत्मा ही सर्वत्र प्रसृत है—तत्स्वभावतयाऽयमात्मा परिस्फुरतीति।[४]

---

१. संवित्प्रकाश (६) २. स्वंवित्प्रकाश (३६-३८) ३-४. परिमल

जो अस्थैर्य (क्षणभंगुरता/अनित्यता/अस्थिरता) स्थिर (आत्मा) के विरुद्ध पदार्थ के रूप में दृष्टिगत होता है, वह भी स्थैर्य (स्थिर संवित्तत्व/आत्मा) का ही एक स्वरूप है।

आत्मा की स्थिरता—आचार्य महेश्वरानन्द परिमल में (इसी गाथा के सन्दर्भ में) आत्मा के स्थैर्य के विषय में यह प्रमाण देते हैं—

नित्यश्चात्माऽवगन्तव्यः कालक्रमविलङ्घनात्।
सर्वलोकप्रसिद्धेयं तत्र युक्तिरुदीर्यते।।
प्रसवानन्तरं बालो जनन्याः स्तनमापिबन्।
स्तन्यादर्थक्रियां स्वस्य स्मरत्येवेति कल्प्यते।।
स्मृतिश्चानुभवायत्ता स च नात्रास्ति जन्मनि।
अतः प्राचीनया भाव्यमनुभूत्या कदाचन।।
सामानाधिकरण्यं च तयोर्विद्वद्भिरिष्यते।
अत आत्मा सदा स्थैर्यन्नित्योऽसाविति बुध्यताम्।।

श्रीपरास्तोत्रकार की दृष्टि—अपने परास्तोत्र में भी महेश्वरानन्द कहते हैं कि—

मातुर्गर्भसमुद्गकादवतरन्नुर्वीमिमामर्भक-
स्तत्पूर्वं स्तनचूचुकप्रणयिना मुग्धेन वक्त्रेण ते।
आचष्टे तदनश्वरं पदमहङ्कुर्वन् परे किं पुनः
क्रीडाकञ्चुलिका कलेवरमयी कुत्रापि न त्यज्यते।।

इसी प्रसंग को आगे बढ़ाते हुये यह भी कहा गया है कि आत्मा स्थिर है और उसका सार्वकालिक स्थैर्योपन्यास है—

तथाहि क्षणतो भङ्गे दृश्यमानस्य वस्तुनः।
अत्रैवास्य क्षणे सत्त्वं नीलादेर्नोपरि क्षणे।।
इति गृह्णाति या संवित् तस्यास्तत्र क्षणद्वये।
अवस्थानाभ्यनुज्ञायां क्षणभङ्गः प्रणश्यति।।
सापि संवित् क्षणाद् भग्नेत्युक्तौ तत्तत्पृथक् क्षणाः।
परस्परानभिज्ञास्ता भिन्नकालतया धियः।।
जानीयुः कथमन्येषां क्षणमात्रव्यवस्थितिम्।
लोकयात्राप्रवृत्तिर्वा न क्षीयेत कथं नृणाम्।।
सन्ततिस्तत्क्रियां कुर्यादिति तैर्यदुदीर्यते।
असन्ततिवदेव स्याददृढ़ा सन्ततिर्यदि।।
दार्ढ्ये तस्या जगत्स्थैर्यं पर्यायेणानुमन्यते।
शिवदृष्टाविदं प्राह श्रीसोमानन्ददेशिकः।।
इतश्चास्ति जगत्यैक्यमित्यादौ ग्रन्थविस्तरे।

महेश्वरानन्द कहते हैं कि इन उपर्युक्त युक्तियों (तर्कों) के द्वारा 'क्षणभङ्ग एवास्थिरो निर्वोढुमशक्य:' सिद्ध होता है और फिर कहा जा सकता है कि परमेश्वर के ज्ञान-स्मृति-अपोहन--शक्तित्रय के द्वारा (परमेश्वर का) विश्वव्यवहर्तृत्व भी सिद्ध होता है। इसीलिये प्रत्यभिज्ञा में कहा गया है—

स्यादेकश्चिद्वपुर्ज्ञानस्मृत्यपोहनशक्तिमान्।

९. **श्रीमद्भगवद्गीताकार की दृष्टि**—भगवद्गीता मे कहा गया है—'मत्त: स्मृतिर्ज्ञान-मपोहनं च।' यह भी कहा गया है—

स्वान्त: क्रोडीकृताशेषवेद्यवर्गो महेश्वर:।
लोकयात्रामुपस्कर्तुं तत्तद्वैचित्र्यशालिनीम्।।
नियतानेव निर्भिद्य कांश्चिदर्थान् निजेच्छया।
उन्मज्जयति यत् स्वस्माद् दृक्शक्ति: सा निगद्यते।।
बहिरौन्मुख्ययोगेऽपि स्वात्मचिद्रूपमुज्ज्वलम्।
स्वच्छायामजहत् स्वच्छां भवेज्ज्ञानं नवं नवम्।।
अस्मिन् नवनवोल्लासे विद्युत्प्राये स्फुरत्यपि।
यथाभिलाषं लोकेन व्यवहर्तुं न पार्यते।।
तत्संविदो बहिर्मुख्या यदन्तर्मुखतास्पदम्।
चित्स्वरूपमवस्थासु कालभेदे महत्यपि।।
तस्य बाह्यपरामर्शप्रागल्भ्यं स्मृतिरुच्यते।
अथापि तत्रवाभासं स्मृतं वा वस्तु वस्तुत:।।
विश्वमय्या स्वचिच्छक्त्या तादात्म्यं न परित्यजेत्।
अतो बोध: स्मृतिश्च द्वौ वर्ज्यौ स्यातां महेशितु:।।
तद्वेद्यं वित्तितस्तस्या वित्तिर्वित्त्यन्तरादपि।
वेद्यं च वेद्यादन्यस्माद्यथा विच्छेदमश्नुयात्।।
तथा भगवत: काचित् स्वातन्त्र्यश्रीरपोहनम्।
इत्याख्याता स्फुटं ज्ञानस्मृत्यपोहनशक्तय:।।

* * * * * * *

तिसृभि: शक्तिभिराभि: शिव: कुविन्दो भवन् कुलालो वा।
अनुभवति सुखं स्मरति च बहु च विकल्पयति विश्ववैचित्र्यम्।।[१]

आत्मा की आनन्दरूपता

नन्वस्तु स्थैर्यवत एवात्मनो जीवन्मुक्तिरूप: पुरुषार्थ:। तस्य पुनरानन्दस्व-

---

१. परिमल (५४)

भावत्वं विप्रतिपन्नम्। पाषाणप्रायताया मुक्त्यवस्थायां कैश्चिदङ्गीकृतत्वादित्याशङ्क्याह—

णं अप्पणो पिअत्थं सव्वस्स पिअत्तणं भणाइ सुई।
ता आणन्दसहावो अप्पा मुत्तो अमुक्तो वा॥५५॥

(नन्वात्मनः प्रियार्थं सर्वस्य प्रियत्वं भणति श्रुतिः।
तस्मादानन्दस्वभाव आत्मा मुक्तोऽमुक्तो वा॥)

वेद इस तथ्य का प्रतिपादन करता है कि आत्मा की प्रियता (आत्मा को प्रिय लगने मात्र) के कारण ही समस्त वस्तुयें प्रिय लगने लगती हैं; अतः आत्मा चाहे (बन्धनों से) मुक्त हो या अमुक्त (बन्धनग्रस्त); किन्तु वह (स्वरूपतः) है—आनन्दस्वभाव ही॥५५॥

अस्ति खलु 'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति, इति श्रुतिः पारमेश्वरपरामर्शरूपतया प्रकृत्यैव प्रमाणभूतत्वात् 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' इत्यादिवैलक्षण्येन युक्तिविशेषावबोधकत्वाच्च बाधविधुरमेवार्थमाचष्टे। यदुतात्मनः स्वस्य यत् प्रियमिच्छोल्लासरूपा प्रीतिस्तामेव प्रयोजनीकृत्य व्यवह्रियमाणमखिलमपत्यमित्रादिकं वस्तु प्रीणनतयाऽनुभूयत इति। नन्विति पराभ्युपगमोपपादनार्थः। तस्माद्धेतोः स्वहृदयस्फुरणलक्षणस्यात्मनः—

पूर्णत्वादहमित्यन्तर्ज्ञानमानन्द उच्यते।

इति स्थित्या पूर्णाहन्ताऽनुसन्धानात्मकस्वात्मविश्रान्तिसतत्त्वो य आनन्दः, स एवासाधारणं रूपम्। तादृक्स्वभावत्वे च तस्य मुक्तत्वममुक्तत्वमित्यवस्थाद्वयेऽपि न किञ्चित् तारतम्यम्। यदि च तस्यात्मनो आनन्दः स्यात् स्वभावः, तदपत्यकलत्रादयः शमदमादयो वा भावास्तस्य प्रीणनाः स्युः। न ह्यपत्यादयः सहस्रमपि चैतन्यशून्यं किञ्चिदाक्रष्टुं प्रगल्भन्ते। चैतन्यस्य च स्वविश्रान्तत्वमेवानन्द इत्युक्तम्। यदा पुनरस्य स्वविश्रान्तिपरामर्शं प्रत्यौदासीन्यम्, तदानीं दाहच्छेदादिदुःखानुभूतिव्यपदेशः। वास्तव्या तु दृष्ट्या तादृक्परामर्शशून्यत्वेऽपि न कदाचिदप्यस्य स्वविश्रान्त्यभाव इति सर्वदा सुखानुभूतिव्यतिरेकेण न किञ्चिद् दुःखमित्यालोक्यते। नन्वानन्दात्मकत्वे कथं क्रोधादौ पुंसां शस्त्रप्रहारादिक्लेशानुभूत्यौन्मुख्यमिति चेत्! न, क्षेत्रकलत्राद्यनुरागावेशवैवश्यादेवमुद्योग इति कश्चिदानन्दाध्यवसाय एव तेषामेतादृग्व्यवहारोपक्रमे निबन्धनमिति दुःखानामपि प्रहरणाद्यवस्थावत् सौख्यकक्ष्यानुप्रवेशात् सिद्धमस्यानन्दस्वभावत्वम्। यदुक्तं श्रीमत्स्तोत्रावल्याम्—'दुःखान्यपि सुखायन्ते' इति। इत्थं चात्मनः स्वस्य यः काम इच्छौत्सुक्याशास्पृहादिपर्यायो भावः स्वभावत्वेन वर्तते, तमेवोन्मीलयितु-

मपत्याङ्गनाप्रभृतिरखिलो वेद्यप्रपञ्चः प्रीणनो भवतीति श्रुत्यर्थो व्याख्यातः। तत्र तुरवधारणे। कामायेति 'तुमर्थाच्च भाववचनात्' इति चतुर्थी। एवम्— 'आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्' इत्यादौ व्यतिरेकोऽप्यूह्यः। प्रियार्थमिति प्रीत्यर्थस्य प्रिय-शब्देनोपन्यासादात्मस्वभावभूतः प्रीतिरूप एव स्वकर्तृकरणादिवैचित्र्येण बहु-प्रकारोऽनुभूयते, न पुनरेतद्व्यतिरिक्तः कश्चित् प्रीणनादिः पदार्थ इत्यासूत्र्यते— मुक्तोऽमुक्तो वेति। न खलु नैयायिकादिमर्यादया मुक्त्यवस्थायां पाषाणप्रायत्वा-दात्मनो निरानन्दत्वम्, यतो मुक्त्यभावेऽपि तस्यैवंस्वभावत्वमपरिहार्यं किमुत तदनुभव इति द्योतनार्थमेवमनादरेणोपन्यासः। किञ्च, स्वस्यानन्दस्वरूपत्वा-वश्यम्भावे बन्धमोक्षादिविकल्पविक्षोभोऽत्र न कश्चिदप्युपपद्यते, आनन्दस्य चित्त्वसत्त्वानुभूतिसामरस्यात्मकत्वात्। यदाहुः—

यत्र चित्सत्तयोर्व्याप्तिस्तत्रानन्दो विराजते।
यत्रानन्दो भवेद्भावे तत्र चित्सत्तयोः स्थितिः।। इति।

एनमेवानन्दमुन्मीलयितुमस्मदाम्नायेषु प्रथमद्वितीयादिद्रव्यस्वीकारनिर्बन्धो निबध्यत इत्युपनिषत्।।५५।।

एक दर्शनिक प्रश्न है कि जब पदार्थ जड़ है और आत्मा चेतन है तो चेतन सत्ता का जड़ पदार्थों से अनुराग क्यों है? जड़ पदार्थ चेतन आत्मा को प्रिय क्यों लगते हैं? वे दोनों तो परस्पर विजातीय हैं; फिर दोनों में पारस्परिक प्रियता का कारण क्या है?

बृहदारण्यकोपनिषद् (ब्रा.-५.६) में एक उपाख्यान आता है। महर्षि याज्ञवल्क्य की दो भार्यायें थीं—१. कात्यायनी २. मैत्रेयी। याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी से कहा कि मैं गार्हस्थ्य आश्रम का त्याग करके इस स्थान से जाने वाला हूँ; अतः मैं कात्यायनी एवं तुममें धन का विभाजन करना चाहता हूँ। ब्रह्मवादिनी मैत्रेयी ने प्रश्न किया कि क्या मैं धन से अमृतत्व प्राप्त कर सकती हूँ? याज्ञवल्क्य ने कहा कि—'अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेनेति' (धन से अमृतत्व पाने की तो आशा है ही नहीं)।

मैत्रेयी ने पुनः प्रश्न किया—'येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्यां यदेव भगवान् वेद तदेव मे ब्रूहीति' (जिससे मैं अमर नहीं हो सकती, उसे लेकर मैं क्या करूँगी? आप उस अमृतत्व-प्राप्ति के साधन के विषय में जो कुछ भी जानते हों, उसे बताइए)।

याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी की इसी प्रार्थना पर कहा—'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।' इसी तथ्य की व्याख्या में याज्ञवल्क्य कहते हैं कि—

१. पति के प्रयोजन के लिये पति प्रिय नहीं होता; अपने ही प्रयोजन की लिये पति प्रिय होता है।

२. स्त्री के प्रयोजन के लिये स्त्री प्रिय नहीं होती; प्रत्युत अपने ही प्रयोजन के लिये स्त्री प्रिय होती है।

३. पुत्रों के प्रयोजन के लिये पुत्र प्रिय नहीं होते; प्रत्युत अपने ही प्रयोजन के लिये पुत्र प्रिय होते हैं।

४. धन के प्रयोजन के लिये धन प्रिय नहीं होता; प्रत्युत अपने ही प्रयोजन के लिये धन प्रिय होता है।

५. पशुओं, ब्राह्मणों, क्षत्रियों, लोकों, देवों, वेदों, भूतों आदि के प्रयोजन के लिये पशु, ब्राह्मण, क्षत्रिय, लोक, देव, वेद एवं भूतादिक प्रिय नहीं होते; प्रत्युत अपने ही प्रयोजन के लिये वे प्रिय होते हैं।

६. सबके प्रयोजन के लिये सब प्रिय नहीं होते; प्रत्युत अपने ही प्रयोजन के लिये सब प्रिय होते हैं—'न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।'[1]

अन्त में याज्ञवल्क्य 'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति' को प्रतिपादित करके आत्मोपासना का उपदेश देते हुये कहते हैं—आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेयात्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञाते इदं सर्वं विदितम् (बृहदारण्यकोपनिषद् ५.६)।

यह ब्राह्मण जाति, यह क्षत्रिय जाति, ये लोक, ये देव, ये वेद, ये भूत और ये सब जो कुछ भी हैं—ये सब आत्मा ही हैं—'इदं ब्रह्मेदं क्षत्रमिमे लोका इमे देवा इमे वेदा इमानि भूतानीदं सर्वं यदयमात्मा।'[2]

सारांश यह कि सब कुछ आत्मा ही है, चाहे वह क्षत्रिय हो या लोक, चाहे वह देव हो और चाहे वेद।

उपनिषदों के प्रख्यात सिद्धान्तों में दो प्रमुख हैं—सर्वात्मवाद एवं सर्वानन्दवाद। 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्'—यही उपनिषदों का निष्कर्ष है।

२. औपनिषदक सिद्धान्तों के दो प्रधान निष्कर्ष—

१. सर्वात्मवाद २. सर्वानन्दवाद।

सर्वात्मवाद—

१. ॐ आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् नान्यत्किञ्चनमिषत् स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति।

२. स इमांल्लोकानसृजत। अम्भोमरीचीर्मरमापोऽदोऽम्भः दिवं द्यौः प्रतिष्ठान्तरिक्षं मरीचयः पृथिवीमरो या अधस्तात्तां आपः। (ऐतरेयोपनिषद-१.१.२)

३. सर्वं ह्येतद् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्मा सोऽयमात्मा चतुष्पात्।

४. अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैत एवमोङ्कार आत्मैव संविशत्यात्मनाऽऽत्मानं य एवं वेद य एवं वेद। (माण्डूक्यो.-१२)

---

१. बृहदारण्यकोपनिषत् (ब्रा.-५.६) २. बृहदारण्यकोपनिषत् (ब्रा. ५.५.७)

५. आत्मानं रथिनं विद्धि। (कठोपनिषद् ३.३)

बुद्धेरात्मा महान् परः। (कठो.-३.१०)

एष सर्वेषु भूतेषु गेढोत्मा न प्रकाशते (३.१२) आदि।

सर्वानन्दवाद—

१. यद्वै तत्सुकृतं रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दीभवति।

(तैत्तिरीयोपनिषद्- (अनु.७)

२. आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। (भार्गवी-वारुणी विद्या)

आनन्दमयोऽभ्यासात् (ब्र. सू.) आदि।

आत्मा की सर्वानुस्यूतता—महेश्वरानन्द के अनुसार विश्व का मूल आत्मा है—

आत्मा खलु विश्वमूलं तत्र प्रमाणं न कोऽप्यर्थयते।
कस्य वा भवति पिपासा गङ्गास्तोत्रसि निमग्नस्य।।

(महार्थमञ्जरी : गाथाक्रमाङ्क-३)

आनन्द की सर्वानुस्यूतता—जगत् में प्रियता के जितने भी सम्बन्ध हैं, उन सबके मूल में आत्मा का आनन्दस्वरूप या आनन्दस्वभाव ही कारण रूप में विद्यमान है—यदुतात्मनः स्वस्य यत् प्रियमिच्छोल्लासरूपा प्रीतिस्तामेव प्रयोजनीकृत्य व्यवह्रियमाणमखिलमपत्यमित्रादिकं वस्तु प्रीणनतयाऽनुभूयत इति।[1]

महेश्वरानन्द की आनन्दसम्बन्धिनी दृष्टि—महेश्वरानन्द कहते हैं कि पूर्णानुसन्धानात्मक स्वात्मविश्रान्ति ही आनन्द है। यह आनन्द तत्त्व अपने हृदय का स्फुरण ही तो है। 'मैं पूर्ण हूँ' इत्याकाराकारित अन्तर्ज्ञान ही आनन्द है।

१. पूर्णत्वादहमित्यन्तर्ज्ञानमानन्द उच्यते।

२. पूर्णाहन्ताऽनुसन्धानात्मकस्वात्मविश्रान्तिसतत्त्वो य आनन्दः।[2]

३. त्रिकनय में कहा गया है कि पूर्ण निरपेक्षता या पूर्ण निरपेक्ष स्वतन्त्रता ही आनन्द है।

४. आनन्द परमशिव की दूसरी शक्ति है।

परमशिव की शक्तियाँ—

१. चितिशक्ति ३. इच्छाशक्ति ५. क्रियाशक्ति

२. आनन्दशक्ति ४. ज्ञानशक्ति

गाथाकार कहते हैं कि आत्मा आनन्दस्वभाव है—तस्मादानन्दस्वभाव आत्मा मुक्तोऽमुक्तो वा।

१-२. परिमल (५५)

परिमलकार की दृष्टि—परिमलकार का कथन है कि—

१. यदि आनन्द आत्मा का स्वभाव न होता तो सहस्रों पत्नियाँ, पुत्र आदि भी उसे आकृष्ट न कर पाते।

२. आनन्द क्या है? आनन्द चैतन्य की स्वात्मविश्रान्तिमात्र है—चैतन्यस्य च स्वविश्रान्तत्वमेवानन्द इत्युक्तम्।

३. जब इस चैतन्य का स्वविश्रान्तिपरामर्श के प्रति उदासीनता—पराङ्मुखता होती है तभी शारीरिक स्तर पर दाह, शरीर-छेदन आदि दुःखों की अनुभूति होती है; अन्यथा शरीर के दुःख से चैतन्य को दुःखानुभूति हो ही नहीं सकती—स्वविश्रान्ति परामर्शं प्रत्यौदासीन्यम्, तदानीं दाहच्छेदादिदुःखानुभूतिव्यपदेशः।[१]

४. यदि आत्मा का स्वभाव आनन्द न हुआ होता तो मैं मानता हूँ कि उस स्थिति में पत्नी, पुत्र, शम, दम आदि व्यक्ति के आनन्दस्रोत (आनन्द के कारण) बने होते; किन्तु चूँकि आत्मा आनन्दस्वभाव है; अतः पुत्र-कलत्रादि के उद्देश्य से ये प्रिय नहीं बनते; प्रत्युत आत्मा के उद्देश्य से ही ये प्रिय बनते हैं।

५. तात्त्विक दृष्टि से विचार करने पर तो स्वविश्रान्ति परामर्श न भी हो तो भी प्राणी स्वविश्रान्ति के अभाव की स्थिति में ही नहीं रह जाता; क्योंकि वह सर्वदा सुखानुभूतिशून्य होकर दुःखमात्र ही अनुभूति नहीं करता रहता।[२]

६. दुःखानुभूति की अवस्था में भी आत्मा का आनन्दस्वभाव नष्ट नहीं हो जाता।

७. आत्मा में जो काम—इच्छा-औत्सुक्य-आशा-स्पृहा आदि भाव स्वभावतः विद्यमान है, उसको उन्मीलित करने के लिये ही (पत्नी-पुत्र आदि) वेद्य-प्रपञ्च प्रिय बना करता है।

८. 'आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्' के प्रति भी उसी आत्मा के प्रति प्रियता का तत्त्व विद्यमान है।

९. गाथा में प्रयुक्त 'प्रियार्थं' शब्द का अर्थ है—आत्मा की प्रियता के कारण (आत्मप्रेम के वशीभूत होकर)। यह प्रिय कौन है? यह है—आत्मस्वभावभूत प्रीति।

१०. नैयायिक मुक्त्यवस्था में आत्मा को पाषाणवत् निरानन्द अवस्था में अवस्थित मानते हैं।

११. आनन्द है—चित्त्वसत्त्वानुभूतिसामरस्यात्मकत्व—आनन्दस्य चित्त्वसत्त्वानुभूति-सामरस्यात्मकत्वात्।[३]

शास्त्रों में इस तथ्य की पुष्टि भी की गई है—

> यत्र चित्सत्तयोर्व्याप्तिस्तत्रानन्दो विराजते।
> यत्रानन्दो भवेद्भावे तत्र चित्सत्तयोः स्थितिः।।[४]

१-४. परिमल

आत्मकामता ही सबमें प्रियता का कारण है। आत्मा जिस-जिस वस्तु में आनन्द का आस्वादन करती है, वही-वही वस्तु प्रिय बन जाता है। सर्वत्र आत्मा की ही स्वरूपानन्दमयी सत्ता व्याप्त है। 'आनन्दं ब्रह्म। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्। न बिभेति कदाचनेति' (तै० उप० ४/अनु.)। 'आत्मानन्दमय:' (तैत्तिरीयो० अनु० ५)। 'आनन्द आत्मा (तैत्ति० उप०। अनुवाक-५)। 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चनेति (तैत्तिरीयोपनिषद्, नवम अनुवाक)।

प्रजापति के १०० आनन्द ब्रह्म के १ आनन्द तथा ब्रह्मा के अनन्त आनन्द परमात्मा के १ आनन्द के समतुल्य होता है।

मानुषानन्द, गन्धर्वानन्द, देवगन्धर्वानन्द, पितरानन्द, आजानदेवानन्द, आजानजानन्द, कर्मदेवानन्द, इन्द्रानन्द, बृहस्पति का आनन्द, प्रजापत्यानन्द एवं ब्रह्मानन्द आदि सबसे बड़ा आनन्द आत्मा एवं परमात्मा का आनन्द होता है।

सोऽहं मन्त्र और उसकी साधना

अथैवमुपपादितमात्मस्वरूपस्फुरत्तापरामर्शं प्रत्यतिस्पष्टानाणवादीनुपायानुपदेक्ष्यन् प्रथमं त्रीनप्येकयैव गाथयोद्घाटयति—

जइ णिअहिअउल्लासं णिण्णेउं णिच्चणिक्कलं इच्छा।
मज्झतुडी खुडिअव्वा अत्थं एत्ताण सोमसुज्जाणं॥५६॥

(यदि निजहृदयोल्लासं निर्णेतुं नित्यनिष्कलमिच्छा।
मध्यतुटिस्त्रुटितव्याऽस्त्रं यतो: सोमसूर्ययो:॥)

यदि अपने हृदय में (विकल्प-कल्पना के कलंक से शून्य) नित्य एवं माया-शून्य निर्मल उल्लास को निर्णीत करने की इच्छा हो तो सोम-सूर्य (हं एवं स:) के मध्य की तुटि विसर्जनीय है॥५६॥

निजं यत् साक्षात्कारोल्लेखयोग्यं हृदयं व्याख्यातस्वभावं तस्योल्लासश्चेत्यचेतयितृत्वादिवैचित्र्येण स्फुरणम्, स प्रकृत्या कालविभागव्युदासेन निष्कलो हेयोपादेयताद्यशेषविकल्पकल्पनाकलङ्कशून्यो भवति। तमेवंविधमत्यन्तस्पष्टतया प्रत्यक्षीकारचमत्काराकारनिश्चयास्पदं कर्तुं यदीच्छा युष्माकमुपसन्नानाम्—

श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः।

इति श्रीभगवद्गीतास्थित्या काचिद् वाञ्छा विजृम्भते चेत्, तर्ह्ययमत्रोपाय इति वक्ष्यमाणसर्वार्थसाधारणोऽयमन्वयप्रकारः। तत्र यावेतौ सोमसूर्यौ वेद्यवर्गानुप्राणनत्वादकुलमार्तण्डाविभिन्नवेदितृस्वभावत्वाच्च सकारहकारात्मानौ वर्णविशेषौ, तयोरस्त्रं विसर्जनीयम्, आस्थां स्वहृदयसम्पुटीकारलक्षणमनुस्वारं

च तयोरश्नुवानयोर्या मध्यस्था तुटिः विभज्यावस्थानक्षणलक्षणः कालखण्डः। स उत्त्रुटितव्यः। माणिक्यमालिन्यादिवदुद्धर्तव्यः। तदानीं हंस इति विमर्श उत्पद्येतेति यावत्। अयं भावः—यद्यपि मातृकापाठादौ हमिति स इति चान्यवर्णसाधारण्येनानयोर्ग्रहणमस्ति, तथापि तद् द्वयं स्वहृदयवर्त्यनुत्तराविनाभूतमहं स इति स्वात्मप्रत्यभिज्ञानोपायत्वेन हं स इति संश्लेषवशान्महामन्त्रात्मना विम्रष्टव्यमिति वैपरीत्येनोद्धारो मन्त्रस्य—

बहिर्व्यवहरन् लोक्यान् स्थगयन्नूहगोचरान् ।
चरन् कपटमार्गेण वामं नयमिवोन्नयेत् ।।

इति श्रीलघुबृंहणीमर्यादया गोपनीयताद्योतनार्थं सोऽहमिति मन्त्रान्तरप्रत्यायनार्थं च। अयं च मन्त्रात्मकवर्णविशेषपरामर्शरूपत्वादाणवः कश्चिदुपायः। यदुक्तं श्रीमालिनीविजये—

उच्चारकरणध्यानवर्णस्थानप्रकल्पनैः ।
यो भवेत् स समावेशः सम्यगाणव उच्यते ।। इति।

एवमुच्चारादावप्यूह्यम्। तत्र प्राणव्यापाररूप उच्चारो यथा—

कुम्भिता रेचिता वापि पूरिता वा यदा भवेत् ।
तदन्ते शान्तनामासौ शान्त्या शान्तः प्रकाशते ।। इति।

कायसंस्थापनात्मकं करणं यथा—

अम्ब! केचिदमृताम्बुचिन्मयीलम्बिकाङ्कुरशिखावलम्बिनीम् ।
तालुमूलवलयीकृताग्रया जिह्वया कवलयन्ति ते कलाम् ।। इति।

चित्तोल्लेखस्वभावं ध्यानं यथा—

अनु[illegible]लममृतार्द्रादालवालान्तराला-
ल्ललितमुदयमाना पल्लवापाटलश्रीः ।
अशिथिलमवलम्ब्य स्थाणुमुद्भासभाना
फलति कमपि भावं कोमला कापि वल्ली ।। इति।

मूलाधाराद्यनुसन्धानाकारं स्थानकल्पनं यथा—

योनौ कनकपुञ्जाभं हृदि विद्युच्छटोज्ज्वलम् ।
आज्ञायां चन्द्रसङ्काशं महस्तव महेश्वरि! ।। इति।

एषु च किञ्चिदन्योन्यसाङ्कर्येऽपि तत्तत्प्राधान्यमालोचनीयमित्यलं प्रपञ्चेन। किञ्च, सोम एषणीयज्ञेयकार्यस्वभावः प्रमेयोल्लासः। सूर्य इच्छाज्ञानक्रियात्मकं प्रमाणस्फुरणम्। अनयोरर्थं स्वां स्वामर्थक्रियां यतोः प्राप्नुवतोः सतोरिति भाव-

लक्षणे सप्तमी। तथा भवतोश्चानयोर्मम स्वात्मनः प्रमातृभूतस्य त्रुटिः सन्देहलक्षणो दोष उत्त्रुटितव्यः स्वात्मानं प्रत्युन्मिषन् संशयः सञ्छेद्य इत्यर्थः। एतदुक्तं भवति— एषणीयताद्यनुप्राणनस्थूलोऽयं प्रपञ्चोल्लास इच्छादिशक्तित्रयप्रवृत्तिं विना न क्वचिदपि सम्पद्यत इत्येषितृत्वादिरूपस्यात्मनः स्पष्टापरोक्षीकारविपर्ययात्मानं संशयशङ्कातङ्कं तिरस्करोति। तत उक्तरूपस्वहृदयपरामर्शलाभ इति। शाक्तश्चाय-मुपायः, उच्चारादिव्यतिरेकेण स्वसंविद्विकल्पमात्राकारत्वात्। यदुक्तं तत्रैव—

उच्चाररहितं वस्तु चेतसैव विचिन्तयन्।
यं समावेशमाप्नोति शाक्तः सोऽत्राभिधीयते ।। इति।

अथ च सोमोऽपानः, सूर्यः प्राण इति प्रसिद्धं तयोर्द्वादशान्ताद् हृदयान्तं हृदयाद् द्वादशान्तान्तं च। अस्तमिति भावे निष्ठा। असनं क्षेपलक्षणां स्फुरत्तां यतोः स्वत एव प्राप्नुवतोर्या मध्यस्था बाह्यान्तर्भावोपलक्ष्यमाणा तुटिः, तादृक् परामर्शक्रियात्मा चमत्कारलक्षणः स उत्त्रुटितव्यो हृदयङ्गमङ्गीभावपर्यन्तमात्मना निर्णेतव्य इति यावत्। अयमाशयः—अशेषशरीरसाधारण्येन नित्योदितस्वभावयोः स्वात्मपरिस्पन्दपरमार्थयोः प्राणापानयोर्युगपदुभयविसर्गारणिरूपतापरामर्शः स्वतः सिद्धोऽपि स्वहृदयाह्लादचमत्कारस्थैर्योत्पादनार्थमात्मनाऽनुसन्धेयः, यस्याऽनु-सन्धानेऽप्येवंरूपताया न काचित् क्षतिरिति। अयं पुनरुपायः सर्वविकल्पविक्षो-भव्युदासेन स्वस्वभावमात्रोपपादनप्रवृत्ततया शाम्भव इत्यवगन्तव्यः। यच्चोक्तम्—

अकिञ्चिच्चिन्तकस्यैव गुरुणा प्रतिबोधितः।
उत्पद्यते य आवेशः शाम्भवोऽसावुदाहृतः ।। इति।

अथ पुनः—

एवमेवं दुर्निशायां कृष्णपक्षागमे चिरम्।
तैमिरं भावयेद् रूपं भैरवं रूपमेष्यति ।।

इति श्रीविज्ञानभट्टारकन्यायादस्तमद्रिविशेषं विनाशं वा युगपदश्नुवान-योश्चन्द्रार्कयोर्मध्यवर्ती काललेशविशेषो बुद्ध्या निष्क्रष्टव्य इति तु व्याख्यान-मत्यन्तस्पष्टमित्याग्रहेण नोन्मीलितम्। अत्र चास्त्रमास्थामर्थमस्तमिति मध्यं ममेति तुटिस्त्रुटिरिति च प्राकृतभाषाप्राबल्यात् तन्त्रेणोक्तम्। उक्तरूपस्य चास्योपायत्रयस्य सूक्ष्मेक्षिकया सङ्करः परस्परमपरिहार्यतया वर्तते। केवलं प्राधान्यमात्रेण पृथग्व्यप-देश इत्युपदेष्टुम्—

संवित्तिफलभेदोऽत्र न प्रकल्प्यो मनीषिभिः।

इति नीत्या सर्वोपायानां फलं प्रति न किञ्चिद् वैषम्यमित्युपपादयितुं चैकहेल-योक्तिः। यद्युपश्लेषेणोक्तिस्तु विनेयजनावर्जनतात्पर्येण। तत्र च—

अभेदोपायमत्रोक्तं शाम्भवं शाक्तमुच्यते।
भेदाभेदात्मकोपायं भेदोपायं तदाणवम्।।
प्राणादिभूमिकैराद्याः सिध्यन्त्युच्चारणादिभिः।
विकल्पैर्मध्यमाः शुद्धैरन्याः प्रशमितैस्तु तैः।।

इति श्रीतन्त्रालोकोपायद्विशत्यादिनीत्या प्राणस्पन्दोच्चारणाद्यशुद्धविकल्प आणवः। चित्तमात्रनिर्वर्त्यशुद्धविकल्पात्मा शाक्तः। विकल्पसर्वविलयस्वभावः शाम्भव इति त्रिविधेऽप्युपायतत्त्वे स्थूलसूक्ष्मादितारतम्ययोगेन शक्त्युल्लेखस्य सर्वत्राप्यनुस्यूतिः। शाक्ते तु तस्या औल्बण्यमात्रादुत्कर्ष इत्यनुसन्धेयम्। यदुक्तम्—

सा शक्तिराणवैः शाक्तैः शाम्भवैश्च त्रिधोदितैः।
उपायैः शिवमाभास्य स्वसृष्टैर्मोचयत्यमून्।। इति।

'परमात्मा शिवो हंसः' कहकर क्षेमराज ने 'हंस' को शिवस्वरूप में साक्षात्कृत किया है।

सोऽहं-साधना—श्वास-प्रश्वास-क्रिया में 'स' के साथ श्वास भीतर आती है और 'ह' के साथ श्वास बाहर जाती है—

हंकारेण बहिर्याति सःकारेण विशेत् पुनः।

हृदय में इस 'ह' एवं 'स' के मध्य की तुटि (विभज्यावस्थानात्मक कालखण्ड) को विसर्जित (परित्यक्त। समाप्त) करने पर सोऽहं की अवस्था का उदय होता है और इस आत्मस्वरूप के प्रस्फुरणरूप सोऽहं के उदय (प्रस्फुरण/उल्लास) की स्थिति में सः और अहं तो एकीकृत हो ही जाते हैं; किन्तु साथ ही इस अजपाजपात्मक सिद्धा-वस्था में सकार एवं हकार से परे शून्य, सच्चिदानन्द, अलक्ष्य, निरञ्जन परमात्मा में (मन का उन्मनीकरण करके) प्रतिष्ठित होना चाहिये। किन्तु यह आत्म-प्रतिष्ठा सोऽहं के रूप में होनी चाहिये। सारांश यह कि साधक को सोऽहं स्वरूप में अवस्थित होना चाहिये।

हकार एवं सकार से हंसः स्वरूप (हंसः—इस मन्त्र के स्वरूप) का विमर्शोन्मेष होता है। हंसः एवं सोऽहं—दोनों मन्त्र हैं। हकार एवं सकार ही (हंसः—इत्याकारक) मन्त्र है; किन्तु जब साधना के द्वारा इसका स्वरूप उलट जाता है तब इसका स्वरूप सोऽहं बन जाता है। यही महामन्त्र अजपा गायत्री भी कहा जाता है।

अजपा गायत्री (हंसः) के द्वारा कालखण्ड का त्याग करके अलखनिरञ्जन के स्वरूप में स्थित परमात्मा का चिन्तन करना चाहिये।

'सोमसूर्ययोः' में सोम (चन्द्रमा) अपान वायु है और सूर्य (आदित्यात्मक) प्राण वायु है। अपान शीतल है; अतः 'सोम' एवं प्राण ऊष्ण है; अतः 'सूर्य' कहा गया है।

इन दोनों (सोम एवं सूर्य) में ऐक्य स्थापित करते हुये एवं (मनोन्मनी द्वारा) मन का उच्छेद करते हुये स्वस्वरूप का अनुसन्धान करना चाहिये। 'हंस' यह शब्द सोम-सूर्य का वाचक है। इसमें 'अहं सः' एवं 'सोऽहं' के रूप में दो उपासनायें होती हैं। सोऽहं के मध्य तुटि महत्त्वपूर्ण है। इसे हटा देने पर 'हं' एवं 'स' के स्वतन्त्र साक्षात्कार होते हैं। इसकी स्फूर्ति में स्वयं परमशिव ही उल्लसित हैं। परप्रमाता 'हं' विश्वस्फाररूपी 'स' में उल्लसित होता है। सरूपी विश्व-विस्फार अहं में विलीन हो जाता है।

'तुटि' विभज्यावस्था का नाम है। आकांक्षित (एषणीय) ज्ञेय कार्य का स्वभाव ही प्रमेयोल्लास 'सोम' है। इसकी अन्तर्वर्ती त्रुटि (सन्देहात्मक दोष) ही विसर्जनीय (त्याज्य या सञ्छेद्य) है।

यदि अपने हृदय की विकल्पात्मक कल्पनाओं के दोष (कालुष्य) से रहित, नित्य एवं कलाशून्य (मायारहित निष्कल) एवं निर्मल उल्लास की आकांक्षा हो तो हं एवं सः (सोम-सूर्य) के मध्य की त्रुटि का त्याग करना आवश्यक है। सोऽहं की अनुभूति की उच्चावस्था में आत्मा के प्रस्फुरण में नित्य अलखनिरञ्जन (परम तत्त्व) का बोध होता है।

उल्लास = चेत्यचेतयितृत्वादिवैचित्र्य स्फुरण। कालभागव्युदास के द्वारा उत्त्रुटितव्य = उर्द्धव्य। तुटि—मध्यस्था विभज्यावस्थानलक्षणात्मक कालखण्ड। सोमसूर्यौ—सकार + हकार नामक वर्णद्वय। इस साधना का उद्देश्य है—स्वात्मप्रत्यभिज्ञा। इसका उपाय है—'हं सः' नामक मन्त्र का अहर्निश अनुसन्धानात्मक जप एवं फिर हंसः मन्त्र को उलटकर सोऽहं मन्त्र के रूप में उसकी अनुभूति। यही विम्रष्टव्य है।

गाथा की व्याख्या—यदि निजहृदयोल्लासं निर्णेतुं नित्यनिष्कलमिच्छा। निज = साक्षात्कारोल्लेखयोग्य। उल्लास = वैचित्र्यपूर्ण स्फुरण।

यदि अपने विकल्प-कल्पनारहित, मायाविरहित एवं निर्मल हृदय के निर्मल उल्लास की इच्छा हो तो ह-स के स्वरूप वाले सोम-सूर्य के मध्य स्थित तुटि संछेद्य है।

सोम-सूर्य = हकार-सकार वर्ण। तुटि = विभज्यावस्था। हंस मन्त्र से ही सोऽहं मन्त्र का निर्माण होता है। सोम अपान है और सूर्य प्राण है।

प्राण एवं अपान का ऐक्य होने पर मनोलय हो जाएगा और तभी आत्मस्वरूप का अनुसन्धान करना चाहिये। सोऽहं मन्त्र के द्वारा काल का खण्डन करने पर ही परमात्मा का चिन्तन करना चाहिये। हकार-सकार के द्वारा ही हंसस्वरूप विमर्श का उदय होता है।

१. हकार से श्वास बाहर आता है।
२. सकार से श्वास भीतर प्रवेश करता है।
३. हृदय में इस हकार एवं सकार के मध्य की तुटि को यदि विसर्जित कर दिया

जाय तो सोऽहं मन्त्र बनेगा। इस स्थिति में आत्मस्वरूप के प्रस्फुरण में अलखनिरञ्जन (परम तत्त्व) का बोध होता है।

यह जो उल्लास (स्फुरण) है, वह काल के विभाग के व्युदास के कारण निष्कल है। यह हेयोपादेय आदि नि:शेष विकल्प कल्पनाओं के कलंक से शून्य है। यदि इसके सुस्पष्ट प्रत्यक्षीकार-चमत्कार की आकांक्षा हो तो इसका यही उपर्युक्त उपाय है।

एतदर्थ सोम-सूर्य (सकार + हकार) के मध्य अस्त्र का विसर्जन अत्यावश्यक है। इनके मध्य स्थित तुटि (विभज्यावस्थानक्षणलक्षण कालखण्ड) त्रुटितव्य है (हटाने योग्य है), तभी हंस का विमर्श उदित हो सकेगा। हंस स्वात्मप्रत्यभिज्ञानोपाय है।

प्राणी की जो स्वाभाविक श्वास चलती है, उसे पकड़कर जो जप-साधना की जाती है, वही है—अजपा जप।

अजपा जप के प्रकार—विभिन्न युगों में विभिन्न सम्प्रदायों ने इसके भिन्न-भिन्न रूप स्थिर किये हैं।

विशेषतायें—अजपा जप से सरल साधना कोई है ही नहीं। इसे किसी कृत्रिम उपकरण, कृत्रिम प्रक्रिया एवं किसी विशिष्ट अनुशासन की अपेक्षा नहीं है। श्वासोच्छ्वास जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्ति—तीनों कालों में चलता रहता है। इसी प्रकार अजपा-साधना भी तीनों अवस्थाओं—जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्ति में चलती रहती है। इस साधना का अभ्यासारम्भ हो जाने पर यह क्रिया किसी भी चेष्टा एवं मनोयोग के बिना भी चलती रहती है।

यह अत्यन्त सरल होने पर भी अत्यन्त गुप्त है और इसके रहस्य एवं यथार्थ स्वरूप को समझना अत्यन्त कठिन है। इस साधना का फल भी अन्य आयास-साध्य क्रियाओं के फल से पृथक् है। यह स्वभाव की साधना है; अत: कृत्रिम नहीं है। प्रकृति में व्यष्टि एवं समष्टि—दोनों स्तरों पर इसका समान प्रभुत्व एवं प्रभाव परिलक्षित होता है। यदि अजपा-विज्ञान के रहस्यों का पूर्ण बोध हो जाय तो तत्त्वज्ञानोन्मेष अवश्य होगा। यह स्वभाव से सञ्चालित है। यह स्वाभाविक फल प्रदान करती है और यह साधक को स्वाभाविक रूप में स्वस्वरूप में या स्वभाव में प्रतिष्ठित करती है।

तथागत (बुद्ध) अपने अन्तरङ्ग साधकों को इसी साधना का अभ्यास कराया करते थे। उन्होंने इसका नाम 'अनापानासति' रक्खा था। गोरक्षनाथ आदि योगियों ने, निर्गुण परम्परा के सन्तों (कबीर, रैदास, सुन्दरदास आदि) ने एवं गुरुनानक चैतन्य, महाप्रभु आदि सिद्ध महात्माओं ने भी इस साधना का प्रसार किया था। वर्तमान काल के विजय-कृष्ण गोस्वामी, महात्मा रामठाकुर, लोकनाथ आदि के अतिरिक्त अतिप्राचीन काल में भी सदाशिव, ब्रह्मा, नारद, वशिष्ठ, प्रह्लाद एवं ध्रुव आदि ने भी इस साधना का अभ्यास किया था।

गुरुनानकदेव ने राजा शिवनाथ को प्रथमतः राम नाम, फिर प्रणव एवं फिर हंसरूप अजपाजप का (तीन चरणों में) उपदेश दिया था।

वैदिक, पौराणिक एवं तान्त्रिक अर्थात् सारे प्राचीन साधना साहित्य में इसका अभ्यास अजपा गायत्री, हंसविद्या, आत्ममन्त्र एवं प्राणयज्ञ के नाम से प्रचलित था।

गीता के चतुर्थ अध्याय में उपदिष्ट 'प्राणान् प्राणेषु जुह्वति' की साधना प्राणयज्ञ ही है। इसे श्रीधर स्वामी ने (अपनी गीता-टीका में) अजपा-साधना कहा है।

श्वास के दो रूप—

१. (प्रथम श्वास) जन्म (बच्चे का प्रथम श्वास)।

२. (अन्तिम श्वास) मृत्यु (श्वास का अन्तिम भाग)।

जन्म से मृत्युपर्यन्त का मध्य काल जीवन कहलाता है। मानव का समस्त जीवन श्वास-प्रश्वास से सम्पुटित है।

मनुष्य की आत्मविस्मरणावस्था एवं श्वास-प्रश्वास—मनुष्य अपनी आत्म-विस्मरण की अवस्था में ही प्राण एवं अपान की हथकड़ियों से बँधकर इड़ा एवं पिंगला नाड़ियों में प्रवाहित होता रहता है।

आत्मविस्मरण के कारण ही मनुष्य श्वासप्रश्वासाधीन रहकर काल की प्रेरणा से इड़ा एवं पिङ्गला नामक वाम-दक्षिण नासापुट में प्रवाहित श्वास-प्रश्वास के रूप में सञ्चरण करता रहता है।

यदि अविद्यावरणस्वरूप विक्षेप एवं विकल्प न रहें तो विक्षेपात्मक श्वास-प्रश्वास की सत्ता भी अस्तित्व में नहीं रह सकती।

अजपा जप का स्वरूप—एक अहोरात्र में प्रत्येक मनुष्य २१६०० श्वासें लेता एवं छोड़ता है। श्वास-प्रश्वास की अहोरात्रिक संख्या २१६०० है।

प्रक्रिया—मनुष्य 'हम्' ध्वनि के साथ श्वास बाहर फेंकता है (जिसे प्रश्वास कहते हैं) तथा 'सः' ध्वनि के साथ श्वास लेता है, जिसे निःश्वास कहते हैं।

हंकारेण बहिर्याति सःकारेण विशेत्पुनः।

'हंसः' के हकार-सकार का क्रम—अजपा जप या हंसविद्या में हकार-सकार का प्रश्वास एवं निःश्वास के साथ कैसा सम्बन्ध है—इस दिशा में मतभेद है।

हंस मन्त्र के क्रम-विधान में मतभेद

साधारण मत—	गोरक्षनाथ एवं रामप्रसाद का मत—
हंकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत् पुनः	हं वर्ण पूरके हय सः वर्ण रेचके वय। अहर्निश करे जप हंस हंस बलिया।

हंसः मन्त्र एवं सोऽहं मन्त्र—योगिराज गोरक्षनाथ ने योगबीज में कहा है कि श्वास ग्रहण करते समय हम् ध्वनि होती है और श्वास का रेचन करने के समय स: ध्वनि होती है और जीव इसी प्रकार सदैव 'हंस: हंस:' मन्त्र जपता रहता है और यही बाद में 'सोऽहं' मन्त्र में परिणत हो जाता है—

> गुरुवाक्यात् सुषुम्नायां विपरीतोऽभवज्जप:।
> सोऽहं सोऽहं इति प्राप्तो मन्त्रयोग: स उच्यते।।

यह दृष्टि भी रामप्रसाद की दृष्टि का समर्थन करती है।

हंसः मन्त्र की सोऽहं में परिणति—गुरु के बताये हुये मार्ग के द्वारा जप करने पर (सुषुम्णा में जपा जाने वाला) 'हंस: हंस:' के रूप में अनवरत जपा जाने वाला हंस मन्त्र विपरीतक्रम में 'सोऽहं सोऽहं' के रूप में जपा जाने लगता है। हंस मन्त्र का सोऽहं मन्त्र में परिणमन ही मन्त्रयोग है। अत: मन्त्रयोग भी अजपा जप है। यह सिद्धिरूप अजपा जप है; जबकि हंस मन्त्र साधनरूप अजपा जप है।

जीव का स्वाभाविक मन्त्र एवं स्वाभाविक जप—जीव निरन्तर श्वास-प्रश्वास के रूप में हंस मन्त्र या अजपा गायत्री का निरन्तर जप करता रहता है। यही उसका स्वाभाविक मन्त्र एवं स्वाभाविक जप है। यह मन्त्र एवं जप मानव का ही नहीं; प्रत्येक प्राणी का स्वाभाविक मन्त्र एवं स्वाभाविक जप है। मानव की विशेषता यह है कि मानव अपने पुरुषार्थ से इसे विपरीत क्रम में (हंस: को सोऽहं में) रूपान्तरित कर लेता है; किन्तु अन्य प्राणी ऐसा नहीं कर पाते। मनुष्य श्वास-प्रश्वास की इस गति में परिवर्तन कर पाने में समर्थ है—यही उसका वैशिष्ट्य है।

जब श्वास-प्रश्वास की इस स्वाभाविक गति में वैपरीत्य आ जाता है अर्थात् इड़ा-पिङ्गला के माध्यम से जपा जाने वाला हंस: मन्त्र जब सुषुम्णा में पहुँचकर सोऽहं के रूप में जपा जाने लगता है तब इड़ा-पिङ्गला में सञ्चरित वायु की वक्र गति सुषुम्णा में सञ्चरित होने पर (वक्रता छोड़कर) सरल गति धारण कर लेती है।

वायु इड़ा-पिङ्गला के मार्ग का जितना ही अधिक त्याग करके सुषुम्णा-मार्ग में प्रविष्ट होती है, उतना ही विकल्पों का जाल नष्ट होता जाता है; क्योंकि सुषुम्णा-मार्ग ब्रह्ममार्ग तथा सूर्य-चन्द्र एवं अग्नि (तेजस्त्रय) का मार्ग है।

वायु का सुषुम्णा में प्रवेश और उसके प्रभाव—

१. वायु की वक्रगति का नाश एवं सरल गति का प्रादुर्भाव।
२. विकल्पों का शमन।
३. इड़ा-पिङ्गलामार्ग में सञ्चरण से मुक्ति।
४. निर्विकल्प आत्मज्ञान के मार्ग का अनावरण।
५. वायु एवं मन की गतियों का ऊर्ध्वीकरण।

६. विकारों का त्याग एवं चित्त की साम्यभाव में प्रतिष्ठा।

७. वायु की गतिहीन अवस्था का उन्मेष।

८. (प्राण का अपान को एवं अपान का प्राण को खींचने का) पारस्परिक विपरीत व्यापार का अवसान।

प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः। (गीता)
अपाने जुह्वति प्राणं प्राणापाने तथाऽपरे। (गीता)

९. प्राणापान का अविरुद्ध साम्यभाव ग्रहण करना।

श्वास-प्रश्वास आत्मविस्मृति के कारण ही सञ्चरित होता है। यह काल-प्रेरित है और इड़ा-पिङ्गला में प्रवाहित होता है। अविद्या के अभाव में श्वास-प्रश्वासरूप काल की क्रीड़ा का भी अभाव हो जाता है। श्वास-प्रश्वास का प्रवाह काल की ही क्रीड़ा है।

योगशास्त्र में वर्णित चित्त-विक्षेप एवं श्वास-प्रश्वास—

१. व्याधि।
२. स्त्यान (अकर्मण्यता)।
३. संशय।
४. प्रमाद (प्रमादसाधन का अभाव)।
५. देह-चित्त का आलस्य।
६. विषय तृष्णा (अविरति)।
७. भ्रान्ति ज्ञान (मिथ्या ज्ञान)।
८. अलब्ध भूमिकत्व (समाधिप्राप्ति न होना)।
९. अनवस्थितत्व (चित्त की किसी भी भूमि में स्थिरता न होना)।

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्त-विक्षेपास्तेऽन्तरायाः।[1]

चित्त-विक्षेपों के साथ होने वाले अन्य विक्षेप—

१. दुःखत्रय
२. दौर्मनस्य (मन का क्षोभ)
३. अङ्गमेजयत्व (शरीरांगकत्व)
४. श्वास
५. प्रश्वास

दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः।[2]

श्वास—बिना इच्छा के बाहर की वायु का भीतर प्रवेश करना और इसके द्वारा बाह्य कुम्भक में विघ्न होना।

प्रश्वास—बिना इच्छा के भीतरी वायु का बाहर निकलना एवं आन्तर कुम्भक में विघ्न होना।

---

१. योगसूत्र (१.३०) २. योगसूत्र (१.३१)

योग-साधना के मध्य जो विघ्न माने जाते हैं, वे ये ही नौ विघ्न हैं। नौ प्रकार के चित्तविक्षेपात्मक विघ्नों (अन्तरायों) के साथ पाँच विघ्न और उत्पन्न हो जाते हैं। ये विक्षेपसहभुवः कहलाते हैं, जो निम्नाङ्कित है—

१. दुःख ३. अंगमेजयत्व ५. प्रश्वास
२. दौर्मनस्य ४. श्वास

सारांश यह कि श्वास-प्रश्वास योग-साधना के विघ्न हैं। इनको दूर करने के लिये ही एकतत्त्वाभ्यास, प्रणवजप, स्वरूप-चिन्तन आदि उपाय बताये गये हैं।

(क) श्वास-प्रश्वास का कारण चित्त-विक्षेप है।

(ख) चित्त-विक्षेप का कारण प्रत्यक् चैतन्य की अप्राप्ति (आत्मसाक्षात्कार का अभाव) है।

(ग) प्रत्यगात्म-प्राप्ति के उपाय से ही श्वास-प्रश्वासरूप काल-क्रीड़ा का अवसान भी हो जाता है।

(घ) उपर्युक्त आत्म-प्राप्ति का श्रेष्ठतम उपाय है—तज्जपस्तदर्थभावनम् = प्रणव जप।

प्रणव-वाच्य ईश्वर के स्वरूप का अनुसन्धान।

प्रणव-जप एवं अजपा-जप दोनों स्वाभाविक जप हैं और परस्पर सम्बद्ध हैं।

एक अहोरात्र में मनुष्य की स्वाभाविक श्वास-प्रश्वास की संख्या २१६०० है। किसी विशिष्टावस्था में ही इसकी संख्या में स्वल्पताधिक्य सम्भव हो पाता है।

अजपाजपसम्बन्धी सिद्धान्त—

१. श्वास-प्रश्वास के द्वारा ही इस अजपा गायत्री या हंस मन्त्र का जप साधित होता है।

२. इड़ा-पिङ्गला में प्रवाहित वायु-गति वायु की वक्र गति है।

३. सुषुम्णा ब्रह्ममार्ग है। वायु (इड़ा-पिङ्गला से हटकर) सुषुम्णा में प्रविष्ट होने पर विकल्पों, अज्ञानों एवं अस्थिरताओं को नष्ट करती है।

४. सुषुम्णा में वायु को प्रविष्ट कराये बिना वायु एवं मन कभी ऊर्ध्वगामी नहीं हो पाते और तब तक न तो चित्त के विकार हट पाते हैं और न तो चित्त साम्यावस्था में ही पहुँच पाता है।

५. 'कुंभक' श्वास गति का ऊर्ध्वीकरण ही है। कुंभक गतिहीन नहीं होता। इससे वक्रगति का प्रतिषेध होता है और सरल गति प्राप्त होती. है। आगे यही सरल गति गतिहीन अवस्था प्राप्त कराती है।

६. स्वाभाविक श्वास-प्रश्वास का व्यापार या प्राणापान का व्यापार ही हंसमन्त्र का उच्चारण (जप) है।

७. गोरक्षनाथ ने प्राणापान को रस्सी एवं जीवात्मा को श्येन पक्षी कहा है। जीवात्मा

इन्हीं रस्सियों से बार-बार आकाश में उड़ने के लिये छोड़ा जाता है तथा बार-बार नीचे खींचा जाता है।

योग साम्यावस्था में प्रतिष्ठित करने का विज्ञान है। वैषम्य का मूल बीज प्राणापान की पारस्परिक विरुद्ध गतियों में निहित है और इस प्रकार वैषम्य का बीज प्रकृति में ही अवस्थित है।

(क) प्राणवायु अपान वायु को एवं अपान वायु प्राणवायु को अपनी ओर खींचते रहते हैं। दोनों की विरुद्ध गति है। प्राण की गति ऊर्ध्वगामी है तो अपान की अधोगामी। प्राण जिस दिशा में सञ्चरित होता है, अपान उसकी विपरीत दिशा में सञ्चरित होता है।

(ख) प्राण एवं अपान निरपेक्ष भी नहीं हैं; क्योंकि अपान को प्राण की एवं प्राण को अपान की अपेक्षा रहती है। दोनों एक-दूसरे के बिना कार्य नहीं कर सकते।

(ग) ये दोनों (प्राण एवं अपान) किसी अज्ञात अतीत में साम्यावस्था से च्युत हो गये और तब से आज तक पुनः साम्यावस्थारूढ़ नहीं हो पाये; किन्तु वे अपनी यथार्थ-भूत साम्यावस्था में पुनः प्रतिष्ठित होना चाहते हैं; क्योंकि साम्यावस्था में प्रतिष्ठित हुये बिना शान्ति सम्भव ही नहीं है और 'अशान्तस्य कुतः सुखम्।'

(घ) प्रत्येक प्राणी इन आकर्षणों के मध्य में स्थित रहकर दायें एवं बाँयें मार्ग में सञ्चार करता है और कभी मध्यमार्ग में सञ्चार नहीं कर पाता। योगी का लक्ष्य है— इन दोनों (प्राणापानों की विरुद्ध गतियों) में साम्यस्थापन।

(ङ) श्वास-सञ्चार की गति के दो रूप हैं—देशगत गति-वैषम्य एवं कालगत गति-वैषम्य।

देशगत गतिवैषम्य—नासारन्ध्रों से बहिर्गत श्वास सामान्य अवस्था में मात्र १२ अङ्गुल जाती है; किन्तु असामान्य अवस्था में स्वल्पाधिक होना सम्भव है। असामान्यावस्था में श्वास की बहिर्गति—

१. भोजन करने एवं बोलने के समय ६ से १२ अंगुल बढ़ जाती है।
२. चलने के समय १२ से २६ अंगुल तक बढ़ जाती है।
३. तेजी से दौड़ने के समय ३० से ४२ अंगुल तक बढ़ जाती है।
४. नारी-संसर्ग के समय ५३ से ६३ अंगुल तक बढ़ जाती है।

सामान्यावस्था में श्वास की बहिर्गति मात्र १२ अङ्गुल रहती है।

सिद्धान्त—श्वास की गति का आयाम या विस्तार जितना ही बढ़ता जाता है, काल का एवं बहिर्मुखता का उतना ही प्रभाव बढ़ता जाता है।

यदि जीवन को संयमपूर्वक चलायें तो श्वास की गति में ह्रास होता जाता है और यह शुभ है।

कालगत विषम गति—सामान्य स्थिति में प्रत्येक व्यक्ति के एक मिनट में १५

श्वास-प्रश्वास होते हैं। आकस्मिक कारणों से इस संख्या में स्वल्पता एवं आधिक्य दोनों सम्भव है।

सिद्धान्त—श्वास की बाह्योन्मुखता की स्थिति में उसकी संख्या (श्वासों की कालगत संख्या) में भी परिवर्तन होता रहता है और यही अन्तर्मुखता की स्थिति में भी होता है अर्थात् श्वास की दैशिक एवं कालिक गतियाँ परस्पर अन्त:सम्बद्ध हैं और प्रत्येक गति एक-दूसरे को प्रभावित करती है।

श्वास-गति

(क) १२ अंगुल बहिर्गति	श्वासों की दैशिक बहिर्गति
(ख) १ मिनट में १५ श्वास-प्रश्वास	श्वासों की कालिक गति
(ग) श्वासों की बाह्य गति १२ रहने पर	कालिक गति १५ ही रहेगी
(घ) प्राणायामादिक के द्वारा बाह्य गति घट जाने पर	श्वासों की कालिक गति भी घट जायेगी
(श्वास का देश एवं काल के साथ अविच्छिन्न सम्बन्ध है।)	
(ङ) बाह्य गति के एक अंगुल घट जाने (कम हो जाने पर) श्वास की बाह्य गति में २ अंगुल कमी आने पर	श्वास की कालिक संख्या सवा कम हो जाती है। श्वास की कालिक गति में ढाई संख्या कम हो जाती है।
एक की कमी	**सवा की कमी**
बाह्यगति में १२ अंगुलों की कमी होने पर (शून्य में परिणति)	श्वास की कालिक गति में १५ की कमी (शून्य में परिणति)
सारांश—१२ संख्या में कमी होने पर श्वासगति बन्द।	१५ संख्या में कमी आने पर श्वासगति बन्द।
परिणाम— १. श्वास के दैशिक-कालिक सम्बन्धों की विच्छिन्नता।	
२. रेचक एवं पूरक नामक श्वास क्रियाओं का अवसान। ३. यथार्थ कुम्भक का उन्मेष।	
४. अनेकानेक अलौकिक शक्तियों का विकास। ५. इच्छाओं एवं तृष्णाओं का त्याग। ६. प्राणों की चञ्चलता का त्याग → प्राणों में शान्ति का उदय → चित्त में निष्कामता का प्रादुर्भाव → आनन्दाभिव्यक्ति → वाक् सिद्धि, दूर दृष्टि, आकाश-सञ्चरण, अपनी प्रतिच्छाया का लोप एवं निर्वाणाप्ति।	

सारांश—प्राणों की जो बाह्य गति है, उसकी निवृत्ति करना ही प्राणायाम एवं अजपाजप—दोनों का प्राथमिक लक्ष्य है। प्राणों के नाश से ही मनोनाश सम्भव है और 'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः'। मन का उन्मनीकरण, प्राणों का लय तथा मुक्ति एक ही सिक्के के विभिन्न पहलू हैं।

अजपा जप की पारम्परिक एवं साम्प्रदायिक विधियाँ

योगिराज गोरक्षनाथ ने अजपा जप के सम्बन्ध में अपनी जो दृष्टि प्रस्तुत की है, वह इस प्रकार है—

१. हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेन्मरुत्।
हंस हंसेति मन्त्रोऽयं सर्वे जीवा जपन्ति तम्।।१४६।।
गुरुवाक्यात्सुषुम्णायां विपरीतो भवेज्जपः।
सोऽहं सोऽहमिति प्राप्तो मन्त्रयोगः स उच्यते।।१४७।।[१]

२. हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत् पुनः।
हंसहंसेत्यमुं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा।।४२।।[२]

३. डोरी में बँधा बाज पक्षी डोरी के शिथिल करने पर जिस प्रकार उड़ने लगता है और डोरी खींचने पर वापस आ जाता है, ठीक उसी प्रकार तीनों गुणों से आबद्ध जीवात्मा प्राण एवं अपान वायुओं के द्वारा ऊपर-नीचे खिंचता रहता है। अपान वायु प्राण को एवं प्राणवायु अपान को अपनी-अपनी ओर आकृष्ट करते रहते हैं। योगवेत्ता नीचे-ऊपर खिंचते प्राणापान को परस्पर संयोजित एवं समरसीकृत करते रहते हैं—

रज्जुबद्धो यथा श्येनो गतोऽप्याकृष्यते पुनः।
गुणबद्धस्तथा जीवः प्राणापानेन कृष्यते।।
अपानः कर्षति प्राणं प्राणोऽपानं च कर्षति।
ऊर्ध्वाधः संस्थितावेतौ संयोजयति योगवित्।।[३]

४. अजपा गायत्री कुण्डलिनी में उत्पन्न हुई है। इस प्राणधारिणी गायत्री को प्राणविद्या एवं महाविद्या कहते हैं—

कुण्डलिन्यां समुद्भूता गायत्री प्राणधारिणी।
प्राणविद्या महाविद्या यस्तां वेत्ति स योगवित्।।

५. अजपा गायत्री मोक्षदायिनी है। इसके संकल्पमात्र से समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं—

अजपा नाम गायत्री योगिनां मोक्षदायिनी।
अस्याः सङ्कल्पमात्रेण सर्वपापैः प्रमुच्यते।।

६. इस अजपा गायत्री के सदृश न तो कोई विद्या है और न ही कोई जप है।

१. योगबीज २-३. गोरक्षशतक (४०-४१)

इसके सदृश तो न तो कोई ज्ञान हुआ और न तो कोई भविष्य में होगा ही—

अनया सदृशी विद्या अनया सदृशो जपः।
अनया सदृशं ज्ञानं न भूतं न भविष्यति।।

७. (क) प्राण एवं अपान का योग।
(ख) रज एवं रेतस् का योग।
(ग) सूर्य एवं चन्द्र का योग।
(घ) जीवात्मा एवं परमात्मा का योग।
(ङ) समस्त द्वन्द्वसमूहों का यह संयोग ही योग है—

योऽपानप्राणयोर्योगः स्वरजोरेतसोस्तथा।
सूर्याचन्द्रमसोर्योगः जीवात्मपरमात्मनोः।
एवं तु द्वन्द्वजालस्य संयोगो योग उच्यते।।[1]

८. प्राण एवं अपानरूप हंस बाँयें एवं दाँयें नासारन्ध्रों से ३६ अंगुल की दूरी तक बाहर निकलता है; अतः वायु को प्राण कहते हैं।

योगमार्तण्ड में गोरक्षनाथ कहते हैं कि जिस प्रकार भुजदण्ड से फेंका जाकर गेंद ऊपर की ओर स्वयं उछलता है, उसी प्रकार प्राण एवं अपान द्वारा आक्षिप्त (आकृष्ट) जीव क्षणमात्र भी स्थिर नहीं रहता। जीवात्मा प्राण वायु एवं अपान वायु के वशीभूत होकर इड़ा-पिङ्गला (बाँयें-दाँयें नासापुट) से ऊपर-नीचे चढ़ता-उतरता रहता है—

आक्षिप्तो भुजदण्डेन यथोच्छलति कन्दुकः।
प्राणापानसमाक्षिप्तस्तथा जीवो न तिष्ठति।।
प्राणापानवशो जीवो ह्यधश्चोर्ध्वं च धावति।
वामदक्षिणमार्गेण चञ्चलत्वान्न दृश्यते।।[2]

१०. इस अजपा गायत्री के समान न तो कोई तीर्थ है और न तो कोई यज्ञ, न तो कोई पुण्य है और न तो कोई स्वर्ग, न तो कोई तप है और न तो कोई वेद्य—

अनया सदृशं तीर्थमनया सदृशः क्रतुः।
अनया सदृशं पुण्यं न भूतं न भविष्यति।।
अनया सदृशो स्वर्गो ह्यनया सदृशं तपः।
अनया सदृशं वेद्यं न भूतं न भविष्यति।।

समत्ववाद

विज्ञानभैरव की दृष्टि—इसी प्रसंग में विज्ञानभैरव (६४) में कहा गया है कि आन्तर स्थान हृदय एवं बाह्य स्थान द्वादशान्त में प्राण एवं अपानरूप दो वायुओं के

१. योगबीज २. योगमार्तण्ड (गोरक्षशतक)

संघट्ट से (हृदय एवं द्वादशान्त में अन्त:प्रवेश तथा बहि:निर्गमन काल की समाप्ति हो जाने पर) उस शून्य कल्प अवस्था का ध्यान करने पर जिसमें कि प्राण एवं अपान के संघट्ट की पृथक् से प्रतीति नहीं हो सकती, योगी में समत्व दृष्टि का विकास हो जाता है।

योगी में इस समत्वापन्न दृष्टि के उदित होने पर प्राण एवं अपान की भेदस्थिति की भी समाप्ति हो ज़ाती है। योगी सभी जागतिक पदार्थों को भी परमतत्त्व में विलीन कर लेता है। वह सभी पदार्थों को अपने से अभिन्न रूप में देखने लगता है। समत्व की इस स्थिति में सभी भावों, सभी वृत्तियों, सभी द्रव्यों, सभी भूमिकाओं, सभी ओवल्लियों, सभी देवियों एवं सभी वर्णों में समान दृष्टि का सञ्चार हो जाता है और सब कुछ शिवमय हो जाता है। यही है—समत्व की दृष्टि—

समता सर्व देवानामोवल्लीमन्त्रवर्णयो:।
आगमानां गतीनां च सर्वं शिवमयं यत:।।[1]

* * * * * * *

समता सर्वभावानां वृत्तीनां चैव सर्वश:।
समता सर्ववृत्तीनां द्रव्याणां चैव सर्वश:।।
भूमिकानां च सर्वासामोवल्लीनां तथैव च।
समता सर्वदेवानां वर्णानां चैव सर्वश:।।

विज्ञानभैरवकार की अन्य दृष्टि—विज्ञानभैरव में अजपा जप के सम्बन्ध में भी वही पारम्परिक दृष्टि है—

सकारेण बहिर्याति हकारेण विशेत् पुन:।
हंसहंसेत्यमुं मन्त्रं जीवो जपति नित्यश:।।
षट्शतानि दिवारात्रौ सहस्राण्येकविंशति:।
जपो देव्या: समुद्दिष्ट: प्राणस्यान्ते सुदुर्लभ:।।[2]

विज्ञानभैरवकार ने इसी सकार एवं हकार में (प्राण एवं अपान में) समत्व की स्थापना का उद्देश्य रक्खा है—

वायुद्वयस्य संघट्टादन्तर्वा बहिरन्तत:।
योगी समत्वविज्ञानसमुद्गमनभाजनम्।।[3]

श्वास की देश-परीक्षा—हृदय से निकल कर श्वास नाक के सामने १२ अंगुल तक जाकर समाप्त हो जाता है और वहीं से लौटकर पुन: हृदय में प्रविष्ट हो जाता

१. तन्त्रालोक (४.२७४-७५)
२. विज्ञानभैरव (१५३-१५४)
३. विज्ञानभैरव (६४)

है। प्राणायाम का अभ्यास करने पर प्राण, नाभि एवं मूलाधार से निकलने लगता है और नाक से बाहर २४ अंगुल तक या ३६ अंगुल तक पहुँच जाता है। नासिका के बाहर प्राण की गति का पता लगाने हेतु पवनशून्य स्थान में तिनके में रुई लपेट कर उसकी गति के आयाम का पता लगाया जा सकता है।

आचार्य शङ्कर की दृष्टि—आचार्य शङ्कर का कथन है कि हंसः एवं ह्रीं में हकार प्राणात्मक है—प्राणात्मकं हकाराख्यं बीजं तेन तदुद्भवाः।' परमात्मा माया से सम्बद्ध है और माया प्राण से सम्बद्ध है—'संवित् प्राक् प्राणे परिणता।' शक्ति ही (संवित् ही) तो सृष्टि के आदि में प्राण बनकर अवतरित हुई।

भगवती कुण्डलिनी सविता है; क्योंकि वह जगत् प्रसवित्री है। वह गायत्री है; क्योंकि त्राण करती है। वह सात ग्रह भी है।[1] कुण्डलिनी ही हंसः की जन्मदात्री है। सोऽहं का उन्मेष मूलतः भुवनेश्वरी या कुण्डलिनी से हुआ है। भगवती कुण्डलिनी (शक्ति भुवनेश्वरी) ही परमेश्वरी शक्ति है। उसी से सभी ध्वनियाँ, सारे अर्थ, २४ तत्त्व आदि उत्पन्न होते हैं। अजपा क्या है?

स हंकार पुमान् प्रोक्तः स इति प्रकृतिः स्मृता।
अजपेयं मता शक्तिस्तथा दक्षिणवामतः।।[2]
हं पुरुषात्मने नमः। सः प्रकृत्यात्मने नमः।

ह्रीं के हकार से स्वर (Vowel) 'अ' से लेकर 'ऊ' एवं ६ ऊर्मियाँ उत्पन्न होती हैं।

प्राणात्मकं हकाराख्यं बीजं तेन समुद्भवाः।
षडूर्मयः स्यू रेफोत्थो गुणाश्चत्वार एव च।।

हकार से ब्रह्मा, हरि एवं शिव तथा समस्त जीव उत्पन्न हुये हैं। वे भी उत्पन्न हुये हैं, जो चर हैं तथा वे भी जो अचर (Motionless) हैं। स्वरों से ही सारे व्यञ्जन उत्पन्न हुये हैं। ह्रीं बीज से उसके देवता (भुवनेश्वरी), कुण्डलिनी एवं हंसः का भी तादात्म्य है तथा सोऽहं की अनुभूति का भी यदि सोऽहं के 'सः' एवं 'हं' को हटा दिया जाय तो सोऽहं में मात्र 'ओं' बचेगा। यही ॐ प्रणव कहलाता है।

१. 'अ' → समस्त ध्वनियाँ की उत्पत्ति।
२. 'उ' → सूर्य एवं समस्त प्रकाशमान (Lustrous) द्रव्यों की उत्पत्ति।[3]
३. 'म' → आकाश से लेकर समस्त तत्त्वों का जन्म।

आचार्य शंकर कहते हैं—

(क) हंकार पुरुषतत्त्व है। (ख) सकार प्रकृतितत्त्व है।	**हंसः**

१-३. प्रपञ्चसारतन्त्र

हकार एवं सकार बिन्दु एवं विसर्ग हैं। बिन्दु क्या है? बिन्दु पुरुष और विसर्ग स्त्रीतत्त्व है—

बिन्दुः पुरुष इत्युक्तो विसर्गः प्रकृतिर्मता।

इस स्थिति में हंस पुंप्रकृत्यात्मक होता है—

पुंप्रकृत्यात्मको हंसस्तदात्मकमिदं जगत्।

अजपा का हकार-सकार से क्या सम्बन्ध है? आचार्य शङ्कर कहते हैं—

स हकार पुमान् प्रोक्तः 'स' इति प्रकृतिः स्मृता।
अजपेयं मता शक्तिस्तथा दक्षिणवामतः।।

हंस मन्त्र का स्वरूप[1]

हं		'सः'
१. पुरुष २. बिन्दु ३. हं पुरुषात्मने नमः (प्र. सा. वि.-पद्मपादचार्य)	(हंसः = पुम्प्रकृत्यात्मक) (हंसः = विश्वात्मक) हंसस्तदात्मकमिदं जगत्	१. प्रकृति २. विसर्ग ३. सः प्रकृत्यात्मने नमः (प्र. सा. वि.-पद्मपादाचार्य)

हकारसकारौ बिन्दुविसर्गशब्दार्थौ।[2]
हंसः प्रकृतिपुरुषात्मने नमः, पुंप्रकृत्यात्मको हंसः।[3]

हंसः एवं सोऽहं में ऐकात्म्य—जब जीव पुरुष के स्वरूप को जान लेता है तब हंसः सोऽहं में रूपान्तरित हो जाता है और हंस परमात्मा बन जाता है। हंस मन्त्र का अभिप्रायार्थ भी यही है—

पुंरूपं सा विदित्वा स्वं सोहम्भावमुपागता।
स एष परमात्माख्यो मनुरस्य महामनोः।।[4]

सोऽहं और ॐ (ओम्) **में अन्तःसम्बन्ध**—आचार्य शङ्कर कहते हैं कि—

सकारश्च हकारश्च लोपयित्वा प्रयोजयेत्।
सन्धिं वै पूर्वरूपाख्यं ततोऽसौ प्रणवो भवेत्।।

सकार एवं हकार का लोप कर देने पर हंसः मन्त्र ॐ मात्र के स्वरूप में शेष रह जायेगा। अतः ॐ और हंसः तथा सोऽहं—तीनों मन्त्र तत्त्वतः एकार्थक हैं।

शारदातिलककार की दृष्टि—लक्ष्मणदेशिकेन्द्र कहते हैं कि वियत् (ह), उस पर स्थित अर्द्धेन्दु (अनुस्वार), फिर तदादि (स) तथा विसर्ग (:)—इस प्रकार अजपा

---

१. प्रपञ्चसारतन्त्र
२. पद्मपादाचार्य (प्रपञ्चसारतन्त्र विवरण)
३. पद्मपादाचार्य
४. प्रपञ्चसारतन्त्र

मन्त्र का उद्धार कहा गया। इसका स्वरूप 'हंसः' हुआ—

वियदर्द्धेन्दुसहितं तदादिः सर्गसंयुतः।
अजपाख्यो मनुः प्रोक्तो द्व्यक्षरः सुरपादपः।।[१]

लक्ष्मणदेशिकेन्द्र अजपा जप की साधना का फल बताते हुये कहते हैं कि जिस प्रकार नन्दनवन का कल्पवृक्ष सारे आकांक्षित फल प्रदान कर देता है, ठीक उसी प्रकार अजपा जप भी जापक की समस्त आकांक्षाओं की पूर्ति कर देता है; अतः यह सुरपादप (कल्पवृक्ष) है—

अजपाख्यो मनुः प्रोक्तो द्वयक्षरः सुरपादपः।

अजपा साधना की विधि—आचार्य राघवभट्ट कहते हैं कि साधक को अजपा जप करने के समय इस प्रकार ध्यान करना चाहिये—

१. हः आकाश है। बिन्दु अर्द्धेन्दु है। सः विसर्ग है।

२. मन्त्रोच्चारण के काल में इस हंसः मन्त्र को सुषुम्णा के रन्ध्र में सदानन्दात्मक, विश्वरूपात्मक एवं सप्तविंशकात्मक ब्रह्म के रूप में ध्यान करके षड्विंशकात्मक एवं अर्द्धनारीश्वरस्वरूप ईश्वर को इसकी ज्योति से पूर्णतः स्नात समझना चाहिये और ऐसा समझना चाहिये कि मानों उस ज्योति से परमात्मा के सारे अङ्ग-प्रत्यङ्ग आबिद्ध हैं और वह परमात्मा मैं ही हूँ।

३. पिङ्गला नाड़ी के रन्ध्र में स्थित २५वें आदिबीज (पुरुषबीज) को अपना प्राण मानकर तद्वत् ध्यान करते हुये द्वितीय बीज, जो कि इड़ा नाडी के रंध्र में २४वें तत्त्व के रूप में स्थित है, अपान मानकर उसका ध्यान करना चाहिये।

४. विश्वरूप हंस मन्त्र को दीपक-प्रभा के रूप में निकलते हुये विभावित करके उन्हें इड़ा-पिंगलात्मक वाम-दक्षिण भाग को स्त्री-पुरुष का चिह्न मानकर उनका ध्यान करना चाहिये।

अजपाजप का परिचय—अजपा के ऋषि ब्रह्मा हैं। इस मन्त्र का छन्द गायत्री नामक देवी हैं। इस मन्त्र के देवता गिरिजापति हैं—

ऋषिर्ब्रह्मा स्मृतो देवी गायत्री छन्द ईरितम्।
देवता जगतामादिः सम्प्रोक्तो गिरिजापतिः।।[२]

(क) राघवभट्ट के अनुसार अजपा के न्यासादिक—षड् दीर्घयुक्त 'हंस' इस मन्त्र से अङ्गन्यास करना चाहिये। आं हंसः हृदयाय नमः। ईं हंसः शिरसे स्वाहा। ॐ शिखायै वषट्। ऐं हंसः कवचाय हुं। औं नेत्रद्वयाय वौषट्। अं हंसः अस्त्राय फट् आदि।

राघवभट्ट के शब्दों में—सूर्यात्मने हृत्। सोमात्मने शिरः। निरञ्जनात्मने शिखा।

१. शारदातिलकम् (चतुर्दश पटल : ८०) २. शारदातिलकम् (१४.८१)

निराभासात्मने कवचम्। अव्यक्तात्मने नेत्रम्। अतनु सूक्ष्मः प्रचोदयात्मने अस्त्रम्। हसा(ह्रा)-मित्याद्यैरेभिरिति केचित्।[१]

(ख) अजपामन्त्र का ध्यान—

> उद्यद्भानुस्फुरिततडिदाकारमर्द्धाम्बिकेशं
> पाशाभीती वरदपरशू सन्दधानं कराग्रैः।
> दिव्याकल्पैर्नवमणिमयैः शोभितं विश्वमूलं
> सौम्याग्नेयं वपुरवतु वश्चन्द्रचूडं त्रिनेत्रम्।।

अर्थात् आधा अम्बिका एवं आधा सदाशिव के रूप में रहने वाले, सोम एवं अग्नि देवता वाले शरीर को धारण करने वाले, जिनके शरीर का अर्द्ध भाग उदीयमान सूर्य के समान तथा अर्द्धभाग विद्युद्वत् देदीप्यमान है; जिन्होंने अपने हाथों में पाश, अभय, वर एवं परशु धारण कर रक्खा है और जो मणिविरचित नव्याभूषणों से आभूषित हैं, जो विश्व के मूल हैं, जो चन्द्रमा को अपनी जटाओं में धारण किये हुये हैं तथा जो तीन नेत्र वाले हैं—ऐसे भगवान् सदाशिव हमारी रक्षा करें।

(ग) अजपा मन्त्र का पुरश्चरण—

> भानुलक्षं जपेन्मन्त्रं पायसेन ससर्पिषा।
> दशांशं जुहुयात्सम्यक् ततः सिद्धो भवेन्मनुः।।[२]

अजपा मन्त्र का बारह लाख जप करके फिर सघृत खीर से दशांश हवन करने पर अजपा मन्त्र सिद्ध होता है।

(घ) अजपा-साधना से प्राप्त सिद्धियाँ—

१. रोग-राहित्य, आयुवृद्धि, निर्विषत्व एवं वैभव की प्राप्ति—दीप्तादि से युक्त पीठ पर मूल मन्त्र से मूर्ति की कल्पना करके अङ्गादि के साथ विभुश्री सूर्यनारायण की पूजा करे। फिर पत्रों पर चारो दिशाओं में ऋतु, वसु, नर एवं वर की पूजा करे और चारो कोणों पर ऋतजा, गोजा, अजा एवं अद्रिजा की पूजा करे। नित्य लोकपालों की, उनके अस्त्रों की तथा सूर्यदेव की पूजा करे एवं पूर्वोक्त विधि के अनुसार प्रतिदिन सूर्य भगवान् को अर्घ्य प्रदान करे।

फिर इस मन्त्र के द्वारा मातृकारूप कमल पर कुम्भ स्थापित करके उसे मन्त्र पढ़ते हुये बाँयें हाथ से ढककर ब्रह्मचर्य व्रत धारण करते हुये यदि १०८ बार इस अजपा मन्त्र से जल को अभिमन्त्रित करके उस सुधात्मक जल से सूर्य का स्मरण करते हुये अभिषेक करे तो वह पुरुष पूर्णतया निरोग हो जाता है। यदि नारी का अभिषेक करे तो वह नारी भी स्वस्थ हो जाती है। इतना ही नहीं; वह अभिषिक्त पुरुष अनन्त आयु,

---

१. राघवभट्ट : पदार्थादर्श २. शारदातिलकम् (१४.८४)

आरोग्य एवं वैभव प्राप्त करता है। यदि किसी विषार्त्त को इस विधि से अभिषिक्त कर दिया जाय तो वह विषरहित हो जाता है।[१]

२. रोग, उन्माद, अपमृत्यु एवं ज्वर आदि का उन्मूलन—साधक किसी स्वच्छ स्थान पर पद्मासनस्थ होकर बैठे एवं सुषुम्णायुक्त अधोमुख सहस्रदल पद्म की कर्णिका के मध्य में सकार वर्ण का ध्यान करे। फिर सुषुम्णा मार्ग से सकार-स्रवित पीयूष से सिञ्चित मणिपूरचक्र के बिन्दु का ध्यान करे और उससे स्रवित पीयूष से सिञ्चित मूलाधार के हकार का ध्यान करे। फिर उससे स्रवित पीयूष से पूर्ण 'हंस:' का ध्यान करे तथा उससे स्रवित पीयूष से संसिक्त अपनी प्रत्यगात्मा का ध्यान करके परमानन्दसन्दोह में लयीभूत होते हुये अजपा मन्त्र का जप करने से जापक विष, उन्माद, अपमृत्यु एवं ज्वरादि से तो मुक्त हो ही जाता है; साथ ही अनेकविध वैभवों से सम्पन्न होकर सैकड़ों वर्ष जीवित रहता है—

आयुरारोग्यविभवानमितान् लभते नर:।
अनेनैव विधानेन विषार्तो निर्विषो भवेत्।।
मन्त्री मन्त्रमिमं जपेद्विषगदोन्मादापमृत्युज्वरान्।
जित्वा वर्षशतं विशिष्टविभवो जीवेत् सुखं बन्धुभि:।।[२]

अजपा मन्त्र को राघवभट्ट ने जीवमन्त्र कहा है।

अजपा मन्त्र एवं उसकी साधना— अजपा मन्त्र के विषय में तन्त्रान्तर में कहा गया है—

अजपाराधनं देवि! कथयामि तवाऽनघे।
यस्य विज्ञानमात्रेण **परंब्रह्माऽधिगच्छति**।
हंस: पदं परेशानि प्रत्यहं जपते नर:।
मोहान्धो यो न जानाति **मोक्षस्तस्य न** विद्यते।।
श्रीगुरो: कृपया देवि! ज्ञायते जप्यते तत:।
तस्योच्छ्वासैस्तु निश्वासैस्तदा **बन्धक्षयो** भवेत्।।
उच्छ्वासे चैव निश्वासे हंस इत्यक्षरद्वयम्।
तस्मात्**प्राणस्तु हंसाख्य: आत्माकारेण** संस्थित:।।
नाभेरुच्छ्वासनिश्वासा हृदयाग्रे व्यवस्थिता:।
षष्टिश्वासैर्भवेत् **प्राण:** षट् प्राणा घटिका मता।।
षष्टिर्नाड्या अहोरात्रं जपसंख्या**ऽजपामनो:**।
एकविंशतिसाहस्रं षट्शताधिकमीश्वरि।।
प्रत्यहं जपते प्राण: स्पन्दानन्दमयीं पराम्।
उत्पत्तिर्जप आरम्भो मृतिरस्य निवेदनम्।।

१. शारदातिलकम् २. शारदातिलक (१४.९०-९१)

विना जपेन देवेशि! जपो भवति मन्त्रिण:।
अजपेयं तत: प्रोक्ता भवपाशनिकृन्तनी।।
एवं **जपं** महेशानि! **प्रत्यहं विनिवेदयेत्।**
आधारे स्वर्णवर्णाभे **वादिसान्तानि** संस्मरेत्।
द्रुतसौवर्णवर्णानि दलानि परमेश्वरि।।
स्वाधिष्ठाने विद्रुमाभे वादिलान्तानि च स्मरेत्।
विद्युत्पुञ्जप्रभाभानि **सुनीलमणिपूरके।।**
उकान्तानि महानीलप्रभाणि च विचिन्तयेत्।
पिङ्गवर्णे महावह्नि कर्णिकाभानि चिन्तयेत्।।
कादिठान्तानि पत्राणि चतुर्थेऽ**नाहते** प्रिये।
विशुद्धौ धूम्रवर्णे तु रक्तवर्णान् स्वरान् स्मरेत्।।
आज्ञायां विद्युदाभायां शुभ्रौ हक्षौ विचिन्तयेत्।
कर्पूरद्युतिसंराजत्सहस्रदलनीरजे ।।
नादात्मकं **ब्रह्मरन्ध्रं** जानीहि परमेश्वरि।
एतेषु **सप्तचक्रेषु** स्थितेभ्य: परमेश्वरि।।
जपं निवेदयेदेनमहोरात्रभवं प्रिये।
अजपा नाम गायत्री त्रिषु लोकेषु दुर्लभा।।
अजपां जपतां नित्यं **पुनर्जन्म** न विद्यते।
अजपा नाम गायत्री योगिनां मोक्षदायिनी।।
अस्या: सङ्कल्पमात्रेण नर: पापै: प्रमुच्यते।
अनया सदृशी विद्या अनया सदृशो जप:।
अनया सदृशं पुण्यं न भूतं न भविष्यति।।[१]

अभिनवगुप्ताचार्य एवं आचार्य क्षेमराज की दृष्टि—'अकृतार्थो नरस्ताव-द्यावद्धंस न विन्दति' अर्थात् जब तक साधक हंस को नहीं जानता तब तक वह कृतार्थ नहीं हो सकता। हंस शब्द से व्यपदिष्ट विभु सर्वसमर्थ परमेश्वर अपने स्वातन्त्र्य के बल से सङ्कोच ग्रहण करके पाँच अरों वाले इस पाञ्चभौतिक शरीर में सोम से स्रवित अमृत का पान करता है और तृप्ति की अनुभूति करता है—

पञ्चारे सविकारोऽथ भूत्वा सोमस्रुतामृताम्।
धावति त्रिरसाराणि गुह्यचक्राण्यसौ विभु:।।[२]

योगमार्त्तण्डकार की दृष्टि—प्राण एवं अपान ऊपर एवं नीचे स्थित हैं। वे नाभिस्थल में मिलते हैं। इसीलिये योगी नाभि को केन्द्र मानते हैं। योगी प्राण के द्वारा

१. पदार्थादर्श में उद्धृत २. तन्त्रालोक (४.१३७)

अपान को आकृष्ट करके नाभि-प्रदेश में मिला देते हैं। हंस मन्त्र का उच्चारण स्वयमेव दिन-रात में २१ हजार ६०० बार चलता रहता है। इसी श्वास-प्रश्वास के द्वारा स्वयमेव अजपा जाप चलता रहता है। इसे ही जीव जपता रहता है—

प्राणेनाकृष्यतेऽपान: प्राणो प्राणेन कृष्यते।।
हंसो हंसत्यमुं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा।।[१]

योगियों एवं सन्तों की योग-साधना में अजपा-जप

योगिराज गोरक्षनाथ कहते हैं—

१. **अजपा जपै** सुनि मन धरै। पाँचौ इन्द्री निग्रह करै।
२. **सोऽहं हंसा सुमिरै** सबद। तिहिं परमारथ अनंत सिध।
३. **सोऽहं बाई हंसा** रुपी प्यंडै बहै। बाई कै प्रसादि व्यंद गुरमुख रहै।
४. **अगम जाप जपीला** गोरख चीन्हत बिरला कोई।[२]
५. जे **जाप** सकल सिष्टि उतपंनां ते जाप श्री गोरखनाथ कथिया।
६. पवनां रे तूं जासी कौने बाटी। जोगी अजपा जपै त्रिवेणी कै घाटी।
७. ऐसा जाप जपौ मन लाई। सोहं सोहं अजपा गाई।[३]
८. जपिलै अजपा जाप। बिचारिलै आपै आप।।
९. अवधू ध्यान सो ब्रह्म आचार। अजपा जाप, मन तजै बिकार।[४]

निर्गुण सन्त-परम्परा के सन्तों ने भी अजपा जाप, हंस योग या सोऽहं जप को अत्यधिक महत्त्व प्रदान किया है। कतिपय उदाहरण प्रस्तुत हैं।

१. सन्त कबीर—

१. अजपा जपत सुंनि अभि अंतरि यहु तत जानैं सोई।
२. ब्रह्म अगनि काया पर जारी। अजपा जाप उनमनीं तारी।[५]
३. गिरि कैलास गन करते सोरा। तहँ सोऽहं सिर मौरा है।[६]
४. ओ अंग ररंग अड़े जहँ दुइ दल अजपा नाम सहाई।
५. सोऽहं नारी अधिक दुलारी पिय की प्यारी होय।।
६. बिन मुखड़ा से जप करो नहिं तुम जीभ डुलावो।
उलटि सुरति ऊपर रो, (औ) नैनन दरसावो।।
७. सूरति उलटि पवन को सोधो त्रिकुटी मधि ठहराई।
सोऽहं सोऽहं बाजा बाजै अजब पुरी दरसाई।।
८. अजपा जाप बिनु रसना काल निकट नहिं आवै।।

---

१. योगमार्तण्ड (गोरक्षनाथ ३०-३१)
२-४. गोरखबानी
५. कबीरदास : पद
६. कबीर-शब्दावली

९. अजपा लांगि रहै सूरति पर नैन न पलक डुलावै।।
बिन जिभ्या नामहिं को सुमिरै अमि रस अजर चुवावै।।
१०. खोडस पत्र कमल जिव रहई। सहस एक अजपा तहँ चहई।।
११. षट्सहस्र अजपा तहँ होई।
१२. एक सहस खट सतऔ बीसा इतना अजपा जाप।।

२. जगजीवन साहब—

१. दुइ अंक जपा जपहु अन्तर में तजहुस बैतेवान।।
२. अजपा जपि चढ़ि गयो गगन महँ, सतगुरु दरस दिखायो।।[१]
३. सत्त कहत हैं बुरा न मानौ अजपा जपै जो जाई।
जगजीवन सत मत तब पावै, उग्रज्ञान अधिकाई।।

३. भीखा साहेब—

१. रमिता राम तुम अन्तरजामी सोऽहं अजपा जापे हो।।
२. अजपा जाप अकथ को कथनो अलख लखन किन पाय।।
३. दुनिया लोक वेदमत थापे। हमरे गुरु गम अजपा जापे।।

४. धरनी दास—

१. केरि मन तहँ उलटि धरु जहँ उठत अजपा जाप।
२. ध्यान धरु जहँ निसु बासरे जहँ उठत अजपा जाप।

५. पलट साहब—

१. हमहीं सोऽहं शब्द जोति ह्वै सुन्न में आये।।
२. नहिं मुद्रा नहिं भेष बनावै जपता अजपा माला है।
३. इंगला पिंगला सुखमन खेलै अजपा सखी सयानी।
४. सुरति ध्यान एकौ में नाहीं सो अजपा कहवावै।।

६. दयाबाई—

१. नासा आगे दृष्टि धरि स्वांसा में मन राख।
२. दया अहरनिस जपत रहु सोऽहं सुमिरन सार।।
३. दया जाप अजपा जपौ सुरति स्वाँस में लाव।
४. अर्ध उर्ध मधि सुरति धरि जपै जु अजपा जाप।
५. अजपा सोऽहं जाप तें त्रिविध ताप मिटि जैहैं।।
६. हृदय कमल में सुरति धरि अजपा जपै जो कोय।
बिमल ज्ञान प्रकटै तहाँ कलमख (कल्मष) डारै खोय।।

१. शब्दावली

७. नाभिनासिका माहि गाजै सोऽहं शब्द धुनि।
८. अजपा सोऽहं जाप है परम गम्य निज सार।।

७. सहजो बाई—(अजपा गायत्री का अंग)

१. हंसा सोऽहं तार कर सुरति कमरिया पोय।
ल्यौ लगाकर बिना जिह्वा एवं बिना तालु के ही अन्तर में सुरत लगाकर जप करना चाहिये।
२. लगै सुन्न में टकटकी आसन पद्म लगाय।
नाभि नासिका माहि करि सहजो रहै समाय।।
३. सब घट अजपा जाप है हंसा सोऽहं पुर्ष।।
सुरत हिये ठहराय के सहजो या विधि निर्ख।।

अजपा जप एवं कुण्डलिनी

अजपा कुण्डलिनी से उत्पन्न प्राणधारिणी प्राणविद्या है। जीव प्राण एवं अपान की क्रिया के वशीभूत होकर ऊपर और नीचे यात्रा किया करता है।

हं एवं सः का स्वरूप—एक दृष्टि के अनुसार 'हं' वर्ण 'तत्' पद से इंगित परमात्मा का वाचक है। 'स:' वर्ण 'त्वं' पद से इंगित प्रत्यक् चैतन्य का वाचक है।

सारांश—हं = परमात्मा। स: = जीव। हंस = परमात्मा एवं प्रत्यक् चैतन्य (जीव)। इस मतानुसार स: (जीव) ह (परमात्मा) का ध्यान करते-करते स्वयं 'ह' (परमात्मा) हो जाता है—

स:कारो ध्यायते जन्तुर्हकारो जायते ध्रुवम्।

आत्मा का ध्यान → हकारात्मक परमात्मा की प्राप्ति।

दूसरी दृष्टि के अनुसार—हंस व्यष्टि तुरीय (प्रत्यक् आत्मा) है। परमहंस समष्टि तुरीय (परमात्मा) है। व्यष्टि तुरीय एवं समष्टि तुरीय का परस्पर संयोग होने पर हंस योग होता है। यही अजपा तत्त्व है।

अधिकार-भेदानुसार अजपा तत्त्व का स्वरूप

१. मन्द बुद्धियों के लिये (मन्द साधक)—उच्च ज्ञानशक्ति से रहित, अतिसूक्ष्म तत्त्वों के अज्ञाता : मन्द बुद्धि के लिये— 'ह' = पुरुष। 'स:' = प्रकृति। हंसयोग = पुरुष-प्रकृति योग।

२. मध्य बुद्धि के लोगों के लिये (मध्यम साधक)—'ह' = अपान का सञ्चार। 'स' = प्राण का सञ्चार। हंसविद्या = प्राणापान का संयोग। इसके अनुसार प्राण जब लौटता है तब उसे प्राण न कहकर अपान कहा जाता है।

३. **उत्तम बुद्धि वाले साधकों के लिये** (उत्तम साधक)—'अहं' = 'हं' = जीवात्मा। 'सं' = शक्ति। (प्रकृति-पुरुष या प्राणापान सम्बन्ध दोनों में से दोनों का त्याग।

अधिकारभेद से अजपा की साधना में भी भेद

१. मन्द बुद्धि के अधिकारियों के लिये अजपा-साधना की प्रक्रिया। देहगत क्रिया को ध्यान में रखकर अजपा जप करना। तालु, ओष्ठ, उच्चारण यन्त्र का उपयोग करके जप करने की प्रक्रिया। (अशुद्ध चित्त)

२. मध्यम श्रेणी के अधिकारियों के लिये अजपा-साधना की प्रक्रिया। तालु आदि के आश्रय का त्याग। अधिक शुद्ध बुद्धि। दैहिक उच्चारण की अपेक्षा नहीं।

३. उत्तम साधकों के लिये अजपा-साधना की प्रक्रिया।

मध्यम श्रेणी के अधिकारियों के लिये अजपा-विधान—

१. दैहिक अंगों से उच्चारण की अपेक्षा नहीं है। तालु, ओष्ठ, कण्ठ आदि का जपार्थ उपयोग नहीं किया जाता।

२. यदि उक्त दैहिक व्यापार का उपयोग किया भी जाता है तो स्थूल धरातल पर नहीं; प्रत्युत भावना के रूप में।

अजपा मन्त्र का स: अंश प्राणतत्त्व है। 'हं' अपने शरीर में अपान तत्त्व के रूप में स्थित है।

'हम्' ध्वनि के साथ अपानवृत्ति का समत्वात्मक सम्बन्ध है; अत: हंकार अपान वृत्ति का ज्ञापक है। सकार प्राणवृत्ति का ज्ञापक है।

'स:' एवं 'हं'—ये दोनों हमारे शरीर में प्राण एवं अपान के रूप में कार्यरत हैं। इनकी यह नित्यात्मक क्रिया ही अजपा जप है। हंस: मन्त्र प्राण एवं अपान का ही रूप है और 'अजपन्नपि जप्यते' के कारण अजपा कहा जाता है। 'मननात् त्रायते इति मन्त्र:' के अनुसार त्राण करने के कारण मन्त्र (अजपा मन्त्र) कहलाता है। हंस मन्त्र के जप में मुख, जीभ, कण्ठ, तालु आदि का उपयोग न होने के कारण यह अजपा मन्त्र कहलाता है। यह वाचिक नहीं, अनुसन्धानमूलक जप है। इस जप में साफल्य श्रद्धा, गुरुभक्ति, शक्तिपात एवं आत्मबल के कारण ही सम्भव है।

उत्तम अधिकारी के लिये अजपा-जप का विधान—श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन द्वारा विशुद्ध चित्त वाले जापकों की दृष्टि में—

१. अहं—जीव का बोधक है। यही अहं जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति आदि चेतनावस्थाओं का साक्षी है।

२. स:—शक्ति का वाचक है। कौन सी शक्ति? परमेश्वररूप परमकारणा। अहं ही स: (परमात्मा) है—यही अजपा मन्त्र एवं उसकी साधना का अभिप्राय है।

योगि-समाज में प्रचलित कुम्भकात्मक अजपा-पद्धति

१. इस साधना में ऐसी अवस्था प्राप्त करने का अध्यवसाय किया जाता है, जिसमें रेचक एवं पूरक दोनों नहीं रहते।

२. इस साधना-विधान में नाभिकन्द में प्राण एवं अपान की साम्यावस्था प्राप्त की जाती है।

इस काल में सहस्रदल कमल-प्रस्रवित पीयूष-प्रवाह को पीने की भी अवस्था प्राप्त है। अमृत-पान प्राणों के चञ्चल रहने पर कभी सम्भव नहीं होता। प्राणापानैक्य द्वारा अमृताप्ति होने पर अमृत का पान स्वयं न करके उसके द्वारा नाभि-प्रतिष्ठित महादेव का अमृताभिषेक करना चाहिये। इस समय भी 'हंसः हंसः' इस मन्त्र का जप करते हुये शरीर में प्रत्यक् यज्ञ करना चाहिये। इसे ही योगी आध्यात्मिक सूर्यग्रहण कहते हैं। शरीर में उत्तरायण-दक्षिणायन नामक अयनों एवं विषुवों का साक्षात्कार करता हुआ योगी सकल-निष्कल बिन्दुओं का भी दर्शन करता है।

उत्तरायण-दक्षिणायन—प्राण वायु का इड़ा नाड़ी से पिङ्गला नाड़ी में सञ्चार और पिङ्गला नाड़ी से इड़ा नाड़ी में प्रत्यावर्तन ही उत्तरायण-दक्षिणायन है।

विषुव—विषुव वह अवस्था है, जिसमें दिन और रात्रि का साम्य रहता है। शरीर में भी इन दो बिन्दुओं का साम्य प्रतिष्ठित होता है—उन्मिषित होता है। प्राण का मूलाधार में प्रवेश तो एक विषुव है; किन्तु प्राण का मस्तक में प्रवेश द्वितीय विषुव है।

मन्त्र के साथ या बिना मन्त्र के केवल प्राणायाम के द्वारा अर्थ का अनुसन्धान करते हुये प्रणव एवं हंस मन्त्र के उच्चारण तथा (प्रणव वाच्य) हंस का सोऽहं के रूप में अनुसन्धान करना ही यहाँ लक्ष्य है। यह ऐक्यानुसन्धान ही अजपा एवं अजपा-साधना का फल है।

इस ऐक्यानुसन्धान की स्थिति में यथार्थ मुद्रा—चिन्मुद्रा (शाम्भवी मुद्रा, खेचरी मुद्रा) स्वयं प्रकट हो जाती है। यह उपर्युक्त मुद्रा वह भावस्थिति है, जिसमें ऐसी अनुभूति होती है कि मुझसे भिन्न तो किसी अन्य की कोई सत्ता ही नहीं है। यह सोऽहमस्मि की अनुत्तरावस्था है। इस समय प्राणवायु पिङ्गला मार्ग से कुण्डलिनी में प्रवेश करता है। इसे ही योगी आध्यात्मिक सूर्यग्रहण की आख्या देते हैं।

औपनिषदिक हंसयोग या अजपा-साधना

इस योग-साधना द्वारा प्रत्यगात्मा का ज्ञान होता है, जिसे हंसज्ञान कहते हैं। इस औषनिषदिक हंसयोग (अजपा-साधन) में प्रवेश करने के समय निम्न अनिवार्यतायें भी हैं—

१. सिद्धासन लगाकर पैर के बाँयें टखने द्वारा मलद्वार को आच्छादित करके पूरक क्रिया प्रारम्भ करनी चाहिये। इस अभ्यास से मूलाधार चक्र में वायु-सञ्चय होगा।

२. उपर्युक्त विधि से मूलाधार चक्र में अवरुद्ध वायु-समूह को आकुञ्चन क्रिया के द्वारा इस चक्र से ऊपर उठाना चाहिये।

३. इसके अनन्तर प्राण एवं अपान में ऐक्य स्थापित करना चाहिये।

४. प्राण एवं अपान में साम्यावस्थान होने के बाद मूलाधार में अवस्थित त्रिकोण की अग्नि को ऊर्ध्वारूढ़ करके प्राण एवं अपान वायु का उससे संयोग करना चाहिये।

५. त्रिकोण की अग्नि का ज्यों ही प्राण एवं अपान के साथ संयोग होता है त्यों ही कुण्डलिनी उस प्रचण्डाग्नि से उत्तप्त होकर सोते से जाग जाती है। यही अवस्था है—कुण्डलिनी का जागरण।

६. चूँकि ब्रह्मग्रन्थि के उद्भेदन के बिना मूलाधार चक्र (चतुर्दल पद्म) में प्रवेश करना ही सम्भव नहीं है; अतः योगी को उद्बुद्ध कुण्डलिनी शक्ति के द्वारा ब्रह्मग्रन्थि (ब्रह्मगाँठ) खोलनी चाहिये।

७. ब्रह्मग्रन्थि के उद्भेदनोपरान्त मूलाधार चक्र में स्थित एक बिन्दु (तुरीय भूमि) का ध्यान अर्थात् विराट का ध्यान करना चाहिये। इस ध्यान की निष्पत्ति है—ऊर्ध्व गति।

८. चूँकि इस साधना-विधान में ग्रन्थि-भेदन प्रधान है, न कि षट्चक्र भेदन; अतः षड्दलात्मक स्वाधिष्ठान चक्र की तीन बार प्रदक्षिणा करके दशदलात्मक मणिपूरक चक्र में प्रवेश करना चाहिये। यहाँ विष्णुग्रन्थि का उद्भेदन किये बिना अनाहत चक्र या हृदय में प्रवेश नहीं किया जा सकता। यहाँ सूत्रात्मा का ध्यान किया जाता है। इसी सोपान पर सविकल्प समाधि का उदय होता है।

९. अनाहत चक्र के सोपान को अतिक्रान्त करके साधक को विशुद्ध चक्र में प्रवेश करने के मार्ग में स्तनवत् लटकते मांसमिण्ड दृष्टिगत होते हैं। योगी को विशुद्ध मार्ग में प्रवेश हेतु मध्यमार्ग का अवलम्बन लेना चाहिये। यहाँ पहुँचने पर प्राण निरुद्ध हो जाता है।

१०. अब रुद्रग्रन्थि के उद्भेदन का क्रम आता है। रुद्रग्रन्थि का स्थान आज्ञाचक्र के नीचे है। आज्ञाचक्र में प्रवेश करने के उपरान्त आज्ञाचक्र के बीज या तुरीय का ध्यान आवश्यक है। यहाँ तक पहुँचने के बाद योगी (क) चन्द्र, (ख) सूर्य एवं (ग) अग्नि नामक बीजत्रय को मिलाने का सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है। सम्मिलित बीजत्रय अपृथग्भूत हो जाते हैं। बीजत्रय के अपृथग्भूत सम्मिलन से एक महातेज का उदय होता है। बस, यहीं साधक सहस्रार-स्रवित पीयूष के रसास्वादन का अधिकार प्राप्त कर लेता है। अब वह पीयूष-पान के कारण अजर-अमर शरीर पाकर सहस्रारस्थ ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश करता है। ब्रह्मरन्ध्र में 'तुर्य' एवं 'तुर्य-तुर्य' के साक्षात्कार होते हैं।

११. तुर्य एवं तुर्यतुर्य में तुर्य तो चैतन्यावस्था की चतुर्थावस्था (तुरीयावस्था) है; किन्तु तुर्य-तुर्य इससे भी परे है। तुर्य (तुरीयावस्था) तो त्रिमात्रानुभूत होती है; किन्तु तुर्य-तुर्य में समस्त मात्रायें विलुप्त हो जाती हैं और यह अमात्रात्मक स्थिति है। तुर्य

में थोड़ा साकारभाव रहता है; किन्तु तुर्य-तुर्य अद्वितीय, अनुपमेय, प्रतिद्वन्द्वशून्य एवं साकारभावशून्य अवस्था है। इसे ही परमहंसावस्था कहते हैं। तुरीयावस्था इसी तुरीयातीतावस्था (तुर्य-तुर्य) की आत्मजा है। यह कोटिसूर्यसमप्रभ एवं वर्णनातीत है। अजपा मन्त्र शिवशक्ति-संघटित है। अजपा आत्ममन्त्र है। इसका परिचय इस प्रकार है—

अजपा मन्त्र का स्वरूप-परिचय—

१. ऋषि (ब्रह्मा) ३. देवता (आत्मा) ५. बीज (ह)
२. छन्द (गायत्री) ४. शक्ति (स)

इस मन्त्र के दो भाग हैं—शक्ति एवं शिव। इस प्रकार अजपा मन्त्र शिव-शक्त्यात्मक है।

(क) संविद्रूपिणी शक्ति, विद्या या मन्त्रात्मा : सकार (शक्ति)।

(ख) शक्ति का प्रतिपाद्य निष्कल परमशिव : हकार (शिव)।

'स' और 'ह' = सकल और निष्कल तत्त्व के वाचक।

अन्तरात्मा रूपी चैतन्य ही परमशिव हैं। अहं (परमात्मा या प्रत्यगात्मा) भी परमशिव का बोधक है। शक्ति शिव के द्वारा उत्पादित प्रतियोगी (प्रतिद्वन्दी) तत्त्व है।

अजपा मन्त्र का सकार इसी शक्तितत्त्व का वाचक है। चूँकि शक्ति और शिव अभिन्न हैं; अत: अजपा मन्त्र शिव-शक्तिस्वरूप है। 'ह' पुरुष का वाचक है और 'स' प्रकृति का वाचक है; अत: अजपा गायत्री पुंप्रकृत्यात्मक है; इसीलिये आचार्य शङ्कर कहते हैं—

हकार: पुरुष: प्रोक्त: स इति प्रकृतिर्मता।
पुंप्रकृत्यात्मको हंसस्तदात्मकमिदं जगत्।।

अर्द्धनारीश्वर (शिवशक्त्यात्मक) परमशिव का ध्यान करते हैं और अजपा मन्त्र का जप करते हैं।

एक अन्य दृष्टि—श्वास-प्रश्वास आत्ममन्त्र हैं। नि:श्वास = सकार = त्वं। उच्छ्वास = बिन्दु के साथ आकाशबीज (हंकार) है। हंकार = तत्। तत् + त्वं के योग से ही अहंभाव का स्फुरण हुआ करता है। इसी की आख्या है—तत्त्वमसि। यही अजपा के स्वरूप का रहस्योदघाटन है।

इसी दृष्टि को पल्लवित करते हुये कहा गया है कि हृत्कमल द्वादशदलात्मक है। प्राणियों के विकल्पसमूह एवं भाव अनन्त हैं, तथापि उन्हें आठ वर्गों में अन्तर्भुक्त करके इन्हें इस हृत्कमल के अष्टदलों के रूप में कल्पित किया गया है। प्राणापानयुक्त जीव या हंस इन्हीं अष्टदलों पर निरन्तर भ्रमण करता रहता है। इन दलों से सम्बन्ध रखने वाले भिन्न-भिन्न भाव भी हैं। जीव जिस दल का स्पर्श करता है या जिस दल

में प्रविष्ट होता है, उस दल का भाव ही जीव के हृदय में उदित हो जाता है। ये अष्टदल पूर्व से ईशान कोण में स्थित हैं।

द्वादश दलात्मक हृत्कमल के चार दलों का हंस कभी स्पर्श नहीं कर पाता। इन दलों से श्वास-प्रश्वास का कोई सम्बन्ध भी नहीं है अर्थात् अष्टदलों में से जिस भी दल का हंस स्पर्श करता है, वे ही भाव उस जीव की चित्तवृत्ति में उदित होते हैं। इस दिशा में मतभेद भी है।

अष्टदल कमल और वृत्तियाँ

(वायु का दल में सञ्चार → वृत्ति का उदय)

१. प्रधान अंश—मध्यबिन्दु या कर्णिका में वायु का प्रवेश → आत्मातिरिक्त विषयों, बाह्य विषयों से वैराग्यभाव का जागरण।

२. कमल के केशरों में वायु का प्रवेश → जाग्रत् अवस्था का उदय (अहंकार का आधिक्य)।

३. कमल की कर्णिका में वायु-प्रवेश → अहंकार का अर्ध विकसित अवस्था में परिणमन = स्वप्नावस्था।

४. कर्णिका के मध्य शून्य में वायु का प्रवेश → अहंकार का अभाव = सुषुप्ति अवस्था।

५. शून्य का भी अतिक्रमण = तुरीय।

तुरीय की अवस्था ही आत्मसाक्षात्कार की अवस्था है।

तुरीयावस्था में—

१. शून्य का अतिक्रमण।

२. कमल के साथ सम्बन्ध-भंग।

३. साक्षात्कार की स्थिति।

४. हंस का परमात्मा के स्वरूप में प्रकाशोदय।

तुरीयातीतावस्था में—

१. नादारम्भ की गति सक्रिय।

२. मन का धीरे-धीरे अपनी सत्ता खोते जाना।

३. चरमावस्था में उन्मनीभाव का उदय।

तुरीयातीतावस्था के भेद

१. साधिष्ठान—

(क) शरीर तो वर्तमान रहता है; किन्तु त्रितापशून्य रहता है।

(ख) इस अवस्था में नाद या अर्द्धमात्रा रहती है।

२. निरधिष्ठान—

(क) इस स्थिति में शरीर नहीं रहता।

(ख) नाद प्रत्यागात्मा से अभिन्न परमात्मा या हंस में लीन हो जाता है।

(ग) यही प्रतियोगिविहीन अद्वैत ब्रह्म की अवस्था है।

(क) नि:श्वास = सकार = त्वम् का बोधक।

(ख) उच्छ्वास = हंकार = तत् का बोधक।

(ग) त्वम् + तत् का संयोग → अहंभाव का स्फुरण।

इसी की आख्या है—तत्त्वमसि। यही अजपा का रहस्योन्मीलन है।

कतिपय योगियों की यह दृष्टि यह भी है कि—

१. कुण्डलिनी शक्ति के जागृत होने पर तालुमूल से नाभि तक एक आकर्षण-विकर्षणात्मक क्रिया की अनुभूति होती है।

२. यदि उपर्युक्त अवस्था का उदय न हो तो यथार्थ अजपा जप सम्भव नहीं है।

अजपा जपविषयक ध्यातव्य बिन्दु

१. जप की संख्या से पराङ्मुख रहकर जप करना या जप की संख्या पर ध्यान रखकर जप करना आदि नियम भी अजपा जप के स्वरूप को उद्घाटित नहीं करते।

२. वाचिक, उपांशु एवं मानस आदि किसी भी क्रिया से जप करने या उससे विरत रहकर जप करने से भी अजपा जप उद्घाटित नहीं होता।

३. नाम चिन्मय तत्त्व है, यह आकाश के धर्म 'शब्द' से सम्बद्ध नहीं है; क्योंकि वह आकाश का गुण नहीं है।

४. नाम पूर्ण चेतन पारमात्मिक शक्ति है।

५. नाम स्वप्रयास स्वपुरुषार्थ या अपने बल से उदित नहीं होता।

६. यह शक्तिपातजन्य है। 'शक्ति' चाहे भीतर से उदित हो या बाहर से; किन्तु उदित होना आवश्यक है।

७. चिन्मयनाम सद्गुरु-कृपा-प्रसूत है।

८. अहङ्कारात्मा बद्ध जीव भगवान् के जाग्रत नाम का जप अपनी इच्छा से नहीं कर सकता। अजपा जाप के लिये शक्ति-सञ्चार प्राथमिक आवश्यकता है।

९. अजपा जप या नामजप में मन से पृथक् रहकर प्रकृतिक्रीड़ा का दर्शन करना होता है। इसमें जप करना नहीं होता, प्रत्युत होना होता है अर्थात् स्वघटित जप को देखना-मात्र होता है। 'मन' आवरण डालता है, खण्डित करता है; अत: मन के सहयोग से अखण्ड को कैसे पाया जा सकता है? जिस प्रकार श्वास-प्रश्वास के लिये कोई क्रिया नहीं करनी पड़ती, ठीक उसक प्रकार जब मन श्वास-प्रश्वास में लयीभूत होकर इस जप का 'द्रष्टा' बनकर मात्र देखने की क्रिया करता है और कोई भी क्रिया नहीं करता तभी

उस द्रष्टाभावापन्न मन के श्वास-प्रश्वास प्रेक्षात्मक जप को 'अजपा जप' कहा जाता है। श्वास-प्रश्वास के साथ 'नाम' ग्रथित या अनुस्यूत होकर स्वभावत: क्रिया करे और मन तटस्थ द्रष्टा बनकर उसका साक्षात्कार-मात्र करता रहे—यही 'अजपा जप' की क्रिया है।

१०. प्राणों का संयमन करने पर निर्बन्ध प्राण का उदय होता है। प्राणों का संयमन (नियन्त्रण) नव द्वारों का अवरोध है। इससे प्राणों का अन्तर्मुखी आकर्षण होने लगता है। देहात्मबोध एवं बाह्योन्मुखी संस्कारों का लोप होने पर अध्यात्मपथ के सारे प्रतिबन्धक हट जाते हैं।

श्वास-प्रश्वास तो विक्षेप है; अत: वे नाम (अजपा) के सहायक नहीं हैं तथापि काँटे से काँटा निकालने की क्रिया की भाँति श्वास-प्रश्वास का आश्रय लिया जाता है। धीरे-धीरे श्वास-प्रश्वासशून्य कुम्भकावस्था का उदय हो ही जाता है। इसी स्थिति में मन चाञ्चल्य छोड़कर बाह्य स्मृतिशून्य मनोलय की अवस्था में पदार्पण करता है। यही अवस्था अजपा जप की या तटस्थ द्रष्टाभाव की अवस्था कही जाती है।

११. अहं मन का साक्षी है। यह उसका नियामक है। हम भूलकर 'मन' के साथ अभेद स्थापित कर बैठे हैं; अत: हमारा मन ही अहं बन बैठा है। इससे मन इन्द्रियों की क्रियाओं के साथ अभेद स्थापित कर बैठता है और उनका नियन्ता न रहकर उनका गुलाम बन जाता है। इसी कारण जीव में कर्तृत्व-भोक्तृत्वरूप वाला मिथ्याभिमान जाग उठता है। साधना में साधक को अपने से मन को पृथक् करने एवं उससे पृथक् होने की साधना करनी पड़ती है।

सारी क्रियायें एवं सारी क्रीड़ायें केवल प्राण की क्रियायें हैं। इन्द्रियों का व्यापार भी प्राण का ही व्यापार है। ज्ञान एवं मन की क्रियाओं का आधार भी प्राण का ही व्यापार है। इस प्रकार ज्ञान का व्यापार, इन्द्रियों का व्यापार, कर्म का व्यापार, मन का व्यापार, सृष्टि के नि:शेष व्यापार एवं पिण्ड-ब्रह्माण्ड के सारे व्यापार प्राण के ही व्यापार हैं।

विश्वाभिनय का सञ्चालक प्राण ही तो है। प्राण ही विश्व के रङ्गमञ्च (रंगशाला) पर ही प्रकृति की समस्त क्रीड़ायें कर रहा है। चूँकि मन इस क्रीड़ा को देखकर स्वयं क्रीड़ा करने लगता है—यही सारे अनर्थ की जड़ है। मन को इन सारी क्रीड़ाओं का तटस्थ द्रष्टा बनकर उनका साक्षात्कार करना चाहिये। इसी प्रकार श्वास-प्रश्वासात्मक अजपा-जपात्मक नाम-जप का भी द्रष्टा बनकर निरीक्षण करना चाहिये। यहाँ 'करना' नहीं होना ही मूल तत्त्व है। मैं द्रष्टा होकर उसे देखता हूँ—पद्मपत्रमिवाम्भसा उसका साक्षात्कार करता हूँ—यह प्रेक्षादृष्टि होनी चाहिये। इससे आत्मा अभिनेता (कर्ता) का भाव खो देगा। यही शुद्ध मन का स्वरूप है।

१. शुद्ध मन = परमात्मा की शक्ति। योगमाया का परिणाम।

२. अशुद्ध मन = मलिन माया का परिणाम (कुछ करना-कराना, देखना-दिखाना, भोगना-भोग कराना, दुःख देना एवं दुःख सहना आदि सारी क्रियायें इसी अशुद्ध मन की क्रियायें हैं)।

अहं साक्षीभाव से प्राण एवं प्रकृति की क्रीड़ा देखे। यदि मन में साक्षीभाव का उदय नहीं होगा तो शुद्ध मन की प्राप्ति कभी सम्भव नहीं होगी। मलिन मन क्रीड़ा में आसक्त होकर अपने को एवं आत्मा को—दोनों को बन्धन में डाल देता है।

यदि मन को हटा दिया जाय तो द्रष्टा आत्मा बन जाती है; किन्तु उसका दर्शन सभी को अपने से अभिन्न रूप में देखना होता है।

(क) दर्शन की क्रिया—

१. मलिन मन की क्रिया = प्रत्येक क्रिया को अपने से अभिन्न मानकर देखना, उसका अभिनेता बन कर अभिनय करना → बन्धन (सुख, दुःख, संसरण)।

२. शुद्ध मन की क्रिया = पिण्ड-ब्रह्माण्ड की समस्त क्रियाओं को अपने से भिन्न मानकर (तटस्थ द्रष्टा बनकर) देखना → (सुख-दुःख से अतीत, मुक्ति)।

३. आत्मा की क्रिया = मन से विरत (मनशून्य) आत्मा सारे जगत् एवं उसकी समस्त क्रियाओं को अपने से अभिन्न मानकर देखती है; किन्तु इस अभेद-दर्शन से बन्धन नहीं होता → मुक्ति।

लीला (प्राण या प्रकृति की क्रियायें) देखने की वस्तु है। उसमें आसक्त होकर तदनुकूल लीलायें करने की वस्तु नहीं है। यदि रंगमंच पर अभिनेता हनुमान किसी को मार रहे हैं तो उसे देखिये, उन्हीं की भाँति आप भी किसी को मत मारने लगिये। 'लोकवत्तु लीला कैवल्यम्' (वेदान्तसूत्र) विश्व को भगवान् की लीलामात्र मानता है।

मन को हटा दीजिये तो आत्मा द्रष्टा बन जायेगी।

(क) रसास्वादनार्थ निर्मल मन रहना अनिवार्य है।

(ख) निर्मल मल के बिना रसास्वादन असम्भव है।

(ग) मनोन्मूलन होने पर जो भावातीतावस्था प्राप्त होती है, उसमें रसास्वादन सम्भव नहीं है। उसमें मात्र अखण्ड आत्मदृष्टि रहती है।

श्वास-प्रश्वास की क्रीड़ा प्राण की क्रीड़ा है। यह क्रीड़ा ब्रह्माण्ड में सर्वत्र चल रही है। शिव से शक्ति एवं शक्ति से शिव तक सर्वत्र यह क्रीड़ा चल रही है। शिव एवं शक्ति के वियोग-काल तक यह क्रिया कभी बन्द नहीं होती; किन्तु दोनों का मिलन होते ही यह क्रिया एवं श्वास क्रिया दोनों ही बन्द हो जाती है।

(ख) शिव और शक्ति का विरह—

१. आत्मा का मन से एवं मन का प्रकृति एवं प्राण से सम्बन्ध स्थापित होता है।

२. प्राण क्रिया, श्वास-प्रश्वास-क्रिया—प्राण एवं मन की क्रिया चलती रहती है।

३. अजपा जप चलता रहता है।

शिवशक्ति मिलन → प्राण एवं मन की निःशेष क्रियाओं एवं क्रीड़ाओं का अन्त, श्वास-प्रश्वास का अन्त तथा परमशान्त भाव का उदय।

यदि आत्मा अपनी शक्ति से द्रष्टा बनकर मन को दृश्य बनाता है तो मन भी द्रष्टा (तटस्थ) बनकर प्राण एवं उसकी क्रियाओं को अपना दृश्य बना सकता है। द्रष्टा बनकर तटस्थ भाव से प्राण की क्रीड़ायें देख सकता है। साधकों को चाहिये कि वे—

(क) मन को श्वास-प्रश्वास के निरीक्षण-कार्य में लगायें।

(ख) साधक मन की पृष्ठभूमि में स्थित हो जाय।

(ग) मन श्वास एवं प्राण के साथ कार्यरत रहता है; तथापि जब मन श्वास के साथ न चलकर उसकी गति का निरीक्षण करने लगता है, उस समय अहं में भी औदा-सीन्य आ जाता है और श्वास-गति में भी मान्द्य आ जाता है।

शिवशक्ति के मिलन की अवस्था—

१. प्राण एवं अपान में योग।

२. वायुओं का ऐक्य →

(क) समस्त विश्व रुक जाता है।

(ख) काल की गति रुक जाती है।

(ग) परम शान्ति का उदय होता है।

३. आत्म-विहार या आत्म-रमण की स्थिति—

(क) परमहंसावस्था या आत्मरमण की स्थिति आती है।

(ख) आत्मरमण—अपने साथ ही अपना विहार है। चूँकि उस समय दूसरा तो कोई होता नहीं—शिव-शक्ति मिल जाते हैं—शिव-शक्ति परस्पर अनुप्रविष्ट रहते हैं—यही स्थिति आत्मारामावस्था है।

अजपा जापसम्बन्धी प्रयोग एवं अनुभव

इस अजपा-विधान में सर्वप्रथम यम-नियमों के पालन की आवश्यकता है, किन्तु मुख्यतया इसमें ब्रह्मचर्य के पालन की आवश्यकता है। ब्रह्मचर्य में एक बार के स्खलन से छः मासों की साधना व्यर्थ चली जाती है।

१. ब्रह्मचर्य—ब्रह्मचर्य का पालन इस अजपा-विधान की प्रथम शर्त है। एक दिन की त्रुटि सारे प्रयास को निरर्थक कर देगी।

२. श्वास-प्रेक्षा—यह साधना कुछ न करने की ध्यान-साधना है। इसमें साधक को चाहिये कि वह कुछ भी न करे; केवल अपने श्वास-प्रश्वास की गति का निरीक्षण करता रहे।

साधकों का अनुभव है कि हममें से कोई भी व्यक्ति यथानियम एवं स्वाभाविक रीति से श्वास नहीं ले पाता। मन में उत्पन्न मानसिक उद्वेग श्वास-गति में अव्यवस्था एवं गतिरोध उत्पन्न कर देते हैं। इसके कारण श्वास-गति कभी तीव्र हो जाती है और कभी शरीर के किसी भाग में अवरुद्ध हो जाती है। यदि श्वास-गति स्वाभाविक रूप से चले तो प्राण की गति रुक जायेगी तथा प्राणायाम क्रिया एवं समाधि स्वयमेव निष्पन्न हो जायेगी।

३. श्वास-क्रिया के स्वाभाविक रूप से चलने के उपाय—इसका सरलतम उपाय यह है कि श्वास क्रिया का अनुसरण करता हुआ ही मन गति करे। मन श्वास क्रिया का सूक्ष्म निरीक्षण करता रहे।

श्वास की स्वाभाविक गति में व्यवधान न डाला जाय। देखना केवल यह है कि श्वास किस मार्ग से भीतर जाता है, कहाँ तक जाता है तथा कैसे लौटकर किस मार्ग से बाहर निकलता है? वह बाहर निकल कर कहाँ तक जाता है और पुन: खिंचकर किस मार्ग से कहाँ तक भीतर जाता है—प्राण की इस क्रिया या गति का निरन्तर निरीक्षण करते रहना है।

४. श्वास-गति को देखने के लिये न तो श्वास गति को तीव्र करे, न ही मन्द। मन किसी भी तरह श्वास-प्रश्वास की गति का साथ न छोड़े।

५. यदि कोई दृश्य दिखाई पड़ने लगे या मन में कल्पना ही आने लगे तो उसे भी न हटाये; प्रत्युत मन को वहाँ से न हटाये। ध्यान केवल श्वास की गति पर केन्द्रित रहे। यदि मन हट जाय तो उसे पुन: वहीं जाकर लगा दे।

६. 'राम' शब्द का विन्यास—श्वास के बाहर आने के समय यह कल्पना की जानी चाहिये कि 'रा' का उच्चारण हो रहा है तथा भीतर जाने के समय यह चिन्तन करना चाहिये कि 'म' का उच्चारण हो रहा है। इस प्रकार प्रत्येक श्वास-प्रश्वास के साथ राम नाम का उच्चारण होते रहने पर ध्यान केन्द्रित किया जाना चाहिये। महात्मा तुलसीदास कहते हैं—

तुलसी रा के कहत ही निकसत सकल बिकार।
पुनि आवन पावत नहीं देत मकार किवार।।

७. ध्यातव्य बिन्दु—इस साधना का मूल तत्त्व है—एकनिष्ठ श्वास-प्रेक्षण (श्वास-ध्यान)। पहले तो श्वास के आवागमन का मार्ग दृष्टिगोचर ही नहीं होता कि वह किधर से होकर भीतर जाता है और किस मार्ग से बाहर निकलता है तथापि घबड़ाकर साधना छोड़ नहीं देनी चाहिये।

दस-पन्द्रह दिनों के निरन्तर, किन्तु अबाध साधना से श्वास के आवागमन का मार्ग दृष्टिगोचर होने लगता है।

कभी-कभी श्वासगति में तीव्रता (वृद्धि) भी हो जाती है; किन्तु उसमें परिवर्तन (कम करने का प्रयास) भी निषिद्ध है। धीरे-धीरे वह स्वयं ठीक हो जाएगा। साधक का प्रधान कार्य है—श्वास की गति का अनवरत निरीक्षण।

८. **अभ्यासारम्भ और अभ्यास-काल**—अभ्यासारम्भ तो किसी भी मास में कभी भी किया जा सकता है; किन्तु शुभ मुहूर्त हो तो और अच्छा रहेगा।

साधनारम्भ में साधन का समय आधा घण्टा रखा जाय और धीरे-धीरे एक घण्टे तक (साधना का) नित्य अभ्यास करना चाहिये। एक घण्टे पर्यन्त अभ्यासोपरान्त साधक को चाहिये कि वह लेट जाय तथा शवासन से लेटकर साधना करता रहे। एक घण्टे तक मनोराज्य के काल्पनिक दृश्य तो अवश्य आते रहेंगे, किन्तु तदुपरान्त बन्द हो जायेंगे।

साधना की इस स्थिति पर पहुँचने पर साधक जो कुछ भी देखता है, वह गोपनीय है। उसे बताना ठीक नहीं है। किन्तु जो कुछ भी दिखाई पड़े, उसपर ध्यान न देकर मात्र श्वास की गति पर ध्यान केन्द्रित रखना चाहिये।

साधना के समय घबड़ाना या भयभीत होना भी निषिद्ध है। साधना के समय सन्दृष्ट दृश्यों की दिदृक्षा भी नहीं होनी चाहिये। यदि उसे देखने की इच्छा करेंगे तो वह दूर चली जाएगी।

एक चौकी पर कोमल विछावन बिछाकर और तकिया लगाकर शवासन में लेटते हुये (मच्छरों की समस्या हो तो मसहरी लगाकर लेटते हुये) अभ्यास कीजिए।

अभ्यास के समय नीरव शान्ति आवश्यक है। वहाँ कोई कोलाहल एवं शब्द न हो। यदि शब्द या ध्वनि तीव्र रूप से सुनाई पड़ी तो साधक की मृत्यु भी हो सकती है। अभ्यास के समय यदि साधक को उठाना ही हो तो अत्यन्त मधुर एवं मन्द ध्वनि के साथ जागृत किया जाय।

अभ्यासोपरान्त थोड़ा सा घृत-सेवन भी आवश्यक है। ऐसा करने पर समान वायु का भेदन होकर प्राण एवं अपान में एकता स्थापित हो जाएगी।

इस साधना के समय खेचरी मुद्रा भी लगा ली जाय तो अत्युत्तम रहेगा; क्योंकि निद्रा आते ही खेचरी खुल जाएगी और साधक साधना-काल में निद्रा-बाधित नहीं रहेगा।

इस साधना के मूल तत्त्व हैं—१. ब्रह्मचर्य २. अत्रुटित निरन्तर साधना ३. श्वास-प्रेक्षण ४. श्रद्धा और ५. उत्साह।

विजयकृष्ण-कुलदानन्द की अजपा-साधना—विजयकृष्ण-कुलदानन्द की नाम-साधना वही साधना है, जो कि ब्रह्मा, महादेव, नारद, दत्तात्रेय, वसिष्ठ, ध्रुव, प्रह्लाद तथा अन्य ऋषियों एवं मुनियों ने की थी। यह साधना मूलतया भगवान् लक्ष्मी-

नारायण द्वारा प्रवर्तित साधना है। गौराङ्ग महाप्रभु ने इस साधना का उपदेश अपने अन्तरङ्ग शिष्यों को दिया था।

इसी साधना को श्रीविजयकृष्ण ने अपने गुरु परमहंस ब्रह्मानन्द जी से गयाआकाश-गंगा पहाड़ पर प्राप्त किया था। यह नाम-साधना अचिन्त्य एवं अप्राकृत शक्ति-सम्पन्न नाम-साधना है। इसे ही गोस्वामी जी ने अपने शिष्य कुलदानन्द को प्रदान किया था।

यह नाम-साधना श्वास-प्रश्वास से नामजप करने की अजपा साधना है। यह भी कहा गया है कि इस पद्धति से जप करने की पद्धति या कौशल गुरु से ही ग्रहण करनी चाहिये। यह गोपनीय है; अत: गुरुगम्य है। इसका मूल स्वरूप है—श्वास-प्रश्वास द्वारा नाम-जप।

श्वास-प्रश्वासात्मक नामजप का वैज्ञानिक रहस्य

इस साधना के रहस्य अत्यन्त चमत्कारपूर्ण हैं। इसकी देहतत्त्वात्मक एवं मनो-विज्ञानसम्मत विचित्रतायें भी हैं।

श्वास-प्रश्वास ही देह का प्राण है। प्राण के रहने से ही शरीर में आत्मा का निवास है। आत्मा में ही मन है। देह के साथ आत्मा का भी सम्बन्ध है। श्वास-प्रश्वास के साथ मन का भी सम्बन्ध है। आत्मा परमात्मा का अंश है। एक बूँद जल जिन वस्तुओं की समष्टि है, महासमुद्र का समस्त जल भी उन्हीं वस्तुओं की समष्टि है। अत: आत्मा भी पूर्णतया परमात्मा ही है। जीवात्मा संस्कारबद्ध है या संस्कारों की समष्टि है। देह का प्रत्येक अणु-परमाणु—रस, रक्त, मांस, मेद आदि संस्कारानुगत एवं संस्कारमय हैं। श्वास-प्रश्वास शरीर की एक-एक शिरा में जाकर ७२ हजार नाड़ियों में पहुँचकर रक्तशोधन करता है और प्रश्वास के द्वारा शरीर के मल को कार्बन डाई आक्साइड के रूप में बाहर निकालता है। श्वास-प्रश्वास की क्रिया रक्तशोधन तथा रक्त एवं शरीर के मलों का बहि:निस्सारण है।

रक्त, शरीर एवं मन—रक्त की क्रिया स्थूल रूप में शरीर पर एवं सूक्ष्म रूप में मन के ऊपर होती है। रक्त के अनुसार ही शरीर एवं मन का निर्माण होता है। रक्त जितना ही शुद्ध होगा, मन भी उतना ही शुद्ध होगा। देह का मन के साथ भी सम्बन्ध है। श्वास-प्रश्वास के साथ-साथ नाम का संयोग करने पर श्वास के नाम भी ७२००० नाड़ियों में घूमकर एवं उन्हें भी पवित्र करके प्रश्वास के माध्यम से (सारे रक्त को पवित्र करता हुआ) बाहर निकलता है।

(क) श्वास → रक्त का शुद्धिकरण।

(ख) (श्वासानुयायी) नाम-जप → रक्त, नाड़ी-तन्त्र एवं शरीर का शुद्धिकरण।

(ग) नाममय रक्त की क्रिया → मन की शुद्धता, उसकी नाममयता एवं उसका पवित्रीकरण।

(घ) (नामप्रेमी का मन नाम के साथ स्वभावत: श्वास-प्रश्वास के साथ अनुस्यूत होकर) श्वास-प्रश्वास के साथ निरन्तर नामजप स्वभावत: चलने लगता है (राम हमारा जप करैं मैं पाया बिसराम)।

(ङ) इस अजपा-विधान में नाम जब श्वास-प्रश्वास के साथ जपा जाने लगता है तो नाम अपने-आप चलता रहता है। जप करने की आवश्यकता नहीं रहती। इस जप में नाम जपा नहीं जाता; जप स्वभावत: अपने-आप होता रहता है।

परिणाम—१. संस्काराच्छादित शरीर, २. संस्कारानुक्रान्त मन एवं ३. संस्कारानुविद्ध आत्मा—तीनों भगवन्नाम के संस्कार के कारण अहं-संस्कार से मुक्त हो जाते हैं।

अजपा जप एवं ध्यान—अजपा-जप की इस पद्धति में पृथक् से कोई ध्यान-विधान नहीं है। इस जप का लक्ष्य भगवान् (भग = ऐश्वर्य, षडैश्वर्यपूर्ण पूर्णतम परमात्मा) हैं। पूर्ण (सम्पूर्ण) को पाये बिना अभावरूप कष्ट कभी नष्ट नहीं होता। पूर्ण (सम्पूर्ण) केवल परमात्मा और उसका नाम है। वही पूर्ण एवं परा शान्ति है। वे अनन्तरूपात्मक हैं; उनका एक रूप तो है नहीं। इस साधन में किसी रूप या मूर्ति के ध्यान का नियम नहीं है।

नाम-नामी में अभेद है; अत: नाम-साधना से नामी की भी प्राप्ति हो जाती है। नाम ही में नामी का रूप रहता है, नाम ही नामी की मूर्ति या रूप है। नाम-नामी एक हैं।

नामाराधन (नाम का स्वाभाविक जप)

१. अजपा-साधक प्रत्येक श्वास-प्रश्वास के साथ नाम का जपाभ्यास करता है। नाम नीरस भी प्रतीत होता है। इस नीरसता रोग की औषधि भी नाम-जप ही है।

(क) पित्तदोष के शमनार्थ मिश्री-सेवन का विधान है। प्रारम्भ में मिश्री भी कड़वी लगती है; किन्तु बाद में (पित्तदोष में कमी आते जाने पर) मिश्री मीठी लगने लगती है। उसी प्रकार प्रारम्भ में नाम कड़वा लगता है; किन्तु धीरे-धीरे मीठा लगने लगता है।

(ख) श्वास-प्रश्वास के साथ नाम-जप करते रहने पर नाम श्वास-प्रश्वास के साथ घुल-मिल जाता है। ऐसी स्थिति में श्वास-प्रश्वास नाम-जप छोड़कर शेष कार्य करते ही नहीं।

(ग) इस स्थिति में 'मैं जप कर रहा हूँ' इसका पता भी नहीं चलता। श्वास-प्रश्वास चलते रहने के साथ ही नाम भी चलता रहता है।

(घ) उस समय श्वास-प्रश्वास ही नाम-जप एवं नाम-जप ही श्वास-प्रश्वास हो जाता है।

(ङ) इस जप-विधान में प्राणायाम की क्रिया स्वत: चलने लगती है। इस समय मन की चञ्चलता नष्ट हो जाती है और चित्तवृत्तियों के निरुद्ध हो जाने से मन सुस्थिर हो जाता है। मन:स्थैर्य के कारण श्वास-प्रश्वास भी स्थिर हो जाता है तथा कुंभक स्वत: होने लगता है। फिर क्रमश: नाम-जप भी बन्द हो जाता है। इस नामजप के अवरुद्ध

हो जाने पर साधक नाम का साक्षात्कार करता है।

सारांश यह कि इस समय नाम-धारणा नाम-ध्यान में रूपान्तरित हो जाती है। कुंभक के स्थायी होने पर पञ्चकोषों के भेदनोपरान्त 'नाममय हम' एवं 'नाममय नामी' की भिन्नता का बोध रहने तक सविकल्प एवं उनकी अभिन्नता का बोध होने पर निर्विकल्प समाधि होती है। यह क्या है? यही है—

(क) वैष्णवों का भगवच्चरणों में आत्मसमर्पण।

(ख) योगियों की निर्विकल्पात्मक समाधि।

(ग) बौद्ध साधकों का निर्वाण।

इस साधना में साफल्य का मूल है—ईश्वरानुकम्पा, भगवन्नाम के प्रति सश्रद्ध प्रेम एवं भगवान् के प्रति कातर भाव।

अनुभूतियाँ एवं सिद्धियाँ—

१. प्राथमिक धरातल पर साधकों की महापुरुषों एवं देव-देवियों के दर्शन, कुलदेवता या इष्टदेवता का साक्षात्कार होता है।

२. इसके बाद सृष्टि किस प्रकार हुई?—इनके रहस्यों का उद्घाटन होता है।

३. धीरे-धीरे आत्मा माया एवं संस्कारों से मुक्त हो जाता है।

४. सब कुछ नाममय, नामीमय, ब्रह्ममय हो जाता है तथा भगवल्लीला का साक्षात्कार होता है।

५. ब्रह्मचर्य आदि सहज ही सध जाते हैं।

६. सुषुम्नामार्ग अल्पायास से ही शुद्ध हो जाता है।

७. ऊर्ध्वरितसत्व की प्राप्ति होती है।

८. कुलकुण्डलिनी का जागरण, षट्चक्रभेदन एवं आज्ञाचक्र के पुरुष के साथ योग—आदि शीघ्र ही सम्पन्न हो जाता है। अन्ततः सहस्रारावस्थान होता है।

सम्पूर्ण को पाये बिना अभाव मिट नहीं सकता और अभाव के मिटे बिना दुःख मिट नहीं सकता। सम्पूर्ण केवल दो हैं—नामी एवं नाम। इसी कारण इस साधना में नाम की साधना का इतना महत्त्व है।

इस साधना से प्राणायाम, आसन, कुंभक, त्राटक, पञ्चभूतों में दृष्टि-साधन आदि समस्त क्रियायें सिद्ध हो जाती हैं।

नाम-साधना के कतिपय नियम

गोस्वामी विजयकृष्ण ने ढाका-स्थित अपने आश्रम के अपने कुटीर की दीवार पर नाम-साधन के समय नाम में रुचि उत्पन्न करने में सहायक निम्न तत्त्वों को उल्लिखित किया था—

१. अपनी बड़ाई मत करो।

२. दूसरों की निन्दा मत करो।

३. अहिंसा परमो धर्मः।

४. सभी जीवों पर दया करो।

५. शास्त्रों-महापुरुषों पर विश्वास करो।

६. शास्त्र-महापुरुषाचरण-विरुद्ध कोई कार्य न करो।

७. नाहंकारात् परो रिपुः।

८. वीर्य-धारण, वीर्यरक्षा एवं सत्यपालन आवश्यक है।

९. स्वाध्याय, तपस्या एवं शौच आवश्यक दान भी है।

(क) स्वाध्याय—अध्ययन एवं गुरुप्रदत्त इष्ट मन्त्र या नाम का श्वास-प्रश्वासात्मक जप।

(ख) तपस्या—सभी अवस्थाओं में धैर्य के साथ नाम-साधन में बार-बार चेष्टा करते रहना।

(ग) शौच—सर्वावस्थाओं में पावित्र्य। बाह्य एवं आन्तर दोनों पावित्र्य। शरीर, मन की पवित्रता।

(घ) दान—प्रतिदिन कुछ न कुछ दान करते रहना। दया-सहानुभूति ही दान का कारण है। किसी के क्लेशों को दूर करना ही दान है। मधुर भाषण भी दान है।

—ये सारे नियम श्वास-प्रश्वासात्मक नामजप के सहायक तत्त्व हैं।

१०. शम = मन की साम्यावस्था भी आवश्यक है।

११. दम = सदा सभी विषयों में सन्तुष्ट रहना भी आवश्यक है।

१२. विचार = विवेक। सभी अवस्थाओं में सत्-असत्, शुभाशुभ, अच्छे-बुरे का चिन्तन भी आवश्यक है।

भगवान् को लक्ष्य करके जो भी किया जाय वह सत् है, शेष सभी असत् हैं।

१३. सत्संग = सद् ग्रन्थ एवं साधु-सन्तों का संग भी आवश्यक है।

एक मास में सिद्धि-प्राप्ति के उपाय

गुरुप्रदत्त नाम का श्वास-प्रश्वास के साथ जप करना विजयकृष्ण-कुलदानन्द की नाम-साधना है। यहाँ गुरुनिष्ठा एवं सद्गुरु को भगवान् मानना भी उपदिष्ट है।

गोस्वामी विजयकृष्ण द्वारा उपदिष्ट पद्धति—एक मास काल-व्यवस्थानुरूप नियम में रहकर निर्दिष्ट प्रणाली द्वारा साधन करने पर साधक को सिद्धि अवश्य प्राप्त हो जाएगी। नियमों का पालन आवश्यक है। नियम हैं—

१. लोक-सङ्ग, स्त्रियों को देखना, उनका स्पर्श, उनके विषय में कुछ भी सुनना या चिन्तन—सभी का त्याग। पूर्ण ब्रह्मचर्य।

२. एकान्त में शुद्ध भाव से, दिन में केवल एक बार, स्वपक्व एवं बिना उबले

चावल का भात खाना एवं भोजन अपने से बनाना।

३. भूमि-शयन करना चाहिये। हाथ का तकिया लगाना चाहिये।

४. यथानियम मुद्रा-बंध, अहर्निश सिद्धासनस्थ होकर प्राणायाम (कुंभक) के साथ नाम-साधन करणीय है।

५. कम से कम तीन दिन भी यह साधना कर ली जाय तो अन्य लोगों के लिये दुर्लभ विशिष्ट अवस्था प्राप्त हो जाएगी।

६. किसी भी सम्प्रदाय का कोई भी व्यक्ति अपनी कुलक्रमागत रीति-नीति के अनुसार अजपा नाम का साधन कर सकता है।

श्रीविजयकृष्ण स्वयमेव वैष्णव थे। उनका संन्यासाश्रम का नाम अच्युतानन्द सरस्वती था।

Breathe the name of God ईसाइयों में भी प्रचलित है। बौद्ध धर्म के 'विशुद्धि मग्ग' एवं त्रिपिटकों के 'कायगतासति' की पद्धति में 'अनापानासति' (श्वास-प्रश्वास में मनःसंयोग द्वारा साधना करना) की साधना अजपा जप का ही एक रूप है।

बुद्धदेव की दृष्टि क्या है? बुद्धदेव कहते हैं—एकायनो अयं भिक्ख वे निव्वानस्स........ सच्छि किरियाय यदिदं चत्तारो सति पट्ठानो (निर्वाणार्थ यही एकमात्र पथ है)।

विजयकृष्ण की नाम-साधना की विशिष्टता यह है कि यहाँ विदर्शन-भावना के स्थान पर गुरुप्रदत्त अप्राकृतिक शक्तिसंयुक्त नामजप किया जाता है।

'सुखमनी' में नानक कहते हैं—नानक सो सेवक श्वास-श्वास समारै। भगवान् के प्रति श्वास-प्रश्वास में स्मरण करने का यह विधान सिक्ख धर्म में भी है—श्वासि ग्रासि हरि नाम समाल। प्रतिश्वास एवं प्रतिग्रास नामस्मरण करना चाहिये।

सूफियों की साधना-पद्धति—सूफियों की साधना-पद्धति में सुलतानुल अज़कार' नाम-साधना की उस पद्धति को कहते हैं, जिसमें श्वास के साथ 'अल्लाह' मस्तिष्क में श्वासस्थापन के समय 'हूँ' के जप का विधान है। विधि है—

१. आँख, कान, नाक एवं मुख को हाथ की ऊँगलियों से बन्द करके श्वास नाभि से खींचे एवं मस्तक तक ले जाय। वहाँ श्वास रोककर कुंभक करे।

२. श्वास को नाभि के नीचे से ऊपर ले जाते समय 'अल्लाह' कहे एवं श्वास को मस्तिष्क में स्थापित करते समय 'हू' कहे। 'हू' करते समय आँख को हृदय की ओर स्थिर करे। अन्त में नाक के द्वारा श्वास निकाल दे।

इस साधना के अनेक रूप हैं। यह साधना भी अजपात्मक नाम-जप के श्वास-प्रश्वास द्वारा नाम-जप से मिलती-जुलती साधना है।

विसुद्धिमग्ग की दृष्टि एवं बौद्ध ध्यानयोग—विसुद्धिमग्ग नामक ग्रन्थ के ७-८ परिच्छेदों में ध्यान की एक विशिष्ट पद्धति की ओर ध्यान आकृष्ट किया गया है

और १० अनुस्मृतियों में उसे 'आनापानानुसति' (प्राणायाम) की आख्या दी गई है। दीघनिकाय में भी 'अनुसति' का वर्णन किया गया है।

इस प्रक्रिया के अनन्तर एकान्त स्थान में बैठकर आश्वास-प्रश्वास पर ध्यान देना चाहिये।

(क) आश्वास नाभि से प्रारम्भ होता है।

(ख) आश्वास नाभि से हृदय में जाकर नासिकाग्र से बाहर निकलता है।

(ग) इस प्रकार इसके ३ भाग हैं—१. आदि २. मध्य ३. अन्त।

दीघनिकाय के महासतिपट्ठानसुत्त (२.९) के अनुसार—उपचारसमाधि एवं अर्पणा-समाधि में सिद्धि पाने के लिये एकाग्रता आवश्यक है। इसकी विधि इस प्रकार है—

साधक भिक्षु एकान्त एवं शान्तिपूर्ण स्थान में बैठकर श्वास के प्रश्वास (प्रस्सास) एवं आश्वास (आसास) पर अपने चित्त को केन्द्रित करे, जिससे कि वह श्वास की तीव्र एवं मन्द गति से परिचित हो सके। श्वास गति से परिचित होने के लिये उसकी गणना करनी चाहिये, जिससे कि वह सम्पूर्ण श्वासक्रिया पर अपने चित्त को एकाग्र कर सके। इसे ही 'आनपानसति' कहते हैं। इसके बाद की अवस्था की संज्ञा है—ब्रह्मविहार।

बौद्ध-साधना में 'विपश्यना' का विशेष महत्त्व है। विपश्यना की साधना करते-करते साधक 'सकृदागामी' और 'अनागामी' के साधना-शिखरों को अतिक्रान्त करके अन्तिम अवस्था 'अर्हन्त' की अवस्था प्राप्त कर लेता है। 'णमो अरिहन्ताणं' अब नमन का विषय नहीं; प्रत्युत स्वस्वरूप का अङ्ग बन जाता है।

इसी विपश्यना की साधना से सर्वप्रथम तथागत के पाँच ब्राह्मण तपस्वियों ने एक सप्ताह के भीतर मुक्ति प्राप्त की। बुद्ध विपश्यना विद्या के अभ्यास की शिक्षा देते रहे और इसके अभ्यास से कितने ही सकृदागामी, अनागामी और अरहन्त होते रहे। मध्य काल में यह विद्या विलुप्तप्राय हो गई थी।

इस विधि में श्वास के बाहर से आने एवं नासिका तथा हृदय के माध्यम से नाभि तक जाने एवं नाभि से चलकर हृदय में आने एवं फिर नासिका-मार्ग से बाह्याकाश में लयीभूत हो जाने-सम्बन्धी श्वास-प्रश्वास के आवागमन क्रिया पर पूरा ध्यान केन्द्रित किया जाता है।

(अति सामान्य साधक इसे इस प्रकार भी कर सकते हैं—श्वास के अन्दर आने पर पेट (नाभि के पास के उदरस्थल) के फूलने एवं श्वास के बाहर निकलने पर इस स्थल के पचकने पर ध्यान देने से विपश्यना का साधनारम्भ करें और बाद में इसके आरोहावरोह के सूक्ष्म सोपानों पर भी ध्यान केन्द्रित करें।)

शास्त्रों में अजपामन्त्र को हंसमन्त्र, सोऽहं मन्त्र, अजपा मन्त्र, अजपा गायत्री, आत्म-मन्त्र, अनाहत मन्त्र, पुंप्रकृतिमन्त्र, ब्रह्ममन्त्र, जीवमन्त्र, प्राणमन्त्र, विद्यामन्त्र, शिवशक्तिमन्त्र एवं मन्त्रयोग आदि कहा गया है।

उपनिषदों एवं अन्य शास्त्रों की दृष्टियाँ—उपनिषदों एवं अन्य शास्त्रों में भी इस मन्त्र-साधना का प्रतिपादन किया गया है—

१. योगशिखोपनिषद्—

सकारेण बहिर्याति हकारेण विशेत् पुनः।
हंस हंसेत्यमुं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा।।

२. योगचूड़ामणि उपनिषद्—

अनया सदृशी विद्या अनया सदृशो जपः।
अनया सदृशं ज्ञानं न भूतं न भविष्यति।।

३. तन्त्रसार—

बिभर्ति कुण्डलीशक्तिरात्मानं हंसमाश्रिता।
हंसः प्राणाश्रयो नित्यं प्राणा नाडीपथाश्रयाः।।

४.रुद्रयामलतन्त्र—

हं पुमाञ्छ्वासरूपेण चन्द्रेण प्रकृतिस्तु सः।
एतद्धंसं विजानीयात् सूर्यमण्डलभेदकः।।

५. सूत-संहिता—

हंसविद्यामविज्ञाय मुक्तौ यत्नं करोति यः।
स नभोक्षणणेनैव क्षुन्निवृत्तिं करिष्यति।।

६. गरुड़पुराण—

आत्मनः परमं बीजं हंसाख्यं स्फटिकामलम्।

७. शाक्तानन्दतरंगिणी—

हंसेन मनुना देवि ब्रह्मरन्ध्रं नयेत् सुधीः।

(क) नानक—स्वास स्वास प्रभु तुमहिं धियावउँ।

(ख) कबीर—(कबिरा)

अजपा सुमिरन होत है सुन मँडल अस्थान।
कर जिह्वा तहाँ ना चलै, मन पंगू तहँ जान।।

(ग) दादू—दादू सहज सरोवर आतमा, हंसा करै किलोल।

(घ) यारी—

घट में प्रान-अपान दुहाई। अरध आवै अरु अरध जाई।
लेके प्रान अपान मिलावै। वाहि पवन तें गगन गरजावै।।

(ङ) बुल्लेशाह—बुल्लेशाह नाल लाई बाजी। अनहद सबद बजाया है।

(च) दादू—सरीर माँई सोधी साँई अनहद ध्यान लागई।।

योगचूड़ामण्युपनिषद् के अनुसाद इस मन्त्र का नाम अजपा गायत्री भी है और हंस-मन्त्र भी है। इसके समान न तो कोई दूसरी विद्या है और न कोई दूसरा जप है। न इसके समान कोई ज्ञान ही है—न तो हुआ और न तो भविष्य में कभी होगा ही। यह अजपा गायत्री प्राणधारिणी प्राणविद्या है, जो कि कुण्डलिनी से उत्पन्न हुई है—

अजपा नाम गायत्री योगिनां मोक्षदा सदा।
अस्याः सङ्कल्पमात्रेण सर्वपापैः प्रमुच्यते।।
अनया सदृशी विद्या अनया सदृशो जपः।
अनया सदृशं ज्ञानं न भूतं न भविष्यति।।
कुण्डलिन्या समुद्भूता गायत्री प्राणधारिणी।
प्राणविद्या महाविद्या यस्तां वेत्ति स वेदवित्।।
हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत् पुनः।
हंस हंसेत्यमुं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा।।

हंसविद्या और नादबिन्दूपनिषद् की दृष्टि—नादबिन्दूपनिषद् में प्रणव को पञ्चाङ्गात्मक मानकर हंसविद्या का इस प्रकार निरूपण किया गया है—

प्रणवात्मक हंस

हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत् पुनः।
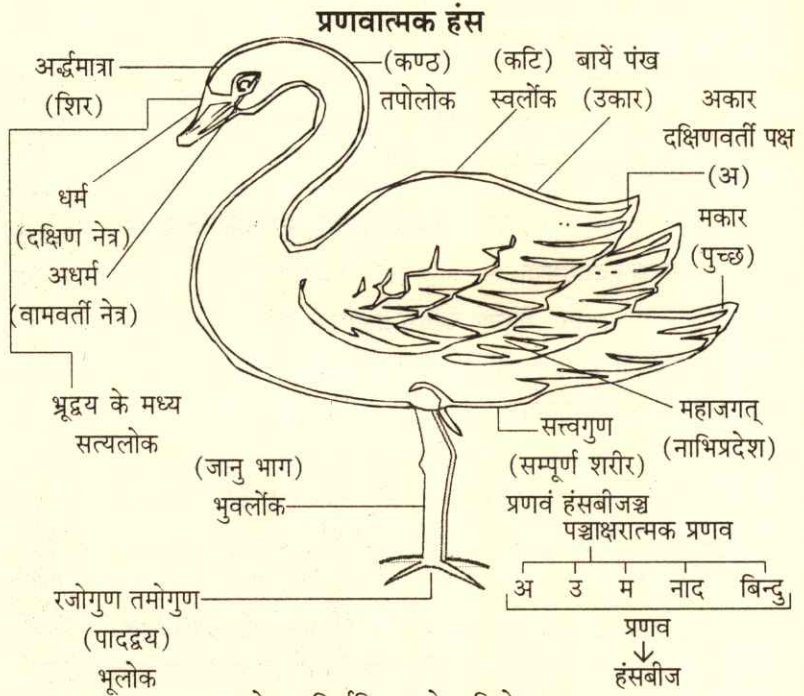
प्रणव (ॐकार) के साथ पुरुष-प्रकृतितत्त्व के सम्मिलन से (प्राणायामपूर्वक) हंस शब्द आविर्भूत होता है—

ॐ अकारो दक्षिण: पक्ष उकारस्तूत्तर: स्मृत:।
मकारस्तस्य पुच्छं वा अर्द्धमात्रा शिरस्तथा।।
पादौ रजस्तमस्तस्य शरीरं सत्त्वमुच्यते।
धर्मश्च दक्षिणं चक्षुरधर्मश्चोत्तरं स्मृतम्।
भूर्लोक: पादयोस्तस्य भुवर्लोकस्तु जानुनी।।
स्वर्लोक: कटिदेशे तु नाभिदेशे महाजगत्।
जनलोकस्तु हृदये कण्ठदेशे तपस्तत:।।
भ्रुवोर्ललाटमध्ये तु सत्यलोको व्यवस्थित:।
सहस्रार्णमनीत्यत्र मन्त्र एष: प्रदर्शित:।।
एवमेनं समारूढो हंसयोगविचक्षण:।
न बध्यते कर्मचारी पापकोटिशतैरपि।।

(नादबिन्दूपनिषद्)

हंसरूपात्मक यह प्रणव-साधना अन्य सहस्रों मन्त्रों की साधना से भी श्रेष्ठतर है। जो साधक हंसमन्त्र के जप से प्रणवरूपी हंस पर आरोहण करता है, वह करोड़ों पापों से मुक्त हो जाता है।

हंसोपनिषद् और अजपा जप—हंसोपनिषद् में कहा गया है कि प्रत्येक जीव प्रतिदिन दिन-रात निश्वास-प्रश्वास क्रिया के द्वारा अजपा जप (हंस नामक अजपा जप (इक्कीस हजार छ: सौ संख्या में) का जप किया करता रहता है—

एकविंशतिसहस्रषट्शताधिकमीश्वरि ।
जपते प्रत्यहं प्राणी सान्द्रानन्दमयीं पराम्।।
विना जपेन देवेशि! जपो भवति मन्त्रिण:।
अजपेयं तत: प्रोक्ता भवपाशनिकृन्तनी।।

निश्वास-प्रश्वासात्मक हंस नामक अजपा जप का जप सायास नहीं, प्रकृत्या ही अहर्निश होता रहता है।

ब्रह्म पुरुषप्रकृत्यात्मक है। देहरूपी तालाब में आत्मा हंस के रूप में तैरती रहती है। अत: हंस शब्द आत्मोपलब्धि का द्वार है। हंसबीज के उद्बुद्ध हो जाने पर आत्मा सूर्यमण्डल में प्रकाशित हो उठती है। जप-क्रिया में यही हंस शब्द विपरीतक्रम से सोऽहं बीज के रूप में प्रकट हो जाता है। इस स्थिति में क्रियांशात्मक स-ह वर्णद्वय भी लुप्त हो जाते हैं और मात्र ॐ अवशिष्ट रह जाता है।

रुद्रयामलतन्त्र और हंसयोगात्मक अजपा जप—इस मन्त्र को ही अजपा

गायत्री, हंसविद्या, आत्ममन्त्र एवं प्राणयज्ञ आदि कहा गया है। रुद्रयामल में इस जप का विधान इस प्रकार है—

प्रणवाज्जायते हंसो हंसः सोऽहं परो भवेत्।
सोऽहं ज्ञानं महाज्ञानं योगिनामपि दुर्लभम्।।
निरन्तरं भावयेद् यः स एव परमो भवेत्।
हं पुमान् सः स्वरूपेण चन्द्रेण प्रकृतिस्तु सः।।
एतद्धंसं विजानीयात् सूर्यमण्डलभेदकम्।
विपरीतक्रमे सैव सोऽहं ज्ञानं यदा भवेत्।।
तदैव सूर्यगः सिद्धो वासुदेवप्रपूजितः।
हकारार्णं सकारार्णं लोपयित्वा ततः परम्।
सन्धिं कुर्यात् ततः पश्चात् प्रणवोऽसौ महामनुः।।

स्कन्दपुराण की वैष्णवसंहिता के पाँच अध्यायों में प्रणव-साधना का अत्यन्त विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है और उसमें—१. प्रणवकवच २. प्रणवहृदय ३. प्रणव-पुरश्चर्या ४. प्रणवाष्टोत्तरशतनाम ५. प्रणवगायत्री ६. प्रणवमालामन्त्र ७. प्रणवस्तोत्रराज ८. प्रणवगीता ९. प्रणवसहस्रनाम आदि की भी पुष्कल विवेचना की गई है।

श्रीधर स्वामी की दृष्टि—गीता के (४.२६) श्लोक 'अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे' की व्याख्या करते हुये श्रीधरस्वामी ने पूरक-रेचक में अवस्थित हंसमन्त्र और अनुलोम-प्रतिलोम द्वारा उसके सोऽहं रूप में परिणति की अच्छी व्याख्या की है।

उत्तरगीताकार भगवान् श्रीकृष्ण की दृष्टि—अर्जुन के द्वारा प्रश्न करने पर भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को उत्तर देते हुये हंसात्मक आत्ममन्त्र के विषय में अपनी दृष्टि इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं—

आत्ममन्त्रस्य हंसस्य परस्परसमन्वयात्।
योगेन गतकामानां भावना ब्रह्म चक्षते।।
शरीरिणामजस्यान्तं हंसत्वं पारदर्शनम्।
हंसो हंसाक्षरं चैव कूटस्थं यत्तदक्षरम्।।
तद्विद्वानक्षरं प्राप्य जह्यान्मरणजन्मनी।।
काकीमुखककारान्त उकारश्चेतनाकृतिः।
अकारस्य च लुप्तस्य कोऽर्थः सम्प्रतिपद्यते।।
गच्छंस्तिष्ठन् सदाकालं वायुस्वीकरणं परम्।
सर्वकालप्रयोगेण सहस्रायुर्भवेन्नरः।
यावत्पश्येत् खगाकारं तदाकारं विचिन्तयेत्।।
खमध्ये कुरु चात्मानमात्ममध्ये च खं कुरु।
आत्मानं खमयं कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्।।

पुटद्वयविनिर्मुक्तो वायुर्यत्र विलीयते।
तत्र संस्थं मनः कृत्वा तं ध्यायेत्पार्थ ईश्वरम्।।

आचार्य गौड़पाद की दृष्टि—हंस = हंस वह है, जो अपने तत्त्वज्ञान के द्वारा अज्ञानात्मक संसार का हनन कर सके—

हन्ति स्वतत्त्वज्ञानेनाज्ञानसंसारमिति हंसः।

आत्ममन्त्र = प्रणवात्मक मन्त्र। समन्वयात् = वेदान्तसूत्र 'तत्तु समन्वयात् (१.१.४) (समन्वयाधिकरण)। योगेन = आत्मतत्त्वविचार द्वारा। गतकाम = ज्ञान-प्रतिबन्धक कल्पमषनिवृत्तिवान्। भावना = तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि, अयमात्मा ब्रह्म आदि भावना। अज = जीव। हंसत्व = परब्रह्मरूपत्व। शरीरिणां = जीवों के। पारदर्शन = परम ज्ञान, हंस = ब्रह्म। हंसाक्षर = प्रणव। कूटस्थ = उभयसाक्षिभूत अक्षर। काकी = कं (सुख) एवं अकं (दुःख) = सुख-दुःखात्मक वह जीव, जो अविद्या का प्रतिबिम्बरूप है। मुखं = मुखस्थानीय बिम्बभूत ब्रह्म। ककारान्त = 'क' का अन्त अर्थात् अ। क् + अ = क। अ = विराट् एवं विश्व आदि। स्थूल शरीर पञ्चीकृत महाभूत और उसके कार्य। उकार = अपञ्चीकृत महाभूत उसके कार्य। १७ अंगों वाला लिङ्ग हिरण्यगर्भ। सूक्ष्मशरीर। तैजस। मकार = प्राज्ञ।

अकारस्य च लुप्तस्य = अकार का उकार में एवं उकार का मकार में लोप। ओंकार में सभी का लोप। वायुस्वीकरणं = सार्वकालिक वायु धारणा। प्राणायाम। खगाकारं = हंसरूप। तदाकारं = ब्रह्मस्वरूप। खमध्ये = दहराकाश के मध्य। ख (दूसरा अर्थ = जीव। आकाशशरीरं ब्रह्म (श्रुति)। आत्मानं = परमात्मा को। पुटद्वय = नासारन्ध्रद्वय। लय = जहाँ वायु का लय हो जाता है (वहाँ मन को केन्द्रित करके ईश्वर का ध्यान करना चाहिये।) वही शिव है—

निष्कलं तं विजानीयात् षडूर्मिरहितं शिवम्।[1]
ओंकारध्वनिनादेन वायोः संहरणान्तिकम्।
निरालम्बं समुद्दिश्य यत्र नादो लयं गतः।।[2]
अनाहतस्य शब्दस्य तस्य शब्दस्य यो ध्वनिः।
ध्वनिरन्तर्गतं ज्योतिर्ज्योतिरन्तर्गतं मनः।
तन्मनो विलयं याति तद्विष्णोः परमं पदम्।।[3]

अजपाजपात्मक तान्त्रिक दृष्टि

भुवनेश्वरी तन्त्र की दृष्टि—इस तन्त्र-ग्रन्थ के अनुसार भगवती भुवनेश्वरी के पूजा-विधान में अजपा-जप का समर्पण आवश्यक है और शरीर में स्थित प्रत्येक यौगिक चक्र (पद्म = कमल) को समर्पित करना चाहिये। समर्पण-विधान इत्याकारक है—

१. उत्तरगीता २. उत्तरगीता ३. उत्तर-गीता

ॐ अद्य पूर्वेद्यु अहोरात्रोच्चरितमुच्छ्वासं निःश्वात्मकं षट्शताधिकमेकविंशतिसहस्र-संख्याकमजपाजपं मूलाधार-स्वाधिष्ठान-मणिपूर-अनाहत-विशुद्धाज्ञा-ब्रह्मरन्ध्रेषु चतुर्दल-षड्दल-दशदल-द्वादशदल-षोडशदल-द्विदल-सहस्रदलेषु सुवर्ण-विद्रुम-नील-पिंगल-धूम्र-विद्युत्-कर्बुरवर्णेषु स्थिताभ्यो गणपति-ब्रह्म-विष्णु-रुद्र-जीवात्म-परमात्म-गुरु-पादुकाभ्यो यथाभागं समर्पयामि नमः—इति संकल्पं कृत्वा समर्पयेद्; यथा—

मन्त्र	जपसंख्या
१. ॐ ऐं ह्रीं मूलाधारचक्रस्थाय अजपाजपानां षट्शतं समर्पयामि नमः।।	= ६००
२. स्वाधिष्ठानचक्रस्थाय ब्रह्मणे अजपाजपं षट्सहस्रं समर्पयामि नमः।।	= ६००
३. मणिपूरचक्रस्थाय विष्णवे अजपाजपं षट्सहस्रं समर्पयामि नमः।।	= ६००
४. अनाहतचक्रस्थाय रुद्राय अजपाजपं षट्सहस्रं समर्पयामि नमः।	= ६००
५. विशुद्धचक्रस्थाय जीवात्मने अजपाजपं एकसहस्रं समर्पयामि नमः।	= १०००
६. आज्ञाचक्रस्थाय परमात्मने अजपाजपं एकसहस्रं समर्पयामि नमः	= १०००
७. सहस्रदलकमलकर्णिकामध्यस्थायै श्रीगुरुपादुकायै अजपाजपं एकसहस्रं समर्पयामि नमः	= १०००
अहोरात्र में श्वास संख्या	२१६००
श्वासों का अहोरात्रात्म समर्पण	२१६००

इस प्रकार अजपा जप का समर्पण करके अजपा मन्त्र के द्वारा प्राणायाम करते हुये इस प्रकार संकल्प करना चाहिये—

ॐ अस्य श्री अजपागायत्रीमन्त्रस्य हंस ऋषिः, अव्यक्तगायत्री छन्दः, परमहंसो देवता, हं बीजं, सः शक्तिः, सोऽहं कीलकम्, ॐकारस्तत्वं, उदात्त स्वरः, हैमो वर्णः, मम मोक्षार्थे अजपाजपे विनियोगः।

इस प्रकार साञ्जलि संकल्प करके न्यास करना चाहिये—

(क) ऋष्यादिन्यास

१. हंसात्मने ऋषये नमः शिरसि।
२. अव्यक्तगायत्रीछन्दसे नमो मुखे।
३. परमहंसायै देवतायै नमो हृदये।
४. हं बीजाय नमो मूलाधारे।

५. सः शक्त्यै नमः पादयोः।
६. सोऽहं कीलकाय नमो नाभौ।
७. ॐ तत्वाय नमो हृदये।
८. उदात्तस्वराय नमः कण्ठे।
९. हैमाय वर्णाय नमः सर्वाङ्गे।
१०. मम मोक्षार्थे जपे विनियोगः।

(ख) करन्यास—

१. ह्सां सूर्यात्मने स्वाहा अङ्गुष्ठाभ्यां नमः।
२. ह्सीं सोमाय स्वाहा तर्जनीभ्यां नमः।
३. ह्सूं निरञ्जनात्मने स्वाहा मध्यमाभ्यां नमः।
४. ह्सैः निराभासात्मने (निरामयात्मने) स्वाहा अनामिकाभ्यां नमः।
५. ह्सौः अनन्ततनुसूक्ष्मदेवी प्रचोदयात् स्वाहा कनिष्ठिकाभ्यां नमः।
६. ह्सः अव्यक्तबोधात्मने स्वाहा करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः।

(ग) षडङ्गन्यास—

१. ह्सां सूर्यात्मने स्वाहा हृदयाय नमः।
२. ह्सीं सोमात्मने स्वाहा शिरसे स्वाहा।
३. ह्सूं निरञ्जनात्मने स्वाहा शिखायै वषट्।
४. ह्सैं निराभासात्मने स्वाहा कवचाय हुं।
५. ह्सौं अनन्ततन्तुसूक्ष्मदेवी प्रचोदयात् स्वाहा नेत्रत्रयाय वौषट्।
६. ह्सः अव्यक्तबोधात्मने स्वाहा अस्त्राय फट्।

ध्यान—

द्यां मूर्धानं यस्य विप्रा वदन्ति खं वै नाभिं चन्द्रसूर्यौ च नेत्रे।
दिग्गर्भः श्रोत्रं यस्य पादौ क्षितिश्च ध्यातव्योऽसौ सर्वभूतान्तरात्मा।।

विश्वात्मक परमशिव का विश्वातीत स्वरूप

एवं यौगपद्यादुपायत्रयं प्रतिपाद्य तदेव विनेयजनहृदयाधिरोपणहेतोः पृथक् प्रपञ्चयिष्यन्नादावाणवमालोचयति—

थोरअरेसुं वि पेक्खह भूदेसुं खस्स णिक्कलावत्थं।
छत्तिंसिआइलङ्घी कीरिसओ होउ सोमणाहो सो ॥५७॥

(स्थूलतरेष्वपि प्रेक्षध्वं भूतेषु खस्य निष्कलावस्थाम्।
षट्त्रिंशिकाऽतिलङ्घी कीदृशो भवतु सोमनाथः सः।।)

स्थूलतर भूतों में भी आकाश की निष्कलावस्था का सूक्ष्म पर्यालोचन करना चाहिये (और यह भी देखना चाहिये कि विश्वमय होने पर भी), वे परमशिव किस प्रकार छत्तीस तत्त्वों को अतिक्रान्त करके—विश्वातीत बनकर स्थित हैं।।५७।।

व्याख्यातवेषाणां तत्त्वानां मध्ये परमशिवभट्टारकः सर्वोपायप्रतिपाद्य इति परत्वेनावतिष्ठते। अन्येषु च शिवादीनि कानिचित् सूक्ष्माणि, प्रकृतिपुरुषप्रभृतीनि स्थूलानीति कल्पनायां पृथिव्यादीनां स्थूलतरत्वमपि प्रतिपन्नम्। यत्कार्यभूताः स्तम्भकुम्भादयः स्थूलतमा इति व्यपदिश्यन्ते। तेषु चातिस्थूलेष्वपि पृथिव्यादेः सकाशात् खस्याकाशस्य निष्कलां परिच्छिन्नत्वलक्षणकलाविलासशून्यां स्वभावभूतामवस्थामालोचयध्वम्, यया तस्य खेचर्याद्यधिकरणत्वप्रसिद्धिः। प्रेक्षध्वमिति विप्रतिपन्नाविप्रतिपन्नभेदवैधुर्येण सर्वेऽपि स्वपाण्डित्यानुकूलं परीक्षध्वमिति यावत्। इत्थमत्यन्तस्थूलस्याप्यस्य निष्कलत्वेऽभ्युपगम्यमाने षट्त्रिंशदपि तत्त्वान्यतिक्रामन् परमेश्वरः कीदृशो भवतु निष्कलत्वोत्कर्षस्तस्य कीदृक् कियानिति चावधार्यताम्, यदि दण्डापूपन्यायो व्युत्पन्न इति। अयं चाणवेषु ध्यानरूप उपायः। ततश्च स्थूलस्थूलव्युदासेन सूक्ष्मसूक्ष्मप्रेक्षायामत्यन्तसूक्ष्मस्वात्मविमर्शामृतास्वादसिद्धिरिति शाक्तोऽप्यत्रासूच्यते। यच्चोक्तमुपायविंशत्याम्—

स्थूलं स्थूलं परित्यज्य सूक्ष्मं सूक्ष्मं समाश्रयेत्।
पश्चात् सूक्ष्ममपि त्यक्त्वा केवलं चिन्मयो भवेत्।। इति।

यच्चोक्तं श्रीविज्ञानभट्टारकेण—

भुवनाध्वादिरूपेण चिन्तयेत् क्रमशोऽखिलम्।
सूक्ष्मसूक्ष्मपरस्थित्या यावदन्ते मनोलयः।। इति।

उपलक्षणं चैतत्। तेन तत्र तत्र तत्त्वे निष्कलत्वालोचनायां सर्वाकारनिष्कलं पारमेश्वरं स्वरूपमसंशयमाविर्भवतीत्यनुसन्धेयम्। यदुक्तं मयैव श्रीपरास्तोत्रे—

पृथ्वी पूर्वमितो वनं तरुरतस्तत्रापि शाखा ततः
पत्रं तत्र च पुष्पमत्र च फलं माधुर्यमस्मादिति।
एकस्मादपि तारतम्यपदवीमुत्कर्षणीं पश्यतो
विश्वस्मादपि कापि सिध्यति परे! त्वामेव तां ब्रूमहे।। इति।

एवमभिप्रेत्य खल्वीश्वरसिद्धिविमर्शिन्यामुक्तम्—'गृहपतिरिव कुटुम्बवर्गे, नरपतिरिव गृहपतिवर्गे, चक्रवर्तीव राजवर्गे, लोकपाल इव चक्रवर्तिवर्गे, ब्रह्मादिरिव लोकपालवर्गे, ब्रह्मादिवर्गेऽप्यधिष्ठाता' इति। एवञ्च—

सूक्ष्मस्यैव विकासः स्थौल्यं स्थूलस्य मुकुलनं सौक्ष्म्यम्।

इति स्थित्या वेदितृस्वभावत्वेन सूक्ष्माभिमतस्य परमेश्वरस्य स्फुरणप्रकारोऽयं सर्वोऽपि स्थूलो वेद्योल्लासः। तस्य च सम्प्रतीकारयुक्त्या निष्कृष्टं वपुः स परमेश्वर इत्यनुसन्धानेन भाव्यमिति शाम्भवोऽप्युद्भाव्यते। यदुक्तं श्रीस्वच्छन्दे—

तदेव भवति स्थूलं स्थूलोपाधिवशात् प्रिये।
स्थूलसूक्ष्मप्रभेदेन तदेकं संव्यवस्थितम्।। इति।

आगमे च—

जलं हिमं च यो वेद गुरुवक्त्रागमात् प्रिये।
नास्त्येव तस्य कर्तव्यं तस्यापश्चिमजन्मनः।। इति।

एतेन—

आत्मानमत एवायं ज्ञेयीकुर्यात् पृथक्स्थितिः।
ज्ञेयं न तु तदौन्मुख्यात् खण्डयेतास्य स्वतन्त्रता।।

इत्यादि व्याख्यातम्। भवत्विति सम्प्रश्ने लोट्। प्रेक्षध्वमित्यतिसर्गादौ। सोमनाथ इति। उमा नामेच्छाशक्तिः, 'इच्छाशक्तिरुमा कुमारी' इत्युक्तत्वात्। तया सह वर्तते 'बहु स्यां प्रजायेय' इत्याम्नायस्थित्या बहिःप्रथनौचित्यमनुभवतीति सोमशब्देनास्य स्थौल्यम्।

आनन्तर्यं यथेत्याहुस्तदस्यास्मादयं च न।

इति श्रीपादुकोदयप्रक्रियया सर्वविकल्पोल्लङ्घनेन निष्कलत्वोत्कर्षकाष्ठाप्राप्तिरूपं सौक्ष्म्यं च तस्य नाथपदेनोपपाद्यते। सम्भूय च तस्य स्थूलसूक्ष्मतौचित्येन विश्वतदुत्तीर्णत्वोभयरूपसम्पत्सौभाग्यभाजनत्वं प्रतायते। स इति स्थूलसूक्ष्मत्वाद्यन्योन्यविरुद्धसामरस्योन्मेषास्पदतया तत्तदौत्तराम्नायोद्घोषितत्वेन परामृश्यमान इति यावत्। एतच्चोपायत्रयं पूर्वत्र गाथायामभिधयैव व्यापारेणोपपादितम्।

अत्र त्वभिधयाणवो व्यञ्जनात्मनान्यद् द्वितयमिति विशेषः। व्यञ्जनं च नाम शब्दस्य कश्चिदभिधातात्पर्यलक्षणात्मकप्रसिद्धप्रस्थानातिक्रान्तो व्यापारोऽस्ति। यद्वदात्मनः शयनासनभोजनादिव्यतिरिक्तः स्वातन्त्र्यनामा लोकोत्तरः कश्चित् स्वभावः। यदुक्तं तत्त्वालोककृता काव्यालोके—

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तमाभाति लावण्यमिवाङ्गनासु।। इति।

एतत्प्रसाधनविस्तरप्रयासस्त्वप्रस्तुत इत्यलम्।।५७।।

परमशिवभट्टारक सर्वोपाय-प्रतिपाद्य होने के कारण परतम है—परम-शिवभट्टारकः सर्वोपायप्रतिपाद्य इति परत्वेनावतिष्ठते।

शिव आदि सूक्ष्म, प्रकृति-पुरुष आदि स्थूल एवं पृथिवी आदि स्थूलतर तथा उनके कार्यभूत अन्य स्थूलतम पदार्थों में भी परमशिवभट्टारक अपनी विश्वमयता की स्थिति में भी, विश्वातीत निष्कलावस्था में भी विद्यमान है; यथा—समस्त स्थूल, स्थूलतर एवं

स्थूलतम भूतों एवं उनसे उत्पन्न पदार्थों में परिच्छिन्नत्व शून्य आकाश विद्यमान है।

यदि स्थूल से स्थूल भूतों एवं तज्जात स्थूल पदार्थों में भी सूक्ष्मतम निष्कलावस्था विद्यमान रह सकती है—निष्कल आकाश की विद्यमानता रह सकती है—तो दण्डपूपन्याय से विश्वमय परमशिव में विश्वातीतता क्यों नहीं रह सकती? भाव यह कि प्रत्येक साधक को यह देखना चाहिये हमारी अत्यन्त प्रगाढ़ स्थूलरूपता में भी सूक्ष्मतमावस्था विद्यमान है—सकलत्व में भी निष्कलत्व अनुस्यूत है—पशुत्व में भी पशुपतित्व अवस्थित है।

आणवोपाय और उक्त गाथा से सम्बन्ध—महेश्वरानन्द कहते हैं कि उक्त गाथा (क्र. ५७) का उपदेश्य तत्त्व 'स्थूलतरेष्वपि प्रेक्षध्वं भूतेषु खस्य निष्कलावस्थां' में आणवोपाय संकेतित है। 'अयं चाणवेषु ध्यानरूप उपाय:' इसमें ध्यानतत्त्वात्मक आणवोपाय का उपदेश है।

शाक्तोपाय और उक्त गाथा से सम्बन्ध—इस गाथा में शाक्तोपाय भी उपदिष्ट है। इसके अनुसार स्थूल पदार्थों से हटकर (स्थूलव्युदासेन) सूक्ष्म से सूक्ष्मतर पदार्थों एवं सत्ताओं की ओर ध्यान केन्द्रित करते जाने की अबाधित यात्रा में एक दिन सूक्ष्मतम स्वात्मविमर्शामृतास्वादसिद्धिरूप उत्तुंग शिखर भी आरोहण हो जाता है। अत: यहाँ शाक्त उपाय भी संकेतित है—'स्थूलस्थूलव्युदासेन सूक्ष्मसूक्ष्मप्रेक्षायामत्यन्तसूक्ष्मस्वात्मविमर्शामृतास्वादसिद्धिरिति शाक्तोऽप्यत्रासूच्यते।

आगम की दृष्टि—आगम में कहा गया है—

> स्थूलं स्थूलं परित्यज्य सूक्ष्मं सूक्ष्मं समाश्रयेत्।
> पश्चात् सूक्ष्ममपि त्यंक्त्वा केवलं चिन्मयो भवेत्।।

विज्ञानभट्टारककार की दृष्टि—विज्ञानभट्टारक में कहा गया है—

> भुवनाध्वादिरूपेण चिन्तयेत् क्रमशोऽखिलम्।
> सूक्ष्मसूक्ष्मपरस्थित्या यावदन्ते मनोलय:।।

इसी बात को महेश्वरानन्द अपने शब्दों में इस प्रकार कहते हैं—तेन तत्र तत्र तत्त्वे निष्कलत्वालोचनायां सर्वाकारनिष्कलं पारमेश्वरं स्वरूपमसंशयमाविर्भवतीत्यनुसन्धेयम्।

परास्तोत्रकार की दृष्टि—महेश्वरानन्द परास्तोत्र में कहते हैं—

> पृथ्वी पूर्वमितो वनं तरुरतस्तत्रापि शाखा तत:
> पत्रं तत्र च पुष्पमत्र च फलं माधुर्यमस्मादिति।।
> एकस्मादपि तारतम्यपदवीमुत्कर्षणीं पश्यतो
> विश्वस्मादपि कापि सिध्यति परे त्वामेव तां ब्रूमहे।।

ईश्वरसिद्धिविमर्शिनीकार की दृष्टि—ईश्वरसिद्धिविमर्शिनी में कहा गया है कि प्रत्येक वर्ग का कोई न कोई स्वामी अवश्य होता है, उसी प्रकार सभी वर्गों का कोई

एक सूक्ष्मतम स्वामी भी होगा और अन्ततः वही ध्यातव्य है—गृहपतिरिव कुटुम्बवर्गे नरपतिरिव गृहपतिवर्गे, चक्रवर्तीव राजवर्गे, लोकपाल इव चक्रवर्तिवर्गे, ब्रह्मादिरिव लोकपालवर्गे, ब्रह्मादिवर्गेऽप्यधिष्ठाता।

यह भी ध्यातव्य है कि स्थूल एवं सूक्ष्म में कोई तात्त्विक भिन्नता नहीं है क्योंकि—सूक्ष्मस्यैव विकासः स्थौल्यं, स्थूलस्य मुकुलनं सौक्ष्म्यम्।

यह समस्त स्थूल वेद्योल्लास (जगत् एवं उसके समस्त पदार्थों का वैचित्र्यविलास) सूक्ष्मतम एवं निष्कल परमेश्वर का ही स्फुरण है—परमेश्वरस्य स्फुरणप्रकारोऽयं सर्वोऽपि स्थूलो वेद्योल्लासः।

शाम्भवोपाय और उक्त गाथा से सम्बन्ध—आचार्य महेश्वरानन्द कहते हैं कि—'तस्य च सम्प्रतीकारयुक्त्या निष्कृष्टं वपुः स परमेश्वरः इत्यनुसन्धानेन भाव्यमिति शाम्भवोऽप्युद्भाव्यते।

स्वच्छन्दतन्त्रकार की दृष्टि—स्वच्छन्दतन्त्र में कहा गया है कि—

तदेव भवति स्थूलं स्थूलोपाधिवशात् प्रिये।
स्थूलसूक्ष्मप्रभेदेन तदेकं संव्यवस्थितम्।।

आगम की दृष्टि—आगमों में भी कहा गया है—

जलं हिमं च यो वेद गुरुवक्त्रागमात् प्रिये।
नास्त्येव तस्य कर्तव्यं तस्यापश्चिमजन्मनः।।

अतः—

आत्मानमत एवायं ज्ञेयीकुर्यात् पृथक् स्थितिः।
ज्ञेयं न तु तदौन्मुख्यात् खण्ड्येतास्य स्वतन्त्रता।।

जगत् और उमा तथा सूक्ष्म और स्थूल—शिव उमा (इच्छाशक्ति) के साथ ही होकर सृष्टि करते हैं। 'बहुस्यां प्रजायेय' वाक्य में बहुत हो जाने की जो इच्छा है, वही तो उमा है—इच्छाशक्तिरुमा कुमारी (शिवसूत्र)।

यह सिसृक्षा (परमात्मा की सूक्ष्मतमा इच्छाशक्ति) ही स्थूलाकार होकर पञ्चतन्मात्रा, पञ्चभूत एवं जगत् बन जाती है। अतः सूक्ष्म का विकास ही स्थूल है। सूक्ष्म का बहिःप्रथन ही स्थूल है।

सोमनाथ—शिव। यहाँ सोम तो स्थूल है; किन्तु नाथ सूक्ष्म है।

१. सोमशब्देनास्य स्थौल्यम्।

२. सौक्ष्म्यं च तस्य नाथपदेनोपपाद्यते।

यहाँ सोम (स्थूल) नाथ (सूक्ष्म) का सामञ्जस्य विश्वमयता एवं विश्वोत्तीर्णता दोनों का बोधक है—स्थूलसूक्ष्मतौचित्येन विश्वतदुत्तीर्णत्वोभयरूपसम्पत्सौभाग्यभाजनत्वं प्रतायते।

यहाँ स्थूल-सूक्ष्म के परस्पर विरोधी तत्त्वों के सामरस्य से उन्मेष-निमेष की अवस्थायें भी संकेतित हैं, जिन्हें स्पन्दकारिका में शिव की शक्तियों का स्फार और जगत् के प्रलयोदय का कारण कहा गया है—उन्मेषनिमेषाभ्यां जगतः प्रलयोदयौ।

यहाँ परा-मृश्यमान कौन है? महेश्वरानन्द कहते हैं—स्थूलसूक्ष्मत्वाद्यन्योन्यविरुद्ध-सामरस्योन्मेषा-स्पदतया तत्तदौत्तराम्नायोद्घोषितत्वेन परामृश्यमान इति यावत्। इस प्रकार इस गाथा में भी उपायत्रय का उपपादन किया गया है।

यहाँ (इस गाथा में) अभिधेय तो आणवोपाय है; किन्तु व्यंग्य रूप में शाक्तोपाय एवं शाम्भवोपाय दोनों संकेतित हैं। व्यञ्जना है क्या? व्यञ्जनं च नाम शब्दस्य कश्चिद-भिधातात्पर्यलक्षणात्मकप्रसिद्धप्रस्थानातिक्रान्तो व्यापारोऽस्ति। जिस प्रकार आत्मा का या अपना शयन, आसन, भोजन आदि के अतिरिक्त स्वातन्त्र्य नामक लोकोत्तर स्वभाव भी है—यद्वदात्मनः शयनासनभोजनादिव्यतिरिक्तः स्वातन्त्र्यनामा लोकोत्तरः कश्चित् स्वभावः। काव्यालोक में कहा भी गया है—

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तमाभाति लावण्यमिवाङ्गनासु।।

परमशिव के स्वरूपामृतपान का अमित प्रभाव

अथ शाक्तमभिव्यनक्ति—

जे कुलकुम्भसुहासवपाणमहूसवसुहे पअट्टन्ति।
ते खु विअप्पङ्कुरए रसिआ उवदंसिउं पअब्भन्ति ॥५८॥

(ये कुलकुम्भसुधासवपानमहोत्सवसुखे प्रवर्तन्ते।
ते खलु विकल्पाङ्कुरान् रसिका उपदंष्टुं प्रगल्भन्ते।।)

जो साधक परमशिव के स्वरूपामृत-कुम्भ के रसास्वादन के महोत्सवरूप आनन्द में मग्न रहते हैं, वे स्वरूपामृतरसिक निःसन्देह (विश्ववैचित्यात्र्याक) विकल्प (विश्वप्रपञ्च) के अंकुरों को विनष्ट करने में पूर्णतः समर्थ हो जाते हैं।।५८।।

ये देशिककटाक्षपातपूतचेतसो महापुरुषाः कुलस्य षडध्वस्फारात्मनो वेद्यो-ल्लासस्य यः कुम्भः स्वानन्दस्वभावतया कुम्भयत्यव्याकुलमवस्थापयतीति व्युत्पत्त्या प्रतिष्ठाहेतुराधारविशेषः, तत्रत्यो यो लौकिकालौकिकमाधुर्यसामर-स्यास्पदत्वादमृतशब्दवाच्य आसवो भैरवीयं द्रव्यम्, तस्य यत् पानमात्मैश्वर्य-प्रधानतापरामर्शपूर्वको निर्विशङ्कस्वीकारः स एव महान् मखरूपोऽध्वरात्मा चोत्सवः स्वाह्लादसाक्षात्कारसम्पत्सौभाग्यम् तस्मिन् विषये प्रवर्तन्ते वेद्यवेदक-भावादिविकल्पविगलनलक्षणप्रकर्षपूर्वकं व्याप्रियन्ते, खलुर्हेतौ, ते तत एव हेतोः पाशवशैवादिविचित्रकल्पनामयान्—

अपीत्वाऽपि भवद्भक्तिसुधामनवलोक्य च ।
त्वामीश! त्वत्समाचारमात्रात् सिध्यन्ति जन्तवः ।।

इति श्रीमत्स्तोत्रावलीस्थित्या संस्कारशेषतामात्रानुप्राणनान् भेदप्रथाविलासान् उपदंष्टुमत्यन्तसामीप्यरूपस्वात्मतादात्म्यापादनयुक्त्या पुनरुत्पत्तिशून्यतौचित्येन चर्वयितुं प्रगल्भन्ते प्रकृष्टं स्थैर्यमनुभवन्ति। यतोऽमी रसिकाः 'रसो वै सः' इत्यादि-श्रुत्युपपादितं रसं स्वकीयतयाऽनुभवन्ति। अयमेव हि मुख्यया वृत्त्या रस इत्युच्यते। यदुपचारेण माधुर्यप्रीतिशृङ्गारादयोऽप्येवं व्यपदिश्यन्ते। यत्तात्पर्येण च 'स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः' इत्युपनिषदुन्मिषति। अन्यथा रसशब्दप्रयोगस्य नैरर्थक्य-प्रसङ्गात्। सुधेत्यासव इति च शब्दद्वयोपादानेन पाशवं शैवमिति स्वभावभेदः, विधिनिषेध इति चोदनावैचित्र्यम्, लौकिकमलौकिकमिति व्वहारतारतम्यम्, गोप्यमगोप्यमिति भावविभागः, श्रद्धा जुगुप्सेत्यवस्थाविवेकः, आमुष्मिकमैहिक-मिति फलविशेषः, देवा असुरा इति देवताव्यवस्था चेति लोकयात्रानुबन्धी सर्वो-ऽपि विरोध एतदास्वादनधन्यानां न किञ्चिदपि शङ्कातङ्कमङ्कुरयितुमलमित्युन्मी-ल्यते। यतो ब्राह्मणचाण्डालादिव्यवस्थापरित्यागेन—

घृणा शङ्का भयं लज्जा जुगुप्सा चेति पञ्चमी ।
कुलं जातिश्च शीलं चेत्यष्टौ पाशाः प्रकीर्तिताः ।।

इति स्थित्या वर्णाश्रमादिनैयत्यादिना परिस्फुरन् सर्वोऽपि पाशप्ररोहः स्व-हृदयसंवादसौन्दर्योत्तरं स्वत एवापहीयते। अत्र च ये सौत्रामण्यादिदृष्टान्तदृष्ट्या प्रामाण्यं प्रसाधयन्ति, नूनं ते हिंसावलोकितकेन विगलितमपि तज्जिह्मं ब्राह्मण्य-मालोकयन्ति। अस्माकं पुनरुल्लङ्घिताशेषसंशयशैलशृङ्गाणाम्—

धन्याः केचिद्धनमिव विभोरागमैर्गोप्यमानां
व्याकुर्वाणां जगदपरथा वीरविक्रान्तिविद्याम् ।
माधुर्यस्य प्रथमपदवीं मङ्गलानां प्रतिष्ठां
मान्त्रीं शक्तिं मनसि महती देवतेत्याद्रियन्ते ।।

इति संविदुल्लासन्यायादेकशरणानां न कदाचिदत्राप्रामाण्यशङ्का प्रामाण्य-प्रसाधनापेक्षा वेत्यलमारुरुक्षुजनहृदयपरीक्षणव्याक्षेपेण। उक्तरूपमलौकिकमर्थम-भिप्रेत्य हि शिवधर्मादिषु—

आगमत्वेऽपि सामान्ये कः प्रद्वेषः शिवागमे ।
अनायासेन यत्रोक्ता मुक्तिरेकेन जन्मना ।।

इत्याद्युपपाद्यते। प्रस्तावश्चायं 'अग्घं वेज्जविलासो, पुण्णाहन्ताण मुहे' इत्यत्र विस्तीर्य पर्यालोचितः। अयं चोपायः स्वीक्रियमाणस्यास्य द्रव्यविशेषस्य विश्ववेद्य-

विलासात्मकतयाऽवस्थापितस्य 'शक्तयोऽस्य जगत् सर्वम्' इति स्थित्या सर्व-
शक्तिसामरस्यरूपतया निर्णीतत्वाद् अन्यसमयाचारादनुत्तराचारं प्रति तदास्वाद-
नस्य स्फुरत्तापरपर्यायशक्तिस्वभावतयाऽनुभूयमानत्वाच्च शाक्त इत्युक्तः। पर्यन्त-
दृष्ट्या पुनरुपपादितद्रव्यस्वीकारसाध्यस्याह्लादोत्कर्षानुभूतिचमत्कारस्य स्वस्व-
भावात्मकतयाऽनुभूयमानत्वाच्छाम्भव एवेत्यवगन्तव्यम्। यतोऽयं 'पामरप्रवृत्तिः
प्रमाणम्' इति राजभैरवसूत्रस्थित्या पुंसां स्वतःप्रवृत्तिविषयतयोपलभ्यते। यतश्च
श्रीविज्ञानोद्योते—

जग्धिपानरसोल्लासरसानन्दविजृम्भणात् ।
भावयेद् भरितावस्थां महानन्दमयो भवेत् ।।

इत्यत्र श्रीविज्ञानभट्टारकांशे एषा शाम्भवी भूतिरिति श्रीमत्क्षेमराजेन व्या-
ख्यातम्। उपलक्षणं चैतत्। तेन विषयपञ्चकास्वादसौख्ये सर्वत्राप्ययमेव न्यायः।
यथा विषयपञ्चिकायाम्—

मधुरसरसवीणावेणुगीतादिवाद्य-
श्रवणाजनितहर्षः शब्दमात्रैकशेषः ।
तदनु भवविरामप्रस्फुरद्बोधमूर्ति-
र्भवविभवविमुक्तो मुक्तिमाप्नोति सम्यक् ।।

इत्यादि। यथा च मदीये संविदुल्लासे—

पुष्पोपहारघनचन्दनवंशताल-
नृत्तप्रयोगमधुमुग्धवधूप्रधानाः ।
भावाः सहस्रमपि जाग्रतु तत्तदन्तः-
प्रह्लादिनी विजयते परचित्कलैका ।। इति।

तेषु च शाक्तशाम्भवत्वादिकं तत्तत्प्रकरणादिनाऽवगन्तव्यम्। यथा च
श्रीविज्ञानोद्योते एकमेव प्रियजनोपभोगलक्षणमर्थमवलम्ब्य—

शक्तिसङ्गमसंक्षुब्धशक्त्यावेशावसानिकम् ।
यत् सुखं ब्रह्मतत्त्वस्य तत् सुखं स्वाक्यमुच्यते ।।

इत्यत्राणवत्वम्,

लेहनामन्थनाकोटैः स्त्रीसुखस्य भरात् स्मृतेः ।
शक्त्यभावेऽपि देवेशि! भवेदानन्दसम्प्लवः ।।

इत्यत्र शाक्तत्वम्,

आनन्दे महति प्राप्ते दृष्टे वा बान्धवे चिरात् ।
आनन्दमुद्गतं ध्यात्वा तल्लक्ष्यस्तन्मयो भवेत् ।।

इत्यत्र शाम्भवत्वं च पर्यालोचितमिति ।।५८।।

यहाँ कुल का अर्थ है—विश्वव्यापक शिव। कुलामृत के रसपान से जीव पशुभाव से मुक्त होकर शिवस्वरूप हो जाता है। शिवस्वरूपिणी उपासना का यही फल है। विश्वप्रपञ्च के अंकुरों का नाश करने की दिशा में कुलरूपी कुम्भ में स्थित शिव-स्वरूपरूपी सुधा के आसव का आस्वादन ही साधकों को (विश्वप्रपञ्च के अंकुरों को उन्मूलित करने में) सामर्थ्य प्रदान करता है।

कुलस्य = षडध्वस्फारात्मक वेद्योल्लास के। कुम्भ = यः कुम्भः स्वानन्दभावतया कुम्भयत्यव्याकुलमवस्थापयतीति व्युत्पत्त्या प्रतिष्ठाहेतुराधारविशेषः। आसव = भैरवीय द्रव्य। पान = आत्मैश्वर्यप्रधानतापरामर्शपूर्वको निर्विशङ्कस्वीकार। मख = यह स्वीकृतिरूप मख ही उत्सव है। उत्सव = स्वाह्लाद-साक्षात्कार-सम्पत्सौभाग्य। प्रवर्तन्ते = उन विषयों में वेद्य-वेदकभावादि विकल्पविगलनलक्षण प्रकर्षपूर्वक प्रवृत्त होते हैं। खलु = निश्चित रूप से। के कारण।

श्रीमत्स्तोत्रावली में कहा गया है—

अपीत्वाऽपि भवद्भक्तिसुधामनवलोक्य च।
त्वामीश! त्वत्समाचारमात्रात् सिध्यन्ति जन्तवः।।

रसिका = रसो वै सः इत्यादि श्रुत्युपपादित रस के आस्वादक। यही मुख्य रस है। माधुर्य-प्रीति-शृंगार आदि भी रस हैं। इसी कारण कहा गया है—स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः।

अष्टपाश भी विकल्प हैं; जो निम्नाङ्कित हैं—

घृणा शङ्का भयं लज्जा जुगुप्सा चेति पञ्चमी।
कुलं जातिश्च शीलं चेत्यष्टौ पाशाः प्रकीर्तिताः।।

विज्ञानोद्योत में कहा है कि—

जग्धिपानरसोल्लाससरसानन्दविजृम्भणात् ।
भावयेद् भरितावस्थां महानन्दमयो भवेत्।।

पञ्चशिका में कहा गया है कि—

मधुरसरसवीणावेणुगीतादिवाद्यश्रवणजनितहर्षः शब्दमात्रैकशेषः।
तदनु भवविरामप्रस्फुरद्बोधमूर्तिर्भवविभवविमुक्तो मुक्तिमाप्नोति सम्यक्।।

संविदुल्लास में कहा गया है कि—

पुष्पोपहारघनचन्दनवंशतालनृत्तप्रयोगमधुमुग्धवधूप्रधानाः ।
भावाः सहस्रमपि जाग्रतु तत्तदन्तः प्रह्लादिनी विजयते परचित्कलैका।।

आणवत्व—

लेहनामन्थनाकोटैः स्त्रीमुखस्य भरात् स्मृतेः।
शक्त्यभावेऽपि देवेशि! भवेदानन्दसम्प्लवः।।

शाक्तत्व—

आनन्दे महति प्राप्ते दृष्टे वा बान्धवे चिरात्।
आनन्दमुद्गतं ध्यात्वा तल्लक्ष्यस्तन्मयो भवेत्।।

जो रसिक (रसतत्त्व के अनुसन्धायक या रसमग्न) हैं, वे ही रसविहीन विकल्पों का त्याग करके रसतम परमात्मा में लीन होते हैं। इन्हीं के विषय में कहा गया है कि—ते खलु विकल्पाङ्कुरान् रसिका उपदंष्टुं प्रगल्भन्ते।

इस रस (आनन्द) की स्थिति में—

आनन्दे महति प्राप्ते दृष्टे वा बान्धवे चिरात्।
आनन्दमुद्गतं ध्यात्वा तल्लक्ष्यस्तन्मयो भवेत्।।

यही ब्रह्मतत्त्वात्मक सुख ही स्वाक्य कहलाता है—

शक्तिसङ्गमसंक्षुब्धशक्त्यावेशावसानिकम् ।
यत् सुखं ब्रह्मतत्त्वस्य तत् सुखं स्वाक्यमुच्यते।।

दर्पणरूप परमात्मा में प्रतिबिम्बस्वरूप जगत्

अथ शाम्भवमुपदिशति—

हन्त मुहं पडिबिम्बउ पडिबिम्बेउ तह तं पि अद्दाओ।
अद्दाओ उण जस्सिं पडिबिम्बइ सो वि णाअव्वो ।।५९।।

(हन्त मुखं प्रतिबिम्बतु प्रतिबिम्बयतु तथा तदपि दर्पणः।
दर्पणः पुनर्यस्मिन् प्रतिबिम्बति सोऽपि ज्ञातव्यः।।)

सखेद कहना पड़ता है कि यद्यपि दर्पण में मुख प्रतिबिम्बित हो, दर्पण उसे प्रतिबिम्बित करे तथापि जिसमें दर्पण प्रतिबिम्बित होता है, वह भी ज्ञातव्य है।।५९।।

लोके हि दर्पणादौ स्वच्छे वस्तुन्याभिमुख्येनोल्लसन्नाननादिः पदार्थः प्रतिफलनयुक्त्या परिस्फुरतीत्यतिप्रसिद्धोऽयमर्थः। तत्र दर्पणवदनादीनां वास्तवं वपुरत्रैवानन्तरमुपपादयिष्यते। स्थूलया तु दृष्ट्या मुखतयाऽभिमतो भावः प्रतिबिम्बनक्रियामनुभवति। आदर्शात्मकश्च तदाधारतया तत्प्रयोजको भवतीत्यस्तु नामैतत्। यः पुनरयमादर्शः स्वच्छतावशादाननादिप्रतिबिम्बस्थलतयाऽनुभूयते, स एव यस्मिन्नत्यन्तस्वच्छे स्वात्मनि तादृग्रूपतया प्रतिबिम्बति सोऽपि ज्ञातव्यः, यन्मयोऽयमशेषप्रतिबिम्बनप्रागल्भ्योन्मेषः। ज्ञातव्य इति ज्ञानार्हः शक्यज्ञानो वाऽ-

वश्यं ज्ञेय इति वा प्रैषातिसर्गादिर्वा विनेयजनाभिमुखीकाराय बहुप्रकारः कृत्य-प्रत्ययार्थोऽनुसन्धेयः। प्रतिबिम्बत्वित्यादौ कामचारकरणात्मन्यामन्त्रणे लोट्। हन्तेत्यनेन बिम्बप्रतिबिम्बस्वभावावबोधवन्ध्यानन्यसैद्धान्तिकान् प्रत्यनुकम्पा द्योत्यते। तेन च सर्वोऽयमादर्शाननाद्युपलक्षितः स्तम्भकुम्भादिर्वेद्यविस्तारो मालिन्यकक्ष्यानुप्रवेशितान्यपदार्थवैमल्ये स्वच्छत्वोत्कर्षशालिनि स्वस्वभावाविभिन्न-परमेश्वरात्मके महति मुकुरमण्डले तन्मयत्वपर्यायया प्रतिबिम्बनयुक्त्या परि-स्फुरतीति तात्पर्यार्थः। उपलक्षणं चैतत्। तेन—

शब्दो नभसि चानन्दस्पर्शधामनि सुन्दरः।
स्पर्शोऽन्योऽपि दृढाघातशूलशीतादिकोद्भवः।
परस्थः प्रतिबिम्बत्वात् स्वदेहोद्धूननाकरः।
एवं घ्राणान्तरे गन्धो रसो दन्तोदके स्फुटः।।

इति श्रीतन्त्रालोकस्थित्या वियति प्रतिश्रुत्कात्मा शब्दः, अङ्गनानुस्मृत्यादावाधारचक्रे प्रत्यासन्नकर्कशस्पर्शानुसन्धानात् सौकुमार्यशालिनां शरीरेषु स्पर्शः, अन्यजनास्वाद्यमानतिन्तिण्याद्यनुसन्धानाद् दन्तोदके रसः, चन्दनादिधूपनावस्थायां घ्राणान्तराले गन्धः, स्मरणोत्प्रेक्षादावात्ममनस्यन्यजनानुभूयमानस्वभावो हर्षशोकाविर्भावश्चेति सार्वत्रिकमेतत् प्रतिबिम्बसम्पत्सौभाग्यम्। एवञ्च बाह्येषु दर्पणादिषु बिम्बसव्यपेक्षः प्रतिबिम्बोपलम्भः। स्वात्मरूपे पुनरेतद्वैपरीत्यम्, अशेषस्यापि विश्ववैचित्र्यस्य प्रतिबिम्बतयाऽनुभूयमानत्वात्। यथा श्रीतन्त्रालोके—

प्रतिबिम्बं च बिम्बेन बाह्यस्थेन समर्प्यते।
तस्यैव प्रतिबिम्बत्वे किं बिम्बमवशिष्यताम्।। इति।

तथा च श्रीचिद्गगनचन्द्रिकायाम्—

वह्निवारिमुकुरादिषु स्फुटं स्वच्छवस्तुषु कुमारि बिम्बता।
मन्त्रिता सह परिच्छदेन यत्तेन बिम्बमनवेक्षितं तव।। इति।

अलौकिकी चेयं प्रतिबिम्बयुक्तिः शाम्भव एवोपाये पर्यवस्यति। यदाहुः—

मत्त एवोदितमिदं मय्येव प्रतिबिम्बितम्।
मदभिन्नं जगच्चेति त्रिधोपायस्तु शाम्भवः।। इति।

यथा श्रीतन्त्रवटधानिकायाम्—

यथादर्शे घटादीनां स्थितिर्मिश्रेतरात्मिका।
मदात्मनि तथाऽमीषां भावानां चित्ररूपिणी।। इति।

एतदेव विश्वप्रतिबिम्बनक्षमत्वं परमेश्वरस्य तदतिशयितं स्वातन्त्र्यमुच्यते

यदन्तर्विद्भिरालोचनीयम्। विश्वस्य च प्रकाशस्वरूपे परमेश्वरे परिस्फुरतः प्रतिबिम्ब-प्रक्रियामेनामन्तरेण नान्या रीतिरौचित्यमनुभवति। नन्वस्ति विवर्तः परिणामादिर्वेति चेत्? न। विवर्तो नाम भ्रान्त्यपरपर्यायमन्यस्यान्यत्रारोपणात्मकं ज्ञानमुच्यते। तथा च विश्वमात्मन्यात्मा वा विश्वस्मिन्नारोप्यत इत्यङ्गीकार्यम्। तत्र प्रथमे पक्षे यथा सर्पे दृष्टं सर्पत्वं रज्ज्वामारोप्यते, एवमन्यत्र कुत्र दृष्टमिति कृत्वा विश्वमात्मन्या-रोप्येत। किञ्च नायं सर्प इतिवन्नेदं विश्वमित्यौत्तरकालिको बाधोऽप्यत्र नानुभूयते। युक्त्या तत्र बाधः प्रसाधयिष्यत इति चेत् ? न। केयं युक्तिर्नाम? तर्को वा प्रमाणं वा स्यात्। नाद्यः, तस्याहार्यमूलतया प्रमाणानुग्राहकत्वव्यतिरेकेण स्वातन्त्र्येणार्थ-प्रसाधकतयाऽनभ्युपगतत्वात्। न द्वितीयः, प्रमाणं च किं प्रत्यक्षमुतागमः, आहो-स्विदनुमानम्। न प्रथमः, प्रत्यक्षेण तद्बाधस्य न केनचिदुपलभ्यमानत्वात्। प्रत्युत विश्वव्यवहारस्यार्थक्रियादिना निर्बाधं प्रवर्त्यमानत्वाच्च। न द्वितीयः, आगमो हि 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म, नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादि। तस्य चायमर्थः— ब्रह्मणस्तावदात्मस्वरूपपरमेश्वराविभिन्नस्य न केनचिदप्याकारेण भेदप्रथौचित्य-मस्ति। इयत्तु चिन्त्यम्—तत्र परिस्फुरतः प्रपञ्चस्य स्थितिः कीदृशीति? अत्रैव-माचक्ष्महे—इह वाग्व्यवहारानुकूलं प्रस्तावादिदन्तयाऽध्यवसीयमाने ब्रह्मणि गगनपवनादिः सर्वोऽयं प्रपञ्चो नाना न भवति। भेदप्रथास्पदं न सम्पद्यते। किं तर्हि, उपपादितया तत्स्वातन्त्र्यमय्या प्रतिबिम्बदृष्ट्या ब्रह्मस्वरूपमेवाविभिन्न-मध्यक्ष्यत इति। अन्यथा 'नेह सत्यमस्ति किञ्चन' इति श्रूयेत, शून्यवादो वा प्रसज्येत। नापि तृतीयः, उक्तेनैवागमेन विगीतं मिथ्या दृश्यत्वात् शुक्तिरजतवदि-त्यादेर्लिङ्गस्य कालातिक्रान्तत्वात्। एवमसिद्ध्याद्यप्यूह्यम्। ग्रन्थगौरवभयात् तु तन्न वितन्यते। अपि च, ब्रह्मण्ययं प्रपञ्चः केन प्रमात्राऽध्यारोप्यते। तेनैव ब्रह्मणेति चेत् तर्ह्यनधिष्ठानभ्रमत्वप्रसङ्गः, तस्यारोपकतया स्वीकृतत्वात्। अंशतोऽस्य तदु-भयार्थनिर्वाहकत्वमिति चेत्? न। तथापि तस्य भ्रान्तिमत्त्वप्रसङ्गात्। अस्तु तर्हि जीवात्मनोऽध्यारोपकत्वं ब्रह्मणश्चाधिष्ठानत्वमिति चेत्? न। भेदवादस्यानभि-मतत्वात्, अंशत आत्माश्रयत्वावश्यम्भावाच्च। ननु काल्पनिको भेदः स्वैरं स्वी-क्रियत इति चेत् ? न। तस्यैव विवर्तशब्देनाभिधातुमुपक्रान्तत्वात्। किञ्च, कीदृशेन सादृश्येन ब्रह्मणि प्रपञ्च आरोप्यते। तदुपेक्षायां च कथं नातिप्रसङ्गः। ब्रह्मप्रपञ्चयोश्च सत्यासत्यादिविभागवशाद् वैसादृश्यमतिप्रसिद्धम्। विश्वस्मिन् ब्रह्मारोप्यत इति तु प(क्षः?क्षोऽ)प्रसिद्धो मर्यादातिक्रान्तत्वाद् ब्रह्मणो मिथ्यात्वप्रसङ्गाच्चात्यन्त-तुच्छतया निश्चेतव्यः। अतश्च वैचित्र्येणोक्तप्रकारप्रतिबिम्बनस्वभावेन वर्तनं विश्वस्य विवर्त इति व्याख्यायां न किञ्चिदनौचित्यम्। यथा श्रीक्रमकेलौ—

तद्विवर्तः स्मृतौ रश्मिपुञ्जश्चक्रेशिपूर्वकः(?)।

इत्यत्र व्याख्यातम्—'विवर्तो विचित्रेण रूपेण वर्तनं न त्वविद्यावशात्, अपि तु स्वातन्त्र्यतः इति। एतेन प्रसिद्धसत्त्वासत्त्वताटस्थ्यशालिन्या संवित्स्वान्त्र्यमय्या महासत्तया विश्वव्यवहारस्य निर्वचनीयत्वनैयत्यादेतद्विपर्ययात्मा तस्यानिर्वचनीयत्वपक्षोऽप्यपहस्तित एव स्यात्। एवं परिणामेऽपि वाच्यम्। परिणामो हि क्षीरादेः पूर्वाकारविनाशाद् दध्यादिरूपतत्सदृशाऽन्याकारपरिग्रहः। तत्रापि किं ब्रह्म विश्वतया परिणमति, उत विश्वं ब्रह्मतयेति प्रष्टव्यम्। नाद्यः, ब्रह्मणः स्वरूपनाशप्रसङ्गात्। न द्वितीयः, विश्वस्य सच्चिदानन्दादिस्वभावत्वापत्तेः। तदभ्युपगमे ब्रह्मणः सकाशाद् विश्वस्य सर्वाकारवैषम्यात्, परिणामवार्तानुपपत्तेश्च। एवं वृक्षत्वशिंशपात्वादिवल्लौकिकस्तादात्म्यपक्षोऽपि प्रतिक्षिप्तोऽवगन्तव्यः। नन्वेवं प्रतिबिम्बवादेऽपि मिथ्यात्वशङ्काया अपरिहार्यत्वम्। तत्र हि स्वच्छेन दर्पणादिद्रव्येण प्रतिहता लोचनमरीचयः परावृत्त्य स्वमात्मानं गृह्णन्तीति प्रसिद्ध्या दर्पणे पुरुष इति प्रतीतिर्भ्रान्तिरित्यवधार्यते। तद् दर्पणे पुरुषो नास्तीत्यौत्तरकालिको बाध एव प्रगल्भत इति चेत् ? न। पारमेश्वरी हि प्रतिबिम्बभङ्गिरलौकिकत्वादनवद्यामेव कक्ष्यामधिरोहति। यदमुष्यामुपन्यस्तया नीत्या बिम्बव्यपेक्षा नोत्पद्यते। तत्संभवे हि बिम्बान्वयव्यतिरेकानुविधायिनी प्रतिबिम्बस्फुरत्तेति मिथ्यात्वशङ्काया अवकाशः स्यात्। किञ्च, लौकिके दर्पणादावपि न मिथ्यात्वानुकूलो बाधोऽस्ति किमुतालौकिक इति ब्रूमः। ननूक्तमेव दर्पणे पुरुषो नास्तीति बाधोऽनूभूयत इति चेत् ? न। दर्पणे यदि पुरुष आरोप्यते, तदा स तत्र नास्तीति बाधोऽपि स्यात्। नैवमनुभव(त?):। तत्र तच्छायामात्रस्यैवोपलम्भः, न तु तद्वतः पुंस इत्यनुभूयमानत्वात्। अतश्च दर्पणे पुरुषोऽस्तीति युक्तिमतां प्रतीत्यभावादेतद्बाधोऽपि नास्तीत्यर्थनि(क ? ष्क)र्षः स्यात्। न चार्थक्रियासद्भावेऽपि मित्यात्वस्यौचित्यम्। दृश्यते हि दर्पणाद्यवलोकिनां दन्तधावनादिरनेकोऽर्थक्रियाप्रकारः। शुक्तिकादीनां तु रजताद्यर्थक्रिया न क्वचिदपि सम्पद्यते। ननु प्रसिद्धसत्यमर्यादातिक्रान्तः खल्वयं प्रतिबिम्बप्रकार इति चेत् ? न, प्रसिद्धाप्रसिद्धमर्यादातिक्रान्तः खल्वित्यपि वक्तुं शक्यत्वात्। ननु तर्हि सत्यासत्यव्यतिरिक्ता तृतीया कोटिरित्यापततीति चेत् ? सत्यम्। तृतीया कोटिर्यदलौकिकमतिमहत् पारमेश्वरस्वातन्त्र्यमित्याक्रन्द्यते। यदानुगुण्येनोक्तं श्रीमत्स्तोत्रावल्याम्—

सदसत्त्वेन भावानां युक्तानां द्वितयी स्थितिः।
तामुल्लङ्घ्य तृतीयस्मै नमश्चित्राय शम्भवे ।। इति।

ननु बिम्बव्यतिरिक्तः प्रतिबिम्बयोगो न क्वचिदप्युपलभ्यत इति चेत्? सत्यम्। किं क्रियताम्। अत एव ह्येतत् पारमेश्वरं स्वातन्त्र्यमित्यसकृदाचक्ष्महे। ननु बिम्बमेवैतदस्त्विति चेत् ? न। तल्लक्षणायोगात्। बिम्बं ह्यन्यसम्मिश्रणशून्यम्,

स्वतन्त्रमेव वस्त्वित्युपलभ्यमानत्वात्। यथा दर्पणानुपश्लिष्टं वदनादीति। यदुक्तं श्रीतन्त्रालोके—

ननु बिम्बस्य विरहे प्रतिबिम्बं कथं भवेत्।
किं कुर्मो दृश्यते तद्धि ननु तद्बिम्बमुच्यताम्।
नैवं तल्लक्षणाभावाद् बिम्बं किल किमुच्यते।
अन्यामिश्रं स्वतन्त्रं सद् भासमानं मुखं यथा।। इति।

नन्वेवं प्रतिबिम्बलक्षणस्याप्ययोग इति चेत्? न। तस्यैवं लक्ष्यमाणत्वात्। यथोक्तं तत्रैव—

अन्यव्यामिश्रणायोगात् तद्भेदाशक्यभासनम्।
प्रतिबिम्बमिति प्राहुर्दर्पणे वदनं यथा।।
बोधमिश्रमिदं बोधाद् भेदे वा शक्यभासनम्।
पुरतत्त्वादिबोधे किं प्रतिबिम्बं न भास्यते।। इति।

ननु सौगतसिद्धान्तसाधिताद् प्रतिबिम्बवादाद् युष्मदुपक्षिप्तस्य किं वैलक्षण्यमिति चेत्? उच्यते—तेषां हि वित्तौ वेद्यमेव प्रतिबिम्बति, न पुनर्वित्तिर्वेद्ये। अस्माकं तु 'सौगतस्यापि संविदि संवेद्यं प्रतिबिम्बमर्पयति, न तु संवेद्ये संवित्' इति श्रीप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनीस्थित्या वित्तौ वेद्यमिव वेद्ये च वित्तिः प्रतिबिम्बमुत्पादयति। यदेतदुभयमपि वेदितुः परमेश्वरस्य स्फुरणप्रकार इति स्वच्छत्वोत्कर्षं प्रति न किञ्चिद् वैषम्यमनुभवति। यद् वक्ष्यति—'अविआरोहअपासे' इत्यादौ। ततश्च यदुभयत्र प्रतिबिम्बति (य?त)द्विश्ववैचित्र्यमित्याख्यायते। यदुक्तं मयैव संविदुल्लासे—

आदर्शयोरिवान्योन्यं लम्भितप्रतिबिम्बयोः।
शिवशक्त्योरनन्ताः स्फुरन्तरन्तः प्रसक्तयः।। इति।

तत्रापि—

बोध्यमिश्रमिदं बोध्याद् भेदे वा शक्यभासनम्।
ज्ञानस्मृत्यादि बोध्ये किं प्रतिबिम्बं न भण्यते।।

इति समान एव न्यायः। तत्र च वेत्तरि वित्त्यात्मनि वेद्यस्य प्रतिबिम्बनम्, वेद्यात्मनि तु वित्तेरिति। सर्वथा तस्यैवं स्वातन्त्र्यसंरम्भाधीनो विश्वविक्षोभः। एवं सांख्यादिप्रतिबिम्बवादवैलक्षण्यमप्यूह्यमिति विवर्तादिव्यतिरेकेणास्मदुपक्षिप्तः प्रतिबिम्बपक्ष एव प्रौढमाढौकते। यदाहुः—

अतः प्रपञ्चस्य मृषात्ववादी कार्यत्ववादी प्रतिभेदवादी।
असत्यवादी च परेश! शम्भो! तव स्थितिं नेषदपि स्पृशन्ति।। इति।

प्रतिबिम्बत्वित्यनेनैतदासूत्र्यते यद् दर्पण इव वदनादि किं स्वात्मनि विश्वं प्रतिफलतीति दृष्टान्तदृष्ट्या विप्रतिपन्नो जनः प्रतिसमाधीयत इति। स्थूलोपदेशावधीरणेन—

स्वस्यैव स्फुरणं मुख्यं विश्वस्मिन्नधिरोप्यते ।
ननु नौकाधिरूढस्य चलतीवापगातटम् ।।

इति स्थित्या स्वात्मनि निष्ठं विश्वप्रतिबिम्बनक्रियावैदग्ध्यं मुख्यं स्फटिकमुकुरादावल्पनैर्मल्येऽपि वस्तुनि सादृश्येनोपचर्यते। अन्यथा हंस(नि?ति हिम)कर इत्यादिसाधारणस्योपमानार्थस्य क्विप्रत्ययस्य वैयर्थ्यप्रसङ्ग इति। यद्यपि प्रतिबिम्बतीत्याद्यौपम्यव्यतिरेकेणाप्यभियुक्ताः प्रयुञ्जते, तथापि तत्सौशब्द्यनिष्कर्षावस्थायामुक्तार्थावश्यम्भावः।

इति गुरुपदपरिचर्यातात्पर्यधनो महेश्वरानन्दः ।
प्रतिबिम्बवादसम्पत्सौभाग्यं स्वहृदयार्थमाचख्यौ ।।

अथ च सर्वोऽयमुपायप्रपञ्चस्तत्तत्परामर्शकक्ष्याविशेषारुरुक्षुजनापेक्षया पर्यालोचितः। पार्यन्तिक्यां पुनरारूढजनाधिरूढायां स्वस्वभावैकपारिशेष्यलक्षणायामवस्थायामुपायत्वमेव पर्यवस्यति। तद्व्यतिरेके पुनरुपायस्फुरत्ताया एवासंभवात्। यदुक्तं श्रीतन्त्रालोके—

यावानुपायो बाह्यः स्यादान्तरो वापि कश्चन ।
स सर्वस्तन्मुखप्रेक्षी तत्रोपायत्वभाक् कथम् ।। इति।

श्रीतन्त्रवटधानिकायाञ्च—

उपयैर्न शिवो भाति भान्त्यमी तत्प्रसादतः ।
स एवाह स्वप्रकाशो भासे विश्वस्वरूपकः ।। इति।

हन्त = दुःख की बात है। सखेद कहना पड़ता है कि व्यवहार-जगत् (लोक) में दर्पण आदि स्वच्छ वस्तु में वस्तु का आभिमुख्य होने पर उसके प्रतिफलन के रूप में उस वस्तु का प्रतिबिम्ब दृष्टिगत होता है।

आदर्श = दर्पण। दर्पण अत्यन्त स्वच्छता के कारण मुख आदि को प्रतिबिम्बित करता है, उसी प्रकार अत्यन्त स्वच्छ आत्मा में परमात्मा का भी प्रतिबिम्बन होना चाहिये। उसमें तो अशेष प्रतिबिम्बन प्रागल्भ्य की क्षमता है।[1] परमेश्वररूप अत्यन्त स्वच्छ एवं महान् दर्पण में सारा जगत् प्रतिबिम्बित है।

हन्त = दुःख की बात है। यह कथन अन्य सैद्धान्तिकों के प्रति अनुकम्पा या

१. महेश्वरानन्द (महार्थमञ्जरी)

दया दिखाने के लिये प्रयुक्त किया गया है। अन्य दार्शनिक जगत् एवं परमात्मा में बिम्बप्रतिबिम्बवाद के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं; किन्तु शैव (त्रिकदार्शनिक) आभास-वाद एवं स्वातन्त्र्यवाद का सिद्धान्त मानते हैं। यहाँ (क) मुकुर, (ख) बिम्ब, (ग) प्रतिबिम्ब पृथक्-पृथक् है नहीं।

तन्त्रालोककार की दृष्टि—उक्त प्रसंग को आगे बढ़ाते हुये अभिनवगुप्त तन्त्रा-लोक में कहते हैं—

शब्दो नभसि चानन्दस्पर्शधामनि सुन्दरः।
स्पर्शोऽन्योऽपि दृढ़ाघातशूलशीतादिकोद्भवः।।
परस्थः प्रतिबिम्बत्वात् स्वदेहोद्धूननाकरः।
एवं घ्राणान्तरे गन्धो रसो दन्तोदके स्फुटे।।

आकाश में शब्द, जल में रस, पृथ्वी एवं नासिका में गन्ध, वायु एवं त्व-गन्धोन्द्रिय में स्पर्श, अग्नि एवं चक्षुरिन्द्रिय में रूप की अनुभूति होती है। यहाँ भी बिम्ब-प्रतिबिम्ब की स्थिति है।

बाह्य पदार्थों के धरातल पर तो बिम्ब एवं प्रतिबिम्ब परस्पराश्रित पृथक्-पृथक् पदार्थ हैं। सूर्य (बिम्ब), जल = दर्पण स्थानीय प्रतिबिम्बग्राही आधार, प्रतिबिम्ब = सूर्यरूप बिम्ब का प्रतिफलन। द्रष्टा = प्रतिबिम्ब द्रष्टा प्रमाता। ये सभी पृथक् सत्तायें हैं; किन्तु आध्यात्मिक जगत् में ये पृथक्-पृथक् नहीं हैं। यहाँ वैपरीत्य है—बाह्येषु दर्पणादिषु बिम्बसव्यपेक्षः प्रतिबिम्बोपलम्भः। स्वात्मरूपे पुनरेतद्वैपरीत्यम्। आचार्य अभिनवगुप्तपाद कहते हैं—

प्रतिबिम्बं च बिम्बेन बाह्यस्थेन समर्प्य ते।
तस्यैव प्रतिबिम्बत्वे किं बिम्बमवशिष्यताम्।।

श्रीचिद्गगनचन्द्रिकाकार का कथन है कि—

वह्निवारिमुकुरादिषु स्फुटं स्वच्छवस्तुषु कुमारि बिम्बता।
मन्त्रिता सह परिच्छदेन यत् तेन बिम्बमनवेक्षितं तव।।

यह प्रतिबिम्ब युक्ति अलौकिकी है और यह शांभव उपाय में पर्यवसित होती है। शास्त्रों में यह भी कहा गया है—

मत्त एवोदितमिदं मय्येव प्रतिबिम्बितम्।
मदभिन्नं जगच्चेति त्रिधोपायस्तु शाम्भवः।।

श्रीतन्त्रवटधानिकाकार की दृष्टि—तन्त्रवटधानिका में कहा गया है—

यथादर्शे घटादीनां स्थितिर्मिश्रेतरात्मिका।
मदात्मनि तथाऽमीषां भावानां चित्ररूपिणी।।

आदर्श तो परिमित प्रतिबिम्बन करता है; किन्तु परमेश्वर में स्वातन्त्र्य शक्ति के कारण अनन्त विश्वप्रतिबिम्बनक्षमत्व है। प्रकाशस्वरूप परमात्मा में विश्व का परिस्फुरण लौकिक बिम्ब-प्रतिबिम्बन नहीं है। क्या यह विवर्त है या परिणाम?

विवर्त क्या है? 'विवर्तो' नाम भ्रान्त्यपरपर्यायमन्यस्यान्यत्रारोपणात्मकं ज्ञानमुच्यते' अर्थात् विवर्त एक भ्रान्ति है। अन्य में अन्य का आरोप होने से जो ज्ञानोदय होता है, उस ज्ञान की आख्या ही है—विवर्त। विश्वात्मा में आत्मा का, विश्व का आत्मा में या आत्मा का विश्व में आरोप विवर्त ही है; यथा—जल में तरंग या जल में आवर्त-बुद्बुद, रज्जु में सर्प का आरोप भी विवर्त है। इसी प्रकार विश्व का आत्मा में आरोप किया जाता है।

आगम की दृष्टि—आगमों में कहा गया है कि—एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म, नेहना-नास्ति किञ्चन' अत: आत्मा, विश्व एवं परमात्मा में भेद-प्रथा अनुपपन्न है। महेश्वरानन्द पूछते हैं—ब्रह्म में यह प्रपञ्च किस प्रमाता के द्वारा आरोपित किया गया है?

महेश्वरानन्द शाङ्कर विवर्तवाद को तो स्वीकार नहीं करते और न तो परिणामवाद को ही स्वीकार करते हैं; किन्तु विवर्तवाद को उसकी इस व्याख्या के आधार पर अवश्य स्वीकार कर लेते हैं कि—वैचित्र्येणोक्तप्रकारप्रतिबिम्बनस्वभावेन वर्तनं विश्वस्य विवर्त इति व्याख्यायां न किञ्चिदनौचित्यम्। अत: 'विवर्तो विचित्रेण रूपेण वर्तनं न त्वविद्या-वशात् अपितु स्वातन्त्र्यत:।'

यहाँ वर्तन का कारण अविद्या नहीं है; प्रत्युत स्वेच्छागृहीत आत्मगोपनात्मक स्वरूप है, जो कि स्वातन्त्र्य शक्ति के कारण आविर्भूत हुआ करता है।

ताटस्थ्यशालिनी स्वातन्त्र्य शक्ति (संवित् स्वातन्त्र्य शक्ति) या महासत्ता के द्वारा विश्व व्यवहार के प्रयोजन से एक बहुत हो जाता है; किन्तु इस बहुत्व में भी अनेकता नहीं; (तत्त्वत:) एकता अनुस्यूत है।

जहाँ तक परिणाम की बात है, वह ऐसा परवर्ती परिवर्तन या रूपान्तरण है, जो अपनी पूर्वावस्था में कभी लौट नहीं सकता; यथा—दूध से बना दही। इसमें प्रथम रूप नष्ट हो जाता है और नये पदार्थ का आविर्भाव होता है; किन्तु शैवागम में इस दृष्टि को भी स्वीकार नहीं किया गया है।[१] क्या ब्रह्म विश्व के रूप में परिणत हो गया है या कि विश्व ब्रह्म के रूप में? प्रथम तर्क तो ठीक नहीं है; क्योंकि इससे तो ब्रह्म का स्वरूप ही नष्ट हो जाएगा। द्वितीय तर्क भी ठीक नहीं है; क्योंकि विश्व में सच्चिदानन्दत्व का स्वभाव नहीं है। अत: शैवागम को विवर्तवाद, परिणामवाद, आरम्भवाद, प्रतिबिम्बवाद आदि कोई सिद्धान्त स्वीकार नहीं है। प्रतिबिम्बवाद में मिथ्यात्वशंका की आपत्ति आती है। स्वच्छ दर्पणादि द्रव्य के द्वारा प्रतिहत लोचन-रश्मियाँ परावृत्त होकर अपने को ग्रहण

१. परिमल

करती हैं; अतः दर्पण में पुरुष की प्रतीति हो रही है—यह कथन भी अनुपपन्न है।

याथार्थ्य क्या है? याथार्थ्य इस प्रकार है—'पारमेश्वरी प्रतिबिम्बभङ्गिरलौकिकत्वादनवद्यामेव कक्ष्यामधिरोहति।' यहाँ पृथक् रूप से बिम्बापेक्षा भी नहीं है। श्रीतन्त्रालोककार प्रश्न उठाते हैं कि—

ननु बिम्बस्य विरहे प्रतिबिम्बं कथं भवेत्?
किं कूर्मो दृश्यते तद्धि ननु तद्बिम्बमुच्यताम्।।
नैवं तल्लक्षणाभावाद् बिम्बं किल किमुच्यते।
अन्यामिश्रं स्वतन्त्रं सद् भासमानं मुखं यथा।।

प्रतिबिम्बवाद उपयुक्त सिद्धान्त नहीं है—

अन्यव्यामिश्रणायोगात् तद्भेदाशक्यभासनम्।
प्रतिबिम्बमिति प्राहुर्दर्पणे वदनं यथा।।
बोधमिश्रमिदं बोधाद् भेदे वा शक्यभासनम्।
पुरतत्त्वादिबोधे किं प्रतिबिम्बं न भास्यते।।

सौगत सिद्धान्त भी प्रतिबिम्बवाद मानता है; किन्तु आगमिक शैव उसे भी स्वीकार नहीं करते।

सौगत प्रतिबिम्बवाद का खण्डन—अभिनवगुप्तपादाचार्य द्वारा श्रीप्रत्यभिज्ञाविवृत्तिविमर्शिनी में कहा गया है—

१. वित्तौ वेद्यमेव प्रतिबिम्बति न पुनर्वित्तिर्वेद्ये।
२. अस्माकं तु सौगतस्यापि संविदि संवेद्यं प्रतिबिम्बमर्पयति न तु संवेद्ये संवित्।
३. वित्तौ वेद्यमिव वेद्ये च वित्तिः प्रतिबिम्बमुत्पादयति। उभयमपि वेदितुः परमेश्वरस्य स्फुरणप्रकार इति स्वच्छत्वोत्कर्षं प्रति न किञ्चिद् वैषम्यमनुभवति।

संविदुल्लासकार की दृष्टि—अभिनवगुप्त कहते हैं कि—

आदर्शयोरिवान्योन्यं लम्भितप्रतिबिम्बयोः।
शिवशक्त्योरनन्ताः स्युरन्तरन्तः प्रसक्तयः।।

वहीं यह भी ध्यातव्य है—

बोध्यमिश्रमिदं बोध्याद् भेदे वा शक्यभासनम्।
ज्ञानस्मृत्यादि बोध्ये किं प्रतिबिम्बं न भण्यते।।

विवर्तवाद एवं परिणामवाद की अपेक्षा तो प्रतिबिम्बवाद ही शैवमतानुकूल है; किन्तु आभासवाद एवं स्वातन्त्र्यवाद की तुलना में परवर्ती सिद्धान्त एवं परवर्ती सिद्धान्तों में भी स्वातन्त्र्यवाद ही शैवागमानुकूल (त्रिकाद्वैतानुकूल) है।

स्वातन्त्र्यवाद

आचार्य उत्पलदेव अजडप्रमातृसिद्धि के श्लोक—

एवमात्मन्यसत्कल्पाः प्रकाशस्यैव सन्त्यमी।
जडाः प्रकाश एवास्ति स्वात्मनः स्वपरात्मभिः।। (१३)

की व्याख्या करते हुये कहते हैं—इत्थं जडभावानां संविद्विश्रान्तिं विना सत्कल्पत्वात् स्वात्मन्यसत्स्वभावानां ज्ञातुः प्रकाशस्वभावस्य सम्बन्धितयैव सत्त्वं, तस्मात्संवित्प्रकाश एव स्वात्मोच्छलत्तया स्वमायाशक्त्युल्लासिते विश्ववैचित्र्ये जडाजडभावराशिद्वयेन वेद्य-वेदकात्मकेन स्वरूपानतिरिक्तेनातिरिक्तेनेव प्रस्फुरेत् इति स्वातन्त्र्यवादस्य प्रोन्मीलनं सूचि-तवानाचार्यः।

यह भी कहा गया है कि मृषात्ववादी, कार्यत्ववादी, प्रतिभेदवादी एवं असत्यवादी में से कोई भी शिव की यथार्थ स्थिति को नहीं जानता—

अतः प्रपञ्चस्य मृषात्ववादी कार्यत्ववादी प्रतिभेदवादी।
असत्यवादी च परेश! शम्भो! तव स्थितिं नेषदपि स्पृशन्ति।।

यह भी ध्यातव्य है कि—

स्वस्यैव स्फुरणं मुख्यं विश्वस्मिन्नधिरोप्यते।
ननु नौकाधिरूढस्य चलतीवापगातटम्।।

महेश्वरानन्द का कथन है कि—

इति गुरुपदपरिचर्यातात्पर्यधनो महेश्वरानन्दः।
प्रतिबिम्बवादसम्पत्सौभाग्यं स्वहृदयार्थमाचख्यौ।।

तन्त्रालोककार की दृष्टि—अभिनवगुप्तपाद कहते हैं कि उपायों की रस्सी से उपेय को नापना सम्भव नहीं है; क्योंकि—

यावानुपायो बाह्यः स्यादान्तरो वापि कश्चन।
स सर्वस्तन्मुखप्रेक्षी तत्रोपायत्वभाक् कथम्।।

तन्त्रवटधानिकाकार की दृष्टि—तन्त्रवटधानिका में स्पष्टतः कहा गया है कि शिव उपायों से कभी प्रकाशित नहीं होते। वे स्वप्रकाश हैं और अपने भास में विश्व-प्रकाशक और विश्वस्वरूप हैं—

उपायैर्न शिवो भाति भान्त्यमी तत्प्रसादतः।
स एवाहं स्वप्रकाशे भासे विश्वस्वरूपकः।।

स्वातन्त्र्यवाद का स्वरूप—अद्वैतवाद के अनेक रूप हैं, उसमें अद्वैतवादी शैवागम (त्रिकमत का साहित्य) द्वयात्मक अद्वयवाद 'शिवाद्वयवाद' मानता है।

स्वातन्त्र्य क्या है? कर्तुं, अकर्तुं एवं अन्यथाकर्तुं की सामर्थ्य वाली अघटन-घटनापटीयसी शैवी पराशक्ति का नाम ही है—स्वातन्त्र्य। स्वातन्त्र्य शिव की स्व-समवेता शक्ति है। यह शिव की समवायिनी, नित्या, अन्तरङ्गा, शिवाभिन्ना शक्ति है। इसका अपर पर्याय है—आनन्द। अतिदुर्घटकारित्व परमात्मा का ऐश्वर्य है। ऐश्वर्य को उत्पलदेव ने स्वातन्त्र्य शक्ति का पर्याय स्वीकार किया है।[१]

परमेश्वर अपने स्वातन्त्र्य या ऐश्वर्य से अनन्त रूपों में स्फुरित होता हुआ भी स्व-रूपतः अखण्ड एवं पूर्ण रहता है। परमात्मा की इच्छा का अनभिहत प्रसार ही उसका स्वातन्त्र्य है—

(क) स्वातन्त्र्यं च नाम यथेच्छं तत्रेच्छाप्रसरस्य अविघातः।[२]

(ख) एतदेव स्वातन्त्र्यं यदतिदुर्घटकारित्वम्।

शास्त्रों में जिसे परमेश्वर का ऐश्वर्य या स्वातन्त्र्य कहा जाता है, वही नित्योदित परा वाक् है। इसे ही तत्त्वमनीषियों ने 'विमर्शात्मा चिति' भी कहा है। यह शब्दतत्त्व सृष्टि के प्रसार की आदि कोटि है और सृष्टि-सङ्कोच की अवस्था में यह चरम कोटि है। शिव प्रकाशात्मा चिति है। 'चैतन्यमात्मा' (शिवसूत्र-१.१) कहकर वसुगुप्त ने आत्मा या संवित्तत्व को चैतन्य माना है। शिव और चिति (शक्ति) अविनाभूत हैं।

शिव की अवस्थायें

१. अविभक्त या अन्तर्लीन—विमर्शात्मक संवित् स्वभाव एवं निष्कल शिव को परमशिव कहते हैं।

(निष्कल = कलारहिता। क्या शिव शक्तिरहित भी रहता है? नहीं। शक्ति (कला) जब शिव में लीन रहती है तब शिव को निष्कल कहते हैं। इस समय कला कोई कार्य नहीं करती।)

चिद्रूपाह्लादपरमो निर्विभागः परस्तदा (शिवदृष्टि-१.४)

सृष्टि-सङ्कोच की अवस्था। निष्कल दशा।

२. नित्योदित परावाक् की अवस्था—विमर्शात्मा चिति की अवस्था। आदि कोटि प्रकाश-विमर्शात्मक संवित्स्वभाव भगवान् परमशिव अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति से रुद्र आदि प्रमाताओं एवं अन्य नीलसुख आदि प्रमेयों के रूप में प्रकट होते हैं।
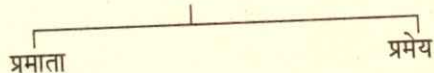
प्रकाश-विमर्शात्मक संवित्स्वभाव भगवान् परमशिव अपने स्वातन्त्र्य से रुद्र-

१. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका २. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी वि. (१.१)

प्रमाताओं एवं नीलसुखादि प्रमेयों के रूप में प्रकाशित होते हैं। इस स्थिति में भी स्वरूप का तात्त्विक आच्छादन तो नहीं हो पाता, किन्तु जागतिक धरातल पर स्वेच्छागृहीत स्वरूपाच्छादन तो होता ही है। स्वरूपाच्छादित होकर भी परमशिव तत्त्वत: अनाच्छादित ही रहता है; यथा—बादलों से ढका सूर्य।

अभिनवगुप्तपाद की दृष्टि—अभिनवगुप्तपाद स्वातन्त्र्यवाद पर प्रकाश डालते हुये कहते हैं—तस्मादनपह्नवनीय: प्रकाशविमर्शात्मा संवित्स्वभाव: परमशिवो भगवान् स्वातन्त्र्यादेव रुद्रादिस्थावरान्तप्रमातृरूपतया नीलसुखादिप्रमेयरूपतया च अनति-रिक्तयापि अतिरिक्तयेव स्वरूपानाच्छादिकया संवित् स्वरूपनान्तरीयकस्वातन्त्र्यमहिम्ना प्रकाशते इत्ययं स्वातन्त्र्यवाद: प्रोन्मीलित:।[१]

स्वातन्त्र्यवाद का सिद्धान्तत: क्या अर्थ है? स्वातन्त्र्य परमशिव की शक्ति का नाम है। परमशिव बिना किसी भी उपायान्तर, उपादानान्तर, निमित्तान्तर एवं परापेक्षा के ही अपनी कर्तुं-अकर्तुं-अन्यथाकर्तुं शक्ति (स्वातन्त्र्य शक्ति) के द्वारा सृष्टि के सारे कार्य—सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोधान एवं अनुग्रह आदि समस्त व्यापार स्वभावत: निष्पन्न कर लेता है और समस्त जगत् एवं जगत् की समस्त सत्तायें शिव की इसी स्वातन्त्र्य शक्ति का विजृम्भणमात्र हैं अर्थात् सब कुछ स्वातन्त्र्य शक्तिमात्र ही है—यही सिद्धान्त स्वातन्त्र्यवाद है। यही अनतिरिक्त को अतिरिक्तवत् प्रकाशित करती है, यही अखण्ड को खण्डितवत् प्रसृत करती है; यही स्वाभिन्न को भिन्नवत् प्रकाशित करती है तथा एक को अनेक के रूप में अभिव्यक्त करती है। इस शक्ति के अनेक नाम हैं; यथा—

> चिति: प्रत्यवमर्शात्मा परावाक् स्वरसोदिता।
> स्वातन्त्र्यमेतन्मुख्यं तदैश्वर्यं परमात्मन:।।
> सा स्फुरत्ता महासत्ता देशकालाविशेषिणी।
> सैषा सारतया प्रोक्ता हृदयं परमेष्ठिन:।।[२]

यही स्वातन्त्र्य शक्ति अपृथक् को पृथग्वत्, अखण्डित को खण्डितवत् करने का अवभास आविर्भूत करती है—

> आत्मानमत एवायं ज्ञेयीकुर्यात्पृथक्स्थिति।
> ज्ञेयं न तु तदौन्मुख्यात् खण्ड्येतास्य स्वतन्त्रता।।
> मायाशक्त्या विभो: सैव भिन्नसंवेद्यगोचरा।
> कथिता ज्ञानसङ्कल्पाध्यवसायादिनामभि:।।[३]

योगियों की भाँति परमशिव भी बिना किसी बाह्योपादानों के जो सृष्टि करता है—

---

१. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी

२. प्रत्यभिज्ञाकारिका (उत्पलदेव)

३. प्रत्यभिज्ञाकारिका (१.४९)

अपने भीतर स्थित सत्ता का बाह्य प्रकाशन करता है—

चिदात्मैव हि देवोऽन्तः स्थितमिच्छावशाद्बहिः।
योगीव निरुपादानमर्थजातं प्रकाशयेत्।।[१]

वह भी इसी स्वातन्त्र्य शक्ति के कारण करता है; किन्तु शिव एवं उसकी शक्ति चन्द्र-चन्द्रिकयोरिव परस्पर अभिन्न हैं।

आभासवाद—आभासवाद का स्वरूप क्या है? क्या है आभास? सङ्कुचित रूप से प्रकाशन ही आभास है—'आभासनं आ ईषत् सङ्कोचेन भासनं प्रकाशना'।[२] आचार्य अभिनवगुप्त कहते हैं कि प्रतिबिम्ब भी एक आभास ही है—भासनसारतैव हि प्रतिबिम्बता। इह अवभासनसारमेव प्रतिबिम्बतत्त्वम्।

आभास का द्विपक्षात्मक स्वरूप—

१. विमर्शात्मक प्रकाशपुरुष का अपूर्ण (सङ्कुचित) आत्मप्रकाशन ही आभास है।

२. विमर्शात्मक प्रकाशपुरुषरूपी दर्पण में अनतिरिक्त होते हुये भी अतिरिक्त के समान जड़-चेतनात्मक समस्त जगत् का प्रतिबिम्बन आभास है।

प्रतिबिम्बवाद—जगत् परमशिव एवं उसकी शक्ति का प्रतिबिम्बमात्र है। इसके लिये दर्पणविधि को उदाहरण के रूप में स्वीकार किया गया है। प्रतिबिम्बवादी दृष्टि का लक्ष्य है—भेददृष्टि का उन्मूलन। द्वैतप्रथात्मक ज्ञान मिथ्या है; क्योंकि द्वैत किसी एकमेवाद्वितीयम् स्वरूप वाले अद्वैत का आभासमात्र ही है; शेष कुछ भी नहीं है। यही आभास प्रतिबिम्ब है; किन्तु उसकी तात्त्विक सत्ता नहीं है; क्योंकि—

न देशो नो रूपं न च समययोगो न परिमा
न चान्योन्यासङ्गो न च तदपहानिर्न घनता।
न चावस्तुत्वं स्यान्नं च किमपि सारं निजमिति
ध्रुवं मोहः शाम्येदिति निरदिशद्दर्पणविधिः।।[३]

दर्पण से पृथक् प्रतिबिम्ब की कोई अपनी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। दर्पण से पृथक् उसका कोई देश भी नहीं है। प्रतिबिम्ब कोई कठिन मूर्ति भी नहीं है, अन्यथा उसका कोई स्वतन्त्र देश होता। प्रतिबिम्ब में कोई घनता भी नहीं है। इसका काल से कोई सम्बन्ध भी नहीं है। इसमें कालयोग का अभाव है। इसमें घनताभाव के कारण ही परिमाण भी नहीं है। इसमें अन्योन्यासङ्ग भी नहीं है। इसे वस्तु या अवस्तु भी नहीं कह सकते।

प्रतिबिम्ब के लिये इससे पृथक् किसी बिम्ब की आवश्यकता होती है; किन्तु यहाँ

१. प्र. का. (१.३८)

२. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी

३. तन्त्रालोक

महाचिति—

१. चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतुः।

२. स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति (शक्तिसूत्र-(१.२)

उन्मीलनं च अवस्थितस्यैव प्रकटीकरणम्। इत्यनेन जगतः प्रकाशैकात्म्येन अवस्थानम्।[1]

शक्ति आत्मभित्ति पर विश्व को प्रतिबिम्बित करती है—स्वयं ही दर्पण है, स्वयं ही बिम्ब है और स्वयं ही प्रतिबिम्ब है; यथा—स्वप्न में राजा, मन्त्री, सेना, जङ्गल, युद्ध, विरोधी सेना, जय, पराजय आदि की स्वप्निल कथा की प्रत्येक वस्तु स्वयं आत्मा ही होती है।

अभिनवगुप्ताचार्य की दृष्टि—आचार्य अभिनवगुप्त कहते हैं—

अन्तर्विभाति सकलं जगदात्मनीह यद्वद्विचित्ररचना मुकुरान्तराले।
बोधः पुनर्निजविमर्शनसारवृत्त्या विश्वं परामृशति नो मुकुरस्तथा तु।।

भास्करी में मन में उल्लेखन को ही अवभासन कहा गया है—उल्लेखनं मनसि कल्पनम्। अवभासनं विकल्पघनीभावेन स्फुटीकरणम्।

परमशिव स्वस्थ जगत् को अवभासित या उन्मीलित करता है। सारे चेतन एवं जड़ पदार्थ मात्र अवभास हैं। अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति (या प्रतिभा) से शिव अनन्त ग्राह्य एवं ग्राहकों के रूप में अवभासित होते हैं—तन्नाना अनुरूपग्राह्यग्राहकभेदात्।[2]

विश्व, अवभास एवं भैरवसंवित्—विश्व एवं अवभास भैरव संवित् के ही रूपान्तर हैं; क्योंकि—इदं .... विश्वं एकस्यां वा परस्यां भैरवसंविदि अविभागेन बोधात्मकेन रूपेणास्ते।

अभिनवगुप्त की दृष्टि—अभिनवगुप्त कहते हैं—

यस्यामन्तर्विश्वमेतद्विभाति बाह्याभासं भासमानं विसृष्टौ।
क्षोभे क्षीणेऽनुत्तरायां स्थितौ तां वन्दे देवीं स्वात्मसंवित्तिमेकाम्।।

क्षोभदशा सृष्टि की अवस्था है। इसके भीतर बाह्य आभासरूप विश्व आभासित होता है; किन्तु क्षोभ के क्षीण होने पर अनुत्तरात्मक स्थिति में वह अखण्ड स्वात्मसंवित्तिस्वरूप में पुनः विलीन होकर वही हो जाता है। यथार्थ तो यही है कि—विश्वरूपो महेश्वरः।[3]

---

१. प्रत्यभिज्ञाहृदयम् (क्षेमराज)

२. शक्तिसूत्र (३)

३. प्रत्यभिज्ञाकारिका (१.२३)

माया शक्ति के द्वारा अखण्ड में खण्डितवत् जगत् आभासित होता है—तन्नि-मित्तादेव यस्मादख्यातिमयमेतद्विश्वं भासते।[१] परमेश्वर की इच्छा के कारण ही भासन क्रिया होती है—इच्छया भासयेद्बहिः।[२]

योगी की अन्तर्मुखता

अथेत्थमुपदिष्टोपायप्रपञ्चप्रतिलब्धात्मस्वरूपपरामर्शमांसलोल्लासानां योगिनामतिशयमाख्यास्यन्नादावेषामन्तर्बहिःस्वभावदशविच्छेदव्युदासनिर्यन्त्रणं नैश्चिन्त्यं निश्चेतुमाह—

अविआरोहअपासे चासअवेहुणसरिश्शए अत्थे।
अन्तोहुत्तो जोई बाहिरहुत्तो ति कप्पणा कत्तो ॥६०॥

(अविकारोभयपार्श्वे चाषपिञ्छसदृक्षेऽर्थे।
अन्तर्मुखो योगी बहिर्मुख इति कल्पना कुतः॥)

नीलकण्ठ के पीले नेत्रों के सदृश दोनों पार्श्वों में अविकृत रूप से स्थित परम-तत्त्व में अन्तर्मुख होकर योगी बहिर्मुख हो जाय—इस बात की कल्पना भी नहीं की जा सकती॥६०॥

अर्थ्यते सर्वैः प्राप्यत इत्यर्थः। स्वात्मरूपं किञ्चिदलौकिकं तत्त्वम्। तत् खलु मयूरपिच्छवैलक्षण्येन चाषबर्हवद् द्वयोरपि भागयोगैकरूपतयाऽवधार्यते। चाष-मयूरपक्षप्रक्रिया तु लोकप्रसिद्धा।

उक्तरूपस्य चार्थस्यैतदेव पार्श्वद्वयं यदहन्तेदन्तयोरौचित्यादन्तर्बहिर्भावेनास्य द्विधाऽवभासमानत्वम्। तद्व्यतिरिक्ता च नान्या देशस्फुरत्ताऽस्ति, पौरस्त्य-पाश्चात्त्यरूपाया अप्यस्या एतदन्तर्भावेनोपलभ्यमानत्वात्। तयोश्च पार्श्वयोः स्थूल-दृष्ट्यवष्टम्भोपकल्पितो यो विकारो वेद्यवेत्तृत्वादिव्यवस्थानिबन्धनो वैषम्यानुभवः, स वस्तुवृत्त्यालोचनायामनौचित्यसरणिमनुसरतीत्यविकारत्वम्। न खल्वहन्ते-दन्तयोरुभयोरपि संवित्स्वातन्त्र्यपरिस्पन्दव्यतिरेकेणान्या काचिदनुप्राणनप्रक्रिया-स्ति, यदेवं विक्रिया संभाव्येत। अर्थ इत्यत्र कर्तरि ज्ञातरीत्यादिवत् सप्तमी सिद्धस्वभावतां द्योतयति।

तदर्थमस्मिन्नर्थेऽवस्थिते—

ग्राह्यग्राहकसंवित्तिः सामान्या सर्वदेहिनाम्।
योगिनां तु विशेषोऽयं सम्बन्धे सावधानता॥

---

१. अजडप्रमातृसिद्धिवृत्ति (उत्पलाचार्य)

२. प्रत्यभिज्ञाकारिका (१.५९)

इति श्रीविज्ञानभट्टारकस्थित्या वेद्यवेदितृसम्बन्धपरामर्शस्वभावं योगमात्मानुप्राणनत्वेनाङ्गीकुर्वतस्तत एव परतत्त्वैक्यशालिनः प्रमातुः स्वात्मनिष्ठतारूपमन्तर्मुखत्वं वेद्यव्यक्षेपलक्षणा बहिःप्रवृत्तिश्चेति या कल्पना कृत्रिमा प्रक्रिया सा कुतो हेतोरस्तु, न कुतश्चिदपि संगच्छते। निमीलनोन्मीलनात्मनोः समाध्योरपि तादृक्कल्पनामात्रनिष्पन्नत्वावश्यम्भावादिति भावः। एतदुक्तं भवति—तत्तत्प्रौढपुरुषकल्पनैकनिर्व्यूढो योऽयं वेदिता वेद्यम्, शक्तिमान् शक्तिः, पतिः पाशः, भवन् भावः, दग् दृश्यम्, पुरुषः प्रकृतिः, आत्मा शरीरम्, अन्तःर्बहिः, प्रत्यक् पराक्, सत्यमसत्यमित्यादिविकल्पव्याकोपः, स सर्वोऽपि—

शिवो दाता शिवो भोक्ता शिवः सर्वमिदं जगत्।
तस्माच्छब्दार्थचिन्तासु न साऽवस्था न या शिवः।।
वस्तुतः शिवमये हृदि स्फुटं सर्वतः शिवमयं विराजते।
चलित्वा यास्यते कुत्र सर्वं शिवमयं यतः।।

इत्याद्यनेकाम्नायमर्यादया पारमेश्वरप्रकाशपरमार्थमेतदखिलमपि प्रपञ्चमालोच-यतः साक्षात् परमेश्वरतापन्नस्य महापुरुषस्य स्वात्मस्वरूपव्यतिरेकेण किं प्रमाणं कः परिस्फुरत्विति। यदुक्तं श्रीमत्स्तोत्रावल्याम्—

योऽविकल्पमिदमर्थमण्डलं पश्यतीश! निखिलं भवद्वपुः।
स्वात्मपक्षपरिपूरिते जगत्यस्य नित्यसुखिनः कुतो भयम्।। इति।

यच्चोक्तं श्रीप्रत्यभिज्ञायाम्—

सर्वो ममायं विभव इत्येवमभिजानतः।
विश्वात्मनो विकल्पानां प्रसरेऽपि महेशता।। इति।

यथा चोक्तमभियुक्तैः—

अन्तर्निरञ्जनं ज्योतिर्बहिरष्टौ च मूर्तयः।
परितः परितः शय्या हंसाङ्गरुहलूलिका।। इति।

अन्तर्मुखी योगी एक बार अन्तर्मुख हो जाने पर पुनः बहिर्मुखता के निकृष्ट संसार में प्रत्यावर्तित होने की न तो आकांक्षा रखता है और न तो उसका इस संसार में पदार्पण ही होता है। अन्तर्मुखता और बहिर्मुखता में छत्तीस का आँकड़ा है। हाँ, विश्वाहन्ता की स्थिति में जाने पर दोनों का पार्थक्य भी विगलित हो जाता है।

जो योगी अन्तर्मुखत्व प्राप्त कर लेता है, वह कभी बाह्यमुखत्व की ओर उन्मुख नहीं होता—अन्तर्मुखो योगी बहिर्मुख इति कल्पना कुतः।

जिस प्रकार मोर के दोनों ओर के पंखे एकरूपात्मक होते हैं और उनमें कोई

वैषम्य नहीं रहता, उसी प्रकार योगी के इदम् एवं अहम् दोनों संवित्तियों में एकरूपता रहा करती है—'न खल्वन्तेदन्तयोरुभयोरपि संवित्स्वातन्त्र्यपरिस्पन्दव्यतिरेकेणान्या काचिदनुप्राणनप्रक्रियास्ति, यदेवम्।' इसीलिये योगियों की दृष्टि सामान्य लोगों से पृथक् मानी गई है। श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः।।

विज्ञानभट्टारककार की दृष्टि—विज्ञानभट्टारक में कहा गया है—

ग्राह्यग्राहकसंवित्तिः सामान्या सर्वदेहिनाम्।
योगिनां तु विशेषोऽयं सम्बन्धे सावधानता।।

इसी सामरस्य एवं तादात्म्य की स्थिति में 'योऽयं वेदिता वेद्यम्, शक्तिमान् शक्तिः, पतिः पाशः, भवन् भावः, दृग् दृशम्, पुरुषः प्रकृतिः, आत्मा शरीरम्, अन्तर्बहिः, प्रत्यक् पराक्, सत्यमसत्य इत्यादिविकल्पव्याकोपः स सर्वोऽपि—

शिवो दाता शिवो भोक्ता शिवः सर्वमिदं जगत्।
तस्माच्छब्दार्थचिन्तासु न साऽवस्था न या शिवः।

वस्तुतः

शिवमये हृदि स्फुटं सर्वतः शिवमयं विराजते।।
चलित्वा यास्यते कुत्र सर्वं शिवमयं यतः।।

परमेश्वरतापन्न महापुरुषों में स्वात्मस्वरूप व्यतिरिक्त कुछ रहता ही नहीं—परमेश्वरतापन्नस्य महापुरुषस्य स्वात्मस्वरूपव्यतिरेकेण किं प्रमाणं कः परिस्फुरति?

शिवस्तोत्रावलीकार की दृष्टि—उत्पलदेवाचार्य कहते हैं—

योऽविकल्पमिदमर्थमण्डलं पश्यतीश! निखिलं भवद्वपुः।
स्वात्मपक्षपरिपूरिते जगत्यस्य नित्यसुखिनः कुतो भयम्?।।

प्रत्यभिज्ञाकार की दृष्टि—आचार्य उत्पलदेव प्रत्यभिज्ञाकारिका में कहते हैं कि निःशेष जगत् और इसकी निःशेष विभूति सब मेरी ही है—इस परामर्श के रहने पर सारे विकल्प भले ही चतुर्दिक् फैले हुये हैं तथापि जीव फिर भी महेश ही है—

सर्वो ममायं विभव इत्येवमभिजानतः।
विश्वात्मनो विकल्पानां प्रसरेऽपि महेशता।।

यह भी कहा गया है कि—

अन्तर्निरञ्जनं ज्योतिर्बहिरष्टौ च मूर्तयः।
परितः परितः शय्या हंसाङ्गरुहतूलिका।।

योगी और अवस्थाचतुष्टय

अथ देशाध्वनेव कालाध्वनाऽप्यस्य न कश्चित् सङ्कोचकलङ्कोपलेप इत्युन्मील-यितुमाह—

जोई जाअरसिविणअसोसुत्ततुरीअपव्वपरिपाहिं।
चित्तं विअ मणिमालं विमरिससुत्तेक्कगुब्भभुव्वहइ ॥६१॥

(योगी जागरस्वप्नसौषुप्ततुरीयपर्वपरिपाटिम्।
चित्रामिव मणिमालां विमर्शसूत्रैकगुम्फितामुद्वहति।।)

योगी रंग-विरंगी मणिमाला के समान विमर्श-सूत्र में गुम्फित जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति एवं तुरीय अवस्थाओं की परिपाटी का उद्वहन करता है।।६१।।

यान्येतानि जागरप्रभृतीनि कालक्रमानुप्राणनानि पर्वाण्यवस्थाविशेषाः, तत्र लौकिक्या युक्त्या सर्वसाधारण्येनार्थं विषयीकृत्य बाह्याभ्यन्तरोभयेन्द्रियजन्यं जागरः, अन्तःकरणमात्रहेतुरसाधारणार्थनिर्माणात्मा विकल्पः स्वप्नः, सर्वाकारेणार्थस्फुरणशून्यता सौषुप्तम्। यदुक्तं श्रीशिवसूत्रेषु—'ज्ञानं जाग्रत्, स्वप्नो विकल्पः, अविवेको माया सौषुप्तम्' इति। यच्चोक्तं श्रीप्रत्यभिज्ञायाम्—

सर्वाक्षगोचरत्वेन या तु बाह्यतया स्थिरा।
सृष्टिः साधारणी सर्वप्रमातॄणां स जागरः ।। इति,
मनोमात्रपथोऽप्यक्षविषयत्वेन विभ्रमात्।
स्वष्टावभासा भावानां सृष्टिः स्वप्नपदं मतम् ।। इति
तावन्मात्रस्थितौ प्रोक्तं सौषुप्तं प्रलयोपमम्। इति च।

योगिदृष्ट्या तु धारणाध्यानसमाधिरूपाण्येतानि। यानि 'चित्तस्य देशबन्धो धारणा, तत्तत्प्रत्यय प्रवाहो ध्यानम्, वेद्यवेदकभावादिविगलनं समाधिः इत्यागमेषु लक्ष्यन्ते। तुरीयं पुनः सर्वयोगिन्ययोगिन्यप्येकरूपतयाऽवतिष्ठते। केवलं तादृक्परामर्शक्षमत्वमेव योगिनो विशेष। तुरीयं च नाम 'त्रिषु चतुर्थं तैलवदासेच्यम्' इति श्रीशिवसूत्रस्थित्या जाग्रदाद्यवस्थात्रयानुवृत्ता महास्फुरत्ता। उपलक्षणं चैतत्। यत एकस्मिन् द्वितीयम्, द्वयोस्तृतीयम्, त्रिषु चतुर्थम्, चतुर्षु पञ्चममित्यस्यार्थस्यावश्यम्भावः। तत् पुनरौपदेशिकतया सूत्रे संगृह्योक्तम्। एषां च पर्वणां या परिपाटिरन्योन्यरूपत्वे व्यवस्थात्मकत्वादेकरूपता, तां व्याख्यातस्वभावो योगी मौक्तिकमाणिक्याद्यनेकरत्नशालिनीं हारयष्टिमिव विमर्शाख्येन सर्वानुप्रवेशप्रगल्भेनैकेन तन्तुना संकलितां कुर्वन्नुद्वहति लौकिकप्रस्थानोल्लङ्घिना केनचिदुत्कर्षेण प्रापयति तत्तत्स्वरूपतापरामर्शेन स्वात्मन्यवस्थापयति। तत्र च लौकिकानामपि साधारणमवस्थात्रयमतिक्रम्य परमप्रमातृरूपतुर्यातीतस्वभावतया-

ऽवधार्यमाणं तुर्यमेवात्र विमर्श इत्याख्यायते, येन स्रक्सूत्रन्यायादधस्तनमवस्थात्रयं क्रोडीक्रियते। तत्रापि जाग्रदादिसाहचर्याक्रान्तस्याङ्गस्य प्रमातृस्वरूपानुप्रविष्टे-नांशेनानुसन्धीयमानतया क्रोडीकार्यत्वं क्रोडीकरणत्वं चेत्युभयमपि सङ्गच्छते। तथाहि—जाग्रदादिषु चतसृष्ववस्थासु जाग्रज्जाग्रत्, जाग्रत्स्वप्नः, जाग्रत्सुषुप्तम्, जाग्रत्तुरीयमित्यादिना रूपेण परस्परानुबेधः प्रतीयते। तत्राबुद्धं बुद्धं प्रबुद्धं सुप्रबुद्धमिति जाग्रतश्चत्वारो भेदाः।

गतागतं सुविक्षिप्तं सङ्गतं सुसमाहितम् ।

इति स्वप्नस्य, उदितं विपुलं शान्तं सुप्रसन्नमिति सुषुप्तस्य। तुरीयस्य तु—

नैतस्यामपरा तुर्यदशा संभाव्यते किल ।

इति श्रीतन्त्रालोकस्थित्या मनोन्मनमनन्तं सर्वतोभद्रमिति त्रयो भेदाः। तुर्यातीते च—

तुर्यातीते भेद एकः सततोदितमित्ययम् ।

इति नीत्या नित्यविप्रष्टताद्योतकसततोदितमित्येको भेद उपचर्यते। (एषा च? एतस्याः) स्फुटः स्फुटास्फुटोऽस्फुट इत्यवभासभेदात् सर्वत्रानुस्यूत्याऽवस्थानं च। क्रमाल्लक्षणान्याचक्षते। यदुक्तं श्रीतन्त्रालोके—

यस्य यद् यत् स्फुटं रूपं तज्जाग्रदिति मन्यताम् ।
यदेवास्थिरमाभाति स्वरूपं स्वप्न ईदृशः ।।
अस्फुटं तु यदाभाति सुषुप्तं तत् पुरोऽपि यत् ।
त्रयस्यास्यानुसन्धिस्तु यद्वशादुपजायते ।।
स्रक्सूत्रकल्पं तत्तुर्यं सर्वभेदेषु गृह्यताम् ।। इति।

तुर्यातीतं तु सर्वत्रैकरूप्यादव्याकुलं स्वात्मरूपपरमभैरवस्वभावमनुभूयते। यदुक्तं तत्रैव—

यत्त्वद्वैतभरोल्लासद्रविताशेषभेदकम् ।
तुर्यातीतं तु तत् प्राहुरित्थं सर्वत्र योजयेत् ।। इति।

तेन सुष्ठूक्तं तुर्यस्योभयार्थप्रसाधनप्रागल्भ्यमस्तीति। अनेनैवाशयेनोपमानांशे चित्रामित्युक्तम्। ततश्च यथा माणिक्यमौक्तिकमहानीलमरकताद्यनेकमणिगुम्फिता हारयष्टिररुणधवलश्यामलादिवर्णवैचित्र्यव्यतिकरोत्तरतया क्वचित् कस्यचिद-साधारण्येऽपि व्यतिरिक्ताशेषवर्णसंसर्गाविनाभावमनुभवन्त्यपरोक्षीक्रियते, एवं जागरादिपर्वपरम्परायामपि प्रतिपादितेन प्रकारेण परस्परानुवेधवैचित्र्यमनुसन्धीयत इत्यासूत्र्यते। एतदुक्तं भवति—चिच्छक्तिस्वरूपो महाप्रकाशनामा परमप्रमातृरूपो

नित्योद्यन्तृतापरिस्पन्दसारो भगवांस्तुरीयातीतभट्टारकः स्वानन्दात्मकप्रचयनाम-धेयावच्छिन्नप्रमातृतारूपानौदासीन्यस्वभावेन तुरीयेण करणभूतेन प्रमेयं प्रमाणं प्रमात्रौदासीन्यमिति, पिण्डं पदं रूपमिति, क्रिया ज्ञानमिच्छेत्याद्यशेषत्रिकानु-प्राणनमेतज्जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तलक्षणमवस्थात्रयं प्रतिपादितालौकिकैश्वर्यपरा-मर्शलक्षणां योगशक्तिमाक्रम्य स्वस्वातन्त्र्यस्फुरत्तापरिस्पन्दमात्रपरमार्थमनुसन्धत्त इति। यदुक्तं श्रीशिवसूत्रेषु—'त्रितयभोक्ता वीरेशः', 'त्रिपदाद्यनुप्राणनम्' इति च। यच्चोक्तं श्रीस्पन्दे—

जाग्रदादिविभेदेऽपि तदभिन्ने प्रसर्पति ।
निवर्तते निजान्नैव स्वभावादुपलब्धृतः ।। इति।।६१।।

परिपाटी = आत्मस्वरूपमयी अनन्यता, उपर्युक्त अशेष अवस्थाओं में योगी की दृष्टि सदैव आत्मोन्मुख एवं शिवभावित रहा करती है।

१. जागर—यान्येतानि जागरप्रभृतीनि कालक्रमानुप्राणनानि पर्वाण्यवस्थाविशेषाः तत्र लौकिक्या युक्त्या सर्वसाधारण्येनार्थं विषयीकृत्य बाह्याभ्यन्तरोभयेन्द्रियजन्यं जागरः।
२. स्वप्न—अन्तःकरणमात्रहेतुरसाधारणार्थनिर्माणात्माविकल्पः स्वप्नः।
३. सुषुप्ति—सर्वाकारेणार्थस्फुरणशून्यता सौषुप्तम्।

शिवसूत्रकार की दृष्टि—१. ज्ञानं जाग्रत् २. स्वप्नो विकल्पः। ३. अवि-वेको माया सौषुप्तम् (शिवसूत्र)।

प्रत्यभिज्ञाकार की दृष्टि—प्रत्यभिज्ञाकार की दृष्टि में चेतना की विविध स्थितियों का स्वरूप इस प्रकार है—

१. जागर अवस्था—

सर्वाक्षगोचरत्वेन या तु बाह्यतया स्थिरा।
सृष्टिः साधारणी सर्वप्रमातॄणां स जागरः।।

२. स्वप्नावस्था—

मनोमात्रपथोऽप्यक्षविषयत्वेन विभ्रमात्।
स्पष्टावभासा भावानां सृष्टिः स्वप्नपदं मतम्।।

३. सौषुप्त अवस्था—

तावन्मात्रस्थितौ प्रोक्तं सौषुप्तं प्रलयोपमम्।

योगियों की दृष्टि से देखें तो इन अवस्थाओं का स्वरूप परिवर्तित हो जायेगा क्योंकि—योगिदृष्ट्या तु धारणा-ध्यान-समाधिरूपाण्येतानि।

संयम का स्वरूप क्या है?

१. चित्तस्य देशबन्धो धारणा।

२. तत्तत्प्रत्ययप्रवाहो ध्यानम्।

३. वेद्यवेदकभावादिविगलनं समाधि:।

तुरीय का स्वरूप क्या है? तुरीयं पुन: सर्वयोगिन्यप्येकरूपतयाऽवतिष्ठते। तुरीय क्या है? त्रिषु चतुर्थं तैलवदासेच्यम् (शि. सू.)।

जाग्रदादि अवस्थात्रय में महास्फुरत्ता सदैव अनुवृत्त रहा करती है। ये अवस्थायें परस्पर में भी अनुविद्ध हैं।

भास्करराय मखिन की दृष्टि—

१. जागरावस्था का स्वरूप—इन्द्रियदशकव्यवहतिरूपा या जागरावस्था। तत्र प्रकाशरूपो हेतुर्भाव्यस्तृतीयगे रेफे। (वरिवस्यारहस्यम्-१.३७)

२. स्वप्नावस्था का स्वरूप—अन्त:करणचतुष्कव्यवहार: स्वाप्निकावस्था। सा तार्तीयैकाराद्बोध्यापि गलस्थले चिन्त्या। (वरिवस्यारहस्यम्-१.३८)

३. सुषुप्त्यवस्था का स्वरूप—

अन्तरवृत्तेर्लयतो लीनप्रायस्य जीवस्य।
वेदनमेव सुषुप्तिश्चिन्त्या तार्तीयबिन्दौ सा।
(वरिवस्यारहस्यम्-१.३९)

४. तुर्यावस्था का स्वरूप—

तुर्यावस्था चिदभिव्यञ्जकनादस्य वेदनं प्रोक्तम्।
तद्भावनार्धचन्द्रादिकं त्रयं व्याप्य कर्तव्या:।।
(वरिवस्यारहस्यम्-१.४०)

५. तुर्यातीतावस्था का स्वरूप—

आनन्दैकघनत्वं यद्वाचामपि न गोचरो नृणाम्।
तुर्यातीतावस्था सा नादन्तादिपञ्चके भाव्या।।
(वरिवस्यारहस्यम्-१.४१)

महासत्ता की स्थिति एवं अवस्थायें

जाग्रदाद्यवस्थात्रयानुवृत्ता महास्फुरत्ता। (परिमल ६१, शिवसूत्र)

योगी इन चारो या पाँचों अवस्थाओं को आत्मस्वरूप का विमर्श (आत्मपरामर्श) कहते हुये उन्हें गिनता रहता है—धारणा करता रहता है।

(क) जाग्रत् = बाह्याभ्यन्तरिक ऐन्द्रिय जागृति।

(ख) स्वप्न = अन्त:करणहेतु अर्थनिर्माण करने वाली विकल्पावस्था।

(ग) सुषुप्ति = सारे स्फुरणों की शून्यता।

ये स्थितियाँ योगियों की दृष्टि में धारणा, ध्यान एवं समाधि की अवस्थायें हैं। योगी आत्मविमर्शरूप सूत्र में जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्तिरूप मनकों से गुम्फित मणिमाला धारण करता है (महार्थमञ्जरी-६१)।

योगी इन चारो अवस्थाओं को मौक्तिक-माणिक्य आदि की एक सूत्र में ग्रथित विचित्र माला की भाँति अपनी स्वात्मा में स्थापित करता है।

पर्वपरिपाटी = जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्तिरूप पर्वों की परिपाटी (अन्योन्यरूपत्व आत्म-स्वरूपमयी अनन्यता)। परिपाटी = अन्योन्यरूपत्वे व्यवस्थात्मकत्वादेकरूपता। यही एकरूपता योगी का स्वभाव होता है और ऐसा योगी—व्याख्यातस्वभावो योगी मौक्तिक-माणिक्याद्यनेकरत्नशालिनीं हारयष्टिमिव विमर्शाख्येन सर्वानुप्रवेशप्रगल्भेनैकेन तन्तुना सङ्कलितां कुर्वन्नुद्वहति लौकिकप्रस्थानोल्लङ्घिना केनचिदुत्कर्षणं प्रापयति तत्तत्स्वरूपतापरामर्शेन स्वात्मन्यवस्थापयति।[1]

इसका अर्थ यह है कि वहाँ साधारण (लौकिक) व्यक्तियों की अवस्थाओं (जागरादि अवस्थाओं) को अतिक्रान्त करके परप्रमातृरूप तुर्यातीत स्वभाव में अवस्थित होकर अवधार्यमाण तुर्य ही यहाँ विमर्श कहा गया है, जिसके द्वारा स्त्रक्सूत्र न्याय से अव-स्थात्रय क्रोड़ीकृत किया जाता है।[2]

जागृति आदि अवस्थाओं में भी अनेक अवस्थायें अन्तर्व्याप्त हैं; यथा—१. जाग्र-ज्जाग्रत् २. जाग्रत्-स्वप्न ३. जाग्रत्-सुषुप्त ४. जाग्रत्तुरीय। इस प्रकार अवस्थाओं का परस्परानुवेध है। यहाँ अबुद्ध, बुद्ध, प्रबुद्ध, सुप्रबुद्ध, जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय के प्रतिनिधि हैं। महेश्वरानन्द इसी परस्परानुवेध को पुनः इस प्रकार रेखाङ्कित करते हुये कहते हैं—'एकस्मिन् द्वितीयम् द्वयोस्तृतीयम् त्रिषु चतुर्थम् चतुर्षु पञ्चममित्यस्यार्थस्यावश्यम्भावः।[3] तत्राबुद्धं बुद्धं प्रबुद्धं सुप्रबुद्धं जाग्रतश्चत्वारो भेदाः।[4] कहा भी गया है—

गतागतं सुविक्षिप्तं सङ्गतं सुसमाहितम्।

अवस्थाओं के उपभेद

जाग्रत् के चार भेद—

१. अबुद्ध ३. प्रबुद्ध
२. बुद्ध ४. सुप्रबुद्ध

स्वप्नस्थ व्यक्ति के भेद—

१. गतागत ३. संगत
२. सुविक्षिप्त ४. सुसमाहित

१-४. परिमल

सुषुप्त के भेद—

(गतागतं सुविक्षिप्तं सङ्गतं सुसमाहितस्य)

१. उदित ३. शान्त

२. विपुल ४. सुप्रसन्न

(इति स्वप्नस्य, उदितं, विपुलं, शान्तं सुप्रसन्नमिति सुषुप्तस्य।)

(क) तुरीय—नैतस्यामपरा तुर्यदशा सम्भाव्यते किल।[1]

(ख) तुर्यातीत—तुर्यातीते भेद एकः सततोदितमित्ययम्।

नित्यविप्रष्टृता द्योतक सततोदित रूप वाला एक ही भेद है।

१. स्फुट २. स्फुटास्फुट एवं ३. अस्फुट भेदों के आधार पर अवस्थानभेद है।

तुर्यातीतावस्था—परिमल कहते हैं—'तुर्यातीतं तु सर्वत्रैकरूप्यादव्याकुलं स्वात्मरूपपरमभैरवस्वभावमनुभूयते। शास्त्रों में कहा गया है—

यत्त्वद्वैतभरोल्लासद्राविताशेषभेदकम् ।
तुर्यातीतं तु तत् प्राहुरित्थं सर्वत्र योजयेत्।।

जिस प्रकार माणिक्य-मौक्तिक-महानील-मरकत आदि अनेक प्रकार के मणियों से गुंफित हारयष्टि अरुण, धवल, श्यामल आदि वर्णों से वैचित्र्य-व्यतिकरोत्तर रूप में दृष्टिगत होती है तथापि वह वर्णसंसर्ग तथा एकसूत्रता के कारण विभिन्न रूप में प्रतीयमान होते हुये भी एकरूप एवं एक माला के रूप में अनुभूयमान होती है। इसी प्रकार चिच्छक्तिस्वरूप, महाप्रकाशरूप परम प्रमाता, नित्योद्यन्तृतापरिस्पन्दसारात्मक भगवान् तुरीयातीत भट्टारक हैं। ये ही स्वानन्दात्मकप्रचय, अविच्छिन्न, परप्रमाता एवं परमशिव हैं।

जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति, पिण्ड-पद-रूप, क्रिया-ज्ञान-इच्छा आदि सभी का परस्पर सम्बन्ध है। अलौकिक ऐश्वर्य परामर्शलक्षण योगशक्ति प्राप्त करके स्वस्वातन्त्र्यस्फुरत्ता परिस्पन्दमात्र परमार्थ का अनुसन्धान किया जाना चाहिये।[2]

शिवसूत्र के त्रितयभोक्तावीरेशः, त्रिपदाद्यनुप्राणनम् आदि सूत्र भी इसी दृष्टि का प्रतिपादन करते हैं।

स्पन्दकारिकाकार की दृष्टि—स्पन्दकारिका में कहा गया है कि जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्ति आदि अवस्थायें भिन्न-भिन्न हैं और चेतना इन सभी के द्वारा व्यक्त होती है; किन्तु अवस्थाओं के विभिन्न होने पर भी चेतना (आत्मा) एकरूप ही रहती है—

जाग्रदादिविभेदेऽपि तदभिन्ने प्रसर्पति।
निवर्तते निजान्नैव स्वभावादुपलब्धृतः।।

---

१. तन्त्रालोक २. महेश्वरानन्द (परिमल ६१)

अवस्थाओं के विषय में महेश्वरानन्द की दृष्टि—महेश्वरानन्द कहते हैं कि—

१. जागृति की अवस्था = धारणा की अवस्था।

२. स्वप्न की अवस्था = ध्यान की अवस्था।

३. सुषुप्ति की अवस्था = समाधि की अवस्था।

योगिदृष्ट्या तु धारणाध्यानसमाधिरूपाण्येतानि। यानि चित्तस्य देशबन्धो धारणा, तत्तत्प्रत्ययप्रवाहो ध्यानम्, वेद्यवेदकभावादिविगलनं समाधिः।

(महेश्वरानन्द : परिमल)

तुरीयावस्था का स्वरूप क्या है? 'तुरीयं च नाम त्रिषु चतुर्थं तैलवदासेच्यम्। जाग्रदाद्यवस्थात्रयानुवृत्ता महास्फुरत्ता। यत् एकस्मिन् द्वितीयम्, द्वयोस्तृतीयम्, त्रिषु चतुर्थम्, चतुर्षु पञ्चममित्यस्यार्थस्यावश्यम्भावः।

तुर्यातीत कौन है? 'तुर्यातीतं तु सर्वत्रैकरूप्यादव्याकुलं स्वात्मरूपपरयभैरवस्वभावमनुभूयते—

यत्त्वद्वैतभरोल्लासद्राविताशेषभेदकम् ।
तुर्यातीतं तु तत् प्राहुरित्थं सर्वत्र योजयेत्।।

महेश्वरानन्द कहते हैं कि माणिक्य-महानील-मरकत आदि से गुम्फित हारयष्टि में अरुण-धवल-श्यामल आदि अनेक रंगों का वैचित्र्य (भिन्नत्व) रहता है और उनमें कोई भी समान तत्त्व नहीं रहता तथापि उनमें प्रत्येक वर्ण एक-दूसरे वर्ण से संक्रान्त होने से अविनाभाव सम्बन्ध निर्मित किये रहता है, उसी प्रकार जागर, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय एवं तुरीयातीत अवस्थायें भिन्न-भिन्न तो हैं तथापि अविनाभाव रूप से सम्बद्ध हैं। ये परस्परानुविद्ध हैं।

योगियों का योग-भोगसाहचर्यवाद

ननु व्यावर्णितमेतद्देशकालादिविकल्पवैधुर्योद्धुरं शुद्धसंवित्कलाकैवल्यस्वभावं योगिनः स्वाच्छन्द्यं स्वव्यतिरिक्ताशेषदेहप्राणादिविकल्पोपश्लेषवैमुख्यशालिन एवास्योपपद्यते। तच्च न सम्भवति, यस्य कस्यचिद्विकल्पोपश्लेषस्य नित्यमवर्जनीयत्वादित्याशङ्क्याह—

उल्लोआणन्दसुहासीहुरसुव्वेइएण हिअएण।
अहिलसइ लोअजत्तातिन्तिणिचव्वणरसन्तरं जोई ॥६२॥

(उल्लोकानन्दसुधाशीधुरसोद्वेजितेन हृदयेन।
अभिलषति लोकयात्रातिन्तिणिचर्वणरसान्तरं योगी।।)

आत्मानन्दोन्मत्त योगी आत्मानन्दरस को प्राप्त करने के अनन्तर, लोकातीत आत्मा-

नन्दामृत से उन्मत्त हृदय (मन) के द्वारा लोकव्यवहार (में प्रवेश) की उसी प्रकार इच्छा रखता है, जिस प्रकार एक मद्यपी अपने मद्य की उन्मत्तता को शान्त करने हेतु इमली चबाने की इच्छा रखता है।।६२।।

योऽयमुल्लोकः 'स एको ब्रह्मण आनन्दः' इत्युपनिषत्प्रक्रियया मनुष्य-गन्धर्वाद्यवच्छिन्नप्रमातृहृदयानन्दातिशायी पूर्णाहम्भावभावनाचमत्कारसारः स्वान्तर्विश्रान्तिसम्पत्सौन्दर्यमात्रस्वपरिस्पन्दः कश्चिदाह्लादोत्कर्षः, स खल्वमृतास-वस्वभावरसद्वयव्यतिकरकल्पनीयार्थक्रियाकारितया प्रकाशविमर्शस्वभाव-स्वरूपमाधुर्यातिशयानुभवप्रावीण्याद् योगिनो हृदयमुद्वेजयति उत्कृष्यान्यत्र स्व-प्रतियोगिनि पदार्थे प्रवर्तयति। तादृशा चायं हृदयेनोपकरणभूतेन लोकस्य देहाक्ष-भुवनादेर्या यात्रा प्रवाहनित्या प्रवृत्तिः, सा चिञ्चाफलास्वादवत् प्रागनुभूतमा-धुर्योत्कर्षापेक्षया रसान्तरमम्लादिसादृश्यादन्यो रसः सम्पद्यते। यत्रोद्वेजितहृदयस्य योगिन इच्छाशक्तिरुज्जृम्भते। योगीच्छायाश्च फलप्राप्तिपर्यन्तत्वमविप्रतिपन्नम्। यदुक्तं श्रीशिवसूत्रेषु—'चित्तस्थितिवत् शरीरकरणबाह्येषु' इति। क्षीरशर्कराद्य-त्यन्तमधुरोपयोगोद्वेजितचेतसां च पुंसां तिन्तिण्याद्यम्लपदार्थान्तराभिलाषो लोकप्रसिद्धः। अयं भावः—शरीरेन्द्रियादिवेद्यविक्षोभव्युदासेन स्वात्ममात्रसा-क्षात्कारलक्षणं सौख्यमवलम्ब्योल्लासो बहिर्विषयबिभीषिकाविक्लवात्मनः परिमितस्य योगिनश्चाकित्यप्रकारः। अपरिमितस्य तु पूर्णाहन्तापरामर्शात्मकान-वच्छिन्नानन्दपरिस्पन्दास्वादसंप्रीतात्मनः स्वात्मपक्षनिक्षिप्ताशेषबाह्यप्रपञ्चत्वादि-दन्तानुभूत्यवश्यम्भावः। ततश्च विकल्पसर्वस्वविक्षोभानुभूतिवैचित्र्योत्तर-मिदन्तापदावरोहणमप्यनवच्छिन्नाहम्भावभासुरे महति प्रमातृपर्वण्येव पर्यवस्यति। यदुक्तं श्रीक्रमसूत्रेषु—'बाह्यादन्तः प्रवेशोऽभ्यन्तराद्वा बाह्यस्वरूपानुप्रवेशः' इति। यथा च व्याख्यातं श्रीमत्क्षेमराजेन—'तत्र च बाह्याद् गृह्यमाणाद् विषयग्रामादन्तः परस्यां चितिभूमौ ग्रसनक्रमेणैव प्रवेशः समावेशो भवति, अभ्यन्तराच्चितिशक्ति-स्वरूपात् साक्षात्कृतात् समावेशसामर्थ्यादेव बाह्यस्वरूप इदन्तादिनिर्देश्ये विषयग्रामे वमनयुक्त्या प्रवेशश्चिद्रसाश्यानतात्मा समावेशो जायते' इति। यदभिप्रेत्य श्रीप्रत्यभिज्ञायामुक्तम्—

विश्वरूपोऽहमिदमित्यखण्डानन्दबृंहितः । इति।

यच्चोक्तमस्मद्गुरुभिरानन्दताण्डवविलासस्तोत्रे—

वयं त्विमां विश्वतयाऽवभानं बहिर्मुखस्यास्य तवोन्मुखस्य ।
स्वसंहितं विश्वविलापनोद्यत्स्वतन्त्रतानन्दमयीं नमामः ।। इति।

इदमेव हि तद् योगिनो ज्ञानस्य शुद्धत्वम्, यदिदन्तोपश्लेषेऽप्यवैयाकुल्यम्।

यदुक्तं श्रीचन्द्रज्ञाने—

येन प्रबुद्धभावेन भुञ्जानो विषयान् स्वयम्।
न याति पाशवं भावं ज्ञानचन्द्रः स कीर्तितः ।। इति।

किञ्च, यद्यदुद्रिक्तमाधुर्योपयोगे तिन्तिण्याद्याकाङ्क्षा तदास्वादादेव प्रस्तुतोद्वेजनशान्त्या पुनरपि मधुरद्रव्यस्वीकारसामर्थ्यम्, एवं पूर्णाहन्तानुसन्धानादिदन्तोपलम्भावश्यम्भावः। इदन्तानुषङ्गे च तादृगहन्तानुप्रवेशस्यार्थतः सिद्धिरित्यात्मनश्चक्रकस्थित्या नित्योद्यन्तृत्वं प्रति न कश्चिद् भङ्गशङ्कावकाशः। यस्मादिदन्तानुपलब्धावहम्भावस्य राज्यभ्रष्टस्येव राज्ञः, तद्वदहमंशानुपरक्ताविदमंशस्य भागस्याराजकस्येव राज्यस्य न किञ्चिच्चमत्कारौचित्यम्। यदुक्तं शम्भ्वैक्यदीपिकायाम्—'अन्तर्गता हि प्रकाशव्याप्तिरिदमिति विश्राम्यति बहिर्गता चाहमिति, एतदद्वयं सर्वजनप्रसिद्धमनपह्नवनीयम्' इति।।६२।।

स्वरूपानन्दोन्माद और योगी की लोकोत्तरावस्था (योगियों की अलौकिक आत्मिक रसानुभूतिजन्य मादकता)—उल्लोक = लोकातीत, अलौकिक। शीधु = ईख के पके रस से निर्मित शराब। द्राक्षा सुरा। उल्लोक + शीधु + रस = अलौकिक स्वाह्लादस्वरूप एकरस स्वविश्रान्ति। (एकरसात्मक स्वात्मानन्द में ही जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति आदि से अतीत तुरीयावस्था में योगी सदा निमग्न रहता है।) तिन्तिणि = इमली।

योगी जागतिक सुखों का उपभोग करते हुये भी स्वरूपानन्द के सुख में निमग्न रहते हैं। वे मन का उन्मनीकरण करके स्वरूपामृतात्मक एवं स्वसंवेद्य परमात्मा का निरन्तर साक्षात्कार करते रहते हैं। यही है—योगियों का योग-भोगसाहचर्यवाद।

प्रस्तुत गाथा में लोकोत्तर आत्मानन्द की असह्य उन्मत्तता को शान्त करने के लिये योगी जिस प्रकार जागतिक व्यवहार में प्रवेश करने की इच्छा व्यक्त करता है, उसकी उस मद्यपी के साथ समतुल्यता दिखाई गई है जो शराब की खुमारी दूर करने के लिये किसी अम्लरस के सेवन की आकांक्षा व्यक्त करता है। आत्मानन्द में निमग्न योगी को कितना आनन्द मिलता है, इसी का इस गाथा में वर्णन किया गया है।

उल्लोक—महेश्वरानन्द कहते हैं कि इस गाथा में उल्लोकानन्द (लोकोत्तरानन्द) का जो उल्लेख किया गया है, वह उपनिषदों में उल्लिखित 'स एको ब्रह्मण आनन्द' वाला आनन्द है। उपनिषदों में मनुष्यानन्द, गन्धर्वानन्द आदि अवच्छिन्न हृदयानन्द वाले परिमित प्रमाताओं के आनन्द को अतिक्रान्त करके शीर्षावस्थित पूर्णाहंभावनाचमत्कार रस से स्वान्तर्विश्रान्ति प्राप्त योगी जिस आह्लादोत्कर्ष की अनुभूति करता है, वह अकल्पनीय है। उस प्रकाश-विमर्शस्वभावरूप माधुर्यातिशय से परिप्लुत योगी को वह लोकोत्तरानन्दानुभूति सहन नहीं होती; अतः वह प्रतियोगी पदार्थों में निरत होने की

आकांक्षा रखता है; क्योंकि—प्रकाशविमर्शस्वभावस्वरूपमाधुर्यातिशयानुभवप्रावीण्याद् योगिनो हृदयमुद्वेजयति। अत: (लोकोत्तरानन्द प्राप्त: स: योगी) 'स्वप्रतियोगिनि पदार्थे प्रवर्तयति।'

उस योगी के आनन्द का स्वरूप कैसा होता है? महेश्वरानन्द कहते हैं—मनुष्य-गन्धर्वाद्यवच्छिन्नप्रमातृहृदयानन्दातिशायी पूर्णाहम्भावनाचमत्कारसार: स्वान्तर्विश्रान्ति-सम्पत्सौन्दर्यमात्रस्वपरिस्पन्द: कश्चिदाह्लादोत्कर्ष:।

मद्यपी द्वारा मदोन्मत्तता दूर करने के लिये आसेवित इमली एवं योगी की लोकयात्रा में प्रविष्टि समतुल्य है।

(क) इमली = मदोन्मत्तता दूर करने का उपाय।

(ख) लोकयात्रा (लोकव्यवहार = जागतिक विषयासक्त जीवन) = योगी की आत्मिक खुमारी दूर करने का उपाय।

निष्कर्ष—(महेश्वरानन्द की दृष्टि)—

१. प्रकाशविमर्शस्वभावस्वरूपमाधुर्यातिशयानुभव:.................. योगिनो हृदयमुद्वेजयति। (अत: स:) उत्कृष्यान्यत्र,

२. स्वप्रतियोगिनि पदार्थे प्रवर्तयति।

योगी की लोकयात्रा एवं सांसारिक प्राणियों की लोकयात्रा में भेद

महेश्वरानन्द की दृष्टि—महेश्वरानन्द कहते हैं—

१. लोकस्य देहाक्षभुवनादेर्या यात्रा प्रवाहनित्या प्रवृत्ति:, सा चिञ्चाकलास्वादवत् प्रागनुभूतमाधुर्योत्कर्षापेक्षय रसान्तरमम्लादिसादृश्यादन्यो रस: सम्पद्यते।

२. यत्रोद्वेजितहृदयस्य योगिन इच्छाशक्तिरुज्जृम्भते।

महेश्वरानन्द कहते हैं कि क्षीर-शर्करा आदि के अत्यन्त मधुर पदार्थों के उपयोग से उद्वेजित चित्त वाले लोग इमली, अम्ल आदि पदार्थों के सेवन की इच्छा व्यक्त करते हैं—यह लोकप्रसिद्धि है।

इसी प्रकार की स्थिति आत्मिक आनन्दोत्कर्ष की मदोन्मत्तता से व्याकुल योगियों की भी होती है। उन्हें आनन्द की उन्मत्तता से मुक्ति पाने के लिये लोकयात्रा का आश्रय लेना पड़ता है।

शरीर-इन्द्रिय आदि वेद्यों के विक्षोभ से विमुक्त एवं स्वात्ममात्र-साक्षात्कार में निरत होने से लोकोत्तर सौख्य-प्राप्त योगियों को विषयभोगी जीवों की विषय-विभी-षिका में रसास्वाद लेने की दृश्यावलियाँ देखकर आश्चर्य प्रतीत होता है और यही आश्चर्यजन्य मनोभंग उनके असह्य आनन्दोत्कर्ष को कम कर देता है।

पूर्णाहन्ता परामर्शात्मक अनवच्छिन्न आनन्द के परिस्पन्दास्वाद से आत्मविभोर योगी प्रापञ्चिक व्यवहार में जाने से प्रापञ्चिक एवं इदमात्मक परिमित अनुभूति भी करने लगता है। जहाँ अहमिदम्, इदमहम् आदि की ऐक्यानुभूति होनी थी, वहाँ अब अहञ्च, इदञ्च की द्वैतापेक्षी अनुभूति होने लगती है तथापि सामान्य प्राणियों एवं लोकापेक्षी सिद्ध योगियों की लोकयात्रा में भेद तो बना ही रहता है—विकल्पसर्वस्वविक्षोभानुभूतिवैचित्रोत्तरमिदन्तापदावरोहणमण्यनवच्छिन्नाहम्भावभासुरे महति प्रमातृपर्वण्येव पर्यवस्यति।

श्रीक्रमसूत्रकार की दृष्टि—क्रमसूत्र में कहा गया है कि—बाह्यादन्तः प्रवेशोऽभ्यन्तराद्वा बाह्यस्वरूपानुप्रवेशः।

आचार्य क्षेमराज की दृष्टि—आचार्य क्षेमराज कहते हैं—तत्र च बाह्याद् गृह्यमाणाद् विषयग्रामादन्तः परस्यां चितिभूमौ ग्रसनक्रमेणैव प्रवेशः समावेशो भवति, अभ्यन्तराच्चितिशक्तिस्वरूपात् साक्षात्कृतात् समावेशसामर्थ्यादिव बाह्यस्वरूप इदन्तादिनिर्देश्ये वमनयुक्त्या प्रवेशश्चिद्रसाश्यानतात्मा समावेशो जायते।

प्रत्यभिज्ञाकार की दृष्टि—श्रीप्रत्यभिज्ञा में भी इसी बात को इस प्रकार व्यक्त किया गया है—विश्वरूपोऽहमिदमित्यखण्डानन्दबृंहितः।

आनन्दविलासताण्डवस्तोत्रकार की दृष्टि—आनन्दविलासताण्डव में भी इसी तथ्य को इस प्रकार व्यक्त किया गया है—

वयं त्विमां विश्वतयाऽवभानं बहिर्मुखस्यास्य तवोन्मुखस्य।
स्वसंहितं विश्वविलापनोद्यत् स्वतन्त्रतानन्दमयीं नमामः।।

यही योगियों के ज्ञान की शुद्धता है।

श्रीचन्द्रज्ञानकार की दृष्टि—श्रीचन्द्रज्ञान में कहा गया है कि—

येन प्रबुद्धभावेन भुञ्जानो विषयान् स्वयम्।
न याति पाशवं भावं ज्ञानचन्द्रः स कीर्तितः।।

उद्रिक्त माधुर्योपयोग में इमली आदि अम्ल पदार्थों की जो आकांक्षा होती है, उसके आस्वाद से ही प्रस्तुत उद्वेजन-शमन द्वारा पुनः मधुर द्रव्यों को स्वीकार करने की सामर्थ्य आ जाती है। इसी प्रकार पूर्णाहन्तानुसन्धान से इदन्तोपलम्भ भी हुआ करता है। उसी प्रकार इदन्तानुषङ्ग में भी अहन्तानुप्रवेश की सिद्धि हो जाती है और परिणामतः नित्योद्यन्तृत्व कभी भङ्ग नहीं हुआ करता। जिससे कि—यस्मादिदन्तानुपलब्धावहम्भावस्य राज्यभ्रष्टस्येव राज्ञः, तद्वदहमंशानुपरक्ताविदमंशस्य भागस्याराजकस्येव राज्यस्य न किञ्चिच्चमत्कारौचित्यम्।

शम्भवैक्यदीपिकाकार की दृष्टि—शम्भवैक्यदीपिका में कहा गया है—अन्तर्गता

हि प्रकाशव्याप्तिरिदमिति विश्राम्यति बहिर्गता चाहमिति, एतद्द्वयं सर्वजनप्रसिद्धमनपह्न-वनीयम्।

योगियों का आनन्द और आनन्द-श्रेणियाँ—परमशिव की पाँच शक्तियों में द्वितीय शक्ति आनन्दशक्ति है। शैव दर्शन में स्वातन्त्र्य को ही आनन्द कहा गया है।

(क) औपनिषदिक आनन्द-मीमांसा (तैत्ति. २.८)—

सैषाऽऽनन्दस्य मीमांसा भवति।

आनन्द की ११ श्रेणियाँ

१ मानुषानन्द

कोई यौवनावस्थापन्न हो, श्रेष्ठ आचरण वाला हो, वेदाध्यायी हो, शासन-पारङ्गत हो, द्रढिष्ठ बलिष्ठ, वित्तपूर्ण, समस्त पृथ्वी का शासक हो, उसकी आनन्दाप्ति = १ मानुषानन्द है।

१. समस्त पृथ्वी का शासक हो—उसकी आनन्दाप्ति = १. मानुषानन्द है।

१ मनुष्य गन्धर्वानन्द

२. १०० मानुषानन्द = १ मनुष्यगन्धर्वानन्द।

१ देव गन्धर्वानन्द

३. १०० मनुष्यगन्धर्वानन्द = १ देवगन्धर्वानन्द।

१ पितरानन्द

४. १०० गन्धर्वानन्द = १ पितरानन्द।

१ आजानज देवानन्द

५. १०० पितरानन्द = १ आजानज देवानन्द।
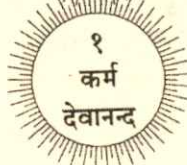
१ कर्म देवानन्द

६. १०० आजनज देवानन्द = १ कर्मदेवानन्द।

७. १०० कर्मदेवानन्द = १ देवानन्द।

८. १०० देवानन्द = १ इन्द्रानन्द।

९. १०० इन्द्रानन्द = १ बृहस्पत्यानन्द।

१०. १०० बृहस्पत्यानन्द १ प्रजापत्यानन्द।

११. १०० प्रजापत्यानन्द = १ ब्रह्मानन्द।

ते ये शतं प्रजापतेरानन्दाः। स एको ब्रह्मण आनन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य।
(तैत्तिरीयोपनिषद्)

(११) ब्रह्मानन्द
(१०) प्रजापत्यानन्द
(९) बृहस्पत्यानन्द
(८) इन्द्रानन्द
(७) देवानन्द
(६) कर्मदेवानन्द
(५) आजानजदेवानन्द
(४) पितरानन्द
(३) देवगन्धर्वानन्द
(२) मनुष्यगन्धर्वानन्द
(१) मानुषानन्द

आनन्द—आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्।

१. आनन्द ब्रह्म है।

२. आनन्द सृष्टि का मूल केन्द्र है।

३. आनन्द आत्मा है।

४. आनन्द और चैतन्य आत्मा का स्वभाव है।

५. आनन्द से समस्त प्राणियों की उत्पत्ति होती है। उसी में सभी का लय होता है।

६. सच्चिदानन्द पद के अनुसार आनन्द ब्रह्म का एक स्वभाव है।

(ख) शतपथब्राह्मण (१४.७.१.३१) **के अनुसार आनन्दों का श्रेणी-वर्गीकरण—**

ब्रह्मलोक से लेकर समस्त लोक पुनरावर्ती स्वभाव वाले लोक हैं; किन्तु परमात्म-प्राप्त साधकों का पुनरावर्तन नहीं होता—गीता।

(ग) बृहदारण्यकोपनिषदकार की दृष्टि—

बृहदारण्यकोपनिषद् में आनन्द-श्रेणी का वर्गीकरण इस प्रकार किया गया है—

बृहदारण्यकोपनिषद् (४.३.२)

ब्रह्मलोक की स्थिति सर्वोच्च आनन्द की स्थिति है; किन्तु गीताकार (८.११६) कहते हैं—
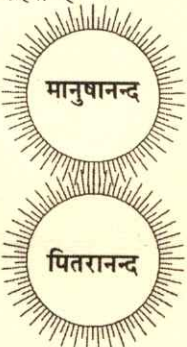
आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते।।

= १०० मनुष्यानन्द
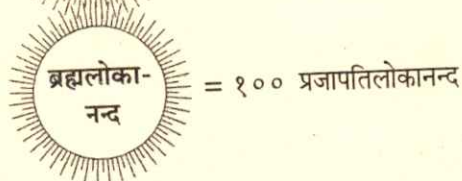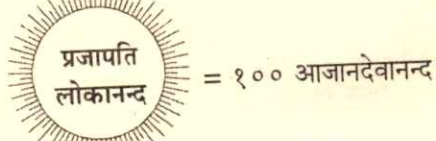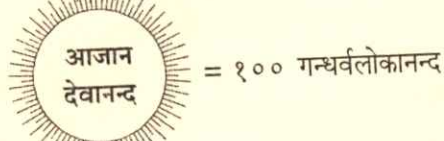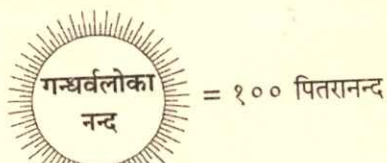
(घ) माहेश्वरतन्त्रकार की दृष्टि—

आनन्द की चतुर्दश श्रेणियाँ
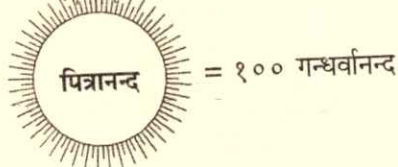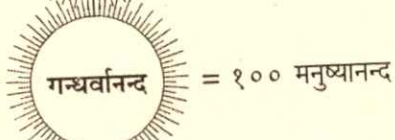
ब्रह्मानन्दमयं विश्वं नानाभावो न विद्यते।
मायोपाधिसमायोगात् नानात्वेन प्रतीयते।। (माहेश्वरतन्त्र)

वितर्कानुगत समाधि से उच्चतर विचारानुगत सम्प्रज्ञात समाधि में सूक्ष्म-तरत्व के तारतम्य से भी आनन्दों में अन्तर है। सर्ग-वर्गीकरण की दृष्टि से भी आनन्दों में अन्तर है; यथा—
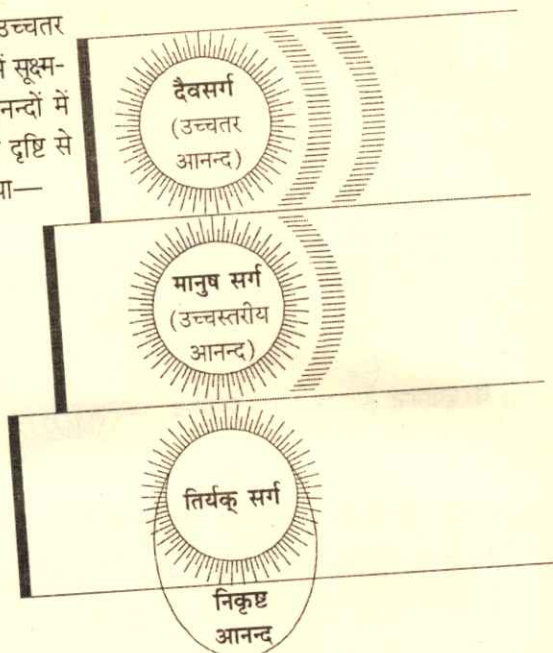
यह भी ध्यातव्य है कि—१. बृहदारण्यकोपनिषद् २. तैत्तिरीयोपनिषद् ३. शतपथ-ब्राह्मण एवं ४. माहेश्वर तन्त्र में उल्लिखित आनन्दश्रेणियों में प्रकृतिलयों एवं विदेहों के आनन्द का वर्णन नहीं किया गया है; क्योंकि ये आनन्दश्रेणियाँ केवल योगियों की हैं।[1]

योगियों के आनन्द-स्तर

प्रकृतिलयों का आनन्द (२)

विदेहों का आनन्द (१)

प्रकृतिलयों एवं विदेहों का आनन्द ६ सर्गों की अपेक्षा अधिक है।

विदेहों का स्तर—विचारानुगत समाधि से उच्चतर आनन्दानुगत समाधि की भूमि तक है। ये शरीराभिमान-शून्य भूमि हैं।

प्रकृतिलयों का स्तर—प्रकृतिलय विदेहों की भूमि से भी उच्चतर भूमि में अवस्थित हैं, अत: उनकी स्थिति अस्मितानुगता भूमि में है, अत: प्रकृतिलय अहङ्कार का अभि-मान भी परित्यक्त करके स्थित हैं।

---

१. योगभाष्य में व्यास जी कहते हैं—विदेह और प्रकृतिलय योगी कैवल्यतुल्य स्थिति में होते हैं; अत: वे किसी दिव्य लोक में निवास करने वालों से उच्चतर हैं।

आनन्द-श्रेणियाँ और चतुर्दशात्मक सर्ग

(ब्रह्मादिस्तम्ब पर्यन्त सृष्टि का वर्गी-करण)

सर्ग-वर्गीकरण (सांख्यदर्शन)
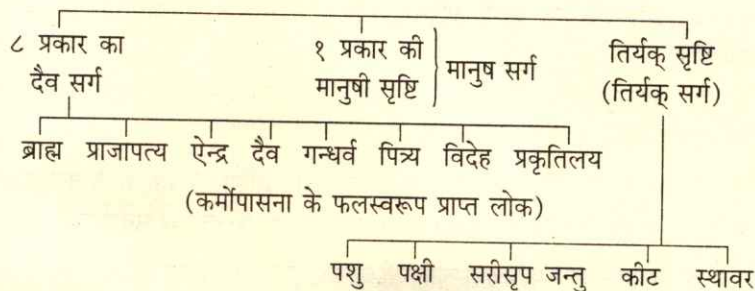
प्राणियों की सृष्टि को १४ वर्गों में विभाजित किया गया है, जिसमें—१. दैव-सर्ग (८) २. मनुष्य (१) एवं तिर्यक् सर्ग (५) = ८ + १ + ५ = १४ प्रकार की सृष्टि।

१. चतुर्दशविधो भूतसर्गः।[1]

२. अष्टविकल्पो दैवस्तैर्यग्योनिश्च पञ्चधा भवति।
मानुष्यश्चैकविधः समासतो भौतिकः सर्गः।।

१. ऊर्ध्वगर्ती सर्ग = देवसर्ग = सत्त्वगुणप्रधान (८ प्रकार)।

२. मध्यवर्ती सर्ग = मानुष सर्ग = रजोगुणप्रधान (१ प्रकार)।

३. अधोवर्ती सर्ग = सरीसृप, कीट, पशु, पक्षी, स्थावर = तमोगुणप्रधान (५ प्रकार)।

ऊर्ध्वं सत्त्वविशालस्तमोविशालश्च मूलतः सर्गः।
मध्ये रजोविशालो ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तः।।

ईश्वरकृष्ण—सांख्यकारिका (५३-५४)

सर्ग
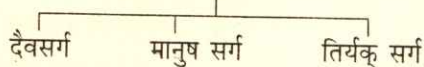
समाधि की विभिन्न भूमियों में भी आनन्द का तारतम्य पृथक्-पृथक् होता है। वितर्क 'विचार' आनन्द एवं अस्मिता (सं. स.) तथा असम्प्रज्ञात समाधियों में भी आनन्द की विभिन्न श्रेणियाँ हैं।

१. पाँचों स्थूल पञ्चमहाभूत, स्थूल शरीर, स्थूल इन्द्रियों की भावना से अभिभूत = वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात समाधि।

२. सूक्ष्म तन्मात्राओं, सूक्ष्म पञ्चमहाभूतों एवं सूक्ष्म विषयों की भावना से अभिभूत = विचारानुगत सम्प्रज्ञात समाधि।

१. महर्षि कपिल (तत्त्वसमास-१८)

३. अहमिति वृत्ति वाली अहंकार की भावना से युक्त आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात समाधि = आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात समाधि।

४. 'अहमिति' अहंकार से परे = अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधि।

५. अस्मिता वृत्ति वाली अस्मिता भावना से युक्त = अस्मितानुगत असम्प्रज्ञात समाधि।

६. आनन्दानुगता भूमि में आसक्त योगी का देहपात—विदेहदेहत्व की प्राप्ति = भव-प्रत्यय।

अस्मितानुगत भूमि में आसक्ति वाले योगी ही (अस्मिता) प्रकृतिलय देवपद प्राप्त करते हैं; न कि तन्मात्राओं एवं अहंकार की भावना से युक्त = भवप्रत्यय।

७. विचारानुगत समाधिप्राप्त योगी एवं आनन्दानुगत समाधिप्राप्त योगी = उपायप्रत्यय।

देवलोक और विदेह तथा प्रकृतिलय : आनन्द का तारतम्य

१. सारे दिव्य लोक-लोकान्तरों के देवों की अपेक्षा विदेह और प्रकृतिलय श्रेष्ठतर हैं; अतः उनके आनन्दों की श्रेणियाँ भी देवलोक से श्रेष्ठतर हैं और ये कैवल्य पद के तुल्य स्थिति में हैं।

२. विदेह एवं प्रकृतिलय देवों की कैवल्यपद-जैसी स्थिति को असम्प्रज्ञात समाधि कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि असम्प्रज्ञात समाधि तो स्थूल देह से सर्ववृत्ति-निरोध द्वारा प्राप्त की जाती है।

यह भूमि तो सम्प्रज्ञात समाधि की उच्चतर एवं उच्चतम भूमि है, जिनमें चित्त इन दोनों एकाग्रतारूप सात्त्विक वृत्तियों में परिणत हो रहा है। ये भवप्रत्यय समाधि वाले हैं, न कि उपायप्रत्यय वाले। योगभ्रष्टों की समाधि भवप्रत्यय कहलाती है।

आनन्दानुगता समाधि—इसमें अहङ्कार का साक्षात्कार हुआ करता है। यह अहङ्कार-साक्षात्कार अन्य सूक्ष्म विषयों के समतुल्य नहीं है; क्योंकि अहङ्कार, तन्मात्राओं तक समस्त सूक्ष्म विषयों एवं उनको विषय करने वाली ज्ञानेन्द्रियों का स्वयं उपादान कारण है। इसमें सत्त्व-बाहुल्य है। सत्त्वगुण में ही आनन्द है।

इस भूमि में सूक्ष्म शरीर एवं सूक्ष्म विषयों से परे अहमस्मि वृत्ति के द्वारा केवल आनन्द का ही अनुभव होता है। गीताकार कहते हैं—

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः।।
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते।।

इस आनन्दानुगत समाधि का भी त्याग कर देना चाहिये और आत्मसाक्षात्कारार्थ

प्रयास करना चाहिये अन्यथा आनन्दानुगत भूमि में स्थित योगी को मरने पर विदेहावस्था प्राप्त होती है।

विदेहावस्था एवं ब्रह्मलोकपर्यन्त सूक्ष्म लोकों का आनन्द—विदेहावस्था तो विचारानुगत भूमि में बताये गये ब्रह्मलोकपर्यन्त सूक्ष्म लोकों से अधिक सूक्ष्म, अधिक आनन्द एवं अधिक अवधि वाले हैं तथापि बन्धनस्वरूप हैं।

आनन्द ब्रह्म का पर्याय है तथापि यह भी ध्यातव्य है कि आनन्द का प्रकट हो जाना मुक्ति नहीं है—नानन्दाभिव्यक्तिर्मुक्तिर्निर्धर्मत्वात् (सांख्य-५.७४)।

यह आनन्द अन्त:करण का धर्म है, आत्मा का नहीं।

योगियों के विषय-सौख्य और उनके द्वारा त्रैलोक्य-स्फुरण

नन्विदन्ताया मायीयत्वावश्यम्भावादुद्भावितोऽयमहन्तेदन्तयोरविशेषः कथं सङ्गच्छतामित्याशङ्क्याह—

जाहिं गह्णइ जोई कलणपणालीहि विसअसोक्खाइं।
णिअहिअउव्वमरीहिं फुरणमअं ताहि कुणइ तेल्लोक्कं ॥६३॥

(याभिर्गृह्णाति योगी करणप्रणालीभिर्विषयसौख्यानि।
निजहृदयोद्वमनशीलाभिः स्फुरणमयं ताभिः करोति त्रैलोक्यम्॥)

अपने हृदय के उद्वमनशील इन्द्रिय-मार्गों से योगी विषयसुखों का ग्रहण करता है; उन्हीं से वह तीनों लोकों को स्फुरित करता है॥६३॥

प्रकृत्या परमप्रमातृपदाधिरूढोऽपि स्वेच्छामात्रेणोपाधिना परिमितप्रमातृभावमवतरन् अत एव प्रकाशानन्दसामरस्यामृतमहाह्रदायमानो योगी याभिरन्तर्बहिरिन्द्रियशक्तिलक्षणाभिः प्रवाहोपायप्रक्रियाभिः शब्दस्पर्शादिविषयवपूंषि सौख्यानि गृह्णाति आत्मसात्करोति, ताभिरेव पानीयपानोपक्रमप्रक्षरितवमथुशीकरस्तिम्यत्स्तम्बेरमहस्तपुष्करन्यायाद् व्याख्यातरूपमात्महृदयमनवरतमुद्वमन्तीभिः प्रमातृप्रमाणप्रमेयपरमार्थमेतत् त्रैलोक्यं स्वहृदयलक्षणस्फुरत्तात्मकं विधत्ते। अयं भावः—योगी ह्यात्मनः परप्रमातृभावं परिमितप्रमातृतायामन्तःकरणेष्वेतानि बहिरिन्द्रियेषु तानि च चैत्यभूमावुद्वमन्ननयैव नाड्या प्रमात्रादित्रिकमयमखिलमपि लोकवैचित्र्यं स्वात्मसंविदाश्यानतास्वभावमाधत्ते। यदुक्तं श्रीचिद्गगनचन्द्रिकायाम्—

मातृमेयमितिसाधनात्मिका त्वत्कृतोन्मिषति या विकल्पधीः।
त्वत्स्वरूपमकलङ्कितं तया कस्य देवि! विदुषो न मुक्तता॥ इति।

एवञ्च विश्वग्रसनयुक्त्या स्वाह्लादलाभानुभूतिमत्स्वसंविद्वमनमुद्रया तस्य मायीयतादोषशङ्काप्यपमृज्यत इति तात्पर्यार्थः। 'तिउडिमअं खु समत्थ' इत्यादि-कायां गाथायां प्रमात्रादित्रितयात्मनः प्रपञ्चस्य चिन्मयत्वमुन्मीलितम्। अत्र तु तस्य चिन्मयत्वादेव हेतोर्मायीयतारूपापवादपर्युदास इति विशेषः।।६३।।

महेश्वरानन्द की दृष्टि—महेश्वरानन्द कहते हैं कि परमप्रमातृपदाधिरूढ़ होने पर स्वेच्छामात्र उपाधि से परिमितप्रमातृभाव में अवतरित होकर; अतः प्रकाशानन्द साम-रस्यामृत से महाह्रदायमान योगी जिन बाह्येन्द्रियों की शक्तियों से शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धरूप सौख्य प्राप्त करता है, उन्हीं से स्फुरणशील शक्तियों से तीनों लोकों को स्फु-रित (चमत्कृत) कर देता है। समस्त विश्व-विलास योगी के स्वात्मभाव से सम्पन्न हो उठता है। वह प्रमातृ-प्रमाण-प्रमेय वाले त्रैलोक्य को स्वहृदलक्षणस्फुरत्तात्मक बना देता है।

योगी अपने परप्रमातृभाव को, परिमितप्रमातृता वाले अन्तःकरण को, बहिरिन्द्रियों को, चैत्यभूमि को एवं प्रमाता-प्रमेय-प्रमाण वाले अशेष लोकवैचित्र्य को स्वात्मसंवि-दाश्यनता स्वभाव से आक्रान्त कर देता है।

२. चिद्गगनचन्द्रिकाकार की दृष्टि—चिद्गगनचन्द्रिका में कहा गया है कि—

मातृमेयमितिसाधनात्मिका त्वत्कृतोन्मिषति या विकल्पधीः।
तत्स्वरूपमकलङ्कितं तया कस्य देवि! विदुषो न मुक्तता।।

विश्वग्रसन-युक्ति द्वारा स्वाह्लाद-प्राप्ति की अनुभूति से युक्त स्वसंविद् वमन मुद्रा के द्वारा उसके मायीय मल के दोष नष्ट हो जाते हैं।

ये गाथायें प्रमाता-प्रमेय-प्रमाण के रूप में अवस्थित प्रपञ्च को चिन्मयत्व की धारा से आपूरित कर देते हैं।

महेश्वरानन्द की दृष्टि—महेश्वरानन्द कहते हैं—गाथायां प्रमात्रादित्रितयात्मनः प्रपञ्च-स्य चिन्मयत्वमुन्मीलितम्।

यही त्रिपुटी का चिन्मयत्व या सर्वचिन्मयवाद शैवागम का लक्ष्य है। जहाँ चैतन्य है, वहाँ आनन्द भी है।

सर्वानन्दवाद—तैत्तिरीयोपनिषद् (वल्ली २, अनु. ४) में कहा गया है कि सृष्टि का जो मूल केन्द्र ब्रह्म है, वह स्वयमेव आनन्दस्वरूप है और 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न विभेति कदाचन' अर्थात् उस आनन्दरूप को जानने वाला व्यक्ति कभी भयत्रस्त नहीं होता।

आत्माऽनन्दमयः। ....आनन्द आत्मा (२.५)।
रसो वै सः। रस ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दीभवति (वल्ली-२, अनु. ७)।
आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन

जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। सैषा भार्गवी वारुणी विद्या परमे व्योम्नि प्रतिष्ठिता (तैत्तिरीयोपनिषद्-३.६)।

स्वस्वरूपावस्थान और विवेक

नन्विदं योगिनां नैश्चिन्त्यमाणवाद्युपायसव्यपेक्षतया विकल्पकक्ष्योल्लङ्घन-क्षमत्वादनैश्चिन्त्यपक्षमनुप्रविशतीत्याशङ्क्याह—

जह तुह ठिई तहच्छसु णिच्चिन्तोत्ति हु पडिट्ठिओ अत्थो ।
तत्थ वि अत्थि विवेओ एव्वं उवदिसइ तस्स को अण्णो ॥६४॥

(यथा तव स्थितिस्तथास्स्व निश्चिन्त इति खलु प्रतिष्ठितोऽर्थः।
तत्राप्यस्ति विवेक एवमुपदिशति तस्य कोऽन्यः।।)

जैसी तुम्हारी स्थिति है, उसी प्रकार स्वस्वरूप में निश्चिन्त रहते हुये स्थित एवं प्रतिष्ठित रहो—यही प्रतिष्ठित अर्थ है। वहाँ भी विवेक उन्मिषित है। इस प्रकार का उपदेश भला योगी के अतिरिक्त अन्य कौन कर सकता है?।।६४।।

यद्यप्याणवाद्युपायानां भेदप्रथानुप्राणनतया विकल्पपर्वानुप्रवेशः, तथाप्याणवे विकल्पौल्बण्यम्। शाक्ते तस्य स्फुरत्तामात्रम्। शाम्भवे तु निर्विकल्पत्वमित्यु-त्तरोत्तरपर्वानुशीलनादुक्तरूपमेषां नैश्चिन्त्यमव्याहतम्। यत् पुनः शाम्भवेऽप्युपाय-सामान्यानुप्रवेशात् सूक्ष्मेक्षिकया किञ्चिद्विकल्पशङ्काया अवर्जनीयत्वम्, तदपि निरुपायपर्वसन्निकर्षादत्यन्तशुद्धसंविन्मयं सत् पर्यन्ततो विकल्पवार्तानभिज्ञतायां पर्यवस्यति। तथाहि—

यथा स्थितस्तथैवास्स्व मा गा बाह्यमथान्तरम् ।
केनचिच्चिद्विकासेन विकारनिकरान् जहि ।।

इति स्थित्या तवोपदेशस्य येन प्रकारेण स्थितिर्वृत्तिर्भवति, तेनैव प्रकारेण विकल्पलक्षणां चिन्तामतिक्रामन्नास्स्व अव्याकुलं वर्तस्वेति योऽयमुपायभूमि-लक्षणोऽर्थः स खल्वाणवादिक्रमोल्लङ्घनेन प्रतिष्ठितः शाम्भवतात्मना पार्यन्तिक इत्याख्यायते। तत्रापि कश्चिद् विवेकोऽस्ति। पर्यालोचनया कयाचिद् भाव्यम्। यदुत एवमित्युपपादितया भङ्ग्या योऽयमुपदेशो रहस्यार्थप्रख्यापनम्, स खल्वा-स्स्वेत्यादेर्विध्यर्थस्य स्वान्यविभागरूपभेदजीवितत्वात् किंकर्मकः किंकर्तृको वा स्यादित्युभयथापि भवितुं नार्हति, तं प्रति कर्मकर्तृभूतयोरुपदेश्योपदेश-कयोर्वस्तुवृत्त्या भेदाभावात्। नन्वेवमादि(कादि?)भेदभिन्नोऽनन्तप्रकारस्तत्तत्तन्त्र-वर्ती कल्पनप्रपञ्चः कथमिति चेत् ? उपचारादिति ब्रूमः। यद् व्याख्यातमाचार्या-भिनवगुप्तपादैः श्रीत्रिंशिकाशास्त्रारम्भे—'श्रीदेव्युवाचेत्यादौ स्वात्मदेवतैव

प्रबुध्यमानावस्थायामात्मानं परामर्शेनानवरतं पृच्छति' इत्यादि। यच्चोक्तं श्री-स्वच्छन्दे—

गुरुशिष्यपदे स्थित्वा स्वयं देवः सदाशिवः।

इत्यादि। ततश्च योगिनामेतदकुतोभयत्वं स्वभावभूतमिति तात्पर्यार्थः। सर्वाकारोल्लसत्पारमेश्वरप्रकाशपरामर्शैकात्म्यपावने प्रपञ्चे स्वात्मानं प्रत्यवधाना-ऽनवधानादेर्विकल्पकल्पनाप्रकारस्य पर्यन्ततो निष्प्रयोजनत्वात्। तदुक्तं श्री-तन्त्रालोके—

त्यजावधानानि ननु क्व नाम धत्सेऽवधानं चिनुहि स्वयं तत्।
पूर्णेऽवधानान्नहि नाम युक्तं नापूर्णमभ्येति च सत्यभावः ।। इति।

किञ्च, एवमुपदिशति कस्य कोऽन्य इत्यनेन सर्वोऽयमुपदेशप्रकारस्तत्त्व-दृष्टावतात्त्विकीं भुवमवगाहत इत्यासूत्र्यते। यतः स्वात्मपरमेश्वरस्य पूर्णत्वोपपत्त्या प्रकारकल्पनानुपपत्तेर्यथा तथेत्यनयोर्वैयर्थ्यम्। बाह्याभ्यन्तरात्मनो विभागस्यानु-पपत्त्या तन्निबन्धनस्य—

चलित्वा यास्यते कुत्र सर्वं शिवमयं यतः।

इति नीत्या गमागमरूपस्यार्थस्यावास्तवत्वात् तत्प्रतियोगिनोः स्थानास-नयोरौपचारिकत्वमविप्रतिपन्नम्। 'पुरुषश्चोत्तमावधि' इति न्यायादहमर्थव्यतिरेकेण युष्मच्छब्दार्थस्यासत्कल्पत्वं चापरिहार्यम्। 'क्वचित् सतः क्वचिन्निषेधः' इति स्थित्या चिन्ताया एवाभावात् तन्निषेधरूपनैश्चिन्त्यं च न प्रामाण्यमनुभवति। एवमास्स्वेत्यादेरप्रवृत्तप्रवर्तनात्मनो विधिरूपस्यार्थस्यात्रासङ्गतत्वमित्यादि स्वयमूह्यम्।।६४।।

साधक को चाहिये कि वह निःशंक एवं अभय होकर रहे। ऐसा नहीं होना चाहिये कि वह कभी प्रपञ्चानुरक्त होकर बहिर्मुख रहे और कभी आत्मोन्मुख होकर अन्तर्मुख रहे। यह स्थिति तो मानसिक अस्थैर्य की द्योतक है। संकल्प-विकल्पात्मक स्थिति में चित्त कभी एकाग्र एवं आत्मोन्मुख नहीं हो सकता। विवेक का उदय विकल्पहीन अवस्था में ही सम्भव है।

निश्चिन्तावस्था ही योगी का स्वभाव है। यही आत्मप्रतिष्ठा है। शिवस्वरूप स्वात्मा में (स्वसंवेद्य परमतत्त्व में) प्रतिष्ठित होना ही साधना का लक्ष्य है। चिद्विकास का अबाधित व्यापार इस लक्ष्य का सोपान है। विकल्पशून्य एवं चिन्तारहित रहना ही विवेक है, जो कि आकुलता एवं भय का प्रतिपक्षी है। 'सर्वं शिवमयं' की अनुभूति ही इस विवेक का उपाय है।

महेश्वरानन्द कहते हैं कि आणवोपाय में विकल्पों का औल्बण्य है। औल्बण्य

(उल्बण + ष्यञ्) = अधिकता। अत्यधिक्य तीव्रता, तीक्ष्णता, विषमता, अत्यन्त तीक्ष्णता। महेश्वरानन्द उपायों पर प्रकाश डालते हुये कहते हैं कि आणवोपाय विकल्प-प्रधान है—

यद्यप्याणवाद्युपायानां भेदप्रथानुप्राणनतया विकल्पपर्वानुप्रवेशः तथाप्याणवे विकल्पौल्बण्यम्।

शाक्तोपाय—शाक्ते तस्य स्फुरत्तामात्रम्।

शाम्भवोपाय—शाम्भवे तु निर्विकल्पत्वमित्युत्तरोत्तरपर्वानुशीलनादुक्तरूपमेषां नैश्चिन्त्यमव्याहतम्।

यतः पुनः शाम्भवेऽप्युपायसामान्यानुप्रवेशात् सूक्ष्मेक्षिकया किञ्चिद्विकल्पशङ्कायां अवर्जनीयत्वम् तदपि निरुपायपर्वसन्निकर्षादत्यन्तशुद्धसंविन्मयं सत् पर्यन्ततो विकल्पवार्तानभिज्ञतायां पर्यवस्यति।

इसी दिशा में कहा गया है कि—

यथा स्थितस्तथैवास्स्व मा गा बाह्यमथान्तरम्।
केनचिच्चिद्विकासेन विकारनिकरान् जहि।।

योगियों के द्वारा जो विवेकापन्न उपदेश दिया गया है, वह जिस प्रकार भी स्थायी हो सके, वही करना चाहिये। महेश्वरानन्द कहते हैं—उपदेशस्य येन प्रकारेण स्थिति-र्वृत्तिर्भवति तेनैव प्रकारेण स्थित्या विकल्पलक्षणां चिन्तामतिक्रामन्नास्स्व अव्याकुलं वर्तस्व।

सारांश यह कि विकल्पापन्न चिन्ताओं को अतिक्रान्त करते हुये अव्याकुल बनो। जो इस उपायभूमि में (आणवोपाय को अतिक्रान्त करके) स्थित है, वही प्रतिष्ठित है। 'इह खलु प्रतिष्ठितोऽर्थः' (गाथा ६४) का यही अर्थ है। इसे ही 'शांभवतात्मना पार्यन्तिक' कहा गया है। वहाँ भी कोई विवेक है। उपदेश = रहस्यार्थप्रख्यापन।

अभिनवगुप्त त्रिंशिकाशास्त्र में कहते हैं कि—श्रीदेव्युवाचेत्यादौ स्वात्मदेवतैव प्रबुध्यमानावस्थायामात्मानं परामर्शेनानवरतं पृच्छति।

स्वच्छन्दागम में कहा गया है कि—

गुरुशिष्यपदे स्थित्वा स्वयं देवः सदाशिवः।

दोनों स्वभावभूत हैं तो भय कहाँ है? पारमेश्वरप्रकाशपरामर्श से एकात्म्य प्राप्त करने पर अधिगत पावनता की स्थिति में प्रपञ्च में अपने प्रति अवधानानवधान आदि विकल्पकल्पना निष्प्रयोजन है।

तन्त्रालोककार की दृष्टि—अभिनवगुप्तपाद कहते हैं—

त्यजावधानानि ननु क्व नाम धत्सेऽवधानं चिनुहि स्वयं तत्।
पूर्णेऽवधानान्नहि नाम युक्तं नापूर्णमभ्येति च सत्यभावः।।

स्वात्मपरमेश्वर की पूर्णत्वापपत्ति की स्थिति में कल्पनाओं का कोई महत्त्व नहीं है। बाह्याभ्यन्तर की एकता की स्थिति में तो—

चलित्वा यास्यते कुत्र सर्वं शिवमयं यतः।

यदि अहं प्रत्यय नहीं है तब भला युष्मत् प्रत्यय की सम्भावना क्या है? उसके हटाने की सार्थकता क्या है?

योग-भोगसाहचर्यात्मक यामली सिद्धि

इत्थमत्याश्चर्यं नैश्चिन्त्यशालिनां योगिनां स्वभावमनुसन्दधानस्तन्त्रकृत् स्वात्मनोऽपि तेभ्यो वैलक्षण्याभावात् तत्तादृक्स्वभावतापरामर्शमांसलमाह्लादातिशयमनुभवन्नेतदावेशवैवश्योद्रिक्तस्वसंविदाटोपगौरवोच्चलच्चित्तवृत्तिश्चमत्कारोत्तरमाह—

ओ संसारसुहेल्लो ओ सुलहं मोक्खमग्गसोहग्गं।
खुडिआअङ्ककलङ्का ओ सिवजोईणं जामलो सिद्धो ॥६५॥

(अहो संसारसुखातिशयः अहो सुलभं मोक्षमार्गसौभाग्यम्।
त्रुटितातङ्ककलङ्का अहो शिवयोगिनां यामली सिद्धिः।।)

अरे! कितने हर्ष की बात है कि जगत् का सर्वातिशायी सुख भी प्राप्त है (और इसके साथ ही साथ) मुक्ति-मार्ग का सौभाग्य भी। इनमें समस्त प्रकार के आतंकों का कालुष्य भी नष्ट हो चुका है। अहा! कितने सौभाग्य का विषय है कि शैव योगियों को भोगात्मिका एवं (मुक्तिगर्भित) सामरस्यात्मिका—दोनों प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त हैं।।६५।।

आश्चर्यं खल्वयं संसारलक्षणः सुखातिशयः, यो जननमरणादिरूपतया बाह्यजनं प्रति क्लेशात्मकः। तथा हेयतया निश्चीयमानोऽपि मोक्षप्रायतयाऽस्माभिरास्वाद्यते। यदुक्तं श्रीमत्स्तोत्रावल्याम्—

दुःखान्यपि सुखायन्ते विषयमप्यमृतायते।
मोक्षायते च संसारो यत्र मार्गः स शाङ्करः।। इति।

आश्चर्यं चेदं मोक्षलक्षणस्य सर्वजनमृग्यमाणस्य परमेश्वरानुग्रहैकलभ्यस्यार्थस्य सौभाग्यं हृदयहारित्वं प्रति सौलभ्यम्—

अदृष्टमण्डलोऽप्येतत् तिलाद्याहुतिवर्जितम्।।

इति श्रीत्रिंशिकाशास्त्रादिन्यायादायासशून्यमनुभवनम्, यदलिपिशिताद्युपभोगादुत्पद्यते। यदुक्तं श्रीमहावनमुनिना—

अलिपिशितपुरन्ध्रीभोगपर्याकुलोऽहं
बहुविधकुलयोगारम्भसम्भावितोऽहम् ।
पशुजनविमुखोऽहं भैरवीसंश्रितोऽहं
गुरुचरणपरोऽहं भैरवोऽहं शिवोऽहम् ।। इति।

इत्थमेकैकप्राधान्येऽप्यन्योन्यावियोगरूपमौचित्यमुपलाल्य तयोस्तुलाधारणवदत्य(न्त?न्ता)वैषम्यलक्षणमैकात्म्यं हेतुप्रयुक्त्योपबृंहयन्नाह— त्रुटितातङ्केत्यादि। शिवयोगिनो नाम—

न ध्यायतो न जपतः स्याद् यस्याविधिपूर्वकम् ।
एवमेव शिवाभासस्तं नुमो भक्तिशालिनम् ।।

इति श्रीमत्स्तोत्रावलिस्थित्या प्राणधारणाद्युपरोधव्यतिरेकेण प्रकाशात्मना शिवेन सह भूम्ना प्रशंसया नित्ययोगेन च योगं विमर्शात्मानं सम्बन्धमश्नुवाना महात्मानः। तेषां या सिद्धिः स्वस्वभावचमत्काराकारा स्फुरत्ता, सा यामली न कदाचिद् वेद्यवेदकद्वितयसृष्टिस्वरूपामुभयस्वरूपतामतिक्रामति।

यस्योन्मेषनिमेषाभ्यां जगतः प्रलयोदयौ ।
तदन्तः कालयोगेन सोमसूर्यौ प्रकीर्तितौ ।
ज्ञानक्रियात्मनोः शम्भुमरीच्योर्मेलनात्मकम् ।

इत्यनेकाम्नायप्रक्रियया सङ्कोचविकासरूपज्ञत्वकर्तृत्वापरपर्यायप्रकाशविमर्शसामरस्यात्मकं यामलोल्लासस्वभावत्वमागमेष्वाम्नायते। तदुक्तमाचार्याभिनवगुप्तनाथपादैः—'तत्र ज्ञाता नामोन्मेषनिमेषलक्षणेन सङ्कोचविकासात्मना ज्ञानक्रियालक्षणेन स्वभावेन स्वपरिस्पन्दनसार एव' इति। अस्य च यामलस्यैका कोटिः परभैरवसंवित्स्वातन्त्र्यपर्यन्तम्, अन्या चात्यन्तजडघटादिप्रकाशपर्यन्तं परिस्फुरति, यत् स्वात्मपरमेश्वरस्योदयविश्रमणस्वभावम्। 'अ इति ब्रह्म तत्रागतमहम्' इत्यैतरेयोपनिषत्प्रक्रियया नित्योदितोद्योगस्वभावं शिवशक्तिमेलापरूपं रुद्रयामलमित्याख्यायते। तदुक्तं श्रीत्रिंशिकाशास्त्रे—'इत्येतद् रुद्रयामलम्' इति। अत्र हेतुस्त्रुटितातङ्ककलङ्कत्वम्। आतङ्को हि शङ्कानिबन्धनं चाकित्यम्। शङ्का च सन्देहविप्रतिपत्त्याद्यनुप्राणनतया सकृद्विभातस्वभावस्वात्मसंविदैकरस्यास्वादं प्रति प्रत्यूहतयाऽनुभूयते। तस्य चैतत् कलङ्कत्वं यत् स्वच्छेऽपि स्वात्मनि मालिन्यशङ्काऽनुप्रवेश्यते। तादृशश्चायमातङ्कस्त्रुट्यति। स्ववासनापर्यन्तं प्रणश्यति। तदा प्रतिपादितसिद्धिलाभ इति तात्पर्यार्थः। तदुक्तमाचार्याभिनवगुप्तपादैः—'न त्वत्र विद्याव्रतादि किञ्चित् सहकारिभावेनोपयोगि। केवलं परीक्षणशङ्कातङ्कत्वमत्रोपयोगि' इति। ओ इत्याश्चर्यद्योतिकया देश्या—

दर्शनान्तरकान्तारकण्टकद्रुमकोटरात् ।
किरातः कोऽपि कूटस्थो दत्ते मन्त्रामृतं मधुः ।।

इति संविदुल्लासस्थित्या व्रतोपवासाद्युपद्रवबहुलोपायप्रयोजकानन्त-शास्त्रान्तरसङ्कटेऽपि प्रपञ्चे श्रीमदनुत्तरक्रमप्रणयनप्रवीणस्य परमेश्वरस्य परम-कारुण्यमात्रोपपादितेयमास्माकीना यामली सिद्धिः, या श्रीकुलगह्वरादिषु—

यत्तदक्षरमव्यक्तं प्रियाकण्ठेऽप्यवस्थितम् ।
ध्वनिरूपमनिच्छं तु ध्यानधारणवर्जितम् ।
तत्र चित्तं विधायैवं वशयेद् युगपज्जगत् ।

इत्यादिना भोगमोक्षसामरस्यात्मकतयोपपाद्यत इत्यासूत्र्यते। तदुक्तं श्री-तन्त्रालोके—

अस्यां भूमौ सुखं दुःखं बन्धो मोक्षश्चितिर्जडः ।
घटकुम्भवेदकार्थाः शब्दा .... ।। इति।

यह संसारस्वरूप सुख (जागतिक सुखातिशय) कितना मादक और विस्मय-गर्भित आनन्द प्रदान करने वाला है। आश्चर्य तो यह है कि यही अनन्त सुखों से गर्भित जगत् सांसारिक (बाह्यमुखी) मनुष्यों के लिये जन्म-मरणादि चक्र के रूप में अत्यधिक दुःखप्रद है। इस प्रकार इसके त्याज्य एवं घृणास्पद रूप में निश्चित किये जाने पर भी प्राणियों द्वारा इसका मोक्षवत् स्वाद ग्रहण किया जाता है।

स्तोत्रावली की दृष्टि—स्तोत्रावली में भी कहा गया है—

दुःखान्यपि सुखायन्ते विषमप्यमृतायते।
मोक्षायते च संसारो यत्र मार्गः स शाङ्करः।।

अर्थात् जहाँ शैवी मार्ग है, वहाँ तो दुःख भी सुख के रूप में तथा विष भी अमृत के रूप में रूपान्तरित हो जाते हैं। उस शांकर मार्ग में तो (बन्धनस्वरूप यह) जगत् भी मोक्ष के रूप में रूपान्तरित हो जाता है।

यह कितने आश्चर्य की बात है कि मोक्षलक्षणात्मक सर्वजनानुसन्धेय एवं परमात्मा की अनुकम्पामात्र से सौभाग्य सभी व्यक्तियों को सरलता से प्राप्य है।

त्रिंशिकाशास्त्र में भी इसी पुरुषार्थ या अध्यवसाय से रहित सुखाप्तिरूप दिव्य भोगों की प्राप्ति का उल्लेख किया गया है—

अदृष्टमण्डलोऽप्येतत् तिलाद्याहुविवर्जितम्।

इसी प्रसंग में महावनमुनि ने भी कहा है—

अलिपिशित पुरन्ध्री भोगपर्याकुलोऽहं,
बहुविधकुलयोगारम्भसम्भावितोऽहम् ।

पशुजनविमुखोऽहं भैरवीसंश्रितोऽहं,
गुरुचरणपरोऽहं भैरवोऽहं शिवोऽहम्।।

उक्त गाथा में जो 'त्रुटितातंक' (भयविमुक्त) शब्द का प्रयोग किया गया है, वह इसीलिये किया गया है; क्योंकि भोग-मोक्षसामरस्य में जो सुख है, वह भी शिवात्मक है और जो दु:ख है, वह भी शिवात्मक है; अत: किसी भी स्थिति में कहीं दु:ख है ही नहीं।

यहाँ ध्यान के कृच्छ्रसाधन एवं जप के कठोर अध्यवसाय के बिना तथा शास्त्र-विधियों के पालन के बिना भी भगवान् शिव के अनुग्रह की प्राप्ति हो जाया करती है। उत्पलदेवाचार्य इसकी पुष्टि करते हैं।

उत्पलदेवाचार्य शिवस्तोत्रावली में कहते हैं कि जिसको बिना ध्यान के तथा बिना जप के, विधिरहित रूप से मात्र ईश्वरानुग्रह के शिव का आभास (प्रकाश) प्राप्त हो, उस भक्तिशिरोमणि की हम स्तुति करते हैं।

न ध्यायतो न जपत: स्याद् यस्याविधिपूर्वकम्।
एवमेव शिवाभासस्तं नुमो भक्तिशालिनम्।।

यहाँ प्राणधारण (पूरक, कुम्भक प्राणायाम) आदि के उपरोध (बाधा) से पृथक् (व्यतिरेक) भगवान् शिव के साथ नित्य योग की प्राप्ति होती है और साथ ही प्रकाशात्मा भगवान् शिव के साथ विमर्शात्मक सम्बन्ध भी स्थापित होता है। इस शैव मार्ग में योगियों को जो यामली सिद्धि प्राप्त होती है, वह स्वस्वभाव चमत्काराकारिता स्फुरत्ता से युक्त है और वह यामली सिद्धि कभी भी वेद्य-वेदकद्वय स्वरूप वाली सृष्टि को अतिक्रान्त नहीं करती; क्योंकि कहा गया है—

यस्योन्मेषनिमेषाभ्यां जगत: प्रलयोदयौ।
तदन्त:कालयोगेन सोमसूर्यौ प्रकीर्तितौ।
ज्ञानक्रियात्मनो: शम्भुमरीच्योर्मेलनात्मकम्।।

सारांश यह कि अनेक आम्नायों में प्रतिपादित प्रक्रियाओं के द्वारा जगत् के संकोच-विकास (प्रलय-सृष्टि) रूप ज्ञत्व-कर्तृत्व के अपर पर्याय प्रकाश एवं विमर्श के सामरस्यात्मक यामलोल्लासस्वभाव का सभी आम्नायों में प्रतिपादन किया गया है।

आचार्य अभिनवगुप्त कहते हैं—तत्र ज्ञाता नामोन्मेषनिमेषलक्षणेन संकोचविकासात्मना ज्ञानक्रियालक्षणेन स्वभावेन स्वपरिस्पन्दनसार एव।

इस यामलभाव की केवल एक ही कोटि है और वह परभैरव संवित्स्वातन्त्र्यपर्यन्त स्थित है। अन्य कोटि अत्यन्त जड़ घटादि प्रकाशपर्यन्त स्फुरित होती है। कारण यह है कि स्वात्मस्वरूप परमात्मा का उदय एवं विश्रमण स्वभाव है।

ऐतरेयोपनिषद् में कहा गया है—अ इति ब्रह्म तत्रागतमहम्। इसके अनुसार रुद्र-

यामल शिव-शक्ति मेलाप-स्वरूप और नित्योदितोद्योगस्वभाव है। त्रिंशिकाशास्त्र में भी कहा गया है—इत्येतद् रुद्रयामलम्।

इस गाथा में 'आतंक' शब्द शंकानिबन्धन के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। शंका क्या है? शंका वह है, जिसके द्वारा सकृद्विभातस्वभाव, स्वात्मसंवित् एवं एकरस परा सत्ता का आस्वादन प्रत्यूहों (विघ्नों) के साथ किया जाता है। आस्वाद में विप्रतिपत्ति का अनुप्राणन होने के कारण ही इसे शंका या आतंक (संशय) कहा गया है। उस आतंक का यह कलंक, जो कि स्वच्छ स्वात्मा में भी मालिन्यात्मक शंका के रूप में प्रवेश कर जाती है। वह इत्याकारक 'आतंक' इस शैवी मार्ग में नष्ट हो जाता है। वह स्ववासनापर्यन्त विनष्ट हो जाता है। तब यह प्रतिपादित सिद्धि भी उस साधक को प्राप्त हो जाती है। इसी दृष्टि से आचार्य अभिनवगुप्तपाद ने कहा है—न त्वत्र विद्याव्रतादि किञ्चित् सहकारिभावेनोपयोगि। केवलं परीक्षणातङ्कत्वमत्रोपयोगि। कहा भी कहा है—

दर्शनान्तर-कान्तार-कण्टकद्रुम-कोटरात् ।
किरातः कोऽपि कूटस्थो दत्ते मन्त्रामृतं मधुः।।

संविदुल्लास में कहा गया है—व्रत, उपवास आदि उपद्रवबहुल उपायों के प्रयोजक अनन्त शास्त्रों में मतभेद होने पर भी तो अनुत्तर क्रम प्रणयन में पटु परमात्मा की केवल परम करुणामात्र को ही यामली सिद्धि का कारण माना जाना चाहिये।

श्रीकुलगह्वर में भी इसी स्थापना की पुष्टि की गई है—

यत् तदक्षरमव्यक्तं प्रियाकण्ठेऽप्यवस्थितम्।
ध्वनिरूपमनिच्छं तु ध्यानधारणवर्जितम्।
तत्र चित्तं विधायैवं वशयेद् युगपज्जगत्।।

इस प्रकार यहाँ पर भी भोग-मोक्षसामरस्य का प्रतिपादन किया गया है।

तन्त्रालोक में भी कहा गया है—अस्यां भूमौ सुखं दुःखं बन्धो मोक्षश्चितिर्जडः। घटकुम्भवेदकार्थाः शब्दा इति। अर्थात् शिव-शासन की भूमि में सुख-दुःख, बन्ध-मोक्ष एवं चेतन-जड़ में उसी प्रकार कोई भेद नहीं है, जिस प्रकार घट एवं कुम्भ में। ये दोनों ही शब्द एक ही अर्थ के द्योतक होने से अभिन्न हैं।[१]

अमृतस्वभाव भाव की प्राप्ति का फल

नन्वस्मिन्नकुतोभयसंविदाह्लादोभयस्वभावास्वादवपुषि पुरुषार्थे तदुत्कर्षानुकूलया कालक्रमोपकल्पनीयया कयाचिदत्यन्ततीव्रयोपास्त्या भवितव्यम्। सा चास्मदादेः सद्यो न सम्पद्यत इति श्रूयमाणतामात्रसौभाग्यमेतदर्थोन्मीलनम्, न पुनः स्वहृदयानुभूतिपर्यवसायीत्याशङ्कां क्षपयितुमाह—

१. परिमल

खणमेत्तफंसिएण वि अमअसहावेण णेण भावेण।
सव्वोत्तिण्णो सव्वो सव्वइरं लहइ सव्वसोहग्गं ॥६६॥

(क्षणमात्रस्पृष्टेनाप्यमृतस्वभावेनानेन भावेन।
सर्वोत्तीर्णः सर्वः सर्वचिरं लभते सर्वसौभाग्यम्।।)

क्षणमात्र के लिये भी इस अमृतस्वभावस्वरूप भाव का संस्पर्श होने पर (योगी) सर्वोत्तीर्ण हो जाता है (अर्थात् समस्त बन्धनों से मुक्त हो जाता है) और समस्त सौभाग्य सदा के लिये प्राप्त कर लेता है।।६६।।

योऽयमन्वादिश्यमानो भावः स्वहृदयस्फुरत्तापरपर्याया महासत्ता स खलु—

यस्मिन् काले तु गुरुणा निर्विकल्पं प्रभाषितम्।
तदैव किल मुक्तोऽसौ यन्त्रं तिष्ठति केवलम्।।

इति श्रीरत्नमालामर्यादया गुरुकटाक्षपातलक्षणात् काललेशविशेषात्मनः क्षणादेव सृष्टानुप्रविष्टो भवन्नप्यमृतस्वभावचिदाह्लादद्वितयसामरस्याकारसार-स्वरूपतया जीवन्मुक्त्यात्मा महोपभोगो भवति। अथवा अत एव हेतोरमृतस्वभावो नित्यास्वाद्यतानैयत्ययोगात्। 'अस्योच्चारे कृते' इत्यारभ्य 'फलं यद् वा समीहितम्' इत्यन्तं श्रीत्रिंशिकाशास्त्रस्थित्या मुहूर्तप्रहरवासरादिकालक्रमोत्कर्षकक्ष्यानुवृत्तेरुपर्यु-परिपरामर्शानुस्यूतिदर्शितदार्ढ्ययोगश्च सम्पद्यत इत्यावृत्त्या योजना। तादृशा च भावेन हेतुभूतेन सर्वस्तिर्यक्त्वमनुष्यत्वजीवत्वामृतत्वजडत्वाजडत्वादितारतम्य-शून्यः प्रमातृवर्गः सर्वस्मात्—

समनान्तं पाशजालमुन्मन्यन्ते परः शिवः।

इति स्थित्या विश्वविलासलक्षणाद् बन्धहेतोरुत्तीर्णः शुद्धचैतन्यस्वभावो भवन् सर्वचिरम्

ब्रह्मायुषो दशगुणं विष्णोरायुः परं स्मृतम्।
सहस्रगुणितं तस्माद् रुद्रस्यायुः परं किल।।
तस्माल्लक्षगुणं प्रोक्तमीश्वरस्यायुरुत्तमम्।
तस्मात् सदाशिवस्यायुः प्रोक्तं कोटिगुणं बुधैः।
समुद्रगुणितं तस्माच्छिवयोर्देहधारणम्।

इति श्रीलघुबृंहणीमर्यादोपपादितब्रह्मविष्ण्वादिपुरुषायुषप्रवृत्तिपरिपाटी-रूपकालक्रमोत्खण्डनेन यावत्कालतत्त्वं सर्वं पाषाणादिजडपदार्थस्वभावापत्ति-पर्यन्तमिदन्तासाम्राज्यं परमशिवीभावरूपचैतन्योत्कर्षकाष्ठावधिकमहन्ता-सम्पत्संभोगसर्वस्वं चेति सम्भूय विश्वतदुत्तीर्णत्वसामरस्यास्वादसामानाधिकरण्य-रूपं सौभाग्यमन्तःकरणहरणप्रावीण्यलक्षणं श्लाघ्यत्वातिशं लभते स्वपरिस्पन्दा-

त्मकतया प्राप्नोति। अयं भावः—श्रीमद्देशिकनाथकटाक्षपातसमसमयमेव पुंसां स्वहृदयसंवादसौन्दर्यशालिनो जीवन्मोक्षलक्षणस्य पुरुषार्थस्योपलम्भ इत्यत्र न काचिद् विप्रतिपत्तिः। यदुक्तं श्रीत्रिंशिकाशास्त्रे—'सद्यः कौलिकसिद्धिदम्, सद्यो योगविमोक्षदम्' इति च। यथोक्तमाचार्याभिनवगुप्तपादैः—'एतद् यो लभते स लाभकाल एव न पशुः' इति। तादृशस्यैव च भावस्यान्तः परामर्शः क्रिया-समभिहारे तत्तदणिमाद्यैश्वर्यस्वभावो बहिर्विभूतिपरिस्पन्दोऽनुभूयते। तदुक्तं तत्रैव—

एतदभ्यस्यतः सिद्धिः सर्वज्ञत्वमवाप्यते ।। इति।

यद् व्याख्यातमभिनवगुप्तपादैः—'अभ्यासेन विनापि जीवन्मुक्ता परा कौलिकी सिद्धिः' इति। क्षणमात्रेति। क्षणिक एव हि परामर्शः—

सकृज्ज्ञाते सुवर्णे मा भावनाकरणं व्रजेत् ।

इति श्रीशिवदृष्टिदृष्ट्या बहिष्ठेष्वपि पदार्थेष्वसंशयमर्थक्रियामर्थं प्रयोजयति। किमुत स्वस्वभावात्मनि परमेश्वराख्ये भाव इत्यर्थः। यदुक्तं तत्रैव—

एकवारं प्रमाणेन शास्त्राद् वा गुरुवाक्यतः ।
ज्ञाते शिवत्वे तत्रस्थप्रतिपत्त्या दृढात्मना ।।
करणेन नास्ति कृत्यं क्वापि भावनयापि वा । इति।

अत्र पृथगनेकार्थशालिनां सर्वशब्दानामर्थप्रपञ्चप्रस्तावो विस्तारायेत्यलं ग्रन्थगौरवेण। यत् संभूय सर्वसाम्यस्वभावा महार्थसिद्धान्तोपनिषदुन्मील्यते। यदुक्तमागमे—

समता सर्वभावानां वृत्तीनां चैव सर्वशः ।
समता सर्वदृष्टीनां द्रव्याणां चैव सर्वशः ।
भूमिकानां च सर्वासामोवल्लीनां च सर्वशः ।
समता सर्वदेवानां वर्णानां चैव सर्वशः ।। इति।

श्रीरत्नमाला में कहा गया है कि जिस भी काल में गुरु निर्विकल्प तत्त्व का उपदेश देते हैं, उसी काल में उनकी शक्तिपातजन्य अनुकम्पा और उनके लोकोत्तर आत्मबल द्वारा साधक मुक्त हो जाता है। वह अमृतस्वभाव चिदाह्लाद और सामरस्याकार जीवन्मुक्ति के महोपभोग (अप्रतिम परमाह्लाद) का आस्वादन करता है।

श्रीत्रिंशकशास्त्र में 'अस्योच्चारे कृते' से लेकर 'फलं यद् वा समीहितम्' पर्यन्त कथनों में भी इसी तथ्य की पुष्टि की गई है। इसमें कहा गया है कि गुरुकृपा-प्राप्त साधक मुहूर्त, प्रहर, वासर आदि के कालक्रम से अपनी साधना एवं सिद्धि की कक्षा में उत्तरोत्तर सिद्धि-उत्कर्ष के व्योम में आरोहण करता हुआ आत्मपरामर्श की अनुस्यूति

में दार्ढ्य योग (दृढ़ता) प्राप्त करता जाता है। इस दार्ढ्य योग के भाववश वह तिर्यक् भाव, मनुष्यत्व, जीवत्व, अमृतत्त्व, जडत्व, अजडत्व आदि के तारतम्य से मुक्त होकर परप्रमाता परमशिव बन जाता है। स्पष्ट है कि 'समना' तक पाशजाल बिछा हुआ है और उन्मना के अन्त में परमशिव का अवस्थान है—

समनान्तं पाशजालमुन्मन्यन्ते परः शिवः।

आचार्य महेश्वरानन्द पूर्वपक्ष की ओर से यह शंका उठाते हैं कि जब तक साधना में कठोर अध्यवसाय, तीव्र उपासनापूर्वक दीर्घकाल तक अभ्यास एवं तप नहीं किया जाता, तब तक सिद्धि नहीं मिलती; फिर इन उपायों एवं कृच्छ्र अभ्यासों के बिना भला भगवदनुग्रह ही कैसे प्राप्त हो जाएगा एवं उसके द्वारा सरलतापूर्वक यामली सिद्धि (भोग-मोक्षसामरस्यात्मक सिद्धि) ही कैसे प्राप्त हो जाएगी। उत्तर पक्ष में इसी शंका के निराकरणार्थ उन्होंने अगली गाथा में कहा है—

खणमेत्तफंसिएण वि अमअसहावेण णेण भावेण।
सव्वोत्तिण्णो सत्वो सत्वइरं लहइ सव्वसोहग्गं।।

गुरुकृपा-प्राप्त योगी विश्वविलासात्मक बन्धनों से उत्तीर्ण होकर एवं शुद्धचैतन्यस्वभाव होकर ब्रह्मायु, विष्णु की आयु, रुद्रायु, ईश्वरायु, सदाशिवायु को अतिक्रान्त करता हुआ परमकालातीत परशिवत्व को प्राप्त करता है। इन पूर्वकथित देवों की आयु का क्रम इस प्रकार है—

ब्रह्मायुषो दशगुणं विष्णोरायुः परं स्मृतम्।
सहस्रगुणितं तस्माद् रुद्रस्यायुः परं किल।।
तस्माल्लक्षगुणं प्रोक्तमीश्वरस्यायुरुत्तमम्।।
तस्मात् सदाशिवस्यायुः प्रोक्तं कोटिगुणं बुधैः।
समुद्रगुणितं तस्माच्छिवयोर्देहधारणम्।।

श्रीमान् देशिकनाथ के कृपाकटाक्ष से उसी समय शिष्य स्वहृदयसंवादात्मक सौन्दर्य से मण्डित होकर जीवन्मुक्तिलक्षणात्मक पुरुषार्थ प्राप्त कर लेता है। इसमें कोई विप्रतिपत्ति नहीं है—श्रीमद्देशिकनाथकटाक्षपातसमसमयमेव पुंसां स्वहृदयसंवादसौन्दर्यशालिनो जीवनमोक्षलक्षणस्य पुरुषार्थस्योपलम्भ इत्यत्र न काचिद् विप्रतिपत्तिः।[1]

साधक 'परमशिवीभावरूपचैतन्योत्कर्षकाष्ठावधिकमहन्तासम्पत्संभोगसर्वस्वं' से लेकर 'विश्वमुत्तीर्णत्वसामरस्यास्वादसामानाधिकरण्यरूपसौभाग्यमन्तःकरणप्रावीण्यलक्षणा से युक्त स्वपरिस्पन्दात्मक' सिद्धोत्कर्ष के अभ्रंलिह शिखर तक पहुँच जाता है।

त्रिंशिकाशास्त्र में शैवशासनोक्त सिद्धि को सद्यःसिद्ध कहा गया है। 'सद्यः लौकिक-

१. परिमल

सिद्धिदम्' एवं 'सद्यो योगविमोक्षदम्' कहकर सिद्धि की कालनिरपेक्षता प्रतिपादित की गई है।

आचार्य अभिनवगुप्त कहते हैं—अभ्यासेन विनापि जीवन्मुक्ता परा कौलिकी सिद्धिः। अर्थात् विना किसी कृच्छ्र अभ्यास के भी जीवन्मुक्तिसंज्ञक परा कौलिकी सिद्धि प्राप्त हो जाती है। क्षणिक परामर्श भी यह कृतकृत्यता प्रदान कर देता है।

शिवदृष्टि में सोमानन्द कहते हैं—

सकृज्जाते सुवर्णे माभावनाकरणं व्रजेत्।

कहा गया है—

एकवारं प्रमाणेन शास्त्राद् वा गुरुवाक्यतः।
ज्ञाते शिवत्वे तत्रस्थप्रतिपत्त्या दृढ़ात्मना।
करणेन नास्ति कृत्यं क्वापि भावनयापि वा।।

इस शैवशासन में प्रतिपादित 'महार्थ सिद्धान्त उपनिषद्' सर्वसाम्यस्वभाव के रूप में उन्मीलित हुआ है।[१]

आगम में इसी साम्यभाव का प्रतिपादन करते हुये कहा गया है कि यह समत्व भाव सभी भावों एवं वृत्तियों में, सभी समस्त दृष्टियों एवं द्रव्यों में, सभी भूमिकाओं, देवताओं एवं वर्णों आदि सभी में होनी चाहिये—

समता सर्वभावानां वृत्तीनां चैव सर्वशः।
समता सर्वदृष्टीनां द्रव्याणां चैव सर्वशः।।
भूमिकानां च सर्वासामोवल्लीनां च सर्वशः।
समता सर्वदेवानां वर्णानां चैव सर्वशः।।

यह सर्वसाम्यस्वभाव ही महार्थसिद्धान्त का रहस्यपक्ष है।

गुरु के शक्तिपात की महिमा

नन्वेवमनायाससाध्यमर्थं प्रति प्रमातॄणां सौलभ्याविशेषात् कथं मुक्तामुक्त-व्यवस्था द्वैविध्यव्यवहार इत्याशङ्क्याह—

गूढादो गूढअरो होइ फुडादो वि फुडअरो एसो।
देसिअकडक्खपादे पक्खो पुढमो ण होइ धण्णाणं।।६७।।

(गूढाद् गूढतरो भवति स्फुटादपि स्फुटतर एषः।
देशिककटाक्षपाते पक्षः प्रथमो न भवति धन्यानाम्।।)

सौभाग्यशाली साधकों का गुरु के शक्तिपातमात्र से गूढ़ से गूढ़तर एवं स्फुट से

१. परिमल

स्फुटतर सारे प्राथमिक उभयात्मक व्यवहार समाप्त हो जाते हैं।।६७।।

एष प्राकरणिकतया परामृश्यमानोऽर्थो यः स्थूलसूक्ष्मप्रकटाप्रकाशव्यक्ताव्यक्तक्षराक्षरेति विष्णुपुराणप्रक्रियया प्राकट्यमप्राकट्यं चेत्यात्मन्यवस्थाद्वयमुद्भावयति। तत्र च यदगूढं स्तम्भकुभादि व्यवहारं प्रति। गूढं वेदान्तादिनिर्णीतिमर्थतत्त्वम्। ततोऽप्ययं गूढतरोऽत्यन्तगुह्यो भवति। यदुक्तं श्रीत्रिंशिकाशास्त्रे—

एतद् गुह्यं महागुह्यं कथयस्व मम प्रभो । इति।

यश्चास्फुटमन्तरिक्षप्रसूनादिं प्रति स्फुटः स्तम्भकुम्भादिः प्रकाशमानः प्रमेयप्रपञ्चः, ततोऽपि स्फुटतरः प्रकृष्टप्राकट्यो भवति। तच्च 'सो कस्स फुटो न होइ कुलणाहो' इत्यत्र वितव्य व्याख्यातम्। एवमुभयस्वभावतायामस्य स्वातन्त्र्यव्यतिरेकेण नान्यः कश्चिदुपाधिरुपपद्यते। कथं तर्हि मुक्तामुक्तव्यवस्थेति चेत्? विषयविभागादिति ब्रूमः। तथाहि—देशिकस्य कुलाचार्यस्य कटाक्षपाते शक्तिपाताविनाभूते संभवति धन्यानामपश्चिमजन्मनां केषाश्चित् प्रमातृणां प्रथमः पक्षः पूर्वार्धप्रस्तुतो गूढाद् गूढतर इत्येवंरूपः कल्पो न भवति, किं तर्हि, स्फुटात् स्फुटतर इत्येवमाकारः।

दीयते शिवसद्भावः क्षप्यते पाशसंचयः ।

इति नीत्या दानक्षपणलक्षणदीक्षाविनाभूतो द्वितीय एव तेषां पक्षः सम्पद्यते। ततश्च देशिककटाक्षपातधन्यानां पुंसां परमशिवीभावलक्षणो मोक्षः, तदन्येषां पाशवावेशस्वभावो बन्ध इति व्यवस्थेति तात्पर्यार्थः। अत्र देशो देशना स्वात्मप्रत्यभिज्ञापनारूपरहस्यार्थोपदेशनात्मा स्वभावोऽस्यास्तीति व्युत्पत्त्या गुरुनाथशरीरानुप्रविष्टः परमेश्वर एव कारुण्यादवच्छिन्नप्रमातृरूपं शिष्यमुत्तारयतीत्युद्भाव्यते। यदुक्तमागमे—

कुलाचार्यमधिष्ठाय देवो दीक्षयिता शिवः । इति।

यच्चोक्तं श्रीतन्त्रालोके—

गुरुहृदयनिविष्टः शङ्करोऽनुग्रहीता । इति।

एतेन—

दीक्षया मुच्यते जन्तुः प्रातिभेन तथा प्रिये!।
गुर्वायत्ता तु सा दीक्षा बद्धबन्धनमोक्षणे।।
प्रतिभा स्वस्वभावस्तु केवलीभावसिद्धिदः।।

इति श्रीकिरणप्रक्रियया पुंसां स्वप्रतिभामात्रनिष्पद्यमानमोक्षानुभावानामपि पर्यन्ततः किञ्चिद्देशिकनाथानुग्रहावश्यम्भाव एवेत्युक्तं भवति। येन परमेश्वर-

स्वातन्त्र्याधीनविजृम्भिते विश्वस्मिन्नेतदाज्ञामन्तरेण तेषां तादृक् प्रतिभैव न संपद्यते। परमेश्वरानुप्रविष्टशरीरस्यैव च भगवतो देशिकनाथस्य दीक्षाद्यलौकिकक्रियो-पक्षेपक्षमत्वमिति। तस्य च कटाक्षपाते सतीत्यनेन केवलं चाक्षुष्येव दीक्षाख्यायते। यावदाणवशाक्तशाम्भवाख्यप्रकारत्रयानुप्रविष्टास्तत्तद्देशकालस्वभावानुगुण्या-द्यन्यतमौचित्यशालिनः सर्वेऽपि तत्प्रकाराः परामृश्यन्ते। यतः कटाक्षो नाम गुरोरनुग्राह्यं प्रत्यनुवेशयितुमिष्टा स्वहृदयसंविन्मयी शाम्भव्याद्यशेषदीक्षानुस्यूता दृक्शक्तिरित्याख्यायते। यदाहुः—

सा च सर्वाध्वसंपूर्णमात्रसंविदभेदिना ।
गुरुणाऽनुग्रहधिया शिष्ये यदवलोकनम् ।। इति।

तत्र गुरोर्मन्त्रोद्भावनद्वारा शिष्यस्य श्रवणमात्रप्राधान्येन स्वरूपसमावेश-दायिनी दीक्षाणवी, कुण्डलिनीशक्त्युल्लेखनात्मिका मनोव्यापारानुसन्धेया शाक्ती, सर्वविकल्पवैमुख्येन स्वस्वरूपाविभिन्नशम्भुसमावेशस्वभावा शाम्भवीति विवेकः। एवं शक्तिपातस्य तीव्रतीव्रतरत्वादयोऽपि भेदाः स्वयमूहनीयाः। सर्वथा देशिकनाथचरणशुश्रूषामात्रानुप्राणनमेतत् कौलिकसिद्धान्तानुसन्धानमिति रहस्यम्। यदुक्तं मयैव श्रीपादुकोदये—

गुरुमत्तैव नः शास्त्रे परमं फलमुच्यते । इति।

यच्चोक्तं श्रीमहाभारते—

ऋतस्य दातारमनुत्तरस्य निधिं निधीनां चतुरन्वयानाम् ।
ये नाद्रियन्ते गुरुमर्चनीयं पापाल्लोकांस्ते व्रजन्त्यप्रतिष्ठान् ।। इति।

विष्णुपुराण की दृष्टि—विष्णुपुराण में यह परामृश्यमान अर्थ स्थूल-सूक्ष्म, प्रकट-अप्रकट, प्रकाशित-अव्यक्त, व्यक्त-अक्षर और इस प्रकार प्रकट एवं अप्रकटरूप में (आत्मा में) दो अवस्थाओं में उद्भावित किया गया है। स्तम्भ एवं कुम्भादिक के प्रति किए गये व्यवहार के प्रसंग में तो यह अर्थ अगूढ़ है। वेदान्त आदि दर्शनशास्त्रों में अर्थों की जो मीमांसा की गई है, वे गूढ़ हैं। यह गूढ़तर अर्थ अत्यन्त गुह्य है।

त्रिंशिकाशास्त्रकार की दृष्टि—एतद् गुह्यं महागुह्यं कथयस्व मम प्रभो। कुलाचार्य (देशिक) के शक्तिपात (कटाक्ष) से प्रथम पक्ष (गूढ़ से गूढ़ से स्फुट से स्फुटतर प्रथमावस्था) की स्थिति मिट जाती है—नहीं रह जाती है।

द्वितीय पक्ष क्या है? दीक्षा (दानक्षपणलक्षणात्मक दीक्षा) ही द्वितीय पक्ष है, जो कि सम्पन्न हो जाती है—दानक्षपणलक्षणदीक्षाविनाभूतो द्वितीय एव तेषां पक्षः सम्पद्यते (परिमल)।

दीक्षातत्त्व

दीक्षा शास्ता की एक शक्ति है शक्तिपात है। इसके दो पक्ष हैं—दान एवं क्षपण—

दीयते शिवसद्भावः क्षप्यते पाशसञ्चरः।

देशिक के कृपाकटाक्षपातजन्य शक्तिपात से धन्य हुये लोगों को परमशिवीभाव-लक्षणात्मक मोक्ष प्राप्त होता है; किन्तु अन्य लोगों को, जो कि पाशवावेशस्वभाव वाले हैं, उन्हें बन्धनपाश में परिबद्ध होना पड़ता है—'देशिककटाक्षपातधन्यानां पुंसां परमशिवीभावलक्षणो मोक्षः तदन्येषां पाशवावेशस्वभावो बन्ध इति व्यवस्था।'

शैवशासन में जो देशना होती है, वह स्वात्मप्रत्यभिज्ञापनात्मक, रहस्यार्थोपदेशनात्मा स्वभावात्मक होती है एवं इसमें परमेश्वर गुरुनाथ के शरीर में अनुप्रविष्ट होते हैं।

परमेश्वर का गुरु में यह प्रवेश शिष्य को बन्धन से मुक्त करने, संसार-सागर से तारने हेतु की गई करुणामात्र होती है—अत्र देशना स्वात्मप्रत्यभिज्ञापनारूपरहस्यार्थोपदेशनात्मा स्वभावोऽस्यास्तीति व्युत्पत्त्या गुरुनाथशरीरानुप्रविष्टः परमेश्वर एव कारुण्यादवशाच्छिन्नप्रमातृरूपं शिष्यमुत्तारयतीत्युद्भाव्यते।

आगम में भी कहा गया है—

कुलाचार्यमधिष्ठाय देवो दीक्षयिता शिवः।

इस कारुण्यनिःसृता दीक्षा से प्राणी मुक्त हो जाता है और उसे केवलीभाव की भी प्राप्ति होती है—

दीक्षया मुच्यते जन्तुः प्रातिभेन तथा प्रिये।
गुर्वायत्ता तु सा दीक्षा बद्धबन्धनमोक्षणे।
प्रतिभा स्वस्वभावस्तु केवलीभावसिद्धिदः।।

जिन योगियों में अपनी विशिष्ट प्रतिभा की शक्ति द्वारा मोक्षानुभव निष्पद्यमान है, उन्हें भी देशिक की कृपा (चाहे थोड़ी मात्रा में ही अपेक्षित क्यों न हो, किन्तु) आवश्यक है—पुंसां स्वप्रतिभामात्रनिष्पद्यमानमोक्षानुभावानामपि पर्यन्ततः किञ्चिद्देशिकनाथानुग्रहावश्यम्भाव एवेत्युक्तं भवति।

कारण यह है कि पारमेश्वरी स्वातन्त्र्य शक्ति के अधीनस्थ एवं उसके विजृम्भण के परिणामरूप इस विश्व में शक्ति की कृपा के बिना प्रतिभा भी प्राप्य नहीं है। परमेश्वरानुप्रविष्ट शरीर वाले देशिकनाथ (गुरु) की दीक्षादिक अलौकिक क्रिया द्वारा ही शिष्य में शक्ति का सञ्चार होता है। चूँकि गुरु के कटाक्षपातमात्र से दीक्षा सम्पन्न हो जाती है; अतः इस दीक्षा को 'चाक्षुषी दीक्षा' कहते हैं—तस्य च कटाक्षपाते सतीत्यनेन केवलं चाक्षुष्येव दीक्षाख्यायते।

चूँकि देशिकनाथ आणव, शाक्त एवं शांभव नामक तीन उपाय-मार्ग से शिष्य

के शरीर में अनुप्रविष्ट होते हैं; अत: दीक्षा भी मुख्यत: तीन प्रकार की होती है— आणवी दीक्षा, शाक्ती दीक्षा एवं शांभवी दीक्षा।

देशिककटाक्षपाते पदावली (गाथा क्र. ६७) में प्रयुक्त 'कटाक्ष' शब्द गुरु द्वारा अनुग्राह्य शिष्य के प्रति अनुवेशाभिलाषिणी, स्वहृदयसंविन्मयी शांभवी दीक्षा शक्ति के स्वरूप में अनुस्यूत है; अत: इसे दृक्शक्ति कहते हैं—

सा च सर्वाध्वसम्पूर्णमात्रसंविदभेदिना।
गुरुणाऽनुग्रहधिया शिष्ये यदवलोकनम्।।

चाक्षुषी दीक्षा—महेश्वरानन्द कहते हैं—

(क) तस्य च कटाक्षपाते सतीत्यनेन केवलं चाक्षुष्येव दीक्षाख्यायते।

(ख) यत: कटाक्षो नाम गुरोननुग्राह्यं प्रत्यनुवेशयितुमिष्टा स्वहृदयसंविन्मयी शाम्भव्याद्यशेषदीक्षानुस्यूता दृक्शक्तिरित्याख्यायते।

(ग) सा च सर्वाध्वसम्पूर्णमात्रसंविदभेदिना।
गुरुणाऽनुग्रहधिया शिष्ये यदवलोकनम्।।

आणवी दीक्षा—गुरु द्वारा मन्त्रोद्भावन-प्रक्रिया से शिष्य को श्रवणमात्रप्रधाना तथा स्वरूपसमावेशदायिनी दीक्षा आणवी दीक्षा कहलाती है। महेश्वरानन्द कहते हैं—तत्र गुरोर्मन्त्रोद्भावनद्वारा शिष्यस्य श्रवणमात्रप्राधान्येन स्वरूपसमावेशदायिनी दीक्षाणवी।

शाक्ती दीक्षा—कुण्डलिनीशक्त्युल्लेखनात्मिका मनोव्यापारानुसन्धेया शाक्ती। यह मनोव्यापारानुसन्धेया है और कुण्डलिनी शक्ति के जागरण एवं ऊर्ध्वारोहण के मार्ग की सम्पादिका है।

शाम्भवी दीक्षा—समस्त विकल्पों के वैमुख्य से युक्त स्वस्वरूप से अपृथक् एवं शम्भुसमावेशस्वभावा दीक्षा ही शाम्भवी दीक्षा है। महेश्वरानन्द कहते हैं—सर्वविकल्पवैमुख्येन स्वस्वरूपाविभिन्नशम्भुसभावेशस्वभावा शाम्भवीति विवेक:।

इन दीक्षाओं में जो शक्तिपात किया जाता है, वह तीव्र, तीव्रतर आदि के भेद से अनेक प्रकार के हैं।

कौलिकसिद्धान्तानुसन्धान का रहस्य तो यही है कि देशिकनाथ के चरणों की सेवा से ही यह दीक्षाशक्ति अनुप्राणित है। इसके अतिरिक्त यह अन्य कुछ भी नहीं है—सर्वथा देशिकनाथचरणशुश्रूषमात्रानुप्राणनमेतत् कौलिकसिद्धान्तानुसन्धानमिति रहस्यम्।

पादुकोदय में भी इसी तथ्य की पुष्टि की गई है—

गुरुमत्तैव न: शास्त्रे परमं फलमुच्यते।

महाभारत में कहा गया है—

ऋतस्य दातारमनुत्तरस्य निधिं निधीनां चतुरन्वयानाम्।
ये नाद्रियन्ते गुरुमर्चनीयं पापाल्लोकांस्ते व्रजन्त्यप्रतिष्ठान्।।

यहाँ चार श्रोत बताये गये हैं। ये चारो भी परमेश्वर-प्रणीत हैं और अन्तर्वेत्ता इनका भी आदर करते हैं। यहाँ अनुत्तराम्नायानुशीलन के प्राचुर्य के कारण पुरुषार्थ के उपाय के रूप में गृहीत किया गया है। शैव शासन में इसका प्रयोजकत्व तो नहीं है; किन्तु फिर भी गाथा क्र. ६८ में इसका उल्लेख अवश्य किया गया है और कहा गया है—

आस्तामन्या विद्या चतु:स्रोतसामपि सागराणामिव।
एनमेवामृतमयं मथ्नाति मन्थानभैरवो देव:।।

बन्धन और मोक्ष—बन्धन क्या है और मोक्ष क्या है? महेश्वरानन्द कहते हैं—

(क) पाशवावेशस्वभाव ही बन्धन है—तदन्येषां पाशवावेशस्वभावो बन्ध इति व्यवस्था।

(ख) गुरु के अनुग्रह से प्राणियों का परमशिवीभाव ही मोक्ष है—ततश्च देशिक-कटाक्षपातधन्यानां पुंसां परमशिवीभावलक्षणो मोक्ष: (परिमल)।

देशिक और देशना—देशिक = गुरु। देशना का स्वरूप क्या है? महेश्वरानन्द कहते हैं—अत्र देशना स्वात्मप्रत्यभिज्ञापनारूपरहस्यार्थोपदेशनात्मा स्वभावोऽस्यास्तीति व्युत्पत्त्या गुरुनाथशरीरानुप्रविष्ट: परमेश्वर एव कारुण्यादवच्छिन्नप्रमातृरूपं शिष्यमुत्तारयतीत्युद्भाव्यते।

आगम में कहा गया भी कहा है—

कुलाचार्यमधिष्ठाय देवो दीक्षयिता शिव:।

अपनी प्रतिभा से प्राप्त मोक्ष के केन्द्र में भी किसी देशिक की शक्ति निहित रहती है—स्वप्रतिभामात्रनिष्पद्यमानमोक्षानुभावानामपि पर्यन्तत: किञ्चिद्देशिकनाथानुग्रहावश्यम्भाव एव।

पारमेश्वरानुग्रह की प्रेरणा से देशिकनाथ साधक के शरीर में प्रविष्ट होकर दीक्षादिक अलौकिक क्रियाओं के द्वारा साधक को मोक्ष प्राप्त कराते हैं। चाक्षुष्य दीक्षा क्या है? 'तस्य च कटाक्षपाते सतीत्यनेन केवलं चाक्षुष्येव दीक्षाख्यायते।' इसी प्रकार आणव, शाक्त, शाम्भव नाम वाली दीक्षायें भी होती हैं।

कटाक्ष—कटाक्ष का क्या अर्थ है? 'यत: कटाक्षो नाम गुरोरनुग्राह्यं प्रत्यनुवेशयितुमिष्टा स्व-हृदयसंविन्मयी शाम्भव्याद्यशेषदीक्षानुस्यूता दृक्शक्तिरित्याख्यायते।' कहा भी गया है—

सा च सर्वाध्वसम्पूर्णमात्रसंविदभेदिना।
गुरुणाऽनुग्रहधिया शिष्ये यदवलोकनम्।।

मन्थानभैरवोक्त अमृतात्मिका विद्या की सर्वोच्चता

ननु स्रोतांसि हि चत्वारि परमेश्वरप्रणीतान्यन्तर्विद्भिराद्रियन्ते। अत्र त्वनुत्तराम्नायानुशीलनं प्राचुर्यात् पुरुषार्थोपायतया प्रत्यपादि। तदत्राप्रयोजकत्वमन्यत्रानाश्वासशङ्का वा प्रसज्येत। येनोभयत्राप्यनौचित्यमित्याशङ्क्याह—

अच्चउ अण्णा विज्जा चउसोत्ताणं वि साअराणं व।
एणं चिअ अमअमअं मन्थइ मन्थाणभेरवो देवो ॥६८॥

(आस्तामन्या विद्या चतुःस्रोतसामपि सागराणामिव।
एनमेवामृतमयं मथ्नाति मन्थानभैरवो देवः॥)

चारों स्रोतों वाले समुद्र के समान ज्ञान, अर्चा, सांख्य, योग, वेदान्त, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा एवं अन्य विद्यायें चुपचाप बैठ जायँ (विश्राम करें) या ठहर जायँ। अमृतात्मिका विद्या तो मात्र यही है, जिसका भगवान् मन्थानभैरव (शिव) मन्थन किया करते हैं॥६८॥

परमेश्वरो हि सर्वानुग्राहकतया—

पुष्पे गन्धस्तिले तैलं देहे जीवो जलेऽमृतम्।
यथा तथैव शास्त्राणां कुलमन्तः प्रतिष्ठितम्॥

इति श्रीतन्त्रालोकस्थित्या श्रुतिस्मृत्यादिषु बाह्यविद्यासु कौलिक्येवावगाह्येति, श्रीमत्स्रोतश्चतुष्टये चैनमेवार्थमुपसन्नं जनमनुभावयितुमुद्भावयतीत्यस्मन्निश्चयः। यदाशयेन—

सांख्यं योगं पाञ्चरात्रं वेदांश्चैव न निन्दयेत्।

इत्यागमेष्वाख्यायते। तत्र—

न्यायागमादि मदुपेक्षितमप्यसारं
स्वीकृत्य केचिदधिकं मदमुद्वहन्ति।
निर्माल्यमुज्झितमपि प्रभुणा पृथिव्यां
चेट्यो हि मूर्ध्नि विनिवेश्य परिभ्रमन्ति॥

इति नीत्या बाह्यत्वेनावभासमानत्वादन्यतयाभिमता सांख्ययोगादिस्वभावा विद्या तावदास्ताम्, अनुत्थानमेवास्या भवतु। विद्येति जातावेकवचनम्। अलमत्र श्रुतिस्मृत्यादीनां बाह्यविद्यानां महार्थोपायतया प्रत्यायनप्रागल्भ्येनेति यावत्। तच्च 'सण्णाविसेसणिण्णअ' (श्लोक २) इत्यत्र विस्तीर्य पर्यालोचितम्। यानि पुनरलौकिकानि वैतत्यगाम्भीर्याक्षोभ्यत्वादिसाधर्म्येण समुद्रस्थानीयानि चत्वारि पूर्वदक्षिणादिक्रमेण परमेश्वरमुखचतुष्टयप्रणीतानि स्रोतांसि स्वच्छस्वादुशीतला-

भ्यन्तराह्लादरसोत्तरतया स्वात्मसंवित्प्रवाहरूपा आज्ञाः, तेषां सम्बन्धिनमन्तस्तात्पर्यकक्ष्यारूढतया गूढस्वभावमेनमेवामृतमयं स्वसंविदात्मना केनचिदाह्लादेन प्रकृतमर्थातिशयं मन्थानभैरवात्मा देवो मथ्नाति। तत्तत्स्रोतःप्रतिपाद्यार्थान्तरानादरोत्तरं स्वात्मशक्त्या पृथक् पिण्डीकृत्योत्थापयति। एतदुक्तं भवति—बाह्यविद्यासु नृत्तगीतप्रभृतयोऽपि कलाः स्वस्फुरत्तानुसन्धानावस्थायां सहृदयहृदयसंविदैकाग्र्यलक्षणस्य चमत्कारोत्कर्षस्य प्रयोजकतया पर्यन्ततो महान्तमेवार्थमुन्मीलयन्ति, किमुत वेदशास्त्रेतिहासपुराणादयः। केवलं तेषां पारम्पर्यादुपायभूतत्वमेव भेद इत्यत्र वन्ध्यो वाकोवाक्योपन्यासप्रबन्धः। अलौकिके तु स्रोतश्चतुष्टये ज्ञानयोगक्रियाचर्याप्राधान्येन पृथक् पृथगुपपादितार्थान्तरप्रपञ्चेऽप्यन्ततो गत्वा प्राप्यभूमिकात्वेनायमेवार्थोऽवस्थाप्यते। यदुक्तमागमे—'चतुराज्ञाकोशभूताम्' इति। यच्च व्याख्यातमस्मत्परमगुरुभिः श्रीमदृजुविमर्शिन्याम्—'चतुष्पीठाधिष्ठातृमहासंविदालम्बनेन प्रवृत्तचतुःस्रोतोरूपा महापदवी चतुराज्ञा, तस्याः कोशभूता महाधिष्ठात्री शेवधिस्ताम्' इति। यच्चोक्तं श्रीक्रमकेलौ—'वामदक्षिणतन्त्रादिष्वप्येतन्मयमेव सर्वं निर्वहतीति मन्तव्यम्' इति। एवञ्च सर्वदर्शनसारत्वादमुष्य श्रीमहार्थक्रमस्य सर्वस्रोतोतिशायी कोऽपि श्यालघ्यत्वोत्कर्षं ध्वन्यते। यदुक्तं श्रीमहानयप्रकाशे—

एवंविधं यदधिगन्तुमिहात्मतत्त्वं
मिथ्याविकल्पविभवोद्दलनं च सम्यक्।
युक्तिं महानयमयीं न विहाय शक्यं
सर्वोत्तमोत्तमतमो हि ततो महार्थः।। इति।

अत एव ह्यन्यत्राशरणानामेतदेकशरणत्वमत्यन्तदुर्घटघटनप्रागल्भ्योद्भटमुद्घाट्यते। यदाहुः—

सर्वोपायपरिक्षीणास्ते महार्थार्थिनः किल। इति।
अस्ति नान्या गतिस्तेषां विकल्पग्राससाहसात्। इति च।

'यश्चायमेवंविधार्थमथनप्रगल्भो भगवान्, अत एव सर्वपर्यन्तप्रतिष्ठास्थानरूपो यः कुलेश्वरः, स एव यतः स्वशक्तिं निर्मथ्य सृष्ट्यादिकारी, अत एवंविधं श्रीमन्थानं भैरवं नमामीति सम्बन्धः' इति श्रीक्रमकेलिक्लृप्त्या स्वेच्छामात्रविजृम्भितविश्वक्षोभतयाऽनुभूयते। तस्य कौलिकेषु तन्त्रेषु भैरव इति प्रायो व्यपदेशो भवति। भीरवः संसारचकिताः प्राणिनः, तेषामयमभयप्रदायितया सम्बन्धीति वा, भीः संसारचाकित्यं तन्निबन्धनो रवः प्राणिनामाक्रन्दस्तस्य प्रवर्तक इति वा, प्रतिपादितचाकित्यनिवृत्तये मनसि परामृश्यतया वर्तत इति वा, भियं पशु सम्बन्धिनीमुद्दिश्य

रवणं यच्छ(ब्दं?ब्दनं) तत्स्वभावानां माहैश्वर्यादीनां वर्गाधिष्ठात्रीणां स्वामीति वा, लोकसम्बन्धिनीं भियं रौति दातव्यतया परामृशतीति भीरुर्मृत्युकालादिरवच्छिन्नो भयङ्करवर्गस्तस्यापि भयङ्कर इति वा, भानि नक्षत्रोपलक्षितानि चन्द्रसूर्यादीनि ज्योतींषि तानीरयति प्रेरयतीति भेरः कालस्तं वाययन्ति शोषयन्तीति भेरवाः कालग्रासरसिका महायोगिनस्तेषामधिष्ठातेति वा, विश्वं प्रति भरणरमणवसनानां प्रयोजयितेति वा भैरव इत्युच्यते। यदुक्तं श्रीक्षेमराजेन—

भीरूणामभयप्रदो भवभयाक्रन्दस्य हेतुस्ततो
हृद्धाम्नि प्रथितश्च भीरवरुचामीशोऽन्तकस्यान्तकः।
भेरं वायति यः सुयोगिनिवहस्तस्य प्रभुर्भैरवो
विश्वस्मिन् भरणादिकृद् विजयते विज्ञानरूपः शिवः ।। इति।

स च देवः, दीव्यतेः क्रीडाविजिगीषाद्यनेकार्थाभिधानसामर्थ्यात्। तत्र हेयोपादेयतादिविकल्पवैमुख्येन स्वसंविदेकघनतयोच्चलनं क्रीडा। सर्वोत्कर्षेण वर्तितुमौन्मुख्यं विजिगीषा। निर्विकल्पेऽप्यात्मनि विकल्पप्रथापरामर्शो व्यवहारः। अवभास्याशेषप्रपञ्चावभासनाविनाभूता स्वयम्प्रकाशता द्युतिः। स्वरूपलाभमारभ्य सर्वाम्नायप्रवृत्तिपर्यवसानास्पदत्वं स्तुतिः। सृष्ट्यादिषु कृत्येष्विच्छाज्ञानक्रियात्मकशक्तित्रयाङ्गीकारो गतिरिति। तदुक्तं मयैव—

नैश्चिन्त्योत्कटमुच्चलन्नभिलषन् सर्वोत्तरं वर्तितुं
स्वस्मिन् भेदमभेदितेऽपि विमृशन् स्वात्माविशेषं स्फुरन्।
अर्थानामुदयव्ययप्रकृतिभूरुच्छ्रायवानिच्छया
देवो दृक्क्रिययोः प्रदीप्तमहिमा भावेषु वो दीव्यतु ।।६८।।

तन्त्रालोक की दृष्टि—तन्त्रालोक में कहा गया है कि जिस प्रकार पुष्प में परिमल, तिल में स्नेह (तैल), देह में जीवात्मा और जल में अमृत प्रतिष्ठित है, ठीक उसी प्रकार समस्त शास्त्रों के मध्य कुलशास्त्र (कुलामृत) प्रतिष्ठित है—

पुष्पे गन्धस्तिले तैलं देहे जीवो जलेऽमृतम्।
यथा तथैव शास्त्राणां कुलमन्तःप्रतिष्ठितम्।।

श्रुति-स्मृति आदि बाह्य विद्याओं में मात्र कौलिकी विद्या (कुलामृत) ही अवगाह्य है—श्रुतिस्मृत्यादिषु बाह्यविद्यासु कौलिक्येवावगाह्येति।[1]

वेद-शास्त्र-पुराण आदि उस महार्थ तत्त्व के बाह्यवर्ती एवं पारम्परिक उपाय हैं; किन्तु तुलनात्मक दृष्टि से ये वन्ध्यावत् हैं। अलौकिक स्रोतचतुष्टय ज्ञान-योग की क्रियाओं को प्राधान्य देने के कारण पृथक्-पृथक् अर्थान्तरों को उपपादित करने के कारण अन्त-

१. स्वोपज्ञ परिमल

तोगत्वा प्राप्य भूमिका के रूप में उस महार्थ को प्राप्त कराने में सहायक ही हैं।

ऋजुविमर्शिनी में कहा गया है—चतुष्पीठाधिष्ठातृमहासंविदालम्बनेन प्रवृत्तचतुः-स्रोतोरूपा महापदवी चतुराज्ञा, तस्याः कोशभूता महाधिष्ठात्री शेवधिस्ताम्।

क्रमकेलि में भी कहा गया है—वामदक्षिणतन्त्रादिष्वप्येतन्मयमेव सर्वं निर्वहतीति मन्तव्यम्।

समस्त दर्शनों का सारभाग होने के कारण महार्थक्रम सर्वस्रोतोऽतिशायी है और श्लाघ्योत्कर्ष पर समारूढ़ है।

महानयप्रकाश में भी कहा गया है—

एवंविधं यदधिगन्तुमिहात्मतत्त्वं,
मिथ्याविकल्पविभवोद्दलनं च सम्यक्।
युक्तिं महानयमयीं न विहाय शक्यं
सर्वोत्तमोत्तमतमो हि ततो महार्थः।।

अन्य उपायों की शरण में जाने की अपेक्षा यही उपाय सर्वोत्तम है; क्योंकि महार्थियों के लिये सारे उपाय परिक्षीण हैं—

सर्वोपायपरिक्षीणास्ते महार्थार्थिनः।
किल अस्ति नान्या गतिस्तेषां विकल्पग्राससाहसात्।।

क्रमकेलि में कहा गया है कि—यश्चायमेवंविधार्थमथनप्रगल्भो भगवान् अतएव सर्वपर्यन्तप्रतिष्ठास्थानरूपो यः कुलेश्वरः, स एव यतः स्वशक्तिं निर्मथ्य सृष्ट्यादिकारी, अत एवंविधं श्रीमन्थानभैरवं नमामीति सम्बन्धः।

क्लृप्ति द्वारा स्वेच्छामात्र से विजृम्भित विश्व क्षेमरूप में अनुभूत होता है। ज्ञान के स्रोतचतुष्टय (श्रुति, स्मृति, आगम आदि) में इस कुलामृतात्मक कौलानुशासन के उपसन्न अर्थ का अनुभव कराने हेतु इस ज्ञान की उद्भावना की गई है।

आगमों में भी यह तो कहा ही गया है कि—

सांख्यं योगं पाञ्चरात्रं वेदाश्चैव न निन्दयेत्।

तथापि आगमों में यह भी कहा गया है कि—

न्यायागमादि मदुपेक्षितमप्यसारं
स्वीकृत्य केचिदधिकं मदमुद्वहन्ति।
निर्माल्यमुज्झितमपि प्रभुणा पृथिव्यां
चेट्यो हि मूर्ध्नि विनिवेश्य परिभ्रमन्ति।।

आचार्य महेश्वरानन्द कहते हैं कि सांख्य-योगप्रभृति सभी दर्शन बाह्यवर्ती हैं

और बाह्यत्वेनावभासमान विद्यायें हैं; अत: अब ये रुक जायें—ठहर जायँ; क्योंकि इनका अनुत्थान ही औचित्यपूर्ण होगा। जो श्रुतियाँ एवं स्मृतियाँ हैं, ये भी बाह्य विद्यायें हैं। यद्यपि ये महार्थ के उपाय हैं और महार्थ के प्रत्यायन में सहयोगी हैं तथापि उपायमात्र हैं; उपेय नहीं।

पूर्व, दक्षिण, पश्चिम एवं उत्तर के नाम से प्रथित भगवान् शिव के चारो मुखों द्वारा जो आम्नायचतुष्टयस्वरूप (विद्याओं के चार स्रोतरूपी) महार्णव है, उसमें निर्मल, स्वादिष्ट, शीतल और आभ्यन्तर आह्लाद रसस्वरूप स्वात्मसंवित् प्रवाह विद्यमान है। उस अमृतात्मक पयोनिधि को भगवान् मन्थानभैरव स्वसंवित् रूप मथानी से अतीवाह्लादपूर्वक मथते हैं; वही है—शैवशासन का अमृत।

बाह्य विद्याओं में नृत्य-गीत आदि कलायें सम्मिलित हैं। स्वस्फुरत्तानुसन्धान की अवस्था में सहृदयों के हृदय में विद्यमान संवित् की एकाग्रता के स्वरूप वाले चमत्कारोत्कर्ष के प्रयोजक होने पर ही नृत्य-गीत आदि उत्कृष्ट आनन्द प्रदान करते हैं; अन्यथा नहीं। कौलिक तन्त्रों में प्राय: भैरव शब्द द्वारा ही महार्थ या परासत्ता को द्योतित किया जाता है।

भैरव—भैरव का अर्थ क्या है—

१. भीरव:—संसारचकिता: प्राणिन: तेषामयमभयप्रदायितया सम्बन्धीति वा।

२. भी: संसारचाकित्यं तन्निबन्धनो रव: प्राणिनामाक्रन्दस्तस्य प्रवर्तक इति वा।

३. प्रतिपादितचाकित्यनिवृत्तये मनसि परामृश्यतया वर्तत इति वा।

४. भियं पशुसम्बन्धिनीमुद्दिश्य रवणं यच्छब्दनं तत्स्वभावानां माहैश्वर्यादीनां वर्गाधिष्ठात्रीणां स्वामीति वा।

५. लोकसम्बन्धिनीं भियं रौति दातव्यतया परामृशतीति।

६. भीरुर्मृत्युकालादिरवच्छिन्नो भयङ्करवर्गस्तस्यापि भयङ्कर इति वा।

७. भानि नक्षत्रोपलक्षितानि चन्द्रसूर्यादीनि ज्योतींषि तानीरयति प्रेरयतीति।

८. भेर: कालस्तं वाययन्ति शोषयन्तीति भेरवा:।

९. कालग्रासरसिका महायोगिनस्तेषामधिष्ठातेति वा।[१]

१०. विश्वं प्रति भरणरमणवसनानां प्रयोजयितेति वा भैरव इत्युच्यते।

आचार्य क्षेमराज कहते हैं—

भीरूणामभयप्रदो भवभयाक्रन्दस्य हेतुस्ततो
हृद्धाम्नि प्रथितश्च भीरवरुचामीशोऽन्तकस्यान्तक:।
भेरं वायति य: सुयोगिनिवहस्तस्य प्रभुर्भैरवो
विश्वस्मिन् भरणादिकृद् विजयते विज्ञानरूप: शिव:।।

देव किसे कहते हैं? देव: दीव्यते: क्रीड़ा विजिगीषाद्यनेकार्थाभिधानमानर्थ्यात्।[२]

१-२. परिमल

विश्वात्मिका क्रीड़ा का कर्णधार भी तो शिव है। विश्वरूप क्रीड़ा का स्वरूप क्या है? हेयोपादेयता आदि विकल्पों के वैमुख्य से स्वसंवित्तत्त्व की घनता के स्वरूप में उसका उच्चलन ही क्रीड़ा है—'तत्र हेयोपादेयादिविकल्पवैमुख्येन स्वसंविदेकघनतयोच्चलनं क्रीडा।' इसी प्रसंग में अन्य परिभाषायें लें, यथा—

(क) सर्वोत्कर्षेण वर्तितुमौन्मुख्यं विजिगीषा।
(ख) निर्विकल्पेऽप्यात्मनि विकल्पप्रथापरामर्शो व्यवहार:।
(ग) अवभास्याशेषप्रपञ्चावभासनाविनाभूता स्वयम्प्रकाशता द्युति:।
(घ) स्वरूपलाभमारभ्य सर्वाम्नायप्रवृत्तिपर्यवसानास्पदत्वं स्तुति:।
(ङ) सृष्ट्यादिषु कृत्येष्विच्छाज्ञानक्रियात्मकशक्तित्रयाङ्गीकारो गतिरिति।[1]

इसी भाव को प्रसंगान्तर में इस प्रकार कहा गया है—

नैश्चिन्त्योत्कटमुच्चलन्नभिलषन् सर्वोत्तरं वर्तितुं
स्वस्मिन् भेदमभेदितेऽपि विमृशन् स्वात्माविशेषं स्फुरन्।
अर्थानामुदयव्ययप्रकृतिभूरुच्छ्रायवानिच्छया
देवो दृक्क्रिययो: प्रदीप्तमहिमा भावेषु वो दीव्यतु।।[2]

आवागमनात्मक संसरण से मुक्ति

ननु कथमत्यन्तभिन्नमन्त्रतन्त्रपद्धतिपारम्पर्यादिप्रकारस्याप्यस्य स्रोतश्चतुष्टयस्य फलोत्पत्तिं प्रत्येतदैकरूप्यमित्याकाङ्क्षामधिक्षिपन् प्रक्रान्तस्य महातन्त्रस्य निष्कृष्टमर्थतत्त्वं संग्रहेणोद्घाटयितुमाह—

हन्त रहस्सं भणिमो मूढा! मा भमह गब्भगोलेसुं।
अच्चासण्णं हिअअं पज्जालोएह तस्स उज्जोअं।।६९।।

(हन्त रहस्यं भणामो मूढा! मा भ्रमत गर्भगोलेषु।
अत्यासन्नं हृदयं पर्यालोचयत तस्योद्योगम्।।)

बड़े दु:ख का विषय है कि तुम गर्भचक्र में भटक रहे हो। मैं गूढ़ रहस्यतत्त्व को उद्घाटित कर रहा हूँ। तुम जन्म-मरण के संसरणचक्ररूप गर्भ-गह्वर में मत भटकते रहो।।६९।।

हे मूढा:! मायामोहमालिन्यकज्जलकलुषितात्मान:, तत एव शरीराद्यहन्तानुसन्धानवन्त: प्रमातार:! वयमेते केचन देशिककटाक्षपातप्रत्यक्षितात्यैश्वर्योच्छ्राया: परानुजिघृक्षावेशवैवश्याक्रान्तचित्तवृत्तयश्च सन्त:—

तदेतत् परमं गुह्यं योगिनीनां मुखे स्थितम्।

१-२. परिमल

इति स्थित्या गोप्यमर्थतत्त्वं भणामो वैखरीवाक्पर्यन्तं परामृशामः। अन्याभिमुखीकारादुक्तरूपसंरम्भोपन्यासो हि तन्मनसि तादृक्परामर्शार्पणं विना न सङ्गच्छते। अन्यथा वैखर्या वैयर्थ्यप्रसङ्गादित्यामन्त्र्यमाणान् पुरुषविशेषानर्थतत्त्वं किञ्चित् परामर्शयाम इत्युक्तं भवति। तत्र भणितव्यमर्थमवस्थाप्य मध्ये तदपरिज्ञानोपाधिकमुपद्रवाधिक्यं तत्परिज्ञानप्ररोचनातात्पर्येणोपपाद्यते—मा भ्रमत गर्भगोलेष्विति। किमिति जननीजठरगह्वरान्तर्वासक्लेशमनुभवताऽनायासेन कस्मिंश्चित् तत्प्रतीकारोपाये विद्यमानेऽपीति यावत्। मा भ्रमतेति गर्भगह्वरभ्रमणनिषेधाभिधानेन वक्ष्यमाणस्यार्थस्य तत्प्रतिबन्धपाटवं प्रत्यव्यभिचारो व्यज्यते। गर्भवासो ह्युपद्रवानुभूतीनां परा भूमिः। भ्रमणेन च तस्य 'मातापितृसहस्राणि' इति न्यायादनेककालानुवृत्तत्वमाक्षिप्यते। तच्च जननम्—'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः' इति भगवद्गीतानीत्या, 'विनाशाघ्रात उत्पादः' इति श्रीमत्क्षेमराजोक्त्या च मरणानुभूत्यविनाभूतं तदुभयान्तर्भूतं चाखिलमपि दुःखानुभूतिबाहुल्यमिति जन्ममय्या पीडया सर्वमपि संसारव्यसनमुपसंगृह्यते। यदाशयेनोक्तं श्रीलघुभट्टारके—

ज्ञात्वेत्थं न पुनः स्पृशन्ति जननीगर्भेऽर्भकत्वं नराः। इति।

अथ भणितव्यमेवार्थं भणितुमस्यात्यन्तसुलभत्वोपपादनद्वारा पीठिकां बध्नाति—अत्यासन्नं हृदयमिति। यदिदं षडध्वोल्लासमष्टिरूपस्य स्वशरीरस्यानुप्राणनतयाऽवतिष्ठमानमविकल्पावस्थायां तदुत्तीर्णोल्लेखं च सत्प्रकाशविमर्शद्वितयमेलापलक्षणमन्तस्तत्त्वं हृदयमित्युच्यते, तस्य पर्वताग्रनदीतीरादिवन्न कदाचिदनासत्तिशङ्का सम्भवति, स्वस्वरूपाविभिन्नत्वादेतदासत्तिं प्रत्यतिशयस्यानुभूयमानत्वात्। तादृशस्य चास्य य उद्योगो यतः कुतश्चिदप्याकारादौदासीन्यापहस्तनस्वभावमुद्यन्तृत्वम्, तत् परित इच्छाज्ञानक्रियापरिस्पन्दप्रवर्तिताशेषविश्वव्यवहारप्रथापरामर्शपूर्वकमालोचयत आत्मानुकूल्यादवलोकयध्वम्। यस्मिन्नेकत्रैव साध्ये चतुःस्रोतःप्रवर्तिता मन्त्रतन्त्रादयः प्रभञ्जनाभिव्यञ्जन इव व्यजनवातायनवस्त्राञ्चलभस्त्रिकाफूत्कारप्रभृतयो बहुप्रकारमुपाया उपपाद्यन्ते। येन च क्षणमात्रानुबद्धेनापि जननमरणाद्यशेषोपद्रवव्युदासशाली जीवन्मोक्षलक्ष्मीमहोपभोगः सम्पद्यते। स चोद्योगः कदाचिदिन्द्रियपरिस्पन्दानुबन्धी क्रियाशक्तिस्फाररूपो रूपरसादिविषयग्रहणकौतूहलाद् बहिः प्रमेयशय्यामधिशय्य व्याक्षेपविभ्रममनुभवति, कदाचिच्च ज्ञानशक्त्यवष्टब्धो विषयेभ्यः प्रत्यावृत्त्य स्वात्ममात्रविश्रान्तिस्वभावां प्रत्यगानन्दसम्पदमुपभुङ्क्ते। यदुभयं दण्डमुण्डक्रमात्मकतया शास्त्रेष्वनुशिष्यते। यदुक्तमागमे—

मुण्डनं ज्ञानरूपेण दण्डनं च क्रियात्मना।
मुण्डदण्डक्रमौ तेन मतौ ज्ञानक्रियात्मकौ॥ इति।

स्तैमित्यादिरूपा व्यवस्था हृदयस्य कश्चिदुद्यमप्रकारविशेषः। यदुक्तं लक्ष्मी-तन्त्रे—

स्तिमितं यत् परं ब्रह्म तस्य स्तिमिततास्म्यहम् । इति।

तादृशस्य च हृदयस्योद्योगेनाक्रान्ते लोकव्यवहारे—

तस्मात्तत्त्वमतत्त्वं वा न भानेन विना भवेत् ।
स्वसाम्राज्यवशाद् भानं तत्तत्त्वातत्त्वयोः समम् ।।
यथा यथा प्रथा पुंसः शाम्भवी सा च नापरा ।

इत्यादिनीत्या ग्राह्यं विषयं प्रति निषिद्धत्वमनिषिद्धत्वं वेति तारतम्यचिन्ताया न कस्याश्चिदप्यवकाशः, यतो विधिनिषेधविषययोर्धर्माधर्मयोरालोच्यमानयोः सामान्यविशेषभावादधिकारिविभागवैचित्र्यादन्योन्याविरुद्धानेकशास्त्रमर्यादाभेद-व्यवस्थापनानुप्राणनत्वाच्च न किञ्चिन्नैयत्यमालोक्यत इति सर्वश्राव्योऽर्थः। अषड-क्षीणस्तु—

धीकर्माक्षगतां देवीं निषिद्धैरेव तर्पयेत्।

इति रहस्याम्नायन्यायादन्यशास्त्रविगर्हितानि महिलामद्यमांसादीन्येव द्रव्याण्यस्मदुपास्यानां देवतानां सपर्यासु परिबर्हतयाऽभ्यर्हितानीति। यदुक्तं श्रीमहा-नयप्रकाशे—

अन्यैरावारकत्वेन ये भावाः परिवर्जिताः ।
तैरेव ज्ञानिनामर्थं जाज्वलीति परा चितिः ।। इति।

प्रपञ्चितप्रायं चैतत् प्रागेवेत्यलं रोमन्थनानुबन्धेन। भ्रमतेत्यादि लोट्प्रत्ययेन–

तातेति किञ्चित् तनयेति किञ्चि-
न्ममेति किञ्चिन्न ममेति किञ्चित् ।
तवेति किञ्चिन्न तवेति किञ्चिद्
भौतं स्वयं बहुधा मालपेस्त्वम् ।। इति।

इति श्रीमदालसोक्तियुक्त्या मायाव्यामूढचेतसं पशुजनं प्रति शोचनीयता द्योत्यते। हन्तेत्यनेन तु तन्त्रकृतस्तदपरिमृज्यमन्यं जनं प्रत्यमन्दः कारुण्योत्कर्ष इति।।६९।।

आचार्य शंकर ने—

पुनरपि जननं पुररपि मरणं पुनरपि जननीजठरे शयनम्।
भज गोविन्दं भज गोविन्दं भज गोविन्दं मूढ़मते।।

कहकर प्राणियों को जिस संसरण-चक्र से मुक्त होने की शिक्षा दी थी, उसी की शिक्षा महेश्वरानन्द भी दे रहे हैं।

हन्त = बड़े दुःख की बात है। हृदय = हृदय का सामान्य अर्थ तो हृत्प्रदेश है; किन्तु शैव-शाक्त-परम्परा में हृदय 'शक्ति' का एक पर्याय है।

शैव आचार्य उत्पलदेव प्रत्यभिज्ञाकारिका में कहते हैं—

सा स्फुरत्ता महासत्ता देशकालाविशेषिणी।
सैषा सारतया प्रोक्ता हृदयं परमेष्ठिनः।। (१.४५)

उत्पलदेवाचार्य हृदय की व्याख्या करते हुये प्रत्यभिज्ञाकरिकावृत्ति में कहते हैं— सा विश्वात्मनः परमेश्वरस्य स्वात्मप्रतिष्ठारूपा हृदयमिति तत्र तत्रागमे निगद्यते।।

परमात्मा परम शिव की विमर्श शक्ति के अनेक अभिधान या पर्याय हैं; यथा— चिति, प्रत्यवमर्शात्मा, परावाक्, स्वरसोदिता, स्वातन्त्र्य, ऐश्वर्य, स्फुरत्ता, महासत्ता, सार, हृदय—

चितिः प्रत्यवमर्शात्मा परावाक् स्वरसोदिता।
स्वातन्त्र्यमेतन्मुख्यं तदैश्वर्यं परमात्मनः।। (४४)

अर्थात् हृदय परमेष्ठी (परमेश्वर) की स्वात्मप्रतिष्ठा या विमर्श शक्ति है। यही अघटनघटनापटीयसी स्वातन्त्र्य शक्ति भी कहलाती है। इसे ही स्फुरत्ता, सार, महासत्ता आदि भी कहते हैं।

महेश्वरानन्द ने अपनी व्याख्या स्वोपज्ञ परिमल में 'हृदय' शब्द का अर्थ इस प्रकार किया है—यदिदं षडध्वोल्लाससमष्टिरूपस्य स्वशरीरस्यानुप्राणनतयाऽतिष्ठमानमविकल्पावस्थायां तदुत्तीर्णोल्लेखं च सत्प्रकाशविमर्शद्वितयमेलापलक्षणमन्तस्तत्त्वं हृदयमित्युच्यते। अर्थात् प्रकाश (शिव) विमर्श (शक्ति)—इन दोनों के सम्मिलन (मेलाप) स्वरूप अवस्थित अन्तस्तत्त्व ही हृदय है।

ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी में अभिनवगुप्तपादाचार्य हृदय की व्याख्या करते हुये कहते हैं—हृदयं च नाम प्रतिष्ठास्थानमुच्यते, तच्च उक्तनीत्या जडानां चेतनं, तस्यापि प्रकाशात्मत्त्वं तस्यापि विमर्शशक्तिः इति विश्वस्य परमे पदे तिष्ठतो विश्रान्तस्य इदमेव हृदयं विमर्शरूपं परमन्त्रात्मकं तत्र तत्र अभिधीयते। सर्वस्य हि मन्त्र एव हृदयम् मन्त्रश्च विमर्शनात्मा, विमर्शनं च परावाक्छक्तिमयम्, तत एवोक्तम्—

न तैर्विना भवेच्छब्दो नार्थो नापि चितेर्गतिः।[१]

हृदय—

१. शिव की स्वातन्त्र्य (विमर्श) शक्ति का पर्याय। (उत्पलदेव)

---

१. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी (अभिनव गुप्त)

२. उत्पलदेव—हृदय = विश्वात्मा परमेश्वर की स्वात्मप्रतिष्ठा।

३. महेश्वरानन्द—हृदय = प्रकाश-विमर्श का मेलापस्वरूप अन्तस्तत्त्व।

४. अभिनवगुप्त (ई. प्र. वि.)—प्रतिष्ठास्थान।

(क) सभी का हृदय मात्र मन्त्र है। मन्त्र विमर्शनात्मात्मा है। विमर्शन परावाक् शक्ति से संयुक्त है।

(ख) परम पद में विश्रान्त विश्व का परमन्त्रात्मक विमर्श ही हृदय है।

उद्योग—सामान्यत: तो यह शब्द अध्यवसाय, प्रयत्न या प्रयास के अर्थ में गृहीत होता है; किन्तु इसका गुह्यार्थ एवं प्रतीकार्थ भी है, जो कि शैव-शाक्त परम्परा में विशेषार्थ में प्रयुक्त हुआ है। शिवसूत्र (शाम्भवोपाय) का पाँचवाँ सूत्र इस प्रकार है—'उद्यमो भैरव:' (१.५)। इसमें उद्योग तो नहीं, किन्तु उसका पर्याय 'उद्यम' शब्द प्रयुक्त है।

वरदराज ने शिवसूत्रवार्तिक में इसकी व्याख्या इस प्रकार की है—

योग्यं विमर्शरूपाया: प्रेरन्त्या: स्वसंविद:।
झटित्युच्छलनाकारप्रतिभोन्मज्जनात्मक: ।।३३।।

उद्यमोऽन्त:परिस्पन्द: पूर्णाहम्भावनात्मक:।
स एव सर्वशक्तीनां सामरस्यादशेषत:।।३४।।

विश्वतो भरितत्वेन विकल्पानां विभेदिनाम्।
अलं कवलनेनापीत्यन्वर्थादेव भैरव:।।३५।।

अथेदृग्भैरवापत्तेर्बन्धप्रशमकारणात् ।
व्युत्थानं च भेवच्छान्तभेदाभासमितीर्यते।।३६।।

५. आचार्य क्षेमराज शिवसूत्रविमर्शिनी में कहते हैं—योऽयं प्रसरद्रूपाया: विमर्शमय्या: संविदो झगिति उच्छलनात्मकपरप्रतिभोन्मज्जनरूप उद्यम:।

उद्योग = आत्मानुकूल कैवल्य, स्वात्मविश्रान्ति की हृदय का उद्योग है।

मूढ = मूर्ख। मोहग्रस्त। माया-मोह-मालिन्य-कज्जलकलुषितात्मा। शरीरादि में अहन्ता की दृष्टि रखने वाले = शरीर में अहं का सन्धान करने वाले प्रमाता। (महेश्वरानन्द) रहस्यं = अत्यन्त गोपनीय। योगिनियों के मुख में अवस्थित परम गुह्यात्मक तत्त्व।

तदेतत् परमं गुह्यं योगिनीनां मुखे स्थितम्।

महेश्वरानन्द कहते हैं कि मैं महेश्वरानन्द ऐसे ही अत्यन्त गोपनीय अर्थतत्त्व को वैखरीवाक् द्वारा प्रकाशित कर रहा हूँ। गर्भवास तो उपद्रवों की पराभूमि है।[१] भ्रमण शब्द का अर्थ यह है कि यह माया-मोह में भटकता हुआ प्राणी अपने पूर्वजन्मों में हजारों माता-पिता, हजारों पुत्र-पत्नी को व्यर्थ में अपना मानकर और अन्त में सभी को छोड़कर अन्य माता-पिता, पुत्र-पत्नी आदि में अहंबुद्धि रखकर भटक रहा है; किन्तु—

१. परिमल (२)

मातृपितृसहस्राणि पुत्रदारशतानि च।
युगे-युगे व्यतीतानि कस्य ते कस्य वा भवान्?[१]

जन्म का फल तो मृत्यु है ही—जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः। अतः ऐसे जन्म को, जो मृत्यु की गोद में हो, उसे मृत्युकवलित क्यों करने दिया जाय? मृत्यु की गोद में रहकर भी भोगैषणा-संवलित जिजीविषा अज्ञान नहीं तो और क्या है? इसीलिये लघुभट्टारक नामक ग्रन्थ में कहा गया है कि जीवन की इस असारता को देखकर ज्ञानी पुरुष जन्म-मरण के चक्र में कभी नहीं पड़ना चाहते—

ज्ञात्वेत्थं न पुनः स्पृशन्ति जननीगर्भेऽर्भकत्वं नराः।[२]

इसी भणितव्य बिन्दु की शिक्षा देने हेतु यह ग्रन्थ लिखा गया।[३]

अत्यासन्नं हृदयम् = यह जो षडध्व के उल्लास का समष्टिरूप अपना शरीर है, उसके अनुप्राणन के निमित्त अवतिष्ठमान अविकल्पावस्था में तदुत्तीर्ण उल्लेख (वर्णन) है और प्रकाश तथा विमर्श (द्वितय) का मेलापस्वरूप जो अन्तस्तत्त्व है, वही तो हृदय है।

पर्वत के अग्रभाग एवं नदी के किनारे की भाँति उसकी अनासत्ति की शंका सम्भव नहीं है; क्योंकि यह स्वस्वरूप से अविभिन्न है; क्योंकि यह आसत्ति के प्रति अत्यधिक अनुभूयमानतापूर्व से ही विद्यमान है। इसका जो उस प्रकार का यह उद्योग है, जिसमें कि—आकारादि से उदासीनता अपहस्तन (गले में हाथ लगाकर बाहर निकालना) के स्वभाव वाला उद्यन्तृत्व है—उसके चतुर्दिक इच्छा-ज्ञान-क्रिया के परिस्पन्द से प्रवर्तित अतिशेष विश्वव्यवहारप्रथा की परामर्शपूर्वक आलोचन करें अर्थात् आत्मानुकूल अवलोकन करें।[४]

इसमें एक ही स्थान पर या एक ही साध्य में मन्त्र-तन्त्र आदि स्रोतचतुष्टय प्रवर्तित हैं। इसके परिणामस्वरूप क्षणमात्र के लिये भी अनुबद्धता हो जाय तो जनन-मरण आदि अशेष उपद्रवों के व्युदास (विनाश, बहिष्करण) स्वरूप जीवन्मोक्ष लक्ष्मी के महोपभोग का सौभाग्य प्राप्त होता है। यह उद्योग कभी तो इन्द्रियों के परिस्पन्द (अनुचर वर्ग) के अनुबन्धी (लगाव रखने वाले) क्रियाशक्ति-स्फारस्वरूप रूप-रसादि विषयों के ग्रहण की उत्कण्ठा के कारण बाह्य पदार्थों की शय्या पर शयन करके व्याक्षेप (विकलता या रुकावट) तथा विभ्रम (उद्विग्नता या भ्रान्ति) का अनुभव करता है तो कभी ज्ञानशक्ति से अवष्टब्ध विषयों से प्रत्यावृत्त होकर स्वात्ममात्र विश्रान्तिस्वभाव प्रत्यगात्मानन्द का उपभोग करता है।[५] दोनों दण्ड एवं मुण्डनक्रम के अनुशासन से अनुशसित हैं। दण्ड-मुण्ड क्या हैं?

आगम में कहा गया है—

मुण्डनं ज्ञानरूपेण दण्डनं च क्रियात्मना।
मुण्डदण्डक्रमो तेन मतौ ज्ञानक्रियात्मकौ।।

१-४. परिमल　५. परिमल (६९)

हृदय की यह व्यवस्था एक विशिष्ट उद्यम है। लक्ष्मीतन्त्र में कहा भी गया है—

स्तिमितं यत् परं ब्रह्म तस्य स्तिमितताऽस्म्यहम्।

उस प्रकार के हृदयोद्योग से आक्रान्त लोकव्यवहार में—

तस्मात् तत्त्वमतत्त्वं वा न भानेन विना भवेत्।
स्वसाम्राज्यवशाद् भानं तत् तत्त्वातत्त्वयो: समम्।
यथा यथा प्रथा पुंस: शाम्भवी सा च नापरा।।

इस समय ग्राह्य विषयों के प्रति निषिद्धत्व एवं अनिषिद्धत्व के तारतम्य की चिन्ता करने के लिये किसके पास समय है? विधि-निषेध से सम्बद्ध एवं आलोचित विषयों (धर्माधर्मों) में अधिकारी-भेद के कारण अन्योन्य विरुद्ध अनेक शास्त्रमर्यादाभेदव्यवस्थापना के अनुप्राणन के कारण कोई नैयत्य (नियत होने का भाव) सम्भव नहीं रह जाता; अत: सभी अर्थों का श्रवण करना चाहिये। कहा भी गया है—

धीकर्माक्षगतां देवीं निषिद्धैरेव तर्पयेत्।

रहस्याम्नाय के न्याय से अन्य शास्त्रों में विगर्हित महिला-मद्य-मांस आदि द्रव्यों को अपने उपास्य देवों की सपर्या में अभ्यर्हित समझना चाहिये। श्रीमहानयप्रकाश में कहा भी गया है—

अन्यैरावारकत्वेन ये भावा: परिवर्जिता:।
तैरेव ज्ञानिनामर्थं जाज्वलीति परा चिति:।।

श्रीमदालसा ने मायाव्यामूढ पशुजनों की शोचनीयता को दृष्टिपथ में रखकर ही कहा था—

तातेति किञ्चित् तनयेति किञ्चिन्ममेति किञ्चिन्न ममेति किञ्चित्।
तवेति किञ्चिन्न तवेति किञ्चिद् भौतं स्वयं बहुधा मालपेस्त्वम्।।

मलों के प्रकारत्रय

आणवमल (अणुत्व चेतना में अहन्ताभिमान)	मायीय मल (भिन्न वेद्यप्रथा)	कार्ममल (शुभाशुभवासना)
संकोच एव हि पुंसामाणवमलमित्युक्तप्रायम्।[1]		शुभाशुभवासनात्मना विविधजन्मायुर्भोगदेन कार्मेण मलेन वलित:।[2]

१. आत्मा में अनात्मा का एवं अनात्मा में आत्मा का बोध कराने वाला अज्ञान (मल) ही तो आणव मल है। मल विपर्यासात्मक है—तात्त्विकरूपविपर्ययसान्मलत्वम्।[3]

१. स्वच्छन्दतन्त्र टीका (५)

२. स्वच्छन्दतन्त्र टीका (३.५.७६)

३. प्र. का. वृत्ति (उत्पलदेव),
नेत्रतन्त्र—मायीयाणवकार्मं तु विसरेद् बन्धकारणम्।

आत्मा में अनात्म का और अनात्म में आत्मा का बोध ही अपूर्ण ज्ञान है और यही आणव मल है।

२. सीमा में परिबद्धता ही आणवमल का प्रधान लक्षण है। सारे मल बन्धन के कारण हैं।

३. निर्गुण, निष्क्रिय, अचल एवं शुद्ध आत्मा में मलत्व कैसे आता है—

> व्यापकः पुरुषः सूक्ष्मो निर्गुणो निष्क्रियोऽचलः।
> किन्त्वाणवस्तथा कार्मो मायीयस्त्रिविधो मलः।।१४५।।
> तत्सम्बन्धात्समलिनो ह्यस्वतन्त्रोऽप्यशक्तिमान्।
> अविशुद्धो ह्यसौ तस्मान्मलत्रयनिरोधतः।।१४६।।

४. चिन्मय के साथ मलयोग कैसा? नेत्रतन्त्र में कहा गया है—

> आणवोऽयं मलः सूक्ष्मः कार्यतो ह्युपपद्यते।
> अभिलाषस्ततः कार्यो भोगादौ स प्रवर्तकः।। (१९.१४९)

बौद्धों का भवचक्र (प्रतीत्यसमुत्पाद) दुःखों एवं भव के कारणों की शृंखला—बन्धन।

अतीत जीवन से सम्बद्ध (Due to the past life)—

(क) अविद्या (ख) संस्कार

वर्तमान जीवन से सम्बद्ध (Due to the present life)—

(क) विज्ञान	(ङ) वेदना
(ख) नाम-रूप	(च) तृष्णा
(ग) षडायतन	(छ) उपादान
(घ) स्पर्श	(ज) भव

भविष्य के जीवन से सम्बद्ध (Concerned with future life)—

(क) जाति (ख) जरा-मरण

बन्धन के कारण

शिवसूत्र	बौद्ध	शंकराचार्य	शैव-शाक्त
अज्ञानं गर्भज्ञानं, ज्ञानं बन्धः	तृष्णा भवचक्र की द्वादश शृंखला (प्रतीत्यसमुत्पाद)	अज्ञान (माया) अविद्या	१. मलत्रय (आणव मायीय कार्म) २. ज्ञानं बन्धः

मुक्त्यर्थ (दुख-ध्वंस के) **उपाय** (बौद्ध दृष्टि)—

१. ज्ञान—(क) सम्यक् दृष्टि (ख) सम्यक् संकल्प

२. शील—

(क) सम्यक् वाणी (ख) सम्यक् कर्म (ग) सम्यक् जीविका

३. समाधि—

(क) सम्यक् प्रयत्न (ख) सम्यक् स्मृति (ग) सम्यक् समाधि

शैव-शाक्त दर्शन (मुक्त्यर्थ समावेश)—

शक्तित्रय और मलत्रय

इच्छाशक्ति का संकोच — आणव मल
क्रियाशक्ति का संकोच — कार्ममल
ज्ञानशक्ति का संकोच — मायीय मल

> स्वातन्त्र्यहानिर्बोधस्य स्वातन्त्र्यस्याप्यबोधता।
> द्विधाणवं मलमिदं स्वस्वरूपापहानितः।। (३.१५)
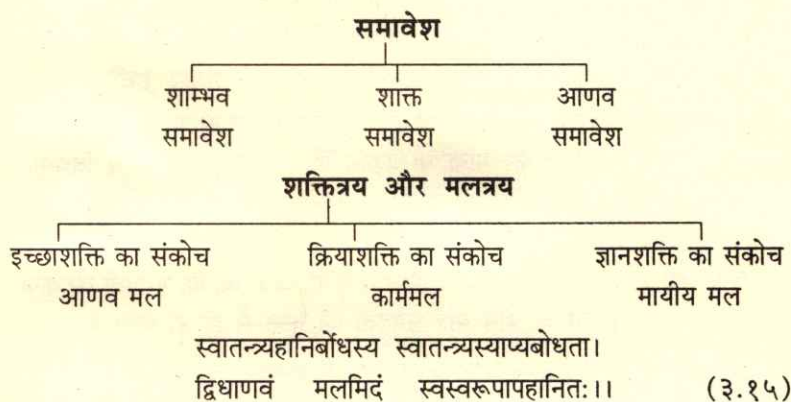
आणवमल के भेद—

१. बोध के स्वातन्त्र्य की हानि।

२. स्वातन्त्र्य का अबोध।

मलत्रय से मुक्त हो जाने पर जीव भव-चक्र (जन्म-मरण के पाश) स्वरूप संसरण से मुक्त हो जाता है। शिवसूत्रकार ने बन्धन के दो कारण माने हैं।

१. ज्ञान = ज्ञानं बन्धः (अज्ञानात्मक ज्ञान)।

२. मलत्रय = अज्ञान का मूल कारण मलत्रय।

शाक्त दृष्टि के अनुसार जीव मूलतः चित्स्वरूप है। इस जीव का अपने को ब्रह्म से भिन्न मानना ही जीवत्व है। यही उसकी अल्पज्ञता, ससीमता एवं परतन्त्रता का कारण है। यही उसके दुःखों का भी कारण है।

चित् तत्त्व जब चित्त रूप में व्यक्त होता है तब उसकी समस्त दैवी शक्तियाँ एवं उपाधियाँ घट जाती हैं और उसके अशुद्धांश में वृद्धि हो जाती है। ये अशुद्धांश ही आगम की शब्दावली में मल कहे जाते हैं—तात्त्विकरूपविपर्यासान्मलत्वम्।[1]

प्रथम मलावस्था (आणवावस्था) में असीम में ससीमता की भावना का उदय

---

१. उत्पलदेवाचार्य : प्रत्यभिज्ञाकारिकावृत्ति

होता है। फिर वासना जाग्रत् होती है और यह कार्ममल का निर्माण करती है। अन्त में मायीय मल, कारणशरीर, सूक्ष्म शरीर एवं स्थूल शरीर का निर्माण करता है। इन्हें ही—कलाशरीर, पुर्यष्टक शरीर (तत्त्व शरीर) एवं भुवनज शरीर कहा जाता है। समस्त अनुभव इन्हीं मलों के द्वारा हुआ करते हैं। ये तीनों मल जीवात्मा को सदा आच्छादित किये रहते हैं।

समस्त संसारी प्राणी तीनों मलों से संयुक्त रहते हैं और सकल कहलाते हैं। ये शरीर एवं इन्द्रिय-समन्वित हैं। ये अपने कर्मानुसार भिन्न-भिन्न योनियों एवं भिन्न-भिन्न लोकों में जन्म-मृत्यु के चक्र में भटकते रहते हैं।

प्रलयाकल भी मलाविष्ट होता है; किन्तु वह मायीय मल से मुक्त रहता है और समस्त क्रियाओं से मुक्त रहकर माया या प्रकृति के साथ संयुक्तावस्था में विद्यमान रहता है। कर्मसंस्कार एवं मूल अज्ञान से यह भी आच्छादित रहता है। इसे प्रलयाकल या प्रलयकेवलिन कहते हैं। विवेकज्ञान द्वारा कर्म क्षीण होने पर भी और मायोत्तीर्ण होने पर भी यह अणुरूप से तब तक विद्यमान रहता है, जब तक कि भगवती की कृपा न प्राप्त कर ले। अणुत्व का क्षय मात्र भगवती की कृपा से ही हो पाता है।

प्रलयाकल स्तर से उन्नयन प्राप्त करके जीव विज्ञानाकल के सोपान पर आरूढ हो जाता है।

मलों के आधार पर जीवों का विभाजन—

१. विज्ञानाकल : एक मल से आच्छादित।

२. प्रलयाकल : दो मलों से आच्छादित।

३. सकल : तीन मलों से आच्छादित। (मलाच्छन्न का तारतम्य)

वामदेव भट्टाचार्य कहते हैं—असौ भगवान् स्वमायाशक्त्याख्येन अव्यभिचरित-स्वातन्त्र्यशक्तिमहिम्ना स्वात्मनैव आत्मानं सङ्कुचितमिव अवभासयन् विज्ञानाकलः प्रलयाक-कलः सकलश्च सम्पद्यते।

१. विज्ञानाकल—तत्र आणवेन एकेनैव मलेन संयुक्तो विज्ञानाकल उच्यते। विज्ञाना-कल = आणवमल।

२. प्रलयाकल—द्वाभ्याम् आणवमायीयाभ्याम् अपवेद्यः प्रलयाकलः। त्रिभिराणव-मायीयकार्मैः संवेद्यः तैरेव—अयमर्थसर्गः।

३. सकल—कलादिधरण्यन्ततत्त्वमयः सकलः।
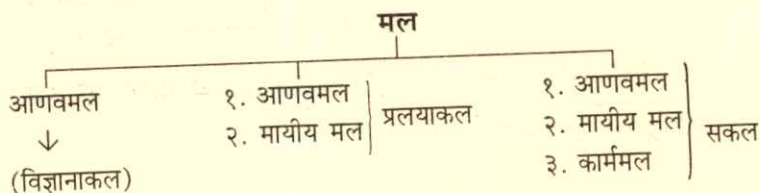
मलों के विधायक : पञ्चकञ्चुक

कला तत्त्व | विद्या तत्त्व | राग तत्त्व | काल तत्त्व | नियति तत्त्व

एतत् कञ्चुकषट्कं अन्तर्मलावृतस्य पुद्गलस्य बहिराच्छादकम्।[1]

यदि हम उद्योग शब्द के पारिभाषिक स्वरूप को लें तो इसका स्वरूप सृष्टि के सोपानों से है। चित् शक्ति (स्वातन्त्र्य शक्ति) निरन्तर ही अपने-आपको पञ्चकृत्यों के रूप में प्रकट करती रहती है, जो कि निम्न हैं—

चित् शक्ति की पञ्चकृत्यात्मक आत्माभिव्यक्ति : पञ्चकृत्य

पञ्चकृत्यों का स्वभाव

क्रिया | ज्ञान | इच्छा | उद्योग | प्रतिभा

उद्योग—स्वातन्त्र्य शक्ति ही भासा है। तरंगहीन समुद्र में वायु के आघात से ऊपरी सतह पर चञ्चलता दृष्टिगोचर होने लगती है और उस चञ्चलता से महातरंग एवं और उनसे अनेक तरंगें उत्पन्न होने लगती हैं, उसी प्रकार क्षोभविरहित भासारूपी महासत्ता के वक्षःस्थल पर स्वातन्त्र्योल्लास के कारण उद्योगरूपी आदिस्पन्द का उदय होता है। यही है—सृष्टि की प्रथम कला का आत्मप्रकाश। सृष्टि क्या है? सृष्टि है—

१. उद्योग   ४. आत्मविलापन   ५. निस्तरंगत्व की समष्टि
२. अवभास   ३. चर्वण

प्रत्येक प्राणी में सृष्टि के ये सोपान स्थित हैं। उदाहरण—

कुम्भकार द्वारा घट-निर्माण के सोपान—

१. उद्योग—(आत्मस्वरूप में अभिन्न रूप से विद्यमान घट के भाव को अपने से पृथक् रूप में बाहर निकालने के लिये जो प्राथमिक स्पन्दन होता है, उसे उद्योग कहते हैं (उद्योग = सृष्टि की प्रथम प्रथा)।

२. अवभास—दण्ड, चक्र आदि की सहायता से इस मनोकल्पित घटभाव का बाह्य रूप में घटाकार प्रकाशन। (सृष्टि-क्रिया की द्वितीय प्रथा)।

३. चर्वण—बाह्याकाराकारित घट को अनेक व्यापारों द्वारा बार-बार अपने रूप में अनुभव करना चर्वण है (सृष्टि क्रिया की तृतीया प्रथा)।

---

१. वामदेव भट्टाचार्य : जन्ममरण-विचारः

४. विलापन—उद्देश्य सिद्ध हो जाने पर घट के प्रति उदासीनता का आना विलापन है (चतुर्थ प्रथा)।

५. निस्तरंगत्व—अर्थक्रियाकारित्व अर्थात् घट के निर्माण की क्रिया के प्रति औदासीन्य आ जाने पर जब उसकी स्मृति तक नष्ट हो जाती है तब उस प्रथा को निस्तरंगत्व कहते हैं (सृष्टि की पञ्चम प्रथा)।

(क) परमेश्वर समुद्र है।
(ख) घटादिक प्रत्येक भाव उस समुद्र की तरंगें हैं।
(ग) ये तरंगें समुद्र में उठती हैं और उसी में विलीन हो जाती हैं।

भासा (स्वातन्त्र्य शक्ति) निष्कल होकर भी कलामय है और अक्रम होकर भी सक्रम है। ये सृष्टि-व्यापार की पाँच प्रथायें उसी की कला की क्रीड़ायें हैं। ये इस प्रकार हैं—सृष्टि व्यापार में १० कलायें है। स्थिति में २२ कलायें हैं। संहार में ११ कलायें है अनाख्या में १० कलायें हैं।

भासा = स्वातन्त्र्यशक्तिस्वरूपा चित् शक्ति।
भासा के गर्भ में ही पञ्चकृत्यमय जगत् स्थित है।

आचार्य अभिनवगुप्तपाद की मीमांसा—अपने स्वरूप की हानि ही जिसका स्वरूप है, ऐसी अख्याति ही चैतन्य का आणव मल है। यह उसी प्रकार आन्तर मल है, यथा—सोने में खोट या लोहे में जंग। यह आत्मा का (पशु का) अन्तरंग आवरण है—आन्तर आच्छादन है। यह तदात्मक बनकर रहता है।[1]

माया से विद्या तक के ६ कंचुक आत्मा के सूक्ष्मावरण हैं; यथा—चावल का छिलका (काबुक), जो कि चावल के पीठ पर रहता है। इसी से ज्ञातृत्व एवं कर्तृत्व में भेदमय बोध हुआ करता है। यही है—मायीय मल।

इसकी अपेक्षा बाह्यावरण भूसी की भाँति, प्रकृति-निर्मित शरीर का अस्तित्वस्वरूप आवरण है, जो कि स्थूल है तथा त्वचा-मांस आदि होने के कारण यह तृतीय मल कार्ममल कहलाता है।

मल

परमल	सूक्ष्म मल	स्थूल मल	मलत्रय ही आत्मा के
(आणव मल)	(मायीय मल)	(कार्म मल)	कोशत्रय हैं।
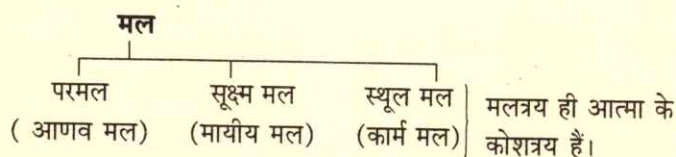
इन तीनों मलों से आच्छादित आत्मा प्रकाशमान होने पर भी घर में प्रतिबिम्बित आकाश की भाँति संकुचित हो जाती है और इसीलिये अणु और पशु कहलाती है।[2]

जिस प्रकार छिलका चावल के दाने को ढक लेता है, उसी प्रकार प्रकृति से लेकर

१. परमार्थसार २. अभिनवगुप्त : परामर्शसार

पृथ्वीपर्यन्त प्रसृत सृष्टि चैतन्य को देहभाव से ढक लेती है—

तुष इव तण्डुलकणिकामावृणुते प्रकृतिपूर्वक: सर्ग:।
पृथ्वीपर्यन्तोऽयं चैतन्यं देहभावेन।।२३।।[१]

परमान्तरंग आवरण मल आणव मल है। मायादिक छ: सूक्ष्म कञ्चुक हैं। बाह्य एवं स्थूल आवरण देहस्वरूप है। आत्मा इनसे तीन कोशों से आच्छादित है—

परमावरणं मल इह सूक्ष्मं मायादिकञ्चुकस्थूलम्।
बाह्यं विग्रहरूपं कोशत्रयवेष्टितो ह्यात्मा।। (२४)

मल है क्या?

१. तन्त्रसार (आ. १)—अज्ञानं किल बन्धहेतुरुदित: शास्त्रे मलं स्मृतम्।

२. तन्त्रालोक (१)—मलमज्ञानमिच्छन्ति संसाराङ्कुरकारणम्।

३. तन्त्रालोक (६)—

योग्यतामात्रमेवैतत् भावव्यच्छेदसंग्रहे।
मलस्तेनास्य न पृथक् तत्त्वभावोऽस्ति रागवत्।।

४. मालिनीविजयवार्तिक—(काण्ड.१८६)

स्वात्मप्रच्छादनक्रीडामात्रमेव मलं विदु:।

५. मालिनीविजयोत्तरतन्त्र—

मलमज्ञानमिच्छन्ति संसाराङ्कुरकारणम्। (अधिकार)

माहेश्वरतन्त्र में प्रकृति, माया, मोह, प्रधान आदि को ही अज्ञान कहा गया है—

अज्ञानं प्रकृतिर्माया मोहो व्यक्तं प्रधानकम्
अज्ञानप्रभवं विश्वं वस्तुतो नास्ति किञ्चन।
अज्ञानैव यथा रज्जु: सर्पभूता भयप्रदा।
अविद्यासबलब्रह्मविवर्तोऽयं प्रपञ्चक:।।

(माहेश्वरतन्त्र)

आणव मल का स्वरूप—संकोच एव पुंसामाणवमलमित्युक्तप्रायम् (स्वच्छन्दतन्त्र की टीका)।

आणव के दो भेद हैं—

स्वातन्त्र्यहानिर्बोधस्य स्वातन्त्र्यस्याप्यबोधता।
द्विधाणवमलमिदं स्वस्वरूपापहानित:।।

(ईश्वर प्र. का. भास्करी)

---

१. अभिनवगुप्त : परामर्शसार

संविद्रूपे न भेदोऽस्ति वास्तवो यद्यपि ध्रुवे।
तथाप्यावृतिनिर्ह्रासतारतम्यात् स लक्ष्यते।।

मायीय मल (ईश्वरप्रत्यभिज्ञा का. भास्करी)—

१. भिन्नवेद्यप्रथात्रैव मायाख्यं जन्मभोगदम्।
२. शरीरभुवनाकारो मायीयः परिकीर्तितः।। (तन्त्रालोक-१.५६)

कार्ममल—

देवादीनां च सर्वेषां भाविनां त्रिविधं मलम्।
तथापि कार्ममेवैकं मुख्यं संसारकारणम्।।[1]

आणव मल = अप्रतिहतस्वातन्त्र्यरूपा इच्छाशक्तिः संकुचिता सती अपूर्णम्यन्यता-रूपम् आणवमलम्।

मायीय मल = ज्ञानशक्तिः क्रमेण संकोचात् भेदे सर्वज्ञत्वस्य किंचिज्ज्ञत्व-प्राप्तेः अन्तःकरणबुद्धीन्द्रियतापत्तिपूर्वम् अत्यन्तं संकोचग्रहणेन भिन्नवेद्यप्रथारूपं मायीयं मलम्।

कार्म मल—क्रियाशक्तिः क्रमेण सर्वकर्तृत्वस्य किञ्चित्कर्तृत्वापत्तेः कर्मेन्द्रियरूप-संकोचग्रहणपूर्वकम् अत्यन्तं परिमिततां प्राप्ता शुभाशुभानुष्ठानमयं कार्ममलम्।
(प्रत्यभिज्ञाहृदयम्)

आणव मल

स्वातन्त्र्य हानिरूप	स्वातन्त्र्य का अबोधरूप
आणव मल = विज्ञानकेवल में	आणवमल = प्रलयाकल में (इनमें कार्ममल भी रहता है एवं विकल्प से मायीय भी)।

देवादि समस्त संसारी प्रमाताओं में त्रिविध मल एवं मुख्यतः कार्ममल पाया जाता है—

अज्ञानतिमिरयोगादेकमपि स्वं स्वभावमात्मनम्।
ग्राह्यग्राहकनानावैचित्र्येणावबुध्यते ।। (२५)

अज्ञान-तिमिर से संयोग के कारण एक होने पर भी अपने आत्मरूप स्वभाव के ग्राह्य (विषय/प्रमेय) एवं ग्राहक (प्रमाता, विषयी) के वैचित्र्य से युक्त समझने लग जाता है।

मालिनीविजयवार्तिक (काण्ड २.१८६) में कहा गया है कि मल स्वात्म-प्रच्छादन-क्रीडामात्र है—स्वात्मप्रच्छादनक्रीडामात्रमेव मलं विदुः। भिन्न वेद्यप्रथा ही मायीय मल है।

अपने स्वातन्त्र्य स्वभाव के कारण परिगृहीत जीवभाव शिव अपने पारमेश्वर स्वभाव

१. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका

की स्वात्मप्रच्छादन क्रीड़ा वाली उक्त कल्पना को जब केवल कल्पना न समझकर यथार्थ समझने लगता है तब यथार्थ समझी जाने वाली वह कल्पना ही उसका बन्धन बन जाती है—इत्थं च मायाशक्त्या पुर्यष्टकादौ गृहीताभिमानोऽयं विश्वभित्तिभूतपरिपूर्णबोधरूपतया स्फुरन्नपि असौ सङ्कोचावभासात्मना तावता अंशेन स्वयमेव बध्यते। यथोक्तं प्राक्—आत्मना बध्यते ह्यात्मा।[१]

शिवस्वरूप का संकोच आणव मल है। अणुता-प्राप्त प्रमाता की भेद-दृष्टि ही मायीय मल है। शुभाशुभ वासना ही कार्ममल है।

कुरुक्षेत्र में उपदिष्ट महार्थ का स्वरूप

अथास्मत्प्रसाधितमौत्तरमर्थतत्त्वमेवान्येषां व्यासादीनामपि महामुनीनामन्तरनुसन्धेया देवता, येन तत्प्रणीतेषु प्रबन्धेषु तात्पर्यपर्यालोचनायां महता कण्ठेनैतदेवार्थरहस्यमुद्घाट्यते। यथा भगवद्गीतासूपनिषत्स्वित्युच्चावचस्यास्य प्रपञ्चवैचित्र्यस्य श्रीमदनुत्तराम्नायसमुद्रशीकरोपस्नेह एवानुप्राणनतयाऽवतिष्ठत इत्यासूत्रयितुमाह—

एणं चेअ महत्थं जुत्थारम्भम्मि पण्डुउत्तस्स।
छोलहसहस्ससत्ती देवो उवदिसइ माधवो त्ति सिवं॥७०॥

(एनमेव महार्थं युद्धारम्भे पाण्डुपुत्रस्य।
षोडशसहस्रशक्तिर्देव उपदिशति माधव इति शिवम्।।)

महाभारत का युद्धारम्भ होने के समय (मोहग्रस्त) पाण्डु के आत्मज अर्जुन को सोलह हजार शक्तियों से सम्पन्न भगवान् रमापति माधव (श्रीकृष्ण) इसी महार्थतत्त्व का उपदेश प्रदान करते हैं।।७०।।

योऽयं महाप्रबन्धेनोपक्रान्तः—

भावार्थः सम्प्रदायार्थो निगर्भार्थश्च कौलिकः।
तथा सर्वरहस्यार्थो महातत्त्वार्थ एव च।।

इत्याम्नायस्थित्या तत्तदशेषार्थतत्त्ववैचित्र्यसमष्ट्यधिष्ठानरूपतया महान् सर्वार्थभेदप्रभेदक्रोडीकारविचक्षणोऽर्थः प्राप्यं तत्त्वम्, यश्च—

न सन्नासन्न सदसन्न च तन्नोभयात्मकम्।
दुर्विज्ञेया हि सावस्था किमप्येतदनुत्तरम्।
नैष ध्येयो ध्यात्रभावान्न ध्याता ध्यानवर्जनात्।
न पूज्यः पूजकाभावात् पूजाभावान्न पूजकः।।

---

१. स्वच्छन्दतन्त्र की टीका (भाग ६.१२ पटल)

इति श्रीतन्त्रालोकस्थित्या विकल्पवार्तासार्थसर्वस्वोत्तीर्णस्वस्वातन्त्र्यैकघनतोपबृंहितस्वभावोऽनुभूयते, तमेनमेव षोडशसहस्रशक्तिः षोडशाधिका(?) विलासलक्षणमकालकलितं श्रीकालसङ्कर्षणीभावमनुभवन् अत एव देवः क्रीडाद्यनेकपरिस्पन्दप्रगल्भो माधवो महालक्ष्मीवल्लभो मधुकुलोत्तंसश्च भगवान् युद्धारम्भे कौरवपाण्डवसेनासंघर्षोपक्रमावस्थायां पाण्डुपुत्रस्यार्जुनस्योपदिशति उपादिक्षदिति यावत्। प्राकृतभाषायां भूतवर्तमानादिलकारनैयत्याभावात्। यद्वा भगवता प्रतियुगमेवमस्य भारतादिव्यापारस्य प्रवर्त्यमानत्वात् प्रवाहनित्यतया वर्तमानत्वमिति लट्प्रयोगः। तत्र युद्धारम्भ इत्यनेन।

तान् समीक्ष्य स कौरव्यः सर्वान् बन्धूनवस्थितान् ।
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ।।

इत्युक्रम्य—

अहो बत महत् पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्।
यद् राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः।।
यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः।
धार्तराष्ट्रा रसो हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत्।।

इत्यन्तमर्जुनस्य प्राचीनानेकवासनानुस्यूतात् पाशवावेशात् श्रौतस्मार्तादिबाह्याम्नायनिषिद्धं पितृपितामहादिस्वजनहननलक्षणं पातकं प्रति विचिकित्सा, तत्प्रवृत्तं च राज्यलाभाद्यशेषसौख्यवैराग्यम्, तन्निबन्धनो वैक्लव्योदयश्च ध्वन्यते। माधव इत्यनेनार्जुनेन सहास्य किञ्चिद् यौनं सम्बन्धमुन्मी(लयित्वा?ल्य)—

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन! ।
मो क्लैव्यं गच्छ कौन्तेय! नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप! ।।

इति तं प्रति भगवतो रहस्यार्थतत्त्वप्रत्यभिज्ञापनौन्मुख्यम्। अनन्तरमस्यैव—

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसमूढचेताः ।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ।।

इति कार्पण्यलक्षणानाथ्यप्रवृत्तात् शिष्यभावाद् देवस्य कारुण्याक्रान्तहृदयता,

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ।।

इत्यादिना भीष्मद्रोणाद्यशेषशरीरान्तर्भूतस्यात्मनो नित्यत्वव्यापकत्वादियो-

गादन्यजनहन्यमानत्वाद्यसम्भवोद्भावनद्वारा लौकिकवत् किं बाह्यशास्त्रबिभीषकया कातर्यमनुभवसीति तस्योपर्यनुग्रहोद्रेकश्चोन्मुद्र्यते। षोडशसहस्त्रशक्तिरित्यनेन बहिष्षोडशस्त्रीसहस्त्रसम्भोगमिवान्तरपि षोडशाधिका(?) परामर्शप्राबल्योपारूढं तत्तदवान्तरशक्तिसहस्त्रसमावेशमावेदयता देवस्य—

दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ।

इति वैश्वरूप्यप्रदर्शनौचित्यम्,

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत् प्रवृद्धो लोकान् समाहर्तुमिह प्रवृत्तः ।

इत्यात्मनो माहात्म्यप्रख्यापनप्राचण्ड्यम्,

नमो नमस्तेऽस्तु सहस्त्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ।

इत्यर्जुनस्तुतिसहस्त्रसन्धुक्ष्यमाणतेजस्कत्वात्

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः ।

आश्वासयामास च भीतमेनं भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ।।

इति भूयः पूर्वस्वभावप्रत्यानयनम्,

अथ चेत् त्वमहङ्कारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ।

इत्यात्मोक्तार्थाननुष्ठाने महाविपद्रूपप्रत्यवायोपपादनं चेत्यन्यदुष्कराण्याश्चर्याणि कर्माण्याख्यायन्ते। देव इत्येतत् क्रीडाद्यनेकार्थाभिधानमुखेन—

रसोऽहमप्सु कौन्तेय! प्रभाऽस्मि शशिसूर्ययोः।

प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु।।

इत्यादिना प्रपञ्चेन तस्य बहिर्विभूतिपरिस्पन्दाटोपम्,

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।

वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद् वेदविदेव चाहम् ।।

इत्युत्तस्फुरणप्रकारं चाह। माधवपाण्डुपुत्रशब्दाभ्यां भगवदर्जुनयोरुभयोर्बाह्यवासनावैलक्षण्याभावेऽपि—

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।

तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप ।।

इत्याद्यस्य सार्वज्ञ्यादिशक्त्यौल्बण्यमन्यस्य तद्विपर्ययश्चेत्यनयोरनुग्राह्यानुग्राहकभावौचित्यमासूच्यते। उपदिशतीत्येतत् सर्वत्राष्टादशाध्यायानुस्यूतमङ्गाङ्गिभावभङ्ग्या बाह्याभ्यन्तरोभयशास्त्रतत्त्वतात्पर्यास्पदं सांख्ययोगवेदान्तादिवैचित्र्यव्यतिरेकेऽपि—

अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।

साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग् व्यवसितो हि सः ।।

इति,

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे।।

इति च स्वात्मदेवतामात्रोपास्तिप्राधान्यमभिव्यनक्ति। महार्थमित्यनेन—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति।।
अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि।।
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।।
नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।।
इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद् गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु।।

इति भगवतः फल्गुनप्रबोधनावस्थायां श्रीमदनुत्तरस्रोतःप्रसाधितार्थं प्रख्यापनपाण्डित्यं प्रतायते। माधवः पाण्डुपुत्रायोपदिशतीति गुरुशिष्यभावोद्भावनेन—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्।।
एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप!।।
स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्।।

इति गुरुपर्वक्रमात्मनः सम्बन्धस्यावश्यानुसन्धेयता द्योत्यते। पाण्डुपुत्रस्येत्यर्जुनस्य कुलीनत्वाद्यविनाभूतं सौजन्यादिगुणयोगमुल्लिङ्गयता—

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति।।

इत्ययोग्यं शिष्यं प्रत्येतदर्थप्रकाशनस्याविहितत्वम्, योग्यं प्रति तु कल्प्यमानस्य पुरुषार्थपर्यवसायित्वं चोपपाद्यत इति।

पाराशर्यो महायोगी धैर्यगम्भीरसागरः।
भारते भगवद्गीतामधिकृत्येदमब्रवीत्।।

यत् कुरुक्षेत्रमाक्रम्य धार्तराष्ट्रेषु धन्विषु ।
पाण्डवेषु च सज्जेषु संगृह्याक्षौहिणीं क्षणात् ।।
पितॄन् पितामहान् भ्रातॄन् पुत्रान् पौत्रान् गुरूनपि ।
हन्तव्यानात्महस्तेन प्रेक्ष्य वैक्लव्यविह्वलम् ।।
त्रस्यन्तं कर्मणः क्रूरादवधूताहवोद्यमम् ।।
बीभत्समानं बीभत्सुं निस्पृहं राज्यसम्पदि ।।
अनुसन्धाय भगवान् मुकुन्दो रुक्मिणीपतिः ।
कारुण्याक्रान्तहृदयः स्यन्दनस्थं तमभ्यधात् ।
हन्त किं तव संवृत्तमकाण्डे कश्मलोत्तरम् ।
वैक्लव्यं त्यज्यतामेतल्लोकद्वयविगर्हितम् ।।
कः पिता तव को भ्राता को गुरुः के च बान्धवाः ।
त्वमेव तावत् को नाम कारुण्यं नाम किं तव ।।
पात्रमेतस्य कश्च स्यात् केन को वाऽभिहन्यते ।
बह्व्यः सामान्यतो भाषाः कल्प्यन्ते लोकशास्त्रयोः ।।
विशेषमपरिज्ञाय ताभ्यो मा भूद् बिभीषिका ।
इति लोकोत्तरामर्थमुद्रामुन्मुद्रयन् क्रमात् ।।
प्रसङ्गानुप्रसङ्गेन विश्वविक्षोभकल्पनाम् ।
अकालकलितस्वच्छस्वच्छन्दानन्दचिन्मयीम् ।।
निश्चिन्वन्निश्चलस्वात्मसंरम्भैकविजृम्भिताम् ।
उपर्युद्रिक्तकारुण्यो वीरेन्द्रः सव्यसाचिनि ।।
कालग्रासैकरसिकां कालसङ्कर्षणीं कलाम् ।
अनुप्रविश्य योगेन खेचरीखचितौजसा ।।
स्वबलाक्रमणाटोपव्याप्तकौलक्रमो भवन् ।
दत्त्वा लोकोत्तरां तस्मै दृष्टिमस्खलितार्चिषम् ।।
प्रांशुः प्रदर्शयाञ्चक्रे वैश्वरूप्यमनुग्रहात् ।
बाहवो मन्त्र कोटीनां कोटयः स्फुरदङ्गदाः ।।
सहस्राणां सहस्राणि मूर्ध्नां च मुकुटस्पृशाम् ।
यदन्तः सागराः सर्वे सर्वे च कुलपर्वताः ।।
काननानि च सर्वाणि सर्वा सर्वंसहाऽप्यभूत् ।
भीष्मद्रोणकृपद्रौणिकर्णदुर्योधनादयः ।।
शलभा इव यद्वक्त्रज्वालामालम्ब्य शेरते ।
तदालोक्य ससन्त्रासं साश्चर्यं च धनञ्जयम् ।।

अभ्रगम्भीरनिर्घोषो भगवानभ्यभाषत ।
पश्य विश्वं मया ग्रस्तमाकीटादापितामहम् ।।
विलीयमानं जिह्वाग्रे ज्योतिर्ज्वालाकलापिनि ।
यत्र क्षणादखण्डानां ब्रह्माण्डानां परम्पराः ।।
समुद्रबुद्बुदन्यायादुन्मिषन्ति त्रुटन्ति च ।
अत्र भीष्ममितो द्रोणमिह शल्यमितः कृपम् ।।
पश्य भस्मीकृतान् बन्धून् मय्यक्षय्यमहार्चिषि ।
मज्ज्वालालीढसारं सच्चराचरमिदं जगत् ।।
प्राचीनं वासनाशेषं दग्धं वस्त्रमिवाश्नुते ।
तदुत्तिष्ठ जहि स्वैरमात्तसारान् महीपतीन् ।।
येन ते तीक्ष्णबाणस्य दोष्णोः शौर्यं प्रथिष्यते ।
इति फल्गुनमाकर्षन्नात्मैश्वर्यविजृम्भया ।।
क्रमादक्रमचिच्छक्तिस्वातन्त्र्योन्मीलनक्षमैः ।
अवधीरितवेदादिबाह्यविद्याविडम्बनैः ।।
आचक्षाणैरवैषम्यं कर्माकर्मविकर्मणाम् ।
विकल्पकल्पनोल्लासग्रासतात्पर्ययोगिभिः ।।
निषिद्धस्याप्यनुष्ठाने विहितस्याप्यतिक्रमे ।
प्रत्यवायं व्युदस्यद्भिः स्वच्छसत्संविदां नृणाम् ।।
लौकिकेऽप्युपयुक्तानां धर्माणामनुमन्तृभिः ।
स्वसंविद्देवतामात्रसपर्यापारदृश्वभिः ।।
चित्तस्यान्तर्निषिञ्चद्भिरद्वैतामृतचन्द्रिकाम् ।
उन्मूलयद्भिरामूलं मायामालिन्यवासनाम् ।।
सञ्छिद्य संशयातङ्कमर्पयद्भिरहंप्रथाम् ।
स्थापयद्भिरनाहार्यं प्रातिभं स्थैर्यमाशये ।।
चित्स्वभावतया स्थातुं स्मारयद्भिः स्वमुद्यमम् ।
प्रमाणैर्युक्तिभिस्तर्कैरनुवादैर्निदर्शनैः ।।
आशङ्कोत्तरचर्चाभिरन्यैश्च गमकैः क्रमैः ।
प्रकाशयद्भिर्विश्वस्य प्रतिष्ठामौत्तरं क्रमम् ।।
स्पष्टैरव्याकुलैर्वाक्यैरन्योन्यान्वयबन्धुरैः ।
बहुधा पुण्डरीकाक्षः पाण्डवं प्रत्यबोधयत् ।।
सोऽपि तत्क्षणमारभ्य स्वविमर्शविचक्षणः ।
लक्ष्मीमनुभवन् साक्षाज्जीवन्मोक्षप्रथामयीम् ।।

क्षपयित्वा विपक्षं तं चिच्छक्त्या तीव्रविक्रमः ।
अग्रजं च प्रतिष्ठाप्य स्वस्य राज्ये युधिष्ठिरम् ।।
स्वसंरम्भानुगुण्येन स्वैरं व्यवहरन् बहिः ।
कालं महान्तं निश्चिन्तो विजहार विशृङ्खलः ।।
एतद् वितत्य विख्यातैः क्रमकेलौ कुलागमे ।
नाथाभिनवगुप्तार्यैः पर्यालोचितमादरात् ।।
एवं रामायणे काव्ये वाल्मीकीयेऽपि धीमता ।
प्रहरन्तं शरीरेषु न ते पश्यन्ति राघवम् ।।
इन्द्रियार्थेषु तिष्ठन्तं भूतात्मानमिव प्रजाः ।
इत्यादिस्वात्मविस्फूर्तिप्रधानं स्वयमूह्यताम् ।। इति।

शिवमिति। **यदिदं गाथासप्तत्यनुक्रान्तम् उपसर्गनिपाताद्यवान्तरव्यापारोपस्कृताभिधाव्यञ्जनाद्यनेकशब्दशक्तिवैचित्र्यार्पितं संक्षेपविस्तरत्वान्यतरोपपत्त्या यादवधिगताम्नायप्रपञ्चतात्पर्यार्थपिण्डीभावगर्भमत एव विश्ववृत्तान्तव्यतिकरक्रोडीकारकोविदमौत्तरमतिमहत् प्रमेयमिति शब्देनोद्भाव्यते। तदखिलमपि शिवं शिवपरामर्शोपायभूतत्वात् शिवस्वरूपादुत्पन्नत्वात् शिवस्वभावाविभिन्नत्वाच्च शिवमयमेव। अत्र च 'णमिऊण णिच्चसुद्धे गुलुणो चलणे' (श्लोक १) इत्यारभ्य 'देवो उवदिसइ माहवो त्ति सिवम्' इत्युपसंहृते तन्त्रे नत्वा शिवमिति पदात्मकः कश्चित् प्रत्याहारो नवमित्यक्षराकारश्च परिस्फुरतीति सर्वथा विश्वव्यवहारवर्तिप्रमातृरूपमेतदधीनसंरम्भमन्यद् वा वस्तु कर्तृभूतं शिवमुपपादितस्वभावं स्वात्मदेवतात्मानं नत्वा प्रकर्षकाष्ठाप्राप्ततया परामृश्य नवं प्राचीनजाड्यवासनापर्युदासादुन्मीलदमन्दसंवित्स्वस्पन्दसौन्दर्यसारं सदलौकिकस्वभावं सम्पद्यत इत्यर्थतत्त्वतात्पर्योपनिषदिति।।७०।।**

महार्थमञ्जरी के महार्थ ज्ञान एवं भगवद्गीता के तत्त्वज्ञान में सामञ्जस्य का प्रतिपादन—भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा था कि मैंने इस अविनाशी महायोग को सूर्य से कहा था। सूर्य ने अपने पुत्र वैवस्वत मनु से कहा एवं मनु ने इसे अपने पुत्र इक्ष्वाकु से कहा था। इस प्रकार यह योग परम्परानुसार राजर्षियों तक पहुँचा। वही योग मैं तुमसे पुनः कह रहा हूँ—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्।। (४.१)
एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप।। (४.२)
स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्।। (४.३)

भगवान् श्रीकृष्ण ने युद्ध-विरत एवं सन्तप्तहृदय अर्जुन के अज्ञान-निवारणार्थ जो योगोपदेश किया था, वही महार्थमञ्जरी का प्रतिप्राद्य विषय है।

यह महार्थ (एनमेव महार्थं युद्धारम्भे पाण्डुपुत्रस्य) समस्त रहस्यार्थों का प्रतिपादक महातत्त्वार्थ है।

मन्त्रों के अर्थ—महार्थमञ्जरीकार ने परिमल में यह प्रतिपादित किया है कि भावार्थ, सम्प्रदायार्थ, निगर्भार्थ, कौलिकार्थ, सर्वरहस्यार्थ, महातत्त्वार्थ आदि जो अर्थभेद हैं, उनमें महार्थमञ्जरी का महार्थ इसी महातत्त्वार्थ को निरूपित करता है। महार्थमञ्जरीकार ने परिमल में एक उद्धरण उल्लिखित किया है, जो निम्नांकित है—

भावार्थः सम्प्रदायार्थो निगर्भार्थश्च कौलिकः।
तथा सर्वरहस्यार्थो महातत्त्वार्थ एव च।।

इसका सम्बन्ध तान्त्रिक अर्थ-विज्ञान से है। भास्करराय मखिन ने मन्त्रों के अनेक अर्थ बताये हैं, जो निम्नांकित हैं—

प्रतिपाद्यार्थ, भावार्थ, सम्प्रदायार्थ, निगर्भार्थ, कौलिकार्थ, रहस्यार्थ, महातत्त्वार्थ, नामार्थ, शब्दरूपार्थ, नामैकदेशार्थ, शाक्तार्थ, सामरस्यार्थ, समस्तार्थ, सगुणार्थ, महावाक्यार्थ = १५ अर्थ। (पञ्चदशी मन्त्र में जितने वर्ण हैं, उतने ही अर्थ हैं। चूँकि पञ्चदशी में १५ वर्ण हैं; अतः भास्करराय ने १५ अर्थ बताये हैं (वरिवस्यारहस्यम्)।

महार्थमञ्जरीकार कहते हैं कि भावार्थ, सम्प्रदायार्थ, निगर्भार्थ, कौलिकार्थ एवं सर्वरहस्यार्थ, महातत्त्वार्थ इत्यादि जो अर्थ आम्नाय में उपदिष्ट हैं, उन सभी अर्थों के तत्त्ववैचित्र्य की समष्टि के अधिष्ठानस्वरूप समस्त अर्थभेदों को क्रोडीकृत करके इस महार्थ को महार्थमञ्जरी में प्रस्तुत किया गया है।

महार्थतत्त्व—महार्थ तत्त्व न तो सत् है, न असत् है, न तो सदसत् है; प्रत्युत यह उभयात्मक होने के कारण अनुत्तर—द्वैताद्वैतविवर्जित, दुर्विज्ञेय एवं अनिर्वचनीय तत्त्व है। ध्याता के न होने से यह ध्येय भी नहीं है और ध्यान का विषय न होने से इसका कोई ध्याता भी नहीं है। पूजक के अभाव के कारण यह पूज्य भी नहीं है और पूजा के अभाव के कारण इसका कोई पूजक भी नहीं है।

तन्त्रालोककार की दृष्टि—

न सन्नासन्न सदसन्न च तन्नोभयात्मकम्।
दुर्विज्ञेया हि सावस्था किमप्येतदनुत्तरम्।।
नैष ध्येयो ध्यात्रभावान्न ध्याता ध्यानवर्जनात्।
न पूज्यः पूजकाभावात् पूजाभावान्न पूजकः।।[१]

---

१. तन्त्रालोक

इन समस्त विकल्पों की वार्ता एवं उनके समस्त अर्थों आदि सर्वस्व से उत्तीर्ण, स्वस्वातन्त्र्यैकघन होने से संवर्द्धित महान् स्वभाव वाले महार्थ की जो ध्यानैकगम्य अनुभूति होती है, वही है—महार्थ तत्त्व। ग्रन्थकार का कथन है कि १६ हजार शक्तियों से मण्डित एवं क्रीडाद्यनेकपरिस्पन्दप्रगल्भ महालक्ष्मीवल्लभ भगवान् श्रीकृष्ण ने श्रीकालसङ्कर्षणीभाव की अनुभूति करते हुये कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल में युद्धारम्भ के समय कौरव-पाण्डव सेना के मध्य होने वाले संघर्ष की उपक्रमावस्था में पाण्डु के पुत्र अर्जुन को उसी महार्थतत्त्व का उपदेश दिया था, जिसका कि इस महार्थमञ्जरी में प्रतिपादन किया गया है।

ग्रन्थकार ने कहा है कि इस गाथा में 'उपदिशति' शब्द का प्रयोग करने के पीछे भी एक उद्देश्य निहित है। माना कि भगवान् ने भूतकाल में यह उपदेश दिया था; अत: लट् लकार का प्रयोग न करके लङ् लकार का प्रयोग करना था, किन्तु उनके द्वारा उपदिष्ट महार्थतत्त्व तो कभी भूत का विषय बन ही नहीं सकता, क्योंकि वह तो नित्य-नवीन है, शाश्वत है और अक्षर होने के कारण आज भी विद्यमान है।

एक बात यह भी कि ये गाथायें (महार्थमञ्जरी की गाथायें) मूलत: प्राकृत (महाराष्ट्री प्राकृत) में लिखी गई हैं और प्राकृत भाषाओं में भूत-वर्तमान-द्योतक लकारों का प्रतिबन्ध नहीं है।

वैसे तो प्रत्येक युग में महाभारत आदि युद्धों के व्यापार मानवाचार में नित्य प्रवाहित हैं; अत: भगवान् के द्वारा इस उपदेश को वर्तमानकालिक मानकर भी यहाँ लट् लकार का प्रयोग किया जाना संगत है।

युद्धारम्भ में गीता में कहा गया है—

तान् समीक्ष्य स कौरव्य: सर्वान् बन्धूनवस्थितान्।
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत्।।

यहाँ से प्रारम्भ करके अर्जुन निम्न श्लोकों के द्वारा अपने निराशा एवं विषाद की बातें करता है—

अहो बत महत् पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्।
यद् राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यता:।।
यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणय:।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत्।।[१]

ग्रन्थकार का कथन है कि अर्जुन इस प्रकार अपने पुरातन संस्कारों से अनुस्यूत पाशवावेश के कारण श्रौत-स्मार्तादि बाह्याम्नाय से निषिद्ध पिता-पितामह एवं स्वजनों

१. स्वोपज्ञ परिमल

की हत्या से होने वाले पातकों को सोचकर श्रीकृष्ण के 'युध्यस्व विगतज्वरः' का आदेश न मानकर मन में अनेक विचिकित्साओं का शिकार बन जाता है और राज्य-सौख्य आदि से विरत होकर युद्ध न करने का निर्णय करता है। श्रीकृष्ण उसे समझाते हुये कहते हैं—

कुतस्त्वां कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ।।
मा क्लैव्यं गच्छ कौन्तेय! नैतत् त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप।।[१]

इसके परिणामस्वरूप अर्जुन के हृदय में रहस्यार्थ-ज्ञान एवं तत्त्वप्रत्यभिज्ञान का औन्मुख्य प्रकट होता है और वह भगवान् श्रीकृष्ण से निवेदन करता है—

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसमूढ़चेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।।[२]

भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को कार्पण्यदोष से मुक्त करने हेतु अर्जुन से कहते हैं—

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं हन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतौ नायं हन्ति न हन्यते।।[३]

और युद्ध के अन्तराल में मारे जाने वाले भीष्म, द्रोण आदि अशेष स्वजनों के शरीर में विद्यमान आत्मा के नित्यत्व-व्यापकत्व आदि का वर्णन करके श्रीकृष्ण अर्जुन को युद्ध करने हेतु तार्किक उपपत्तियाँ प्रस्तुत करके उसे युद्धार्थ आदेश देते हैं; किन्तु इतने पर भी अर्जुन के न मानने पर भगवान् उसे दिव्य दृष्टि प्रदान करते हुये यथार्थ सत्य से अवगत कराते हुये कहते हैं—

दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्।

और अन्त में—

दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम्।[४]

भगवान् श्रीकृष्ण अपने वैश्वरूप (विराट् स्वरूप) को प्रकट करते हैं और कहते हैं कि हे अर्जुन! मारता तो काल है; किन्तु मैं तो स्वयं काल हूँ—

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत् प्रवृद्धो लोकान् समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।[५]

इससे अर्जुन भगवान् को प्राणिपात करते हुये कहता है—

नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते।[६]

और फिर—

१-६. स्वोपज्ञ परिमल

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः।
आश्वासयामास च भीतमेनं भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा।।

फिर भगवान् श्रीकृष्ण अपने को जल में रस, सूर्य-चन्द्र में प्रभा, वेदों में प्रणव, आकाश में शब्द आदि रूप में प्रतिष्ठित कहते हुये कहते हैं कि—

बहूनि ते व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप।।

और अन्त में कहते हैं—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे।।[१]
यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति।।[२]

'शिष्यस्तेऽहं शाधिं मां त्वां प्रपन्नम्' कहकर शिष्यभावावस्थित शिष्य अर्जुन को श्रीकृष्ण गुरु के रूप में अपना स्वरूप समझाते हुये कहते हैं कि मैंने ही इस उपदेश को (योगोपदेश को) सूर्य से कहा था और यही सूर्य-मनु-इक्ष्वाकु-राजर्षि तक आकर फिर लुप्त हो गया था और इसे ही तुम्हें बता रहा हूँ—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्।।
एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप।।
स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्।।[३]

ग्रन्थकार का कथन है कि यह महार्थमञ्जरी 'णमिऊण णिच्चसुद्धे गुलुणो चलणे महप्पआसस्स' से प्रारम्भ होकर 'देवो उवदिसइ माहवो त्ति सिवम्' गाथा पर अन्त होती है और समापन 'इति शिवम्' कहकर किया गया है। ग्रन्थकार का कथन है कि सब कुछ शिव ही तो है। इस शिवत्व का परामर्श भी शिवपरामर्श ही तो है। सभी कुछ के शिवस्वरूप से उत्पन्न होने के कारण एवं सभी कुछ के शिवस्वभाव से अभिन्न होने के कारण सब कुछ शिवमय है—तदखिलमपि शिवं शिवपरामर्शोपायभूतत्वात् शिवस्य रूपादुत्पन्नत्वात् शिवस्वभावाविभिन्नत्वाच्च शिवमयमेव।[४]

ग्रन्थकार सोमानन्दपाद एवं उनकी पुस्तक शिवदृष्टि से प्रभावित है। आचार्य सोमानन्दपाद ने शिवदृष्टि में सर्वशिववाद को प्रतिष्ठित किया था। इस ग्रन्थ के प्रणेता गोरक्षनाथ ने भी इससे अत्यधिक प्रभावित होने के कारण उसका प्रतिपादन किया है।

१-३. स्वोपज्ञ परिमल ४. स्वोपज्ञ परिमल (गाथा-७०)

सोमानन्दपाद का सर्वशिववाद—आचार्य सोमानन्द अपने को शिवस्वरूप (शिवैक्य-प्राप्त) कहकर शिव का अभिवादन करते हुये शिवदृष्टि का उपक्रम करते हैं—

अस्मद्रूपसमाविष्टः स्वात्मनात्मनिवारणे।
शिवः करोतु निजया नमः शक्त्या ततात्मने।।१।।

उत्पलदेवाचार्य कहते हैं—योऽहं नमस्करोमि स शिवोऽस्मद्रूपेणैक्यं प्राप्तः। वस्तुस्थित्या हि सर्वतत्त्वविग्रहो वक्ष्यमाणनीत्या शिवः।[१] सोमानन्द कहते हैं—

१. न शिवः शक्तिरहितो न शक्तिर्व्यतिरेकिणी।
शिवः शक्तस्तथा भावानिच्छया कर्तुमीहते।।
२. शक्तिशक्तिमतोर्भेदः शैवे जातु न वर्ण्यते।
३. शक्तिमानेव शक्तिः स्याच्छिववत्करणार्थतः।।५।।
शक्तेः स्वातन्त्र्यकार्यत्वाच्छिवत्वं न क्वचिद्भवेत्।[२]
४. सर्वं शिवात्मकं यद्वत्कथनीयमिहाग्रतः।।६१।।
५. शक्तिशक्तिमतामुक्ता सर्वत्रैव ह्यभेदिता।।
६. तस्मात्सर्वं स्थितः शिवः तस्मात् सर्वं शिवात्मकम्।
७. अथेदानीं प्रवक्तव्यं यथा सर्वं शिवात्मकम्।
८. एक एव स्थितः शक्तः शिव एव तथा तथा।।
९. यत्सत्तत्परमार्थो हि परमार्थस्ततः शिवः।
सर्वभावेषु चिद्व्यक्तेः स्थितैव परमार्थता।।[३]
१०. जगत्यैक्ये स्थितः शिवः।
११. अतएव शिवः सर्वमिति योगोऽथ चेतसि।
१२. शिवः कर्ता शिवः कर्म शिवोऽस्मि करणात्मकः।
शिव एव कलावस्था व्यापार इति साधुषु।।

महेश्वरानन्द जी कहते हैं कि यह समस्त महार्थमञ्जरीप्रोक्त ज्ञान—

१. भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा कुरुक्षेत्र में दिये गये उपदेश से रसार्द्र है।
२. यह स्वप्नोपलब्ध है।
३. यह योगिनियों द्वारा दिया गया उपेदश है।

इस उपदेश में सारे अर्थों का सन्निवेश है।

अर्थों के प्रकार—अर्थों के अनेक प्रकार हैं; यथा—

भावार्थः सम्प्रदायार्थो निगर्भार्थश्च कौलिकः।
तथा सर्वरहस्यार्थो महातत्त्वार्थ एव च।।

२-३. शिवदृष्टिवृत्ति

इन समस्त अर्थों से गर्भित है—यह महार्थमञ्जरी का उपदेशामृत।

महार्थमञ्जरी का सारांश—सर्वशिववाद—अखिलमपि शिवं शिवपरामर्शोपाय-भूतत्वात् शिवस्वरूपादुत्पन्नत्वात् शिवस्वभावाविभिन्नत्वाच्च शिवमयमेव।[1]

स्वप्न में उपदेश देने वाली सिद्धा योगिनी
कालसङ्कर्षिणी को अभिवादन

एवमारब्धमखिलमपि तन्त्रमव्याकुलं परिसमाप्य तदवतरणक्रममासूत्र्यमाणः सिद्धसङ्कल्पतालघुभूतभाववृत्तिस्तन्त्रकृत् तत्प्रयोजिकां स्वप्नसमयोपलब्धां सिद्ध-योगिनीमनुस्मरन्नाह—

इत्थं पाअडसुत्तसत्तइसमुल्लासेक्कसन्धाइणिं
जग्गत्तक्खणणिव्विसेससविणोइण्णं पइण्णोत्तरं।
लोउल्लङ्घनजोग्गसिद्धिपअवीपत्थाणबद्धुज्जमं
कन्थासूलकपालमेत्तविहवं वन्दामि तं जोइणिं॥७१॥

(इत्थं प्राकृतसूत्रसप्ततिसमुल्लासैकसन्धायिनीं
जाग्रत्तत्क्षणनिर्विशेषस्वप्नावतीर्णां प्रतिज्ञोत्तराम्।
लोकोल्लङ्घनयोग्यसिद्धिपदवीप्रस्थानबद्धोद्यमां
कन्थाशूलकपालमात्रविभवां वन्दे तां योगिनीम्॥)

इस प्रकार सत्तर प्राकृत भाषामयी गाथाओं के आविर्भाव में उल्लास प्रदान करने वाली, जाग्रत् अवस्था में स्वाभाविक (निर्विशेष) स्वप्न में अभिव्यक्त होने वाली, पूजोपकरण (दक्षिणादिक उपकरण) आदि से परे रहने वाली, स्वहस्तमुद्रा द्वारा ही अपने हृदय की करुणा को व्यक्त करने वाली, अलौकिक योगैश्वर्य से सम्पन्न और कन्था, शूल एवं कपालमात्र धारण करने वाली योगिनी की मैं वन्दना करता हूँ॥७१॥

इत्थमुपपादितेन प्रकारेण यानि प्राकृतानि संस्कृतव्यतिरेकेण महाराष्ट्राद्यन्य-भाषामयानि सूत्राणि सूचनप्रधानानि गाथात्मकानि वाक्यानि तेषां सप्ततिं प्रति य उल्लासः समुत्पत्तिः प्रसृतिश्च, तत्रैकां सन्धायिनीमनन्यसापेक्षतयोत्पादयित्रीं तां स्वपरामर्शचमत्कारसारैकगोचरीभूतां योगिनीम् अलौकिकैश्वर्यात्मकयोगशक्ति-सम्पन्नां परमेश्वरीं वन्दे स्तौमि अभिवादये च। सर्वथा तादात्म्येन तामनुप्रविशामीति यावत्। तदुक्तं श्रीक्रमकेलौ—'वन्दनं हि तदनुप्रवेशः' इति। तस्याश्च तादृक्तन्त्र-प्रयोजकतया वन्दनीयताया हेतवस्तत्तद्विशेषणद्वारेण परामृश्यन्ते। तथाहि—
जाग्रदित्यादि। **जाग्रदात्मा यः क्षणोऽवस्थाविशेषः। जाग्रदिति कर्तृत्वोपचारेण जागरैवावस्थोच्यते। तया सह निर्विशेषो वैलक्षण्यशून्यो यः स्वप्नस्तत्रावती-**

१. परिमल

र्णामशङ्कितमन्तर्यागमनुप्रविष्टाम्। स्वप्नो हि स्फुटास्फुटरूपः। जागरा हि स्फुट-रूपा। तत्र स्वप्नस्यास्फुटत्वांशव्यतिरेकेण केवलं स्फुटतयोपलभ्यमानायाम-वस्थायाम् अपरोक्षितामिति यावत्। प्रतिज्ञोत्तरां पूजोपकरणदक्षिणाद्यधिक्षिप्य स्वहस्तोपकल्पिता मुद्रैव केवलमन्वर्थीक्रियतामिति येयमागूः, तया महान्तमुत्कर्ष-मश्नुवानाम्। अथ च लोकस्य वेद्यवर्गलक्षणस्य यदुल्लङ्घनं वेदितृस्वभावमात्र-पारिशेष्येणावस्थानम्, तत्र योग्याया औचित्यवत्याः कौलिकैश्वर्यानुभूतिरूपायाः सिद्धेर्या पदवी दुर्गमत्वदीर्घत्वादिपरिहाण्या सद्गुरूपदर्शिता शुद्धा लघ्वी च सरणिः, तत्रत्ये प्रस्थाने विश्वातिशायित्वस्वभावे बद्धोद्यमामुत्सङ्गितोद्योगशक्तिम्। विश्वो-ल्लङ्घनप्रगल्भामपि स्वाच्छान्द्यादिदन्ताभूमिमवरुह्य व्यवहरन्तीमित्यर्थः। किं च, कन्थाशूलकपालमित्येतन्मात्रैश्वर्याम्। अत्रैव विश्ववृत्तान्तस्यान्तर्भूतत्वादन्यस्या-सत्कल्पत्वमनुपयुक्तत्वं चेति भावः। तत्र कन्था नाम भेदप्रभेदवैचित्र्यवत्तायामपि पर्यन्तत एकानुसन्धानसाध्यो विश्वव्यवहारः। शूलं पुनः—

इत्थमिच्छाक्रियाज्ञानशक्तिशूलाम्बुजाश्रयः ।

इति न्यायादिच्छाज्ञानक्रियात्मकं शक्तित्रयम्। कपालं च शरीराहन्ताधिवा-सितात्मा परिमितः प्रमाता। यश्चित्तमयो मायाप्रमातेत्युच्यते। तादृशीमेनां श्रीकाल-सङ्कर्षणीरूपां योगिनीं वन्द इत्यक्षरार्थः। प्राकृतेति। संस्कृतं हि प्रकृतिरशेषस्य भाषान्तरस्य। तत्प्रकृतेः संस्कृतादुत्पन्नं प्राकृतमित्यनेन भाषान्तरात्मकविकृति-शिल्पवैदग्ध्यस्वीकारः, प्रकृतिसौष्ठवपरिचयापरि त्यागश्चेत्युभयथा चमत्कारौ-चित्यमासूच्यते। ननु 'न म्लेच्छितवै नापभाषितवै' न म्लेच्छितव्यं यज्ञादौ इति श्रुतिस्मृतिभ्यां संस्कृतव्यतिरिक्तभाषा प्रयोज्यतायां प्रतिषिध्यते, अपभ्रंशात्मकत्वात् तस्याः। संस्कृतव्यतिरेकेणान्या सर्वापि भाषाप्यपभ्रंशाः—

शास्त्रेषुसंस्कृतादन्यदपभ्रंशतयोच्यते ।

इत्युक्तत्वादिति चेत्? न। स्वात्मपरमेश्वरपरामर्शमपहायान्यत्र चमसचषाला-दिपर्यालोचने भ्रश्यत्पङ्किलस्थलस्खलितकुसुमकिसलयादिस्थानीयः शब्दोऽप-भ्रंशः। अन्यादृशस्तु यत्किञ्चिद्भाषोपरूषितोऽपि मन्त्राक्षरवदत्यन्तसौष्ठवास्पदम्। यत्प्रयोगात् 'एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः सुष्ठु प्रयुक्तः स्वर्गे लोके कामधुग् भवति' इति श्रुत्युपपादितां स्वर्गगुडजिह्विकामुल्लङ्घ्य स्वपरामर्शाह्लादलक्षणो महोपयोग उपलभ्यत इत्यन्तर्विद्भिर्व्यवस्थाप्यमानत्वात्। स्वप्नसमयसाक्षात्कृताया योगिन्या-स्तद्भाषैकपक्षपातित्वाच्च। किञ्च, अस्मदुपास्यविद्यानुसन्धाने प्रायः प्राकृतस्यैवौ-चित्यमुज्जृम्भते। यदुक्तमस्मत्परमगुरुभिः श्रीमदृजुविमर्शिन्याम्—'इह हि विद्यायां त्रिष्वपि बीजेष्वन्तस्थातृतीयामस्ति, सम्प्रदायस्य काश्मीरोद्भूतत्वात्, प्राकृतभाषा-

विशेषत्वाच्च यथासम्प्रदायं व्यवहार इत्युपदेशः' इति। सूत्रेति। सूचनमात्रमेव ह्यर्थरहस्यानां गाथास्वालोक्यते। येन परिमलाह्वयस्य व्याख्याग्रन्थस्यावश्यम्भावः। अन्यथा 'सन्तो हिअअपआसो' इत्यादौ सन्नित्यादेः प्रकृतिप्रत्ययोभयांशप्राबल्यानुसन्धानाद् विमर्शपर्यवसायिनी तात्पर्यकाष्ठा कथङ्कारमवधार्येत। प्राकृतसूत्रेति सूत्राणां वैशिष्ट्योपन्यासेन संस्कृतादपि तत्तदनेकार्थतत्त्वसूचनासामर्थ्यमेषामस्तीत्यासूत्र्यते। तथाहि—'चित्तं ण लिहइ चित्तं' इत्यत्र चित्रं चित्तमित्यालेख्यान्तःकरणचैतन्यरूपमर्थत्रयं चित्तशब्देनोच्यते। एवम 'अत्थं एत्ताण सोमसुज्जाणं' इत्यत्र अस्त्रमास्थामर्थमस्तमिति प्राग्व्याख्यानुगुण्याद् अत्थं इत्यनेनानेकार्थोऽभिधीयते। एवमन्यदप्यूह्यम्। पाअडेत्यनेनानुरणनशक्त्या प्रकटशब्दपर्यायेण सूत्राणां सूचनप्राधान्येऽपि नात्यन्तमव्यक्तार्थतेत्यभिव्यज्यते। सप्ततीति। योगिन्यो हि सर्वमपि विषयमवगाह्य व्यवहरन्ति। तत् श्रीमत्सप्तकोटीश्वरीविद्यानुसन्धानवासनानुस्यूतेः—

सप्तकोटिर्महामन्त्रा महाकालीमुखोद्गताः ।

इत्याम्नायन्यायादेकैककोटिक्रोडीकारसूचनार्थमेकैकदशकस्वीकार इति तस्याः सिद्धयोगिन्याः सप्तसंख्यात्मकमुद्रानिबन्धतात्पर्यात् सप्ततिसंख्यानिर्बन्ध इति तात्पर्यार्थः। किञ्च, श्रीमन्महार्थक्रमप्रपञ्चः सर्वोऽपि वृन्दचक्रे विश्राम्यति। तच्च चतुष्षष्टिशक्तिसमष्ट्यात्मकमिति व्याख्यातम्। तत्र—

धाममुद्रावर्णकलासंविद्भावस्वभावतः ।
पातानिकेतदृष्ट्या च .... ।।

इत्युपवर्णितया भङ्ग्या शाम्भसिद्धादिषु व्योमेश्यादीनां पात इति पातक्रमेण व्योमेश्यादिपञ्चकस्वीकारस्यापरिहार्यत्वम्। तद्वत् सर्वानुस्यूतिसाम्राज्यशालिन्याः श्रीरुद्ररौद्रेश्वर्याः सर्वथाऽवश्यम्भाव इति सप्ततिः सम्पद्यत इत्यत्र न विप्रतिपत्तिः। समुल्लास इति। लासो हि सूत्राणां स्फुरत्ता। तत्रोल्लासः शब्दार्थयोरुत्पत्तिमाचष्टे। समुल्लासस्तु स[illegible]तादुद्भूतात्मिकामनयोः प्रसरद्रूपताम्। सन्धायिनीमिति। सूत्राणामुत्पत्तिं प्रति तन्त्रकारचित्ते पुष्पादीनामिव वृन्तादौ सन्धानम्, प्रसृतिं प्रति तु शिलीमुखपुङ्खादीनामिव कार्मुकादाविति विशेषः। एकेति। एकैव शक्तिः साधकहृदयमाक्रम्य प्रकाशविमर्शस्वभावा भवन्ती वाच्यवाचकात्मकशाखाद्वयप्रसरपरिपाटीपल्लवितोल्लासां प्रपञ्चवैचित्र्यसम्पदमुज्जृम्भयति। जाग्रदित्यादि। तादृश्यां ह्यवस्थायामेतादृश्याः परमेश्वर्याः साक्षात्कारौचित्यम्। यदुक्तं श्रीविज्ञानभैरवे—

अनागतायां निद्रायां विनष्टे बाह्यगोचरे ।
यावस्था मनसा गम्या परा देवी प्रकाशते ।। इति।

प्रतिज्ञोत्तरामिति। एतदेव हि तत्प्रतिज्ञाया दार्ढ्यं यत् स्वविवक्षितस्य तन्त्रविशेषस्य स्वकारुण्यविषयभूतात् कुतश्चिदुद्भावनं तदुपरि तद्विवरणोद्घाटनं

चेति। लोकोल्लङ्घनेत्यादि। तादृशी हि योगिनीनां स्थितिः साधकान् प्रत्यभिमत-मुपस्थापयति। अन्यथा साक्षात्कारासम्भवो वरप्रदानसामर्थ्याभावो वेत्येकतरकोटौ वैयाकुल्यं स्यात्। कन्थेत्यादि। स्वयमपरिमितप्रमातृभावावलम्बिनी योगिनी यावदिच्छाज्ञानादिशक्तित्रितयवत्तया विश्वविलालक्षणं वेद्यवैचित्र्यं परिमितप्रमातृव्यवधानरूपादुपायबलादाकृष्यान्तश्चर्वणीयतयाऽनुसन्धत्ते। एवमन्यानुजिघृक्षायामपि तेनैव शक्तित्रयेण तत एव परिमितप्रमातृव्यवधानादुपायात् तामेव विश्वविस्तार-सम्पदं तत्तदभिलाषानुगुण्यादुपसन्नानामुद्वमतीति व्याख्यातरूपाणां शूलकपाल-कन्थाशब्दानां तात्पर्यमत्र पर्यालोचनीयम्। एवंभूतां च तामात्मोपास्यदेवतास्व-भावाविभिन्नामुद्वेलकारुण्यकल्लोलकोलाहलाक्रान्तस्वान्ततया स्वस्वरूपसाक्षात्कार-यितृत्वरूपालौकिकसिद्धिसम्पत्प्रदानप्रदर्शिताशेषनिष्कारणौदार्योत्कर्षां कुलाचार्य-चरणपरिचर्याफलप्राप्तिपर्यायभूतामार्यां सिद्धयोगिनीं वन्दे। तादृशीनां हि स्वोपास्यदेवतैकरूपाणां वन्दनमखिलभुवनमङ्गल्यतयाम्नायते। यदुक्तमस्मत्पर-मगुरुभिः श्रीत्रिपुरसुन्दरीमन्दिरे स्तोत्रे—

लक्ष्मीमहोदयमहोत्सवपुण्यलग्नं
वाणीविशेषपरिमेलनपूर्वपर्व ।
त्वद्वन्दनं त्रिपुरसुन्दरि! विश्ववन्द्यं
तद्वत् परं विजयते महानीयसारम् ।। इति।।७१।।

आयातिरथ तन्त्रस्य कथ्यते कौलिकोदिता ।
यामाकर्ण्य पुमानत्र विमर्शौचित्यमश्नुते ।।
पुरा कदाचिद् भगवान् भैरवो विश्वभावनः ।
संविदाकाशमास्थाय महान्तं मणिमण्डपम् ।।
स्वचित्तचषकापूर्णमापिबन् विषयासवम् ।
स्वानन्दभोगलहरीं स्वसंवेद्यां परामृशन् ।।
सदाशिवादिभिः शिष्यैः सेव्यमानो मदोज्झितैः ।
आसाञ्चक्रे चिरं कालं निर्विकल्पे निजे पदे ।।
तत्र क्रियायां सुप्तायां विश्रान्तायां च संविदि ।
इच्छाशक्तिरभूदेका प्रबुद्धा परमेष्ठिनः ।।
प्रशान्तबाह्यसंरम्भं चक्रमालक्ष्य सा तदा ।
तत्त्वमर्थस्य निश्चेतुं जग्राहान्तः कुतूहलम् ।।
अथ पुष्पाञ्जलिं क्षिप्त्वा सौरभोद्भ्रान्तषट्पदम् ।
पाणिभ्यां पद्मताम्राभ्यां पस्पर्श पदयोः प्रभुम् ।।

देवोऽपि किञ्चिदुन्मील्य चमत्कारोत्तरं ज्वलन् ।
कारुण्यवर्षिभिर्नेत्रैः प्रेयसीं तामुदैक्षत ।।
प्रणिपत्य च सा भूयः कल्पिताञ्जलिकुड्मला ।
शुचिस्मिता स्मरारातिं बभाषे शशिभूषणम् ।।
देव! त्वद्वदनादेव गोपितान्यन्यदर्शने ।।
प्राक्प्रत्यगुत्तरावाञ्चि स्त्रोतांसि श्रुतवत्यहम् ।।
किन्तु प्रष्टव्यमेतन्मे कारुण्यं यदि ते हृदि ।
किं तत्त्वमत्र सर्वत्र यज्ज्ञानात् पूर्णता भवेत् ।।
इति श्रुत्वा गिरं देव्याः श्रीमान् स्वच्छन्दभैरवः ।
मानयन् माननीयां तां पृष्टं सुमुखि! सुष्ठिवति ।।
पवित्रं स्वहविश्शेषं ग्राहयित्वा स्मितोत्तरम् ।
अन्तर्लक्षे पदे तिष्ठन् बभाषे तत्त्वमौत्तरम् ।।
यथा स्यात् स्वात्मनः स्फूर्तिर्यथा तस्य बहिः प्रथा ।
यथा च मोहः प्रभ्रश्येद् देशिकेन्द्रे प्रसीदति ।।
प्रक्षालितमलश्चासौ विशुद्धिं स्वां परामृशन् ।
यथा च नित्यं भुञ्जीत जीवन्मुक्तिचमत्क्रियाम् ।।
तथा तथा शिवस्तस्याश्चैतन्यमुपबृंहयन् ।
अर्थतत्त्वमुपादिक्षदौत्तराम्नायसंविदाम् ।।
क्रमशः शृण्वती सा च रहस्यं तत्त्वनिश्चयम् ।
विमृशन्ती च विशदं स्वस्पन्दानन्दचिन्मयीम् ।।
विश्वस्य स्वात्मानश्चैक्यं प्रत्यभिज्ञाय वास्तवम् ।
तेन भैरवनाथेन तादात्म्यामोदभागभूत् ।।
अथ सा कालयोगेन शिवानन्दस्य धीमतः ।
शिष्यस्योपादिशद् देवी चिदद्वैतस्य निश्चयम् ।।
क्रमेण तच्च नाथानां परिपाट्या भुवः स्थलम् ।
दिव्यसिद्धमनुष्यौघप्रविभागादवातरत् ।
अवतीर्णाऽप्यसौ विद्या महार्थक्रमगर्भिणी ।
योगिनां वदनेष्वेव तिष्ठत्यत्यन्तदुर्लभा ।।
अथ कालक्रमवशाच्चोलदेशशिरोमणिः ।
महाप्रकाशो नामासीद् देशिको दृक्क्रियोत्तरः ।।
तस्य शिष्योऽभवद्धीमान् गोरक्षो नाम वश्यवाक् ।
महेश्वरानन्द इति प्राप्तपूज्याह्वयो महान् ।।

अर्चयन् देवतां नित्यं जपन् ध्यायंश्च निश्चलम् ।
पर्यटंश्च दिशामन्तान् कालं कश्चिदवाहयत् ।।
अथैकदा निशीथिन्यामासीनो यागमण्डपे ।
तर्पयित्वा परां देवीं गन्धपुष्पाक्षतासवैः ।।
आस्वाद्यानन्दपात्राणि त्रीणि तीव्राणि तन्मनाः ।
स्वसंरम्भपरामर्शभव्यामनुभवन् प्रथाम् ।।
जागरास्वप्नयोर्मध्यमध्यास्य महतीं दशाम् ।
दूत्याः स्तनतटोत्सङ्गमपराङ्गेन पीडयन् ।।
प्रदीपैः कुशलैरेव प्रदीप्तैरपरोक्षितः ।
आस्ते स्म विस्मयाक्रान्तः कह्लारोत्फुल्ललोचनः ।।
अत्रान्तरे स्त्रियं काञ्चित् कन्थाशूलकपालिनीम् ।
स ददर्श किलोल्लोकां सिन्दूरालंकृतालिकाम् ।।
आलोक्य च स तां सिद्धां कुर्वन्नासन्नमासनम् ।
उपाहरदुदारश्रीः पूजोपकरणं क्रमात् ।।
दक्षिणां च यथाशक्ति दातुं दूतीं समादिशत् ।
क्रुद्धेव योगिनी सा च किमेभिरिति निःस्पृहा ।।
महाराष्ट्रभुवं भाषां प्रयुञ्जाना स्मितोत्तरम् ।
सप्तसंख्योचितां मुद्रां बध्नती हस्तपल्लवे ।।
अलमथैंरियं कन्था वसोर्धारां हि वर्षति ।
प्रदीयतामियं मुद्रा फलं च प्रतिपाद्यताम् ।।
इत्थमाभाषमाणैव सकपालेन पाणिना ।
स्पृशन्ती मस्तकं तस्य निश्शङ्कं सा तिरोदधे ।।
अथ तन्महदाश्चर्यमश्नुवानो महामनाः ।
आरचय्यार्चनाशेषमशेषामनयन्निशाम् ।।
प्रातर्गुरुकुलं गत्वा प्रणम्य चरणौ गुरोः ।
रात्रिवृत्तान्तमाचख्यौ प्राञ्जलिः प्रश्रितैः पदैः ।।
देशिकेन्द्रोऽपि सञ्चिन्त्य निश्चित्यार्थं च तत्क्षणम् ।
पुण्योत्सव इति प्रीतः शिष्यं श्रीमानभाषत ।।
अलमर्थप्रपञ्चेन पिण्डितोऽर्थः प्रकाश्यते ।
अलमथैंरिति प्राह यदियं सिद्धयोगिनी ।।
यच्च सप्तोचितां संख्यां कुर्वाणा करकुड्मले ।
सफलीक्रियतामेषा भावज्ञेनेत्यभाषत ।

तदार्थीं सृष्टिमुल्लङ्घ्य शाब्दीं सा काञ्चिदिच्छति ।
येन मन्त्रात्मकैः शब्दैः परमेश्वर्युपास्यते ।।
सप्तकोटीश्वरी देवी तया नूनमुपास्यते ।
अन्यथा तादृशीमेव मुद्रां न प्रतिपादयेत् ।।
तत् त्वयात्र विधातव्या स्फीतसारस्वतश्रिया ।
सूत्राणां सप्ततिस्तन्त्रे महार्थे मन्त्रगर्भिणी ।।
सद्यस्त्वद्वदनात् तस्मात् पादुकोदयशोधितात् ।
पुरातनागमप्रख्यो ग्रन्थः प्रख्यायतां महान् ।।
किञ्च भाषा तदीयैव माधुर्यामृतवर्षिणी ।
औचित्यं पोषयत्यत्र महामन्त्रानुसारिणी ।।
इत्याज्ञां देशिकेन्द्रस्य दयालोर्मूर्ध्नि धारयन् ।
महार्थमञ्जरीं नाम संविद्दर्पणमण्डलम् ।।
तन्त्रं दिनैः कतिपयैः प्रवबन्ध स्वतन्त्रधीः ।
कार्यारम्भो हि महतामविलम्बेन सिध्यति ।।
तच्च तत्त्वविदं लोके वेदशास्त्रकलास्वपि ।
महार्थसिन्धुमन्थानं श्रावयामास देशिकम् ।।
स्वयमेव च तां विद्यां स्वविमर्शकुतूहलात् ।
शिष्याणामपि निर्बन्धाद् व्याचचक्षे विचक्षणः ।।
यथा हि पुष्पमञ्जर्यां ग्राह्यः परिमलो भवेत् ।
तद्वदस्यामपि ग्राह्या व्याख्या परिमलाह्वया ।।
अस्यामर्थस्थितिः सैव या सर्वत्र कुलागमे ।
किन्तु शब्दस्य शय्याऽन्या नात्यन्तं सा विभिद्यते ।।
शुद्धो जन्मस्वनेकेषु यः कश्चिज्जायते कृती ।
एनामुपदिशन्त्यस्मै योगिन्यो भाग्यशालिने ।।
अनयैव शिवो विष्णुर्ब्रह्मान्येऽपि महौजसः ।
अन्तर्विमृष्टया शुद्धाः स्वाधिकारेषु जाग्रति ।।
इमामेव विमृश्यान्तर्वामदेवशुकादयः ।
अध्यतिष्ठन् परां काष्ठां प्रतिष्ठां सर्वसम्पदाम् ।।
इमामेव च संग्रामे बन्धुहत्यापराङ्मुखम् ।
मुकुन्दो बोधयामास स्यन्दनस्थं धनञ्जयम् ।।
क्षणमालोचिताऽप्येषा जीवन्मुक्तिं प्रयच्छति ।
उपर्युपर्यनुस्यूतास्तत्तदैश्वर्यसम्पदः ।।

न चैनामर्हति प्राप्तुं क्रूरः कौटिल्यवान् खलः ।
प्रमत्तो मत्सरी भीरुरामयावी मदोद्धतः ।।
नास्तिकः स्वल्पधीर्दुःखी दर्शनान्तरतत्परः ।
गुरुभक्तिविनिर्मुक्तः कृतघ्नो दुर्मनाः शठः ।।
अश्रद्धालुरहङ्कारी रागद्वेषोपरूषितः ।
चपलप्रकृतिः पापो निष्कृपः कृपणोऽलसः ।।
प्राप्नुयाद् यदि मौर्ख्येण गुरोरेतादृशः पुमान् ।
उभौ तौ कुलयोगिन्यः शपन्ति क्षुभिताः क्रुधा ।।
अकृत्वा कौलिकीं तृप्तिं विष्टरादुद्धरन्निमाम् ।
उद्घाटयन् पठन् शृण्वन् व्याचक्षाणश्च नेष्यते ।।
अमन्त्रबिन्दुसंस्पर्शं कोशमस्याः परामृशन् ।
योगिनीनां प्रचण्डानामापानेष्वामिषायते ।।
मूलसंवित्कलामात्रमधिगम्यार्चयन्निमाम् ।
अश्नुते सिद्धिमखिलामविनश्वरसम्पदम् ।।
सिद्धान्तानां यथान्येषां सारं स्यादौत्तरः क्रमः ।
तथा तस्याप्यशेषस्य सारमेषाऽवधार्यताम् ।।
बाह्यानामान्तराणाञ्च मन्त्राणामुज्ज्वलार्चिषाम् ।
वीर्यमेषैव बोद्धव्या पराहन्तामयी कला ।।
ज्ञातव्यानां परा काष्ठा कर्तव्यानां परा क्रिया ।
भाव्यानां च परा भूमिरियमीशेन कथ्यते ।।
सहस्रशोऽपि सन्त्वाज्ञाः शिवभट्टारकप्रभोः ।
इयं तु तस्य चैतन्यसर्वस्वमिति निर्णयः ।।
इयमेव शिवेनोक्ता श्रुतिस्मृत्यादिविस्तरे ।
अन्यथाकरणे हेतुर्व्याख्यातॄणां मतिभ्रमः ।।
अन्यत्र पारम्पर्येण साक्षादत्रार्थनिश्चयः ।
इति वैषम्यमप्यूचे भगवानिन्दुशेखरः ।।
आस्थाय धैर्यमवधूय विकल्पचिन्ता-
मालूय संशयमुपास्य च देशिकेन्द्रम् ।
ग्राह्येयमौत्तरमहाक्रमतन्त्रगर्भा-
दार्यैरुदन्वदुदरान्मणिमञ्जरीव ।।
आदिवाक्यमुपक्षेपः प्रतिपाद्यस्य वस्तुनः ।
प्रयोजनादेः प्रथमं प्रमाणातिक्रमः प्रभोः ।।

अधिकारिण्यनियमस्थितिर्विधिनिषेधयोः ।
परीक्षा संसृतेः स्वस्य स्फुटास्फुटतया प्रथा ।।
स्वविमर्शस्य साध्यत्वं तत्स्वरूपविमर्शनम् ।
षट्त्रिंशत्तत्त्वनिर्णीतिस्तदुत्तीर्णा विचारणाः ।।
अन्तर्भावः प्रपञ्चस्य स्वप्रकाशविमर्शयोः ।
शिवशक्त्योरभिन्नत्वं शक्त्युत्कर्षश्चिदात्मनः ।।
संहृतावपि विश्वस्य स्वस्मिन्नव्याकुला स्थितिः ।
प्रमात्रादित्रयस्यैक्यं सदसद्भेदभञ्जनम् ।।
उल्लोकता सपर्याया महार्थक्रमवासना ।
पूजास्वरूपनिष्कर्षो देवताया निरूपणम् ।।
चिन्तनं मन्त्रतत्त्वस्य वाग्वृत्तिस्फूर्तिनिश्चयः ।
मुद्रारूपपरामर्शो विमर्शस्यात्मवर्तिनः ।।
प्रागल्भ्यं भोगमोक्षश्रीसामरस्यफलार्पणे ।
जीवन्मुक्तेरुपन्यासः क्षणभङ्गतिरस्क्रिया ।।
स्वस्यानन्दस्वभावत्वमाणवादित्रयं क्रमात् ।
विवेचनमुपायानां नैश्चिन्त्यं योगशालिनाम् ।।
विमर्शस्याविलम्बत्वं फलस्य प्रतिपादने ।
गुरुकारुण्यनिघ्नत्वं स्वपरामर्शसम्पदः ।।
सर्वदर्शनसारत्वमुपक्रान्तस्य वस्तुनः ।
उक्तसर्वार्थसंक्षेपो भारताद्यविरुद्धता ।।
उपपत्तिप्रयोगश्च तन्त्रावतरणक्रमे ।
इति स्वस्पन्दसंसिद्ध्यै गृह्यतां तन्त्रसंग्रहः ।।
इति गुरुमुखाम्नायन्यायान्महाक्रममञ्जरी-
परिमलमिमं शिष्यप्रेम्णा बबन्ध महेश्वरः ।
कनकसदसो मध्ये नृत्यन्निव प्रभुरद्भुतं
यदिह सुलभः साक्षात्कर्तुं विमर्शमयः शिवः ।।
गाथानामनुभाषणं तदनु तच्छाया ततो व्याकृति-
र्ग्रन्थार्थग्रथनक्रियासु गहनो हृद्यश्च कश्चित् क्रमः ।
संवादोक्तिसहस्रसङ्कलनया तत्त्वार्थचर्चोत्सवः
सौभाग्यञ्च विमर्शसम्पद इति प्रस्थानमध्यक्ष्यताम् ।।
चोलास्ते सततोत्सवा जनपदाः श्लाघ्यो गुणैर्माधवो
रेतोधाः स्फटिकावदातहृदयो नाथः प्रकाशो महान् ।

स्रोतः स्वच्छमनुत्तरं परिणतं पाण्डित्यमास्थाधिका
वश्या वागिति हन्त तन्त्रकृदसौ सर्वोत्तरो वर्तते ।।
सत्संवित्समयमहाब्धिकल्पवृक्षानाचार्यानभिनवगुप्तनाथपादान् ।
आमूलादमलमतीनुपघ्नयन्त्या वाग्वल्याः प्रचुरफलो ननु प्ररोहः ।।
साहित्याब्धौ कर्णधारोऽहमासं काव्यालोकं लोचनं चानुशील्य ।
तद्वत् स्वच्छं लब्धवानस्मि बोधं पान्थो भूत्वा प्रत्यभिज्ञापदव्याम् ।।
यो मे वामचमत्क्रियोद्यममयः स्तब्धोऽपि सन्नश्नुते
विश्वं व्याप्नुवतश्चिदद्वयमहश्चन्द्रोदयाद् विक्रियाम् ।
तस्याह्लादमहार्णवस्य न कथं वर्धेत कूलङ्कषो
वाग्विक्षोभविजृम्भया बहुमुखं कल्लोलहल्लोहलः ।।
कावेर्या इव माधुर्यं कह्लारस्येव सौरभम् ।
नटेशस्येव तन्नृत्तमस्य ग्रन्थस्य गौरवम् ।।
विश्वोत्पत्तिविपत्तिभूः स भगवानत्र प्रवक्ता शिव-
स्तस्याहं प्रतिशब्दपर्वतगुहा यन्मे न गर्वग्रहः ।
तद्दोषोऽस्तु गुणोऽपि वा न खलु तत् स्वायत्तमित्थं स्थिते
मात्सर्यं महतामुदेतु यदि वा वात्सल्यमुज्जृम्भताम् ।।
अधिवासयतु सदा मुखमन्यकथालेपलब्धदौर्गन्ध्यम् ।
कर्पूरशकल इव मे शिव शिव इति शीतलः शब्दः ।।

इति शिवम्

इति श्रीमहाप्रकाशशिष्यस्य गोरक्षापरपर्यायस्य श्रीमन्महेश्वरानन्दस्य
कृतिर्महार्थमञ्जरीपरिमलः सम्पूर्णः

कालचक्रघटीयन्त्रकल्पनामूलशिल्पिने ।
नमः स्वच्छन्दचिन्मात्रपरिबर्हाय शम्भवे ।।
पादुकोदयमहार्थमञ्जरीकोमलास्तवपरास्तुतिक्रमैः ।
स्फारयन् भुवि महार्थसंविदं देशिको विजयते महेश्वरः ।।
जयत्यमूलमम्लानमौत्तरं तत्त्वमद्वयम् ।
स्पन्दास्पन्दपरिस्पन्दमकरन्दमहोत्पलम् ।।

शुभमस्तु

इत्थं = इस प्रकार। प्राकृत = महाराष्ट्री आदि प्राकृत भाषा। सूत्र = सूचनाप्रधान गाथात्मक वाक्य। सप्तति = ७० गाथायें। उल्लास = आविर्भाव। समुत्पत्ति। प्रसृति।

सन्धायिनी = अनन्यसापेक्षतयोत्पादयित्री। योगिनी = स्वपरामर्शचमत्कारसारैकगोचरीभूता, अलौकिकैश्वर्यात्मक योगशक्तिसम्पन्ना परमेश्वरी। स्तौमि = अभिवादन करता हूँ। वन्दे = वन्दनं हि तदनुप्रवेशः—श्रीक्रमकेलि (अभिवादये)। जाग्रत् = जागरावस्था। कर्तृत्वोपचारितावस्था। निर्विशेष = वैलक्षण्यशून्य। सामान्य। अवतीर्ण = अन्तर्यागानुप्रविष्ट। स्वप्न = स्फुटास्फुटरूपावस्था। लोक = वेद्यवर्ग। प्रतिज्ञोत्तरा = स्वहस्तोपकल्पिता मुद्रा। लोकोल्लंघन = वेदितस्वभावमात्रपारिशिष्येणावस्था। योग्य = औचित्यपूर्ण। कौलिक ऐश्वर्यानुभूतिरूप सिद्धि के योग्य। पदवी = सद्गुरुदर्शिता शुद्धा लघ्वी सरणि। प्रस्थान = विश्वातिशायित्वस्वभाव। बद्धोद्यम = उत्संगितोद्योग शक्ति वाला। विश्वोल्लंघन प्रगल्भ होने पर स्वाच्छन्द्यपूर्वक इदन्ता की भूमि में आरोहण करके व्यवहार करने वाली। कन्था = भेदप्रभेदवैचित्र्यवत्ता की स्थिति में भी एकानुसन्धान-साध्य विश्वव्यवहार। शूल = इत्थमिच्छाक्रियाज्ञानशक्तिशूलाम्बुजाश्रयः। इच्छा-ज्ञान-क्रियारूप शूल। कपाल = शरीराहन्ताधिवासितात्मा परिमल प्रमाता। माया = प्रमाता। योगिनी = श्रीकालसङ्कर्षणीरूपा योगिनी।

देवी का जो प्राकट्य रात्रि में निद्रा के समान हुआ, उसका भी एक कारण है—

अनागतायां निद्रायां विनष्टे बाह्यगोचरे।
यावस्था मनसा गम्या परा देवी प्रकाशते।। (विज्ञानभैरव)

गाथानुक्रमणी